श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

प्रो. राधेश्याम चतुर्वेदी

।। श्रीः ।।

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

१२०

महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

(पञ्चमो भागः)

(२१-३७ आह्निकम्)

श्रीमदाचार्यजयरथकृतया 'विवेक' व्याख्यानेन
'ज्ञानवती'-हिन्दीभाष्येण च विभूषितः

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

प्रो० राधेश्याम चतुर्वेदी

साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य
एम० ए० (संस्कृत), पी-एच्०डी०, लब्धस्वर्णपदक
संस्कृत विभाग, कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बैंक ऑफ् बड़ौदा भवन के पीछे)
पो० बा० नं० 1069, वाराणसी 221001
फोन : 2420404

प्रथम संस्करण 2002
मूल्य 500=00
सम्पूर्ण सेट (पाँच भाग) 2500=00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू . ए . बंगलो रोड, जवाहरनगर
पो० बा० नं० 2113
दिल्ली 110007
फोन : 23956391

*

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० 37/117, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० 1129, वाराणसी 221001
फोन : 2335263, 2333371

कम्प्यूटर टाइप सेटर :
मालवीय कम्प्यूटर्स
वाराणसी

मुद्रक :
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी

The

VIDYABHAWAN PRACHYAVIDYA GRANTHMALA

120

ŚRĪTANTRĀLOKAḤ

(PART FIFTH)

[21-37 Āhnika]

With the commentary **VIVEKA**

by

Ācārya Śrī Jayaratha

and **Jñānavatī**-Hindi Commentary

Commented and Edited By

Prof. RADHESHYAM CHATURVEDI

Sāhityavyākaranācārya, M.A., Ph.D., (Gold medalist)

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,

Banaras Hindu University

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

Publishers:

© **CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN**

(Oriental Publishers & Distributors)

Chowk (Behind The Bank of Baroda Building)

Post Box No. 1069

VARANASI 221001

Telephone : 2420404

First Edition

2002

Also can be had of

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar

Post Box No. 2113

DELHI 110007

Telephone : 23956391

*

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

K. 37 / 117, Gopal Mandir Lane

Post Box No.1129

VARANASI 221001

Telephone : 2335263
: 2333371

Computer Type-setters :
Malaviya Computers
Varanasi
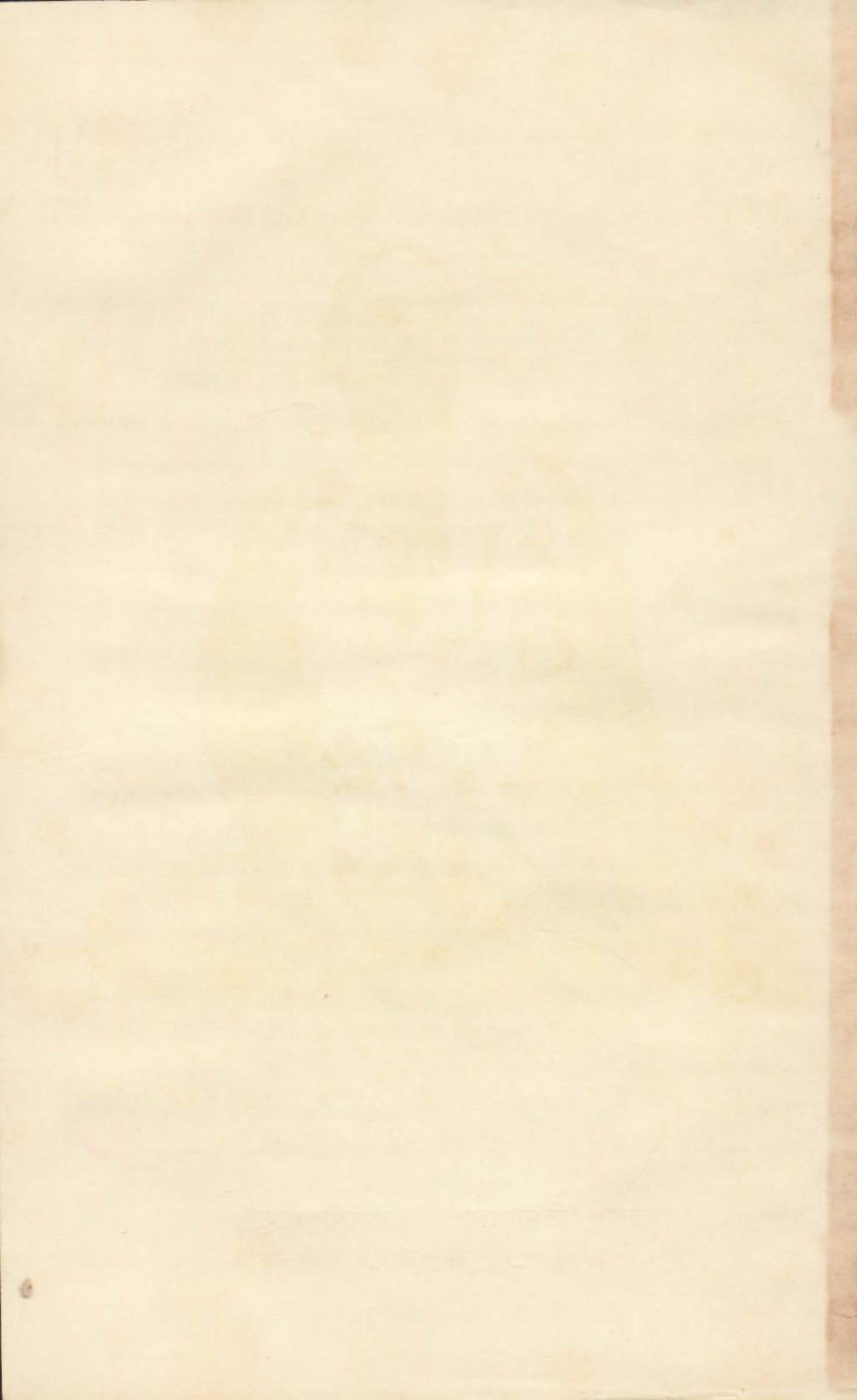
Printers :
Ratna Printing Works
Varanasi

ॐ

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु

श्री ६ शिवचैतन्य वर्णी महाराज

अनुवादक के दीक्षागुरु
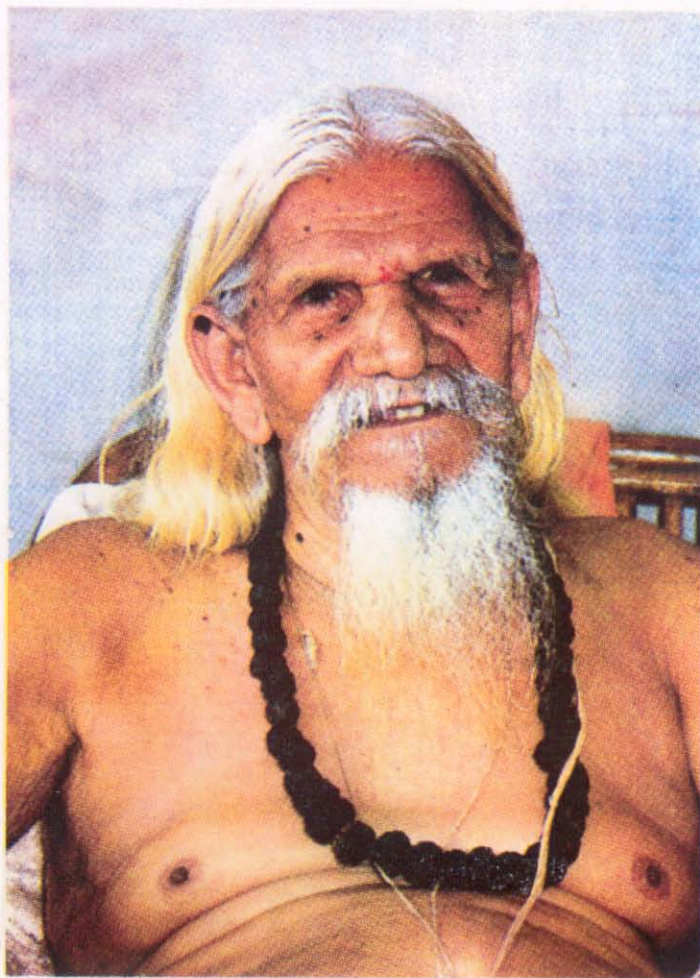
स्वामी श्री श्री १०८ शिवचैतन्यजी ब्रह्मचारीजी

मातङ्गेश्वर घाट, महेश्वर (जिला खरगोन) म. प्र.

गायत्रीसाधनासिद्धसिद्धिसाम्राज्यचुञ्चवे ।
श्रेय:प्राप्तिनिमित्ताय नमश्चैतन्यवर्णिने ॥

विषयानुक्रमणिका

एकविंशमाह्निकम्

द्वाविंशमाह्निकम्

कारिका-संख्या

त्रयोविंशमाह्निकम्

चतुर्विंशमाह्निकम्

कारिका-संख्या

पञ्चविंशमाह्निकम्

षड्विंशमाह्निकम्

सप्तविंशमाह्निकम्

कारिका-संख्या

अष्टाविंशमाह्निकम्

एकोनत्रिंशमाह्निकम्

कारिका-संख्या

त्रिंशमाह्निकम्

एकत्रिंशमाह्निकम्

कारिका-संख्या

द्वात्रिंशमाह्निकम्

कारिका-संख्या

त्रयस्त्रिंशमाह्निकम्

कारिका-संख्या

चतुस्त्रिंशमाह्निकम्

कारिका-संख्या

पंचत्रिंशमाह्निकम्

कारिका-संख्या

षट्त्रिंशमाह्निकम्

कारिका-संख्या

सप्तत्रिंशमाह्निकम्

कारिका-संख्या

एकविंशमाह्निकम्

* विवेकः *

भेदप्रथाविलापनबलेश्वरं तं बलेश्वरं वन्दे ।
यः सकलाकलयोरपि मितात्मताया निषेधमादध्यात् ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन परोक्षदीक्षायां कर्म निगदितुं प्रतिजानीते—

परोक्षसंस्थितस्याथ दीक्षाकर्म निगद्यते ॥ १ ॥

परोक्षसंस्थितस्येति—देशकालाभ्याम् ॥ १ ॥

ननु इयमस्मच्छास्त्रे दीक्षा नोक्तेत्यास्तां प्रत्युत संनिहितैकविषयम्

'रुद्रशक्तिसमाविष्टः स यियासुः शिवेच्छया ।
भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति ॥' (मा०वि० १।४४)

---

* ज्ञानवती *

(मैं) भेदविस्तार के विलापन में बलवान् उस बलशाली की वन्दना करता हूँ जो सकल अकल दोनों का, मितात्मा के रूप में निषेध करते हैं ।

अब उत्तरार्ध के द्वारा परोक्ष दीक्षा में कर्म बतलाने के लिये प्रतिज्ञा करते हैं—

अब (देश काल से) परोक्ष में स्थित (साधक) का दीक्षाकर्म कहा जाता है ॥ १ ॥

परोक्ष संस्थित का—देशकाल से ॥ १ ॥

प्रश्न—एक तो यह दीक्षा हमारे शास्त्र में नहीं कही गयी, उल्टे सन्निहित एक विषय वाले को—

'रुद्रशक्ति से समाविष्ट वह यियासु शिव की इच्छा से भोग-मोक्ष की सिद्धि के लिये सद्गुरु के पास ले जाया जाता है ।'

इत्यादि एतद्विरुद्धमुक्तम्, तत्कथमिह एतत्प्रतिज्ञातम्?—इत्याशङ्क्याह—

भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्‌गुरुं प्रति ।
इत्यस्मिन्मालिनीवाक्ये प्रतिः सांमुख्यवाचकः ॥ २ ॥
सांमुख्यं चास्य शिष्यस्य तत्कृपास्पदतात्मकम् ।

तत्कृपेति—तच्छब्देन गुरुः, सा च संनिहितासंनिहितयोरविशिष्टैव—इत्याशयः ॥

ननु भवत्वेवम्,

'तमाराध्य ततस्तुष्टाद्दीक्षामासाद्य शाङ्करीम् ।' (१।४५)

इत्यादि सांनिध्यैकजीवितं कथमत्र सङ्गच्छताम् ?—इत्याशङ्क्याह—

तमाराध्येति वचनं कृपाहेतूपलक्षणम् ॥ ३ ॥

कृपाहेत्विति—तेन स्वयमेवमभावे बन्ध्वादिद्वारेणैतद्भवेत्—इति भावः ॥ ३ ॥

न केवलमेतदत एवावगतं यावदितोऽपि—इत्याह—

इत्यादि इसके विरुद्ध कहा गया है । तो यहाँ इसकी प्रतिज्ञा कैसे की गयी ?—यह शङ्का कर कहते है—

'भोग-मोक्ष की सिद्धि के लिये वह गुरु के प्रति ले जाया जाता है' इस वाक्य में 'प्रति' शब्द सांमुख्य का वाचक है और सांमुख्य का अर्थ—इस शिष्य का उस (= गुरु) की कृपा का पात्र होना है ॥ २-३- ॥

तत्कृपा—यहाँ 'तत्' शब्द से गुरु को समझना चाहिये । और वह (= कृपा) संनिहित (= गुरु के पास स्थित) और असन्निहित (दोनों प्रकार के शिष्य) के ऊपर समान रूप से होती है ॥

प्रश्न—ऐसा होता है तो हो (किन्तु)—

'उसकी आराधना कर सन्तुष्ट उस (गुरु) से शैवी दीक्षा प्राप्त कर ।' (तं.आ. १।४५)

इत्यादि सान्निध्यमात्र से सम्पन्न होने वाला (वक्तव्य) यहाँ कैसे सङ्गत होगा?—यह शङ्का कर कहते है—

तमाराध्य—यह वचन कृपा के कारण का उपलक्षण है ॥ -३ ॥

कृपाहेतु—इससे स्वयं इसके (= आराधना के) अभाव में बन्धु आदि के द्वारा यह (= आराधन) होता है—यह भाव है ॥ ३ ॥

यह केवल इसी से अवगत नहीं है बल्कि इससे (= आगे कहे जाने वाले श्लोक से) भी—यह कहते है—

तत्संबन्धात्ततः कश्चित्तत्क्षणादपवृज्यते ।
इत्यस्यायमपि ह्यर्थो मालिनीवाक्यसन्मणेः ॥ ४ ॥

एतदर्थत्वमेव अस्य वाक्यस्य व्याचष्टे—

तत्क्षणादिति नास्यास्ति यियासादिक्षणान्तरम् ।
किंत्वेवमेव करुणानिघ्नस्तं गुरुरुद्धरेत् ॥ ५ ॥

आदिशब्दात् गमनतत्प्राप्तिक्षणादयः । न हि मृतस्य देशान्तरस्थितस्य वा एवं संभवेत्—इति भावः । एवमेवेति—स्वयं तदाराधनादिनिरपेक्षम्—इत्यर्थः । निघ्नः = परवशः ॥ ५ ॥

के च अत्र अधिकारिणः ?—इत्याशङ्क्याह—

गुरुसेवाक्षीणतनोर्दीक्षामप्राप्य पञ्चताम् ।
गतस्याथ स्वयं मृत्युक्षणोदिततथारुचेः ॥ ६ ॥
अथवाधरतन्त्रादिदीक्षासंस्कारभागिनः ।
प्राप्तसामयिकस्याथ परां दीक्षामविन्दतः ॥ ७ ॥
डिम्बाहतस्य योगेशीभक्षितस्याभिचारतः ।
मृतस्य गुरुणा यन्त्रतन्त्रादिनिहतस्य वा ॥ ८ ॥
भ्रष्टस्वसमयस्याथ दीक्षां प्राप्तवतोऽप्यलम् ।

'उसके सम्बन्ध से कोई उसके बाद उसी क्षण मुक्त हो जाता है'—इस मालिनीतन्त्रवाक्यरूपी उत्तम मणि का भी यही अर्थ है ॥ ४ ॥

इस वाक्य की इसी अर्थता की व्याख्या करते हैं—

उसी क्षण = इसका यियासा आदि के लिये दूसरा क्षण नहीं होता किन्तु ऐसे ही करुणावश गुरु उसका उद्धार कर देते हैं ॥ ५ ॥

आदि शब्द से (गुरु के पास) जाने उसे प्राप्त करने आदि का क्षण । मृत अथवा देशान्तर में स्थित के लिये यह सम्भव नहीं है । इसी प्रकार = स्वयं शिष्य की आराधना आदि से निरपेक्ष । निघ्न = परवश ॥ ५ ॥

इस (प्रकार की दीक्षा के विषय) में कौन अधिकारी है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

गुरु की सेवा में क्षीण शरीर वाला दीक्षा को न प्राप्त कर मृत, स्वयं मृत्यु के क्षण में जिसके बारे में (गुरु के अन्दर) उस प्रकार की रुचि उत्पन्न हो गयी हो, अथवा अधर तन्त्र आदि के अनुसार दीक्षासंस्कार के भागी, समयीदीक्षाप्राप्त, परा दीक्षा को न प्राप्त करने वाले, डिम्ब (= लूट, उपद्रव, भीड़, हृदयाघात, विप्लव आदि) से मारे गये, योगेश्वरी के

क्षीणेति—चिरतरं गुरुसेविनः—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'न प्राप्तोऽपि परां दीक्षां गुरुभक्तोऽपि यत्नतः ।
कालेनान्तरितो यस्मात्तस्य मोक्षः कथं भवेत् ॥
किं वृथा तस्य संक्लेशो मोक्षमुद्दिश्य यः कृतः ।
किं किञ्चिद्विद्यते तस्य कर्म यन्मोक्षसाधनम् ॥'

इत्युपक्रम्य

'गुरुभक्तस्य दान्तस्य सत्याचाररतस्य वै ।
मृतस्यापि परं स्कन्द दीक्षाकर्म विधीयते ॥' इति ।

मृत्युक्षणेति—तदैव हि अस्य गुरौ प्रसन्ने सद्यःसमुत्क्रान्तिदीक्षा भवेत्—इत्युक्तम्, अन्यथा तु इयम्—इति विभागः । अत एव दीक्षामप्राप्य पञ्चतां गतस्येति अत्रापि संबन्धनीयम् । अधरतन्त्रम्—वैदिकादि । परामिति—पुत्रकादिरूपाम् । डिम्बाहतस्येति—शकटादिभिर्जडप्रायैर्मारितस्य—इत्यर्थः । अभिचारत इति—विषादिना । यन्त्रं भूर्जपत्रादौ मारणानुगुणो मन्त्रसंनिवेशः, तन्त्रं तदनुगुणमेव पूजाहोमादि । तदुक्तम्—

'नगाग्राल्लुठिता ये च वृक्षान्निपतितास्तु ये ।
उद्बन्धनैर्मृता ये च शकटेन तु चूर्णिताः ॥

द्वारा भक्षित, अभिचार के द्वारा मृत, गुरु के द्वारा यन्त्र तन्त्र आदि से मारे गये, अपने समय से भ्रष्ट अथवा दीक्षा को प्राप्त करने वाले (अधिकारी हैं) ॥ ६-९- ॥

क्षीण—बहुत दिनों तक गुरुसेवा करने वाले । वही कहा गया—

परा दीक्षा को अप्राप्त भी प्रयत्नपूर्वक गुरु का भक्त भी यदि काल के द्वारा मार दिया गया तो उसका मोक्ष कैसे होगा? क्या मोक्ष को लक्ष्य करके उसके द्वारा उठाया गया क्लेश व्यर्थ हो जायगा? क्या उसका कोई (अन्य) कर्म है जो मोक्ष का साधन होगा ?—ऐसा उपक्रम कर—

'हे स्कन्द ! गुरुभक्त, दान्त, सत्य आचार में रत (शिष्य) यदि मर गया तो भी उसका दीक्षाकर्म किया जाता है ।'

मृत्युक्षण—उसी समय इसके ऊपर गुरु के प्रसन्न होने पर, सद्यःसमुत्क्रान्ति दीक्षा हो जाती है—यह कहा गया । अन्यथा यह (दीक्षा) होती है—ऐसा विभाग है । इसीलिये दीक्षा को न प्राप्त कर मृत का—यह अंश यहाँ भी जोड़ना चाहिये । अधर तन्त्र = वैदिक आदि । परा = पुत्रक आदि रूप वाली दीक्षा । डिम्ब से मृत = शकट आदि जड के द्वारा मारे गये । अभिचार से = विष आदि के द्वारा । यन्त्र = भोजपत्र आदि पर मारण के अनुकूल मन्त्र का सन्निवेश । तन्त्र = उसी के अनुकूल पूजा होम आदि । वही कहा गया—

अग्निना तु प्रदग्धा ये वेश्मपातात्तु ये मृताः ।
नदीकूपेष्वगाधेषु मृता ये पापकारिणः ॥
मूढगर्भाश्च या नार्यो गर्भच्यावेन या मृताः ।
दान्तेन महिषेणापि दुष्टप्राणिमृताश्च ये ॥
विषेण त्यक्तजीवा ये ये वै चात्मोपघातकाः ।
गोघ्नाश्चैव तु ब्रह्मघ्नाः पितृघ्ना मातृघातकाः ॥
व्याधिभिश्च मृता ये तु लूताद्यैः सुरसुन्दरि ।
अन्यैर्बहुविधैः क्रूरैर्येषां संख्या न विद्यते ॥' इति ।

तथा

'अनाथलुप्तपिण्डानां तथा डिम्बाहतेष्वपि ।
कुविधौ च मृतानां तु दीक्षा मृतवती भवेत् ॥' इति ।

एतच्च दीक्षितादीक्षितविषयमपि भवेत्—इति सामान्येनोक्तम् । अलमिति—अत्यर्थं पुत्रकादिरूपतया—इत्यर्थः ॥

ननु एवंविधाः सर्व एव म्रियन्ते, तत्किमेषामविशेषेणैव मृतोद्धारीं दीक्षां गुरुः कुर्यान्न वा?—इत्याशङ्क्याह—

बन्धुभार्यासुहृत्पुत्रगाढाभ्यर्थनयोगतः ॥ ९ ॥
स्वयं तद्विषयोत्पन्नकरुणाबलतोऽपि वा ।
विज्ञाततन्मुखायातशक्तिपातांशधर्मणः ॥ १० ॥

'हे सुरसुन्दरी ! जो पर्वत के ऊपर से लुढ़क गये, जो वृक्ष से गिर गये, जो बन्धन (फांसी) से मारे गये या गाड़ी से दब कर मर गये, अग्नि से, घर गिरने से मरे, जो पापी अथाह नदी कूप आदि में मृत हो गये, जो नारियाँ गर्भवती हैं या गर्भ गिरने से मर गयीं, दुर्दान्त भैंसे अथवा दुष्ट प्राणियों के द्वारा जो मारे गये, जहर खाकर मरने वाले, आत्मघाती, गो ब्राह्मण, पिता-माता का हत्यारा, व्याधियों से मृत, मकड़ी आदि के काटने से मृत अथवा अन्य अनेक प्रकार के क्रूर साधनों से मृत हैं', तथा

'अनाथ लुप्तपिण्ड वाले, डिम्ब से मृत तथा दुष्ट प्रकार से मृत लोगों की मृतवती दीक्षा होती है ।'

यह (कर्म) दीक्षित अदीक्षित दोनों (प्रकार के व्यक्तियों) के लिये होता है इसलिये सामान्यरूप से कहा गया अलम् = पुत्रक आदि रूप से ॥

प्रश्न—इस प्रकार के सब लोग मरते हैं तो क्या गुरु सबकी समान रूप से मृतोद्धारी दीक्षा करे या नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

भार्य पत्नी मित्र पुत्र की प्रगाढ प्रार्थना के कारण अथवा स्वयं उस

गुरुर्दीक्षां मृतोद्धारीं कुर्वीत शिवदायिनीम् ।

गाढेति—न तु उत्ताना । स्वयमिति—परप्रार्थनानिरपेक्षतया—इत्यर्थः । बलत इति—न तु तन्मात्रादेव । तन्मुखेति—बन्ध्वाद्यभ्यर्थनाद्वारेण—इत्यर्थः । अंशेति—तीव्रमध्यमन्दाद्यपेक्षया । एवमेवंविधानामेषां बन्ध्वादिगाढाभ्यर्थनाद्यन्यथानुपपत्त्या आयातशक्तिपातत्वं निश्चित्य मृतोद्धारीं दीक्षां गुरुः कुर्यात्—इत्यत्र तात्पर्यम् । बन्ध्वादीनां च तदुद्दिधीर्षापरतया प्रार्थनादयो जायमानाः परमेश्वरशक्तिपातमूला एव न स्नेहमात्रमूलाः सर्वत्र तथादर्शनायोगात् । नच अत्र व्यधिकरणत्वं दोषो यदयस्कान्तायोगोलकस्पन्दनादिवत् भिन्नदेशान्यपि कारणेभ्यः कार्याणि भवन्ति दृश्यन्ते—

'सा शक्तिरापतत्याद्या पुंसो जन्मन्यपश्चिमे ।
तन्निपातात् क्षरत्यस्य मलं संसारकारणम् ॥
क्षीणे तस्मिन्पियासा स्यात्परं नैःश्रेयसं प्रति ।' इति ।

तथा

'तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम् ।
यथा यान्ति परां सिद्धिं तद्भावगतमानसाः ॥' (म०भार०)

(व्यक्ति) के विषय में उत्पन्न करुणा के बल से गुरु विज्ञात उसकी ओर आये हुए शक्तिपात अंश के धर्म वाले (व्यक्ति) की शिवत्वदायिनी मृतोद्धारी दीक्षा करे ॥ -९-११- ॥

गाढ—न कि हलकी फुलकी । स्वयं—दूसरे की प्रार्थना से निरपेक्ष होकर । बल से—न कि केवल उससे । तन्मुख = बन्धु आदि के द्वारा की गयी प्रार्थना के द्वारा उस (= शिष्य) की ओर अभिमुख । अंश—तीव्र मध्य मन्द आदि की अपेक्षा से । इस प्रकार गुरु ऐसे इन लोगों की बन्धु आदि की तीव्र प्रार्थना आदि की अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा प्राप्त शक्तिपात का निश्चय कर (इसकी) मृतोद्धारी दीक्षा करे—यह यहाँ तात्पर्य है । बन्धु आदि की, उसके उद्धार की इच्छा से युक्त होकर, होने वाली प्रार्थना आदि परमेश्वर के शक्तिपात के कारण होती हैं न कि (उसके प्रति) प्रेम के कारण, क्योंकि सर्वत्र वैसा नहीं होता । यहाँ (= योगनः, करुणाबलतः मे) व्यधिकरणता दोष नहीं है कि चुम्बक और लोहे के स्पन्दन आदि के समान कारण से भिन्न देश वाले भी कार्य होते हुये देखे जाते हैं ।

'वह आद्या शक्ति पुरुष के अन्तिम जन्म में (उसके ऊपर) निपतित होती है । उसके निपात से इसका संसार का हेतुभूत मल नष्ट हो जाता है । उसके नष्ट होने पर मोक्ष के प्रति पियासा होती है ।' तथा—

'उसी (= आद्याशक्ति) की कृपा से मनुष्यों के अन्दर भक्ति उत्पन्न होती है जिसके द्वारा उसके प्रति मन लगाने वाले परा सिद्धि को प्राप्त होते हैं ।'

इत्यादि संनिहितजीवदेकविषयमिति नेह कश्चिदनेन विरोधः ॥

न चैतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तम्—इत्याह—

श्रीमृत्युञ्जयसिद्धादौ यदुक्तम् परमेशिना ॥ ११ ॥

तदेवार्थतः पठति—

अदीक्षिते नृपत्यादावलसे पतिते मृते ।
बालातुरस्त्रीवृद्धे च मृतोद्धारं प्रकल्पयेत् ॥ १२ ॥
विधिः सर्वः पूर्वमुक्तः स तु संक्षिप्त इष्यते ।
गुर्वादिपूजारहितो बाह्ये भोगाय सा यतः ॥ १३ ॥
अधिवासचरुक्षेत्रं शय्यामण्डलकल्पने ।
नोपयोग्यत्र तच्छिष्यसंस्क्रियास्वप्नदृष्टये ॥ १४ ॥
मन्त्रसंनिधिसंतृप्तियोगायात्र तु मण्डलम् ।
भूयोदिने च देवार्चा साक्षान्नास्योपकारि तत् ॥ १५ ॥

यदुक्तम्—

'अदीक्षिते तु नृपतौ तत्सुतेषु द्विजातिषु ।
भोगालसेषु वा देवि कर्मदोषैश्च विघ्निते ॥

इत्यादि (कथन) जीवित व्यक्ति के विषय में है—इसलिये कोई विरोध नही है ॥

इसे हम स्वोपज्ञ नहीं कह रहे हैं—यह कहते हैं—

श्रीमृत्युञ्जय भट्टारक, सिद्धातन्त्र आदि ग्रन्थों में परमेश्वर ने उसे कहा है ॥ -११ ॥

उसी को अर्थ की दृष्टि से पढ़ते हैं—

(गुरु) दीक्षारहित राजा आदि आलसी पतित मृत बालक रोगी स्त्री और वृद्ध के विषय में मृतोद्धारी दीक्षा करे । सब विधि पहले कह दी गयी। वह (यहाँ) गुरु आदि की पूजा से रहित संक्षिप्त है क्योंकि वह (पूर्वोक्त सबीज दीक्षा) बाह्य पदार्थों के भोग के लिये है । अधिवास चरु क्षेत्र शय्या (शिष्य की रक्षा के लिये) मण्डल की कल्पना इस विषय में उपयोगी नहीं है । वह (सब) शिष्य के संस्कार अथवा स्वप्नदर्शन के लिये है । यहाँ मण्डल का सम्पादन मन्त्र की सन्निधि के द्वारा सन्तृप्तियोग के लिये है । अधिक दिनों तक देवार्चन भी इस (शिष्य) का साक्षात् उपकारी नहीं है ॥ १२-१५ ॥

जैसा कि कहा गया—

न चेष्टं न तपस्तप्तं न ध्यातं न प्रतिष्ठितम्।
पातित्येन मृतानां तु येषां नरकसंस्थितिः ॥
निदानैर्बहुभिर्देवि स्त्रीबालवृद्ध आतुरे ।
मृतेषूद्धरणार्थाय दीक्षार्थं परमेश्वरः ॥
यष्टव्यः पूर्ववद्देवः........................ ।' (१८ अ०) इति ।

तत्र अदीक्षित इत्यनेन त्रयोऽधिकारिण उक्ता येषु आद्यं द्वयं तुर्यश्चेति । द्विजातिषु च इत्यनेन तृतीयः । पातित्येनेत्यादिना तु डिम्बाहतादिः, अन्यैस्तु भ्रष्टस्वसमय उक्तः । एषां हि असम्यक्प्रजापालनात् भोगासक्तत्वात् दैवदोषादिविघ्नितत्वात् तपश्चरणादेश्चाभावात् अवश्यसंभावनीयं भ्रष्टसमयत्वम् । अत्र चोन्मेषकृता क्लिष्टकल्पनया यत् व्याख्यातं तदाग्रहमात्रपरतयेत्युपेक्ष्यम् । सेति—संनिहितजीवद्विषया पूर्वोक्ता दीक्षा । मण्डलेति—शिष्यरक्षार्थं शय्यायां बहिः सर्वतोदिक्कं भस्मादिना रेखासंनिवेशः । यदुक्तम्—

'भस्मना रोचनाद्यैश्च अस्त्रप्राकारचिन्तनम् ।' इति ।

नोपयोगीति—चरुशय्यादि हि शिष्यस्य संस्कारार्थं स्वप्नदर्शनार्थं वा, स एव च न संनिहित इति किमनेन—इत्यर्थः । मण्डलं देवार्चा चेत्येतत् पुनरुपयोगीति प्राच्येन संबन्धः । यदुक्तम्—

'अदीक्षित राजा, उस (राजा) का पुत्र, ब्राह्मण आदि, भोग के कारण आलसी, कर्मदोष के कारण पतित, जिसने न यज्ञ किया न तपस्या की न ध्यान किया न प्रतिष्ठा की, पतित होते हुये जो मर गये और जो अनेक कारणों से नरक में स्थित हैं उनके विषय में, स्त्री बाल वृद्ध रोगी के मरने पर (उनके) उद्धार के लिये देव परमेश्वर की पहले की भाँति पूजा करनी चाहिये ।'

उक्त (श्लोकों) में 'अदीक्षिते'—इस पद से तीन अधिकारी कहे गये जिन प्रथम दो (= नृपति और उसका पुत्र) और चतुर्थ (= भोगालस) । द्विजातिषु—इस कथन से तीसरा (अधिकारी समझना चाहिये) । पातित्येन—इत्यादि के द्वारा—डिम्ब से मारे गये आदि समझे । दूसरे लोगों के द्वारा 'भ्रष्टस्वसमय' कहा गया । प्रजा का सम्यक् पालन न करने, भोगासक्त होने, के कारण इनका भ्रष्टसमयत्व अवश्य संभावित होता है । इस विषय में उन्मेष टीका के लेखक ने क्लिष्ट कल्पना के द्वारा जो व्याख्या की वह दुराग्रहमात्रपरक होने के कारण उपेक्षणीय है । वह = सन्निहित जीवन वाले के विषय में पूर्वोक्त दीक्षा । मण्डल = शिष्य की रक्षा के लिये शय्या के बाहर चारों दिशाओं में भस्म आदि के द्वारा रेखा खींचना । जैसा कि कहा गया—

'भस्म रोचना आदि के द्वारा अस्त्रप्राकार का चिन्तन करना चाहिये ।'

उपयोगी नही है—चरु शय्या आदि शिष्य के संस्कार अथवा स्वप्नदर्शन के लिये होते हैं वही सन्निहित नहीं है फिर इससे क्या लाभ? मण्डल और देवपूजा

'सर्वार्चनं स्थण्डिले स्यान्न च तत्राधिवासनम् ।' इति ।

न साक्षादिति—मन्त्रसंनिधिद्वारा पारम्पर्येण—इत्यर्थः, नहि अस्य स्वयमेव मण्डलदर्शनादि—इत्याशयः ॥ १५ ॥

नचात्र मन्त्रसंनिधानाय एतदेव निमित्तम्—इत्याह—

क्रियोपकरणस्थानमण्डलाकृतिमन्त्रतः ।
ध्यानयोगैकतद्भक्तिज्ञानतन्मयभावतः ॥ १६ ॥
तत्प्रविष्टस्य कस्यापि शिष्याणां च गुरोस्तथा।
एकादशैते कथिताः संनिधानाय हेतवः ॥ १७ ॥
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टास्तथा व्यामिश्रणावशात् ।

क्रियादि ध्यानादि च अवलम्ब्य एकादश एते संनिधानाय हेतवः कथिताः—इति संबन्धः । एकेति—प्रधाना । कस्यापीति—प्रामादिकस्य । यदुक्तम्—

'प्रमादात्तु प्रविष्टस्य विचारं नैव कारयेत् ।' इति ।

उत्तरोत्तरमिति—यथा क्रियात उपकरणमित्यादि । एते च समुदिता अप्युत्कृष्टाः—इत्याह—तथा व्यामिश्रणावशादिति ॥

अत्रैव अस्पष्टं किंचिद्व्याचष्टे—

यह उपयोगी है—ऐसा पहले अंश से सम्बन्ध है जैसा कि कहा गया—

'सब पूजा स्थण्डिल पर होती है परन्तु उस पर अधिवासन नहीं होता ।' साक्षात् नहीं—बल्कि मन्त्रसन्निधि के द्वारा पारम्परिक रूप से । इसको स्वयं मण्डलदर्शन आदि नहीं होता—यह आशय है ॥ १५ ॥

यहाँ मन्त्रसन्निधान के लिये यही निमित्त नहीं है—यह कहते हैं—

क्रिया उपकरण स्थान मण्डल आकृति मन्त्र ध्यान योग उसके प्रति भक्ति, ज्ञान और उसके प्रति भावना के कारण उसमें प्रविष्ट किसी भी (प्रामादिक आदि) शिष्य और गुरु के ये ग्यारह कारण सन्निधान के लिये कहे गये हैं । इनमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हैं तथा सामूहिक रूप से भी उत्कृष्ट है ॥ १६-१८- ॥

क्रिया आदि (क्रमशः छह) और ध्यान आदि (क्रमशः पाँच इन) के आधार पर ये ग्यारह हेतु सन्निधान के लिये कहे गये हैं—ऐसा सम्बन्ध है । एक = प्रधान । किसी का = प्रामाणिक का । जैसा कि कहा गया—

'प्रमाद के कारण प्रविष्ट का विचार ही नहीं करना चाहिये ।'

उत्तरोत्तर—जैसे क्रिया की अपेक्षा उपकरण आदि । ये सामूहिक रूप से भी उत्कृष्ट है—यह कहते हैं—उसी प्रकार व्यामिश्रण से ॥

क्रियातिभूयसी पुष्पाद्युत्तमं लक्षणान्वितम् ॥ १८ ॥
एकलिङ्गादि च स्थानं यत्रात्मा संप्रसीदति ।
मण्डलं त्रित्रिशूलाब्जचक्रं यन्मन्त्रमण्डले ॥ १९ ॥
अनाहूतेऽपि दृष्टं सत्समयित्वप्रसाधनम् ।
यदुक्तम् मालिनीतन्त्रे सिद्धं समयमण्डलम्॥ २० ॥
येन संदृष्टमात्रेति सिद्धमात्रपदद्वयात् ।
आकृतिर्दीप्तरूपा या मन्त्रस्तद्वत्सुदीप्तिकः ॥ २१ ॥
शिष्टं स्पष्टमतो नेह कथितं विस्तरात्पुनः ।

मात्रेति—पूजादिव्यवच्छेदात् ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमाह—

कृत्वा मण्डलमभ्यर्च्य तत्र देवं कुशैरथ ॥ २२ ॥
गोमयेनाकृतिं कुर्याच्छिष्यवत्तां निधापयेत् ।
ततस्तस्यां शोध्यमेकमध्वानं व्याप्तिभावनात् ॥ २३ ॥
प्रकृत्यन्तं विनिक्षिप्य पुनरेनं विधिं चरेत् ।
महाजालप्रयोगेण सर्वस्मादध्वमध्यतः ॥ २४ ॥
चित्तमाकृष्य तत्रस्थं कुर्यात्तद्विधिरुच्यते ।

इसी विषय में कुछ अस्पष्ट व्याख्या करते हैं—

(मण्डल में) अत्यधिक क्रिया, लक्षणों से युक्त उत्तम पुष्प और एक लिङ्ग (= शिवालय) आदि स्थान जहाँ कि आत्मा प्रसन्न होती है, तीन त्रिशूलकमलचक्र (= मण्डल) है जो कि मन्त्रमण्डल के अनाहूत होने पर भी दृष्ट होता है, समयित्व का साधक होता है वही मालिनी तन्त्र में सिद्ध समयमण्डल (= मण्डलत्रितय) कहा गया है । जिससे संदृष्टमात्र और सिद्धमात्र दो पदों से (कहा गया कि यह सिद्धस्थान है और देखने मात्र से सिद्धि देने वाला है) । जितनी दीप्तरूप वाली आकृति होती है उसी प्रकार (= उतना ही) सुदीप्त मन्त्र होता है । बाकी स्पष्ट है इसलिये यहाँ विस्तार के साथ नहीं कहा गया ॥ -१८-२२- ॥

मात्र—पूजा आदि के कट जाने से ॥

इस प्रकार प्रसङ्गात् इसका कथन कर प्रस्तुत को कहते हैं—

(गुरु) मण्डल बनाकर उसमें कुशों के द्वारा परमेश्वर की पूजा कर गोमय से प्रेत की बारह अंगुल की आकृति बनाये और शिष्य की भाँति समझ कर उसे रखवा दे । इसके बाद उस (= आकृति) में व्याप्ति की भावना करते हुये एक शोध्य अध्वा का प्रकृति पर्यन्त निक्षेप कर पुनः

आकृतिमिति—द्वादशांगुलाम् । यदुक्तम्—

'...........................विशेषात्तत्र चाकृतिः ।
कर्तव्या रजसावश्यं सदृशी द्वादशांगुला ॥
कार्या वा गोमयाद्देवि कुशैर्वा स्नानशोधिता ।' इति।

प्रकृत्यन्तमिति—अत ऊर्ध्वमाकर्षणीयः पुमानवस्थितः—इत्याशयः । एनमिति—वक्ष्यमाणम् । एवमनेन मृतजीवद्विधिविभागानन्तरभावी महाजालोपदेश आसूत्रितः ॥

तद्विधिमेव आह—

मूलाधारादुदेत्य प्रसृतसुविततानन्तनाड्यध्वदण्डं
वीर्येणाक्रम्य नासागगनपरिगतं विक्षिपन् व्याप्तुमीष्टे ।
यावद्धूमाभिरामप्रचिततरशिखाजालकेनाध्वचक्रं
संछाद्याभीष्टजीवानयनमिति महाजालनामा प्रयोगः ॥ २५ ॥

इह अयं महाजालनामा प्रयोगो यदाचार्यः शिवाहंभावस्वभावतया स्वात्मनि अवतिष्ठमानो मूलाधारात् जन्मस्थानादुदेत्य रेचकपूरककुंभकाद्यवष्टम्भात् पौनः-

---

इस विधि को करे । महाजाल के प्रयोग के द्वारा समस्त अध्वाओं के मध्य से (प्रेत के) चित्त को खींच कर उसमें स्थित करे । वह विधि कही जाती है ॥ -२२-२५- ॥

आकृति = बारह अंगुल वाली । जैसा कि कहा गया—

'......विशेष के कारण वहाँ १२ अंगुल की मिट्टी गोबर अथवा कुशों के द्वारा (शिष्य) के समान (प्रेत की) आकृति स्नान से शुद्ध की हुयी बनानी चाहिये ।'

प्रकृति पर्यन्त—इसके ऊपर आकर्षणीय पुरुष स्थित रहता है—यह आशय है। इसको = आगे कहे जाने वाले को । इस प्रकार इसके द्वारा मृतजीवितविधि विभाग के अनन्तर होने वाला महाजालोपदेश कहा गया ॥

उस विधि को ही कहते हैं—

मूलाधार से उठकर फैले हुये विस्तृत अनन्त नाड़ी-अध्वा रूपी दण्ड को शाक्तबल से आक्रान्त कर नासिका गगन (= छिद्र) तक गये हुये उसको विक्षिप्त करता हुआ (तब तक) व्याप्त करना चाहता है जब तक कि धूम जैसे सुन्दर अत्यधिक एकत्रित रश्मिजाल के द्वारा अध्वचक्र को आच्छादित करके अभीष्ट जीव का (उस आकृति में) आनयन नहीं हो जाता ॥ २५ ॥

महाजाल नामक प्रयोग ऐसा है—कि आचार्य शिवाहंभाव स्वभाव के कारण

पुन्येन प्राणशक्तिं प्रबोध्य मूलकारणतया, तत एव प्रसृताः—निखिलदेह-व्यापकतया सुवितताः सार्धकोटित्रयात्मकत्वादनन्ता नाड्य एव ऊर्ध्वाधरगमागम-निमित्ततया स्पष्टप्रवाहात्मकनिमित्ततया च अध्वरूपो दण्डः तात्स्थ्यात्तदाकारः प्राणः तं, वीर्येण = शाक्तेन बलेन, आक्रम्य = स्वायत्तीकृत्य, हृदाद्यु-ल्लङ्घनक्रमेण नासारन्ध्राग्रं प्राप्तं सन्तं विक्षिपन् = बहिः सर्वतः प्रसारयन् यावत् विशेषानुपादानात् विश्वं व्याप्तुं प्रभवति, तावदेवाशुद्धाध्वमध्यवर्तित्वात् धूमप्रायेण बहलबहलेन स्वरश्मिनिकुरम्बेन सकलमेवाध्वानं संछाद्य गर्भीकृत्य शीघ्रमेव मत्स्यमिवाभीष्टं जीवमानयति—प्राणकरणाद्येकीकारेणकर्षयति—इत्यर्थः । मायाबीजामर्शतश्च अयमेवंनामा यत्संहारक्रमेण पूर्वं दण्डं रेफं शाक्तपरिस्पन्दात्मना वीर्येण—हकारेण आक्रम्य, तदनु नासामीकारं परिगतं ज्योतीरूपेण शिखा-जालकेन बिन्दुना संछाद्य अभीष्टं जीवमानयतीति । तदुक्तम्—

'निष्कम्पः सकलः शान्तो ह्यहमेव परः शिवः ।
परमात्मा सर्वगतो जगद् व्याप्तं मयाखिलम् ॥
एवं ध्यानगतः कुर्याद्रेचकं पूरकं ततः ।
कुम्भकान्ते रेचकेन निक्षिपेदखिलं शनैः ॥
रेचकान्ते पुनः स्वान्तं द्वादशान्ते सशक्तिकम् ।

आत्मा में स्थित हुआ मूलाधार से = जन्मस्थान से, उठकर रेचक पूरक कुम्भक आदि के द्वारा बार-बार प्राणशक्ति को प्रबुद्ध कर मूल कारण होने से वहीं से प्रसृत = सम्पूर्ण शरीर में व्यापक रूप से फैली हुयी, साढ़े तीन करोड़ होने से अनन्त नाडियाँ ही ऊपर-नीचे आने-जाने के कारण और स्पष्टप्रवाहात्मक होने के कारण अध्वरूप दण्ड हैं । उनमें स्थित होने के कारण प्राण भी उसी आकार का हो जाता है । उस प्राण को वीर्य = शाक्तबल, से आक्रान्त कर = अपने अधीन कर, हृदय आदि को क्रमशः पार करते हुये नासारन्ध्र के अग्रभाग को प्राप्त हुये उसका विक्षेप = बाहर प्रसार करते हुये, विशेष का उपादान न होने से जब तक विश्व को व्याप्त करने में समर्थ होता है तब तक अशुद्ध अध्व के मध्यवर्त्ती होने से धूमप्राय = गन्दे, अपनी रश्मिसमूह के द्वारा समस्त अध्वा को ढँक कर = गर्भ में रखकर, शीघ्र ही मछली की भाँति अभीष्ट जीव को लाता है = प्राण करण आदि को एक कर खींचता है। माया बीज (= ह्रीं) के आमर्श के कारण यह = इस नाम वाला संहार जो क्रम से पहले दण्ड = रेफ, उसको शाक्तपरिस्पन्दरूप वीर्य = हकार से आक्रान्त कर उसके बाद नासा = ईकार, परिगत उसे ज्योतिरूप शिखाजाल = बिन्दु, के द्वारा आच्छादित कर अभीष्ट जीव को (गुरु) ले आते हैं ।

वही कहा गया—

'मै ही निष्कम्प सकल शान्त परमात्मा सर्वगत परम शिव हूँ । मेरे द्वारा समस्त जगत् व्याप्त है । इस प्रकार ध्यान करते हुये रेचक पूरक करे । इसके बाद

लक्षयेदंकुराकारां सर्वाण्डान्तरचारिणीम् ॥
मायाबीजं समुच्चार्य चैतन्यं लिङ्गसंयुतम् ।
शुद्धमम्बुकणाकारं यत्र स्रोतोऽन्तरे स्थितम् ॥
गृहीत्वा तत्प्रयोगेण महाजालेन युक्तितः ।
गृहीतं हृदये स्थाप्यं बीजाभिख्यासमन्वितम् ॥' इति ॥ २५ ॥

ननु किमयं परोक्षदीक्षायामेव लब्धावकाशो न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

एतेनाच्छादनीयं व्रजति परवशं संमुखीनत्वमादौ
पश्चादानीयते चेत्सकलमथ ततोऽप्यध्वमध्याद् यथेष्टम् ।
आकृष्टावुद्धृतौ वा मृतजनविषये कर्षणीयेऽथ जीवे
योगः श्रीशंभुनाथागमपरिगमितो जालनामा मयोक्तः ॥ २६ ॥

एतेन जालनाम्ना प्रयोगेण यदाच्छादनीयमध्वचक्रं परवशमस्वतन्त्रं सदाक्रष्टुः सांमुख्यमेति, अनन्तरमपि एतेन तन्मध्यादेव सकलं चेत् जीवजातमथ यथाभीष्टमेकत्वमेवानीयते समाकृष्यते तदाकृष्टौ पशोरुद्धृतावुद्धारे शिष्यस्य, अथ

कुम्भक के अन्त में सबका (= ध्यानस्थ वस्तु का) धीरे-धीरे निक्षेप करे । रेचक के अन्त में पुनः द्वादशान्त[1] में अपने को शक्ति से युक्त माने । अङ्कुराकार समस्त अण्डों के भीतर सञ्चरण करने वाली शक्ति का प्रथम तुटि में ध्यान करे। मायाबीज का उच्चारण कर चैतन्य को लिङ्ग से युक्त शुद्ध जलकण के आकार के समान जिस स्रोत के भीतर (चैतन्य) स्थित है उसे लेकर उसके प्रयोग वाले महाजाल के द्वारा युक्तिपूर्वक गृहीत (माया) बीज की अभिख्या (= दीप्ति) से समन्वित का हृदय में स्थापन करे' ॥ २५ ॥

प्रश्न—इसका परोक्ष दीक्षा में ही अवकाश है अथवा नहीं—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस (महाजाल) के द्वारा आच्छादनीय परवश (जीव) पहले सामने आता है, बाद में उस अध्वा के मध्य से सकल जीव को यथेष्ट आकृष्ट किया जाता है । (इस प्रकार) मृत व्यक्ति के आकर्षण अथवा जीवित के उद्धार के विषय में श्री शम्भुनाथ के आगम से ज्ञात महाजाल नामक योग मेरे द्वारा कहा गया ॥ २६ ॥

इससे = जालनामक प्रयोग से, जो आच्छादनीय अध्वचक्र, वह परवश = अस्वतन्त्र होता हुआ आकर्षण करने वाले के सम्मुख आता है । बाद में भी इसके द्वारा उसके बीच से ही सकल जीवसमूह यथेष्ट एकत्व को प्राप्त कराया जाता है =

---

१. द्वादशान्त तीन होते हैं—(क) ऊर्ध्व द्वादशान्त (= शिर से १२ अंगुल ऊपर) (ख) नासिक्य द्वादशान्त (= नासिका से १२ अंगुल सामने) (ग) अधो द्वादशान्त (= मूलाधार से १२ अंगुल नीचे)

मृतजीवनविषये परोक्षदीक्षायामाक्रष्टव्ये जीवे जालनामा श्रीमद्गुरुवचनादधिगतोऽयं प्रयोगो मयोक्तः परान्प्रत्युपदिष्टः—इत्यर्थः ॥ २६ ॥

नन्वत्र पाशवानां गौरवाणां च प्राणादीनां कथङ्कारमेकीकारो भवेत्?—इत्याशङ्कां दृष्टान्तोपदर्शनेन निरवकाशयति—

चिरविघटिते सेनायुग्मे यथामिलते पुन-
र्हयगजनरं स्वां स्वां जातिं रसादभिधावति ।
करणपवनैर्नाडीचक्रैस्तथैव समागतै-
र्निजनिजरसादेकीभाव्यं स्वजालवशीकृतैः ॥ २७ ॥

यथाहि चिरं विश्लिष्टेऽपि कटकद्वये पुनः सङ्घटिते हयादयो हयादिभिरेव निजनिजानुगुण्येन सङ्घटन्ते, तथैव जालप्रयोगमहिम्ना गौरवाः प्राणाद्याः पाशवैः प्रणाद्यैरेव—इति पिण्डार्थः ॥ २७ ॥

ननु मृतः स्वर्निरयादौ स्वकर्मवशेन तां तां गतिमापद्यते इति कथमसावाकृष्यते ?—इत्याशङ्क्याह—

महाजालसमाकृष्टो जीवो विज्ञानशालिना ।

आकृष्ट किया जाता है । उसके आकर्षण में पशु की उद्धृति = शिष्य के उद्धार के विषय में, अथवा मृतजन के विषय में = परोक्ष दीक्षा में जीव के आक्रष्टव्य होने के विषय में मेरे गुरु से ज्ञात यह जाल नामक प्रयोग मेरे द्वारा कहा गया = दूसरों के लिये उपदिष्ट हुआ ॥ २६ ॥

प्रश्न—पशु के एवं गुरु के प्राण आदि का एकीकार कैसे होता है?—इस आशङ्का को दृष्टान्त दिखा कर शान्त करते हैं—

जैसे बहुत दिनों से अलग हुयी दो सेनाओं के मिलने पर पुनः घोड़े हाथी आदमी अपनी-अपनी जाति की ओर प्रेम से दौड़ते हैं उसी प्रकार नाडीचक्रों से आये अपने जाल से वशीकृत करण पवन अपने-अपने अनुकूल के साथ एक हो जाते हैं ॥ २७ ॥

जैसे चिरवियुक्त दो सेनाओं के पुनः मिलने पर घोड़े आदि घोड़े आदि के साथ अपने-अपने आनुकूल्य से मिल जाते हैं उसी प्रकार जालप्रयोग की महिमा से गुरु के प्राण आदि पशु के प्राग आदि के ही साथ (मिलते है)—यह पिण्ड अर्थ है ॥ २७ ॥

प्रश्न—मृत व्यक्ति अपने कर्मवश स्वर्ग नरक आदि में भिन्न-भिन्न गति को प्राप्त हो जाता है फिर उसका आकर्षण कैसे होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

विज्ञानवान् गुरु के द्वारा महाजाल के माध्यम से आकृष्ट जीव स्वर्ग,

स्वःप्रेततिर्यङ्नरयांस्तदैवैष विमुञ्चति ॥ २८ ॥

एतदेव दृष्टान्तोपदर्शनेन द्रढयति—

तज्ज्ञानमन्त्रयोगाप्तः पुरुषश्चैष कृत्रिमम् ।
योगीव साध्यहृदयात्तदा तादात्म्यमुज्झति ॥ २९ ॥

यथाहि परपुरप्रवेशादौ साध्यैकात्म्यमापन्नोऽपि योगी साध्यहृदयात् तत् कृत्रिमं तादात्म्यं तदैवोज्झति, तथा तस्य जालप्रयोगे विदुषो गुरोः ज्ञानादिभिराप्तः समाकृष्टोऽयमपि जीवशब्दव्यपदेश्यः संकुचित आत्मा प्रेततिर्यगादेः—इति वाक्यार्थः ॥ २९ ॥

न च एतदपूर्वं किञ्चित्—इत्याह—

स्थावरादिदशाश्चित्रास्तत्सलोकसमीपताः ।
त्यजेच्चेति न चित्रं स एवं यः कर्मणापि वा॥ ३० ॥

यः कर्मवशादपि तास्ताः परिगृहीता गतीस्त्यजेत् स महाजालसमाकृष्टः पुरुषश्चेदेवं, तदा किमिदमाश्चर्यस्थानम्—इति वाक्यार्थः ॥ ३० ॥

मनुष्यजन्मनि पुनरयं विशेषः—इत्याह—

प्रेत योनि, तिर्यक्योनि नरक को उसी समय छोड़ देता है ॥ २८ ॥

इसी को दृष्टान्त दिखा कर दृढ़ करते हैं—

जैसे योगी साध्य के हृदय से, उसी प्रकार से ज्ञान, मन्त्र, योग के द्वारा आकृष्ट पुरुष उस समय (प्रेत आदि से) तादात्म्य को छोड़ देता है ॥ २९ ॥

जैसे दूसरे के शरीर में प्रवेश आदि के विषय में साध्य के साथ तादात्म्य को प्राप्त योगी साध्य (दूसरे व्यक्ति) के हृदय से उस कृत्रिम तादात्म्य को तत्काल छोड़ देता है उसी प्रकार उस (= गुरु) के जालप्रयोग में विद्वान् गुरु के ज्ञान आदि से प्राप्त = समाकृष्ट, यह भी = जीव शब्द से व्यवहार्य संकुचित आत्मा भी, प्रेत तिर्यक् आदि की (योनि से मुक्त हो जाता है) ॥ २९ ॥

यह कुछ अपूर्व नहीं है—यह कहते हैं—

यदि कर्मवशात् जीव स्थावर आदि विचित्र दशाओं और उस लोक की समीपता को छोड़ देता है तो जो व्यक्ति (महाजाल के कारण अपना वर्त्तमान शरीर छोड़ देता है) यह आश्चर्य नहीं है ॥ ३० ॥

जो कर्मवश भी उन-उन प्राप्त गतियों को छोड़ देता है वह महाजाल से आकृष्ट पुरुष यदि ऐसा करता है तो उसमें आश्चर्य क्या है—यह वाक्यार्थ है ॥ ३० ॥

अधिकारिशरीरत्वान्मानुष्ये तु शरीरगः ।
न तदा मुच्यते देहाद्देहान्ते तु शिवं व्रजेत् ॥ ३१ ॥

ननु यद्येवं तदनेन संस्कारेण अस्य तत्र कश्चिद्विशेषो भवेन्न वा?— इत्याशङ्क्याह—

तस्मिन्देहे तु काप्यस्य जायते शाङ्करी परा ।
भक्तिरूहाच्च विज्ञानादाचार्याद्वाप्यसेवितात् ॥ ३२ ॥

असेवितादिति—नहि एतन्माहात्म्यादस्य अत्र अन्यत्किञ्चिदुपादेयम्— इत्याशयः ॥ ३२ ॥

नन्वेवं तद्देहमत्यजतोऽस्य जीवस्येह अप्राप्तेः कस्य संस्कारः स्यादिति कृतं परोक्षदीक्षया ?—इत्याशङ्क्याह—

तद्देहसंस्थितोऽप्येष जीवो जालबलादिमम् ।
दार्भादिदेहं व्याप्नोति स्वाधिष्ठित्याप्यचेतयन् ॥ ३३ ॥

व्यापकस्वभावत्वान्न अस्य उभयत्राधिष्ठानं न भवेत्—इत्युक्तम्—व्याप्नोतीति। अचेतयन्नपीति—अख्यातिबलात् ॥ ३३ ॥

मनुष्य के जन्म में यह विशेष है—यह कहते हैं—

मनुष्य का शरीर अधिकारी होने से (उस) शरीर में रहने वाला (जीव उस) शरीर से अलग नहीं होता । और शरीर का अन्त होने पर शिवत्व को प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो इस संस्कार से इस (जीव) का उस (मनुष्य शरीर) में कोई विशेष होता है या नहीं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस शरीर में इसकी ऊह विज्ञान अथवा आचार्य की सेवा न करने पर भी अभूतपूर्व शैवी परा भक्ति उत्पन्न हो जाती है ॥ ३२ ॥

असेवित—इसकी महिमा से इस (जीव) के लिये इस (शरीर) में और कुछ उपादेय नहीं होता ॥ ३२ ॥

प्रश्न—उस (= पूर्व) शरीर को न छोड़ते हुये इस जीव के इस शरीर का न प्राप्त करने के कारण किसका संस्कार होगा ? फिर परोक्ष दीक्षा व्यर्थ है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस (प्रेतादि) शरीर में स्थित भी यह जीव महाजाल के बल से इस कुश आदि वाले शरीर को, अपने अधिष्ठान से चैतन्ययुक्त न बनाता हुआ भी, व्याप्त करता है ॥ ३३ ॥

इस (जीव) के व्यापकस्वभाव वाला होने के कारण इसका दोनों (शरीरों) में

यद्वा गुरुबलात्तु मनुष्यदेहमपि एष त्यजेदेव—इत्याह—

योगमन्त्रक्रियाज्ञानभूयोबलवशात्पुनः ।
मनुष्यदेहमप्येष तदैवाशु विमुञ्चति ॥ ३४ ॥

ननु गृहीततत्तज्जन्मनो जीवस्यैवमुक्तम्, अगृहीतदेहस्य पुनः का वार्त्ता?—इत्याशङ्क्याह—

सुप्तकल्पोऽप्यदेहोऽपि यो जीवः सोऽपि जालतः ।
आकृष्टो दार्भमायाति देहं फलमयं च वा ॥ ३५ ॥

नन्वत्र कुशैर्गोमयेन वा देहस्य कल्पना कार्येत्यनन्तरमेवोक्तम्, तत्कथमिह अस्य फलमयत्वमप्युच्यते?—इत्याशङ्क्याह—

जातीफलादि यत्किञ्चित्तेन वा देहकल्पना ।

प्रत्युत अत्र विशेषोऽस्ति—इत्याह—

अन्तर्बहिर्द्वयौचित्यात्तदत्रोत्कृष्टमुच्यते ॥ ३६ ॥

अधिष्ठान नहीं होता—ऐसा नहीं है—यह कहा गया—व्याप्त करता है । चेतना रहित होते हुये (= न जानते हुए) भी—अज्ञान के कारण ॥ ३३ ॥

अथवा गुरु के बल से यह मनुष्य के भी शरीर को छोड़ देता ही है—यह कहते हैं—

योग मन्त्र क्रिया ज्ञान के अत्यधिक बल के कारण यह उसी समय शीघ्र ही मनुष्यशरीर को भी छोड़ देता है ॥ ३४ ॥

प्रश्न—जिसने तत्तज्जन्म का ग्रहण कर लिया है उस जीव के बारे में यह कहा गया । जिसने शरीर धारण नहीं किया उसकी क्या बात है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो जीव सुप्तकल्प या देहरहित है वह भी जाल के द्वारा आकृष्ट होकर कुशनिर्मित या फलवाले शरीर में आ जाता है ॥ ३५ ॥

प्रश्न—अभी पहले कहा गया कि कुश अथवा गोमय से शरीर की कल्पना करनी चाहिये फिर यहाँ इस (शरीर) को फलमय कैसे कहते हैं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अथवा जायफल (चमेली का फूल) आदि (सजल नारियल, कुष्माण्ड) जो कुछ है उससे भी शरीर की कल्पना की जाती है ॥ ३६- ॥

बल्कि इसमें विशेष भी है—यह कहते हैं—

भीतर और बाहर दोनों दृष्टि से उचित होने के कारण यह इस विषय में उत्कृष्ट कहा जाता है ॥ -३६ ॥

ननु यद्यत्र जीवः संनिधत्ते, तदस्य ज्ञानक्रिये कस्मान्न ?—इत्याशङ्क्याह—

ततो जालक्रमानीतः स जीवः सुप्तवत्स्थितः ।
मनोविशिष्टदेहादिसामग्रीप्राप्त्यभावतः ॥ ३७ ॥
न स्पन्दते न जानाति न वक्ति न किलेच्छति ।
तादृशस्यैव संस्कारान् सर्वान् प्राग्वत्प्रकल्पयेत् ॥ ३८ ॥
निर्बीजदीक्षायोगेन सर्वं कृत्वा पुरोदितम् ।
विधिं योजनिकां पूर्णाहुत्या साकं क्षिपेच्च तम् ॥ ३९ ॥
दार्भादिदेहे मन्त्राग्नावर्पिते पूर्णया सह ।
मुक्तपाशः शिवं याति पुनरावृत्तिवर्जितः ॥ ४० ॥
सप्रत्यया त्वियं यत्र स्पन्दते दर्भजा तनुः ।
तत्र प्राणमनोमन्त्रार्पणयोगात्तथा भवेत् ॥ ४१ ॥
साभ्यासस्य तदप्युक्तं बलाश्वासि न तत्कृते ।

तादृशस्येति—सुप्तवदवस्थितस्य । तमिति—दार्भादिदेहम् । तदुक्तम्—

'पश्चात् स्रुचं त्वाज्ययुतां प्रान्ते तत्प्रकृतिं कुरु ।
उत्थितां समपादस्थः.............................. ॥'

प्रश्न—यदि जीव इसमें सन्निहित होता है तो उसका ज्ञान और क्रिया (इसमें) किस कारण नही होती ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसके बाद जालक्रम से लाया गया वह जीव सुप्त के समान स्थित रहता है । मनविशिष्ट देह आदि सामग्री की अप्राप्ति के कारण वह न हिलता-डुलता, न जानता, न बोलता, न इच्छा करता है । उसी प्रकार के समस्त संस्कारों को पहले की भाँति कल्पित करना चाहिये ।

निर्बीज दीक्षा के योग से पूर्वोक्त सब योजनिका विधि करके पूर्णाहुति के साथ उसका (अग्नि में) प्रक्षेप करना चाहिये । मन्त्रपूर्ण अग्नि में पूर्णाहुति के साथ दार्भ आदि शरीर के अर्पित होने पर पुनरावृत्तिरहित वह (जीव) पाश से मुक्त होकर शिवभाव को प्राप्त होता है । यह सप्रत्यया दीक्षा है जिसमें कुश का शरीर स्पन्दित होने लगता है वहाँ प्राण मन मन्त्र के अर्पण के योग से वैसा होता है । यह भी अभ्यासयुक्त वाले (साधक) के लिये कहा गया ।

यह बलाश्वासि गुरु के सामर्थ्य के प्रति विश्वास दिलाने वाला है और उस (दीक्ष्य) के लिये नहीं है ॥ ३७-४२- ॥

उस प्रकार का = सुप्त के समान स्थित का । उसको = कुश आदि वाली शरीर को । वही कहा गया है—

'बाद में घृतयुक्त स्रुक् को उसके अन्त (= अग्रभाग) में वैसे ही उठा हुआ

इत्युपक्रम्य

'........................ततः पूर्णां विनिक्षिपेत् ।
दहेत्तां प्रतिमामग्नौ परे धाम्नि नियोजयेत् ।
स गच्छेच्छिवसायुज्यं सत्यं सत्यं न संशयः ॥' इति।

तदिति—स्पन्दनम् । तत्कृत इति—नहि दीक्ष्यस्य अयं कश्चित्संस्कारः—इत्याशयः ॥

एतदेव जीवत्परोक्षदीक्ष्यदीक्षायामपि अतिदिशति—

मृतोद्धारोदितैरेव यथासंभूति हेतुभिः ॥ ४२ ॥
जीवत्परोक्षदीक्षापि कार्या निर्बीजिका तु सा ।
तस्यां दर्भाकृतिप्रायकल्पने जालयोगतः ॥ ४३ ॥
सङ्कल्पमात्रेणाकर्षो जीवस्य मृतिभीतितः ।
शिष्टं प्राग्वत्कुशाद्युत्थाकारविप्लोषवर्जितम् ॥ ४४ ॥

संभूतिः = संभवः । यद्यपि अतिदेशबलादेव अस्यां निर्बीजत्वं सिद्धं तथापि जीवति सबीजत्वशङ्कापि कस्यचित् मा भूदित्युक्तम्—निर्बीजिका तु सेति । सङ्कल्पमात्रेणेति—न तु अत्र भरः कार्यः—इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

रखो । अपना पैर बराबर कर (रखना चाहिये)..........।'

ऐसा उपक्रम कर

'..........इसके बाद पूर्णाहुति देनी चाहिये । उस (प्रेत) प्रतिमा को अग्नि में जलाना चाहिये और (जीव को) परधाम में नियुक्त करना चाहिये । (इस प्रकार) वह (जीव) शिवसायुज्य को प्राप्त हो जाता है—यह सत्य है (इसमें) सन्देह नहीं है ।'

वह = स्पन्दन । उसके लिये—दीक्ष्य का दूसरा कोई संस्कार नहीं है—यह आशय है ॥

इसी का जीवत्परोक्षदीक्ष्य की दीक्षा में भी अतिदेश करते हैं—

मृतोद्धार मे कहे गये यथोपलब्ध कारणों से ही जीवत्परोक्षदीक्षा भी करनी चाहिये । किन्तु वह निर्बीजिका होती है । उसमें कुश की आकृति की कल्पना होने पर मृत्यु के भय से सङ्कल्पमात्र से ही जीव का आकर्षण होता है । कुश आदि से उत्पन्न आकार का दाह से रहित शेष (कार्य) पहले जैसा करना चाहिये ॥ -४२-४४ ॥

यथासंभूति = यथासम्भव । यद्यपि अतिदेश के बल से ही इसमें निर्बीजता सिद्ध है तो भी जीवित के विषय में किसी को सबीजत्व की शङ्का भी न हो इसलिये कहा गया कि—वह निर्बीजिका है । सङ्कल्पमात्र से—यहाँ अनुष्ठान नहीं करना चाहिये ॥ ४४ ॥

अयं च आम्नात एव विषये जालप्रयोगः सिद्ध्येन्न अन्यत्र—इत्याह—

पारिमित्यादनैश्वर्यात्साध्ये नियतियन्त्रणात् ।
जालाकृष्टिर्विनाभ्यासं रागद्वेषान्न जायते ॥ ४५ ॥

यथाहि अभ्यासं विना जालाकृष्टिः क्रियमाणा न संपद्यते, तथा रागद्वेषाभ्यामपि । तथा प्रवृत्तो हि पुमान् नियतियन्त्रितं साध्यमर्थं कथमन्यथाकुर्यात्, यदयं संकुचितात्मरूपत्वादनीश्वरः । नच एतदिच्छानुविधायिनो भावा इत्युक्तं प्राक्, इह तु परमेश्वरतावेशात्तथाभावो भवत्येव । परमेश्वर एव हि गुरुशरीराधिष्ठानद्वारा अनुग्राह्याननुगृह्णाति, स च अचिन्त्यमहिमेति असकृदुक्तम् ॥ ४५ ॥

एवं जालोपदेशमादिश्य, संस्क्रियागणस्य बलाबलविचारमभिधातुमाह—

परोक्ष एवातुल्याभिर्दीक्षाभिर्यदि दीक्षितः ।
तत्रोत्तरं स्याद्बालवत्संस्काराय त्वधस्तनम् ॥ ४६ ॥

अतुल्याभिरिति—कुलतन्त्रप्रक्रियादिरूपाभिः अनेकपुत्राद्यभ्यर्थितैरुद्धार्यं प्रति बहुभिराचार्यैरेवंक्रियमाणानां दीक्षाणां संभाव्यमानतया हि एवमुक्तम् । उत्तरमिति—

यह जालप्रयोग आम्नातविषय (= सम्प्रदाय विशेष से अनुमोदित के विषय) में ही सिद्ध होता है अन्यत्र नहीं—यह कहते हैं—

परिमितता, अनैश्वर्य, साध्य में नियति की यन्त्रणा के कारण जालाकर्षण बिना अभ्यास के तथा राग द्वेष के कारण भी नहीं होता ॥ ४५ ॥

जैसे अभ्यास के बिना किया जाने वाला जालाकर्षण सम्पन्न नहीं होता उसी प्रकार राग द्वेष से भी (यह महाजाल अनुष्ठान सम्पन्न नहीं हो सकता) । उस प्रकार से प्रवृत्त होने वाला पुरुष नियति के वशीभूत साध्य अर्थ को अन्यथा कैसे कर देगा क्योंकि यह (पुरुष) संकुचित आत्मा वाला होने के कारण ईश्वर (= समर्थ) नहीं है । पदार्थ इस (= संकुचित आत्मा वाले) की इच्छा के अनुसार चलने वाले नहीं है—यह पहले कहा गया । और यहाँ (= महाजाल प्रयोग में) परमेश्वरता के आवेश से वैसा हो ही जाता है । परमेश्वर ही गुरु के शरीर में स्थिति के द्वारा अनुग्राही बनकर अनुग्रह करता है और उसकी महिमा अचिन्त्य है—यह बार-बार कहा गया है ॥ ४५ ॥

जालोपदेश का आदेश कर, संस्कारसमूह के बलाबलविचार को बतलाते हैं—

परोक्ष में ही असमान दीक्षाओं के द्वारा (साधक) यदि दीक्षित होता है तो उसमें उत्तरक्रम बलवान् होता है और नीचे वाला संस्कार के लिये होता है ॥ ४६ ॥

अतुल्य के द्वारा = कुलप्रक्रिया या तन्त्रप्रक्रिया रूप के द्वारा । अनेक पुत्र

कौलिकं दीक्षादिकर्म । अधस्तनमिति—तन्त्रोक्तम् ॥ ४६ ॥

तुल्यायां दीक्षायां पुनः क्रियमाणायां किं स्यादित्याशङ्क्याह—

भुक्तियोजनिकायां तु भूयोभिर्गुरुभिस्तथा ।
कृतायां भोगवैचित्र्यं हेतुवैचित्र्ययोगतः ॥ ४७ ॥

नन्वेवमत्रास्तु, मुक्तियोजनिकायां तु मुक्तौ वैचित्र्यायोगात् व्यर्थं हेतुवैचित्र्यं स्यादित्याशङ्क्याह—

परोक्षदीक्षणे मायोत्तीर्णे भोगाय योजयेत् ।
भोगानीप्सा दुर्लभा हि सती वा भोगहानये॥ ४८ ॥

भोगायेति—न तु मोक्षाय । दुर्लभेति—भोगवासनाविच्छेदस्य असंभाव्यमानत्वात् । कस्यचिन्महात्मनस्तु भोगानीप्सा संभवन्ती मोक्षायैव भवेत्—इत्याह—सती वा भोगहानये इति ॥ ४८ ॥

ननु परोक्षदीक्षायां यद्येवं भोगायापि योजनिका क्रियते तत्कथं सत्यामपि भोगानीप्सायामस्य मोक्ष स्यात् ?—इत्याशङ्कायां ससंवादमेव समाधानमभिधत्ते—

आदि के द्वारा उद्धार्य के लिये अभ्यर्थित अनेक आचार्यों के द्वारा इस प्रकार की जाने वाली दीक्षाओं के संभावित होने के कारण ऐसा कहा गया । उत्तर = कौलिक दीक्षादि कर्म । अधस्तन = तन्त्रोक्त (दीक्षादि कर्म) ॥ ४६ ॥

तुल्यदीक्षा के किये जाने पर क्या होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

भोगयोजनिका (दीक्षा) में अनेक गुरुओं के द्वारा वैसी (= तुल्य दीक्षा) की जाने पर हेतुवैचित्र्य (= कर्मवैचित्र्य) के कारण भोगवैचित्र्य होता है ॥ ४७ ॥

प्रश्न—यहाँ ऐसा हो जाय किन्तु मुक्तियोजनिका (दीक्षा) में तो मुक्ति में वैचित्र्य न होने से कारण वैचित्र्य व्यर्थ हो जायगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

परोक्षदीक्षा में मायोत्तीर्ण होने पर (साधक) को भोग के लिये जोड़ना चाहिये क्योंकि भोग की इच्छा न होना कठिन है अथवा यदि (भोगानीप्सा) है तो भोगत्याग के लिये (= मोक्ष के लिये) जोड़ना पड़ता है ॥ ४८ ॥

भोग के लिये—न कि मोक्ष के लिये । दुर्लभ—भोगवासना के विच्छेद के असम्भव होने से । किसी-किसी महात्मा की भोगविषयक अनिच्छा सम्भव होकर मोक्ष के लिये ही होती है—यह कहते हैं—सती वा भोगहानये ॥ ४८ ॥

प्रश्न—परोक्षदीक्षा में यदि इस प्रकार भोग के लिये भी योजनिका (दीक्षा) की जाती है तो कैसे भोगेच्छा न होने पर भी मोक्ष होगा?—यह शङ्का कर संवाद के सहित समाधान कहते हैं—

उक्तं हि स्वान्यसंवित्त्योः स्वसंविद्बलवत्तरा ।
बाधकत्वे बाधिकासौ साम्यौदासीन्ययोस्तथा ॥ ४९ ॥

बलवत्तरेति—एवं हि कृतायामपि गुरुणा भुक्तियोजनिकायामस्य मुक्तिरेव भवेत् —इति भावः । अत एवोक्ताम्—बाधिकेति । असाविति—स्वसंवित् । साम्यौदासीन्ययोरिति—गुरुशिष्योभयसंविद्गतयोः । तथेति—बाधिकैव—इत्यर्थः ॥४९ ॥

अत्रैव गुर्वन्तरोपदिष्टं विशेषं दर्शयति—

श्रीमान् धर्मशिवोऽप्याह पारोक्ष्यां कर्मपद्धतौ ।

तदेवाह—

परोक्षदीक्षणे सम्यक् पूर्णाहुतिविधौ यदि ॥ ५० ॥
अग्निश्चिटिचिटाशब्दं सधूमं प्रतिमुञ्चति ।
धत्ते नीलाम्बुदच्छायां मुहुर्ज्वलति शाम्यति ॥ ५१ ॥
विस्तरो घोररूपश्च महीं धावति चाप्यधः ।
ध्वांक्षाद्यश्रव्यशब्दो वा तदा तं लक्षयेद् गुरुः ॥ ५२ ॥
ब्रह्महत्यादिभिः पापैस्तत्सङ्गश्चोपपातकैः ।
तदा तस्य न कर्तव्या दीक्षास्मिन्नकृते विधौ ॥ ५३ ॥

कहा गया है कि अपनी और दूसरे की संवित् में अपनी संवित् बलवत्तर होती है । बाधक होने पर यह (= आत्मसंवित्) बाधिका होती है समान एवं उदासीन होने पर भी वैसी (= बाधिका) ही होती है ॥ ४९ ॥

बलवत्तरा—इस प्रकार गुरु के द्वारा भोगयोजनिका करने पर भी इसकी मुक्ति ही होती है । इसीलिये कहा गया—बाधिका । यह = अपनी संवित् । साम्य और औदासीन्य—गुरु शिष्य दोनों की संविद् में रहने वाले । वैसी = बाधिका ॥ ४९ ॥

इसी विषय में दूसरे गुरु के द्वारा उपदिष्ट विशेष को दिखलाते हैं—

श्रीमान् धर्मशिव भी परोक्षकर्मपद्धति में कहते हैं ॥ ५०- ॥

वही कहते हैं—

परोक्ष दीक्षा में सम्यक् पूर्णाहुतिविधि में यदि अग्नि धूमयुक्त होकर चिट् चिट् शब्द करती है, काले बादल जैसी छाया धारण करती है बार-बार जलती बुझती है; विस्तृत एवं भयानक रूप वाली होकर पृथ्वी की ओर नीचे लपकती है; कौवे आदि का अश्रवणीय शब्द सुनायी देता है तो गुरु उस (शिष्य) को ब्रह्महत्या आदि महापापों तथा उसके संसर्गी उपपातकों से युक्त समझे । तब इस विधि का अनुष्ठान किये बिना उसकी

अस्मिन्निति—वक्ष्यमाणे ॥ ५३ ॥

तमेव विधिमाह—

नवात्मा फट्पुटान्तःस्थः पुनः पञ्चफडन्वितः ।
अमुकस्येति पापानि दहाम्यनु फडष्टकम् ॥ ५४ ॥
इति साहस्रिको होमः कर्तव्यस्तिलतण्डुलैः ।
अन्ते पूर्णा च दातव्या ततोऽस्मै दीक्षया गुरुः ॥ ५५ ॥
परयोजनपर्यन्तं कुर्यात्तत्त्वविशोधनम् ।

तत इति—एवंविध्यनन्तरम् ।

अमुमेव विधिं संनिहितस्य जीवतोऽप्यतिदिशति—

दीक्षा न करे ॥ -५०-५३ ॥

इसके = आगे कही जाने वाली के ॥ ५३ ॥

उसी विधि को कहते हैं—

नवात्मा[1] फट्कार के भीतर स्थित फिर पाँच फडन्त (= र र रु रु फट्) से युक्त मन्त्र का दोनों के बीच अपने को स्थित रहने की कल्पना करे । फिर 'अमुक का पाप जला रहा हूँ' इस कथन के बाद आठ फट्कार (= पहले के पाँच और हुं हुः फट्) का उच्चारण करे । इस प्रकार तिल और चावल से १ हजार आहुति देनी चाहिये । अन्त में पूर्ण आहुति देनी चाहिये । तत्पश्चात् गुरु दीक्षा के द्वारा परयोजन तक (शिष्य के) तत्त्व का शोधन करे ॥ ५४-५६- ॥

इसके बाद = इस प्रकार की विधि के बाद ॥

इसी विधि का सन्निहित जीवित (व्यक्ति) के लिये भी अतिदेश करते हैं—

१.

नवात्मा शिव	परापर मन्त्रों के अंश
१. निष्कल	ॐ अघोरे ह्रीः
२. सकल	परमघोरे हुम्
३. मायात्रितय	घोररूपे ह्रः
४. काल नियति	घोरमुखि
५. राग	भीमे
६. प्रधान	भीषणे
७. बुद्धि	वम पिब हे
८. विद्या	र र रु रु फट्
९. पार्थिव	हुं हुः फट्

प्रत्यक्षेऽपि स्थितस्याणोः पापिनो भगवन्मयी ॥ ५६ ॥
शक्तिं प्राप्तवतो ज्येष्ठामेवमेव विधिं चरेत् ।

अत्रैव पक्षान्तरमाह—

यदि वा दैशिकः सम्यङ् न दीप्तस्तस्य तत्पुरा ॥ ५७ ॥
प्रायश्चित्तैस्तथा दानैः प्राणायामैश्च शोधनम् ।
कृत्वा विधिमिमां चापि दीक्षां कुर्यादशङ्कितः ॥ ५८ ॥

तस्येति—प्रत्यक्षेऽपि स्थितस्य अणोः ॥ ५८ ॥

तत्त्वज्ञस्य पुनरेतत्र किञ्चिदुपादेयम्—इत्याह—

सर्वथा वर्तमानोऽपि तत्त्वविन्मोचयेत्पशून् ।
इच्छयैव शिवः साक्षात्तस्मात्तं पूजयेत्सदा ॥ ५९ ॥
शाठ्यं तत्र न कार्यं च तत्कृत्वाधो व्रजेच्छिशुः ।
न पुनः कीर्तयेत्तस्य पापं कीर्तयिता व्रजेत् ॥ ६० ॥
निरयं वर्जयेत्तस्मादिति दीक्षोत्तरे विधिः ।

सर्वथेति—येन केनचित्प्रकारेण । शाठ्यम् = विचिकित्सा । वर्जयेदिति—पापकीर्तनम् ॥

प्रत्यक्ष भी स्थित पापी अणु के लिये जो कि भगवन्मयी शक्ति प्राप्त करना चाहता है—ऐसी हि विधि को करना चाहिये ॥ -५६-५७- ॥

इसी में पक्षान्तर को कहते हैं—

अथवा यदि आचार्य भलीभाँति दीप्त नहीं है तो पहले प्रायश्चित्त दान तथा प्राणायाम के द्वारा उसका शोधन कर इस विधि और दीक्षा को शङ्कारहित होकर करे ॥ -५७-५८ ॥

उसका = प्रत्यक्ष स्थित अणु का ॥ ५८ ॥

तत्त्वज्ञानी के लिये यह कुछ भी उपादेय नहीं है—यह कहते हैं—

तत्त्ववेत्ता सर्वथा वर्त्तमान होते हुये भी अपनी इच्छा से पशुओं को मुक्त कर देता है क्योंकि वह साक्षात् शिव है । इसलिये सदा उसकी पूजा करनी चाहिये । उसके विषय में शठता नहीं करनी चाहिये । वैसा करके शिष्य पतित हो जाता है । उसके पाप का वर्णन नहीं करना चाहिये । वर्णन करने वाला उस कारण नरक को जाता है । यह दीक्षोत्तर तन्त्र में विधि है ॥ ५९-६१- ॥

सर्वथा = जिस किसी प्रकार से । शठता = सन्देह । छोड़ देना चाहिये—पाप का वर्णन ॥

आह्निकार्थमेवोपसंहरति—

एषा परोक्षदीक्षा द्विधोदिता जीवदितरभेदेन ॥ ६१ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके परोक्षदीक्षाप्रकाशनं नाम एकविंशमाह्निकम् ॥ २१ ॥

इति शिवम् ॥

निखिलजगदुद्दिधीर्षाहर्षाकुलमानसेनेयम् ।
व्याख्याह्निके व्यरच्यत किलैकविंशे जयरथेन॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते परोक्षदीक्षाप्रकाशनं नाम एकविंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ २१ ॥

इस आह्निक के विषय का उपसंहार करते हैं—

जीवित और अन्य (= मृत) के भेद से यह दो प्रकार की परोक्ष दीक्षा कही गयी ॥ -६१ ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के एकविंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २१ ॥

समस्त संसार का उद्धार करने की इच्छा के हर्ष से व्याकुल मन वाले जयरथ के द्वारा इक्कीसवें आह्निक की व्याख्या की गयी ॥

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के एकविंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २१ ॥
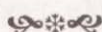
द्वाविंशमाह्निकम्
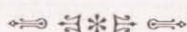
* विवेकः *

दुर्वृत्तजनकुसंस्कृतिसंहरणव्यावृतास्यतां दधतम् ।
देवममन्दं वन्दे वन्दनमानन्दनं जगताम् ॥ १ ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन लिङ्गोद्धारदीक्षां वक्तुमाह—

लिङ्गोद्धाराख्यामथ वच्मः शिवशासनैकनिर्दिष्टाम् ॥ १ ॥

एकेति—यदुक्तं प्राक्—

'अत एवेह शास्त्रेषु शैवेष्वेव निरूप्यते ।
शास्त्रान्तरार्थानाश्वस्तान्प्रति सांस्कारिको विधिः ॥
अतश्चात्युत्तमं शैवं योऽन्यत्र पतितः स हि ।
इहानुग्राह्य ऊर्ध्वोर्ध्वं नेतस्तु पतितः क्वचित् ॥

---

* ज्ञानवती *

मैं दुर्वृत्त लोगों के कुसंस्कार को निगलने के लिये मुँह खोले हुये, संसार के आनन्द एवं (सबके) वन्दनीय अमन्ददेव को प्रणाम करता हूँ (अथवा देव को अमन्द अर्थात् अत्यन्त तीव्र उल्लास के साथ प्रणाम करता हूँ)।

अब द्वितीय अर्धश्लोक के द्वारा लिङ्गोद्धारदीक्षा कहते हैं—

अब केवल शिवागम में निर्दिष्ट लिङ्गोद्धार नामक दीक्षा को बतलाते हैं ॥ १ ॥

एक—जैसा कि पहले कहा गया—

इसीलिये इन शास्त्रों में से केवल शैवशास्त्र में ही यह सांस्कारिक विधि दूसरे शास्त्रों के विषय में विश्वास न रखने वालों के लिये कही जाती है । शैवशास्त्र इस कारण उत्तम है कि जो व्यक्ति (= चाण्डाल, वेश्या आदि) अन्य शास्त्रों के अनुसार

अत एव हि सर्वज्ञैर्ब्रह्मविष्ण्वादिभिर्निजे ।
न शासने समाम्नातं लिङ्गोद्धारादि किञ्चन ॥'
(१३।३५९) इति ॥ १ ॥

ननु इयमस्मच्छास्त्रे दीक्षा किमुक्ता न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

उक्तं श्रीमालिनीतन्त्रे किल पार्थिवधारणाम् ।
उक्त्वा यो योजितो यत्र स तस्मान्न निवर्तते ॥ २ ॥
योग्यतावशसञ्जाता यस्य यत्रैव शासना ।
स तत्रैव नियोक्तव्यो दीक्षाकाले ततस्त्वसौ ॥ ३ ॥
फलं सर्वं समासाद्य शिवे युक्तोऽपवृज्यते ।
अयुक्तोऽप्यूर्ध्वसंशुद्धिं संप्राप्य भुवनेशतः ॥ ४ ॥
शुद्धः शिवत्वमायाति दग्धसंसारबन्धनः ।
उक्त्वा पुंधारणां चोक्तमेतद्वैदान्तिकं मया ॥ ५ ॥
कपिलाय पुरा प्रोक्तं प्रथमे पटले तथा ।
अनेन क्रमयोगेन र.प्राप्तः परमं पदम् ॥ ६ ॥
न भूयः पशुतामेति शुद्धे स्वात्मनि तिष्ठति ।

वैदान्तिकमिति—विज्ञानम् ॥

पतित होता है वह इस शास्त्र में ऊर्ध्व-ऊर्ध्व स्थिति को प्राप्त कराने के लिये अनुग्राह्य होता है । यहाँ से (कोई) पतित नहीं होता । इसीलिये सर्वज्ञ ब्रह्मा विष्णु आदि के द्वारा अपने शास्त्र में लिङ्गोद्धार आदि कुछ नहीं कहा गया ॥ १ ॥

प्रश्न—यह दीक्षा क्या हमारे शास्त्र में कही गयी है या नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यह मालिनीविजयोत्तरतन्त्र में कहा गया है । शिव ने पार्थिव धारणा का कथन कर कहा—जो व्यक्ति जहाँ नियोजित होता है वह उससे लौटता नहीं, योग्यता के अनुसार जिसकी शासना जहाँ होती है वह उसे दीक्षाकाल में वहीं नियुक्त करे । कालान्तर में वह समस्त फल को प्राप्त करता हुआ शिवतत्त्व में नियुक्त होकर मुक्त हो जाता है । (वहाँ) न नियुक्त होने पर भी भुवनेश के कारण ऊर्ध्वसंशुद्धि प्राप्त कर स्वकीय संसारबन्धन के जल जाने पर शुद्ध हुआ शिव भाव को प्राप्त होता है । पुरुष की देह धारणा का कथन कर मैने इस वेदान्तविज्ञान को कहा है । सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र के प्रथम पटल में यह पहले (परमेश्वर के द्वारा) कपिल के लिये कहा गया । इसी क्रम से (साधक) परम पद को प्राप्त हुआ फिर पशु नहीं होता वरन् शुद्ध आत्मा में स्थित होता है ॥ २-७- ॥

वैदान्तिक—विज्ञान ॥

ननु इह लिङ्गोद्धारदीक्षावचने संदिहानं प्रति सागरं तर्तुकामस्य हिमवद्वर्णनं किमिदमुच्यते ?—इत्याशङ्क्याह—

अतो हि ध्वन्यतेऽर्थोऽयं शिवतत्त्वाधरेष्वपि ॥ ७ ॥
तत्त्वेषु योजितस्यास्ति पुनरुद्धरणीयता ।
समस्तशास्त्रकथितवस्तुवैविक्त्यदायिनः ॥ ८ ॥
शिवागमस्य सर्वेभ्योऽप्यागमेभ्यो विशिष्टता ।
शिवज्ञानेन च विना भूयोऽपि पशुतोद्भवः ॥ ९ ॥

अत इति—वाक्यत्रयात् । अधरेष्विति, तत्त्वेष्विति—मायादशायामपि—इत्यर्थः । एवमधरदर्शनस्थोऽपि आयातशक्तिपातः शैवागमप्रक्रियया भुवनेशादिवत् गुरुणा पुनरुद्धरणीय एव—इति कटाक्षितम् । तत्र च लिङ्गोद्धारदीक्षैव उपायः—इति सर्वत्रोक्तम् । समस्तानि शास्त्राणि कापिलादीनि, तत्र कथितं वस्तु प्रकृति-पुरुषविवेकादि, एवमपि एषां न मायातो मुक्तिरिति तदुक्तवस्तुवैविक्त्यदायित्वात् सर्वागमेभ्यः शैवागमस्यैव प्राधान्यम्, अतश्च तत एव साक्षात्परपदप्राप्तिः । दर्शनान्तरप्राप्तानां हि पुनरपि अधरपदप्राप्तिरेव—इत्युक्तं प्राग् बहुशः ॥ ९ ॥

तत्र च इयानपेक्षणीयः क्रमः—इत्याह—

प्रश्न—इस लिङ्गोद्धारदीक्षा के प्रति सन्देह करने वाले के प्रतिसमुद्र पार करने के लिये इच्छुक के सामने हिमालयवर्णन के समान—यह क्यों कहा जाता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि शिवतत्त्व से नीचे वाले तत्त्वों में भी नियोजित का पुनः उद्धार होता है । समस्त शास्त्र में कथित वस्तुभेद को देने वाले शैवागम की सभी आगमों से विशेषता है । शिवज्ञान के बिना (जीव) पुनः पशु हो जाता है ॥ -७-९ ॥

इससे = तीन वाक्य (१. यो योजितः............... । २. योग्यतावश.......... । ३. अयुक्तोप्यूर्ध्व..........दग्धसंसारबन्धनः ॥) (तं.आ. २२।२-५) से । नीचे वाले तत्त्वों में = मायादशा में भी । इस प्रकार नीचे के दर्शन में स्थित भी (साधक) शक्तिपातयुक्त होकर शैवागमप्रक्रिया के अनुसार भुवनेश आदि की भाँति गुरु के द्वारा पुनः उद्धार के योग्य हो जाता है—यह सङ्केतित किया गया । इस विषय में लिङ्गोद्धारदीक्षा ही उपाय है—ऐसा सर्वत्र कहा गया है । समस्त शास्त्र = सांख्य आदि, उनमें कही गयी वस्तु = प्रकृति एवं पुरुष का भेदज्ञान आदि । ऐसा होने पर भी इनकी माया से मुक्ति नहीं होती इसलिये उक्त वस्तु भेद का ज्ञान कराने के कारण शैवागम सभी आगमों में प्रधान है । इसलिये उसी के द्वारा साक्षात् परम पद की प्राप्ति होती है । दूसरे दर्शनों को प्राप्त (व्यक्तियों) को निम्न पदों की प्राप्ति होती है—यह पहले कई बार कहा गया है ॥ ९ ॥

क्रमश्च शक्तिसंपातो मलहानिर्यियासुता ।
दीक्षा बोधो हेयहानिरुपादेयलयात्मता ॥ १० ॥
भोग्यत्वपाशवत्यागः पतिकर्तृत्वसंक्षयः ।
स्वात्मस्थितिश्चेत्येवं हि दर्शनान्तरसंस्थितेः ॥ ११ ॥
प्रोक्तमुद्धरणीयत्वं शिवशक्तीरितस्य हि ।

यियासुतेति—गुरुं प्रति । बोध इति—दीक्षानन्तरं श्रवणादावधिकारात् । हेयेति—मलकर्मादिः । उपादेयलयात्मतेति—शिवशक्त्याद्येकविश्रान्तिमयत्वम—इत्यर्थः । पाशवम् = आणवं मलम् । कर्तृत्वेति—संसारं प्रति प्रेरणात्मकम् ॥

एवमस्य आयातशक्तिपातस्य किं कार्यम्?—इत्याशङ्क्याह—

अथ वैष्णवबौद्धादितन्त्रान्ताधरवर्तिनाम् ॥ १२ ॥
यदा शिवार्करश्म्योघैर्विकासि हृदयाम्बुजम् ।
लिङ्गोद्धृतिस्तदा पूर्वं दीक्षाकर्म ततः परम् ॥ १३ ॥
प्राग्लिङ्गान्तरसंस्थोऽपि दीक्षातः शिवतां व्रजेत् ।

अन्तः = सिद्धान्तः । उक्तं हि प्राक्—

इस विषय में आवश्यक क्रम यह है—

क्रमः—शक्तिसंपात,—मलहानि-—(गुरु के पास) जाने की इच्छा—दीक्षा—बोध—हेयहानि—उपादेय का लय—भोग्यत्व पाशव का त्याग—पतिकर्तृत्व का संक्षय—आत्मस्वरूप में स्थिति । इस प्रकार दर्शनान्तर में स्थित व्यक्ति शिव की शक्ति से प्रेरित होकर उक्त रीति से उद्धरणीय होता है—यह कहा गया ॥ १०-१२- ॥

यियासुता = गुरु के प्रति । बोध = दीक्षा के बाद श्रवण आदि में अधिकार होने से । हेय = मल कर्म आदि का । उपादेयलयात्मता = शिव शक्ति आदि की एकविश्रान्तिमयता । पाशव = आणव मल । कर्तृत्व = संसार के प्रति प्रेरणात्मक ॥

शक्तिपातप्राप्त इस (व्यक्ति) का क्या कार्य है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वैष्णव बौद्ध आदि निम्न कोटि के तन्त्रों के अनुसार आचरण करने वालों के हृदयकमल जब शिवरूपी सूर्य की किरणों के समूह के कारण विकसित हो जाते हैं तब पहले (उनका) लिङ्गोद्धार उसके बाद दीक्षाकर्म होता है । पहले दूसरे शास्त्र के अनुसार स्थित भी दीक्षा के द्वारा शिवभाव को प्राप्त होता है ॥ -१२-१४- ॥

अन्तः सिद्धान्त । पहले कहा भी गया है—

'स्वातन्त्र्यात्तु महेशस्य तेऽपि चेच्छिवतोन्मुखाः ।
द्विगुणा संस्क्रियास्त्येषां लिङ्गोद्धृत्याथ दीक्षया ॥
दुष्टाधिवासविगमे पुष्पैः कुम्भोऽधिवास्यते ।
द्विगुणोऽस्य स संस्कारो नेत्थं शुद्धे घटे विधिः ॥'
(१३।२८३) इति ॥

तत्र लिङ्गोद्धृतौ तावदितिकर्तव्यतामाह—

तत्रोपवास्य तं चान्यदिने साधारमन्त्रतः ॥ १४ ॥
स्थण्डिले पूजयित्वेशं श्रावयेत्तस्य वर्तनीम् ।
एष प्रागभवल्लिङ्गी चोदितस्त्वधुना त्वया ॥ १५ ॥
प्रसन्नेन तदेतस्मै कुरु सम्यगनुग्रहम् ।
स्वलिङ्गत्यागशङ्कोत्थं प्रायश्चित्तं च मास्य भूत्॥ १६ ॥
अचिरात्त्वन्मयीभूय भोगं मोक्षं प्रपद्यताम् ।
एवमस्त्वित्यथाज्ञां च गृहीत्वा व्रतमस्य तत् ॥ १७ ॥
अपास्याम्भसि निक्षिप्य स्नपयेदनुरूपतः ।
स्नातं संप्रोक्षयेदर्घपात्राम्भोभिरनन्तरम् ॥ १८ ॥
पञ्चगव्यं दन्तकाष्ठं ततस्तस्मै समर्पयेत् ।
ततस्तं बद्धनेत्रं च प्रवेश्य प्रणिपातयेत् ॥ १९ ॥

वर्तनी = वृत्तम् । एवमस्त्वित्येनेन श्रावणार्थ एव अभ्यनुज्ञातः । स्नपयेदिति—तद्व्रतदोषनिवृत्त्यर्थम् । अनुरूपत इति—दित्सितदर्शनौचित्येन—

'स्वातन्त्र्यात्तु..................घटे विधिः' ॥ (तं.आ. १३।२८३)

लिङ्गोद्धार में इतिकर्त्तव्यता को कहते हैं—

उस (= शिष्य) को प्रथम दिन उपवास कराकर दूसरे दिन साधार (= साधारण) मन्त्र के द्वारा स्थण्डिल पर परमेश्वर की पूजा करा कर उसकी जीवनी (ईश्वर) को सुनाये—(हे परमेश्वर !) 'यह पहले लिङ्गी था अब आपने प्रसन्न होकर इसे प्रेरित किया । तो इसके ऊपर सम्यक् कृपा कीजिये । अपने लिङ्ग के त्याग की शङ्का से उत्पन्न प्रायश्चित्त इसे न करना पड़े । शीघ्र ही त्वन्मय होकर (यह) भोग और मोक्ष को प्राप्त करे ।' 'ऐसा हो'—इस प्रकार की (अपने मन मे) आज्ञा लेकर (आचार्य) इसके व्रत को छोड़कर पानी में डाल कर इसे यथानुरूप स्नान कराये । स्नान से निवृत्त इसका अर्घपात्र के जल से संप्रोक्षण करे फिर उसे पञ्चगव्य फिर दन्तकाष्ठ समर्पित करे । फिर उसकी आँखे बन्द कर यागस्थल में प्रवेश करा कर प्रणाम कराये ॥ -१४-१९ ॥

वर्त्तनी = चरित आचरण । 'एवमस्तु'—इसके **द्वारा सुनाने** के लिये ही

इत्यर्थः ॥ १९ ॥

ननु इह के नाम साधारणा मन्त्राः, यन्मध्यादपि एकतमेन ईशं पूजयेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

प्रणवो मातृका माया व्योमव्यापी षडक्षरः।
बहुरूपोऽथ नेत्राख्यः सप्त साधारणा अमी ॥ २० ॥
तेषां मध्यादेकतमं मन्त्रमस्मै समर्पयेत् ।
सोऽप्यहोरात्रमेवैनं जपेदल्पभुगप्यभुक् ॥ २१ ॥
मन्त्रमस्मै समर्प्याथ साधारविधिसंस्कृते ।
वह्नौ तर्पिततन्मन्त्रे व्रतशुद्धिं समाचरेत् ॥ २२ ॥

एनमिति—साधारणमेकतमं मन्त्रम् । अल्पभुगिति—अभुगिति च सामर्थ्यानुसारम् ॥ २०-२२ ॥

एवमस्य शोधनं कृत्वा पातकच्युतिमभिधातुमाह—

पूजितेनैव मन्त्रेण कृत्वा नामास्य संपुटम् ।
प्रायश्चित्तं शोधयामि फट्स्वाहेत्यूहयोगतः ॥ २३ ॥

आज्ञप्त । स्नान कराये—उस व्रत के दोष को हटाने के लिये । अनुरूप = देने की इच्छा वाले दर्शन के अनुरूप ॥ १९ ॥

प्रश्न—वे साधारण मन्त्र कौन से है जिनमें से किसी एक के द्वारा परमेश्वर की पूजा करनी चाहिये?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रणव (= ॐ), मातृका (ह्रीं अ-क्ष ह्रीं) माया (= ह्रीं), व्योमव्यापी = वायुबीज (= यं) षडक्षर (= ॐ क्रीं ह्सौं हौ ह्रौं), बहुरूप (= क-म-कं अथवा मन्त्राक्षरों का उलट पलट करने से बना मन्त्र, जैसे—'ऐं क्लीं सौः' का 'सौः क्लीं ऐं' इत्यादि), नेत्राख्य (= ॐ जूं सः) ये सात साधारण मन्त्र है । इनमें से कोई एक मन्त्र इसको (शिष्य को) अर्पित करे। वह भी एक रात दिन अल्पाहार या अनाहार होकर इसे जपे । इसे मन्त्र देकर साधारण विधि से संस्कृत अग्नि को उस मन्त्र से तृप्त करे । फिर व्रतशुद्धि करे ॥ २०-२२ ॥

इसको = साधारण किसी एक मन्त्र को । अल्पभोजी या निराहार—सामर्थ्य के अनुसार ॥ २०-२२ ॥

इसका शोधन कर पातकच्युति कहते हैं—

पूजित मन्त्र से ही इस (= शिष्य) के नाम को संपुटित कर 'अस्य प्रायश्चिंत शोधयामि फट् स्वाहा' इस प्रकार ऊहयोजना कर एक सौ आठ

शतं सहस्रं वा हुत्वा पुनः पूर्णाहुतिं तथा ।
प्रयोगाद्वौषडन्तां च क्षिप्त्वाहूय व्रतेश्वरम् ॥ २४ ॥
तारो व्रतेश्वरायेति नमश्चेत्येनमर्चयेत् ।
श्रावयेच्च त्वया नास्य कार्यं किञ्चिच्छिवाज्ञया ॥ २५ ॥
ततो व्रतेश्वरस्तर्प्यः स्वाहान्तेन ततश्च सः ।
क्षमयित्वा विसृज्यः स्यात्ततोऽग्नेश्च विसर्जनम् ॥ २६ ॥
तच्छ्रावणं च देवाय क्षमस्वेति विसर्जनम् ।

तारः = प्रणवः । एनमिति—व्रतेश्वरम् ॥

एवं लिङ्गोद्धृतिमभिधाय दीक्षाकर्म अभिधत्ते—

ततस्तृतीयदिवसे प्राग्वत्सर्वो विधिः स्मृतः ॥ २७ ॥
अधिवासादिकः स्वेष्टदीक्षाकर्मावसानकः ।

प्रथमे दिने हि अस्य उपवासः, द्वितीये लिङ्गोद्धार इत्युक्तम्—तृतीय इति ॥

ननु स्वेष्टा चेदस्य दीक्षा कार्या, तत्किमयमपि सर्वदीक्षाणामेव पात्रम्?—इत्याशङ्क्याह—

प्राग्लिङ्गिनां मोक्षदीक्षा साधिकारविवर्जिता॥ २८ ॥

या १००८ आहुति दे । बाद में पूर्णाहुति को उसी प्रकार 'वौषट्' अन्त में जोड़कर दे ।' अनन्तर व्रतेश्वर का आवाहन कर 'ॐ व्रतेश्वराय नमः' इस प्रकार उनका पूजन करे और सुनाये कि शिव की आज्ञा से आप इसका (= शिष्य का) कुछ अहित न करें' । तत्पश्चात् व्रतेश्वर का स्वाहान्तमन्त्र से तर्पण करे । फिर क्षमायाचना कर उनका विसर्जन करे, तत्पश्चात् अग्नि का विसर्जन करे । देवता को उसका श्रवण कराये और 'क्षमा करें' (यह कहकर उस देवता का) विसर्जन करे ॥ २३-२७- ॥

तार = ॐकार । इसको = व्रतेश्वर को ॥

लिङ्गोद्धार का कथन कर दीक्षाकर्म कहते हैं—

इसके बाद तीसरे दिन पहले के समान ही सब विधि मानी गयी है । अधिवास आदि अपने द्वारा वाञ्छित दीक्षाकर्म तक चलने देना चाहिये ॥ -२७-२८- ॥

प्रथम दिन इसका उपवास तथा दूसरे दिन लिङ्गोद्धार । इसलिये कहा गया—तीसरे (दिन) ॥

प्रश्न—यदि इसकी दीक्षा अपनी इच्छानुसार होती है तो क्या यह भी सभी दीक्षाओं का पात्र है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

साधकाचार्यतामार्गे न योग्यास्ते पुनर्भुवः ।
पुनर्भुवोऽपि ज्ञानेद्धा भवन्ति गुरुतास्पदम् ॥ २९ ॥
मोक्षायैव न भोगाय भोगायाप्यभ्युपायतः ।
इत्युक्तवान्स्वपद्धत्यामीशानशिवदैशिकः ॥ ३० ॥
श्रीदेव्या यामलीयोक्तितत्त्वसम्यक्प्रवेदकः ।

अत्र अयोग्यत्वे पुनर्भवत्वं हेतुः । यदुक्तम्—

'न ते मनुप्रयोक्तारः पुनर्भवतया स्थिताः ।' इति ।

ते च

'पुनर्भूश्चान्यलिङ्गो यः पुनः शैवे प्रतिष्ठितः ।' (२३।१०) इति ।

लक्षयिष्यमाणाः । ज्ञानेद्धा इति—पराद्वयज्ञानोद्दीपितात्मनां कुत्र नाम नाधिकारो भवेत्—इति भावः । अभ्युपायत इति—भोगोपायभूतशास्त्रप्रक्रियाद्यनुसारेण—इत्यर्थः । न च एतदनेन निर्मूलमेवोक्तम्—इत्याह—श्रीदेव्या इत्यादि ॥

एवंसंस्कृतस्यास्योपदेष्टव्यम्—इत्याह—

गुर्वन्तस्याप्यधोदृष्टिशायिनः संस्क्रियामिमाम् ॥ ३१ ॥

पहले लिङ्गियों (= अन्य सम्प्रदाय में निष्ठा रखने वालों) की मोक्षदीक्षा होती है । वह (= मोक्षदीक्षा, शैवी दीक्षा के) अधिकार से रहित होती है । साधक के आचार्य बनने के मार्ग में वे पुनर्भू (= एक सम्प्रदाय में निष्ठा रखने के बाद दूसरे नये सम्प्रदाय में निष्ठा रखने वाले) लोग योग्य नहीं होते । ये पुनर्भू लोग भी ज्ञानदीप्त होकर गुरु हो जाते हैं किन्तु मोक्ष के लिये ही न कि भोग के लिये । और उपाय के द्वारा भोग के लिये भी (गुरु होते हैं)—ऐसा देवीयामल के वचन को भली भाँति जानने वाले ईशान शिवाचार्य ने अपनी पद्धति में कहा है ॥ -२८-३१- ॥

अयोग्यता में पुनर्भू होना कारण है । जैसा कि कहा गया—

'पुनर्भव के कारण वे मन्त्रप्रयोक्ता नहीं होते ।' और

'जो शैवागम में प्रतिष्ठित है वह पुनर्भू अन्य लिङ्ग वाला होता है ।' (तं.आ. २३।१०)

इस प्रकार लक्षण बतलाये जाने वाले (मन्त्रप्रयोक्ता नहीं होते)। ज्ञानेद्ध = पराद्वयज्ञान से उद्दीपित आत्मा वालों का कहाँ अधिकार नहीं होता अर्थात् सर्वत्र होता है । अभ्युपाय के कारण = भोगोपायभूत शास्त्रप्रक्रिया के द्वारा । इनके द्वारा यह निराधार नहीं कहा गया—यह कहते हैं—श्री देवी के.............इत्यादि ॥

इस प्रकार से संस्कृत इसको उपदेश देना चाहिये—यह कहते हैं—

कृत्वा रहस्यं कथयेन्नान्यथा कामिके किल ।

कामिकाग्रन्थमेव पठति—

अन्यतन्त्राभिषिक्तेऽपि रहस्यं न प्रकाशयेत् । ३२ ॥

न केवलमेवमधरदर्शनस्थस्यैव कार्यं यावत् स्वदर्शनस्थस्यापि—इत्याह—

स्वतन्त्रस्थोऽपि गुर्वन्तो गुरुमज्ञमुपाश्रितः ।
तत्र पश्चादनाश्वस्तस्तत्रापि विधिमाचरेत् ॥ ३३ ॥

अत्रेति—अज्ञे गुरौ ॥ ३३ ॥

नन्वस्य अज्ञगुर्वाश्रयणात् गुणः कश्चिन्मा भूत्, दोषः कुतस्त्यो येन लिङ्गोद्धृतिरपि स्यात्?—इत्याशङ्क्याह—

अज्ञाचार्यमुखायातं निर्वीर्यं मन्त्रमेष यत् ।
जप्तवान्स गुरुश्चात्र नाधिकार्युक्तदूषणात् ॥ ३४ ॥
ततोऽस्य शुद्धिं प्राक्कृत्वा ततो दीक्षां समाचरेत् ।

गुर्वन्त (= गुरु के समीप रहने वाला) भी यदि अधोदृष्टिशायी (= निम्नकोटि के दर्शन में अभिषिक्त) है तो उसके इस संस्कार को सम्पादित कर रहस्य का कथन करे अन्यथा नहीं—ऐसा कामिका ग्रन्थ में (कहा गया है) ॥ -३१-३२- ॥

कामिका ग्रन्थ को ही पढ़ते हैं—

अन्यतन्त्र में अभिषिक्त को भी रहस्य प्रकाशित न करे ॥ -३२ ॥

केवल निम्नदर्शनस्थ का ही ऐसा संस्कार करणीय नहीं होता बल्कि अपने दर्शन में स्थित का भी होता है—यह कहते हैं—

अपने तन्त्र में स्थित भी गुर्वन्त यदि अज्ञानी गुरु के समीप है और बाद में उस (=गुरु) में विश्वास नहीं रहा तो ऐसे (शिष्य) के विषय में भी (लिङ्गोद्धार) विधि करनी चाहिये ॥ ३३ ॥

उसमें = अज्ञ गुरु में ॥ ३३ ॥

प्रश्न—अज्ञानी गुरु का आश्रयण करने से इस (शिष्य) के अन्दर कोई गुण मत हो किन्तु दोष कहाँ से आ जाता है जिसके कारण इसकी लिङ्गोद्धारदीक्षा करनी पड़ती है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चूँकि उस (= शिष्य) ने अज्ञ आचार्य के मुख से निकले हुये निर्वीर्य मन्त्र का जप किया वह गुरु उक्त दोष के कारण इस (= दीक्षा के) विषय में अधिकारी नहीं है इस कारण (आचार्य) इस (शिष्य) की पहले शुद्धि कर बाद में दीक्षा करे ॥ ३४-३५- ॥

चो ह्यर्थे । उक्तदूषणादिति—अज्ञत्वलक्षणात् ॥

एवमेतद्दर्शनैक्येनाभिधाय, तद्भेदेनाप्याह—

अधोदर्शनसंस्थेन गुरुणा दीक्षितः पुरा ॥ ३५ ॥
तीव्रशक्तिवशात्पश्चाद्यदा गच्छेत्स सद्गुरुम् ।
तदाप्यस्य शिशोरेवं शुद्धिं कृत्वा स सद्गुरुः ॥ ३६ ॥
दीक्षादिकर्म निखिलं कुर्यादुक्तविधानतः ।

अधोदर्शनसंस्थेनेति—यथा सैद्धान्तिकेन भैरवस्रोतसि ॥

ननु एषां

'ते दीक्षायां न मीमांस्या ज्ञानकाले विचारयेत् ।' (२३।२१)

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्या दीक्षा तावदेवमेव क्रियताम्, उपदेशस्तु अविचार्यैव कथं कार्यः ?—इत्याशङ्क्याह—

प्राप्तोऽपि सद्गुरुर्योग्यभावमस्य न वेत्ति चेत्॥ ३७ ॥
विज्ञानदाने तच्छिष्यो योग्यतां दर्शयेन्निजाम् ।
सर्वथा त्वब्रुवन्नेष ब्रुवाणो वा विपर्ययम् ॥ ३८ ॥

च = क्योंकि । उक्त दोष के कारण—अज्ञत्वलक्षण दोष ॥ ३४- ॥

एक ही दर्शन के अनुयायी होने पर भी लिङ्गोद्धार दीक्षा की इस स्थिति को बतला कर दूसरे दर्शनों के अनुयायियों को इस स्थिति में क्या करना चाहिये—यह कहते हैं—

(कोई साधक) पहले निम्नकोटि के दर्शन के अनुयायी गुरु के द्वारा दीक्षित है बाद में तीव्रशक्तिपात के द्वारा यदि (वह साधक) सद्गुरु के पास जाता है तो भी इस शिशु की उक्त प्रकार से शुद्धि कर वह सद्गुरु उक्त विधान के अनुसार समस्त दीक्षादि कर्म करे ॥ -३५-३७- ॥

अधोदर्शनसंस्थित के द्वारा—जैसा कि शैवसिद्धान्त वाले के द्वारा भैरवतन्त्र में (अभिषिक्त होने के लिये) ॥

प्रश्न—

'दीक्षा के समय नहीं ब्लकि ज्ञानकाल में उनका विचार करना चाहिये ।'

इत्यादि वक्ष्यमाण नीति के द्वारा इनकी दीक्षा ऐसे ही कर देनी चाहिये । ज्ञानोपदेश को बिना विचारे कैसे किया जाय ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यदि उपलब्ध भी सद्गुरु इस (शिष्य) के योग्य भाव को नहीं समझ पाता तो विज्ञानोपदेश के समय शिष्य अपनी योग्यता को दिखलाये ।

अज्ञो वस्तुत एवेति तत्त्यक्त्वेत्थं विधिं चरेत् ।

अब्रुवन्निति—आत्मनि योग्यतादर्शनानुगुणम् । विपर्ययमिति—यदयोग्यताज्ञापनाय पर्यवस्यति—इत्यर्थः । वस्तुत एवेति—न तु विलयशक्त्याद्याघ्रातत्वात् । तदिति—योग्यभावावेदनम् ।

ननु मा भूदस्य योग्यभावदर्शनं प्रत्युत अयोग्यतापि दृश्यते इति तिरोहितप्रायस्य अस्य कथमुक्तो विधिः कार्यः ?—इत्याशङ्क्याह—

न तिरोभावशङ्कात्र कर्तव्या बुद्धिशालिना ॥ ३९ ॥
अधःस्पृक्त्वं तिरोभूतिर्नोर्ध्वोपायविवेचनम् ।

तिरोभूतत्वे हि अस्य ऊर्ध्वोपायविवेके स्पृहैव न भवेत्—इतिभावः ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

सिद्धान्ते दीक्षितास्तन्त्रे दशाष्टादशभेदिनि ॥ ४० ॥
भैरवीये चतुःषष्टौ तान्पशून्दीक्षयेत् त्रिके ।
सिद्धवीरावलीसारे भैरवीये कुलेऽपि च ॥ ४१ ॥

सर्वथा न बोलता हुआ या उल्टा-पुल्टा बोलता हुआ यह वस्तुतः अज्ञ ही है इसलिये उसे छोड़कर इस प्रकार का विधान करे ॥ -३७-३९- ॥

न बोलने वाला—अपने अन्दर वर्त्तमान योग्यतादर्शन के अनुगुण न बोलने वाला । विपर्यय—जो कि अयोग्यता ज्ञापन के लिये पर्यवसित होता है । वस्तुतः—न कि विलयशक्ति आदि से युक्त होने के कारण । वह = योग्यभाव का आवेदन ॥

प्रश्न—इसके योग्यभाव का दर्शन न हो बल्कि अयोग्यता भी दृष्ट हो तो तिरोहितप्राय इसके लिये उक्त विधि कैसे की जाय?—यह शङ्का कर कहते हैं—

बुद्धिमान् इस (= शिष्य) के विषय में तिरोभाव की शङ्का न करे । अधःस्पर्श का होना और तिरोभाव (ये दोनों) ऊर्ध्वउपाय के विवेक में (सहायक नहीं होते) ॥ -३९-४०- ॥

तिरोभूत होने पर ऊर्ध्वोपायविवेक में इसकी (= शिष्य की) इच्छा ही नहीं होगी—यह भाव है ॥

इसी को विस्तृत करते हैं—

(जो लोग) दश (१) और अठारह (२) भेद वाले शैवसिद्धान्त तन्त्र में अथवा चौंसठ भेद वाले भैरवीय तन्त्र (३) में दीक्षित हैं उन पशुओं को त्रिक सिद्धवीरावलीसार में उक्त भैरवीय सद्भाव (४) और कौल तन्त्र (५)

पञ्चदीक्षाक्रमोपात्ता दीक्षानुत्तरसंज्ञिता ।

एतच्च त्रयोदशाह्निक एव विचारितमिति तत एव अवधार्यम् ॥

एतदेव प्रकृते विश्रमयति—

तेन सर्वोऽधरस्थोऽपि लिङ्गोद्धृत्यानुगृह्यते ॥ ४२ ॥

न केवलमयोग्ये गुरौ गुर्वन्तरमाश्रयेत्, यावद्योग्येऽपि—इत्याह—

योऽपि हृत्स्थमहेशानचोदनातः सुविस्तृतम् ।
शास्त्रज्ञानं समन्विच्छेत्सोऽपि यायाद् बहून् गुरून् ॥ ४३ ॥
तद्दीक्षाश्चापि गृह्णीयादभिषेचनपश्चिमाः ।
ज्ञानोपोद्वलिकास्ता हि तत्तज्ज्ञानवता कृताः ॥ ४४ ॥

ननु गुरुपरित्यागे

'गुरोरवज्ञया मृत्युर्दारिद्र्यं मन्त्रवज्ञया ।
गुरुमन्त्रपरित्यागात्सिद्धोऽपि नरकं व्रजेत् ॥'

इत्यादिदृष्ट्या प्रत्यवाय आम्नातः, तत्कथमेवमुक्तम्?—इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य आगममेव संवादयति—

में दीक्षित करना चाहिये । ये पाँच दीक्षायें क्रम कही गयी हैं । इनमें कौल दीक्षा अनुत्तर (= सर्वोत्कृष्ट) कही गयी है ॥ -४०-४२- ॥

इसका विचार तेरहवें आह्निक में किया जा चुका है । इसलिये वहीं से समझ लेना चाहिये ।

इसी को प्रस्तुत में समाहित करते हैं—

इसलिये अधरस्थ (= निम्न तन्त्र में दीक्षित) सब लोग लिङ्गोद्धार दीक्षा के द्वारा अनुगृहीत होते हैं ॥ -४२ ॥

केवल गुरु के अयोग्य होने पर ही नहीं बल्कि योग्य (गुरु के होने पर) भी दूसरे गुरु का आश्रयण करना चाहिये—यह कहते हैं—

जो भी (जिज्ञासु शिष्य) हृदयस्थित महेश्वर की प्रेरणा से सुविस्तृत शास्त्रज्ञान चाहता है वह भी बहुत से गुरु लोगों के पास जाये । अभिषेकान्त वाली उनकी दीक्षा का भी ग्रहण करे । क्योंकि तत्तद् ज्ञानी पुरुषों के द्वारा की गयी वे (दीक्षायें) ज्ञानवर्द्धक होती है ॥ ४३-४४ ॥

प्रश्न—'गुरु की अवज्ञा से मृत्यु और मन्त्र की अवज्ञा से दरिद्रता होती है । गुरु एवं मन्त्र के परित्याग से सिद्ध भी (पुरुष) नरक में जाते हैं ॥'

इत्यादि दृष्टि से गुरु के परित्याग में प्रत्यवाय कहा गया है तो फिर ऐसा कैसे

उक्तं च श्रीमते शास्त्रे तत्र तत्र च भूयसा ।
आमोदार्थी यथा भृङ्गः पुष्पात्पुष्पान्तरं व्रजेत् ॥ ४५ ॥
विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं त्विति ।

अत्र च इयान् विशेषो यत् पूर्वगुर्वाज्ञया गुर्वन्तरं व्रजेदिति । तदुक्तम्—

'किन्तु गुर्वाज्ञया गच्छेत्तं गुरुं न परित्यजेत् ।
न सिद्धिस्तद्गुरुत्यागात्कोटिजापाद्भवेदपि ॥' इति ॥

ननु एषां गुरूणां मध्ये भूयसा किमेवं कस्यचित् कश्चिद्विशेषोऽस्ति न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

गुरूणां भूयसां मध्ये यतो विज्ञानमुत्तमम् ॥ ४६ ॥
प्राप्तं सोऽस्य गुरुर्दीक्षा नात्र मुख्या हि संविदि ।

अत्र संविदीति—सामानाधिकरण्यम् ॥

एतदाराधनपरेणैव च अनेन भाव्यम्—इत्याह—

सर्वज्ञाननिधानं तु गुरुं संप्राप्य सुस्थितः ॥ ४७ ॥
तमेवाराधयेद्धीमांस्तत्तज्जिज्ञासनोन्मुखः ।

कहा गया?—इस शङ्का को मन में रखकर आगम को बतलाते हैं—

श्रीमत् शास्त्र में स्थान-स्थान पर बहुत अधिक कहा गया है—जिस प्रकार आमोद चाहने वाला भ्रमर एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर जाता है उसी प्रकार विज्ञानार्थी शिष्य एक गुरु से दूसरे गुरु के पास जाय ॥ ४५-४६-॥

इसमें विशेष इतना ही है कि वह पूर्वगुरु की आज्ञा से दूसरे गुरु के पास जाय । वही कहा गया—

'किन्तु गुरु की आज्ञा से जाय और उस (पूर्व) गुरु को न छोड़े । उस गुरु के त्याग से करोड़ों जप करने से भी सिद्धि नहीं होती' ॥

प्रश्न—इन बहुत से गुरुओं में से किसी का कोई वैशिष्ट्य है या नहीं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(शिष्य ने) अनेक गुरुओं में से जिस (एक गुरु) से उत्तम विज्ञान प्राप्त कर लिया है वही इस का गुरु है । इस (संवित्दायिनी दीक्षा-परम्परा) में दीक्षा मुख्य नहीं है बल्कि संविद् मुख्य है ॥ -४६-४७- ॥

इस संविद् में—यहाँ समानाधिकरण्य है ॥

इस शिष्य के द्वारा इन्हीं की आराधना करनी चाहिये—यह कहते हैं—

समस्त ज्ञान के भण्डार के रूप में इस गुरु को प्राप्त कर धीमान्

इयता च गुर्वन्तरगमने शङ्कोच्छेदः कटाक्षीकृतः ॥

अथ प्रथमार्धेन प्रकृतार्थगर्भीकारेण प्रकरणार्थमुपसंहरति—

इति दीक्षाविधिः प्रोक्तो लिङ्गोद्धरणपश्चिमः ॥ ४८ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके लिङ्गोद्धारप्रकाशनं नाम द्वाविंशमाह्निकम् ॥ २२ ॥

इति शिवम् ॥ ४८ ॥

अधराधरपरदर्शननिराकृतिस्वावमर्शसामर्शः ।
द्वाविंशमाह्निकमिदं निरणैषीज्जयरथाभिख्यः ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते लिङ्गोद्धारप्रकाशनं नाम द्वाविंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ २२ ॥
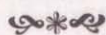
शिष्य उस (ज्ञान) की जिज्ञासा के उन्मुख होकर उन्हीं की आराधना करे ॥ -४७-४८- ॥

इसके द्वारा दूसरे गुरु के पास जाने की शङ्का का उच्छेद सङ्केतित हुआ ॥

प्रस्तुत अर्थ को गर्भ में रखकर पूर्वार्ध के द्वारा प्रकरण के विषय का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार लिङ्गोद्धार के बाद होने वाली दीक्षाविधि कही गयी ॥ ४८॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के द्वाविंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २२ ॥

इति शिवम् ॥ ४८ ॥

निम्न श्रेणी के दूसरे दर्शनों के निराकरण एवं आत्मविमर्श में लगे हुये जयरथ ने इस बाईसवें आह्निक का निर्णय किया ॥

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के द्वाविंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २२ ॥
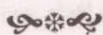
त्रयोविंशमाह्निकम्
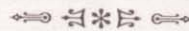
* विवेकः *

आस्थाय भैरववपुर्निजाकृतेः संविभागेन ।
विदधातु वः स भद्रं सर्वत इह सर्वतोभद्रः ॥ १ ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन अभिषेकविधिमभिधातुमुपक्रमते—

अथाभिषेकस्य विधिः कथ्यते पारमेश्वरः ॥ १ ॥

तमेवाह—

यैषा पुत्रकदीक्षोक्ता गुरुसाधकयोरपि ।
सैवाधिकारिणी भोग्यतत्त्वयुक्तिमती क्रमात् ॥ २ ॥
स्वभ्यस्तज्ञानिनं सन्तं बुभूषुमथ भाविनम् ।
योग्यं ज्ञात्वा स्वाधिकारं गुरुस्तस्मै समर्पयेत् ॥ ३ ॥

---

* ज्ञानवती *

अपनी आकृति के विभजन के द्वारा भैरवशरीर धारण करने वाले वह सर्वतोभद्र आपका सब प्रकार से कल्याण करे ॥

अब उत्तरार्ध के द्वारा अभिषेकविधि को कहते हैं—

अब परमेश्वरसम्बन्धी अभिषेकविधि कही जाती है ॥ १ ॥

उसको बतलाते है—

जो यह गुरु एवं शिष्य के लिये पुत्रक दीक्षा कही गयी वही क्रम से भोग्यतत्त्वयुक्तिवाली अधिकारिणी (दीक्षा) है । गुरु, भली प्रकार अभ्यस्त-

यैषेति—सबीजा, अभिषेकाच्चानयोरधिकारः, स च परीक्ष्य दातव्यः इति आचार्यस्य तावत् परीक्षां कर्तुमारभते—क्रमादित्यादिना, क्रमादिति—श्रुतचिन्तादि-प्रमुखमित्यर्थः । एतच्च सर्वत्र संबन्धनीयम् । बुभूषुमिति—भाविनमिति—च स्वभ्यस्तज्ञानितायाम् ॥ २-३ ॥

ननु अभिषेकादेव तावदधिकारो भवेदिति सर्वत्रोक्तम्, तदिहापि अभिषेक एव विधीयतां किं स्वभ्यस्तज्ञानित्वादिचिन्तया ?—इत्याशङ्क्याह—

यो नैवं वेद नैवासावभिषिक्तोऽपि दैशिकः ।
समय्यादिक्रमेणेति श्रीमत्कामिक उच्यते ॥ ४ ॥
यो न वेदाध्वसन्धानं षोढा बाह्यान्तरस्थितम् ।
स गुरुर्मोचयेन्नेति सिद्धयोगीश्वरीमते ॥ ५ ॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरिष्यते ।
ज्ञानप्राधान्यमेवोक्तमिति श्रीकचभार्गवे ॥ ६ ॥
पदवाक्यप्रमाणज्ञः शिवभक्त्येकतत्परः ।
समस्तशिवशास्त्रार्थबोद्धा कारुणिको गुरुः ॥ ७ ॥

ज्ञान वाले या ज्ञानी होने की इच्छा वाले या भविष्य में ज्ञानी होने वाले शिष्य को योग्य समझ कर उसे अपना अधिकार दे दे ॥ २-३ ॥

जो यह = सबीज । अभिषेक के कारण इन दोनों (= गुरु और साधक) का अधिकार होता है और वह अधिकार परीक्षा करके देना चाहिये इसलिये 'क्रमात्' इत्यादि के द्वारा आचार्य की परीक्षा करना प्रारम्भ करते हैं । क्रम से—श्रुतचिन्ता आदि में प्रमुख को । इसको सर्वत्र जोड़ना चाहिये । बुभूषु और भावी—स्वभ्यस्तज्ञानी होने के विषय में ॥ २-३ ॥

प्रश्न—अभिषेक से ही (दीक्षा मे) अधिकार हो जाता है—ऐसा सर्वत्र कहा गया तो यहाँ भी अभिषेक ही करना चाहिये स्वभ्यस्तज्ञानिता आदि की चिन्ता से क्या लाभ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो ऐसा नहीं जानता वह समयी आदि के क्रम से अभिषिक्त होने पर भी आचार्य नहीं हो सकता-ऐसा कामिक तन्त्र में कहा गया है । जो बाहर और अन्दर स्थित छह प्रकार के अध्वा के सन्धान को नहीं जानता वह गुरु मोक्ष नहीं दिला सकता—ऐसा सिद्धयोगीश्वरी (तन्त्र में कहा गया) । समस्त लक्षणों से रहित भी ज्ञानी गुरु मान्य है । ज्ञान की ही प्रधानता है—ऐसा श्रीकचभार्गव नामक ग्रन्थ में (कहा गया है) । व्याकरण मीमांसा एवं न्याय को जानने वाला शिव की भक्ति में लीन समस्त शैवशास्त्र के अर्थतत्त्व का ज्ञाता होते हुये जो कारुणिक (होता है

समय्यादिक्रमेण असावभिषिक्तोऽपि दैशिको न भवेत्—इति संबन्धः । एवमनेकशास्त्रार्थसंवादनेन गुरोः स्वभ्यस्तज्ञानित्वे सर्वत्र अविगीतत्वं प्रकाशितम् ॥ ७ ॥

एवमपि एवंविधा गुरवो न कार्याः—इत्याह—

न स्वयंभूस्तस्य चोक्तं लक्षणं परमेशिना ।
अभक्तो जीवितधिया कुर्वन्नीशानधिष्ठितः ॥ ८ ॥
पश्वात्मना स्वयंभूष्णुर्नाधिकारी स कुत्रचित् ।
भस्मांकुरो व्रतिसुतो दुःशीलातनयस्तथा ॥ ९ ॥
कुण्डो गोलश्च ते दुष्टा उक्तं देव्याख्ययामले ।
पुनर्भूश्चान्यलिङ्गो यः पुनः शैवे प्रतिष्ठितः ॥ १० ॥

पश्वात्मनेति—न तु परमेश्वरावेशशालितया—इत्यर्थः । पुनर्भूश्च दुष्ट इति—प्राच्येन संबन्धः ॥ ८-१० ॥

अस्मद्दर्शने तु ज्ञानवत्त्वमन्तरेण न कश्चिदयं नियमः—इत्याह—

वही) गुरु होता है ॥ ४-७ ॥

समयी आदि के क्रम से अभिषिक्त भी (व्यक्ति) आचार्य नहीं होता । इस प्रकार अनेक शास्त्रों के अर्थ के ज्ञान के साथ गुरु का स्वभ्यस्त ज्ञानी होना आवश्यक है और यह तथ्य सर्वसम्मत है ॥ ७ ॥

ऐसा होने पर भी इस प्रकार के गुरु नहीं बनाने चाहिये—यह कहते हैं—

स्वयंभू (गुरु) नहीं हो सकता उसका लक्षण परमेश्वर के द्वारा कहा गया—भक्तिरहित, जीविका की दृष्टि से (आचार्यता) करने वाला, ईश्वर के द्वारा अनधिष्ठित, पशु के रूप में वर्त्तमान भी स्वयंभू होने के इच्छा (ढोंग) वाला कहीं भी अधिकारी नहीं हो सकता । भस्माङ्कुर (= हाथ में भस्म लेकर चमत्कार दिखाने वाला), व्रती का पुत्र (व्रतशील आदरणीय पिता का पुत्र जो कि वञ्चक है) कुलटा का पुत्र, कुण्ड (पति के जीवित रहते दूसरे पुरुष से उत्पन्न लड़का), गोल (पति के मर जाने के बाद विधवा में परपुरुष से उत्पन्न लड़का) ये दुष्ट हैं—ऐसा देवीयामल में कहा गया । पुनर्भू, अन्य लिङ्गी जो कि पुनः शैव में प्रतिष्ठित है (वह भी दुष्ट है) ॥ ८-१० ॥

पशु के रूप में—न कि परमेश्वर के आवेश से युक्त होने के कारण—ऐसा अर्थ है । पुनर्भू भी दुष्ट है—ऐसा पहले से सम्बन्ध (जोड़ना) है ॥ ८-१० ॥

हमारे दर्शन में ज्ञानवत्ता के अतिरिक्त और कोई भी नियम नहीं है—यह

श्रीपूर्वशास्त्रे न त्वेष नियमः कोऽपि चोदितः ।
यथार्थतत्त्वसङ्घज्ञस्तथा शिष्ये प्रकाशकः ॥ ११ ॥
यः पुनः सर्वतत्त्वानि वेत्तीत्यादि च लक्षणम् ।

तथेति—यथार्थमेव । यदुक्तं तत्र—

'यः पुनः सर्वतत्त्वानि वेत्त्येतानि यथार्थतः ।
स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः ॥
स्पृष्टाः संभाषितास्तेन दृष्टाश्च प्रीतचेतसा ।
नराः पापैः प्रमुच्यन्ते सप्तजन्मकृतैरपि ॥
ये पुनर्दीक्षितास्तेन प्राणिनः शिवचोदिताः ।
ते यथेष्टं फलं प्राप्य प्रयान्ति (गच्छन्ति) परमं पदम्॥'

(२।१२) इति ॥

ननु इहापि समानन्यायत्वात् तन्त्रान्तरोक्तो नियमः कस्मान्नानुषज्यते ?—**इत्याशङ्क्याह—**

योगचारे च यद्यत्र तन्त्रे चोदितमाचरेत् ॥ १२ ॥
तथैव सिद्धये सेयमाज्ञेति किल वर्णितम् ।

कहते हैं—

मालिनीविजय में ऐसा कोई भी नियम नहीं कहा गया है । यथार्थतत्त्वसमूह को जानने वाला जो कि समस्त तत्त्वों को जानता है—शिष्य को (तत्त्व का) वैसा ज्ञान कराने वाला ही गुरु हो सकता है—इत्यादि लक्षण है ॥ ११-१२- ॥

तथा = यथार्थ ही । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'जो इन सब तत्त्वों को यथार्थ रूप से जानता है, मन्त्रशक्ति का प्रकाशक वह गुरु मेरे जैसा कहा गया है । उसके द्वारा स्पृष्ट, संभाषण किये गये, और प्रसन्न मन से देखे गये मनुष्य सात जन्म में किये गये पापों से मुक्त हो जाते हैं । शिव के द्वारा प्रेरित जो प्राणी उस (गुरु) से दीक्षित होते हैं वे यथेष्ट फल प्राप्त कर परम पद को प्राप्त होते हैं' ॥ (मा.वि.तं. २।१०-१२)

प्रश्न—यहाँ भी तुल्यन्याय से दूसरे तन्त्रों में कहा गया नियम क्यों नहीं लागू होता ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

योगाचार शास्त्र (में कहा गया है कि) जिस तन्त्र में जो कहा गया है (वहाँ) उसी का आचरण करना चाहिये । उसी प्रकार का (वह) सिद्धि के लिये होता है । वह यह (पारमेश्वरी) आज्ञा है—ऐसा कहा गया है ॥ -१२-१३- ॥

आचरेदिति—अर्थात् तत्रैव । यदुक्तम्—

'क्रियादिभेदभेदेन तन्त्रभेदो यतः स्मृतः ।
तस्माद्यत्र यदेवोक्तं तत्कार्यं नान्यतन्त्रतः ॥' इति ।

न केवलं शास्त्रान्तरेषु कुलाचारादिगतत्वेनैव गुरोरेवं नियमः, यावत्

'काणो विद्वेषजननः खल्वाटश्चार्थनाशनः ।' इति
'काञ्चिकोसलकर्णाटाः कलिङ्गाः कामरूपजाः ।
कुंकुणोद्भवकावीरीकच्छदेशसमुद्भवाः ॥
एते वर्ज्यास्तथान्येऽपि राष्ट्रियान्परिवर्जयेत् ।'

इत्यादिदृष्ट्या देहदेशगतत्वेनापि ॥

अस्मच्छास्त्रे पुनः कस्मादयं नियमो नोक्तः ?—इत्याशङ्कयाह—

यस्तु कर्मितयाचार्यस्तत्र काणादिवर्जनम् ॥ १३ ॥
यतः कारकसामग्र्यात्कर्मणो नाधिकः क्वचित् ।
देव्या यामलशास्त्रे च काञ्च्यादिपरिवर्जनम् ॥ १४ ॥
तद्दृष्टदोषात्क्रोधादेः सम्यक्ज्ञातर्यसौ कुतः ।

आचरण करना चाहिये—अर्थात् वहीं । जैसा कि कहा गया—

'चूँकि क्रिया आदि भेद के भेद से तन्त्रों का भेद माना जाता है । इसलिये जिस तन्त्र में जो कहा गया (वहाँ) वही करना चाहिये अन्य तन्त्र से नहीं ।'

न केवल दूसरे शास्त्रों में कुल आचार आदि से प्राप्त होने के कारण ही गुरु के लिये ऐसा नियम है—बल्कि—

'काना (गुरु) विद्वेष उत्पन्न करता है और खल्वाट धन का नाश करता है ।'

'काञ्ची, कोशल, कर्णाटक, कलिङ्ग, कामाख्या, कोङ्कण, कावेरीक्षेत्र, एवं कच्छ देशों में उत्पन्न (गुरु) वर्जनीय है । उसी प्रकार अन्य राष्ट्रवालों को भी गुरु नहीं बनाना चाहिये ।'

इत्यादि सिद्धान्त के अनुसार देह एवं देश की दृष्टि से भी (गुरु बनाने का निषेध है) ॥

हमारे शास्त्र में यह नियम क्यों नहीं कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो कर्मी होने के कारण आचार्य होता है उसमें काना आदि का त्याग (उचित) है । क्योंकि कारकसमग्रता वाले कर्म से बढ़कर कुछ भी कहीं भी नहीं है । और जो देवीयामल शास्त्र में काञ्ची आदि का त्याग (कहा गया) वह क्रोध आदि दोष के दृष्ट होने से । यह (दोष) सम्यक् ज्ञानवान् में कहाँ ? (अर्थात् नहीं रहता) ॥ -१३-१५- ॥

दृष्टदोषादिति—सन्तापादिलक्षणात् । यदुक्तम्—

'सन्तापं क्रोधने विद्याच्चञ्चले चपलाः श्रियः।' इति ।

काञ्च्यादिदेशजन्मा हि जनः स्वभावत एव कामक्रोधादिभाग्भवेत्—इति भावः । असाविति—क्रोधादिः, सम्यग्ज्ञाता हि आत्मवदेव सर्वभूतानि पश्यति—इत्याशयः ॥

न च एतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तम्—इत्याह—

गुरवस्तु स्वयंभ्वादि वर्ज्यं यद्यामलादिषु ॥ १५ ॥
कर्म्यभिप्रायतः सर्वं तदिति व्याचचक्षिरे ।

गुरवश्च यत्किञ्चन स्वयंभ्वादि देव्या यामलादौ वर्जनीयतयोक्तम् तत्सर्वं कर्म्यभिप्रायेण,—इति व्याचचक्षिरे = व्याख्यातवन्तः—इत्यर्थः ॥

तस्मात् ज्ञानवत्त्वमेव मुख्यं लक्षणमाश्रयणीयम्—इत्याह—

अतो देशकुलाचारदेहलक्षणकल्पनाम् ॥ १६ ॥
अनादृत्यैव संपूर्णज्ञानं कुर्याद्गुरुर्गुरुम् ।

अत्रैव इतिकर्तव्यतामाह—

दृष्टदोष से = सन्ताप आदि लक्षण वाले । जैसा कि कहा गया—

'गुरु के क्रोध युक्त होने पर (शिष्य को) सन्ताप और (उसके) चञ्चल होने पर (शिष्य की) लक्ष्मी को चञ्चल समझना चाहिये ।'

काञ्ची आदि देश में उत्पन्न हुआ (व्यक्ति) स्वभावतः कामी क्रोधी होता है—यह भाव है । यह = क्रोध आदि । सम्यक् ज्ञानी समस्त प्राणियों को आत्मवत् देखता है ॥

इसे हमने अपने मन से ही नहीं कहा—यह कहते हैं—

गुरु लोग—स्वयंभू आदि का त्याग जो कि (देवी) यामल आदि में (कहा गया) वह सब कर्मी के अभिप्राय से है—ऐसी व्याख्या किये हैं ॥ -१५-१६- ॥

गुरु लोग—स्वयंभू आदि जो कुछ देवी यामल आदि में वर्णनीय रूप में काह गया—वह सब कर्मी के अभिप्राय से—ऐसी व्याख्या किये ॥

इसलिये ज्ञानवत्ता को ही मुख्य लक्षण मानना चाहिये—यह कहते हैं—

इसलिये देश कुल आचार शरीर लक्षणों वाली कल्पना को छोड़कर सम्पूर्ण ज्ञानवान् को गुरु बनाये ॥ -१६-१७- ॥

प्राग्वत्संपूज्य हुत्वा च श्रावयित्वा चिकीर्षितम् ॥ १७ ॥
ततोऽभिषिञ्चेत्तं शिष्यं चतुःषष्ट्या ततः सकृत् ।
तन्मन्त्ररसतोयेन पूर्वोक्तविधिना गुरुः ॥ १८ ॥
विभवेन सुविस्तीर्णं ततस्तस्मै वदेत्स्वकम् ।
सर्वं कर्तव्यसारं यच्छास्त्राणां परमं रहः ॥ १९ ॥

चतुःषष्ट्येति—अर्थात्कलशैः । सकृदिति—एकेन । अनेन च ज्ञानस्यैव प्राधान्यात् क्रियायाः अनवक्लृप्तिः प्रकाशिता, येन श्रीपूर्वशास्त्रे स्वकण्ठोक्तोऽपि अभिषेकविधिरिह वितत्य नोक्तः ॥

कर्तव्यसारमेव अभिधत्ते—

अनुग्राह्यास्त्वया शिष्याः शिवशक्तिप्रचोदिताः ।

ननु प्राक् दीक्षाकालमपहाय अभिषेकावसर एव अस्य कस्मात् परीक्षा क्रियते ?—इत्याशङ्कां निरवकाशयितुमागममेव संवादयति—

उक्तं ज्ञानोत्तरे चैतद् ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ॥ २० ॥
नपुंसकाः स्त्रियः शूद्रा ये चान्येऽपि तदर्थिनः ।

इसी विषय में इतिकर्त्तव्यता को कहते हैं—

गुरु पहले की भाँति पूजन और हवन कर चिकीर्षित को सुना कर उसके बाद उस शिष्य को चौंसठ (कलशों) से अभिषिक्त करे । तत्पश्चात् पूर्वोक्त विधि के अनुसार उस मन्त्र से अभिमन्त्रित जल से एक बार (अभिषेक) करे । तत्पश्चात् वैभव से सुविस्तीर्ण तथा जो शास्त्रों का परम रहस्य है उस अपने समस्त कर्त्तव्यतत्त्व का उस (शिष्य) के लिये वर्णन करे ॥ -१७-१९ ॥

चौंसठ—कलशों से । सकृत—एक (कलश) से । इस (कथन) से ज्ञान की ही प्रधानता होने से क्रिया की उपेक्षा प्रकाशित की गयी जिस कारण मालिनीविजय तन्त्र में अपने (= शिव के) कण्ठ से उक्त भी अभिषेकविधि यहाँ विस्तार के साथ नहीं कही गयी ॥

कर्त्तव्यसार को बतलाते हैं—

शिव की शक्ति से प्रेरित शिष्य के ऊपर तुम अनुग्रह करोगे ॥ २०- ॥

प्रश्न—पहले दीक्षाकाल को छोड़कर अभिषेक के समय ही इसकी परीक्षा क्यों की जाती है ?—इस आशङ्का को समाप्त करने के लिये आगम को ही प्रस्तुत करते हैं—

ज्ञानोत्तर तन्त्र में ऐसा कहा गया है—**ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य** नपुंसक स्त्री

ते दीक्षायां न मीमांस्या ज्ञानकाले विचारयेत् ॥ २१ ॥
ज्ञानमूलो गुरुः प्रोक्तः सप्तसत्रीं प्रवर्तयेत् ।

प्रोक्त इति—समनन्तरमेव ।

ननु का नाम सप्तसत्री, तां च असौ कथं प्रवर्तयेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

दीक्षा व्याख्या कृपा मैत्री शास्त्रचिन्ता शिवैकता ॥ २२ ॥
अन्नादिदानमित्येतत्पालयेत्सप्तसत्रकम् ।
अभिषेकविधौ चास्मै करणीखटिकादिकम् ॥ २३ ॥
सर्वोपकरणव्रातमर्पणीयं विपश्चिते ।
सोऽभिषिक्तो गुरुं पश्चाद्दक्षिणाभिः प्रपूजयेत् ॥ २४ ॥

तदुक्तम्—

'निर्भर्त्स्यैवं विधानेन अभिषेकं प्रदापयेत् ।'

इत्याद्युपक्रम्य

'उष्णीषमुकुटाद्यांश्च छत्रपादुकमासनम् ।

शूद्र और दूसरे लोग भी जो उसके (दीक्षा के) चाहने वाले है उनका दीक्षा के समय विचार नहीं करना चाहिये । ज्ञान के समय (उनका) विचार करना चाहिये । (अभी पहले) उक्त ज्ञानमूलक गुरु सप्तसत्री का अनुष्ठान करे ॥ -२०-२२- ॥

कहा गया—अभी पहले ॥

प्रश्न—सप्तसत्री क्या है और यह (= गुरु) उसका कैसे प्रवर्त्तन करे ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

दीक्षा, व्याख्या, कृपा, मैत्री, शास्त्रचिन्ता, शिव के साथ तादात्म्य और अन्न आदि का दान इस सप्तसत्र का पालन (गुरु) करे । अभिषेक विधि में इस विद्वान् को (गुरु) करणी (= कुछ खोदने कुछ बनाने या भूमि आदि समतल करने का उपकरण) खटिका (= खटिया चारपायी या उसी प्रकार की वस्तु) आदि समस्त उपकरणसमूह अर्पित करे । और वह (शिष्य) अभिषिक्त होकर बाद में दक्षिणाओं के द्वारा गुरु की पूजा करे ॥ -२२-२४ ॥

वही कहा गया—

'इस प्रकार विधान के साथ उसको संस्कृत कर अभिषेक करे ॥'

इत्यादि प्रारम्भ कर,

हस्त्यश्वशिविकाद्यांश्च राज्याङ्गानि विशेषतः ॥
करणीं कर्तरीं खट्वीं स्रुक्स्रुवौ दर्भपुस्तकम् ।
अक्षसूत्रादिकं दत्त्वा चतुराश्रमसंस्थितः ॥
दीक्ष्यानुग्रहमार्गेण दीक्षा व्याख्या त्वया सदा ।
अद्यप्रभृति कर्तव्येत्यधिकारः शिवाज्ञया ॥' इत्यादि
'गुरुं सम्पूजयेच्छिष्यो यथाविभवविस्तरैः ।'

इत्यन्तम् ॥ २४ ॥

नन्वेवमभिषेकमस्मै दत्त्वा गुरुणा अनन्तरं कथं वर्तितव्यम् ?—इत्याशङ्क्याह—

ज्ञानहीनो गुरुः कर्मी स्वाधिकारं समर्प्य नो ।
दीक्षाद्यधिकृतिं कुर्याद्विना तस्याज्ञया पुनः ॥ २५ ॥
इत्येवं श्रावयेत्सोऽपि नमस्कृत्याभिनन्दयेत् ।

तस्येति—स्वयमभिषिक्तस्य । अयं च श्लोकः क्वचित् 'पालयेत्सप्तसत्रकम्' इत्यनन्तरं भ्रमात् लेखकैर्लिखित इति तदुपेक्ष्यम् ॥

ज्ञानिनः पुनरयं विशेषः—इत्याह—

(गुरु शिष्य से कहे कि हे प्रिय वत्स !) पगड़ी मुकुट आदि छाता जूता आसन हाथी घोड़ा पालकी आदि विशिष्ट राजचिह्न, करणी कैंची खट्वा (= खटिया या आराम करने के लिये उसी प्रकार की चौकी आदि हो) स्रुक् स्रुवा कुश पुस्तक माला मुझे देकर चार आश्रम वालों के बीच में स्थित हो जाओं । तुम्हारे द्वारा सदा दीक्ष्य के ऊपर कृपा कर दीक्षा दी जानी चाहिये । आज से प्रारम्भ कर (दीक्षा) करो—ऐसा शिव की आज्ञा से (तुमको अधिकार है)

'शिष्य अपनी शक्ति के अनुसार गुरु की पूजा करे ।'

यहाँ तक कहा गया ॥ २४ ॥

प्रश्न—इस प्रकार इसको अभिषेक देकर गुरु बाद में कैसे व्यवहार करे ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

विज्ञानरहित कर्मशील गुरु अपने अधिकार को देकर फिर दीक्षा आदि अधिकार को बिना उसकी (= दीक्षा दिये गये शिष्य की) आज्ञा के न करे। वह दीक्षित शिष्य भी इस प्रकार (दीक्षा का आदेश) सुनाये तथा नमस्कार कर (गुरु का) अभिनन्दन करे ॥ २५-२६- ॥

उसकी = अपने द्वारा अभिषिक्त की । किसी-किसी संस्करण में लेखकों के द्वारा यह श्लोक भ्रमवश 'पालयेत् सप्तसत्रकम्' के बाद लिखा गया । इसलिये उसकी उपेक्षा करनी चाहिये ॥

ततः प्रभृत्यसौ पूर्वो गुरुस्त्यक्ताधिकारकः ॥ २६ ॥
यथेच्छं विचरेद् व्याख्यादीक्षादौ यन्त्रणोज्झितः ।
कुर्वन्न बाध्यते यस्माद्दीपाद्दीपवदीदृशः ॥ २७ ॥
सन्तानो नाधिकारस्य च्यवोऽकुर्वन्न बाध्यते ।
प्राक् च कुर्वन्विहन्येत सिद्धातन्त्रे तदुच्यते ॥ २८ ॥

पूर्व इति—आद्यो ज्ञानी—इत्यर्थः । कुर्वन्नकुर्वन् न बाध्यते इत्यनेन यन्त्रणोज्झितत्वमेवोपोद्बलितम् । दीपाद्दीपवदिति—नहि दीपान्तरं जनयतो दीपस्य प्रकाशकतायां कश्चिद्विशेषः—इत्याशयः । च्यवः = प्रच्यवः । प्राक्—अत्यक्ते अधिकारे ॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति—

यथार्थमुपदेशं तु कुर्वन्नाचार्य उच्यते ।
न चावज्ञा क्रियाकाले संसारोद्धरणं प्रति ॥ २९ ॥
न दीक्षेत गुरुः शिष्यं तत्त्वयुक्तस्तु गर्वतः ।
योऽस्य स्यान्नरके वास इह च व्याधितो भवेत्॥ ३० ॥

ज्ञानी की यह विशेषता होती है—यह कहते हैं—

तब से लेकर अधिकार को छोड़ने वाला यह गुरु व्याख्या दीक्षा आदि के विषय में नियम से स्वतन्त्र होकर यथेष्ट विचरण करता है । (दीक्षा आदि को न करता हुआ या) करता हुआ बन्धन में नहीं रहता क्योंकि वह दीपक से जले दीपक की भाँति इस प्रकार की परंपरारूप है । इसके अधिकार की समाप्ति नहीं होती । (दीक्षा आदि) न करने पर यह बाधित नहीं होता । पहले करने पर बाधित होता है—ऐसा मालिनीतन्त्र में कहा गया है ॥ -२६-२८ ॥

पूर्व = प्रथम ज्ञानी । करते या न करते हुये बाधित नहीं होता—इस (कथन) से पूर्व गुरु का यन्त्रणा से रहित होना ही पुष्ट होता है । (एक) दीप से (दूसरे) दीप के समान दूसरे दीप को जलाने वाले (पहले) दीप की प्रकाशकता में कोई असर नहीं पड़ता—यह तात्पर्य है । च्यवः = प्रच्युति । पहले = अधिकार का त्याग न करने की स्थिति में ॥

वही के ग्रन्थ को पढ़ते हैं—

यथार्थ उपदेश करने वाला (व्यक्ति) आचार्य कहा जाता है । संसार से उद्धार करने के लिये क्रिया करते समय उसे (किसी का) अपमान नहीं करना चाहिये । तत्त्वज्ञानी भी जो गुरु गर्व के कारण शिष्य को दीक्षित नहीं करता उसका नरक में वास होता है और इस शरीर में वह रोगी हो

य इति—अवज्ञावान् गर्वितश्च । अस्येति—एवंविधस्य ॥ ३० ॥

इदानीमस्य आचार्यस्य विद्याव्रतमभिधत्ते—

प्राप्ताभिषेकः स गुरुः षण्मासान्मन्त्रपद्धतिम् ।
सर्वां तन्त्रोदितां ध्यायेज्जपेच्चातन्मयत्वतः ॥ ३१ ॥
यदैव तन्मयीभूतस्तदा वीर्यमुपागतः ।
छिन्द्यात्पाशांस्ततो यत्नं कुर्यात्तन्मयतास्थितौ ॥ ३२ ॥

सर्वां मन्त्रपद्धतिमिति देवीत्रयं, भैरवचतुष्टयम्, अघोराद्यष्टकं च । यदुक्तम्—

'आचार्योऽपि च षण्मासं मौनी प्रतिदिनं जपेत् ।
दश पञ्च च ये मन्त्राः पूर्वमुक्ता मया तव ॥
पूर्वन्यासेन संनद्धस्त्रिकालं वह्निकार्यकृत् ।
ध्यायेत्पूर्वोदितं शूलं ब्रह्मचर्यं समाश्रितः ॥
कृत्वा पूर्वोदितं यागं त्रिशूलपरिमण्डलम् ।
अभिषिञ्चेत्तदात्मानमादावन्ते च दैशिकः ॥
एवं चीर्णव्रतो भूत्वा मन्त्री मन्त्रविदुत्तमः ।
निग्रहानुग्रहं कर्म कुर्वन्न प्रतिहन्यते ॥'
(मा०वि० १०।३५) इति ॥ ३२ ॥

जाता है ॥ २९-३० ॥

जो = अवज्ञावाला और घमण्डी । इसका = इस प्रकार का ॥ ३० ॥

अब इस आचार्य का विद्याव्रत कहते हैं—

अभिषेक को प्राप्त वह गुरु छह महीने तक तन्त्रोक्त समस्त मन्त्रपद्धति का ध्यान करे और तन्मय होकर (उसका) जप करे । जब तन्मय हो जाय तब (मन्त्र) शक्ति को प्राप्त होकर पाशों का दाह करे फिर तन्मयता की स्थिति प्राप्त करने के लिये प्रयास करे ॥ ३१-३२ ॥

समस्त मन्त्रपद्धति (= परा, परापरा और अपरा मन्त्ररूपा) तीन देवियाँ, चार भैरव (= रतिशेखर, भैरवसद्भाव, नवात्मभैरव आदि) और आठ अघोर आदि (= अघोर, परमघोर, घोररूप, घोरमुख, भीम, भीषण, वमन और पिबन) के (मन्त्रों को जपे) । जैसा कि कहा गया—

'आचार्य भी छह महीने तक मौन व्रत धारण करे दश या पाँच मन्त्रों, जो मैंने तुमसे कहा, का जप करे । पूर्वोक्त न्यास से युक्त तीनों समय अग्निकार्य (= अग्निहोत्र) करने वाला (आचार्य) ब्रह्मचर्यपूर्वक पूर्वोक्त शूल का ध्यान करे । त्रिशूलपरिमण्डल वाला पूर्वोक्त याग कर तब आचार्य आदि और अन्त में अपना

एवं मन्त्रपद्धतिं जपतस्तन्मयतास्थितौ युक्तिमाह—

हृच्चक्रादुत्थिता सूक्ष्मा शशिस्फटिकसंनिभा ।
लेखाकारा नादरूपा प्रशान्ता चक्रपङ्क्तिगा ॥ ३३ ॥
द्वादशान्ते निरूढा सा सौषुम्ने त्रिपथान्तरे ।
तत्र हृच्चक्रमापूर्य जपेन्मन्त्रं ज्वलत्प्रभम् ॥ ३४ ॥
चक्षुर्लोमादिरन्ध्रौघवहज्ज्वालौर्वसंनिभम् ।

सौषुम्नेत्यनेन पिङ्गलापि लक्ष्यते । तत्रेति—प्राणशक्तौ द्वादशान्ते निरूढायां सत्याम्, हृच्चक्रमिति—गमागमाभ्यां, तेन हृच्चक्रादारभ्य हृच्चक्रं यावच्चेति ज्ञेयम् । चक्षुरादिरन्ध्रौघेभ्यो वहज्ज्वालत्वादेव वडवाग्नितुल्यम्—अत्यन्तदीप्तम्—इत्यर्थः । अत एवोक्तम्—ज्वलत्प्रभमिति ॥

गमागमावेव मन्त्रस्य दर्शयति—

यावच्छान्तशिखाकीर्णं विश्वाज्यप्रविलापकम् ॥ ३५ ॥

अभिषेक करे । मन्त्रज्ञों में उत्तम वह मन्त्रवेत्ता इस प्रकार व्रत (का आचरण) कर निग्रह-अनुग्रह कर्म को करता हुआ प्रतिहत नहीं होता' ॥ ३२ ॥

मन्त्रपद्धति को जपने वाले की तन्मयता में स्थिति के विषय में युक्ति कहते हैं—

सूक्ष्म चन्द्रमा या स्फटिक के समान रेखा जैसी नादरूपा शान्त चक्रसमूह में से जाने वाली वह (प्राणशक्ति) हृदय[1] चक्र से उठकर (इडा पिङ्गला) सुषुम्ना वाले तीन मार्गों के बीच में द्वादशान्त में स्थित होती है । ऐसी स्थिति में हृदय चक्र को (प्राण वायु से) पूरित कर जलती हुयी प्रभा वाले, चक्षु रोम आदि छिद्रों से वाडवाग्नि के समान ज्वाला फेंकने वाले मन्त्र का (तब तक) जप करना चाहिये ॥ ३३-३५- ॥

सौषुम्ने—इससे पिङ्गला भी समझी जाती है । उसमें = प्राणशक्ति के द्वादशान्त में निरूढ होने पर । हृदयचक्र—गमनागमन के द्वारा । इससे हृदय चक्र (= नाभिकेन्द्र या पौर्णमास केन्द्र) से लेकर हृदय चक्र (= उन्मना का पराशूलाब्ज केन्द्र) तक—ऐसा समझना चाहिये । चक्षु आदि छिद्रसमूहों से ज्वाला निकलने के कारण ही बाडवाग्नि में समान अर्थात् अत्यन्त दीप्त । इसीलिये कहा गया—जलती हुयी कान्ति वाला ॥

मन्त्र का गमनागमन दिखलाते हैं—

---

१. टिप्पणी—'हृदय' शब्द 'केन्द्र' का वाचक है । शरीर में तीन केन्द्र हैं—नाभि में मातृ केन्द्र जिसे 'मातृ केन्द्र' तथा 'पौर्णमास' केन्द्र भी कहा जाता है, शरीर में रहते हुये शरीर से पृथक् वर्त्तमान चिति केन्द्र तथा उन्मना में शूलाब्ज केन्द्र ।

तदाज्यधारासंतृप्तमानाभिकुहरान्तरम् ।
एवं मन्त्रा मोक्षदाः स्युर्दीप्ता बुद्धाः सुनिर्मलाः ॥ ३६ ॥

शान्ते = द्वादशान्ते सर्ववृत्तिसंक्षयात्, अत एवोक्तम्—विश्वाज्यप्रविलापकमिति । नाभीत्यनेन सामीप्यात् हृच्चक्रं लक्ष्यते । एवमिति—प्राणशक्तितया उच्चारात् ॥ ३६ ॥

एवं मन्त्रस्य प्राणशक्तेश्च ऐक्ये सिद्धे कुत्र नाम चक्राधारादौ जप्यमानोऽस्य मन्त्रः स्ववीर्याक्रमणात्मकं महत्त्वं यायात् ?—इत्याह—

मूलकन्दनभोनाभिहृत्कण्ठालिकतालुगम् ।
अर्धेन्दुरोधिकानादतदन्तव्यापिशक्तिगम् ॥ ३७ ॥
समनोन्मनशुद्धात्मपरचक्रसमाश्रितम् ।
यत्र यत्र जपेच्चक्रे समस्तव्यस्तभेदनात् ॥ ३८ ॥
तत्र तत्र महामन्त्र इति देव्याख्ययामले ।

तदन्तः—नादान्तः । परचक्रम्—

......................उन्मन्यन्ते परः शिवः ।'

जब तक कि द्वादशान्त की शिखा तक फैला हुआ विश्वरूप घृत का विलयन करने वाला (मन्त्रयुक्त प्राण) उस आज्यधारा से सन्तृप्त नाभिकुहर तक (प्रसृत न हो जाय) । इस प्रकार के मन्त्र दीप्त बुद्ध एवं निर्मल होकर मोक्षदायी होते हैं ॥ -३५-३६ ॥

शान्त में = द्वादशान्त में समस्त वृत्तियों के क्षीण हो जाने से । इसलिये कहा गया—विश्वाज्य का विलायक । नाभि पद से समीप होने के कारण हृदयचक्र समझा जाता है । इस प्रकार = प्राणशक्ति के रूप में उच्चारण के कारण ॥ ३६ ॥

इस प्रकार प्राणशक्ति एवं मन्त्र की एकता के सिद्ध होने पर चक्राधार आदि में जपा जाता हुआ इसका मन्त्र अपने वीर्याक्रमणात्मक महत्त्व को कहाँ प्राप्त करेगा ?—यह कहते हैं—

मूलकन्द आकाश नाभि हृदय कण्ठ तालु अर्धचन्द्र रोधिका नाद नादान्त शक्ति व्यापिनी समना उन्मना शुद्धात्म पर चक्र में आश्रित होकर जिस-जिस चक्र में समस्त व्यस्त भेद से (मन्त्र का) जप करे वहाँ-वहाँ (वह) महामन्त्र हो जाता है—ऐसा देवीयामल में (कहा गया) है ॥ ३७-३९- ॥

तदन्त = नादान्त । पर चक्र—

'..........उन्मना के अन्त में परशिव रहते हैं ।'

इति निरूपितम् । क्रमस्य च अत्र अविवक्षणात् क्वचिदक्रमेणापि अभिधानम् । जपेदित्यर्थात् मन्त्रम्, यस्य तत्तच्चक्राधाराधिगतत्वं विशेषणतया उपात्तम् । समस्तव्यस्तभेदनादिति—समस्तत्वं व्यस्तत्वं च अवलम्ब्य—इत्यर्थः ॥

प्रकृतमेवोपसंहरति—

विद्याव्रतमिदं प्रोक्तं मन्त्रवीर्यप्रसिद्धये ॥ ३९ ॥
तच्च तादात्म्यमेवेति यदुक्तं स्पन्दशासने ।
तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः॥ ४० ॥
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम् ।

तदिति—व्रतम् । तादात्म्यमेवेति—मन्त्रेण ॥

एवं च कृतविद्याव्रतस्यैव अस्य सप्तसत्र्यामधिकारः—इत्याह—

कृतविद्याव्रतः पश्चाद्दीक्षाव्याख्यादि सर्वतः ॥ ४१ ॥
कुर्याद्योग्येषु शिष्येषु नायोग्येषु कदाचन ।

योग्यायोग्यपरीक्षायां च अस्य उदाहरणदिशा युक्तिं दर्शयति—

रहस्ये योजयेद्विप्रं परीक्ष्य विपरीततः ॥ ४२ ॥

इसके द्वारा निरुपित । यहाँ क्रम के विवक्षित न होने से कही क्रमरहित कथन है । जप करे—अर्थात् मन्त्र का, जिसका कि तत्तच्चक्राधाराधिगत होना विशेषण कहा गया । समस्त व्यस्त भेद से = समस्तता या व्यस्तता के आधार पर ॥

प्रस्तुत का उपसंहार करते हैं—

यह विद्याव्रत मन्त्रवीर्य की सिद्धि के लिये कहा गया । और वह (प्राणशक्ति का मन्त्र के साथ) तादात्म्य ही है । जैसा कि स्पन्द शास्त्र में कहा गया है—तदा क्रम्य......... उस (= विद्याव्रतरूप) बल को आक्रान्त कर मन्त्र सर्वज्ञबल वाले के अधिकार के लिये प्रवृत्त हो जाते हैं जैसे कि (बल को प्राप्त कर) शरीरियों की इन्द्रियाँ ॥ ३९-४१- ॥

वह = विद्याव्रत । तादात्म्य हो है—मन्त्र के साथ ॥

इस प्रकार विद्याव्रत का अनुष्ठान करने वाले इस आचार्य का ही सप्तसत्री में अधिकार होता है—यह कहते हैं—

(पहले) विद्याव्रत को कर लेने वाला (वह गुरु) सब प्रकार से दीक्षा व्याख्यान आदि योग्य शिष्यों में करे अयोग्यों में कभी नहीं ॥-४१-४२-॥

इसकी योग्य और अयोग्य की परीक्षा में उदाहरण देकर युक्ति दिखलाते हैं—

विपरीत आचार के द्वारा ब्राह्मण की इसी प्रकार शक्ति की परीक्षा कर

आचाराच्छक्तिमप्येव नान्यथेत्यूर्मिशासने ।

विपरीतत आचारादिति—श्रुतिस्मृतिविरुद्धात् मद्यपानादेः । एवमिति—विपरीतादेव आचारात् लोकविरुद्धात् निधुवनादेः, इतरथा हि लोभलौल्यादिना प्रवर्तयेतामित्युक्तं नान्यथेति ॥

एवं परानुग्रहव्यग्रतया नित्याद्यपि अयं संक्षेपेण कुर्यात्—इत्याह—

नित्याद्यल्पाल्पकं कुर्याद्यदुक्तं ब्रह्मयामले ॥ ४३ ॥
चीर्णविद्याव्रतः सर्वं मनसा वा स्मरेत् प्रिये ।

ननु अयं परीक्षणपरोऽपि प्रमादात् कस्मिंश्चिदयोग्यतामजानान एव दीक्षां कुर्वाणः किं दुष्यति न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

देहसंबन्धसंछन्नसार्वज्ञ्यो दम्भभाजनम् ॥ ४४ ॥
अविदन्दीक्षमाणोऽपि न दुष्येद्दैशिकः क्वचित् ।
ज्ञात्वा त्वयोग्यतां नैनं दीक्षेत प्रत्यवायिताम् ॥ ४५ ॥

ब्राह्मण को मन्त्र में जोड़ना चाहिये अन्य प्रकार से नहीं—ऐसा ऊर्मिशास्त्र में कहा गया है ॥ -४२-४३- ॥

विपरीत आचार से = श्रुतिस्मृतिविरुद्ध मद्यपान आदि के द्वारा । इस प्रकार = लोकविरुद्ध मैथुन आदि विपरीत ही आचार से । अन्यथा द्रव्य प्राप्ति के लोभ अथवा इन्द्रियसुख आदि के कारण ही प्रवृत्त होंगे (क्योंकि लोभ काम मनुष्य का स्वभाव है)—इसलिये कहा गया—अन्यथा नहीं अर्थात् कामात्मकता आदि के कारण निधुवन (= मैथुन) आदि में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये ॥ ४२- ॥

इस प्रकार परोपकार में व्यग्र होने के कारण यह (गुरु) नित्य आदि (कर्मों) को संक्षेप में करे—यह कहते हैं—

(आचार्य) नित्य आदि (कर्मों) को संक्षिप्त से संक्षिप्त करे । जैसा कि ब्रह्मयामल में कहा गया है—'हे प्रिये ! अथवा विद्याव्रत को करने वाला सब (अनुष्ठानों) का मन से स्मरण करे ॥ -४३-४४- ॥

प्रश्न—परीक्षण में लगा हुआ यह (आचार्य) असावधानी के कारण किसी के अन्दर अयोग्यता को न जानते हुये ही दीक्षा करता है तो दोष का भागी होता है या नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

शारीरिक सम्बन्ध (आलस्य मोह आदि) के कारण आच्छन्नसर्वज्ञता वाला आचार्य दम्भी (शिष्य) को न जानते हुये यदि लोभ आदि के कारण उसे दीक्षित कर देता है तो दोष का भागी नहीं होता । अयोग्यता को जानने के बाद प्रत्यवाय समझ कर इसको दीक्षा न दे ॥ -४४-४५ ॥

अवेदने देहसंबन्धसंछन्नसार्वज्ञ्यं हेतुः । दीक्षेतेति—लोभादिना ॥ ४५ ॥

एवमपि दीक्षितस्य ज्ञानदानादौ पौनःपुन्येन परीक्षां कुर्यात्—इत्याह—

बुद्ध्वा ज्ञाने शास्त्रसिद्धिगुरुत्वादौ च तं पुनः ।
भूय एव परीक्षेत तत्तदौचित्यशालिनम् ॥ ४६ ॥
तत्र तत्र नियुञ्जीत न तु जातु विपर्ययात् ।

परीक्षेत इत्यत्र च्छेदः । तत्र तत्रेति—ज्ञानशास्त्रादौ । विपर्ययादिति—तत्तदौचित्यशालित्वविलक्षणात् ॥

ननु एवं जिज्ञासान्यथानुपपत्त्या नूनमस्य पारमेश्वरमधिष्ठानमस्ति, तदेव च योग्यत्वमुच्यते इति किमन्येन योग्यत्वायोग्यत्वपरीक्षणेन ?—इत्याशङ्कते—

ननु तद्वस्त्वयोग्यस्य तत्रेच्छा जायते कुतः ॥ ४७ ॥
तदीशाधिष्ठितेच्छैव योग्यतामस्य सूचयेत् ।

तत्रेति—ज्ञानादौ ॥

एतदेवाभ्युपगम्य प्रतिविधत्ते—

न जानने में—देहदोष के कारण आच्छन्नसर्वज्ञता हेतु है । दीक्षा देता है—लोभ आदि के कारण ॥ ४५ ॥

(आचार्य) दीक्षित की ज्ञान देने आदि के विषय में बार-बार परीक्षा करे—यह कहते हैं—

ज्ञान देने शास्त्राध्यापन गुरु बनाने आदि के विषय में उस (शिष्य) की बार-बार परीक्षा करे । तत्तद् औचित्य वाले (उसका) वहाँ-वहाँ नियोजन करे विपर्यय होने से कभी भी नहीं ॥ ४६-४७- ॥

परीक्षा करे—यहाँ वाक्य-विराम हो जाता है । वहाँ-वहाँ = ज्ञानप्रदान शास्त्राध्यापन आदि में । उल्टा होने से = तत्तद् औचित्यशाली से भिन्न होने पर ॥

प्रश्न—जिज्ञासा की अन्यथा उपपत्ति न होने से निश्चित ही इस (शिष्य) के ऊपर ईश्वरीय कृपा है और यही योग्यता कही जाती है फिर दूसरे योग्यत्वायोग्यत्व परीक्षण से क्या लाभ ?—यह शङ्का करते हैं—

प्रश्न है कि उस वस्तु के अयोग्य (शिष्य) के (मन में) उस विषय की इच्छा कैसे होगी ? इसलिये ईश्वर के द्वारा अधिष्ठित (उस व्यक्ति की) इच्छा ही इसकी योग्यता को सूचित करती है ॥ -४७-४८- ॥

उसमें = ज्ञान आदि के विषय में ॥

सत्यं कापि प्रबुद्धासाविच्छा रूढिं न गच्छति॥ ४८ ॥
विद्युद्वत्पापशीलस्य यथा पापापवर्जने ।

ननु परमेश्वराधिष्ठानात् प्रबुद्धापि एवमिच्छा कथं न प्ररोहं गच्छेत्?—इत्याशङ्क्याह—

रूढ्यरूढी तदिच्छाया अपि शंभुप्रसादतः ॥ ४९ ॥

अत एव नायं प्रबुद्धायामपि तत्रेच्छायां तदप्ररोहात् ज्ञानादौ पात्रम्—इत्याह—

अप्ररूढतथेच्छाकस्तत एव न भाजनम् ।
यः सम्यग्ज्ञानमादाय गुरुविश्वासवर्जितः ॥ ५० ॥
लोकं विप्लावयेन्नास्मिञ्ज्ञाते विज्ञानमर्पयेत् ।

विप्लावयेदिति—विरुद्धाचरणात् । एवमस्मिन्नप्ररूढेच्छाकत्वादयोग्यतया ज्ञाते विज्ञानमेव नार्पयेत्—इत्याह—नास्मिन्नित्यादि ॥

इसको मान कर प्रत्युत्तर देते हैं—

(आपका कथन) सत्य है । कोई भी प्रबुद्ध इच्छा रुढ़ि (= प्रौढ़ता) को प्राप्त नहीं होती जैसे कि पापी के पाप को हटाने में विद्युत् । (विद्युत् सिर्फ एक क्षण के लिये ही प्रकाशित होती है वह अन्धकार को सदा के लिये दूर कर देने वाली ज्योति नहीं होती है ।) उसी प्रकार पापी की पापापवर्जन की इच्छा भी क्षणिक होती है ॥ -४८-४९- ॥

प्रश्न—परमेश्वर के अधिष्ठान के कारण प्रबुद्ध भी इस प्रकार की इच्छा प्ररुढ़ क्यों नही होती ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस व्यक्ति की इच्छा का प्रौढ होना या न होना भी शिव की कृपा से होता है ॥ -४९ ॥

इसलिये इच्छा के प्रबुद्ध होने पर भी उसके प्ररुढ़ न होने से (इसकी) ज्ञान आदि के विषय में पात्रता नहीं होती—यह कहते हैं—

अप्ररुढ़ उस प्रकार की इच्छा वाला (व्यक्ति) इसी कारण (ज्ञान दान आदि का) पात्र नहीं होता । और जो (व्यक्ति) सम्यक् ज्ञान को प्राप्त कर गुरु के विश्वास से रहित हुआ संसार को ठगता रहता है उसका ज्ञान होने पर (उसे) ज्ञान नहीं देना चाहिये ॥ -५०-५१- ॥

विप्लावित करता (= ठगता) है—विरुद्ध आचरण से । इस प्रकार इस (व्यक्ति) में अप्ररुढ इच्छा वाला होने के कारण अयोग्यता ज्ञात होने पर (उसे) विज्ञान नहीं देना चाहिये—यह कहते हैं—नास्मिन्.........इत्यादि ॥

यः पुनरेवं ज्ञानार्पणकाले न ज्ञातस्तदुत्तरकालं तु ज्ञातस्तस्य ज्ञानापहरणमेव कुर्यात्—इत्याह—

अज्ञातेऽपि पुनर्ज्ञाते विज्ञानहरणं चरेत् ॥ ५१ ॥

एतदेव मतेर्हरणमाह—

पुनःपुनर्यदा ज्ञातो विश्वासपरिवर्जितः ।
तदा समग्रतो ध्यायेत्स्फुरन्तं चन्द्रसूर्यवत् ॥ ५२ ॥
ततो निजहृदम्भोजबोधाम्बरतलोदिताम् ।
स्वर्भानुमलिनां ध्यायेद्वामां शक्तिं विमोहनीम् ॥ ५३ ॥
वामाचारक्रमेणैनां निःसृतां साध्यगामिनीम् ।
चिन्तयित्वा तया ग्रस्तप्रकाशं तं विचिन्तयेत् ॥ ५४ ॥
अनेन क्रमयोगेन मूढबुद्धेर्दुरात्मनः ।
विज्ञानमन्त्रविद्याद्याः प्रकुर्वन्त्यपकारिताम् ॥ ५५ ॥

पुनः पुनरिति—अत्रापि यथा अन्यथाभावो न भवेत्—इति भावः । वामाचार इति—संहारक्रमेण—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'न्यायेन ज्ञानमादाय पश्चान्न प्रतिपद्यते ।
तदा तस्य प्रकुर्वीत विज्ञानापहृतिं बुधः ॥

और जो ज्ञान देने के समय ज्ञात नहीं हुआ किन्तु उसके बाद ज्ञात हुआ (कि वह लोकविप्लावक है) तो ज्ञात होने पर उसको दिया गया ज्ञान अपहृत कर लेना चाहिये—यह कहते हैं—

अज्ञात के पुनः ज्ञात होने पर विज्ञान का हरण कर लेना चाहिये ॥ ५१ ॥

इसी को मति का हरण कहते हैं—

बार-बार ज्ञात हुआ वह व्यक्ति जब विश्वासरहित (सिद्ध) हो जाता है तब उसका सामने स्फुरित होते हुये चन्द्र सूर्य के समान ध्यान करना चाहिये । इसके बाद अपने हृदयकमल के ज्ञानाकाश तल पर उदित राहु के समान मलिन मोहनी वामा शक्ति का ध्यान करना चाहिये । ध्यान कर उस (शिष्य) को उसके द्वारा ग्रसित प्रकाश वाला है—ऐसा चिन्तन करना चाहिये । इस क्रमयोग से मूढबुद्धि दुरात्मा के विज्ञान मन्त्र विद्या आदि (उसका) अपकार करने लगते हैं ॥ ५२-५५ ॥

बार-बार—जिससे कि कोई और (विपरीत) बात न हो जाय । वामाचार = संहार क्रम से । वही कहा गया है—

ततस्तं दीप्तमालोक्य तदंगुष्ठाग्रतः क्रमात् ।
नयेत्तेजः समाहृत्य द्वादशान्तमनन्यधीः ॥
अथवा सूर्यबिम्बाभं ध्यात्वा विच्छेद्यमग्रतः ।
स्वर्भानुरूपया शक्त्या ग्रस्तं तमनुचिन्तयेत् ॥
अनेन विधिना तस्य मूढबुद्धेर्दुरात्मनः ।
विज्ञानमन्त्रविद्याद्या न कुर्वन्त्युपकारिताम् ॥
अपराधसहस्रैस्तु महाकोपसमन्वितः ।
विधिमेनं प्रकुर्वीत क्रीडार्थं न तु जातुचित् ॥'
(मा०वि० १८।६६) इति ॥ ५५ ॥

ननु आत्मनो ज्ञानक्रिये रूपं तदात्मनो ज्ञानापहरणात् नाश एव स्यात्, नहि अस्माकं काणादादिवत् आत्मज्ञानयोः गुणगुणिभावोऽभिमत इति कथमेतदस्मदागमेऽभिहितम् ?—इत्याशङ्कते—

ननु विज्ञानमात्मस्थं कथं हर्तुं क्षमं भवेत् ।
अतो विज्ञानहरणं कथं श्रीपूर्व उच्यते ॥ ५६ ॥

एतदेव प्रतिविधत्ते—

उच्यते नास्य शिष्यस्य विज्ञानं रूढिमागतम् ।
तथात्वे हरणं कस्मात्पूर्णयोग्यत्वशालिनः ॥ ५७ ॥

(शिष्य यदि) उचित रीति से (गुरु से) ज्ञान प्राप्त कर बाद में उसके अनुसार आचरण नहीं करता तो विद्वान् (गुरु) उसके विज्ञान का अपहरण कर ले । (इस क्रम में) उसे दीप्त देख कर अनन्य बुद्धि वाला (गुरु) उस (शिष्य) के (पैर के) अंगूठे के अग्रभाग से लेकर ऊर्ध्व द्वादशान्त तक तेज का संहार कर ले । अथवा विच्छेद्य सूर्यबिम्ब के समान पहले उसका ध्यान कर उसे राहु रूप (वामा) शक्ति से ग्रस्त हुआ चिन्तन करना चाहिये । इस विधि से उस दुरात्मा मूढ़बुद्धि के विज्ञान मन्त्र विद्या आदि उपकार नहीं करते । (शिष्य के द्वारा) हजारों अपराध होने से (गुरु) जब महाकोप से युक्त हो जाय तब इस विधि को करे । कभी भी क्रीड़ा के लिये नहीं ॥ ५५ ॥ (मा.वि.तं. १८।६२-६६)

ज्ञान और क्रिया आत्मा का रूप है तो ज्ञान का अपहरण करने से आत्मा का नाश ही हो जायगा । वैशेषिक आदि (दार्शनिकों) की भाँति हमारे मत में आत्मा और ज्ञान में गुणगुणी सम्बन्ध नहीं माना गया है फिर हमारे आगम में ऐसा कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रश्न है कि विज्ञान आत्मा का स्वरूप है उसका हरण कैसे हो सकता है ? इसलिये मालिनीविजय में विज्ञानापहरण कैसे कहा जाता है ॥ ५६ ॥

इसी का प्रत्युत्तर देते हैं—

नहि एतज्ज्ञानमस्य शिष्यस्य रूढिमागतम् शुद्धतामुपागतम्—इत्यर्थः । रूढ्युपगमे हि परे पूर्णे धाम्नि ऐक्यात्म्यापत्तिसहिष्णुतया श्लाघमानस्य ज्ञानस्य कथङ्कारं हरणमेव स्यात्, एवं हि आत्मनो नाश एव भवेत्—इत्युक्तप्रायम् ॥ ५७ ॥

नन्वस्योपदेशस्तावत् वृत्त इति किमिति न ज्ञानं रूढिमागतम्?—इत्याशङ्क्याह—

किंत्वेष वामया शक्त्या मूढो गाढं विभोः कृतः ।
स्वभावादेव तेनास्य विद्याद्यमपकारकम् ॥ ५८ ॥

ननु विलयशक्त्याघ्रातत्वादस्य स्वभावत एव चेत् विद्याद्यमपकारकं तत् गुरुः किमर्थं विज्ञानापहरणं कुर्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

गुरुः पुनः शिवाभिन्नः सन्यः पञ्चविधां कृतिम् ।
कुर्याद्यदि ततः पूर्णमधिकारित्वमस्य तत् ॥ ५९ ॥
अतो यथा शुद्धतत्त्वसृष्टिस्थित्योर्मलात्यये ।
योजनानुग्रहे कार्यचतुष्केऽधिकृतो गुरुः ॥ ६० ॥

उत्तर देते हैं—इस (शिष्य) का विज्ञान प्ररुढ़ नहीं हुआ है (इसलिये हरण सम्भव है) । वैसा होने पर पूर्णयोग्यता वाले (उस शिष्य) का (ज्ञान-) हरण कैसे सम्भव होगा ॥ ५७ ॥

शिष्य का यह ज्ञान रुढ़ि को प्राप्त नहीं है = शुद्ध नहीं हुआ है । रुढ़ि को प्राप्त होने पर परम पूर्ण धाम से तादात्म्य हो जाने के कारण श्लाघनीय इस ज्ञान का हरण कैसे होगा । ऐसा होने पर आत्मा का नाश ही हो जायगा—ऐसा कहा गया है ॥ ५७ ॥

प्रश्न—इसको (ज्ञान का) उपदेश तो हो गया फिर ज्ञान प्ररुढ क्यों नहीं हुआ—यह शङ्का कर कहते हैं—

किन्तु यह (शिष्य) परमेश्वर की वामा शक्ति के द्वारा बहुत अधिक मोहग्रस्त कर दिया गया होता है । इसलिये स्वभावतः विद्या आदि इसके अपकारक होते हैं ॥ ५८ ॥

प्रश्न—विलयशक्ति से आघ्रात होने के कारण विद्या आदि यदि स्वभावतः इसके अपकारक हो जाते हैं तो फिर इसके विज्ञान का अपहरण गुरु क्यों करे ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो गुरु शिव से अभिन्न होता हुआ यदि पाँच प्रकार का कृत्य करता है इस कारण उसका (उसको करने में) पूर्ण अधिकार है । इसलिये जैसे

शिवाभेदेन　　तत्कुर्यात्तद्वत्पञ्चममप्ययम् ।
तिरोभावाभिधं कृत्यं तथासौ शिवतात्मकः ॥ ६१ ॥

अत इति—पञ्चकृत्यकारित्वेन पूर्णाधिकारित्वात् । तदिति—कार्यचतुष्कम् । एवं कृत्यपञ्चककारित्वेन अस्य किं स्यात्?—इत्याशङ्क्योक्तम्—तथासौ शिवतात्मकः इति ॥ ६१ ॥

एवं च श्रेयोरूपत्वादेव क्वचिदपि नायं कुप्येत्—इत्याह—

अत एव शिवे शास्त्रे ज्ञाने चाश्वासभाजनम् ।
गुरोर्मूढतया　कोपधामापि न तिरोहितः ॥ ६२ ॥

अतः शिवात्मकत्वादेव गुरोर्भूतपूर्वगत्या शैवशास्त्रादौ आश्वासभाजनं मूढतया तिरोहितोऽपि शिष्यो न कोपधाम, नास्य गुरुणा कोपः कार्यः—इत्यर्थः ॥६२ ॥

ननु किमेतदुक्तं यद्यस्यैव गुरुः कुपितः स एव संसारी तिरोहितः इत्युच्यते—इत्याह—

गुरुर्हि कुपितो यस्य स तिरोहित उच्यते ।

शुद्धतत्त्व की सृष्टि, स्थिति और मल को हटाने, योजना के अनुग्रह—इन चारों कार्यों में अधिकृत गुरु शिव से अभिन्न होने के कारण उसे करता है उसी प्रकार यह तिरोभाव नामक पञ्चम कृत्य भी करेगा । इस प्रकार यह (= गुरु) शिवतापूर्ण हो जाता है ॥ ५९-६१ ॥

अतः = पञ्चकृत्यकारी होने से पूर्ण अधिकारी होने के कारण । वह = चार कार्य । इस प्रकार पञ्चकृत्य करने से इसका क्या होता है ?—यह शङ्का कर कहा गया—इस प्रकार वह शिवतापूर्ण हो जाता है ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रेयःरूप होने से ही यह कहीं भी क्रोध नहीं करता—यह कहते हैं—

इसीलिये शैवशास्त्र और ज्ञान में पहले विश्वास का पात्र होने (बाद में) मूढ़ होने से तिरोहित हुआ भी वह (= शिष्य) गुरु के कोप का भागी नहीं होता ॥ ६२ ॥

अतः = शिवात्मक होने के कारण ही गुरु की भूतपूर्व गति के कारण शैवशास्त्र आदि में विश्वासपात्र हुआ भी मूढ़ होने से तिरोहित शिष्य कोप का भागी नहीं होता अर्थात् गुरु इसके ऊपर क्रोध न करे ॥ ६२ ॥

प्रश्न—यह क्या कहा गया कि जिसके ऊपर गुरु कुपित होता है वही संसारी तिरोहित कहा जाता है?—यह कहते हैं—

सत्यमेवं स तु गुरुर्निखिलजगदुद्दिधीर्षापरतया परमकारुणिकः परमेश्वर एव, स च सत्यज्ञानमय इति कः कस्य कोपं कुर्यात्—इत्याह—

संसारी स तु देवो हि गुरुर्न च मृषाविदः॥ ६३ ॥
तत एव च शास्त्रादिदूषको यद्यपि क्रुधा।
न दह्यतेऽसौ गुरुणा तथाप्येष तिरोहितः॥ ६४ ॥

हिरवधारणे । मृषाविद इति—मिथ्याज्ञानरूपः—इत्यर्थः, तथात्वे भवेदेव कोपस्यावकाशः—इत्याशयः । तत इति—मिथ्याज्ञानरूपत्वाभावादेव । तथापीति —वस्तुमहिम्नो दुर्लंध्यत्वात् ॥ ६४ ॥

तदेव अस्मद्गुरूणामपि मतम्—इत्याह—

अस्मद्गुर्वागमस्त्वेष तिरोभूते स्वयं शिशौ।
न कुप्येन्न शपेद्धीमान् स ह्यनुग्राहकः सदा॥ ६५ ॥

तुर्ह्यर्थे ॥ ६५ ॥

नहि अस्य स्वयमेव तिरोधित्सोरत्रान्यत्किञ्चित्कर्तव्यमवशिष्यते यदनेनापि कार्यम्—इत्याह—

गुरु जिसके ऊपर क्रुद्ध हो जाता है वह संसारी तिरोहित कहा जाता है ॥ ६३- ॥

यह सत्य है । वह गुरु समस्त संसार के उद्धार की इच्छा से युक्त होने के कारण परम कारुणिक परमेश्वर ही है और वह सत्यज्ञान से युक्त है फिर कौन किसके ऊपर क्रोध करेगा ?—यह कहते हैं—

वह देव ही गुरु है और (इस प्रकार) मिथ्याज्ञानवान् नहीं है इसीलिये शास्त्र आदि में दोष देखने वाला (= शिष्य) यद्यपि गुरु के द्वारा क्रोध से दग्ध नहीं किया जाता तथापि यह तिरोहित हो जाता है ॥ -६३-६४ ॥

'हि' शब्द निश्चय अर्थ में है । मृषाविद = मिथ्याज्ञानी रूप । वैसा होने पर कोप का अवसर हो जाता । इस कारण = मिथ्याज्ञानरूपता का अभाव होने से ही । तो भी—वस्तुमहिमा के दुर्लङ्घ्य होने से ॥ ६४ ॥

यही हमारे गुरुओं का भी मत है—यह कहते हैं—

हमारे गुरु का मत यह है कि शिशु के स्वयं तिरोहित होने पर बुद्धिमान् गुरु न क्रोध करे न शाप दे । क्योंकि वह (= गुरु) सदा अनुग्रह करने वाला होता है ॥ ६५ ॥

'तु' (का प्रयोग) निश्चय अर्थ में है ॥ ६५ ॥

ईशेच्छाचोदितः पाशं यदि कण्ठे निपीडयेत् ।
किमाचार्येण तत्रास्य कार्या स्यात्सहकारिता ॥ ६६ ॥

किं कार्या स्यादिति—नात्र सहकारिणा कश्चिदर्थः—इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

ननु यद्येवं तच्छिवाभेदिनोऽस्य पञ्चविधकृत्यकारित्वं किं न खण्ड्येत?—इत्याशङ्क्याह—

शिवाभिन्नोऽपि हि गुरुरनुग्रहमयीं विभोः ।
मुख्यां शक्तिमुपासीनोऽनुगृह्णीयात्स सर्वथा ॥ ६७ ॥

यदुक्तं तत्र—

'अनेन विधिना भ्रष्टो विज्ञानादपरेण न ।
शक्यो योजयितुं भूयो यावत्तेनैव नोद्धृतिः ॥'

(मा०वि० १८।६७) इति ॥ ६७ ॥

ननु तर्हि किमर्थं विज्ञानापहरणं कुर्यादित्याद्युक्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

स्वयं तिरोधान की इच्छा वाले इस (शिष्य) का अन्यत्र कुछ कर्त्तव्य नहीं बचता जिसे यह करे (और अपना कष्ट दूर करे)—यह कहते हैं—

परमेश्वर की इच्छा से प्रेरित (यह) यदि पाश को कण्ठ में लगा लेता है तो फिर इस विषय में आचार्य इसकी क्या सहायता करेगा अर्थात् कोई सहायता नहीं ॥ ६६ ॥

क्या करनी होगी = इस विषय में सहकारी का कोई सार्थक्य नहीं होता है ॥ ६६ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो शिव से अभिन्न इसका पञ्चविधकृत्यकारित्व क्या खण्डित नहीं होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

शिव से अभिन्न भी गुरु चूँकि परमेश्वर की कृपामयी मुख्यशक्ति को प्राप्त है इसलिये वह (= गुरु) सर्वथा अनुग्रह करता है ॥ ६७ ॥

जैसा कि वहाँ कहा गया—

'इस विधि (= अनाश्वास) से विज्ञान से भ्रष्ट हो गया दूसरी विधि (निम्नशास्त्र में विश्वास और दीक्षा) से वह पुनः तब तक जोड़ा नहीं जा सकता जब तक उसी (= शैव शास्त्रीय अनुष्ठान विधि) के द्वारा उसका उद्धार नहीं किया गया है' ॥ ६७ ॥ (मा.वि.तुं. १८।६७)

प्रश्न—तो (शिष्य के) विज्ञान का अपहरण करना चाहिये इत्यादि क्यों कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

स्वातन्त्र्यमात्रज्ञप्त्यै तु कथितं शास्त्र ईदृशम् ।
न कार्यं पततां हस्तालम्बः सह्यो न पातनम् ॥ ६८ ॥

एवमस्य कृपापरेणैव भाव्यम्—इत्याह—

अत एव स्वतन्त्रत्वादिच्छायाः पुनरुन्मुखम् ।
प्रायश्चित्तैर्विशोध्यैनं दीक्षेत कृपया गुरुः ॥ ६९ ॥

स्वतन्त्रत्वादिति—एतदेव हि नाम अस्याः स्वातन्त्र्यं यन्निगृहीतस्यापि पुनरनुग्रह इति ॥ ६९ ॥

ननु इतः पतितस्तिरोहित एव उच्यते इत्युक्तम्, एवमसौ ततोऽपि च इतराश्वस्ततया पतितस्तदुभयभ्रष्टत्वादिहापि कथमनुग्राह्यः स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

ऊर्ध्वदृष्टौ प्रपन्नः सन्ननाश्वस्तस्ततः परम् ।
अधःशास्त्रं प्रपद्यापि न श्रेयः पात्रतामियात् ॥ ७० ॥
अधोदृष्टौ प्रपन्नस्तु तदनाश्वस्तमानसः ।
ऊर्ध्वशासनभाक् पापं तच्चोज्झेच्च शिवीभवेत् ॥ ७१ ॥

केवल (गुरु का) स्वातन्त्र्य बतलाने के लिये शास्त्र में ऐसा कहा गया है । गुरु के द्वारा इस प्रकार (का कार्य) नहीं किया जाना चाहिये । गिरने वालों को हाथ का सहारा देना सह्य (= उचित) है गिराना नहीं ॥ ६८ ॥

इस प्रकार (गुरु को) इसके ऊपर कृपापरक होना ही चाहिये—यह कहते हैं—

इसीलिये इच्छा के स्वातन्त्र्य के कारण पुनः (विज्ञानप्राप्ति के प्रति) उन्मुख इस (शिष्य) का प्रायश्चित्त के द्वारा विशोधन कर गुरु कृपा करने के बाद इसे दीक्षित करे ॥ ६९ ॥

स्वतन्त्र होने से—इस इच्छा का यही स्वातन्त्र्य है कि निगृहीत शिष्य पुनः अनुगृहीत होता है ॥ ६९ ॥

प्रश्न—इधर से गिरा हुआ तिरोहित ही कहा जाता है—ऐसा कहा गया । इसी प्रकार यह उधर (= त्रिकेतर शास्त्र) में आश्वस्त होने के कारण पतित हो गया तो दोनों ओर से भ्रष्ट होने के कारण यहाँ भी कैसे अनुग्राह्य होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उत्कृष्ट शास्त्र को प्राप्त हुआ बाद में उसमें अविश्वास कर निम्नकोटि के शास्त्र में दीक्षित होकर भी मोक्ष का भागी नहीं होता । निम्नकोटिक शास्त्र में दीक्षित भी (व्यक्ति) यदि उसमें अविश्वस्त मन वाला होते हुये ऊर्ध्व शास्त्र में विश्वस्त एवं दीक्षित होता है तो (वह) उस (निम्नशास्त्रीय-

एतदेव दृष्टान्तोपदर्शनेन घटयति—

राज्ञे द्रुह्यन्नमात्याङ्गभूतोऽपि हि विहन्यते ।
विपर्ययस्तु नेत्येवमूर्ध्वां दृष्टिं समाश्रयेत् ॥ ७२ ॥

अत एव अस्मच्छास्त्रमप्येवम्—इत्याह—

श्रीपूर्वशास्त्रे तेनोक्तं यावत्तेनैव नोद्धृतः ।

एतदेव तात्पर्यतो व्याचष्टे—

अत्र ह्यर्थोऽयमेतावत्पूर्वोक्तज्ञानवृंहितः ॥ ७३ ॥
गुरुस्तावत्स एवात्र तच्छब्देनावमृश्यते ।

अविप्रतिपत्तिद्योतकस्तावच्छब्दः ॥

एवकारार्थमप्याह—

तादृक्स्वभ्यस्तविज्ञानभाजोर्ध्वपदशालिना ॥ ७४ ॥
अनुद्धृतस्य न श्रेय एतदन्यगुरूद्धृतेः ।
अत एवाम्बुजन्मार्कदृष्टान्तोऽत्र निरूपितः ॥ ७५ ॥

दीक्षाजन्य) पाप से मुक्त होता है और शिव रूप हो जाता है ॥ ७०-७१॥

इसी को दृष्टान्त दिखा कर घटित करते हैं—

राजा से विरोध करता हुआ मन्त्री का अङ्गभूत (= कृपापात्र) भी (व्यक्ति) मारा जाता है । विपरीत परिस्थिति वाला (= मन्त्री का विरोध कर राजा का कृपापात्र) नहीं । इस प्रकार (समझकर) ऊर्ध्व दर्शन का आश्रयण करे ॥ ७२ ॥

इसीलिये हमारा शास्त्र भी ऐसा है—यह कहते हैं—

इसीलिये मालिनीविजय में कहा गया—'क्योंकि उसी के द्वारा (उसका) उद्धार नहीं होता' ॥ ७३- ॥

इसी की तात्पर्य के रूप में व्याख्या करते हैं—

यहाँ 'हि' का अर्थ है पूर्वोक्त ज्ञान से वृद्धि को प्राप्त गुरु । वही यहाँ 'तत्' शब्द से समझा जाता है ॥ -७३-७४- ॥

'तावत्' शब्द मतैक्य का द्योतक है ॥

एवकार के अर्थ को भी बतलाते हैं—

इस (शैवशास्त्रज्ञ) से अन्य गुरु के द्वारा उद्धृत होने पर भी उस प्रकार के स्वभ्यस्त विज्ञानशाली गुरु के द्वारा अनुद्धृत इस (शिष्य) की मुक्ति

निरूपित इति—एतद्विवरण एव पञ्चिकायाम् । यदुक्तं तत्र—

'दिवाकरकरासारविरहात्संकुचत्कजम् ।
सत्स्वप्यन्यग्रहमहःस्वेति नैव विकासिताम् ॥
एवं शिष्यहृदम्भोजं गुरुपादविवर्जितम् ।
निमीलद्विकसत्येव पुनस्तत्पादपाततः ॥' इति ॥ ७५ ॥

ननु अस्य अन्योऽपि गुरुरस्तु तेनैव गुरुणा कोऽर्थः?—इत्याशङ्कां दृष्टान्तान्तरेणापि निरवकाशयति—

त्रिजगज्ज्योतिषो ह्यन्यत्तेजोऽन्यच्च निशाकृतः ।
ज्ञानमन्यत्त्रिकगुरोरन्यत्त्वधरवर्तिनाम् ॥ ७६ ॥

ननु एवमन्तरा चेदस्य गुरोः पिण्डपातो वृत्तः, तदा अनेन किं कार्यम्?—इत्याशङ्क्याह—

अत एव पुराभूतगुर्वभावो यदा तदा ।
तदन्यं लक्षणोपेतमाश्रयेत्पुनरुन्मुखः ॥ ७७ ॥

अस्य च अत्र लक्षणम्—

नहीं होती । इसीलिये इस विषय में कमल और सूर्य का दृष्टान्त दिया गया है ॥ -७४-७५ ॥

निरूपित है—पञ्चिकाविवरण में । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'(जैसे) सूर्य की किरणों की वर्षा के अभाव के कारण संकुचित होने वाला कमल अन्य ग्रहों के प्रकाश के रहने पर भी विकसित नहीं होता, इसी प्रकार गुरुचरण (की कृपा) से रहित शिष्य का हृदयकमल बन्द होता हुआ फिर उसकी चरण (कृपा) से ही विकसित होता है' ॥ ७५ ॥

प्रश्न—इसका दूसरा भी कोई गुरु हो जाय उसी (पूर्व) गुरु से क्या सम्बन्ध ?—इस आशङ्का को दूसरे दृष्टान्त से शान्त करते हैं—

सूर्य का तेज भिन्न है और चन्द्रमा का भिन्न । (इसी प्रकार) त्रिक गुरु का ज्ञान दूसरा है और निम्न आगमों का अनुसरण करने वाले (गुरुओं) का दूसरा ॥ ७६ ॥

प्रश्न—यदि इसके गुरु का बीच में ही देहपात हो गया तो यह (शिष्य) क्या करे ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसीलिये जब पहले वाले गुरु का अभाव हो जाय तो पुनः (त्रिक शास्त्र की ओर) उन्मुख (शिष्य) लक्षणयुक्त दूसरे (त्रिकशास्त्रानुगामी) गरु का आश्रय ले ॥ ७७ ॥

'यः पुनः सर्वतत्त्वानि.................... ।' (मा०वि० २।१०)

इत्यादिनोक्तम् ॥ ७७ ॥

तस्मिंस्तु जीवति तत्त्यागो न कार्यः—इत्याह—

सति तस्मिंस्तून्मुखः सन्कस्माज्जह्याद्यदि स्फुटम् ।
स्यादन्यतरगो दोषो योऽधिकारापघातकः ॥ ७८ ॥

एवमूर्ध्वशासनस्थ एव गुरुराश्रयणीयः—इति अत्र तात्पर्यम् । सति तु दोषे परस्परस्यापि त्यागः कार्यः—इत्याह—यदीत्यादि ॥ ७८ ॥

ननु किमत्र लौकिको दोषो ग्राह्यः शास्त्रीयो वा ?—इत्याशङ्क्याह—

दोषश्चेह न लोकस्थो दोषत्वेन निरूप्यते।
अज्ञानख्यापनायुक्तख्यापनात्मा त्वसौ मतः ॥ ७९ ॥
शिष्यस्यापि तथाभूतज्ञानानाश्वस्तरूपता ।
मुख्यो दोषस्तदन्ये हि दोषास्तत्प्रभवा यतः ॥ ८० ॥

शास्त्रीयस्यैव दोषस्य स्वरूपं निरूपयति—अज्ञानेत्यादिना । अपिशब्दाद्-

---

इसका यहाँ लक्षण—

'जो समस्त तत्त्वों को यथार्थतः जानता है............ ।' (मा.वि.तं. २।१०)

इत्यादि के द्वारा कहा गया है ॥ ७७ ॥

उसके (= विज्ञानवान गुरु के) जीवित रहते हुये उसका त्याग नहीं करना चाहिये—यह कहते हैं—

उसके (जीवित) रहते हुये उन्मुख हुआ (शिष्य उसको) क्यों छोड़ें । यदि (दोष) स्पष्ट हो गया तो (त्याग होता है अन्यथा) अन्यतर के पास जाने का दोष होता है जो कि अधिकार का हनन करने वाला होता है ॥ ७८ ॥

इस प्रकार ऊर्ध्वशास्त्र में स्थित ही गुरु का आश्रयण करना चाहिये—यह यहाँ तात्पर्य है । दोष होने पर परस्पर का भी त्याग होना चाहिये—यह कहते हैं—यदि....... ॥ ७८ ॥

प्रश्न—यहाँ लौकिक दोष लेते हैं कि शास्त्रीय?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यहाँ लौकिक दोष नहीं माना जाता (किन्तु) अज्ञानदायक ज्ञापन रूप यह (दोष गुरु का) माना गया है । शिष्य का भी उस प्रकार (= श्रेयःसाधन रूप) ज्ञान में विश्वास का न होना ही मुख्य दोष है क्योंकि अन्य दोष उसी से उत्पन्न होते हैं ॥ ७९-८० ॥

गुरोरिति लभ्यते, तेन गुरोः शिष्यस्य च असौ मुख्यो दोषो मतः—इति संबन्धः। तत्र तावद् गुरोरज्ञानं ज्ञत्वेऽपि ख्यापयितुमसामर्थ्यम्, तत्त्वेऽपि अयुक्तस्य अर्थस्य ख्यापनमिति। अन्ये इति—गुरोरविहितानुष्ठानादयः, शिष्यस्य च गुर्वपरिग्रहादयः। हिर्वाक्यालङ्कारे ॥ ८० ॥

गुर्वपरिग्रहादेश्च ज्ञानानाश्वासहेतुकत्वमेव अन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृष्टान्तमुखेन द्रढयति—

न ध्वस्तव्याधिकः को हि भिषजं बहु मन्यते ।
असूयुर्नूनमध्वस्तव्याधिः स्वस्थायते बलात् ॥ ८१ ॥
एवं ज्ञानसमाश्वस्तः किं किं न गुरवे चरेत् ।
नो चेन्नूनमविश्वस्तो विश्वस्त इव तिष्ठति ॥ ८२ ॥

तथाहि ध्वस्तव्याधिः सर्वो जनः त्वत्प्रसादोपनतप्राणा वयमित्येवं भिषजे बहुमानं कुर्यात्, तं प्रति असूयुरीर्ष्यावान् पुनर्निश्चितमध्वस्तव्याधिमस्वस्थमपि आत्मानं स्वस्थमिव बलात् मन्यते, तथा ज्ञानसमाश्वस्तः शिष्यो गुरवे किं नाम न आनुगुण्यमाचरेत्, ज्ञानं प्रति अनाश्वस्तस्तु वस्तुवृत्तेन अविश्वस्तोऽपि किं मम गुरुणा कार्यमिति विश्वस्त इव तिष्ठति स्वात्मन्येवं वृथाभिमानं विदध्यात्—

'अज्ञान' इत्यादि के द्वारा शास्त्रीय ही दोष का स्वरूप दिखलाते हैं—'अपि' शब्द से 'गुरु का' यह अर्थ भी समझा जाता है। इससे गुरु और शिष्य का यह मुख्य दोष माना गया है—ऐसा सम्बन्ध है। गुरु का अज्ञान—ज्ञानी होने पर भी (दूसरे को) बतलाने में असामर्थ्य अथवा वैसा होने पर भी अयुक्त अर्थ को बतलाना। अन्य—गुरु का (दोष) अविहित अनुष्ठान आदि। शिष्य का—गुरु का अपरिग्रह आदि। 'हि' वाक्य का अलङ्कार मात्र है अर्थात् निरर्थक ॥ ८० ॥

गुरु का त्याग ज्ञान के अविश्वास के कारण होता है इसको अन्वयव्यतिरेक के द्वारा दृष्टान्त देकर पुष्ट करते हैं—

नीरोग हुआ कौन व्यक्ति वैद्य को बहुत सम्मानित नहीं करता। (उस वैद्य की) निन्दा करने वाला नीरोग न होते हुये भी बलात् (मिथ्याभिमान के कारण) अपने को स्वस्थ समझता है। इसी प्रकार ज्ञान के कारण विश्वस्त (शिष्य) गुरु के लिये क्या-क्या नहीं करता। यदि नहीं तो अविश्वस्त होते हुए भी विश्वस्त जैसा रहता है ॥ ८१-८२ ॥

जैसे नष्टरोग वाले सब लोग 'आपकी कृपा से हमें जीवनदान मिला है'—इस प्रकार वैद्य का बहुत सम्मान करते हैं और उसके प्रति ईर्ष्यावान् भी निश्चित रूप से नीरोग न हुये भी अस्वस्थ भी अपने को झूठे स्वस्थ जैसा मानते हैं—उसी प्रकार ज्ञान के कारण समाश्वस्त शिष्य गुरु के लिये क्या-क्या अनुकूल कार्य नहीं करता और ज्ञान के प्रति अविश्वस्त तो वस्तुतः विश्वास न रखते हुये भी मुझे गुरु से क्या

इत्यर्थः ॥ ८१-८२ ॥

ननु गुरोः शास्त्रीय एव दोषो ग्राह्यो न लौकिक इत्यत्र किं प्रमाणम्?—इत्याशङ्क्याह—

अज्ञानादय एवैते दोषा न लौकिका गुरोः ।
इति ख्यापयितुं प्रोक्तं मालिनीविजयोत्तरे ॥ ८३ ॥
न तस्यान्वेषयेद्वृत्तं शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
स एव तद्विजानाति युक्तं चायुक्तमेव वा ॥ ८४ ॥
अकार्येषु यदा सक्तः प्राणद्रव्यापहारिषु ।
तदा निवारणीयोऽसौ प्रणतेन विपश्चिता ॥ ८५ ॥
विशेषणमकार्याणामुक्ताभिप्रायमेव यत् ।
तेनातिवार्यमाणोऽपि यद्यसौ न निवर्तते ॥ ८६ ॥
तदान्यत्र क्वचिद् गत्वा शिवमेवानुचिन्तयेत् ।

नान्वेषयेदिति—यदुक्तम्—

'प्रपित्सायां समाचारं गुरोरन्वेषयेत यः ।
स सद्गुरुं समासाद्य शीघ्रं शिवमवाप्नुयात् ॥
ऊर्ध्वं तत्पादपतनान्नास्य काञ्चन कालिकाम् ।
गृह्णीयात्सा मलिनयेच्छिष्यस्यैवोज्ज्वलां धियम् ॥' इति ।

लेना-देना है यह मानकर विश्वस्त जैसा रहता है अर्थात् अपने में मिथ्याभिमान रखता है ॥ ८१-८२ ॥

प्रश्न—गुरु का शास्त्रीय ही दोष ग्राह्य है लौकिक नहीं—इसमें क्या प्रमाण है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

गुरु के अज्ञान आदि ही दोष (ग्राह्य) है लौकिक नहीं, यह बतलाने के लिये मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में कहा गया 'उसके उचित या अनुचित व्यवहार की आलोचना नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह (व्यवहार) उचित है या अनुचित इसको वही जानता है । किन्तु (जब) वह प्राणहरण या द्रव्यापहरण आदि अपकार्यों में आसक्त हो तब विद्वान् शिष्य नम्र होकर उसे रोके । चूँकि अपकार्यों का विशेषण उक्त अभिप्राय वाला है इसलिये यदि मना करने पर भी वह (गुरु उस अपकार्य से) विरत नहीं होता तो (शिष्य) कहीं जाकर शिव का ध्यान करे ॥ ८३-८७- ॥

अन्वेषण न करे । जैसा कि कहा गया—

'ज्ञानेच्छा होने पर जो (शिष्य) गुरु का आचार-व्यवहार जानने का प्रयास करता है वह सद्गुरु को प्राप्त कर शीघ्र शिवत्व को प्राप्त होता है । उसको प्रणाम

स एव विजानातीति—तस्यैव शास्त्रपारङ्गत्वात् । उक्ताभिप्रायमिति—प्राणद्रव्यापहारित्वस्य लौकिकत्वात् ॥

ननु यद्येवमसौ कार्याकार्यविवेकं न जानीयात्, तत्

'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥'

इत्यादिदृशा तस्य परित्याग एव क्रियतां, किमन्यत्र गमनेन?—इत्याशङ्क्याह—

न ह्यस्य स गुरुत्वे स्याद्दोषो येनोषरे कृषिम् ॥ ८७ ॥
कुर्याद् व्रजेन्निशायां वा स त्वर्थप्राणहारकः ।
तदीयाप्रियभीरुस्तु परं तादृशमाचरेत् ॥ ८८ ॥
यतस्तदप्रियं नैष श्रृणुयादिति भाषितम् ।

न च एतदस्मच्छास्त्र एवोक्तम्—इत्याह—

श्रीमातङ्गे तदुक्तं च नाधीतं भूमभीतितः ॥ ८९ ॥

करने के अतिरिक्त उसकी किसी भी कालिका (= दोष) का ग्रहण नहीं करना चाहिये क्योंकि वह शिष्य की उज्ज्वल बुद्धि को मलिन कर देती है ।'

वही जानता है—क्योंकि वही शास्त्र में पारङ्गत है । उक्ताभिप्राय वाला—प्राणद्रव्य आदि के अपहरण के लौकिक होने से ॥

प्रश्न—यदि यह इस प्रकार कार्य-अकार्य के भेद को नहीं जानेगा तो—

'घमण्डी, कार्य-अकार्य को न जानने वाले कुमार्गी गुरु को छोड़ देनें का विधान है ।'

इत्यादि नियम के अनुसार उसका परित्याग ही कर दे दूसरे गुरु के पास जाने से क्या लाभ ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसके गुरु होने पर वह दोष नहीं होता जिस कारण (वह) ऊसर में खेती करे या अन्धकार में चले । वह (= गुरु) अर्थ और प्राण का हरण करने वाला होता है । उसके (= गुरु के) अप्रिय से डरने वाला (शिष्य) उस प्रकार का दूसरा आचरण (= शिवानुध्यान आदि) करे जिससे कि यह (= शिष्य) उस प्रकार का अप्रिय न सुने—ऐसा कहा गया है ॥ -८७-८९- ॥

यह हमारे ही शास्त्र में नहीं कहा गया—यह कहते हैं—

मातङ्ग तन्त्र में वैसा कहा गया है । (ग्रन्थ के) विस्तार के भय से यहाँ

भूमभीतित इति—ग्रन्थविस्तरभयात्—इत्यर्थः । तत् ततः स्वयमेव चर्यापादादेरनुसर्तव्यम् ॥ ८९ ॥

ननु यावत्तेनैव नोद्धृत इति किं गुर्वन्तरव्यवच्छेदपरमवधारणम्, उत स्वतो विवेकनिषेधपरमपि ?—इत्याशङ्क्याह—

यच्चैतदुक्तमेतावत्कर्तव्यमिति तद्ध्रुवम् ।
तीव्रशक्तिगृहीतानां स्वयमेव हृदि स्फुरेत् ॥ ९० ॥

यद्येवं, तत्कृतं गुरुणा?—इत्याशङ्क्याह—

उपदेशस्त्वयं मन्दमध्यशक्तेर्निजां क्रमात् ।
शक्तिं ज्वलयितुं प्रोक्तः सा ह्येवं जाज्वलीत्यलम् ॥ ९१ ॥

एतदेव दृष्टान्तयति—

दृढानुरागसुभगसंरम्भाभोगभागिनः ।
स्वोल्लासि स्मरसर्वस्वं दार्ढ्यायान्यत्र दृश्यते ॥ ९२ ॥

अन्यत्रेति—अदृढानुरागे ॥ ९२ ॥

नहीं कहा गया ॥ -८९ ॥

भूमभीतितः = ग्रन्थ विस्तार के भय से । इसलिये स्वयं वहीं से चर्यापाद आदि से समझ लेना चाहिये ॥ ८९ ॥

प्रश्न—'क्योंकि उसी (= गुरु) से (इस शिष्य) का उद्धार नहीं हुआ ।' इस वाक्य में 'एव' का अर्थ क्या दूसरे गुरु का आश्रयण न करना अथवा स्वतः विवेक के द्वारा निषेध करना है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो यह कहा गया कि 'इतना करणीय है' (उसका अर्थ यह है कि) वह (= ज्ञान) तीव्र शक्तिपात वालों के हृदय में निश्चित रूप से स्वयं स्फुरित होता है ॥ ९० ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो क्या गुरु अनावश्यक है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यह (= गुरु का) उपदेश मन्द शक्तिपात या मध्य शक्तिपात वाले (शिष्य) की अपनी शक्ति को प्रज्वलित करने के लिये दिया जाता है क्योंकि इस प्रकार वह (=शक्ति) पूर्ण रूप से प्रज्वलित होती है ॥ ९१ ॥

इसी के लिये दृष्टान्त देते हैं—

दृढ़ अनुराग के कारण सुन्दर आलिङ्गन के विस्तार के भागी व्यक्ति का स्वयं उल्लसित होने वाला स्मरसर्वस्व (= जननेन्द्रिय) अन्यत्र दृढ़ता के लिये देखा जाता है ॥ ९२ ॥

ननु सर्वोऽयमणुवर्गः चित एव परिस्फुरति, सा च सर्वत्रापि अविशिष्टा, तत्कथमिदमसमञ्जसं दृष्टान्तितं यत् कस्यचित् स्वत एव एवंरूपत्वमुल्लसेत्, कस्यचिच्च अन्यत् ?—इत्याशङ्क्याह—

नन्वेष कस्माद् दृष्टान्तः किमेतेनाशुभं कृतम्।
चित्स्पन्दः सर्वगो भिन्नादुपाधेः स तथा तथा॥ ९३ ॥

एतदेवोत्तरयति—किमित्यादिना । ननु किं नामैतेन दृष्टान्तेन असमञ्जसीकृतम् । स हि चित्स्पन्दः सर्वत्र अविशिष्टोऽपि तत्तद्भिन्नोपाधिदौरात्म्यात् तथा तथा विचित्रतामाश्रयेत्—इत्यर्थः ॥ ९३ ॥

तामेव विचित्रतां दर्शयति—

भवेत्कोऽपि तिरोभूतः पुनरुन्मुखितोऽपि सन्।
विनापि दैशिकात्प्राग्वत्स्वयमेव विमुच्यते॥ ९४ ॥

सन्नपीति प्रागपि योज्यम् । प्राग्वदिति—त्रयोदशाह्निकादौ प्रोक्तक्रमेण—इत्यर्थः ॥ ९४ ॥

अन्यत्र = अदृढ़ अनुराग वाले के विषय में ॥ ९२ ॥

प्रश्न—यह समस्त जीववर्ग चित् से ही परिस्फुरित होता है और वह सर्वत्र समान है फिर यह असमञ्जस दृष्टान्त कैसे दिया गया कि किसी को स्वतः इस रूप में उल्लसित होती है और किसी को अन्यरूप से ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रश्न है कि यह दृष्टान्त क्यों दिया गया? (उत्तर है कि) इसने क्या गड़बड़ कर दिया ? सर्वत्र रहने वाला चित् का वह स्पन्द भिन्न-भिन्न उपाधि के कारण उस-उस प्रकार का (= भिन्न-भिन्न) होता है ॥ ९३ ॥

इसी का उत्तर देते हैं—किम् इत्यादि के द्वारा । इस दृष्टान्त ने क्या असमञ्जस कर दिया । वह चित् का स्पन्द सर्वत्र समान होने पर भी उन-उन भिन्न उपाधियों के दोष से उस-उस प्रकार की विचित्रता को प्राप्त होता है ॥ ९३ ॥

उसी विचित्रता को दिखलाते हैं—

कोई (शिष्य प्रमादवश) तिरोभूत होता है फिर (चित्स्पन्द की ओर) उन्मुख होता हुआ बिना आचार्य के पहले की भाँति स्वयं मुक्त हो जाता है ॥ ९४ ॥

सन्नपि—इसे पहले भी जोड़ना चाहिये । पहले की भाँति—तेरहवें आह्निक में कहे गये क्रम से ॥ ९४ ॥

ननु तिरोभूतोऽपि किं सांसिद्धिकज्ञानभाग्भवेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

प्रकारस्त्वेष नात्रोक्त: शक्तिपातबलाद् गत: ।
असंभाव्यतया चात्र दृढकोपप्रसादवत् ॥ ९५ ॥

नहि अयमत्र तिरोभूते सांसिद्धिकलक्षण: प्रकार उक्त:, किन्तु प्रकरणात् संभवमात्राभिप्रायेण प्रदर्शितो यदयं तिरोभूत: शक्तिपातबलात् गतो मन्दमन्दप्राय-शक्तिपातभाक्—इत्यर्थ: । असंभावनीयं चैतत् । यथाहि राजादिना दृढतया कोपपात्रीकृतस्य कस्यचित् विना परोपरोधं समनन्तरमेव तदीय: प्रसादो न भवेत्, तथा अस्यापि विना दैशिकं कथङ्कारं स्वयमेव ज्ञानमाविर्भवेत् । इयता च विषयद्वारेण ज्ञानापहरणमेव विभक्तम् ॥ ९५ ॥

एतच्च गुरोरवश्यं पालनीयम्—इत्याह—

इत्येष यो गुरो: प्रोक्तो विधिस्तं पालयेद् गुरु: ।
अन्यथा न शिवं यायाच्छ्रीमत्सारे च वर्णितम् ॥ ९६ ॥

श्रीत्रिकसारोक्तमेव पठति—

अन्यायं ये प्रकुर्वन्ति शास्त्रार्थं वर्जयन्त्यलम् ।

प्रश्न—तिरोभूत हुआ (व्यक्ति) भी क्या सांसिद्धिक ज्ञानवान् होता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यह प्रकार तो यहाँ नहीं कहा गया किन्तु शक्तिपात के बल से (वह) पहुँचता है । यहाँ (यह) असम्भव है जैसे कि दृढकोप वाले का प्रसन्न होना ॥ ९५ ॥

यहाँ = तिरोभूत (व्यक्ति) के विषय में, सांसिद्धिक लक्षण वाला प्रकार नहीं कहा गया किन्तु प्रकरणवश सम्भावना के अभिप्राय से दिखाया गया कि यह तिरोभृत व्यक्ति शक्तिपात के बल से गत हुआ = मन्द मन्दप्राय शक्तिपात का भागी होता है । किन्तु यह असम्भव है । जैसे राजा आदि के द्वारा दृढ़ कोप का पात्र बने हुये किसी (व्यक्ति) के ऊपर बिना दूसरे के अनुरोध के तत्काल वह (= राजा) प्रसन्न नहीं होता उसी प्रकार इस (= तिरोभूत) को भी बिना आचार्य के कैसे ज्ञान होगा । इस विषय के द्वारा ज्ञानापहरण ही कहा गया ॥ ९५ ॥

गुरु इसका पालन अवश्य करे—यह कहते हैं—

इस प्रकार यह (विधि) जो गुरु के लिये कही गयी है उसका पालन गुरु करे । अन्यथा (वह) शिवभाव को नहीं प्राप्त होगा । त्रिकसार में भी कहा गया है ॥ ९६ ॥

त्रिकसार में कथित (अंश) का पाठ कर रहे हैं—

तेऽर्धनारीशपुरगा गुरवः समयच्युताः ॥ ९७ ॥

अर्धनारीशपुरेति । यदुक्तं तत्र—

'उपरिष्टाद् बिन्दुतत्त्वमीश्वरस्तत्र देवता ।
विधिः समयिनां तत्र कथितस्तव निश्चितम् ॥
तदूर्ध्वे अर्धनारीशो महाभुवनसंकुलः ।
स्कन्दयामलतन्त्रे तु अनन्तः परिकीर्तितः ॥
समयाचारभ्रष्टानामाचार्याणां यशस्विनि ।
निरोधकत्वे संतिष्ठेदित्याज्ञा पारमेश्वरी ॥
अन्यायं ये प्रकुर्वन्ति ग्रन्थार्थं नार्थयन्ति ये ।
तेषां तत्र निवासस्तु अन्यायपथवर्तिनाम् ॥' इति ॥ ९७ ॥

एतच्च न केवलमत्रैवोक्तं यावदागमान्तरेष्वपि—इत्याह—

अन्यत्राप्यधिकारं च नेयाद्विद्येशतां व्रजेत् ।
अन्यत्र समयत्यागात्क्रव्यादत्वं शतं समाः ॥ ९८ ॥

यदुक्तम्—

'अधिकारं न चेत्कुर्याद्विद्येशः स्यात्तनुक्षये ।' इति ।

जो गुरु लोग अन्याय करते हैं और शास्त्र को पूरी तरह छोड़ देते हैं समय से च्युत वे लोग अर्धनारीश्वर के पुर में निवास करते हैं (मुक्त नहीं होते) ॥ ९७ ॥

अर्धनारीशपुर । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'ऊपर बिन्दु तत्त्व है । वहाँ ईश्वर देवता है । वहाँ समयी लोगों की विधि (= आचार) तुमसे निश्चित रूप से कह दी गयी । उसके ऊपर अर्धनारीश्वर का पुर है जो कि बड़े-बड़े भुवनों से व्याप्त है । स्कन्दयामल तन्त्र में (उसे) अनन्त कहा गया है । हे यशस्विनी ! यह समय के आचार से भ्रष्ट आचार्यों का निरोधक है ऐसी परमेश्वर की आज्ञा है । जो अन्याय करते हैं और ग्रन्थ के नियमों का परिपालन नहीं करते, अन्यायपथ में रहने वाले उन लोगों का वहाँ निवास होता है' ॥ ९७ ॥

यह केवल यहीं नहीं बल्कि दूसरे आगमों में भी कहा गया—यह कहते हैं—

अन्यत्र भी कहा गया है कि यदि (गुरु) अधिकार को नहीं प्राप्त करता तो विद्येश्वर बन जाता है । अन्यत्र (यह कहा गया कि) समय का त्याग करने पर (वह गुरु) सौ वर्ष तक मांसभक्षी बना रहता है ॥ ९८ ॥

जैसा कि कहा गया—

तथा

'समयोल्लङ्घनाद्देवि क्रव्यादत्वं शतं समा:।' इति च ॥ ९८ ॥

अत्रैव वाक्यत्रये तात्पर्यतो विषयविभागमाचष्टे—

इयत्तत्रत्यतात्पर्यं सिद्धान्तगुरुरुन्नय:।
भवेत्पिशाचविद्येश: शुद्ध एव तु तान्त्रिक:॥ ९९ ॥
षडर्धदैशिकश्चार्धनारीशभुवनस्थिति: ।

उन्नय इति—उल्लङ्घितसमय:—इत्यर्थ:। एतच्च उत्तरत्रापि योज्यम्। शुद्ध इति—साक्षाद्विद्येशरूप:। तान्त्रिको भैरवीयदर्शनादिनिष्ठ: ॥

अत्रापि विषयविभागमाह—

एषा कर्मप्रधानानां गुरूणां गतिरुच्यते ॥ १०० ॥
ज्ञानिनां चैष नो बन्ध इति सर्वत्र वर्णितम्।

इदानीं साधकत्वमभिधातुं तदभिषेके पूर्वोक्तं विधिमतिदिशति—

साधकस्याभिषेकेऽपि सर्वोऽयं कथ्यते विधि: ॥ १०१ ॥

'यदि अधिकार नहीं करते तो शरीरान्त होने पर विद्येश्वर होते हैं।'

तथा,

'हे देवि ! समयाचार का उल्लघंन करने से (वे गुरु) एक सौ वर्ष तक मांसभक्षी होते हैं' ॥ ९८ ॥

इन्हीं तीनों वाक्यों में तात्पर्य की दृष्टि से विषयविभाग को कहते हैं—

वहाँ का तात्पर्य यह है—सिद्धान्त और गुरु का आचारोल्लङ्घन करने वाला पिशाच विद्येश होता है। तान्त्रिक (भैरवीय दर्शन के नियमों का पालन करने वाला) शुद्ध (विद्येश) होता है। त्रिकाचार्य की अर्धनारीश्वर भुवन में स्थिति होती है ॥ ९९-१००- ॥

उन्नय = उल्लंघितनियम वाला। इसे आगे भी जोड़ना चाहिये। शुद्ध = साक्षात् विद्येशरूप। तान्त्रिक = भैरवीय दर्शन आदि में विश्वस्त ॥

यहाँ भी विषय का विभाग बतलाते हैं—

कर्मप्रधान गुरुओं की यह गति कही जाती है। और ज्ञानियों के लिये ऐसा प्रतिबन्ध नहीं है—ऐसा सर्वत्र कहा गया है ॥ -१००-१०१- ॥

अब साधकत्व को बतलाने के लिये उस (साधक) के अभिषेक में पूर्वोक्तविधि का अतिदेश करते हैं—

[illegible]पि विशेषमाह—

अधिकारार्पणं नात्र न च विद्याव्रतं किल ।
साध्यमन्त्रार्पणं त्वत्र स्वोपयोगिक्रियाक्रमे ॥ १०२ ॥
समस्तेऽप्युपदेशः स्यान्निजोपकरणार्पणम् ।

उपदेश इति । यदुक्तम्—

'अनयोः कथयेज्ज्ञानं त्रिविधं सम्यगप्यलम् ।
स्वकीयाज्ञां ददेद्योगी स्वक्रियाकरणं प्रति ॥' इति ।

निजोपकरण इति ।

यदुक्तम्—

'साधकस्याधिकारार्थमक्षमालादि कल्पयेत् ।
मन्त्रकल्पाक्षसूत्रं च खटिकां छत्रपादुके ॥
उष्णीषरहितं दत्त्वा प्रविश्य शिवसंनिधौ ।
साध्यमन्त्रं ददेत्पश्चात्पुष्पोदकसमन्वितम् ॥' इति ॥

एतदेव प्रथमार्धेनोपसंहरति—

साधक के अभिषेक में भी इन सभी विधियों को बतलाया गया है ॥ -१०१ ॥

इसमें भी विशेष बतलाते हैं—

यहाँ न तो अधिकार का अर्पण है और न विद्याव्रत । यहाँ साध्यमन्त्र का अर्पण है । अपने उपयोगी समस्त क्रियाक्रम में अपने उपकरण का अर्पण और उपदेश होता है ॥ १०२-१०३- ॥

उपदेश—जैसा कि कहा गया—

'योगी इन दोनों (= साधक और शिष्य) को सम्पूर्ण त्रिविध ज्ञान का सम्यक् उपदेश दे । अपने कर्म को करने के लिये अपनी आज्ञा दे ।'

अपने उपकरण (का अर्पण)—

जैसा कि कहा गया—

'साधक के अधिकार के लिये अक्षमाला आदि बनाये । मन्त्र के समान अक्षसूत्र खटिका = चारपायी, छाता, पादुका, बिना उष्णीष (पगड़ी या शिरस्त्राण) के (इन वस्तुओं को) देकर शिव के समीप जाकर बाद में पुष्प एवं जल हाथ में लेकर साध्य मन्त्र का दान करे' ॥

इसी का पूर्वार्द्ध के द्वारा उपसंहार करते हैं—

अभिषेकविधिर्निरूपितः परमेशेन यथा निरूपितः॥ १०३ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके अभिषेकप्रकाशनं नाम त्रयोविंशमाह्निकम् ॥ २३ ॥

इति शिवम् ॥ १०३ ॥

श्रीसद्गुरुसेवारससनातनाभ्यासदुर्ललितवृत्तः ।
आह्निकमेतदमलमतिर्व्याकार्षीज्जयरथस्त्रयोविंशम् ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते अभिषेकप्रकाशनं नाम त्रयोविंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ २३ ॥
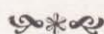
परमेश्वर ने जैसा बतलाया है (मेरे द्वारा वैसी ही) अभिषेक विधि का निरूपण किया गया ॥ १०३ ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के त्रयोविंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २३ ॥

सद्गुरु की सेवारस के सनातन अभ्यास के द्वारा दुर्ललित चरित्र वाले जयरथ ने इस तेईसवें आह्निक की व्याख्या की ॥

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के त्रयोविंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २३ ॥

चतुर्विंशमाह्निकम्
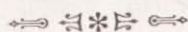
* विवेकः *

य: परमामृतकुम्भे धाम्नि परे योजयेद् गतासुमपि ।
जगदात्मभद्रमूर्तिर्दिशतु शिवं भद्रमूर्तिर्वः ॥ १ ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन अन्त्येष्टिविधिमभिधातुमुपक्रमते—

अथ शाम्भवशासनोदितां सरहस्यां श्रृणुतान्त्यसंस्क्रियाम् ॥ १ ॥

तत्र अधिकारिस्वरूपं तावन्निरूपयति—

सर्वेषामधरस्थानां गुर्वन्तानामपि स्फुटम् ।
शक्तिपातात्पुराप्रोक्तात्कुर्यादन्त्येष्टिदीक्षणम् ॥ २ ॥
ऊर्ध्वशासनगानां च समयोपहतात्मनाम् ।
अन्त्येष्टिदीक्षा कर्तव्या गुरुणा तत्त्ववेदिना ॥ ३ ॥

---

* ज्ञानवती *

जो मृत व्यक्ति को भी परमामृत के भण्डार परमधाम में जोड़ देते हैं, संसार की कल्याणमूर्त्ति वे सुन्दरस्वरूप परमेश्वर आपका कल्याण करें ।

अब द्वितीयार्ध के द्वारा अन्त्येष्टि विधि को बतलाने के लिये उपक्रम करते हैं—

अब शैवशास्त्र में कथित रहस्ययुक्त अन्त्येष्टि विधि को सुनो ॥ १ ॥

उसमें अधिकारी के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

गुरु निम्नकोटि (के शास्त्रों में विश्वास कर) स्थित रहने वाले गुरुपर्यन्त (लोगों) का पहले कहे गये शक्तिपात के कारण अन्त्येष्टि दीक्षा करे ।

अधरस्थानामिति—वैष्णवादीनाम् । शक्तिपातादिति—बन्ध्वादिगाढाभ्यर्थनाद्वारकात् । पुरेति—मृतोद्धारदीक्षायाम् । ऊर्ध्वशासनगानामिति—शैवादीनाम् ॥ ३ ॥

किमत्र प्रमाणम् ?—इत्याशङ्क्याह—

समयाचारदोषेषु प्रमादात्स्खलितस्य हि ।
अन्त्येष्टिदीक्षा कार्येति श्रीदीक्षोत्तरशासने ॥ ४ ॥

अत्रैव इतिकर्तव्यतामाह—

यत्किञ्चित्कथितं पूर्वं मृतोद्धाराभिधे विधौ ।
प्रतिमायां तदेवात्र सर्वं शवतनौ चरेत् ॥ ५ ॥

अत्र च आगमान्तरीयो विशेषः—इत्याह—

श्रीसिद्धातन्त्रकथितो विधिरेष निरूप्यते ।

तमेवाह—

अन्तिमं यद्भवेत्पूर्वं तत्कृत्वान्तिममादिमम् ॥ ६ ॥

तत्त्वज्ञानी गुरु ऊर्ध्वशास्त्रों के अनुयायी किन्तु समय से रहित आत्मा वालों की अन्त्येष्टि दीक्षा करे ॥ २-३ ॥

अधरस्थ = वैष्णव आदि । शक्तिपात के कारण — भाई बन्धुओं आदि की अत्यधिक प्रार्थना के माध्यम से । पहले = मृतोद्धार दीक्षा में । ऊर्ध्वशासनगामी = शैव आदि ॥ ३ ॥

इसमें क्या प्रमाण है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

समय आचार और दोष में प्रमादवश स्खलित व्यक्ति की अन्त्येष्टि दीक्षा की जानी चाहिये—ऐसा दीक्षोत्तर तन्त्र में (कहा गया) है ॥ ४ ॥

इसमें इतिकर्त्तव्यता को कहते हैं—

मृतोद्धारी दीक्षाविधि में पहले जो कुछ कहा गया यहाँ (काष्ठ, मिट्टी, गोमय आदि से निर्मित) शवशरीर की प्रतिमा में उसी सब का आचरण करना चाहिये ॥ ५ ॥

इस विषय में दूसरे आगमों की अपेक्षा विशेष है—यह कहते हैं—

मालिनीविजयोत्तर में कही गयी इस विधि का निरूपण किया जाता है ॥ ६- ॥

अब कहते हैं—

जो अन्तिम है उसको पहला और जो आदिम है उसको अन्तिम रूप

संहृत्यैकैकमिष्टिर्या सान्त्येष्टिर्द्वितयी मता ।
पूजाध्यानजपाप्लुष्टसमये न तु साधके ॥ ७ ॥
पिण्डपातादयं मुक्तः खेचरो वा भवेत्प्रिये ।
आचार्ये तत्त्वसंपन्ने यत्र तत्र मृते सति ॥ ८ ॥
अन्त्येष्टिर्नैव विद्येत शुद्धचेतस्यमूर्धनि ।

इह यन्मन्त्रवर्णादि अन्तिमं तत् पूर्वं, यच्च आदिमं तदन्तिमं कृत्वा एकैकं संहृत्य संहारक्रमेणोच्चार्य येयमिष्टिः, सा अन्तादारभ्य अन्तं यावच्च इष्टिः—इत्यर्थः । सा च समयिपुत्रकयोरेव कार्या—इत्याह—द्वितयी मतेति । अमूर्धनीति—मूर्धशब्दस्य देहोपलक्षकतया तदभिमानशून्ये—इत्यर्थः । अनयोश्च अन्त्येष्ट्यभावे विशेषणद्वारेण हेतूपन्यासः ॥

न केवलं समयलोपोपहतानामेव एषा कार्या, यावदन्येषामपि—इत्याह—

मन्त्रयोगादिभिर्ये च मारिता नरके तु ते ॥ ९ ॥
कार्या तेषामिहान्त्येष्टिर्गुरुणातिकृपालुना ।
न मण्डलादिकं त्वत्र भवेत् श्माशानिके विधौ ॥ १० ॥

से संहार क्रम से (उच्चारण) कर जो एक इष्टि की जाती है वह अन्त्येष्टि दो प्रकार की मानी गयी है । पूजा ध्यान जप के द्वारा समयी (साधक) की वृत्तियों के दग्ध होने पर (अन्त्येष्टि करनी चाहिये) न कि साधना में सम-साधक के विषय में । क्योंकि हे प्रिये ! देहपात होने पर यह मुक्त हो जाता है और यदि मुक्त न हुआ तो खेचर (= आकाशगामी) हो जाता है। तत्त्वज्ञानी आचार्य के जिस किसी स्थिति में मरने पर शुद्धचित्त वाले देहाभिमानशून्य की अन्त्येष्टि नहीं होती ॥ -६-९- ॥

यहाँ जो अन्तिम मन्त्र वर्ण आदि हैं उसे पहले और जो आदिम है उसे अन्तिम बनाकर, एक एक का संहार कर = संहार के क्रम से उच्चारण कर, जो यह इष्टि है वह अन्त से लेकर अन्तपर्यन्त इष्टि होने से अन्त्येष्टि की जाती है । उसे समयी एवं पुत्रक दीक्षा वालों के लिये ही करना चाहिये—यह कहते हैं—दो रूप से मानी गयी है । अमूर्धनि = मूर्धा शब्द के देह का उपलक्षक होने से उसके (= देह के) अभिमान से शून्य के विषय में । इन दोनों (= शुद्धचेता एवं अमूर्धा) के अन्त्येष्टि के न होने में विशेषण के द्वारा 'हेतु' कहा गया ॥

समय के लोप से उपहत लोगों की ही नहीं बल्कि अन्य लोगों की भी यह (= अन्त्येष्टि) की जानी चाहिये—यह कहते हैं—

जो लोग मन्त्र आदि के द्वारा मारे गये होते हैं वे नरक में (स्थित) होते हैं । अत्यन्त कृपालु गुरु यहाँ उनकी अन्त्येष्टि करे । इस

केचित्तदपि कर्तव्यमूचिरे प्रेतसद्मनि ।
पूजयित्वा विभुं सर्वं न्यासं पूर्ववदाचरेत् ॥ ११ ॥
संहारक्रमयोगेन चरणान्मूर्धपश्चिमम् ।
तथैव बोधयेदेनं क्रियाज्ञानसमाधिभिः ॥ १२ ॥

क्रियाद्येव श्रीकुलगह्वरोक्त्या विभज्य दर्शयति—

बिन्दुना रोधयेत्तत्त्वं शक्तिबीजेन वेधयेत् ।
घट्टयेन्नाददेशे तु त्रिशूलेन तु ताडयेत् ॥ १३ ॥
सुषुम्नान्तर्गतेनैव विसर्गेण पुनः पुनः ।
ताडयेत कलाः सर्वाः कम्पतेऽसौ ततः पशुः ॥ १४ ॥
उत्क्षिपेद्वामहस्तं वा ततस्तं योजयेत्परे ।
प्रत्ययेन विना मोक्षो ह्यश्रद्धेयो विमोहितैः ॥ १५ ॥
तदर्थमेतदुदितं न तु मोक्षोपयोग्यदः ।
इत्यूचे परमेशः श्रीकुलगह्वरशासने ॥ १६ ॥

इह खलु आचार्यो बिन्दुना प्राणेन महाजालयोगक्रमेण आकृष्टं पाशवं तत्त्वमात्मानं स्वाभेदेन हृदि रोधयेत, तदनु मध्यधामानुप्रवेशेन तत एव प्रभृति ऊर्ध्वोर्ध्वाक्रमणतया शक्तिबीजेन अमृतार्णेन अनुविद्धं विदध्यात्, नाददेशे तदनु

श्मशानसम्बन्धी विधि में मण्डल आदि नहीं होता । कुछ आचार्यों ने उस (मण्डल आदि) को भी करणीय कहा है । प्रेतगृह में परमेश्वर की पूजा कर (अन्य) समस्त न्यास को पूर्ववत् करे । संहारक्रम के योग से पैर से लेकर शिर पर्यन्त इसका उसी प्रकार क्रिया ज्ञान समाधि के द्वारा उद्बोधन करे ॥ -९-१२ ॥

कुलगह्वर शास्त्र के अनुसार क्रिया आदि को विभक्त कर दिखलाते हैं—

बिन्दु के द्वारा प्राणतत्त्व का रोधन करे फिर शक्तिबीज (= वं) से बिद्ध करे । नाद देश में उसका सङ्घट्टन तथा त्रिशूल से ताडन करे । सुषुम्ना के अन्तर्गत विसर्ग के द्वारा बार-बार समस्त कलाओं का ताड़न करे । उसके कारण जीव या तो कांपने लगता है या बायें हाथ को ऊपर उठाता है । इसके बार उसे (= जीव को) परतत्त्व में जोड़ना चाहिये । मूढ लोग बिना विश्वास (उत्पन्न करायें) मोक्ष में विश्वास नहीं करते इसीलिये यह कहा गया न कि यह (अनुष्ठान) मोक्षोपयोगी हैं—ऐसा परमेश्वर ने कुलगह्वर शास्त्र में कहा है ॥ १३-१६ ॥

आचार्य बिन्दु = प्राण, के द्वारा महाजालयोग के क्रम से आकृष्ट पाशव तत्त्व को = आत्मा को, अपने से अभिन्न बनाकर हृदय में रोक ले । इसके बाद

घट्टयेत् रौद्रग्रन्थिविभेदनेन स्पन्दं ग्राहयेत्, ततोऽपि त्रिशूलबीजेन ब्रह्मरंध्रान्तमास्फालयेत्, तदनु परिपूर्णं चान्द्रमसं रूपमुद्वहता सर्वातीतदशाधिशायिना विसर्गेण

'पुरुषे षोडशकले............................ ।'

इत्याद्युक्त्या सर्वा: षोडशापि कला: पुन: पुनस्ताडयेत—स्वाविभेदेन आक्रमेत । येनासौ उद्धार्यपशु: कम्पते, वामं वा हस्तमुत्क्षिपेत् । तत: प्रत्ययोत्पादानन्तरं परे योजयेत् पूर्णसंविदात्मनि अस्य योजनिकां कुर्यात्—इत्यर्थ: ॥ १६ ॥

यदि नाम अस्य प्रत्ययस्य एकान्तो मोक्षोपयोगित्वं नास्ति, तत् किमेतेन ?—इत्याशङ्क्याह—

साध्योऽनुमेयो मोक्षादि: प्रत्ययैर्यदतीन्द्रिय: ।

अत्राप्यस्ति शास्त्रान्तरीयो विशेष:—इत्याह—

दीक्षोत्तरे च पुर्यष्टवर्गार्पणमिहोदितम् ॥ १७ ॥

तदेवाह—

सुषुम्णा में प्रवेश के द्वारा वहीं से ऊपर-ऊपर आक्रमण करते हुये शक्तिबीज = अमृत वर्ण (वं) के द्वारा उसे अनुविद्ध करे । उसके बाद नाददेश में सङ्घट्टन करे = रौद्रग्रन्थि के भेदन के द्वारा स्पन्द का ग्रहण कराये । फिर त्रिशूल बीज (सम्भवत: औं) के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त उच्छलन कराये । फिर पूर्ण चन्द्रमा का रूप उद्वहन करने वाले सर्वातीत दशा को प्राप्त विसर्ग के द्वारा

'षोडश कला वाले पुरुष में............. ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार सभी सोलहों कलाओं का पुन: पुन: ताडन करे = अपने से अभिन्न बनाये । जिससे यह उद्धार्य पशु काँपने लगता है या बायाँ हाथ ऊपर उठाता है । फिर विश्वास उत्पन्न होने के बाद इसे परतत्त्व में जोड़े = पूर्ण संविदात्मा में इसकी योजनिका दीक्षा करे ॥ १६ ॥

यदि इस प्रत्यय का उपयोग पूर्णरूपेण मोक्ष के लिये नहीं है तो फिर इससे क्या लाभ ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो अतीन्द्रिय मोक्ष आदि अनुमान से जाने जाते हैं वे प्रत्यय (= श्रद्धा विश्वास) के द्वारा ही सिद्ध किये जाते हैं ॥ १७- ॥

इसमें भी दूसरे शास्त्रों से अन्तर है—यह कहते हैं—

दीक्षोत्तर तन्त्र में इस विषय में पुर्यष्ट वर्ग का अर्पण कहा गया है ॥ -१७ ॥

तद्विधिः श्रुतिपत्रेऽब्जे मध्ये देवं सदाशिवम् ।
ईशरुद्रहरिब्रह्मचतुष्कं प्राग्दिगादितः ॥ १८ ॥
पूजयित्वा श्रुतिस्पर्शौ रसं गन्धं वपुर्द्वयम् ।
ध्यहंकृती मनश्चेति ब्रह्मादिष्वर्पयेत्क्रमात् ॥ १९ ॥
एतेषां तर्पणं कृत्वा शतहोमेन दैशिकः ।
एषा सांन्यासिकी दीक्षा पुर्यष्टकविशोधनी ॥ २० ॥

वपुरिति = रूपम्, ब्रह्मादिषु क्रमादिषु क्रमादर्पयेदिति ।

तदुक्तम्—

'कलाशुद्ध्यवसाने तु ब्रह्माणं कारणाधिपम् ।
स्वनामप्रणवाह्वानपूर्वं संतर्प्य चार्पयेत् ॥
शब्दस्पर्शौ त्यजेदस्मिन्...................... ।' इति
'रसं पुर्यष्टकांशं तु अर्पयेद्विष्णवे सदा ।' इति
'प्रणवादि ततो रुद्रमावाह्यास्थाप्य पूजयेत् ।
ततोऽस्य विन्यसेद्देवि गन्धरूपे ध्रुवाहुतेः ॥' इति
'स्वनाम्ना प्रणवाद्येन ईशमावाह्य पूजयेत् ।

उसी (= अर्पण) को कहते हैं—

उसकी विधि—चतुर्दल कमल (= मूलाधार चक्र) के मध्य में देव सदाशिव और पूर्व आदि दिशाओं में क्रमशः ईश्वर रुद्र विष्णु और ब्रह्मा का पूजन कर शब्द स्पर्श, रस गन्ध रूप इन दो और को तथा बुद्धि अहङ्कार और मन को क्रमशः ब्रह्मा आदि के लिये अर्पित कर दे (= ब्रह्मा को शब्द स्पर्श, विष्णु को रस, रुद्र को गन्ध और रूप, ईश्वर को बुद्धि तथा अहंकार और सदाशिव को मन का अर्पण करे । ये ब्रह्मा आदि पञ्चकारण कहे जाते हैं तथा मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और शाकिनी में स्थित रहते हैं)। गुरु एक सौ होम से इनका तर्पण करे । यह पुर्यष्टक को शुद्ध करने वाली संन्यास वाली दीक्षा है ॥ १८-२० ॥

वपु = रूप । ब्रह्मा आदि में क्रमशः अर्पित करे । वही कहा गया—

'कलाशुद्धि के बाद कारण के स्वामी ब्रह्मा का, अपना नाम एवं प्रणव के साथ आवाहन कर तर्पण कर अर्पण करे तथा इसमें शब्द और स्पर्श का त्याग करे ।'

'रस जो कि पुर्यष्टक का अंश है, विष्णु के लिये अर्पित करे । फिर रुद्र का प्रणव आदि के साथ आवाहन स्थापन और पूजन कर ध्रुव आहुति वाले इनके लिये गन्ध एवं रूप को अर्पित करे ।'

संपूज्य हुत्वा संतर्प्य बुद्ध्यहंकृतिद्व्यंशकम् ॥
सदाशिवमथावाह्य मूलमन्त्रं समुच्चरन् ।
मनः पुर्यष्टकांशं तु विन्यसेत्कारणेश्वरे ॥' इति च ॥ २० ॥

एवमस्य संस्कारमभिधाय, तत्प्रयोजनमाह—

पुर्यष्टकस्याभावे च न स्वर्गनरकादयः ।
तथा कृत्वा न कर्तव्यं लौकिकं किञ्चनापि हि ॥ २१ ॥
उक्तं श्रीमाधवकुले शासनस्थो मृतेष्वपि ।
पिण्डपातोदकास्रवादि लौकिकं परिवर्जयेत् ॥ २२ ॥

चो हेतौ । तथेति—उक्तेन प्रकारेण ॥ २२ ॥

स्वशास्त्रविहितं कार्यमेव—इत्याह—

शिवं संपूज्य चक्रार्चां यथाशक्ति समाचरेत् ।
क्रमात्त्रिदशमत्रिंशत्त्रिंशवत्सरवासरे ॥ २३ ॥

त्रीति—प्रथमचतुर्थयोरुपलक्षणम्, दशमेति—एकादशस्यापि ॥ २३ ॥

एतदेव प्रथमार्धेनोपसंहरति—

इसी प्रकार—प्रणवयुक्त अपने नाम से ईश्वर का आवाहन पूजन करे ।

'पूजन हवन तर्पण कर बुद्धि अहङ्कार (पुर्यष्टक के इन) दो अंशों का (ईश्वर को अर्पण करे) । फिर सदाशिव का आवाहन कर मूल मन्त्र का उच्चारण करते हुये इस कारणरूप ईश्वर में मन रूप पुर्यष्टकांश का त्याग करे' ॥ २० ॥

इस (= पुर्यष्टक) के संस्कार को बतलाकर उसका प्रयोजन बतलाते हैं—

क्योंकि पुर्यष्टक के अभाव में स्वर्ग नरक आदि नहीं होते । उस प्रकार (का संस्कार करने के बाद लौकिक कुछ भी नहीं करना चाहिये । माधवकुल तन्त्र में कहा गया है कि शैवशास्त्र का अनुयायी मृतजनों के लिये भी पिण्डदान जलतर्पण आदि लौकिक कार्य न करे ॥ २१-२२ ॥

'च' (का प्रयोग) हेतु अर्थ में है । तथा = उक्त प्रकार से ॥ २२ ॥

किन्तु अपने शास्त्र से विहित कर्म को करना ही चाहिये—यह कहते हैं—

आचार्य शिव की पूजा कर यथाशक्ति क्रमशः मृत्यु के तीसरे दशवें दिन कर के फिर यथा सम्भव तीसवें तीसवें तथा वर्ष के दिन चक्रपूजा करे ॥ २३ ॥

तीन—यह प्रथम चतुर्थ का उपलक्षण है । दशम—यह एकादश का भी (उपलक्षण है) ॥ २३ ॥

इत्युक्तोऽन्त्येष्टियागोऽयं परमेश्वरभाषितः ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके अन्त्येष्टिप्रकाशनं नाम चतुर्विंशमाह्निकम् ॥ २४ ॥

इति शिवम् ॥ २४ ॥

दीक्षावैचक्षण्यप्रथितजयो जयरथाभिख्यः ।
आह्निकमेतच्चतुरं कृतविवृति व्यरचयच्चतुर्विंशम् ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते अन्त्येष्टिप्रकाशनं नाम चतुर्विंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ २४ ॥
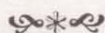
इसी का पूर्वार्द्ध के द्वारा उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार परमेश्वर के द्वारा कथित यह अन्त्येष्टि याग कहा गया ॥ २४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के चतुर्विंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २४ ॥

दीक्षा की कुशलता के कारण विजय पाने वाले जयरथ ने चतुरव्याख्यासम्पन्न चौबीसवें आह्निक की रचना की ॥

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के चतुर्विंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २४ ॥

पञ्चविंशमाह्निकम्
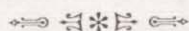
* विवेकः *

भीममधिष्ठाय वपुर्भवमभितो भावयन्निव यः ।
प्रभवति हृदि भक्तिमतां शिवप्रदोऽसौ शिवोऽस्तु सताम् ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन श्राद्धविधिमभिधातुमाह—

अथ श्राद्धविधिः श्रीमत्षडर्धोक्तो निगद्यते ॥ १ ॥

ननु त्रिकदर्शने कुत्र नाम असौ श्राद्धविधिरुक्तः ?—इत्याशङ्क्याह—

सिद्धातन्त्रे सूचितोऽसौ मूर्तियागनिरूपणे ।

सूचित इति—न तु साक्षात् स्वकण्ठेनोक्तः । यदुक्तम्—तत्र

---

* ज्ञानवती *

जो भयङ्कर शरीर धारण कर मानों संसार को प्रभावित (अथवा उत्पन्न) करते हुये भक्तों के हृदय में प्रकट होते हैं, सज्जनों को (कल्याण देने वाले) वह शिव (आपके लिये) शिवप्रद हों ।

अब उत्तरार्ध के द्वारा श्राद्धविधि को कहते हैं—

अब त्रिकशास्त्र में उक्त श्राद्धविधि कही जाती है ॥ १ ॥

प्रश्न—त्रिकदर्शन में यह श्राद्धविधि कहाँ कही गयी है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में यह मूर्त्तियागनिरूपण में सङ्केतित की गयी है ॥ २- ॥

'मृतकस्य गृहे वाथ कर्तव्यं वीरभोजनम् ।' इति
'श्राद्धपक्षे तु दातव्यम्...................... ।' इति च ॥

कस्य कदा कैश्चायं कार्यः ?—इत्याशङ्क्याह—

अन्त्येष्ट्या सुविशुद्धानामशुद्धानां च तद्विधिः ॥ २ ॥
त्र्यहे तुर्येऽह्नि दशमे मासि मास्याद्यवत्सरे ।
वर्षे वर्षे सर्वकालं कार्यस्तत्स्वैः स पूर्ववत् ॥ ३ ॥
तत्र प्राग्वद्यजेद्देवं होमयेदनले तथा ।

अशुद्धानामिति—अन्त्येष्ट्यैव, न तु दीक्षादिना । तत्स्वैरिति—तस्य आत्मीयैः शिष्यपुत्रादिभिः—इत्यर्थः । स इति—श्राद्धविधिः ॥

अत्रैव विधिविशेषमाह—

ततो नैवेद्यमेव प्राग्गृहीत्वा हस्तगोचरे ॥ ४ ॥
गुरुरन्नमयीं शक्तिं वृंहिकां वीर्यरूपिणीम् ।
ध्यात्वा तया समाविष्टं तं साध्यं चिन्तयेत्सुधीः ॥ ५ ॥
ततोऽस्य यः पाशवोंऽशो भोग्यरूपस्तमर्पयेत् ।
भोक्तर्येकात्मभावेन शिष्य इत्थं शिवीभवेत् ॥ ६ ॥

सूचित की गयी है—न कि साक्षात् कण्ठ से कही गयी । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'अथवा मृतक के घर वीरभोजन कराना चाहिये ।' और 'श्राद्धपक्ष में (दान) देना चाहिये...' ॥ १ ॥

यह (विधि) कब किसकी और किन लोगों के द्वारा की जानी चाहिये?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अन्त्येष्टि के द्वारा विशुद्ध और अशुद्ध (लोगों) के लिये वह विधि तीसरे चौथे दशवें महीने वर्ष के पहले महीने हर वर्ष सब समय उसके आत्मीयों के द्वारा की जानी चाहिये और वह भी पहले की भाँति । इसमे पहले की भाँति देव (= सदाशिव) का पूजन करे तथा अग्नि में हवन करे ॥ -२-४- ॥

अशुद्धों का—अन्त्येष्टि के ही द्वारा न कि दीक्षा आदि के द्वारा । तत्स्वैः = उसके आत्मीय शिष्य पुत्र आदि के द्वारा । वह = श्राद्धविधि ॥

इसी में विशेष विधि को कहते हैं—

इसके बाद बुद्धिमान् गुरु पहले हाथ में नैवेद्य लेकर अन्नमयी वीर्यरूपिणी वर्धन करने वाली शक्ति का ध्यान कर उस साध्य को उस

तया समाविष्टमिति—तदेकमयतामापन्नम्—इत्यर्थः । तमिति—भोग्यरूपं पाशवमंशम् । इत्थमिति—पाशवरूपतापरित्यागात् भोक्त्रैकात्म्यापत्त्या—इत्यर्थः ॥ ६ ॥

एतदेव विभज्य दर्शयति—

भोग्यतान्या तनुर्देह इति पाशात्मका मताः ।
श्राद्धे मृतोद्धृतावन्तयागे तेषां शिवीकृतिः ॥ ७ ॥

अन्येति—वेद्यरूपतया भोक्तुरतिरिक्तेत्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु दीक्षितः पिण्डपातादूर्ध्वं स्वरसत एव शिवीभवेदिति अस्य किमन्त्येष्ट्यादिभिः, तत्रापि समयलोपनिवृत्त्यर्थमेक एवास्तु विधिः, किमेभिर्बहुभिः ?—इत्याशङ्क्याह—

एकेनैव विधानेन यद्यपि स्यात्कृतार्थता ।
तथापि तन्मयीभावसिद्ध्यै सर्वं विधिं चरेत् ॥ ८ ॥

चरेदिति—मुमुक्षोः ॥ ८ ॥

(शक्ति) से समाविष्ट हुआ (उसका) चिन्तन करे । उसके बाद इस (= साध्य) का जो पशुसम्बन्धी भोग्य अंश है उसे (देवता को) अर्पित करे । इस प्रकार (मृत शिष्य का) भोक्ता में एकात्म होने से शिष्य शिव हो जाता है ॥ -४-६ ॥

उसके द्वारा समाविष्ट = उससे एकरूप हुआ । उसको = भोग्यरूप पाशवीय अंश को । इस प्रकार = पाशवरूपता के परित्याग के कारण भोक्ता के साथ ऐकात्म्य हो जाने से ॥ ६ ॥

इसी को अलग करके दिखलाते हैं—

(भोक्ता से) भिन्न भोग्यता (= वेद्यरूप विषय) और (भोक्ता का) तनु अर्थात् शरीर ये पाशात्मक माने गये हैं । श्राद्ध, मृतोद्धारी दीक्षा एवं अन्त्येष्टि याग इन सब में उनका शिवीकरण हो जाता है ॥ ७ ॥

अन्या—वेद्यरूपा होने से, अर्थात् भोक्ता से भिन्न ॥ ७ ॥

प्रश्न—दीक्षाप्राप्त व्यक्ति देहपात के बाद स्वयं शिव हो जाता है फिर इसकी अन्त्येष्टि आदि से क्या लाभ ? उसमें भी समयलोप से बचाने के लिये एक ही विधि पर्याप्त है इन अनेक विधियों से क्या लाभ ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यद्यपि एक ही विधि से कार्य सम्पन्न हो जाता है तो भी (मुमुक्षु) के शिवमयी भाव की सिद्धि के लिये सभी विधियों का अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ८ ॥

बुभुक्षोस्तु क्रियाभ्यासभूमानौ फलभूमनि ।
हेतू ततो मृतोद्धारश्राद्धाद्यस्मै समाचरेत् ॥ ९ ॥

उक्तं च—

'दीक्षाज्ञानविशुद्धानामन्त्येष्ट्याप्यमलात्मनाम् ।
तथापि कार्यमीशोक्तं श्राद्धं वै विधिपूरणम् ॥' इति ।

अनेन च श्राद्धादेः प्रयोजनमुक्तम् ॥ ९ ॥

ज्ञानिनस्तु एतत्र किञ्चिदपि उपादेयम्—इत्याह—

तत्त्वज्ञानार्कविध्वस्तध्वान्तस्य तु न कोऽप्ययम् ।
अन्त्येष्टिश्राद्धविध्यादिरुपयोगी कदाचन ॥ १० ॥

ननु अयमाचारो दृश्यते यज्ज्ञानिनामपि मृतिदिनादौ महाजनाश्चक्रार्चादि प्रकुर्वन्ति, तत्किमेतदुक्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

तेषां तु गुरु तद्वर्गवर्ग्यसब्रह्मचारिणाम् ।
तत्सन्तानजुषामैक्यदिनं पर्वदिनं भवेत् ॥ ११ ॥

करना चाहिए—मुमुक्षु के ॥ ८ ॥

और भोगेच्छु के फलाधिक्य में क्रिया और अभ्यास की अधिकता कारण है इसकारण इसके लिये मृतोद्धारी दीक्षा और श्राद्ध आदि करना चाहिये ॥ ९ ॥

कहा भी गया है—

'(यद्यपि कोई व्यक्ति) दीक्षा और ज्ञान आदि के कारण विशुद्ध तथा अन्त्येष्टि याग के कारण निर्मल चित्तवाले हो गये हों तो भी (उनके लिये) परमेश्वर के द्वारा उक्त विधिपूरक श्राद्ध करना चाहिये ।'

इस (वचन) से श्राद्ध आदि का प्रयोजन कहा गया है ॥ ९ ॥

लेकिन ज्ञानी के लिये यह कुछ भी आवश्यक नहीं है—यह कहते हैं—

तत्त्वज्ञान रूपी सूर्य की किरणों से नष्टअन्धकार (= अज्ञान) वाले (शिष्य) के लिये कोई भी अन्त्येष्टि श्राद्ध विधि आदि कभी भी उपयोगी नहीं है ॥ १० ॥

प्रश्न—यह आचार देखा जाता है कि ज्ञानी लोगों के भी मृत्यु के दिन आदि में **महापुरुष लोग चक्रपूजा आदि करते हैं** फिर यह कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उनके वर्ग वाले तथा वर्ग वालों के वर्ग वाले ब्रह्मचारी अथवा उनकी

गुर्विति—पर्वदिनविशेषणम् । तद्वर्गः—पत्नीपुत्रादिः । वर्ग्यः—पुत्रादीनामपि पुत्रादिः । ऐक्यदिनमिति—परमेशेन सायुज्यात् मृतिदिनम् ॥ ११ ॥

पर्वशब्दस्य अत्र प्रवृत्तौ निमित्तमाह—

यदा हि बोधस्योद्रेकस्तदा पर्वाह पूरणात् ।

आहेति—परमेश्वरः, तेन बोधं पूरयतीति पर्वेति ॥

अतश्च ऐक्यदिनवत् तदीयं जन्मदिनमपि तत्सन्तानजुषां पर्व एव—इत्याह—

जन्मैक्यदिवसौ तेन पर्वणी बोधसिद्धितः ॥ १२ ॥

अत्रैव विशेषमाह—

पुत्रकोऽपि यदा कस्मैचन स्यादुपकारकः ।
तदा मातुः पितुः शक्तेर्वामदक्षान्तरालगाः ॥ १३ ॥
नाडीः प्रवाहयेद्देवायार्पयेत निवेदितम् ।

परम्परा वालों के साथ एकता का दिन गुरु (= बहुत बड़े) पर्व का दिन होता है ॥ ११ ॥

गुरु—यह (शब्द) पर्वदिन का विशेषण है । उनका वर्ग = पत्नी पुत्र आदि । वर्ग्य = पुत्र आदि के भी पुत्र आदि । ऐक्यदिन—परमेश्वर के साथ सायुज्य होने के कारण मृत्यु का दिन ॥ ११ ॥

पर्व शब्द का यहाँ प्रवृत्तिनिमित्त बतलाते हैं—

जब ज्ञान का उद्रेक होता है तो पूरण के कारण (उस दिन को) पर्व कहते हैं ॥ १२- ॥

कहते हैं—परमेश्वर । इससे बोध को पूर्ण करता है इसलिये (वह दिन) पर्व (कहलाता) है (पर्वशब्द 'पूर' धातु जिसका अर्थ पूरण करना होता है, से बनता है—पूरयति इति पर्व) ॥

इसलिये मृत्यु के दिन की भाँति उसका जन्म दिन भी उनकी सन्तति के लिये पर्व ही है—यह कहते हैं—

इसलिये बोध के कारण जन्म और ऐक्य (= मृत्यु) के दिन पर्व होते है ॥ -१२ ॥

इसी में विशेष बतलाते हैं—

पुत्र (अथवा शिष्य) भी यदि किसी (माता पिता गुरु गुरुपत्नी) के लिये उपकारक होता है तो (वह) माता एवं पिता की शक्ति की बायें, दायें

अपिशब्दात् न केवलं गुरुः साधको वा । मातुः पितुरिति—गुरोस्तत्पत्न्या अपि ॥

न च एतत्स्वोपज्ञमेवोक्तम्—इत्याह—

श्रीमद्भरुणतन्त्रे च तच्छिवेन निरूपितम् ॥ १४ ॥

नाडीप्रवाहणे च युक्तिमाह—

तद्वाहकालापेक्षा च कार्या तद्रूपसिद्धये ।
स्वाच्छन्द्येनाथ तत्सिद्धिं विधिना भाविना चरेत् ॥ १५ ॥

तासां वामादीनां नाडीनां

'विषुवद्वासरे प्रातर्दक्षा वहति नाडिका ।
सायमन्यान्तरा मध्या योगिनां तु निजेच्छया ॥'

इत्याद्युक्तं स्वारसिकं वाहकालमपेक्ष्य, यद्वा स्वमहिम्नैव वक्ष्यमाणेन विधिना तत्सिद्धिं विधाय नाडीप्रवाहणं कुर्यात्—इति तात्पर्यार्थः ॥ १५ ॥

और अन्दर चलने वाली नाडियों (अर्थात् इडा पिङ्गला और सुषुम्ना) को प्रवाहित करे और नैवेद्य को देवता के लिये अर्पित करे ॥ १३-१४- ॥

आदि शब्द से—न केवल गुरु अथवा साधक । माता पिता = गुरुपत्नी और गुरु की भी ॥

इसे हमने स्वोपज्ञ नहीं कहा है—यह कहते हैं—

श्री भरुणतन्त्र में शिव ने इसका निरूपण किया है ॥ -१४ ॥

नाडी को प्रवाहित करने में उपाय बतलाते हैं—

उस रूप की सिद्धि के लिये उनके प्रवाह के काल की अपेक्षा करनी चाहिये । अथवा वक्ष्यमाण विधि के अनुसार स्वतन्त्ररूप से उसकी (= नाडी प्रवाह की) सिद्धि करनी चाहिये ॥ १५ ॥

उनकी वामा आदि नाडियों की—

'विषुवत् दिन (= रविवार अथवा मेष के सूर्य होने पर) को प्रातःकाल दायीं नाडी प्रवाहित होती है । शाम को दूसरी (= बायीं) और बीच के समय में मध्य (नाड़ी = सुषुम्ना प्रवाहित होती है) । किन्तु योगियों की (नाडी उनकी) अपनी इच्छा से (प्रवाहित होती है) ।'

इत्यादि उक्त स्वाभाविक प्रवाहकाल की अपेक्षा कर अथवा अपनी महिमा से ही वक्ष्यमाण तिथि के अनुसार उसकी सिद्धि कर नाड़ी का प्रवाहण करना चाहिये—यह तात्पर्यार्थ है ॥ १५ ॥

अत्र च समय्यादेः सर्वस्य स्वशास्त्रोक्त एव विधिर्न्याय्यः, न लौकिकः—इत्याह—

यस्य कस्यापि वा श्राद्धे गुरुदेवाग्नितर्पणम् ।
स चक्रेष्टिः भवेच्छ्रौतो न तु स्यात्पाशवो विधिः ॥ १६ ॥

श्रौतविध्यभावे पाशवत्वं हेतुः ॥ १६ ॥

एवमपि अत्र साधकं बाधकं च प्रमाणं दर्शयितुमाह—

श्रीमौकुटे तथा चोक्तं शिवशास्त्रे स्थितोऽपि यः ।
प्रत्येति वैदिके भग्नघण्टावन्न स किञ्चन ॥ १७ ॥
तथोक्तदेवपूजादिचक्रयागान्तकर्मणा ।
रुद्रत्वमेत्यसौ जन्तुर्भोगान्दिव्यान्समश्नुते ॥ १८ ॥

भग्नघण्टावदिति—भग्ना हि घण्टा न स्वं कार्यं कुर्यात्, नापि लौहमित्युभय-भ्रष्टतामेव आसादयेत्—इत्यर्थः । अ.: एवोक्तम्—न स किञ्चनेति ॥ १८ ॥

भाविना विधिनेति यदुक्तं तदेव दर्शयति—

इस विषय में समयी आदि सबके लिये शास्त्रोक्तविधि ही उचित है लौन्किक नहीं—यह कहते हैं—

जिस किसी के श्राद्ध में चक्रपूजा के सहित गुरु देवता अग्नि का तर्पण अपने शास्त्र के अनुसार ही होता है पाशवविधि (= लोक के अनुसार विधान) नहीं होता ॥ १६ ॥

श्रौत विधि के व्यवहार के अभाव में पाशव भाव ही कारण है ॥ १६ ॥

फिर भी इस विषय में साधकबाधकप्रमाण दिखलाने के लिये कहते हैं—

श्री मौकुट शास्त्र में कहा गया—शैवशास्त्र को मानने वाला भी जो (व्यक्ति) वैदिक (विधि) में विश्वास करता है वह टूटी हुयी घण्टा के समान किसी लायक नहीं होता । इसलिये यह जीव उक्तदेवपूजा से लेकर चक्रपूजा पर्यन्त वाले कर्म के द्वारा रुद्रत्व को प्राप्त होता है और दिव्य भोगों को भोगता है (किन्तु शिवसायुज्य को प्राप्त नहीं होता) ॥ १७-१८॥

भग्नघण्टा की भाँति—टूटी घण्टा न तो अपना कार्य (ध्वनि) करती है और न लोहे (से बने मुद्गर जिससे घण्टा बजता है) का ही कार्य (जब घण्टा फूट गयी तो उसे बजाने वाला मुद्गर भी बेकार हो गया), इस प्रकार यह दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाती है । इसीलिये कहा गया—वह कुछ नहीं है ॥ १८ ॥

भावी विधि के अनुसार ऐसा जो कहा गया उसी को दिखलाते हैं—

अथ वच्मः स्फुटं श्रीमत्सिद्धये नाडिचारणम् ।

श्रीसिद्धयोगीश्वरीमतोक्तमेव ग्रन्थमर्थद्वारेण पठति—

या वाहयितुमिष्येत नाडी तामेव भावयेत् ॥ १९ ॥
भावनातन्मयीभावे सा नाडी वहति स्फुटम् ।
यद्वा वाहयितुं येष्टा तदङ्गं तेन पाणिना ॥ २० ॥
आपीड्य कुक्षिं नमयेत्सा वहेन्नाडिका क्षणात् ।

येति—मात्राद्युद्देशानुसारं वामाद्यन्यतमा । भावयेदिति—वहन्तीम् । यद्वेति—अयोगिविषयतया ॥

एवं नाडीविधिमभिधाय, श्राद्धस्य भोगमोक्षदानहेतुत्वमस्ति—इत्याह—

एवं श्राद्धमुखेनापि भोगमोक्षोभयस्थितिम् ॥ २१ ॥
कुर्यादिति शिवेनोक्तं तत्र तत्र कृपालुना ।

ननु दीक्षैव भोगमोक्षसाधिकेत्युक्तं तत् कथं श्राद्धाद्यात्मनः चर्यामात्रादपि एतत्स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

अब उत्कृष्ट सिद्धि (अथवा आपकी सिद्धि) के लिये नाडी प्रवाह को स्पष्ट रूप से कर रहे हैं ॥ १९- ॥

मालिनीविजयोक्त ग्रन्थ को अर्थ के द्वारा पढ़ते हैं—

(साधक) जिस नाडी को प्रवाहित करना चाहता है उसी की भावना करनी चाहिये । भावना के द्वारा तन्मय होने पर वह नाडी स्पष्ट रूप से प्रवाहित होने लगती है । अथवा जिस नाड़ी को प्रवाहित करना अभीष्ट हो उस अङ्ग को उसी हाथ से दबा कर कुक्षि को आगे की ओर झुकायें । एक क्षण में वह नाडी वहेगी ॥ -१९-२१- ॥

जो—माता आदि के उद्देश्य के अनुसार वामा आदि में से कोई एक (माता या मातृसदृश स्त्रियों के वामा = इडा, पिता या पितृतुल्य पुरुषों के लिये पिंगला को चलाना चाहिये)। भावना करे—बहती हुयी । अथवा—योगी का विषय न होने से ॥

नाड़ीविधि का कथन कर श्राद्ध की भोग और मोक्ष देने की कारणता को कहते हैं—

इस प्रकार श्राद्ध के द्वारा भी भोग-मोक्ष दोनों की स्थिति करे—ऐसा कृपालु शिव ने स्थान-स्थान पर कहा है ॥ -२१-२२- ॥

प्रश्न—दीक्षा ही भोग-मोक्ष को देने वाली है—ऐसा कहा गया तो केवल श्राद्ध आदि रूप चर्या से भी यह (= भोग मोक्ष) कैसे हो जायेगा—यह शङ्का कर कहते

शक्तिपातोदये जन्तोर्येनोपायेन दैशिकः ॥ २२ ॥
करोत्युद्धरणं तत्तन्निर्वाणायास्य कल्पते ।

एतदेव उपपादयति—

उद्धर्ता देवदेवो हि स चाचिन्त्यप्रभावकः ॥ २३ ॥
उपायं गुरुदीक्षादिद्वारमात्रेण संश्रयेत् ।

न च इयमस्मदुपज्ञैव युक्तिः अपितु आगमोऽप्येवम्—इत्याह—

उक्तं श्रीमन्मतङ्गाख्ये मुनिप्रश्नादनन्तरम् ॥ २४ ॥

तत्र मुनिप्रश्नमेव तावदाह—

मुक्तिर्विवेकात्तत्त्वानां दीक्षातो योगतो यदि ।
चर्यामात्रात्कथं सा स्यादित्यतः सममुत्तरम् ॥ २५ ॥
प्रहस्योचे विभुः कस्माद् भ्रान्तिस्ते परमेशितुः ।
सर्वानुग्राहकत्वं हि संसिद्धं दृश्यतां किल ॥ २६ ॥

तदुक्तं तत्र—

'मुक्तिर्विवेकात्तत्त्वानां क्ष्मादीनां प्रविचारतः ।

हैं—

शक्तिपात हो जाने पर आचार्य जिस उपाय से जीव का उद्धार करते हैं उसके निर्वाण के लिये वह (उपाय) समर्थ होता है ॥ -२२-२३- ॥

उसी को पुष्ट करते हैं—

क्योंकि उद्धार करने वाले देवाधिदेव अचिन्त्यप्रभाव वाले हैं (वे) गुरु दीक्षा आदि उपाय को केवल साधन बनाते हैं ॥ -२३-२४- ॥

यह उक्ति हमारी उपज्ञ ही नहीं है बल्कि आगम भी ऐसा है—यह कहते हैं—

मतङ्ग शास्त्र में मुनि के प्रश्न के बाद कहा गया है ॥ -२४ ॥

मतङ्गमुनि के प्रश्न को ही कहते हैं—

यदि तत्त्वों के भेदज्ञान दीक्षा और योग से मुक्ति होती है तो वह केवल चर्या से कैसे होगी ?—इसके बाद परमेश्वर ने हंस कर अनुकूल उत्तर दिया—तुम्हें यह भ्रम क्यों हो रहा है । परमेश्वर का अनुग्राहक होना स्वाभाविक समझो ॥ २५-२६ ॥

वही वहाँ कहा गया—

'मुक्ति पृथिवी आदि तत्त्वों के विवेकात्मक विचार से होती है । इस विचार की

दीक्षातोऽन्या सुनिर्णीता क्रियापादकृतास्पदा ॥
योगपादोत्थिता सिद्धा तृतीया सापि शस्यते।
चर्यामात्रेण संसिद्धा चतुर्थी सा कथं भवेत् ॥
प्रपत्तव्या शिवज्ञाने छिन्द्ध्यज्ञानांकुरं मम।' इति ।

अत इति—प्रश्नानन्तरम् । सममिति—अनुगुणम् । दृश्यतामिति—नात्र कस्यचिद्विप्रतिपत्तिः—इत्यर्थः ॥ २६ ॥

एतदेव दृष्टान्तोपदर्शनेनोपपादयति—

प्राप्तमृत्योर्विषव्याधिशस्त्रादि किल कारणम् ।
अल्पं वा बहु वा तद्वदनुध्या मुक्तिकारणम् ॥ २७ ॥
मुक्त्यर्थमुपचर्यन्ते बाह्यलिङ्गान्यमूनि तु ।
इति ज्ञात्वा न सन्देह इत्थं कार्यो विपश्चिता ॥ २८ ॥
इयतैव कथं मुक्तिरिति भक्तिं परां श्रयेत् ॥

यथाहि आसन्नमरणस्य मृत्यौ विषादि अल्पं वा बहु वा कारणं साक्षादेतन्न कारणम् किन्तु भोगक्षय एव, तथा मुक्तावपि

'तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम् ।' (म०भार०)

प्रथम सहायक है, दीक्षा दूसरी मुक्ति क्रिया पाद से निर्णीत है । तीसरी भी मुक्ति योगपाद से सिद्ध कही जाती है । किन्तु चर्या मात्र से चौथी कैसे प्राप्तव्य होती है ? शिवज्ञान के विषय में मेरे अज्ञानांकुर को नष्ट कीजिये ।'

इसके बाद = प्रश्न के बाद । सम = अनुकूल । देखो = इसमें किसी को भी सन्देह नहीं है ॥ २६ ॥

इसी को दृष्टान्त दिखा कर सिद्ध करते हैं—

जैसे प्राप्तमृत्यु का (अथवा मृत व्यक्ति का) कारण थोड़ा अथवा बहुत भी विष रोग शस्त्र आदि होता है (किन्तु ये मुख्य कारण नहीं) । उसी प्रकार मुक्ति का कारण (मुख्यरूप से) भक्ति होती है । ये बाह्य लिङ्ग मुक्ति के लिये उपचारात्मक (कारण) हैं । ऐसा समझ कर विद्वान् को (ऐसा) सन्देह नहीं करना चाहिये कि इतने से ही मुक्ति कैसे हो जायगी । बल्कि पराभक्ति का आश्रयण करना चाहिये ॥ २७-२९- ॥

जैसे आसन्नमृत्यु वाले की मृत्यु के विषय में विष आदि थोड़ा या अधिक कारण होते हैं किन्तु ये साक्षात् कारण नहीं है । (साक्षात् कारण) भोग का क्षीण होना है उस प्रकार मुक्ति मे विषय में भी

'उसी के कृपा से मनुष्यों के अन्दर भक्ति उत्पन्न होती है ।'

इत्यादिदृष्ट्या शक्तिपातैकलक्षणा अनुध्या = भक्तिः, एव मुख्यं कारणम् । अमूनि पुनः बाह्यलिङ्गानि दीक्षादीनि तथात्वादेव उपायमात्ररूपतया उपचरितानि—इत्यर्थः । अतश्च श्राद्धाद्यात्मनः चर्यामात्रादेव कथं मुक्तिः स्यादिति न संशयितव्यम् । किन्तु अत्र भक्तिरेव दार्ढ्येन आश्रयणीया येनैवं स्यात् । तदुक्तं तत्र—

'एतस्मिन्नन्तरे नाथः प्रहस्योवाच विश्वराट् ।
किमत्र कारणं भ्रान्तेरनुध्यानविदर्शनात् ॥
सर्वानुग्राहकत्वं हि संसिद्धं परमेष्ठिनः ।
प्राप्तकालस्य चिह्नानि दृश्यन्तेऽनेकधा यथा ॥
विषरुक्शस्त्रपूर्वाणि न च तान्यत्र कारणम् ।
मृत्योर्भोगक्षयाभावात्तद्वदत्रापि निश्चितम् ॥
अनुध्यानबलावेशाच्चर्याद्याः प्रकटीकृताः ।
मुक्त्यर्थमुपचर्यन्ते बाह्यलिङ्गान्यमूनि तु ॥
निपाताद्यत्स्फुटं चिह्नं भक्तिरव्यभिचारिणी ।
तया शिष्यस्य सततमनिवारितवीर्यया ॥
पुंसः प्रसन्नभावस्य शिवत्वं व्यक्तिमेति हि ।' इति ॥

एतदेव प्रथमार्धेनोपसंहरति—

उक्तः श्राद्धविधिर्भ्रान्तिगरातङ्कविमर्दनः ॥ २९ ॥

इत्यादि दृष्टि से केवल शक्तिपातरूप अनुध्या = भक्ति, ही मुख्य कारण है । ये बाह्य स्वरूप दीक्षा आदि उस प्रकार का होने के कारण उपायमात्र रूप होने से गौण रूप से (साधन) है । इस कारण श्राद्ध आदि रूप चर्यामात्र से ही मुक्ति कैसे मिल जायगी—ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिये किन्तु इस विषय में दृढ़ भक्ति ही करनी चाहिये—जिससे ऐसा हो जाय । वही वहाँ कहा गया—

'इस बीच में संसार के राजा ईश्वर ने हंस कर कहा—भक्ति के विशिष्ट दर्शन के कारण फिर यहाँ भ्रान्ति का क्या कारण है । परमेश्वर का सर्वानुग्राहक होना स्वाभाविक है । जैसे मृत्यु को प्राप्त व्यक्ति के विष रोग शस्त्र आदि अनेक चिह्न दिखायी देते हैं पर वे मृत्यु के (मूल) कारण नहीं होते क्योंकि भोग के क्षय के विना (दूसरा मुख्य कारण नहीं होता) । उसी प्रकार यहाँ भी निश्चित है । भक्ति के बल के आवेश से चर्या आदि प्रकट की गयी होती है । ये बाह्यलिङ्ग मुक्ति के लिये लाक्षणिक रूप से कारण होते हैं । शक्तिपात के कारण अव्यभिचारिणी भक्तिरूप चिह्न प्रकट होता है । अनिवारितशक्ति वाली उस (भक्ति) के द्वारा प्रसन्न भाव वाले पुरुष की शिवता व्यक्त होती है' ॥

इसी का पूर्वार्ध के द्वारा उपसंहार करते हैं—

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्राद्धप्रकाशनं नाम पञ्चविंशमाह्निकम् ॥ २५ ॥

इति शिवम् ॥ २९ ॥

निखिलशिवशासनोदितविविधविधानैकनिष्ठया सुधिया ।
निरणायि पञ्चविंशं किलाह्निकं जयरथेनैतत् ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते श्राद्धप्रकाशनं नाम पञ्चविंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ २५ ॥
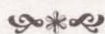
भ्रान्तिरूपी विष के आतङ्क को नष्ट करने वाली श्राद्धविधि कही गयी ॥-२९ ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के पञ्चविंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २५ ॥

समस्त शैवशास्त्र में उक्त विधिविधान में पूर्णनिष्ठा वाली सुबुद्धि के द्वारा जयरथ ने पचीसवें आह्निक का निर्णय किया ।

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के पञ्चविंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २५ ॥
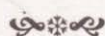
षड्विंशमाह्निकम्
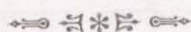
* विवेकः *

भवति यदिच्छावशतः शिवपूजा विश्वलाञ्छनं विष्वक् ।
विश्वं जयति स सुमनाः प्रपन्नजनमोचने सुमनाः ॥ १ ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन दीक्षितविषयां शेषवृत्तिं वक्तुमाह—

अथोच्यते शेषवृत्तिर्जीवतामुपयोगिनी ॥ १ ॥

ननु इह

'दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि ।'

इत्याद्युक्त्या दीक्षामात्रेणैव कार्तार्थ्यमिति किं शेषवृत्त्युपदेशेन ?—इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य दीक्षाभेदोक्तिपुरःसरं तत्प्रयोजनं प्रदर्शयति—

*** ज्ञानवती ***

जिसकी इच्छा के कारण शिवपूजा होती है और चारो तरफ विश्व का प्रसरण होता है, प्रसन्न मनुष्य को मोक्ष देने में सुन्दर मन वाले देव संसार से बढ़कर है ।

अब उत्तरार्ध के द्वारा दीक्षितविषयक शेषवर्त्तन को कहते हैं—

अब जीवों के लिये उपयोगिनी शेषवृत्ति कही जाती है ॥ १ ॥

प्रश्न—'दीक्षा ही मुक्त कराती है तथा ऊपरी शैवधाम को ले भी जाती है ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार दीक्षामात्र से ही कृतार्थता (= मुक्ति प्राप्ति) हो जाती है शेषवृत्ति के उपदेश से क्या लाभ ?—इस आशङ्का को गर्भ में रखकर दीक्षा के भेद को कहकर उसका प्रयोजन दिखलाते हैं—

दीक्षा बहुप्रकारेयं श्राद्धान्ता या प्रकीर्तिता ।
सा संस्क्रियायै मोक्षाय भोगायापि द्वयाय वा ॥ २ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

तत्र संस्कारसिद्ध्यै या दीक्षा साक्षान्न मोचनी ।
अनुसंधिवशाद्या च साक्षान्मोक्त्री सबीजिका ॥ ३ ॥
तयोभय्या दीक्षिता ये तेषामाजीववर्तनम् ।
वक्तव्यं पुत्रकादीनां तन्मयत्वप्रसिद्धये ॥ ४ ॥

तत्र एवं प्रकारचतुष्टयमध्यात् या संस्कारनिमित्तमुक्ता दीक्षा बुभुक्षुमुमुक्षुतालक्षणादनुसंधानविशेषात् साधकादेर्भोगस्य प्राधान्येन तद्व्यवहितत्वात् साक्षान्न मोचनी, या च पुत्रकादेर्भोगव्यवधानायोगात् साक्षान्मोक्त्री मोचिका—इत्यर्थः, सा च निर्बीजापि भवेदिति तद्व्यवच्छेदायोक्तम्—सबीजिकेति, नहि निर्बीजायां काचित् शेषवृत्तिरस्ति तस्यां सामयस्यापि पाशस्य शोधितत्वात् । वक्ष्यति च—

'तौ सांसिद्धिकनिर्बीजौ को वदेच्छेषवृत्तये ।' (१० श्लो०) इति ।

तया उक्तरूपया द्विप्रकारया दीक्षया ये पुत्रकादयो दीक्षितास्तेषामाजीवं

अनेक प्रकार की यह दीक्षा जो कि श्राद्धपर्यन्त कही गयी है वह संस्कार के लिये भोग या मोक्ष या दोनों के लिये होती है ॥ २ ॥

इसी को विस्तृत करते हैं—

इनमें से जो दीक्षा संस्कार की सिद्धि के लिये होती है वह साक्षात् मोक्ष नहीं देती क्योंकि उसमें (भोगेच्छारूप) अनुसन्धान रहता है । और जो (दीक्षा) साक्षात् मोक्षदायिनी है वह सबीज होती है । इन दोनों से जो दीक्षित होते हैं पुत्रक आदि दीक्षा को प्राप्त उन लोगों के लिये शिवमयत्व की सिद्धिहेतु जीवनपर्यन्त वर्त्तन कहना चाहिये ॥ ३-४ ॥

उनमें = इन चार प्रकारों में (= संस्कारसाधिका, भोगदायिका, मोक्षदायिका, भोगमोक्ष उभयदायिका) से जो दीक्षा संस्कार के लिये कही गयी (वह) बुभुक्षुता मुमुक्षुता लक्षण वाले अनुसन्धानविशेष के कारण साधक आदि के भोग की प्रधानता होने से उससे व्यवहित होने के कारण साक्षात् मोक्ष नहीं देती । और जो पुत्रक आदि के भोग व्यवधान के कारण साक्षात् मोक्ष देती है वह दीक्षा निर्बीज भी होती है इसलिये उसके व्यवच्छेद के हेतु कहा गया—सबीजिका । निर्बीज (दीक्षा) में कोई भी शेषवृत्ति नहीं होती क्योंकि उसमें समय पाश का भी शोधन हो जाता है । आगे कहेंगे भी—

'सांसिद्धिक और निर्बीज दीक्षा वाले उन दोनों (साधकों) को शेषवृत्ति के लिये कौन कहेगा ।'

वृत्तिर्वक्तव्या येनैषां निर्विघ्नमेव संविदैकात्म्यं सिद्ध्येत् ॥ ३-४ ॥

ननु इयं नाम शेषवृत्तिरुच्यते यद्भुक्तिमुक्तिनिमित्तं नित्यनैमित्तिकादेरनुष्ठानमिति, तदेतत्साधकः पुत्रको वा किमविशेषेणैव अनुतिष्ठेन्न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

बुभुक्षोर्वा मुमुक्षोर्वा स्वसंविद्गुरुशास्त्रतः ।
प्रमाणाद्या संस्क्रियायै दीक्षा हि गुरुणा कृता ॥ ५ ॥
ततः स संस्कृतं योग्यं ज्ञात्वात्मानं स्वशासने ।
तदुक्तवस्त्वनुष्ठानं भुक्त्यै मुक्त्यै च सेवते ॥ ६ ॥

इह हि गुरुणा बुभुक्षोर्वा मुमुक्षोर्वा

'त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानं.............................. ।'

इत्याद्युक्त्या स्वसंविद्गुरुशास्त्रलक्षणं प्रमाणमधिकृत्य संस्कारसिद्ध्यै या दीक्षा कृता, ततो दीक्षातः स बुभुक्षुर्मुमुक्षुर्वा स्वमात्मानं संस्कृतत्वात् स्वशासने भुक्तौ मुक्तौ वा योग्यं च ज्ञात्वा स्वशासनोक्तस्य नित्यादेरनुष्ठानं सेवते अविशेषेणैव कुर्यात्—इत्यर्थः ॥ ५-६ ॥

उस उक्तरूपा दीक्षा के द्वारा जो पुत्रक आदि दीक्षित होते हैं उनकी आजीव वृत्ति कही जानी चाहिये जिससे इनका संविद् के साथ तादात्य निर्विघ्न सिद्ध हो सके ॥ ३-४ ॥

प्रश्न—भोग और मोक्ष के लिये नित्य नैमित्तिक आदि (कर्मों) का अनुष्ठान शेषवृत्ति कहा जाता है । तो साधक या पुत्रक इसको समान रूप से करे अथवा नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

गुरु के द्वारा बुभुक्षु अथवा मुमुक्षु की जो दीक्षा आत्मसंवित् गुरु अथवा शास्त्र रूप प्रमाण से संस्कार के लिये की गयी उसके कारण वह (= बुभुक्षु या मुमुक्षु) अपने शास्त्र में अपने को संस्कृत और योग्य समझ कर भोग और मोक्ष के लिये उक्त वस्तु का अनुष्ठान करे ॥ ५-६ ॥

गुरु के द्वारा भोगेच्छु अथवा मोक्षेच्छु की—

'यह ज्ञान तीन प्रमाणों (स्वसंवित्, गुरु और शास्त्र) वाला है.......।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार स्वसंविद् गुरु एवं शास्त्र लक्षण वाले प्रमाण के आधार पर, संस्कार की सिद्धि के लिये जो दीक्षा की गयी उस = दीक्षा से वह = बुभुक्षु अथवा मुमुक्षु संस्कृत होने के कारण अपने शासन में अपनों को भोग अथवा मोक्ष के योग्य मानकर स्वशासनोक्त नित्य आदि कर्मों का अनुष्ठान करता है अर्थात् समान रूप से उसे करता है ॥ ५-६ ॥

ननु एवं स्वपरामर्शो यस्य नास्ति, तं प्रति किं शेषवृत्तिर्वाच्या न वा?—इत्याशङ्क्याह—

आचार्यप्रत्ययादेव योऽपि स्याद्भुक्तिमुक्तिभाक् ।
तत्प्रत्यूहोदयध्वस्त्यै ब्रूयात्तस्यापि वर्तनम् ॥ ७ ॥

एवं गुरुप्रत्ययवत् स्वप्रत्ययोऽपि यस्यास्ति, तस्यापि एषैव वार्त्ता—इत्याह—

स्वसंविद्गुरुसंवित्त्योस्तुल्यप्रत्ययभागपि ।
शेषवृत्त्या समादेश्यस्तद्विघ्नादिप्रशान्तये ॥ ८ ॥

यः पुनरेकान्ततः परमेवापेक्षते नैव वा, तस्य किं शेषवृत्त्या—इत्याह—

यः सर्वथा परापेक्षामुज्झित्वा तु स्थितो निजात्।
प्रत्ययाद्योऽपि चाचार्यप्रत्ययादेव केवलात् ॥ ९ ॥
तौ सांसिद्धिकनिर्बीजौ को वदेच्छेषवृत्तये ।

शेषवृत्तये इति—शेषवृत्तिं विधातुम्—इत्यर्थः ॥

ननु यद्येवं, तत्किमनयोः काष्ठकुड्यादिवत् वर्तनमुत पामरवत्?—

प्रश्न—जिसके पास अपना ऐसा परामर्श नहीं है उसको शेषवृत्ति का उपदेश देना चाहिये या नहीं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

आचार्य के ऊपर विश्वास के कारण ही जो भोग और मोक्ष का भागी होता है उसके विघ्न के उदय के नाश के लिये उसे भी शेष वृत्ति का उपदेश करना चाहिये ॥ ७ ॥

गुरु में विश्वास की भाँति जिसे अपने में भी विश्वास है उसके लिये भी यही बात है—यह कहते हैं—

आत्मसंविद् और गुरु की संवित् में जो समान रूप में विश्वास वाला है वह भी उसमें (आने वाले) विघ्न आदि की शान्ति के लिये शेषवृत्ति के द्वारा उपदेश्य है ॥ ८ ॥

और जो कि सर्वथा दूसरे की ही अपेक्षा करता है या नहीं करता उसे शेषवृत्ति से क्या लेना-देना?—यह कहते हैं—

जो सर्वथा दूसरे की अपेक्षा को छोड़कर अपने प्रत्यय से स्थित है और जो केवल आचार्यप्रत्यय के कारण स्थित है, ऐसे सांसिद्धिक और निर्बीज उन दोनों के लिये कौन शेषवृत्ति कहेगा ॥ ९-१०- ॥

शेषवृत्ति के लिये = शेषवृत्ति को करने के लिये ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो क्या ये दोनों काष्ठ दीवार की भाँति रहे या गँवार की

इत्याशङ्क्याह—

क्रमात्तन्मयतोपायगुर्वर्चनरतौ तु तौ ॥ १० ॥
तत्रैषां शेषवृत्त्यर्थं नित्यनैमित्तिके ध्रुवे ।
काम्यवर्जं यतः कामाश्चित्राश्चित्राभ्युपायकाः ॥ ११ ॥
तत्र नित्यो विधिः सन्ध्यानुष्ठानं देवताव्रजे ।
गुर्वग्निशास्त्रसहिते पूजा भूतदयेत्ययम् ॥ १२ ॥
नैमित्तिकस्तु सर्वेषां पर्वणां पूजनं जपः ।
विशेषवशतः किञ्च पवित्रकविधिक्रमः ॥ १३ ॥
आचार्यस्य च दीक्षेयं बहुभेदा विवेचिता ।
व्याख्यादिकं च तत्तस्याधिकं नैमित्तिकं ध्रुवम् ॥ १४ ॥
तत्रादौ शिशवे ब्रूयाद् गुरुर्नित्यविधिं स्फुटम् ।
तद्योग्यतां समालोक्य वितताविततात्मनाम् ॥ १५ ॥
मुख्येतरादिमन्त्राणां वीर्यव्याप्त्यादियोग्यताम् ।
दृष्ट्वा शिष्ये तमेवास्मै मूलमन्त्रं समर्पयेत् ॥ १६ ॥

तन्मयतोपायगुर्वर्चनरताविति—स्वसंविद्देवीपरामर्शनपरत्वात् स्वगुरुभक्तेश्च यदुक्तं प्राक्—

भाँति ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चूँकि वे दोनों क्रम से तन्मयता के उपायभूत गुरुपूजा में लगे हुये हैं इसलिये इनकी शेषवृत्ति के हेतु नित्य एवं नैमित्तिक कार्य निश्चित करणीय होते हैं किन्तु काम्य को छोड़कर, क्योंकि काम्य कर्म विचित्र होते हैं और उनके उपाय भी विचित्र होते हैं ॥ -१०-११ ॥

उनमें नित्य विधि है—सन्ध्या करना, गुरु, अग्नि, शास्त्र, युक्त देवालय में पूजा तथा जीवों पर दया ॥ नैमित्तिक—सभी पर्वों का विशेष पूजन और (विशेष) जप तथा पवित्रक विधि का क्रम । आचार्य की अनेक भेद वाली दीक्षा कही गयी है । और उसका व्याख्यान आदि उसके लिये अधिक निमित्तिक विधि है । आचार्य उन दोनों में से पहले शिष्य को स्पष्ट रूप से नित्यविधि बतलाये । फिर उसकी योग्यता को देखकर विस्तृत और संक्षिप्त मुख्य और गौण आदि मन्त्रों की वीर्यव्याप्ति आदि की योग्यता को शिष्य में देखकर उसे इस मूलमन्त्र का समर्पण करे ॥ १२-१६ ॥

तन्मयता के उपायभूत गुरुपूजा में रत—स्वसंविद् देवी के परामर्शन में रत होने और अपने गुरु की भक्ति के कारण । जैसा कि पहले कहा गया—

'यस्य स्वतोऽयं सत्तर्कः स सर्वत्राधिकारवान् ।
अभिषिक्तः स्वसंवित्तिदेवीभिर्दीक्षितश्च सः ॥' (४।४३) इति
'समयाचारपाशं तु निर्बीजायां विशोधयेत् ।
दीक्षामात्रेण मुक्तिः स्याद्भक्त्या देवे गुरौ सदा ॥'
(१५।३१) इति च ।

कामानां चित्रत्वे चित्राभ्युपायत्वं हेतुः, अत एव नियतनिमित्तत्वाभावादेषामिह अनभिधानम् । अधिकमिति—पुत्रकादेस्तत्रानधिकारात् । तद्योग्यतां समालोक्येति —योग्ये हि शिष्ये विततो विधिरुपदेष्टव्यो मुख्यो वा मन्त्रः समर्प्यः, अन्यस्मिंस्तु अन्यथेति ॥ १६ ॥

अत एव आह—

तच्छास्त्रदीक्षितो ह्येष निर्यन्त्राचारशङ्कितः ।
न मुख्ये योग्य इत्यन्यसेवातः स्यात्तु योग्यता ॥ १७ ॥
साधकस्य बुभुक्षोस्तु साधकीभाविनोऽपि वा ।
पुष्पपातवशात्सिद्धो मन्त्रोऽर्प्यः साध्यसिद्धये ॥ १८ ॥
वितते गुणभूते वा विधौ दिष्टे पुनर्गुरुः ।
ज्ञात्वाऽस्मै योग्यतां सारं संक्षिप्तं विधिमाचरेत् ॥ १९ ॥
तत्रैष नियमो यद्यन्मान्त्रं रूपं न तद्गुरुः ।

'यस्य स्वतो..........................सः ॥' तथा
'समयाचार....................गुरौ सदा ॥'

कामों की विचित्रता में उपायों का विचित्र होना कारण है । इस कारण निश्चित निमित्त न होने से इनका यहाँ कथन नहीं किया गया । अधिक—क्योंकि पुत्रक आदि का उसमें अधिकार नहीं है । उसकी योग्यता को देखकर—योग्य शिष्य में विस्तृत विधि अथवा मुख्य मन्त्र देना चाहिये अन्य (प्रकार के शिष्य) में अन्य प्रकार से ॥ १६ ॥

इसलिये कहते हैं—

उस शास्त्र में दीक्षा प्राप्त यह निर्विकल्प आचार से शंकित होता हुआ मुख्य (मन्त्र) के योग्य नहीं होता है । अन्य की सेवा से तो योग्यता हो जाती है । बुभुक्षु साधक अथवा भावित दीक्षा वाले को, साध्य की सिद्धि के लिये पुष्पपात के कारण सिद्ध मन्त्र को देना चाहिये । पुनः गुरु वितत अथवा अवितत विधि का (इस शिष्य के लिये) उपदेश होने पर (इसकी) योग्यता को जान कर इसके लिये सारभूत संक्षिप्त विधि को करे । उस विषय में विशेष रूप से ऊर्ध्वशास्त्र में, यह नियम है—कि जो

लिखित्वा प्रथयेच्छिष्ये विशेषादूर्ध्वशासने ॥ २० ॥

निर्यन्त्र इति—निर्विकल्पः । अन्य इति—अमुख्यस्य मन्त्रस्य । साधकस्येति—वृत्ततद्दीक्षस्य । साधकीभाविन इति—भावितद्दीक्षस्य । गुणभूत इति—अवितते । तत्रेति—एवं सारविध्याचरणे । ऊर्ध्वशासन इति—त्रिककुलादौ ॥२०॥

एतदेव उपपादयति—

मन्त्रा वर्णात्मकास्ते च परामर्शात्मकाः स च ।
गुरुसंविदभिन्नश्चेत्संक्रामेत्सा ततः शिशौ ॥ २१ ॥
लिपिस्थितस्तु यो मन्त्रो निर्वीर्यः सोऽत्र कल्पितः ।
सङ्केतबलतो नास्य पुस्तकात्प्रथते महः ॥ २२ ॥

स चेति—परामर्शः । सेति—परामर्शमयी गुरुसंवित् । तत इति—गुरुतः । निवीर्य इति—परामर्शकत्वाभावात् । स हि संविदभिन्न एव भवेत्—इति भावः ॥ २२ ॥

ननु पुस्तकात् मन्त्रवीर्याकथने किं प्रमाणम्?—इत्याशङ्क्याह—

पुस्तकाधीतविद्याश्चेत्युक्तं सिद्धामते ततः ।

मन्त्रसम्बन्धी रूप स्पष्ट नहीं है गुरु उस (रूप) को लिखकर, शिष्य को बतलाये ॥ १७-२० ॥

निर्यन्त्र = निर्विकल्प । अन्य = अमुख्य मन्त्र का । साधक का = जिसकी वह दीक्षा हो चुकी है । साधकीभावी का = जिसकी दीक्षा भविष्य में होने वाली है उसका । गुणभूत में = अवितत में । उसमें = इस प्रकार सारविधि के आचरण में । ऊर्ध्वशासन में = त्रिक कुल आदि में ॥ २० ॥

इसी को सिद्ध करते हैं—

मन्त्र वर्णात्मक होते हैं और वे (= वर्ण) परामर्शरूप होते हैं । तथा वह (= परामर्श) यदि गुरु की संवित् से अभिन्न है तो वह (= संविद्) उस (= गुरु) से शिशु में संक्रान्त हो जाती है किन्तु जो मन्त्र लिपिरूप में स्थित है वह कल्पित (अतः) निर्वीर्य है । सङ्केत के बल से पुस्तक से इस (= मन्त्र) का महः (= वीर्य) प्रसृत नहीं होता ॥ २१-२२ ॥

और वह = परामर्श । वह = परामर्शमयी गुरु की संवित् । वहाँ से = गुरु से । वीर्यशून्य—परामर्शक न होने से । क्योंकि वह संविद् से अभिन्न ही होता है—यह भाव है ॥ २२ ॥

प्रश्न—पुस्तक से मन्त्रवीर्य के न कहने में क्या प्रमाण है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

एवं मन्त्राणां वीर्य एव भरबन्धः कार्य इति अत्र तात्पर्यम् ॥

अत एव आह—

ये तु पुस्तकलब्धेऽपि मन्त्रे वीर्यं प्रजानते ॥ २३ ॥
ते भैरवीयसंस्काराः प्रोक्ताः सांसिद्धिका इति ।
इति ज्ञात्वा गुरुः सम्यक् परमानन्दघूर्णितः ॥ २४ ॥
तादृशे तादृशे धाम्नि पूजयित्वा विधिं चरेत् ।

तादृशे तादृशे धाम्नीति—योग्यशिष्योचिते इत्यर्थः ॥

गुप्तिपरेण च अत्र गुरुणा भाव्यम्—इत्याह—

यथान्यशिष्यानुष्ठानं नान्यशिष्येण बुध्यते ॥ २५ ॥
तथा कुर्याद् गुरुर्गुप्तिहानिर्दोषवती यतः ।
देवीनां त्रितयं शुद्धं यद्वा यामलयोगतः ॥ २६ ॥
देवीमेकामथो शुद्धां वदेद्वा यामलात्मिकाम् ।
तत्र मन्त्रं स्फुटं वक्त्राद् गुरुणोपांशु चोदितम् ॥ २७ ॥
अवधार्या प्रवृत्तेस्तमभ्यस्येन्मनसा स्वयम् ।

सिद्धामत में कहा गया है कि 'पुस्तक से विद्याप्राप्त करने वाले इस कारण (वीर्यहीन मन्त्र वाले होते हैं) ॥ २३- ॥

इस प्रकार मन्त्रों के वीर्य में ही भरबन्ध (= यथाशक्ति प्रयास) करना चाहिये—ऐसा यहाँ तात्पर्य है ॥

इसीलिये कहते हैं—

जो लोग पुस्तक से प्राप्त मन्त्र में भी वीर्य को जान लेते हैं, भैरवीयसंस्कारसम्पन्न वे लोग सांसिद्धिक (= स्वभावतः श्रेष्ठ) कहे जाते हैं। ऐसा भलीभाँति समझ कर गुरु परम आनन्द से युक्त होकर उस-उस प्रकार के स्थान में पूजन कर विधि का अनुष्ठान करे ॥ -२३-२५- ॥

उस-उस प्रकार के धाम में—योग्य शिष्य के लिये उचित ॥

इस विषय में गुरु अत्यन्त गुप्त रहे—यह कहते हैं—

गुरु ऐसी व्यवस्था करे जिससे एक शिष्य के अनुष्ठान को दूसरा शिष्य न जाने । क्योंकि गोपनीयता का न होना दोष उत्पन्न करता है । (गुरु शिष्य के लिये) केवल तीन देवियों को अथवा यामल योग से (= दो देवियों को) अथवा यामलात्मिका केवल एक देवी का उपदेश करे । उस (विधि) में (= शिष्य) गुरु के द्वारा (उसके अपने) मुख से स्पष्ट निकले

ततः सुशिक्षितां स्थानदेहान्तःशोधनत्रयीम् ॥ २८ ॥
न्यासं ध्यानं जपं मुद्रां पूजां कुर्यात्प्रयत्नतः ।

दोषवतीति—यदभिप्रायेणैव

'गोपनात्सिद्धिमायाति............................ ।'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् । शुद्धम्—केवलम् । स्फुटं—सशब्दम् । यदुक्तम्—

'आत्मना श्रूयते यस्तु तमुपांशुं विजानते ।
परे शृण्वन्ति यं देवि सशब्दः स उदाहृतः ॥'

(स्व० २।१४७) इति ।

आ प्रवृत्तेरिति—अनुष्ठानारम्भकालं यावत्—इत्यर्थः । सुशिक्षितामिति—पञ्चदशाह्निकोक्तयुक्त्या ॥

इदानीं नित्यविधिं शिक्षयति—

तत्र प्रभाते संबुध्य स्वेष्टां प्राग्देवतां स्मरेत् ॥ २९ ॥
कृतावश्यककर्तव्यः शुद्धो भूत्वा ततो गृहम् ।
आश्रित्योत्तरदिग्वक्त्रः स्थानदेहान्तरत्रये ॥ ३० ॥
शुद्धिं विधाय मन्त्राणां यथास्थानं निवेशनम् ।

हुये मन्त्र को उपांशु विधि वाला मानकर प्रवृत्ति पर्यन्त मन से स्वयं उसका (= मन्त्र का) अभ्यास करे । इसके बाद भली भाँति शिक्षित (शिष्य) स्थान देह और मन तीन की शोधनविधि, न्यास, ध्यान, जप, मुद्रा और पूजा को प्रयत्नपूर्वक करे ॥ -२५-२९- ॥

दोषवती—जिस अभिप्राय से ही—

'गोपन से सिद्धि को प्राप्त होता है.......... ।'

इत्यादि अन्यत्र कहा गया है । शुद्ध = केवल । स्फुट = शब्द के साथ । जैसा कि कहा गया—

'जो केवल अपने द्वारा सुना जाय (विद्वान् लोग) उसे उपांशु (जप) मानते हैं। हे देवि ! जिसको दूसरे लोग सुनते हैं वह सशब्द (जप) कहा गया है ॥'

प्रवृत्ति तक = अनुष्ठान के आरम्भ काल तक । सुशिक्षित—पन्द्रहवें आह्निक में कही गयी रीति से ॥

अब नित्यविधि को बतलाते हैं—

उसमें (= नित्य विधि में साधक) प्रातः काल जग कर पहले अपने इष्ट देवता का स्मरण करे । फिर आवश्यक कर्त्तव्य को करने के बाद शुद्ध

मुद्राप्रदर्शनं ध्यानं भेदाभेदस्वरूपतः ॥ ३१ ॥
देहासुधीव्योमभूषु मनसा तत्र चार्चनम् ।
जपं चात्र यथाशक्ति देवायैतन्निवेदनम् ॥ ३२ ॥
तन्मयीभावसिद्ध्यर्थं प्रतिसन्ध्यं समाचरेत् ।
अन्ये तु प्रागुदक्पश्चाद्दश(क्ष)दिक्षु चतुष्टयीम् ॥ ३३ ॥
सन्ध्यानामाहुरेतच्च तान्त्रिकीयं न नो मतम् ।

स्वमतेन पुनराह—

यासौ कालाधिकारे प्राक् सन्ध्या प्रोक्ता चतुष्टयी ॥ ३४ ॥
तामेवान्तः समाधाय सान्ध्यं विधिमुपाचरेत् ।
सन्ध्याचतुष्टयीकृत्यमेकस्यामथवा शिशुः ॥ ३५ ॥
कुर्यात्स्वाध्यायविज्ञानगुरुकृत्यादितत्परः ।

एकस्यामिति—अन्यथा हि अस्य स्वाध्यायादिविप्रलोपो भवेत्—इति भावः ॥

ननु कथं सन्ध्याचतुष्टयानुष्ठेयं कर्म एकस्यामेव सन्ध्यायां क्रियमाणं परिपूर्तिं यायात् ?—इत्याशङ्क्याह—

सन्ध्याध्यानोदितानन्ततन्मयीभावयुक्तितः ॥ ३६ ॥

होकर गृह में जाकर उत्तर दिशा की ओर मुंह कर स्थान शरीर एवं अन्तर (= मन) की शुद्धि कर, मन्त्रों का यथास्थान निवेश मुद्रा का प्रदर्शन भेदाभेद रूप से देह प्राण बुद्धि आकाश एवं भूमि में ध्यान और फिर वहाँ मन से (उनकी) पूजा करे । फिर यहाँ पर यथाशक्ति जप, देवता को इसका निवेदन करे । तन्मयीभाव की सिद्धि के लिये (उक्त नियम को) प्रत्येक सन्ध्या में करना चाहिये । अन्य लोग पूरब उत्तर पश्चिम दक्षिण दिशाओं में चार प्रकार की सन्ध्या को कहते हैं । यह तान्त्रिकों का मत है हमारा नहीं ॥ -२९-३४- ॥

फिर अपने मत से कहते हैं—

(शिष्य) पहले कालाधिकार में जो चार प्रकार की सन्ध्या कही गयी है उसी को मन में रख कर सायंकालीन विधि करे । अथवा स्वाध्याय विज्ञान गुरु के कार्य आदि में लगा हुआ शिष्य चार सन्ध्याओं के कार्य को एक ही सन्ध्या में करे ॥ -३४-३६- ॥

एक में—अन्यथा इसका स्वाध्याय आदि लुप्त हो जायगा ॥

प्रश्न—चार सन्ध्याओं में अनुष्ठित होने वाला कर्म एक ही सन्ध्या में किये जाने पर कैसे पूरा होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

तत्संस्कारवशात्सर्वं कालं स्यात्तन्मयो ह्यसौ ।
ततो यथेष्टकालेऽसौ पूजां पुष्पासवादिभिः ॥ ३७ ॥
स्थण्डिलादौ शिशुः कुर्याद्विभवाद्यनुरूपतः ।
सुशुद्धः सन्विधिं सर्वं कृत्वान्तरजपान्तकम् ॥ ३८ ॥
अर्घपात्रं पुरा यद्वद्विधाय स्वेष्टमन्त्रतः ।
तेन स्थण्डिलपुष्पादि सर्वं संप्रोक्षयेद् बुधः ॥ ३९ ॥
ततस्तत्रैव सङ्कल्प्य द्वारासनगुरुक्रमम् ।
पूजयेच्छिवताविष्टः स्वदेहार्चापुरःसरम् ॥ ४० ॥
ततस्तत्स्थण्डिलं वीध्रव्योमस्फटिकनिर्मलम् ।
बोधात्मकं समालोक्य तत्र स्वं देवतागणम् ॥ ४१ ॥
प्रतिबिम्बतया पश्येद्बिम्बत्वेन च बोधतः ।
एतदावाहनं मुख्यं व्यजनान्मरुतामिव ॥ ४२ ॥

तत इति—सन्ध्याद्यनुष्ठानानन्तरम् । स्थण्डिलादावित्यनेन स्थाण्डिली नित्यार्चेति प्रक्रान्तम् । आन्तरेत्यनेन मनोयागमकृत्वा बाह्ययागादावधिकार एव न भवेत्—इति कटाक्षितम् । पुरेति—पञ्चदशाह्निकादौ । वीध्रम् = विमलम् । तत्रेति—बोधात्मके स्थण्डिले । स्वमिति—आरिराधयिषितम् । बोध एव हि बहिः

सन्ध्या (के मूलरूप) ध्यान में कथित अनन्त तन्मयीभाव रूप मुक्ति के कारण उसके संस्कार के द्वारा सब काल (सन्ध्यायुक्त) हो जाता है क्योंकि यह (शिष्य) तन्मय है । इसके बाद यथेष्ट समय में यह शिशु अपने सामर्थ्य के अनुसार स्थण्डिल आदि में पुष्प आसव आदि से पूजन करे । सुष्ठुरूप से शुद्ध हुआ (वह) विद्वान् आन्तरजप पर्यन्त समस्तविधि को करने के बाद पहले की ही भाँति अपने इष्टमन्त्र से अर्घ्यपात्र बनाकर उससे स्थण्डिल पुष्प आदि सभी का संप्रोक्षण कर लेवे । फिर वहीं पर सङ्कल्प करके शिवत्व से आविष्ट वह अपने देह की पूजा के बाद द्वार आसन गुरु के क्रम की पूजा करे । इसके बाद स्थण्डिल को स्वच्छ आकाश या स्फटिक के समान निर्मलबोधस्वरूप देखकर उसमें अपने देवतागण को बोध के कारण बिम्ब रूप से और प्रतिबिम्ब रूप से देखे । पङ्खे के द्वारा वायु (के आवाहन) की भाँति यह (मन्त्रचक्र का) मुख्य आवाहन है ॥ -३६-४२ ॥

उसके बाद = सन्ध्या आदि अनुष्ठान के बाद । स्थण्डिल आदि में—इस (कथन) से स्थण्डिल की नित्य पूजा होती है—ऐसा समझना चाहिये । आन्तर—इससे मनोयाग को बिना किये बाह्य याग आदि में अधिकार नहीं होता—यह सङ्केतित है । पहले = पन्द्रहवें आह्निक आदि में । वीध्र = स्वच्छ । वहाँ =

प्रतिफलितस्तथा तथा उच्छलित इत्युक्तम्—बिम्बत्वेनेति प्रतिबिम्बतयेति च । एतदिति प्रतिबिम्बभावात्मतया दर्शनम् ॥ ४२ ॥

दृष्टान्तमेव विभज्य दर्शयति—

सर्वगोऽपि मरुद्यद् व्यजनेनोपजीवितः (वीजितः) ।
अर्थकृत्सर्वगं मन्त्रचक्रं रूढेस्तथा भवेत् ॥ ४३ ॥
चतुष्कपञ्चाशिकया तदेतत्तत्त्वमुच्यते ।

रूढेरिति—स्थण्डिलादावेवंप्ररोहात्—इत्यर्थः । तथेति—अर्थकृत् । चतुष्कपञ्चाशिकेति—सृष्ट्यादिप्रमेयचतुष्टयाभिधायिना एवंपरिमाणेन ग्रन्थविशेषेण—इत्यर्थः ॥

न केवलमेतदत्रैवोक्तं यावदन्यत्रापि—इत्याह—

श्रीनिर्मर्यादशास्त्रे च तदेतद्विभुनोदितम् ॥ ४४ ॥

तदेव अर्थद्वारेण आह—

देवः सर्वगतो देव निर्मर्यादः कथं शिवः ।
आवाह्यते क्षम्यते वेत्येवं पृष्टोऽब्रवीद्विभुः ॥ ४५ ॥

बोधात्मक स्थण्डिल पर अपना = जो आराधना का ईप्सित है । बोध ही बाहर प्रतिबिम्बित होकर भिन्न-भिन्न प्रकार से उच्छलित होता है—इसलिये कहा गया—बिम्बरूप से और प्रतिबिम्बरूप से । यह—प्रतिबिम्बरूप से दर्शन ॥ ४२ ॥

दृष्टान्त को ही अलग-अलग करके दिखलाते हैं—

जैसे सर्वत्र रहने वाला भी वायु पङ्खे से (उपवीजित हुआ) उपजीवित होकर अर्थकारी होता है (= तप्त शरीर को शीतलता पहुँचाता है) उसी प्रकार सर्वगामी मन्त्रचक्र भी रूढि के कारण वैसा हो जाता है । चतुष्कपञ्चाशिका के द्वारा वह यह तत्त्व कहा जाता है ॥ ४३-४४- ॥

रूढि के कारण = स्थण्डिल आदि में इस प्रकार के प्ररोह (भावनांकुर) के कारण । वैसा = अर्थकारी । चतुष्कपञ्चाशिका—सृष्टि आदि चार प्रमेयों का वर्णन करने वाले (४ × ५० =) दो सौ श्लोकों वाले ग्रन्थ के द्वारा (इस ग्रन्थ में एक-एक प्रमेय का ५०-५० श्लोकों से वर्णन है) ॥

यह केवल यहीं नहीं अन्यत्र भी कहा गया है—यह कहते हैं—

श्रीनिर्मर्याद शास्त्र में भी परमेश्वर के द्वारा यह कहा गया है ॥ ४४ ॥

उसी को अर्थ के द्वारा कहते हैं—

हे देव ! सर्वगामी देव शिव का कैसे बिना मर्यादा (= सीमा,

वासनावाह्यते देवि वासना च विसृज्यते ।
परमार्थेन देवस्य नावाहनविसर्जने ॥ ४६ ॥

निर्मर्याद इति—निर्यन्त्रण: स्वतन्त्र इति यावत् ॥

वासनात्मकत्वमेव अत्र दर्शयति—

आवाहितो मया देवः स्थण्डिले च प्रतिष्ठितः ।
पूजितः स्तुत इत्येवं हृष्ट्वा देवं विसर्जयेत् ॥ ४७ ॥
प्राणिनामप्रबुद्धानां सन्तोषजननाय वै ।
आवाहनादिकं तेषां प्रवृत्तिः कथमन्यथा ॥ ४८ ॥
कालेन तु विजानन्ति प्रवृत्ताः पतिशासने ।
अनुक्रमेण देवस्य प्राप्तिं भुवनपूर्विकाम् ॥ ४९ ॥
ज्ञानदीपद्युतिध्वस्तसमस्ताज्ञानसञ्चयाः ।
कुतो वानीयते देवः कुत्र वा नीयतेऽपि सः ॥ ५० ॥
स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन स हि सर्वत्र संस्थितः ।

भुवनपूर्विकामिति—

..............................मते भुवनभर्तरि ।' (मृ०तं०)

इत्याद्युक्तयोजनिकाबलात् तत्तत्तत्त्वभुवनासादनप्रक्रियात्मिकाम्—इत्यर्थः ॥

अवच्छेद) के आवाहन और क्षमापन होता है ?—ऐसा पूछे गये परमेश्वर ने कहा—हे देवि ! वासना का ही आवाहन होता है और वासना का ही विसर्जन । देवता का न तो परमार्थत: आवाहन होता है न विसर्जन ॥ ४५-४६ ॥

निर्मर्याद = यन्त्रणारहित अर्थात् स्वतन्त्र ॥

वासनात्मकता को ही यहाँ दिखलाते हैं—

मैंने स्थण्डिल में देवता का आवाहन प्रतिष्ठा पूजा और स्तुति की इस प्रकार प्रसन्न होकर देवता का विसर्जन करना चाहिये । अबोध प्राणियों के (मन में) सन्तोष को उत्पन्न करने के लिये आवाहन आदि (किया जाता है) । अन्यथा उनकी प्रवृत्ति कैसे होगी? पतिशास्त्र में लगे हुये लोग समय के द्वारा क्रम से पहले भुवन की फिर देव की प्राप्ति बतलाते हैं । किन्तु ज्ञानदीप के प्रकाश से ध्वस्त अज्ञानसमूह वाले (यह जानते हैं कि) वह देव कहाँ से लाये जाते हैं या कहाँ ले जाये जाते हैं क्योंकि स्थूल सूक्ष्म भेद से वह सर्वत्र स्थित है ॥ ४७-५१- ॥

पहले भुवनवाली = 'मत तन्त्र में भुवनभर्त्ता में' इत्यादि उक्त योजनिका के बल

आवाहनानन्तरकर्तव्यमुपदेष्टुमाह—

आवाहिते मन्त्रगणे पुष्पासवनिवेदनैः ॥ ५१ ॥
धूपैश्च तर्पणं कार्यं श्रद्धाभक्तिबलोचितैः ।
दीप्तानां शक्तिनादादिमन्त्राणामासवैः पलैः ॥ ५२ ॥
रक्तैः प्राक् तर्पणं पश्चात् पुष्पधूपादिविस्तरैः ।

ननु आवाहनानन्तर्येण तर्पणमेव कार्यमित्यत्र किं प्रमाणम्?—इत्याशङ्क्याह—

आगतस्य तु मन्त्रस्य न कुर्यात्तर्पणं यदि ॥ ५३ ॥
हरत्यर्धशरीरं स इत्युक्तं किल शम्भुना ।

ननु इह तर्पणार्थं द्रव्यादि उद्दिष्टम्, पूजादि पुनः कतरेण कार्यम्?—इत्याशङ्क्याह—

यद्यदेवास्य मनसि विकासित्वं प्रयच्छति ॥ ५४ ॥
तेनैव कुर्यात्पूजां स इति शम्भोर्विनिश्चयः ।

ननु यद्येवं तत्कथं शान्तिपुष्ट्याह—

से तत्तत् तत्त्व वाले भुवन को प्राप्त करने की प्रक्रिया वाली ॥

आवाहन के बाद वाले कर्त्तव्य को बतलाने के लिये कहते हैं—

मन्त्रसमूह के आवाहित होने पर पुष्प आसव के निवेदन के द्वारा तथा धूप से तर्पण करना चाहिये । दीप्त शक्ति नाद आदि मन्त्रों का पहले आसव मांस रक्त से और बाद में पुष्प धूप आदि विस्तार से तर्पण करना चाहिये ॥ -५१-५३- ॥

प्रश्न—आवाहन के बाद तर्पण ही करना चाहिये—इसमें क्या प्रमाण है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

आये हुये मन्त्र का यदि तर्पण न किया जाय तो वह आधा शरीर नष्ट कर देता है—ऐसा शम्भुनाथ ने कहा है ॥ -५३-५४- ॥

प्रश्न—यहाँ तर्पण के लिये द्रव्य आदि कहा गया किन्तु पूजा आदि किससे की जाय ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस (= उपासक) के मन को जो-जो (पदार्थ) विकसित (= आनन्दित) करते हों उन उससे वह पूजा करे—ऐसा शम्भुनाथ का निश्चय है ॥ -५४-५५- ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो शान्ति पुष्टि आदि में सर्वत्र द्रव्य का नियम क्यों कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

साधकानां बुभुक्षूणां विधिर्नियतियन्त्रितः ॥ ५५ ॥
मुमुक्षूणां तत्त्वविदां स एव तु निरर्गलः ।

ननु एवं विधिविशेषे अत्र किं निमित्तम्?—इत्याशङ्क्याह—

कार्ये विशेषमाधित्सुर्विशिष्टं कारणं स्पृशेत् ॥ ५६ ॥
रक्तकर्पासतूलेच्छुस्तुल्यतद्बीजपुञ्जवत् ।
सन्ति भोगे विशेषाश्च विचित्राः कारणेरिताः ॥ ५७ ॥

तुल्येति—रक्तमेव ॥ ५७ ॥

मोक्षे पुनः कश्चिद्विशेषो नास्ति—इत्याह—

देशकालानुसन्धानगुणद्रव्यक्रियादिभिः ।
स्वल्पा क्रिया भूयसी वा हृदयाह्लाददायिभिः ॥ ५८ ॥
बाह्यैः सङ्कल्पजैर्वापि कारकैः परिकल्पिता ।
मुमुक्षोर्न विशेषाय नैःश्रेयसविधिं प्रति ॥ ५९ ॥

ननु कथं नाम अत्र स्वल्पा भूयसी वा क्रिया विशेषमाधातुं नोत्सहते?—इत्याशङ्क्याह—

(क्योंकि) भोगेच्छु साधकों की विधि नियति के अधीन होती है लेकिन मोक्षेच्छु तत्त्ववेत्ताओं की निर्बन्ध होती है ॥ -५५-५६- ॥

प्रश्न—इस प्रकार के विधिविशेष में क्या कारण है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

कार्य में विशेष का आधान चाहने वाला विशिष्ट कारण को अपनाये । जैसे कि रक्त कपास और रूई चाहने वाला व्यक्ति तुल्य (= रक्त) बीजों को (चाहता है) । भोग में कारणों से प्रेरित विचित्र विशेष होते हैं ॥ -५६-५७ ॥

तुल्य = रक्त ही ॥ ५७ ॥

मोक्ष में कोई विशेष नहीं है—यह कहते हैं—

हृदय को प्रसन्न करने वाले, देश और काल के अनुसन्धान में उपयोगी गुण द्रव्य क्रिया आदि के द्वारा स्वल्प अथवा अधिक क्रिया बाह्य अथवा सङ्कल्प से उत्पन्न कारकों से परिकल्पित होकर मुमुक्षु के मोक्षविधि के लिये विशेष नहीं होती है ॥ ५८-५९ ॥

प्रश्न—स्वल्प अथवा अधिक क्रिया विशेष का आधान कैसे नहीं कर सकती ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

नहि ब्रह्मणि शंसन्ति बाहुल्याल्पत्वदुर्दशाः ।

ननु विचित्रैः कारणैः परिकल्प्यमानापि क्रिया यदि अत्र न विशेषमाधत्ते तत्किमेषां प्राधान्येन हृदयाह्लाददायित्वमुक्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

चितः स्वातन्त्र्यसारत्वात् तस्यानन्दघनत्वतः ॥ ६० ॥
क्रिया स्यात्तन्मयीभूत्यै हृदयाह्लाददायिभिः ।

तस्येति—स्वातन्त्र्यस्य ॥

अत एव एषां चिदानन्दघनमेव रूपं पूजायोग्यम्—इत्याह—

शिवाभेदभराद्भाववर्गः श्च्योतति यं रसम् ॥ ६१ ॥
तमेव परमे धाम्नि पूजनायार्पयेद् बुधः ।

एतच्च मयैव अन्यत्र वितत्योक्तम्—इत्याह—

स्तोत्रेषु बहुधा चैतन्मया प्रोक्तं निजाह्निके ॥ ६२ ॥

एतदेवोच्चित्य दर्शयति—

अधिशय्य पारमार्थिकभावप्रसरप्रकाशमुल्लसति ।

क्योंकि (विद्वान् लोग) ब्रह्म के बारे में बहुत्व अथवा अल्पत्व की दुर्दशा को नहीं कहते ॥ ६०- ॥

प्रश्न—विचित्र कारणों से कल्प्यमान भी क्रिया यदि इसमें (= मोक्ष में) विशेष का आधान नहीं करती तो इनको मुख्यरूप से हृदयाह्लादकारी कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चित् के स्वातन्त्र्यसार वाला होने तथा उस स्वातन्त्र्य के आनन्दघन होने के कारण हृदयाह्लादकारी (पदार्थों) के द्वारा (निष्पन्न होने वाली) क्रिया तन्मयीभाव के लिये (सक्षम) होती है ॥ -६०-६१- ॥

उसके—स्वातन्त्र्य के ॥

इसलिये इनका (= समस्त कारकों का) चिदानन्दघन ही रूप पूजा के योग्य है—यह कहते हैं—

शिव से अभेद रूपी भर के कारण भाववर्ग जिस रस को गिराते हैं विद्वान् परमधाम में पूजा के लिये उसी (= रस) को अर्पित करे ॥ -६१-६२- ॥

इसको मैने ही अन्यत्र विस्तार से कहा है—यह कहते हैं—

अपने आह्निक स्तोत्रों में मैंने इसे अनेक प्रकार से कहा है ॥ -६२ ॥

उसी को उद्धृत कर दिखलाते हैं—

या परमामृतदृक् त्वां तयार्चयन्ते रहस्यविदः ॥ ६३ ॥
कृत्वाधारधरां चमत्कृतिरसप्रोक्षाक्षणक्षालिता-
मात्तैर्मानसतः स्वभावकुसुमैः स्वामोदसन्दोहिभिः ।
आनन्दामृतनिर्भरस्वहृदयानर्घार्घपात्रक्रमात्
त्वां देव्या सह देहदेवसदने देवार्चयेऽहर्निशम् ॥ ६४ ॥
नानास्वादरसामिमां त्रिजगतीं हृच्चक्रयन्त्रार्पिता-
मूर्ध्वाध्यस्तविवेकगौरवभरान्निष्पीड्य निःष्यन्दितम् ।
यत्संवित्परमामृतं मृतिजराजन्मापहं जृम्भते
तेन त्वां हविषा परेण परमे संतर्पयेऽहर्निशम् ॥ ६५ ॥
इति श्लोकत्रयोपात्तमर्थमन्तर्विभावयन् ।
येन केनापि भावेन तर्पयेद्देवतागणम् ॥ ६६ ॥
मुद्रां प्रदर्शयेत्पश्चान्मनसा वापि योगतः ।
वचसा मन्त्रयोगेन वपुषा संनिवेशतः ॥ ६७ ॥
कृत्वा जपं ततः सर्वं देवतायै समर्पयेत् ।
तच्चोक्तं कर्तृतातत्त्वनिरूपणविधौ पुरा ॥ ६८ ॥
ततो विसर्जनं कार्यं बोधैकात्म्यप्रयोगतः ।
कृत्वा वा वह्निगां मन्त्रतृप्तिं प्रोक्तविधानतः ॥ ६९ ॥

जो परमामृत दृष्टि परमार्थिक भावप्रसर के प्रकाश के कारण उल्लसित होती है रहस्यवेत्ता लोग उससे तुम्हारी पूजा करते हैं ॥ हे देव ! मूलाधार-रूपी धरती को चमत्कृतिरस वाले प्रोक्षाक्षण (= प्रोक्षण अमृत) से क्षालित कर मन से प्राप्त अपने अमोदसन्दोह वाले स्वभावकुसुमों के द्वारा, आनन्दामृत से परिपूर्ण अपने हृदयरूपी अमूल्य अर्घपात्र के क्रम से देहरूपी देवालय में देवी के साथ आपकी अहर्निश पूजा करता हूँ ॥ अनेक स्वादिष्ट रस वाले इस त्रिलोक को हृदयचक्रयन्त्र में अर्पित कर ऊपर अध्यस्त (= रखे गये) विवेक के गुरुभार से पीड़ित कर निकाला गया मृत्यु और जरा को नष्ट करने वाला जो संविद् रूपी परम अमृत प्रकट होता है उस उत्कृष्ट हविष् से, हे सर्वोत्कृष्टे ! रात दिन तुम्हारा तर्पण करता हूँ ॥ इन तीन श्लोक से प्राप्त अर्थ को अपने मन में भावित करते हुये जिस किसी भाव से देवतासमूह को तर्पित करे । उसके बाद मन, योग, मन्त्रयुक्त वाणी अथवा शरीर के सन्निवेश से मुद्रा-प्रदर्शन करे । फिर जप कर सम्पूर्ण (जप) देवता को समर्पित करे । यह पहले कर्त्तव्यतत्त्व निरूपण विधि में कहा गया है । इसके बाद बोधतादात्म्य के प्रयोग से विसर्जन करे । अथवा उक्त विधान के अनुसार अग्निसम्बन्धी मन्त्रतृप्ति

द्वारपीठगुरुव्रातसमर्पितनिवेदनात् ।
ऋतेऽन्यत्स्वयमश्नीयादगाधेऽम्भस्यथ क्षिपेत् ॥ ७० ॥

तयेति—परमामृतदृशा । आधारोऽत्र जन्माधारः । यन्त्रेत्यादिना—अत्र लौकिकश्चाक्रिकवृत्तान्तोऽपि कटाक्षितः । एतच्च प्राग्व्याख्ययैव गतार्थमिति नेह प्रातिपद्येन व्याख्यातम् । श्लोकत्रयोपात्तमर्थमिति—परसंविद्विश्रान्तिलक्षणम् । पुरेति—नवमत्रयोदशाह्निकादौ । अन्यदिति—मुख्यम् ॥ ७० ॥

अस्य अगाधाम्भःप्रक्षेपणकारणमाह—

प्राणिनो जलजाः पूर्वदीक्षिताः शम्भुना स्वयम् ।
विधिना भाविना श्रीमन्मीननाथावतारिणा ॥ ७१ ॥

भाविनेति—एकान्नत्रिंशाह्निकादौ वक्ष्यमाणेन ॥ ७१ ॥

अन्यभक्षणेन दोषः—इत्याह—

मार्जारमूषिकाद्यैर्यददीक्षैश्चापि भक्षितम् ।
तच्छङ्कातङ्कदानेन व्याधये नरकाय च ॥ ७२ ॥

तदुक्तम्—

(= अग्नि में हवन) करके द्वारदेवता पीठदेवता और गुरुसमूह को समर्पित निवेदन को छोड़कर अतिरिक्त (हविष्) को स्वयं खाये या अगाध जल में फेंक दे ॥ ६३-७० ॥

उससे = परमामृतदृष्टि से । आधार = जन्माधार (या मूलाधार)। 'यन्त्र' इत्यादि के द्वारा यहाँ लौकिक चक्री का वृत्तान्त भी सङ्केतित है । यह पूर्व व्याख्या से ही गतार्थ है इसलिये यहाँ प्रतिपद व्याख्या नहीं की गयी । तीन श्लोकों से प्राप्त अर्थ को = परसंविद्विश्रान्तिलक्षण वाले । पहले—नवम त्रयोदश आदि आह्निकों में । अन्यत् = मुख्य ॥ ७० ॥

इसके अगाध जल में फेंकने का कारण बतलाते हैं—

जलज प्राणी भावी विधि के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ का अवतार धारण करने वाले शिव के द्वारा पहले से ही दीक्षित है ॥ ७१ ॥

भावी—उन्तीसवें आह्निक आदि में कही जाने वाली ॥ ७१ ॥

अन्य के भक्षण में दोष कहते हैं—

बिल्ली मूषक आदि अदीक्षित जीवों के द्वारा जो (हविष्) खाया जाता है वह शङ्कातङ्कदान (= मानसिक आशङ्का रूपी आतङ्क की उत्पत्ति को देने) के कारण व्याधि और नरक के लिये होता है ॥ ७२ ॥

भुक्तोज्झितं हि यच्चान्नमुच्छिष्टं गुरुदेवयोः ।
रक्षेन्निक्षेपवन्नित्यं न देयं यस्य कस्यचित् ॥
गर्ते चाग्नौ जले कूपे प्रक्षिपेत्प्रयतात्मवान् ।
अदीक्षितैर्यदा भुक्तं मन्त्रसिद्धिर्विनश्यति ॥
अभक्तैस्तस्करभयं लौकिको यदि भक्षयेत् ।
वैकल्यं जायते तस्य दुःखितोऽन्यैश्च पक्षिभिः ॥
मकरैः पुत्रनाशः स्यान्मेषैस्तनयनाशनम् ।
वानरैर्बन्धनं देवि लीढं वा यदि वा भवेत् ॥
खरोष्ट्र्योरेव दारिद्र्यं शुकैः शोकविवर्धनम् ।
सुखसौभाग्यनाशः स्याल्लीढे मर्कटवाजिभिः ॥
बिडालेन विलीढं स्याद् व्याधिराशु प्रवर्तते ।
कलहः शारिकाभिश्च कलविङ्कैर्विशेषतः ॥
काकैर्विदेशगमनं चिल्लया मरणं भवेत् ।
आयुषोऽपि भवेद्धानिरुन्दुरो यदि भक्षयेत् ॥
सारमेयो यदा भुङ्क्ते तदा व्याधिसमुद्भवः ।
गोभिर्विद्वेषणं जायेज्जम्बुकेभ्यो ध्रुवं वधः ॥
व्यभिचारस्तु दाराणां वराहो यदि भक्षयेत् ।
चौरेभ्यस्तु भयं जायेन्नकुलस्तु यदा स्पृशेत् ॥
दुष्टमानुषयोषिद्भिर्नास्तिकैरुपयुज्यते ।
तदा दुःखानि सर्वाणि प्राप्नुवन्त्यपि साधकाः ॥' इति ॥ ७२ ॥

वही कहा गया—

'गुरु और देवता के द्वारा खाने के बाद जो अन्न बचा अत एव उच्छिष्ट है उसे धरोहर की भाँति सुरक्षित रखना चाहिये । जिस किसी को नहीं देना चाहिये । यत्नशील साधक उसे गड्ढा अग्नि जल अथवा कुयें में फेंक दें । जब वह (हविष्) दीक्षारहित लोगों के द्वारा खायी जाती है तो मन्त्रसिद्धि नष्ट हो जाती है । अभक्त लोगों के द्वारा (भक्षित होने पर) चोर से भय होता है । सामान्य आदमी यदि खाये तो वह विकलाङ्ग हो जाता है । अन्य पक्षियों के द्वारा (भक्षण में) दुःख, मकरों के द्वारा पुत्रनाश, मेषों के द्वारा तनय (= कुल परम्परा को बढ़ाने वाले) नाश, गधा और ऊँट से दरिद्रता, शुक से शोकवृद्धि, वानर और घोड़ों के द्वारा खाये जाने पर सुख एवं सौभाग्य का नाश, विडाल से भक्षित होने पर शीघ्र ही व्याधि होती है । मैना विशेषरूप से कलविङ्क से कलह, कौओं से विदेशगमन, चील्ह से भक्षण होने पर मरण होता है । यदि उन्दुर (= चूहा) खाये तो आयु की हानि होती है । यदि पालतू कुत्ता खाये तो रोगोत्पत्ति, गायों द्वारा खाने से विद्वेषण होता है । सियारों से वध, यदि सूअर खाये तो स्त्रियों का व्यभिचार होता है । यदि नेवला खाये तो चोरों से भय होता है । यदि नास्तिक दुष्ट मनुष्य या स्त्री खायें तो साधकगण

ननु अत्र दीक्षितादीक्षितविभागो नाम विकल्पः, स च निर्विकल्पानां ज्ञानिनां न न्याय्य इति कथमविशेषेणैवैतदुक्तम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

अतस्तत्त्वविदा ध्वस्तशङ्कातङ्कोऽपि पण्डितः ।
प्रकटं नेदृशं कुर्याल्लोकानुग्रहवाञ्छया ॥ ७३ ॥

अत इति—मार्जारादिभक्षणस्य एवं प्रत्यवायहेतुत्वात् । विदेति—ज्ञानम् । प्रकटमिति—यथा न कश्चिदपि एवं पश्येत्—इत्यर्थः । तथात्वे हि सविकल्पोऽपि लोक एवमादध्यादिति शास्त्रीयो विधिरुत्सीदेत् । यद्वा अयं ज्ञानिनं प्रति विचिकित्सते शास्त्रविरुद्धमनेन अनुष्ठितमिति ॥ ७३ ॥

न च एतन्निर्मूलमेव उक्तम्—इत्याह—

श्रीमन्मतमहाशास्त्रे तदुक्तं विभुना स्वयम् ।

तदेव आह—

स्वयं तु शङ्कसङ्कोचनिष्कासनपरायणः ॥ ७४ ॥
भवेत्तथा यथान्येषां शङ्का नो मनसि स्फुरेत् ।
मार्जयित्वा ततः स्नानं पुष्पेणाथ प्रपूजयेत् ॥ ७५ ॥
पुष्पादि सर्वं तत्स्थं तदगाधाम्भसि निक्षिपेत् ।

सभी दुःखों को प्राप्त करते हैं' ॥ ७२ ॥

प्रश्न—यहाँ दीक्षित-अदीक्षित का विभाग विकल्प है और वह निर्विकल्प ज्ञानियों के लिये उचित नहीं है फिर सामान्यरूप से यह कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसलिये तत्त्वज्ञान के द्वारा ध्वस्तसमस्तशङ्काआतङ्क वाला पण्डित भी लोकानुग्रह की इच्छा से इसे प्रकट न करे ॥ ७३ ॥

इसलिये—मार्जार आदि के द्वारा भक्षण के इस प्रकार विघ्न का कारण होने से । विदा = ज्ञान । प्रकट—जिससे कि कोई भी ऐसा न देख पायें । क्योंकि वैसा होने पर सविकल्पक लोग भी ऐसा ही करेंगे फलतः शास्त्रीय विधान नष्ट हो जायेगा । अथवा यह लोक ज्ञानी के विषय में सन्देह करने लगेगा कि इसने शास्त्रविरुद्ध आचरण किया ॥ ७३ ॥

यह निर्मूल ही नहीं कहा गया—यह कहते हैं—

परमेश्वर ने मतशास्त्र में स्वयं कहा है ॥ ७४- ॥

उसी को कहते हैं—

(साधक) स्वयं शङ्कासङ्कोच को निकाल दे ताकि दूसरों के मन में शङ्का न उत्पन्न हो । फिर मार्जन कर स्नान करे । फिर पुष्प से पूजा करे ।

तत इति नैवेद्यभक्षणाद्यनन्तरम् ॥

आह्निकार्थमेवोपसंहरति—

उक्तः स्थण्डिलयागोऽयं नित्यकर्मणि शम्भुना ॥ ७६ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके स्थण्डिलपूजाप्रकाशनं नाम षड्विंशमाह्निकम् ॥ २६ ॥

इति शिवम् ॥ ७६ ॥

श्रीमद्गुरुप्रसादासादितपूजासतत्त्वसुहितमतिः ।
षड्विंशमाह्निकमिदं व्याचक्रे जयरथाभिख्यः ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते स्थण्डिलपूजाप्रकाशनं नाम षड्विंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ २६ ॥
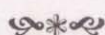
और उस (= स्थण्डिल) पर स्थित पुष्प आदि सब को अगाध जल में फेंक दे ॥ -७४-७६- ॥

इसके बाद = नैवेद्यभक्षण के बाद ॥

आह्निक के विषय का उपसंहार करते हैं—

नित्यकर्म के विषय में शिव ने यह स्थण्डिलयाग कहा है ॥ ७६ ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के षड्विंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २६ ॥

गुरु की कृपा से प्राप्त पूजातत्त्व में बुद्धि लगाने वाले जयरथ ने इस छब्बीसवें आह्निक की व्याख्या की ॥

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के षड्विंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २६ ॥
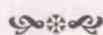
सप्तविंशमाह्निकम्
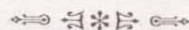
* विवेकः *

देवं चक्रव्योमग्रन्थिगमाधारनाथमजम् ।
अपि परसंविद्रूढैः स्पृहणीयं स्पृहणमस्मि नतः ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन नित्यावशेषरूपां लिङ्गार्चां वक्तुमाह—

अथोच्यते लिङ्गपूजा सूचिता मालिनीमते ॥ १ ॥

सूचितेति—

'यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम् ।' (१८।३)

इत्यादिना ॥ १ ॥

---

* ज्ञानवती *

चक्रआकाशग्रन्थि में रहने वाले, मूल-आधार के स्वामी, अजन्मा, परासंविद् में रूढ लोगों के द्वारा स्पृहणीय और स्पृहायुक्त को (मैं) प्रणाम करता हूँ ।

अब उत्तरार्ध के द्वारा नित्यअवशेष रूप लिङ्गार्चन को कहते हैं—

अब मालिनीतन्त्र में वर्णित लिङ्गपूजा कही जाती है ॥ १ ॥

सूचिता—

'उस आध्यात्मिक लिङ्ग की पूजा करनी चाहिये जिसमें चर अचर सब कुछ लीन है ।' (तं.आ. १८।३)

इत्यादि के द्वारा ॥ १ ॥

ननु अत्र कस्माल्लिङ्गपूजायाः साक्षादेव न अभिधानं कृतम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

एतेषामूर्ध्वशास्त्रोक्तमन्त्राणां न प्रतिष्ठितम् ।
बहिष्कुर्यात्ततो ह्येते रहस्यत्वेन सिद्धिदाः ॥ २ ॥

ननु एषां बहिःप्रतिष्ठया किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

स्ववीर्यानन्दमाहात्म्यप्रवेशवशशालिनीम् ।
ये सिद्धिं ददते तेषां बाह्यत्वं रूपविच्युतिः ॥ ३ ॥

निमित्तान्तरमप्यत्रास्ति—इत्याह—

किञ्च चोक्तं समावेशपूर्णो भोक्त्रात्मकः शिवः ।
भोगलाम्पट्यभाग्भोगविच्छेदे निग्रहात्मकः ॥ ४ ॥

ननु निग्रहात्मकत्वेन अस्य किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

शान्तत्वन्यक्क्रियोद्भूतजिघत्सावृंहितं वपुः ।
स्वयं प्रतिष्ठितं येन सोऽस्याभोगे विनश्यति ॥ ५ ॥

प्रश्न—यहाँ लिङ्गपूजा का साक्षात् निर्वचन क्यों नही किया गया ?—यह शङ्का कर कहते है—

इस कारण ऊर्ध्वशास्त्रोक्त इन मन्त्रों की प्रतिष्ठा का बाह्य प्रचार नही करना चाहिये । क्योंकि ये रहस्य के रूप में ही सिद्धि देते हैं ॥ २ ॥

प्रश्न—इनका बाहर प्रचार करने से क्या हो जायगा ?—यह शङ्का कर कहते है—

जो (मन्त्र या पद्धतियाँ) अपने वीर्य से उत्पन्न आनन्द के माहात्म्य में प्रवेश करने वाली सिद्धि देते हैं उनका बाहर होना (उनका) स्वरूपनाश होना है ॥ ३ ॥

इसमें कारणान्तर भी है—यह कहते हैं—

और भी कहा गया है कि शिव समावेशपूर्ण भोक्तास्वरूप हैं । भोगलम्पटता वाले (इस शिव) का भोग हट जाने पर वे निग्रहात्मक हो जाते हैं ॥ ४ ॥

प्रश्न—निग्रहरूप होने से इनका क्या हो जायगा ?—यह शङ्का कर कहते है—

शान्ति के तिरोभाव के द्वारा उत्पन्न भोगेच्छा के कारण उत्पन्न शरीर जिसके द्वारा स्वयं प्रतिष्ठित है वही इसका (= मन्त्र का) विस्तार होने पर

स इति—स्वयंप्रतिष्ठाता ॥ ५ ॥

न च एतद्युक्तिमात्रशरणमेव—इत्याह—

उक्तं ज्ञानोत्तरायां च तदेतत्परमेशिना ।
शिवो यागप्रियो यस्माद्विशेषान्मातृमध्यगः ॥ ६ ॥
तस्माद्रहस्यशास्त्रेषु ये मन्त्रास्तान्बुधो बहिः ।
न प्रतिष्ठापयेज्जातु विशेषाद् व्यक्तरूपिणः ॥ ७ ॥
अत एव मृतस्यार्थे प्रतिष्ठान्यत्र योदिता ।
सात्र शास्त्रेषु नो कार्या कार्या साधारणी पुनः ॥ ८ ॥

अत एवेति—बहिःप्रतिष्ठानिषेधात् । अन्यत्रेति—श्रीमृत्युञ्जयादौ । यदुक्तम्—

'प्रतिष्ठा वापि कर्तव्या दग्धपिण्डे श्मशानके ।' इति ।

साधारणीति—नेत्रमन्त्रादिना ॥ ८ ॥

एवमस्मद्दर्शने बहिःस्थिरप्रतिष्ठानिषेधात् चलैव कार्या—इत्याह—

आ तन्मयत्वसंसिद्धेरा चाभीष्टफलोदयात् ।

नष्ट हो जायगा ॥ ५ ॥

वह = स्वयं प्रतिष्ठाता ॥ ५ ॥

यह केवल युक्ति के आधार पर नहीं (कहा गया) है—यह कहते हैं—

ज्ञानोत्तर तन्त्र में परमेश्वर ने स्वयं कहा है—चूँकि शिव यागप्रिय हैं और वह भी विशेष रूप से अनन्तप्रमाताओं के मध्यगामी होकर । इसलिये रहस्यशास्त्रों में जो मन्त्र (कहे गये) हैं विद्वान् उनको कभी भी विशेषतः व्यक्तरूप से बाहर प्रचारित न करे । इसीलिये मृत व्यक्ति के लिये जो प्रतिष्ठा अन्यत्र कही गयी है वह इन शास्त्रों में नहीं करनी चाहिये बल्कि साधारणी (प्रतिष्ठा) करनी चाहिये ॥ ६-८ ॥

इसीलिये = बाह्यप्रतिष्ठापना के निषेध के कारण । अन्यत्र = मृत्युञ्जय शास्त्र आदि में । जैसा कि कहा गया—

'अथवा जहाँ शरीर दग्ध हुआ उस श्मशान में प्रतिष्ठा करनी चाहिये ।'

साधारणी = **नेत्रमन्त्र** (= नेत्रतन्त्र में वर्णित मूलमन्त्र) आदि के द्वारा ॥ ८ ॥

इस प्रकार हमारे दर्शन में बाहर स्थिर प्रतिष्ठा का निषेध होने से चल (प्रतिष्ठा) ही करनी चाहिये—यह कहते हैं—

तन्मयता की सिद्धि तक और वाञ्छित फल की उत्पत्ति तक पुत्रक

पुत्रकः साधको व्यक्तमव्यक्तं वा समाश्रयेत् ॥ ९ ॥

प्रतिमा च अत्र पुत्रकादिभिः किं स्वयमेव कार्या न वा ?—इत्याशङ्क्य आह—

पुत्रकैर्गुरुरभ्यर्थ्यः साधकस्तु स्वयं विदन् ।
यदि तत्स्थापयेन्नो चेत्तेनाप्यर्थ्यो गुरुर्भवेत् ॥ १० ॥
गुरुश्चात्र निरोधाख्ये काल इत्थं विभौ वदेत् ।
जीवत्यस्मिन्फलान्तं त्वं तिष्ठेर्जीवावधीति वा ॥ ११ ॥
लिङ्गं च बाणलिङ्गं वा रत्नजं वाथ मौक्तिकम् ।
पौष्पमान्नमथो वास्त्रं गन्धद्रव्यकृतं च वा ॥ १२ ॥
न तु पाषाणजं लिङ्गं शिल्प्युत्थं परिकल्पयेत् ।
धातूत्थं च सुवर्णोत्थवर्जमन्यद्विवर्जयेत् ॥ १३ ॥
न चात्र लिङ्गमानादि क्वचिदप्युपयुज्यते ।
उदारवीर्यैर्मन्त्रैर्यद्धासितं फलदं हि तत् ॥ १४ ॥
तस्यापि स्थण्डिलाद्युक्तविधिना शुद्धिमाचरेत् ।
मन्त्रार्पणं तथैव स्यान्निरोधस्तूक्तयुक्तितः ॥ १५ ॥

साधक, व्यक्त अथवा अव्यक्त (लिङ्ग) का आश्रयण करे ॥ ९ ॥

इसमें पुत्रक आदि, प्रतिमा को स्वयं बनायें या न बनायें?—यह शङ्का कर कहते हैं—

पुत्रक दीक्षा प्राप्त साधक (प्रतिमास्थापनार्थ) गुरु की अभ्यर्थना करें और साधक स्वयं जानते हुये उसे स्थापित करे । यदि ऐसा नहीं है तो वह भी (उसके लिये) गुरु से प्रार्थना करे । और गुरु निरोध नामक काल (= वह काल जिसमें सन्निधान मुद्रा के द्वारा भगवदौन्मुख्य प्राप्त कर वहाँ ठहरा जाता है) में परमेश्वर से ऐसा कहें—इसके जीवित रहने पर आप (= देव) फलप्राप्ति पर्यन्त अथवा जीवन पर्यन्त (इस प्रतिमा में) रहिये । लिङ्ग बाण लिङ्ग (= नर्मदा नदी में प्राप्त होने वाला श्वेत शिवलिङ्ग) होना चाहिए अथवा रत्ननिर्मित, मोतीवाला, पुष्प अन्न वस्त्र अथवा ग्रन्धद्रव्य से निर्मित होना चाहिये । शिल्पी के द्वारा निर्मित पत्थर का लिङ्ग नहीं बनाना चाहिये (क्योंकि वे स्थिर प्राणप्रतिष्ठा के लिए गृहीत होते हैं)। सुवर्णनिर्मित को छोड़कर अन्य धातुओं से बने (लिङ्ग) को छोड़ देना चाहिये । यहाँ लिङ्ग के परिमाण आदि का (फलदान में) कहीं भी उपयोग नहीं होता । उदारवीर्य वाले मन्त्रों से जो चमत्कृत होता है वही फलदायी होता है । उसकी भी स्थण्डिल आदि (के विषय में) कही गयी विधि से शुद्धि करे ।

अग्नौ च तर्पणं भूरिविशेषाद्दक्षिणा गुरोः ।
दीनादितृप्तिर्विभवाद्याग इत्यधिको विधिः ॥ १६ ॥
सर्वेष्वव्यक्तलिङ्गेषु प्रधानं स्यादकल्पितम् ।
तथा च तत्र तत्रोक्तं लक्षणे पारमेश्वरे ॥ १७ ॥
सूत्रे पात्रे ध्वजे वस्त्रे स्वयम्भूबाणपूजिते ।
नदीप्रस्रवणोत्थे च नाह्वानं नापि कल्पना ॥ १८ ॥
पीठप्रसादमन्त्रांशवेलादिनियमो न च ।
व्यक्तं वा चित्रपुस्तादौ देवदारुसुवर्णजम् ॥ १९ ॥
अथ दीक्षितसच्छिल्पिकृतं स्थापयते गुरुः ।
अथवा लक्षणोपेतमूर्धतत्कर्पराश्रितम् ॥ २० ॥
पङ्क्तिचक्रकशूलाब्जविधिना तूरमाश्रयेत् ।
तल्लक्षणं ब्रुवे श्रीमत्पिचुशास्त्रे निरूपितम् ॥ २१ ॥
तूरे योगः सदा शस्तः सिद्धिदो दोषवर्जिते ।

स्थापयेदिति—स्वयमेव । नो चेदिति—स्वयमज्ञत्वे सति—इत्यर्थः । अस्मिन्निति—साधके पुत्रके वा । फलान्तं जीवावधीति वा । यदुक्तम्—

उसी प्रकार मन्त्र का अर्पण और पूर्वोक्त युक्ति से (उसमें प्राणचार का) निरोध करे । फिर अग्नि में तर्पण, गुरु के लिये विशेष दक्षिणा, दोनों की (अन्नदान आदि के द्वारा) तृप्ति, अपने सामर्थ्य के अनुसार याग इतनी अधिक विधि है । समस्त अव्यक्त लिङ्गों में प्रधान अकल्पित होता है ऐसा पारमेश्वर ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर कहा गया है ।—अक्षमाला, बड़ा पात्र, ध्वज, वस्त्र, स्वयम्भू लिङ्ग बाण लिङ्ग व नदी नाले में उत्पन्न (लिङ्ग) में न आवाहन होता है न (प्रधानपुरुष की) कल्पना । पीठ (= कामरूप आदि) प्रसाद, मन्त्रांश (= ॐ नमः शिवाय का एक-एक अक्षर अ उ म् श् इ व् आ य् अ इत्यादि), वेला (= प्रातः मध्याह्न आदि) आदि का नियम नहीं है । गुरु को चाहिये कि वह चित्र (= चित्रलिखित) पुस्तक (= स्थान विशेष) आदि में उट्टंकित अथवा देवदारु या सुवर्ण से निर्मित अथवा दीक्षित शिल्पी द्वारा बनायी गयी (प्रतिमा) की स्थापना करे । अथवा सत् लक्षणों से युक्त मूर्ध और उसके कपाल में आश्रित खोपड़ी का (भूपुरसदृश) पङ्क्ति, चक्रक, शूलाब्ज विधि के द्वारा ग्रहण करे । पिचुशास्त्र में निरूपित उसका लक्षण कहता हूँ—तूर (= सुवर्ण आदि धातुओं से निर्मित पात्र अथवा दोषरहित खोपड़ी) में योगसाधना सदा सिद्धिप्रद कही गयी है ॥ १०-२२- ॥

स्थापित करे—स्वयं ही । नहीं तो—स्वयं अज्ञ होने पर । इसके = साधक

'आ तन्मयत्वसंसिद्धेरा चाभीष्टफलोदयात् ।' इति ।

वास्त्रमिति वस्त्रादावेव कृतसंनिवेशम् । न तु पाषाणजमिति—तद्धि—स्थिर-प्रतिष्ठायां योग्यमित्याकूतम् । अन्यद्विवर्जयेदिति—तेन सौवर्णमेव कार्यम्—इत्यर्थः । नात्र लिङ्गमानाद्युपयुज्यते इति, यदभिप्रायेणैव

'सिद्धैः संस्थापितानां तु न मानादि विचारयेत्।'

इत्यादि उक्तम् । तस्येति—लिङ्गस्य । उक्तेति—

'जीवत्यस्मिन्फलान्तं त्वं तिष्ठेर्जीवावधीति वा ।' इति ।

भूरिविशेषादिति—न तु विशेषमात्रात् । अधिक इति—नित्यात् । सूत्र इति—अक्षसूत्रे । पात्र इति—महति । ध्वज इति—खट्वाङ्गादौ । वस्त्र इति—यागार्थं परिकल्पिते । मूर्धेति—अखण्डम् । चक्रकेति—आवर्तक्रमेण । तदेव पठति तूर इत्यादि ॥

दोषानेव अभिधत्ते—

जालकैर्जर्जरै रन्ध्रैर्दन्तैरूनाधिकै रुजा ॥ २२ ॥
युक्ते च तूरे हानिः स्यात् तद्धीने याग उत्तमः।

अथवा पुत्रक के । फलप्राप्ति पर्यन्त या जीवनपर्यन्त । जैसा कि कहा गया—

'या तो तन्मयता की सिद्धि तक या इष्टफल की प्राप्ति तक ।'

वास्त्र = वस्त्र आदि में सन्निवेश करने वाला । न कि पत्थर से बना—क्योंकि वह स्थिरप्रतिष्ठा में उचित होता है । अन्य को छोड़ दे—इससे सुवर्ण का ही बनाये—यह अर्थ होता है । इस विषय में लिङ्गपरिमाण आदि का विचार नहीं किया जाता । इसी अभिप्राय से—

'सिद्ध पुरुषों के द्वारा संस्थापित (प्रतिमा या लिङ्ग) के परिमाण आदि (= स्वरूप) का विचार नहीं करना चाहिये ।'

—इत्यादि कहा गया । उसका = लिङ्ग का । उक्त—

'इसके जीवित रहने पर........फलपर्यन्त या इसके जीवन-पर्यन्त तुम रहो ।'

अधिक विशेष से—न कि केवल थोड़ा सा वैशिष्ट्य लेकर । अधिक—नित्य विधि की अपेक्षा । सूत्र में = अक्षमाला में । पात्र में—बड़े (पात्र में) । ध्वज में = खट्वाङ्ग आदि में । वस्त्र में—याग के लिये बनाये गये । मूर्धा—अखण्ड । चक्रक = आवर्त्तन के क्रम से । उसी को पढ़ते हैं—तूर इत्यादि ॥

(= तूरस्थ = खोपड़ी में स्थित) दोषों को ही बतलाते हैं—

सूक्ष्म नये या पुराने छिद्रों, (बत्तीस से) कम या अधिक दाँतों, रोग से

काम्य एव भवेत्तूरमिति केचित्प्रपेदिरे ॥ २३ ॥

जालकैरिति—नवोद्भिन्नैः सूक्ष्मप्रायैः । जर्जरैरिति—तैरेव चिरोद्भिन्नैः । ऊनाधिकैरिति—द्वात्रिंशतः । रुजेति—क्लेदादिरूपया । तद्धीन इति—जालकादि-रहिते । केचिदिति—प्राच्याः ॥ २३ ॥

स्वमतमाह—

गुरवस्तु विधौ काम्ये यत्नाद्दोषांस्त्यजेदिति ।
व्याचक्षते पिचुप्रोक्तं न नित्ये कर्मणीत्यदः ॥ २४ ॥
श्रीसिद्धातन्त्र उक्तं च तूरलक्षणमुत्तमम् ।
एकादिकचतुष्खण्डे गोमुखे पूर्णचन्द्रके ॥ २५ ॥
पद्मगोरोचनामुक्तानीरस्फटिकसंनिभे ।
एकादिपञ्चसद्रन्ध्रविद्यारेखान्विते शुभे ॥ २६ ॥
न रूक्षवक्रशकलदीर्घनिम्नसबिन्दुके ।
श्लक्ष्णया वज्रसूच्यात्र स्फुटं देवीगणान्वितम् ॥ २७ ॥
सर्वं समालिखेत्पूज्यं सर्वावयवसुन्दरम् ।

गोमुखेति—आकारसादृश्याय, पद्मेत्यादि च वर्णसादृश्याय उपात्तम् ।

युक्त तूर (का ग्रहण करने) पर हानि होती है । उन दोषों से रहित तूर में याग उत्तम होता है उससे रहित (का ग्रहण) होता है—तूर का ग्रहण काम्य कर्मों में ही होता है ऐसा कुछ लोग मानते हैं ॥ -२२-२३ ॥

जालक = नये उत्पन्न छोटे-छोटे । जर्जर = वे (= छोटे-छोटे) ही किन्तु बहुत पहले उत्पन्न । कम या अधिक = बत्तीस से । रोग = नमी आदि रूप । उससे रहित = जालक आदि से रहित । कुछ लोग = प्राचीन लोग ॥ २३ ॥

अपना मत बतलाते हैं—

हमारे गुरु—काम्य विधि में यत्नपूर्वक (तूरस्थ) दोषों का परित्याग कर दे नित्य कर्म में नहीं—पिचुशास्त्र के वचन की ऐसा व्याख्या करते हैं । सिद्धातन्त्र में तूर का उत्तमलक्षण कहा गया है—एक से लेकर चारखण्ड वाले, गाय के समान मुख वाले, पूर्णचन्द्रमा के समान, कमल गोरोचन मुक्ता जल स्फटिक के समान, एक से लेकर पाँच अच्छे छिद्र (तथा चतुर्दश) रेखा से युक्त सुन्दर, रूक्ष टेढ़े-मेढ़े खण्डित लम्बे छोटे बिन्दु से युक्त नहीं होना चाहिए चिकनी वज्रसूची (हीरे से बनी सूई या छीनी) से इस पर स्पष्टरूप से सर्वावयवसुन्दर पूज्य समस्त देवीसमूह का उल्लेख करे ॥ २४-२८- ॥

सद्रन्ध्रेति—अत्र रन्ध्राणां सत्त्वं मद्यादिनिर्गमनहेतुत्वभावात् । विद्येति—चतुर्दश । यदुक्तं तत्र—

'आदौ तावत्परीक्षेत कपालं लक्षणान्वितम् ।
एकखण्डे द्विखण्डे वा त्रिखण्डे वा सुशोभने ।
चतुष्खण्डे गोमुखे वा पूर्णचन्द्रसमप्रभे ।
पद्माभे रोचनाभे वा नीराभे मौक्तिकप्रभे ॥
प्रवालाभेन्द्रनीलाभे शुद्धस्फटिकसंनिभे ।
विद्यारेखासमायुक्ते एकरन्ध्रे द्विरन्ध्रके ॥
त्रिचतुष्पञ्चके वाऽथ कर्तव्यं शुभलक्षणम् ।
रूक्षे जर्जरिते क्रूरे वक्रे दीर्घे कृशोदरि ॥
बिन्दुभिः खचिते निम्ने न कदाचित् कृतिं कुरु ।
ज्ञात्वा लक्षणसंशुद्धं कपालं सार्वकामिकम् ॥
तत्र चोर्ध्वपुटे कार्या प्रतिमा या मनःस्थिता ।
तुर्यांशे तु कृते क्षेत्रे तदन्ते वृत्तमालिखेत् ॥
वृत्तान्ते तु पुनर्वृत्तं पुनर्मध्यं त्रिभागिकम् ।
तस्य मध्ये पुनः पद्मं ज्ञात्वा चक्रे यथा तथा॥
मध्ये देवीं च वा देवं योगिनीभिः परीवृतम् ।
श्लक्ष्णया वज्रसूच्या च कार्या चैवाङ्गकल्पना ॥'

गोमुख—आकार की समानता के लिये और पद्म इत्यादि वर्ण (रंग) की समानता के लिये कहा गया है । सद्रन्ध्र—इसमें छिद्रों की सत्ता मद्य आदि के निर्गमन का कारण होने से है । विद्या = चौदह । वही वहाँ कहा गया है—

'हे सुशोभने ! सबसे पहले (उत्तम) लक्षणों से युक्त कपाल की परीक्षा करे । (= यह तूर) एक खण्ड दो खण्ड तीन खण्ड चार खण्ड वाले गोमुख के समान, पूर्णचन्द्र के समान प्रभा वाले, कमल या गोरोचन के रंग का, अथवा जल मोती मूंगा नीलम या शुद्धस्फटिक के समान हो, चौदह रेखाओं से युक्त एक से लेकर पाँच छिद्र तक (का कपाल) शुभ लक्षणवाला जानना चाहिये । हे कृशोदरि ! रूक्ष पुराना क्रूर टेढ़ा मेढ़ा लम्बा बिन्दुओं से भरा, छोटा कपाल पर कभी कार्य मत करो । लक्षणों के अनुसार शुद्ध कपाल को समस्त कामनाओं को पूरा करने वाला समझ कर, जो प्रतिमा मन में स्थित हो उसे उस कपाल के ऊर्ध्वपुर (= ऊपर) लिखे । प्रतिमा लिखे गये क्षेत्र के चतुर्थांश में उसके अन्त में वृत्त बनाये । वृत्त के अन्त में पुनः वृत्त बनाये । फिर मध्य को तीन भागों में बाँटे । उस (तीन भाग) के मध्य में पुनः चक्र में जैसे कमल का ध्यान (= कल्पना) उसी प्रकार (कमल के) बीच में योगिनियों से घिरे हुये देव या देवी के अङ्गों की कल्पना (= रचना) श्लक्ष्ण वज्रसूची के द्वारा करे ।'

इत्यादि बहुप्रकारम् ॥

एतदेव अन्यत्रापि अतिदिशति—

एतदेवानुसर्तव्यमर्घपात्रेऽपि लक्षणम् ॥ २८ ॥

तथा च आगमोऽप्येवम्—इत्याह—

श्रीब्रह्मयामलेऽप्युक्तं पात्रं गोमुखमुत्तमम् ।
गजकूर्मतलं कुम्भवृत्तशक्तिकजाकृति ॥ २९ ॥

शक्तिकजं = गुह्यम् ॥ २९ ॥

एवं लिङ्गस्वरूपं बहुधा व्याख्याय अक्षसूत्रं निरूपयति—

अक्षसूत्रमथो कुर्यात्तत्रैवाभ्यर्चयेत्क्रमम् ।
वीरधातुजलोद्भूतमुक्तारत्नसुवर्णजम् ॥ ३० ॥
अक्षसूत्रं क्रमोत्कृष्टं रौद्राक्षं वा विशेषतः ।
शतं तिथ्युत्तरं यद्वा साष्टं यद्वा तदर्धकम् ॥ ३१ ॥
तदर्धं वाथ पञ्चाशद्युक्तं तत्परिकल्पयेत् ।

इत्यादि अनेक प्रकार से कहा गया है ॥

इसी का अन्यत्र भी अतिदेश करते हैं—

इसी लक्षण का अर्घपात्र के विषय में भी अनुसरण करना चाहिये ॥ -२८ ॥

आगम भी ऐसा है—यह कहते हैं—

श्रीब्रह्मयामल में भी गो के सदृश मुखवाला, हाथी या कछुये के समान पेंदी वाला, कुम्भ के पेट के समान गुह्य आकृति वाला पात्र उत्तम कहा गया है ॥ २९ ॥

शक्तिकज = गुह्य ॥ २९ ॥

लिङ्ग के स्वरूप का अनेक प्रकार से व्याख्यान कर अक्षसूत्र का निरूपण करते हैं—

इसके बाद अक्षसूत्र बनाना चाहिये और वहीं पर क्रम की पूजा करनी चाहिये । महाशङ्ख (= खोपड़ी), कमलगट्टा, मोती, रत्न या सुवर्ण से बनी हुयी माला या विशेषरूप से रुद्राक्ष क्रमशः उत्कृष्ट होती है । यह माला एक सौ पन्द्रह या एक सौ आठ अथवा उसका आधा (= चौवन) अथवा उसका आधा (= सत्ताईस) (दाने की होनी चाहिये) । इसके बाद उसे पचास से युक्त बनाना चाहिये ॥ ३०-३२- ॥

वीरधातुः—महाशङ्खः । जलोद्भूतम्—पद्माक्षम् । तिथयः—पञ्चदश । तदर्ध—चतुष्पञ्चाशत् । तदर्ध—सप्तविंशतिः ॥

अत्रैव व्याप्तिं दर्शयति—

वक्त्राणि पञ्च चित्स्पन्दज्ञानेच्छाकृतिसङ्गतेः ॥ ३२ ॥
पञ्चधाद्यन्तगं चैक्यमित्युपान्त्याक्षगो विधिः ।
शक्तितद्वत्प्रभेदेन तत्र द्वैरूप्यमुच्यते ॥ ३३ ॥
ततो द्विगुणमाने तु द्विरूपं न्यासमाचरेत् ।
ततोऽपि द्विगुणे सृष्टिसंहृतिद्वितयेन तम् ॥ ३४ ॥
मातृकां मालिनीं वाऽथ न्यस्येत्खशरसंमिते ।
उत्तमे तु द्वयीं न्यस्येन्यस्य पूर्वं प्रचोदितान् ॥ ३५ ॥
दीक्षायां मुख्यतो मन्त्रांस्तान्पञ्चदश दैशिकः ।
यदि वा तत्त्वभुवनकलामन्त्रपदार्णजैः ॥ ३६ ॥
संख्याभेदैः कृते सूत्रे तं तं न्यासं गुरुश्चरेत् ।
कृत्वाक्षसूत्रं तस्यापि सर्वं स्थण्डिलवद्भवेत् ॥ ३७ ॥
पूजितेन च तेनैव जपं कुर्यादतन्द्रितः ।

वीरधातु = महाशङ्ख । जलोद्भूत = कमलगट्टा । तिथियाँ = पन्द्रह । उसका आधा = चौवन । उसका आधा = सत्ताईस ॥

इसी मे व्याप्ति दिखलाते है—

पाँच मुख (= ईशान आदि) को चित् स्पन्द (= आनन्द) ज्ञान इच्छा क्रिया की संगति से पाँच प्रकार (अर्थात् ५ × ५ = २५) और आदि तथा अन्त में उपाधि से रहित एक-एक रूप यह (२७ दानों) की उपान्त्य मालासम्बन्धी विधि है । शक्ति और शक्तिमान् के भेद से उसमें दो रूप ही कहा जाता है । उससे दो गुना मान (५४) होने पर दो रूपों का न्यास करे । उसके भी दो गुने (१०८) में सृष्टि संहार दो रूप से उसका (= वर्णराशि का न्यास करे) । फिर पचास (मनके) वाली (माला) में मातृका (अ से लेकर क्ष तक) और मालिनी (= न ऋ ॠ ऌ ॡ ... ए ऐ ओ औ द फ) का न्यास करे । पहले कहे गये का न्यास करके फिर उत्तम (= एक सौ पन्द्रह मणियों वाली माला) में दोनों (= मातृका और मालिनी) का न्यास करे । आचार्य दीक्षा में मुख्य रूप से उन पन्द्रह मन्त्रों का न्यास करे । अथवा तत्त्व भुवन कला मन्त्र पद वर्ण से उत्पन्न संख्याभेद के अनुसार गुरु सूत्र (= माला) में उस-उस न्यास को करे । अक्षमाला बना कर उसका भी सब कुछ (संस्कार) स्थण्डिल (के संस्कार)

विधिरुक्तस्त्वयं श्रीमन्मालिनीविजयोत्तरे ॥ ३८ ॥
चक्रवद्भ्रमयन्नेतद्यद्वक्ति स जपो भवेत् ।
यदीक्षते जुहोत्येतद्बोधाग्नौ संप्रवेशनात् ॥ ३९ ॥

पञ्चधेति—वक्त्रपञ्चकस्य चिदादिशक्तिपञ्चकेन गुणनात् पञ्चविंशतिर्भवति—इत्यर्थः । ऐक्यमिति—उपाध्यतीतमेकं रूपम्—इत्यर्थः । तद्धि द्विविधमादावुपाधीनामनुल्लासात् अन्ते च उपाधीनां प्रशमयोगत इति । एवं सप्तविंशतिः । उपान्त्येति—पञ्चाशदक्षात्मनोऽन्त्यस्य अक्षसूत्रस्य समीपवर्तित्वात् । तत्रेति—सप्तविंशतौ । द्विगुणमाने इति—चतुष्पञ्चाशदात्मनि । द्विरूपमिति—शक्तिशक्तिमदात्मकम् । ततोऽपि द्विगुणे इति—अष्टोत्तरशतात्मनि । खशरेति—पञ्चाशत् । उत्तमे इति—पञ्चदशोत्तरशतात्मनि । द्वयीमिति—मातृकामालिनीरूपाम् । पूर्वमिति—सप्तदशाह्निके । यदुक्तं तत्र—

'पिबन्याद्यष्टकं चास्त्रादिकं षट्कं परा तथा ।'

(तं.आ. १७।३९-४०) इति ।

पञ्चदश एते स्युरिति । यदि वेति—पक्षान्तरे । उक्त इति—एकान्नावंशे पटले । यदुक्तं तत्र—

की भाँति होता है । पूजा किये गये उसके (= माला के) द्वारा ही सावधान होकर जप करे । यह विधि मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में कही गयी है । इसको चक्र के समान घुमाता हुआ (साधक) जो कुछ कहता है वह जप होता है । बोधाग्नि में प्रवेश होने के कारण वह जो कुछ जलता हुआ देखता है वह हवन हो जाता है ॥ -३२-३९ ॥

पाँच प्रकार का = पाँच मुखों का चिद् आदि (= आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया) पाँच शक्तियों से गुणा करने पर पचीस हो जाता है । ऐक्य = उपाधि से रहित एक रूप । आदि में उपाधियों का उल्लास न होने से तथा अन्त में उपाधियों के शान्त होने से वह दो प्रकार का है । इस प्रकार दानों की (संख्या) सत्ताईस होती है । उपान्त्य—पचास दाने वाले अन्तिम अक्षसूत्र का समीपवर्त्ती होने के कारण । उसमें = सत्ताईस में । दो गुने मान वाले = चौवन संख्या वाले । दो रूप = शक्तिशक्तिमान् वाला । उससे भी दो गुना—एक सौ आठ वाले । खशर = पचास । उत्तम = एक सौ पन्द्रह वाले । दो को = मातृकामालिनीरूपा को । पहले = सत्रहवें आह्निक में । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'पिबनी आदि.................. ।'

पन्द्रह = ये हो जाते हैं । अथवा = दूसरे पक्ष में । कहा गया—उन्नीसवें अध्याय में । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'तदानेन विधानेन प्रकुर्यादक्षमालिकाम् ।
मणिमौक्तिकशङ्खादिपद्माक्षादिविनिर्मिताम् ॥
हेमादिधातुजां वाथ शतार्धाक्षमितां बुधः ।
यथा स्वबाहुमात्रा स्याद्वलयाकृतितां गता ॥
तां गृहीत्वा समालभ्य गन्धधूपाधिवासिताम् ।
पूजयित्वा कुलेशानं तत्र शक्तिं निवेशयेत् ॥
प्रत्येकमुच्चरेद् बीजं पराबीजपुटान्तगम् ।
प्रस्फुरत्क्षान्तमेकस्मिन्नाद्यक्षे विनियोजयेत् ॥
आद्यर्णं व्यापकं भूयः सर्वाधिष्ठायकं स्मरेत्।
द्विविधेऽपि हि वर्णानां भेदे विधिरयं मतः ॥
द्वितीये व्यापकं वर्णं द्वितीयं पूर्ववन्न्यसेत् ।
तृतीयादिषु वर्णेषु फान्तेष्वप्येवमिष्यते ॥
ततः शक्तिमनुस्मृत्य सूत्राभामेकमानसः ।
अक्षमध्यगतां कुर्यादक्षसूत्रप्रसिद्धये ॥
चक्रवद् भ्रमयन्नेतद्यदेवात्र प्रभाषते ।
तत्सर्वं मन्त्रसंसिद्ध्यै जपत्वेन प्रकल्पते ॥
होमः स्यादीक्षिते तद्वद्दह्यमानेऽत्र वस्तुनि ।'

(मा.वि.तं. १९।७४-८३) इति ॥ ३९ ॥

इदानीमुक्तेऽपि पात्रस्य लक्षणे तद्भेदोपदर्शनाय पक्षान्तरमाह—

'तब इस विधि से विद्वान् मणि मोती शङ्ख कमलगट्टा आदि से बनी या सुवर्ण आदि धातु से उत्पन्न पचास दाने वाली अक्षमाला बनाये । ताकि वह अपने बाहु जितनी लम्बी तथा कंगन की आकृति वाली हो जाय । उसको लेकर हृदय से लगा कर गन्ध धूप आदि से वासित उसकी पूजा कर उसमें कुलदेवताशक्ति का आधान करे । पराबीज से सम्पुटित प्रत्येक बीजाक्षर का उच्चारण करे । क्ष वर्ण तक स्फुरित होने वाले उसको प्रथम अक्ष में लगाये । फिर व्यापक सर्वाधिष्ठायक प्रथम वर्ण का स्मरण करे । वर्णों के दोनों प्रकार के भेद में यह विधि मानी गयी है । दूसरे (अक्ष) में दूसरे व्यापक वर्ण का पूर्ववत् न्यास करे । तीसरे वर्ण से लेकर फपर्यन्त वर्णों में भी यही मान्य है । इसके बाद एकचित्त होकर सूत्र के समान शक्ति का स्मरण कर अक्षसूत्र की सिद्धि के लिये उसे (= शक्ति को) अक्षमध्यगामिनी बनाये । चक्र के समान इसे घुमाते हुये वह जो कुछ कहता है वह सब मन्त्र की सिद्धि के लिये जप हो जाता है । यहाँ दह्यमान वस्तु के देखने पर वह (उस साधक के लिये) होम हो जाता है ॥ ३९ ॥

पात्र का लक्षण कहने पर भी उसका भेद दिखलाने के लिये पक्षान्तर को कहते हैं—

१ त. पं.

अथवार्घमहापात्रं कुर्यात्तच्चोत्तरं परम् ।
नारिकेलमथो बैल्वं सौवर्णं राजतं च वा ॥ ४० ॥
तस्याप्येष विधिः सर्वः प्रतिष्ठादौ प्रकीर्तितः ।
तन्निष्कम्परसैः पूर्णं कृत्वास्मिन्पूजयेत्क्रमम् ॥ ४१ ॥

निष्कम्परसैरिति—वीरसन्धिभिः पञ्चामृतादिभिः—इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

अत्र इतिकर्तव्यतामाह—

अधोमुखं सदा स्थाप्यं पूजितं पूजने पुनः ।
तत्पात्रमुन्मुखं तच्च रिक्तं कुर्यात्र तादृशम् ॥ ४२ ॥
पूजान्ते तद्रसापूर्णमात्मानं प्रविधाय तत् ।
अधोमुखं च संपूज्य स्थापयेत विचक्षणः ॥ ४३ ॥

पूजितमिति—पात्रविद्यादिना । पूजने इति—यथेष्टमन्त्रादेः । तादृशमिति—उन्मुखम् ॥ ४२-४३ ॥

तत्तच्छास्त्रोदितानि पूजाधारान्तराण्यपि दर्शयितुमाह—

खड्गं कृपाणिकां यद्वा कर्तरीं मकुरं च वा ।

अथवा महा अर्घपात्र बनाये और वह नारियल बेल सुवर्ण रजत से बना हुआ उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होता है उसकी भी प्रतिष्ठा आदि में यह विधि कही गयी है । उसको निष्कम्परस से भर कर उसमें क्रम का पूजन करे ॥ ४०-४१ ॥

निष्कम्प रस = वीरसन्धिरूप पञ्चामृत (= सम्भवतः मल, मूत्र, वीर्य, थूक और रक्त या मदिरा) आदि ॥ ४१ ॥

इस विषय में इतिकर्त्तव्यता को बतलाते हैं—

पूजा करने के बाद पूजित पात्र को सदा अधोमुख रखना चाहिये । पूजन के समय उस पात्र को उत्तान रखे लेकिन उसे खाली न रखे । पूजा के अन्त में उसके रस (= पञ्चामृत आदि) से अपने को पूर्ण कर पात्र का पूजन कर विद्वान् उसे अधोमुख रखे ॥ ४२-४३ ॥

पूजित—पात्रविद्या आदि के द्वारा । पूजन होने पर—यथेष्टमन्त्र आदि का । उस प्रकार = उत्तान ॥ ४२-४३ ॥

तत्तत् शास्त्रों में उक्त पूजा के दूसरे आधारों को दिखलाने के लिये कहते हैं—

श्रीमत्कालीमुख ग्रन्थ में कहे गये खड्ग छुरी कैंची निर्मल दर्पण को

विमलं तत्तथा कुर्याच्छ्रीमत्कालीमुखोदितम् ॥ ४४ ॥
श्रीभैरवकुलेऽप्युक्तं कुलपर्वप्रपूजने ।
स्थण्डिलेऽग्नौ पटे लिङ्गे पात्रे पद्मेऽथ मण्डले ॥ ४५ ॥
मूर्तौ घटेऽस्त्रसङ्घाते पटे सूत्रेऽथ पूजयेत् ।
स्वेन स्वेनोपचारेण सङ्करं वर्जयेदिति ॥ ४६ ॥

स्वेन स्वेनेति—गृहस्थाद्युचितेन । यदुक्तम्—

'गृहे गृहोद्भवैर्द्रव्यैः श्मशाने च तदुद्भवैः ।
विधिवत्पूजनं कार्यं शबलं न समाचरेत् ॥' इति ॥ ४६ ॥

ननु किमनेकैः स्थण्डिलादिभिः पूजाधारैः ?—इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य विषयविभागं दर्शयति—

यथाप्सु शान्तये मन्त्रास्तद्वदस्त्रादिषु ध्रुवम् ।
शत्रुच्छेदादिकर्तारः काम्योऽतः सङ्करोज्झितः॥ ४७ ॥

अतं इति—एषां प्रतिनियतकारित्वात्, तेन शान्तिकामो जल एव पूजां विदध्यात्, न अस्त्रादाविति ॥ ४७ ॥

ननु एवमकामस्य पुनः किमेभिर्बहुभिः ?—इत्याशङ्क्य आह—

वैसा (= पूजा का आधार) बनाना चाहिये । श्रीभैरवकुल (ग्रन्थ) में भी कुलपर्वप्रपूजन (नामक अध्याय) में कहा गया है—स्थण्डिल अग्नि वस्त्र लिङ्ग पात्र कमल मण्डल मूर्त्ति घट अस्त्रसमूह और पट (= सूत्र) में (यथेष्टमन्त्र आदि की) अपने-अपने उपचार से पूजा करनी चाहिये । साङ्कर्य (= मिश्रण) नहीं करना चाहिये ॥ ४४-४६ ॥

अपने-अपने = गृहस्थ आदि के लिये उचित । जैसा कि कहा गया है—

'घर में घर से उत्पन्न द्रव्यों तथा श्मशान में श्मशानोत्पन्न (द्रव्यों) से विधिवत् पूजन करना चाहिये । इधर का उधर (= दोनों का मिश्रण) नहीं करना चाहिये' ॥ ४६ ॥

प्रश्न—स्थण्डिल आदि अनेक पूजा-आधारों की क्या आवश्यकता है ?—इस शङ्का को अन्दर रखकर विषयविभाग दिखलाते हैं—

जैसे मन्त्र जल में शान्ति के लिये (अनुष्ठित होते हैं) उसी प्रकार (वे मन्त्र) अस्त्र आदि में शत्रु का नाश करते हैं । इसलिये साङ्कर्यरहित (विधि) को अपनाना चाहिये ॥ ४७ ॥

इसलिये = निश्चित कर्म के लिये होने से । इस कारण शान्ति चाहने वाला जल में ही पूजा करे न कि अस्त्र आदि में ॥ ४७ ॥

अकामस्य तु ते तत्तत्स्थानोपाधिवशाद् ध्रुवम्।
पाशकर्तनसंशुद्धतत्त्वाप्यायादिकारिणः ॥ ४८ ॥
अथवा पुस्तकं तादृग्रहःशास्त्रक्रमोम्भितम् ।
सुशुद्धं दीक्षितकृतं तत्राप्येष विधिः स्मृतः ॥ ४९ ॥

अथवेति—पक्षान्तरे । तादृग्रहःशास्त्रक्रमोम्भितत्वेन च अस्य सर्वसहत्वात् सर्वकर्मस्वपि आनुगुण्यं कटाक्षितम् । कृतमिति—लिखितम् ॥ ४८-४९ ॥

एवं लिङ्गस्वरूपमभिधाय, पूजाभेदमभिधातुमाह—

इत्थं स्वयंप्रतिष्ठेषु यावद्यावत्स्थितिर्भवेत् ।
विभवैस्तर्पणं शुद्धिस्तावद्विच्छेदवर्जनम् ॥ ५० ॥
अत एव यदा भूरिदिनं मण्डलकल्पनम् ।
तदा दिने दिने कुर्याद्विभवैस्तर्पणं बहु ॥ ५१ ॥
प्रतिष्ठायां च सर्वत्र गुरुः पूर्वोदितं परम् ।
सतत्त्वमनुसन्धाय संनिधिं स्फुटमाचरेत् ॥ ५२ ॥

प्रश्न—निष्काम व्यक्ति के लिये इन अनेक आधारों से क्या प्रयोजन?—यह शङ्का कर कहते हैं—

निष्काम व्यक्ति के लिये वे (आधार) तत्तत्स्थानरूप उपाधि के कारण पाशच्छेद संशुद्धतत्त्व का पूरण आदि करने वाले होते हैं । अथवा शुद्ध दीक्षित व्यक्ति के द्वारा लिखी गयी उस प्रकार के रहस्यशास्त्र के क्रम से पूर्ण पुस्तक (को आधार बनायें) । उस विषय में भी यही विधि मानी गयी है ॥ ४८-४९ ॥

अथवा = पक्षान्तर में । उस प्रकार के रहस्यशास्त्र के क्रम से पूर्ण होने से इसके सर्वसह होने के कारण सभी कर्मों में अनुकूलता सङ्केतित है । कृत = लिखित ॥ ४८-४९ ॥

लिङ्गरूप का कथन कर पूजाभेद कहते हैं—

इस प्रकार स्वयं प्रतिष्ठा वालों में जितनी-जितनी उच्च स्थिति हो अपने धन के अनुसार उतनी मात्रा में तर्पण करे । इसलिये जब अधिक दिनों तक मण्डल की कल्पना हो तो विच्छेदरहित अर्थात् निरन्तर तर्पण करे । इसलिये जब अधिक दिनों तक मण्डल की कल्पना हो तो प्रति दिन विभव के द्वारा अधिक तर्पण करे । प्रतिष्ठा होने पर गुरु सर्वत्र पूर्वोक्त परतत्त्व का अनुसन्धान कर सन्निधि का स्पष्ट रूप से आचरण करे ॥ ५०-५२ ॥

विच्छेदवर्जनमिति—विच्छेदं परिवर्ज्य अविच्छिन्नम्—इत्यर्थः । अत एवेति—अविच्छेदेन तर्पणादेः कार्यत्वात् ॥ ५२ ॥

ननु

'आ तन्मयत्वसंसिद्धेरा चाभीष्टफलोदयात् ।
पुत्रकः साधको व्यक्तमव्यक्तं वा समाश्रयेत् ॥' (तं.आ. २७-९)

इत्याद्युक्त्या तत्तदभीष्टसिद्धिपर्यन्तं पुत्रकादीनां लिङ्गादिसमाश्रयणमुक्तम्, अनन्तरं पुनरेभिः किं कार्यम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

सिद्धे तु तन्मयीभावे फले पुत्रकसाधकैः ।
अन्यस्मै तद्द्वयादन्यतरस्मै तत्समर्प्यते ॥ ५३ ॥
तस्याप्येष विधिः सर्वस्तदलाभे तु सर्वथा ।
अगाधेऽम्भसि तत्क्षेप्यं क्षमयित्वा विसृज्य च॥ ५४ ॥
इत्येष स्वप्रतिष्ठानविधिः शिवनिरूपितः ।
परप्रतिष्ठिते लिङ्गे बाणीयेऽथ स्वयंभुवि ॥ ५५ ॥
सर्वमासनपक्षे प्राङ् न्यस्य संपूजयेत्क्रमम् ।

एवं तत्समर्पणे योग्यश्चेत् कश्चिन्न लब्धः, तदा तैः किं कार्यम्?—इत्याशङ्क्य आह—तदलाभ इति । स्वयम्भुवीति—अर्थाद्विधिर्निरूपित इति,

---

विच्छेदरहित—विच्छेद को छोड़कर अर्थात् लगातार । इसलिये = तर्पण के निरन्तर करणीय होने से ॥ ५२ ॥

प्रश्न—

'आतन्मयत्व.........समाश्रयेत् ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार पुत्रक आदि के लिये तत्तत् अभीष्टसिद्धि तक लिङ्ग का आश्रय लेना कहा गया है । बाद में ये लोग (= पुत्रक आदि) क्या करें ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

पुत्रक साधकों के द्वारा तन्मयीभाव फल के सिद्ध होने पर अन्य के लिये अर्थात् उन दोनों से अन्य के लिये वह दिया जाता है । उसके लिये भी यह सब विधि है । यदि वह (= योग्य व्यक्ति) न मिले तो क्षमाप्रार्थना एवं विसर्जन कर उसे अगाध जल में फेंक देना चाहिये । यह शिव के द्वारा बतलायी गयी स्वप्रतिष्ठान विधि है । परप्रतिष्ठित बाणीय अथवा स्वयंभू लिङ्ग के विषय में (विधि कही जा चुकी) है । सबको आसन पक्ष में रखकर पहले वाले क्रम से पूजन करे ॥ ५३-५६- ॥

प्रश्न—स्वयम्भू आदि (लिङ्ग) शुद्ध अथवा अशुद्ध अध्वा में से निकले होते हैं

तदेवाह—सर्वमिति ॥

ननु स्वयम्भ्वादयो हि शुद्धादशुद्धाद् वा अध्वमध्यादवतीर्णाः, तत्कथमत्र इदं सर्वाध्वोत्तीर्णं संपूजयेत् ?—इत्याशङ्क्य आह—

शुद्धाशुद्धाध्वजाः सर्वे मन्त्राः सर्वः शिवान्तकः॥ ५६ ॥
अध्वा चेहासने प्रोक्तस्तत्सर्वत्रार्चयेदिदम् ।
आवाहनविसृष्टी तु तत्र प्राग्वत्समाचरेत् ॥ ५७ ॥

न च एतद्युक्तिमात्रसिद्धमेव—इत्याह—

उक्तं तन्त्रेऽप्यघोरेशे स्वच्छन्दे विभुना तथा ।
अथवा प्रत्यहं प्रोक्तमानार्धार्धनियोगतः ॥ ५८ ॥
कृत्वेष्टं मण्डलं तत्र समस्तं क्रममर्चयेत् ।

प्रोक्तमानेति—

'एवमस्य त्रिहस्तस्य......................।'

इत्याद्यभिहितस्य त्रिहस्तत्वादेः ॥

एतदेव उपसंहरति—

बहुप्रकारभिन्नस्य लिङ्गस्यार्चा निरूपिता ॥ ५९ ॥

फिर इसकी सर्वाध्व-उत्तीर्ण रूप में कैसे पूजा करे?—यह शङ्का कर कहते हैं—

सब मन्त्र शुद्धाशुद्ध अध्वा से उत्पन्न होते हैं और सबका अन्त शिव में होता है और अध्वा यहाँ आसन अर्थ में कहा गया है, इसलिये इसकी सर्वत्र पूजा करे । वहाँ आवाहन और विसर्जन पहले की भाँति करे ॥ -५६-५७ ॥

यह केवल तर्क से ही सिद्ध नहीं है—यह कहते हैं—

अघोरेश तन्त्र स्वच्छन्द तन्त्र में परमेश्वर के द्वारा वैसा कहा गया है—अथवा प्रतिदिन उक्त प्रमाण के आधे के आधे के नियोग से इष्ट मण्डल को बनाकर उसमें समस्त क्रम की पूजा करे ॥ ५८-५९- ॥

प्रोक्तपरिमाण—

'इस प्रकार तीन हाथ वाले इसका............ ।'

इत्यादि कहे गए तीन हस्त आदि की (पूजा करे)।

इसी का उपसंहार करते हैं—

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके लिङ्गार्चाप्रकाशनं नाम सप्तविंशमाह्निकम् ॥ २७ ॥

इति शिवम् ॥ ५९ ॥

बहुभेदभङ्गिलिङ्गस्वरूपसंविन्निरूपणाचतुरः ।
सप्तविंशं व्यवृणोदाह्निकमेतज्जयरथाभिख्यः ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते लिङ्गार्चाप्रकाशनं नाम सप्तविंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ २७ ॥
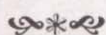
अनेक प्रकार से भिन्न लिङ्ग की पूजा कही गयी ॥ ५९ ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के सप्तविंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २७ ॥

अनेक भेदभङ्गिमा वाले लिङ्ग के रूपज्ञान के निरूपण में चतुर जयरथ ने इस सत्ताईसवें आह्निक की व्याख्या की ॥

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के सप्तविंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २७ ॥
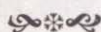
अष्टाविंशमाह्निकम्
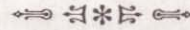
* विवेकः *

समयविलोपविलुम्पनभीमवपुः सकलसम्पदां दुर्गम् ।
शमयतु निरर्गलं वो दुर्गमभवदुर्गतिं दुर्गः ॥

इदानीं नित्यकर्म उपसंहरन् प्राप्तावसरं नैमित्तिकं वक्तुं प्रतिजानीते—

इति नित्यविधिः प्रोक्तो नैमित्तिकमथोच्यते ॥ १ ॥

तत्र नैमित्तिकमेव लक्षयितुं परेषां नित्यद्वारेण तल्लक्षणस्य अतिव्याप्त्यादि-दोषदुष्टत्वमाविष्करोति—

नियतं भावि यन्नित्यं तदित्यस्मिन्विधौ स्थिते ।
मुख्यत्वं तन्मयीभूतिः सर्वं नैमित्तिकं ततः ॥ २ ॥

---

* ज्ञानवती *

काल के लोप के विलोपन में भयङ्कर शरीर वाले दुर्गम (शिव) आपके, समस्त सम्पदाओं के दुर्ग (= सुरक्षित स्थान), निरर्गलभवदुर्गति रूपी दुर्ग का शमन करें अथवा दुर्गमभवदुर्गति का निरर्गल (= निर्विघ्न) शमन करे ॥

अब नित्य कर्म का उपसंहार करते हुये अवसरप्राप्त नैमित्तिक कर्म को बतलाने के लिये प्रतिज्ञा करते हैं—

इस प्रकार यह नित्यविधि कह दी गयी । अब नैमित्तिक कही जा रही है ॥ १ ॥

नैमित्तिक को ही बतलाने के लिये दूसरों के, नित्य के द्वारा, उस (= नैमित्तिक) के लक्षण की अतिव्याप्ति आदि दोष की दुष्टता को प्रकट करते हैं—

ननु यदि नाम यदेव नियतं भवेत्, तदेव नित्यं तत् नियतभावित्वान्यथानुपपत्त्या सर्वस्य तन्मयीभाव एव अहर्निशमापद्येत । स्नानादौ प्रवृत्तस्य हि तदा कदाचिदपि विरतिर्न स्यात् नियतभावित्वात् तस्य । न च एवमस्ति, तन्न किञ्चिदपि नित्यं भवेत्, अपि तु सर्वं नैमित्तिकमेव—इत्याह—सर्वं नैमित्तिकं तत इति ॥ २ ॥

अथोच्यते दिनादिकल्पनानियमेन नित्यतेति यथाशंसं सायंप्रातरादावेव सन्ध्यावन्दनादि—इत्याह—

दिनादिकल्पनोत्थे तु नैयत्ये सर्वनित्यता ।
दिनमासर्क्षवर्षादिनैयत्यादुच्यते तदा ॥ ३ ॥

एवं तर्हि सर्वत्र दिनादिकल्पनानैयत्यस्य भावात् सर्वमेव नित्यमुच्यते—इत्याह—सर्वेत्यादि ॥ ३ ॥

एवं परकृतं नैमित्तिकलक्षणं नित्यद्वारेण अपाकृत्य, स्वमतेन आह—

अशङ्कितव्यावश्यन्तासत्ताकं जातुचिद्भवम् ।

जो नियत रूप से होने वाला है वह नित्य है—इस विधि (= नियम, व्यवस्था) के होने पर तन्मयीभाव ही मुख्य हो जायगा । इस प्रकार सब कार्य नैमित्तिक ही होने लगेंगे ॥ २ ॥

प्रश्न है कि यदि जो नियमित रूप से होता है वही नित्य है तो नियतभावित्व की अन्यथा सिद्धि न होने से सबका तन्मयीभाव रातदिन होता रहेगा फिर स्नान आदि में लगा हुआ व्यक्ति कभी भी (उससे) विरत नहीं होगा क्योंकि वह (= स्नान आदि) नियत भावी है । किन्तु (प्रत्यक्ष जगत् में) ऐसा नहीं है । तो कुछ भी नित्य नहीं होगा बल्कि सब नैमित्तिक ही हो जायगा—यह कहते हैं—इसलिये सब नैमित्तिक ही होने लगेगा ॥ २ ॥

यदि यह कहा जाय कि दिन आदि की कल्पना का नियम होने से नित्यता है इसलिये यथाशंस (= इच्छानुसार) सायं प्रातः आदि में ही सन्ध्या वन्दन आदि होते हैं—यह कहते हैं—

नित्यता के दिन आदि की कल्पना से उत्पन्न होने पर दिन मास ऋक्ष (= ऋतु) वर्ष आदि के नियत होने से तब सब नित्य हो जायेंगे ॥ ३ ॥

तो इस प्रकार सर्वत्र दिन आदि की कल्पना के नियत होने से सभी को नित्य कहा जायगा—यह कहते हैं—सब इत्यादि ॥ ३ ॥

दूसरे के द्वारा बनाये गये नैमित्तिक (कर्म) के लक्षण का नित्य के द्वारा खण्डन कर अपने मत के अनुसार (लक्षण) कहते हैं—

प्रमात्रनियतं प्राहुर्नैमित्तिकमिदं बुधाः ॥ ४ ॥

इदं हि बुधा नैमित्तिकं प्राहुः—तल्लक्षणं कथितवन्तः यदशङ्कितव्या निश्चिता अत एव प्रत्यवायजिहासावैवश्यात् अवश्यन्तया भाविनी सत्ता स्वरूपं यस्य तत्तथेति । ननु नित्यमपि एवमित्यत्रापि अतिव्याप्तिरेव ?—इत्याह—जातुचिद्भवम् —इति कादाचित्कमित्यर्थः । ननु नित्यस्यापि कालनैयत्यादेवंरूपत्वमेवेति पुंनरपि तदवस्थ एव स दोषः ?—इत्याह—प्रमात्रनियतमिति । नित्यं हि समय्यादीनां चतुर्णामपि नियतम्, इदं तु केषांचिदेवेति । यदुक्तम्—

'नित्यादित्रितयं कुर्याद् गुरुः साधक एव च।
नित्यमेव द्वयं चान्यद्यावज्जीवं शिवाज्ञया ॥' इति ॥ ४ ॥

एवं नैमित्तिकं लक्षयित्वा प्रसङ्गान्नित्यमपि लक्षयति—

सन्ध्यादि पर्वसंपूजा पवित्रकमिदं सदा ।
नित्यं नियतरूपत्वात्सर्वस्मिन् शासनाश्रिते ॥ ५ ॥

इदं हि स्नानसन्ध्यावन्दनादि नित्यं यदेतदस्मद्दर्शनस्थे सर्वस्मिन् समय्यादके सदा नियतरूपमेवेति ॥ ५ ॥

जो निश्चित अवश्यन्तासत्ता वाला कादाचित्क तथा प्रमाता के अधीन है। इसे विद्वान् लोग नैमित्तिक कहते हैं ॥ ४ ॥

विद्वान् लोग उसे नैमित्तिक कहते हैं = उसका लक्षण बतलाए हैं—जो अशङ्कितव्या = निश्चिता, इसलिये विघ्न को हटाने की इच्छा की विवशता से आवश्यक रूप से होने वाली सत्ता है स्वरूप जिसका वह, उस प्रकार का । प्रश्न है कि नित्य भी तो ऐसा होता है फिर (उक्त लक्षण की) अतिव्याप्ति ही होती है ?—यह कहते हैं—जातुचित् होने वाला = कादाचित्क । प्रश्न—नित्य के भी कालनियत होने के कारण ऐसा (= कादाचित्कत्व) होता है इसलिये फिर भी वह दोष रह जाता है—इसलिये कहते हैं—प्रमाता के अधीन । नित्य तो समयी आदि (= गुरु, शिष्य, पुत्रक) चारों के लिये नियत है किन्तु यह (= नैमित्तिक) कुछ लोगों के लिये ही है । जैसा कि कहा गया—

'गुरु और साधक नित्य आदि तीनों कर्मों को करें । शिव की आज्ञा से नित्य और अन्य दो (नैमित्तिक और काम्य कर्मों) को करें' ॥ ४ ॥

इस प्रकार नैमित्तिक का लक्षण बतला कर प्रसङ्गात् नित्य का भी लक्षण करते हैं—

सन्ध्या आदि, पर्वों की पूजा और पवित्रक ये नियत रूप होने के कारण सभी शासनाश्रितों के लिये नित्य कर्म हैं ॥ ५ ॥

स्नान सन्ध्या वन्दन आदि यह सब नित्य हैं क्योंकि ये हमारे दर्शन को मानने

न्यायबलोपनतश्च अयं प्रमात्रपेक्षो नित्यनैमित्तिकयोर्विभाग उक्तः, शास्त्रीयस्तु यथावचनमेव सर्वत्र प्रसिद्धः । तत्र नित्यविभागः प्रागेव सविस्तरमुक्तः, नैमित्तिक-विभागस्तु इह प्रकान्त एव—इत्याह—

ज्ञानशास्त्रगुरुभ्रातृतद्वर्गप्राप्तयस्तथा ।
तज्जन्मसंस्क्रियाभेदाः स्वजन्मोत्सवसङ्गतिः ॥ ६ ॥
श्राद्धं विपत्प्रतीकारः प्रमोदोऽद्भुतदर्शनम् ।
योगिनीमेलकः स्वांशसन्तानाद्यैश्च मेलनम् ॥ ७ ॥
शास्त्रव्याख्यापुरामध्यावसानानि क्रमोदयः ।
देवतादर्शनं स्वाप्नमाज्ञा समयनिष्कृतिः ॥ ८ ॥
इति नैमित्तिकं श्रीमत्तन्त्रसारे निरूपितम् ।
त्रयोविंशतिभेदेन विशेषार्चानिबन्धनम् ॥ ९ ॥

संस्क्रिया—गुर्वभिषेकदिनम् । अभेदः—परमशिवेन ऐक्यात् तन्मृतिदिनम् । उत्सवः—लौकिको महीमानादिः । विपदः—स्वशक्त्यपहारादिरूपायाः, प्रमोदः—हारितस्य पुनर्लाभादिना, अद्भुतस्य—विश्वक्षोभादेः । अनेन च विपत्प्रतीकारादिना चतुष्टयेन शिवरात्रिसंज्ञकमपि नैमित्तिकं संगृहीतम् । तत्र हि एतदेव भगवतो-

---

वाले सब समयी आदि के विषय में नियत रूप से (अनुष्ठेय) होते हैं ॥ ५ ॥

प्रमाता की अपेक्षा रखने वाला यह नित्य नैमित्तिक का विभाग न्याय के बल से प्राप्त कहा गया । शास्त्रीय तो कथन के अनुसार सर्वत्र प्रसिद्ध है । उन (दोनों) में से नित्य विभाग पहले ही विस्तार के साथ कह दिया गया । नैमित्तिक विभाग यहाँ प्रस्तुत है—यह कहते हैं—

ज्ञान, शास्त्र, गुरु, भाई, उस वर्ग (गुरु वर्ग एवं भ्रातृ वर्ग) की प्राप्ति, उनका जन्म, संस्कार, अभेद, अपने जन्मोत्सव की सङ्गति, श्राद्ध, विपत्ति का प्रतिकार, प्रमोद, अद्भुतदर्शन, योगिनीमेलक, स्वांश तथा सन्तान आदि के साथ मेलन, शास्त्रव्याख्या का आदि, मध्य और अन्त, क्रम का उदय, स्वप्न में देवता का दर्शन, आज्ञा, समय की निष्कृति ये विशेष पूजा के कारणभूत तेईस भेद वाले नैमित्तिक (कर्म) तन्त्रसार में कहे गये हैं ॥ ६-९ ॥

संस्कार = गुरु के अभिषेक का दिन । अभेद = परमशिव के साथ एकता होने से उन (= गुरु) की मृत्यु का दिन । उत्सव = लौकिक (उत्सव) जन्मदिन, धरती या सम्मान की प्राप्ति का दिन महीमान आदि । विपत्तियों का = अपनी शक्ति का अपहरण आदि रूप वाली का । प्रमोद = अपहरण किये गये का पुनर्लाभ आदि के द्वारा । अद्भुत का = विश्वक्षोभ आदि का । इस विपत्प्रतीकार आदि चार के द्वारा शिवरात्रि नामक भी नैमित्तिक ले लिया गया । 'वहाँ यही

ऽभवत्—इत्याम्नायः । तच्च साधारण्येनैव सर्वशास्त्रेषु आम्नातमिति नेह स्वकण्ठेनोक्तम् । स्वांशसन्तानः—स्वमठिकासब्रह्मचारी । क्रमेति—प्रागुक्त-तत्तच्चक्रात्मनः । स्वाप्नं देवतादर्शनमिति शुभस्वप्नदर्शनम्—इत्यर्थः । आज्ञा—स्वाभिषेकदिनम् । समयनिष्कृतिरिति—प्रायश्चित्ताचरणम्—इत्यर्थः । एवं नैमित्तिकस्य विभागमभिधाय प्रयोजनमप्याह—विशेषार्चानिबन्धनमिति ॥ ९ ॥

तदेवं सति प्राधान्यात् प्रथमं तावत् पर्वभेदानाह—

तत्र पर्वविधिं ब्रूमो द्विधा पर्व कुलाकुलम् ।
कुलाष्टककृतं पूर्वं प्रोक्तं श्रीयोगसञ्चरे ॥ १० ॥
अब्धीन्दुमुनिरित्येतन्माहेश्या ब्रह्मसन्ततेः ।
प्रतिपत्पञ्चदश्यौ द्वे कौमार्या रसवह्नियुक् ॥ ११ ॥
अब्धिरक्षीन्दु वैष्णव्या ऐन्द्यास्त्वस्त्रं त्रयोदशी ।
वाराह्या रन्ध्ररुद्रौ द्वे चण्ड्या वस्वक्षियुग्मकम् ॥ १२ ॥
द्वे द्वे तिथी तु सर्वासां योगेश्या दशमी पुनः ।
तस्या अप्यष्टमी यस्माद् द्वितिथिः सा प्रकीर्तिता ॥ १३ ॥
अन्याश्चाकुलपर्वापि वैपरीत्येन लक्षितम् ।
कुलपर्वेति तद् ब्रूमो यथोक्तं भैरवे कुले ॥ १४ ॥
हैडरे त्रिकसद्भावे त्रिककालीकुलादिके ।

भगवान् का हुआ'—यह आगम है । वह साधारण रूप से सभी शास्त्रों में कहा गया है—इसलिये यहाँ अपने कण्ठ से नहीं कहा गया । स्वांश सन्तान = स्वमठिकाब्रह्मचारी । क्रम—पूर्वोक्त तत्तत् चक्ररूप क्रम । स्वाप्नदेवतादर्शन = शुभस्वप्नदर्शन । आज्ञा = अपने अभिषेक का दिन । समयनिष्कृति = प्रायश्चित्त का करना । इस प्रकार नैमित्तिक कर्म के विभाग को बतलाकर प्रयोजन भी कहते है—विशेष पूजा का कारण होता है ॥ ९ ॥

ऐसा होने पर मुख्य होने के कारण पहले पर्वभेद बतलाते हैं—

अब (हम) पर्वविधि कह रहे हैं । पर्व दो प्रकार का होता है—कुल और अकुल । कुलाष्टक से बना हुआ पहला कुलपर्व योगसञ्चर (शास्त्र) में कह दिया गया । चतुर्दशी और सप्तमी महेश्वर की, प्रतिपत् और पञ्चदशी ये दो ब्राह्मी की, षष्ठी और तृतीया दोनों कौमारी की, चतुर्थी और द्वादशी वैष्णवी की, पञ्चमी और त्रयोदशी ऐन्द्री की, नवमी और एकादशी (ये) दो वाराही की, अष्टमी और द्वितीया चण्डी की (इस प्रकार) सभी (शक्ति देवियों) की दो-दो तिथियाँ (पर्व) हैं । योगेश्वरी की (पर्व) दशमी तिथि है और अष्टमी भी उसकी है । इस कारण वह दो तिथियों वाली कही गयी है । अन्य अकुलपर्व भी विपरीत रूप से सङ्केतित कर दिया गया । (हम

योऽयं प्राणाश्रितः पूर्वं कालः प्रोक्तः सुविस्तरात्॥ १५ ॥
स चक्रभेदसञ्चारे काञ्चित् सूते स्वसंविदम् ।
स्वसंवित्पूर्णतालाभसमयः पर्व भण्यते ॥ १६ ॥
पर्व पूरण इत्येव यद्वा पॄ पूरणार्थकः ।
पर्वशब्दो निरुक्तश्च पर्व तत्पूरणादिति ॥ १७ ॥
हैडरेऽत्र च शब्दोऽयं द्विधा नान्तेतरः श्रुतः ।

पूर्वमिति—कुलपर्व । अब्धीन्दु—चतुर्दशी, मुनिः = सप्तमी । ब्रह्मसन्ततेरिति—ब्राह्म्याः । रसवह्नियुगिति षष्ठीतृतीयायुग्मम् । अब्धिः—चतुर्थी, अक्षीन्दु द्वादशी । अस्त्रं—पञ्चमी । रन्ध्ररुद्रौ = नवमी एकादशी च । वस्वक्षीति = अष्टमी द्वितीया च । तस्या अपीति—न केवलं चामुण्डायाः, तेन अष्टमी उभयोरपि साधारणीत्यर्थः । एवं यो यस्मिंस्तिथौ संभूतः, तत् तस्य कुलपर्व—इति भावः । यदुक्तम्—

'यो यस्मिंस्तिथिसंभूतस्तस्य सा कुलदेवता ।' इति ।

वैपरीत्येनेति अशुभकरी—शुभकरीतिवत्, वस्तुतः अकुले अशरीरे शक्तौ वा भवेत्—इति भावः । पूर्वमिति—षष्ठाह्निके सप्तमाह्निके च । अस्मिन्नेवार्थे

लोग) कुलपर्व उसे कहते हैं जैसा कि भैरवकुल, हैडर, त्रिकसद्भाव, त्रिककालीकुल, आदि में कहा गया । पहले जो यह प्राणाश्रित काल विस्तार के साथ बतलाया गया वह चक्रभेद का सञ्चार होने पर किसी अपनी संविद् को उत्पन्न करता है । अपनी संविद् की पूर्णता के लाभ का समय भी पर्व कहा जाता है । 'पर्व' पूरणे अथवा 'पॄ' पूरणार्थक धातु से पर्व शब्द की निष्पत्ति हुई है । इसलिये पूरण करने के कारण यह पर्व कहा जाता है । हैडर और यहाँ (= भैरवकुल आदि में) यह शब्द दो प्रकार से—नान्त (= पर्वन्) और इतर (पर्व) सुना गया है ॥ १०-१८- ॥

पूर्व = कुलपर्व । अब्धि इन्दु = चतुर्दशी । मुनि = सप्तमी । ब्रह्मसन्तति का = ब्राह्मी का । रसवह्नियुक् = षष्ठी तृतीया दोनों से युक्त । अब्धि = चतुर्थी । अक्षि इन्दु = द्वादशी । अस्त्र = पञ्चमी । रन्ध्र रुद्र = नवमी और एकादशी । वसु अक्षि = अष्टमी और द्वितीया । उसकी भी—न केवल चामुण्डा की । इससे अष्टमी दोनों में साधारण है । इस प्रकार जो जिस तिथि में उत्पन्न है वह तिथि उसके लिये कुल—(पुरुष) पर्व होती है । जैसा कि कहा गया—

'जो (उसका पर्व और तिथिवाली शक्ति) जिस तिथि में उत्पन्न होता है वह (तिथि) उसकी कुलदेवता होती है ।'

विपरीत रूप से—शुभकरी के समान अशुभकरी । वस्तुतः अकुल में = अशरीर में अथवा शक्ति में (पर्व) होता है । इसी अर्थ में पर्व शब्द की व्युत्पत्ति

पर्वशब्दं व्युत्पादयति—पर्वेत्यादिना । तेन 'पर्व पूरणे' इत्यस्य अचि पर्वशब्दोऽकारान्तः । 'पॄ पालनपूरणयोः' इत्यस्य औणादिके वनिपि नकारान्तः पर्वञ्छब्दः । पूरणात्पर्व इति च निर्वचनम् । लक्ष्येऽप्येवम्—इत्याह—हैडरेऽत्रेत्यादि । अत्रेति—भैरवकुलादौ । तदुक्तं तत्र—

'पूजनात् कुलपर्वेषु........................।' इति,
'..................... कुलपर्वसु पूजनात् ॥' इति च ॥

एतदभिज्ञाश्च सिद्धयोगिन्यादयोऽत्र पूजापराः—इत्याह—

तच्चक्रचारनिष्णाता ये केचित् पूर्णसंविदः ॥ १८ ॥
तन्मेलकसमायुक्तास्ते तत्पूजापराः सदा ।
योऽप्यतन्मय एषोऽपि तत्काले स्वक्रमार्चनात् ॥ १९ ॥
तद्योगिनीसिद्धसङ्घमेलकात् तन्मयीभवेत् ।

अतन्मय इति—चक्रचाराद्यनिष्णातः—इत्यर्थः ॥

एतदेव दृष्टान्तयति—

यथा प्रेक्षणके तत्तद्द्रष्टृसंविदभेदिताम् ॥ २० ॥

करते हैं—पर्व इत्यादि के द्वारा । इससे 'पर्व पूरणे' इस धातु से 'अच्' प्रत्यय होने पर पर्व शब्द अकारान्त है । 'पॄ पालनपूरणयोः' यहाँ 'पॄ' धातु से उणादि 'वनिप्' प्रत्यय होने पर नकारान्त पर्वन् शब्द बनता है । पूरण करने से पर्व होता है—यह व्याख्या है । लक्ष्य ग्रन्थों में भी ऐसा है—यह कहते हैं—हैडर में और यहाँ........ ....। यहाँ = भैरवकुल आदि में । वही (= पर्व एवं पर्वन् शब्दों को) वहाँ कहा गया है—

'पूजनात् कुलपर्वेषु............. ।' तथा,
'................कुलपर्वसु पूजनात् ॥'

इसको जानने वाली सिद्धयोगिनी आदि यहाँ पूजा में लग जाती हैं—यह कहते हैं—

उस चक्रचार में निष्णात जो कोई पूर्ण संविद् वाले तथा उस मेलक से युक्त हैं वे सदा उस पूजा में लगे होते हैं । और जो व्यक्ति तन्मय नहीं है वह भी उस समय अपनी क्रमपूजा से उस योगिनी के सिद्धसङ्घ के मेलक के कारण तन्मय हो जाता है ॥ -१८-२०- ॥

अतन्मय = चक्रचार आदि में अकुशल ॥

इसी को दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं—

जैसे अभिनय में द्रष्टा की तत्तद् संविद् उस (अभिनय) में प्रवेश के

क्रमोदितां सद्य एव लभते तत्प्रवेशनात् ।
योगाभ्यासक्रमोपात्तां तथा पूर्णां स्वसंविदम् ॥ २१ ॥
लभन्ते सद्य एवैतत्संविदैक्यप्रवेशनात् ।
तत्कालं चापि संवित्तेः पूर्णत्वात् कामदोग्धृता ॥ २२ ॥
तेन तत्तत्फलं तत्र काले संपूजयाचिरात् ।

यथा हि द्रष्टॄणां प्रेक्षणकादौ तावति अंशे भेदविगलनात् क्रमिकतया स्थिता अपि कस्यचित् तत्कालमनुप्रविष्टस्यापि सद्य एव अभिन्ना संविदुदेति, तथा प्रकृतेऽप्येवम् । पर्वादौ हि पूर्णायाः संविदः कामधेनुप्रख्यत्वं येन अचिरादेव तत्कालं पूजावशात् तत्तत्फलमुदियात् ॥

ननु सिद्धयोगिन्यादीनां पर्वादौ संविदः पारिपूर्ण्यात् तत्तत्फलमस्तु, अन्येषां पुनरेतत्कथं स्यात्?—इत्याशङ्कां प्रशमयितुं दृष्टान्तयति—

यथा चिरोपात्तधनः कुर्वन्नुत्सवमादरात् ॥ २३ ॥
अतिथिं सोऽनुगृह्णाति तत्कालाभिज्ञमागतम्।
तथा सुफलसंसिद्ध्यै योगिनीसिद्धनायकाः ॥ २४ ॥
यत्नवन्तोऽपि तत्कालाभिज्ञं तमनुगृह्णते ।

कारण तत्काल क्रमशः उदित अभेदात्मक स्थिति को प्राप्त कर लेती है उसी प्रकार (साधकगण) इस संविद् के साथ ऐक्य हो जाने के कारण योगाभ्यास के क्रम से प्राप्त पूर्ण स्वसंविद् को तत्काल प्राप्त कर लेते हैं । उस समय संविद् के पूर्ण होने से (वह) कामदोग्ध्री भी होती है । इसलिये (पूजक लोग) उस समय पूजा के द्वारा शीघ्र तत्तत् फल को प्राप्त कर लेते हैं ॥ -२०-२३- ॥

जैसे अभिनय आदि में द्रष्टालोगों का उतने अंश में भेद विगलित हो जाने से क्रमिक रूप से स्थित भी संविद् तत्काल अनुप्रविष्ट किसी (प्रेक्षक) में अभिन्न रूप से उत्पन्न होती है वैसा ही प्रकृत स्थल में भी है । पर्व आदि में पूर्णासंविद् कामधेनु जैसी हो जाती है जिससे शीघ्र ही पूजा के कारण तत्काल तत्तत् फल मिल जाता हैं ॥

प्रश्न—पर्व आदि में संविद् की पूर्णता के कारण सिद्धयोगिनी आदि को तत् फल मिल जाये किन्तु दूसरे लोगों को यह कैसे मिलेगा?—इस शङ्का को शान्त करने के लिये दृष्टान्त देते हैं—

जैसे बहुत दिनों से धन को प्राप्त किया हुआ और उत्सव करता हुआ (कोई व्यक्ति) उस काल को जानने वाले किसी आये हुये अतिथि को (आदर एवं दक्षिणादान आदि से) अनुगृहीत करता है उस प्रकार सुफल

न च एतद्युक्तित एव सिद्धम्—इत्याह—

उक्तं च तत्र तेनेह कुले सामान्यतेत्यलम् ॥ २५ ॥
यस्य यद्धृदये देवि वर्तते दैशिकाज्ञया ।
मन्त्रो योगः क्रमश्चैव पूजनात् सिद्धिदो भवेत् ॥ २६ ॥
कुलाचारेण देवेशि पूज्यं सिद्धिविमुक्तये ।
ये पर्वस्वेषु देवेशि तर्पणं तु विशेषतः ॥ २७ ॥
गुरूणां देवतानां च न कुर्वन्ति प्रमादतः ।
दुराचारा हि ते दुष्टाः पशुतुल्या वरानने ॥ २८ ॥
अभावान्नित्यपूजाया अवश्यं ह्येषु पूजयेत् ।
अटनं ज्ञानशक्त्यादिलाभार्थं यत्प्रकीर्तितम् ॥ २९ ॥
शक्तियागश्च यः प्रोक्तो वश्याकर्षणमारणम् ।
तत्सर्वं पर्वदिवसेष्वयत्नेनैव सिद्ध्यति ॥ ३० ॥
तत्सामान्यविशेषाभ्यां षोढा पर्व निरूपितम् ।

तत्रेति—हैडरे । षोढेति—सामान्यतया सामान्यसामान्यतया सामान्यविशेषतया विशेषतया विशेषविशेषतया विशेषसामान्यतया चेति ॥

तदेव दर्शयति—

की सिद्धि के लिये यत्नवान् भी योगिनीसिद्धनायक उस काल के ज्ञाता उस (अन्य व्यक्ति) को अनुगृहीत करते हैं ॥ २३-२४- ॥

यह केवल युक्ति से ही सिद्ध नहीं है—यह कहते हैं—

वहाँ कहा भी गया है—इस कारण यहाँ कुल में सामान्यता है । हे देवि ! जिसके हृदय में जो रहता है आचार्य की आज्ञा से (वह) मन्त्र योग या क्रम, पूजा के द्वारा सिद्धिप्रद होता है । हे देवेशि ! सिद्धि एवं मुक्ति के लिये कौल रीति से पूजा करनी चाहिये । हे देवेशि ! इन पर्वों पर जो लोग प्रमाद के कारण गुरु और देवता का विशेष रूप से पूजन नहीं करते हे वरानने ! वे दुराचारी दुष्ट पशु के समान हैं । नित्यपूजा के न होने से इन (पर्वों) पर अवश्य इनकी (= गुरु और देवता की) पूजा करनी चाहिये । ज्ञानशक्ति आदि के लाभ के लिये जो भ्रमण कहा गया है और जो शक्तियाग कहा गया है, वशीकरण आकर्षण मारण यह सब पर्व के दिनों में बिना प्रयास के सिद्ध हो जाता है । वह पर्व सामान्य और विशेष भेद से छह प्रकार का कहा गया है ॥ २५-३१- ॥

वहाँ = हेडर शास्त्र में । छह प्रकार का—सामान्य, सामान्य-सामान्य, सामान्यविशेष, विशेष, विशेषविशेष और विशेषसामान्य रूप से ॥

मासस्याद्यं पञ्चमं च श्रीदिनं परिभाष्यते ॥ ३१ ॥
उत्कृष्टत्वात् पर्वदिनं श्रीपूर्वत्वेन भाष्यते ।
गुप्यो ह्येष यद्गुप्तं तत्रानुपपदं वदेत् ॥ ३२ ॥
तुर्याष्टमान्यभुवनचरमाणि द्वयोरपि ।
पक्षयोरिह सामान्यसामान्यं पर्व कीर्तितम् ॥ ३३ ॥
यदेतेषु दिनष्वेव भविष्यद्ग्रहभात्मकः ।
उभयात्मा विशेषः स्यात्तत्सामान्यविशेषता ॥ ३४ ॥
सा चैकादशधैकस्मिन्नैकस्मिन्विभुनोदिता ।
सजातीया तु सोत्कृष्टेत्येवं शम्भुर्न्यरूपयत् ॥ ३५ ॥

अनुपपदं न वदेदिति । यदुक्तं प्राक्—

'श्रीपूर्वं नाम वक्तव्यं.........................।' इति ।

अन्येति—नवमी, भुवनेति—चतुर्दशी, चरमेति—पञ्चदशी । सामान्यसामान्यमिति द्वयोरपि पक्षयोरनुगमात्, अत एव एकपक्षानुगामितया मासस्य आद्यं पञ्चमं चेति सामान्यतयैवोक्तम् । उभयात्मेत्ति—एतद्दिनत्वेऽपि ग्रहादेर्विशेषस्य भावात् । सेति—विशिष्टता । एकादशधेति—आश्वयुजशुक्लनवम्या भग्रहाद्यात्मनो विशेषस्याभावात् । यद्वक्ष्यति—

उसी को दिखलाते हैं—

मास का पहला और पाँचवाँ (दिन) श्रीदिन कहा जाता है । उत्कृष्ट होने के कारण यह समय पर्वदिन श्रीपूर्वक कहा जाता है । जो गुप्त है उसको उपपदरहित (= बिना 'श्री' लगाये) नहीं कहना चाहिये । दोनों पक्षों की चतुर्थी अष्टमी अन्य (= नवमी) चतुर्दशी तथा पञ्चदशी सामान्य-सामान्य पर्व कहा गया है । जो कि इन्हीं दिनों में होने वाले ग्रह नक्षत्र रूप दोनों प्रकार का विशेष होता है वह सामान्यविशेषता होती है । और वह परमेश्वर के द्वारा एक-एक (शास्त्र) में ग्यारह प्रकार की कही गयी है । सजातीय वह उत्कृष्ट होती है—ऐसा शम्भुनाथ ने कहा है ॥ -३१-३५ ॥

बिना उपपद के नहीं कहना चाहिये । जैसा कि पहले कहा गया—

'नाम को श्रीपूर्वक कहना चाहिये..........।' अन्या = नवमी । भुवन = चतुर्दशी । चरम = पञ्चदशी । सामान्यसामान्य—दोनों पक्षों का अनुगमन करने से। इसीलिये एक पक्ष का अनुगामी होने से मास का पहला और पाँचवाँ (दिन) सामान्यरूप से कहा गया । उभयात्मा—इन्हीं दिनों के होने पर भी ग्रह आदि विशेष के होने से । वह = विशिष्टता । ग्यारह प्रकार की—आश्विन शुक्ल नवमी में नक्षत्र एवं ग्रह आदि रूप विशेष के होने से । जैसा कि कहेंगे—

'भग्रहसमयविशेषो नाश्वयुजे कोऽपि तेन तद्वर्जम् ।
वेलाभग्रहकलना कथितैकादशसु मासेषु ॥' इति ।

एकस्मिन्नेकस्मिन्निति—शास्त्रे । सजातीयेति—यथा मार्गशीर्षनवमी । सा हि सामान्यसामान्यपर्वत्वेऽपि अमुमपि विशेषमावहति, अत एव उत्कृष्टेत्युक्तम् । एवमिति—सामान्यविशेषतया विशेषतया च ॥ ३५ ॥

एतदेवात्र दर्शयति—

कृष्णयुगं वह्निसितं श्रुतिकृष्णं वह्निमितमिति पक्षाः ।
अर्केन्दुजीवचन्द्रा बुधयुग्मेन्द्वर्ककविगुरुविधु स्यात् ॥ ३६ ॥
परफल्गुश्चैत्रमघे तिष्यः प्राक्फल्गुकर्णशतभिषजः ।
मूलप्राजापत्ये विशाखिका श्रवणसंज्ञया भानि ॥ ३७ ॥
रन्ध्रे तिथ्यर्कपरे वसुरन्ध्रे शशिवृषाङ्करसरन्ध्रयुगम् ।
प्रथमनिशामध्यनिशे मध्याह्नशरा दिनोदयो मध्यदिनम् ॥ ३८ ॥
प्रथमनिशेति च समयो मार्गशिरःप्रभृतिमासेषु ।
कन्यान्त्यजाथ वेश्या रागवती तत्त्ववेदिनी दूती ॥ ३९ ॥
व्याससमासात् क्रमशः पूज्याश्चक्रेऽनुयागाख्ये ।

वह्नीति--त्रयः । श्रुतीति—चत्वारः । परफल्गुः = उत्तरफल्गुनी । चैत्रम् =

'भग्रह........................ ।' (तं०आ० २८.४२-४३)

एक-एक—शास्त्र में । सजातीय =जैसे कि मार्गशीर्ष की नवमी । वह सामान्यसामान्य पर्व होने पर भी इसी वैशिष्ट्य को रखती है इसलिये उत्कृष्ट कही गयी है । इस प्रकार—सामान्यविशेष और विशेष रूप से ॥ ३५ ॥

इसी को यहाँ दिखाते है—

-(मार्गशीर्ष से लेकर क्रमशः) दो कृष्ण, तीन शुक्ल, चार कृष्ण और तीन शुक्ल ये पक्ष (पर्व होते) हैं । रवि, सोम, वृहस्पति, सोम, बुध-बुध, सोम, रवि, शुक्र, गुरु एवं सोम (ये दिन पर्व हैं) । उत्तराफाल्गुनी, चित्रा, मघा, पुष्य, पूर्वाफाल्गुनी, श्रवण, शतभिषा, मूल, रोहिणी, विशाखा श्रवण (ये नक्षत्र पर्व है) । नवमी-नवमी, पञ्चदशी, द्वादशी, त्रयोदशी, अष्टमी, नवमो, प्रतिपद्, एकादशी, षष्ठी, नवमी-नवमी (ये तिथियाँ पर्व है) । पूर्व रात्रि, मध्य रात्रि, पाँच मध्यदिन, प्रातःकाल, मध्य दिन, सायङ्काल (ये समय पर्व है) । अगहन आदि मासों में (क्रमशः उक्त पर्वो पर) अन्त्यज की कन्या, वेश्या अनुरागवती स्त्री, तत्त्ववेदिनी दूती का अलग-अलग या एक साथ अनुयाग नामक चक्र में पूजन करना चाहिये ॥ ३६-४०- ॥

वह्नि = तीन । श्रुति = चार । परफाल्गुनी = उत्तराफाल्गुनी । चैत्र = चित्रा

चित्रा रक्ष एव राक्षस इतिवत् । प्राक्फल्गुः = पूर्वफल्गुनी । कर्ण. = श्रवणः । प्राजापत्यम् = रोहिणी । रन्ध्रे = नवमीद्वयम् । तिथिः = पञ्चदशी, अर्का = द्वादशी, परा = त्रयोदशी । वसुः = अष्टमी । शशी = प्रतिपत्, वृषाङ्का = एकादशी, रसाः = षष्ठी, शराः = पञ्च । अत्र च मार्गशीर्षात् प्रभृति द्वादशसु मासेषु कृष्णपक्षादयः सर्व एव यथासंख्येन योज्याः । यथा मार्गशीर्षे मासि कृष्णपक्षे आदित्यवारे उत्तरफल्गुनीनक्षत्रे नवम्यां प्रथमनिशार्धप्रहरद्वये पर्वत्वमिति । एवमत्र रसवृषाङ्कार्कपराख्यस्य तिथीनां चतुष्टयस्य भग्रहाद्यात्मकत्वात् विशेषरूपत्वमेव । शिष्टस्य तु नवम्यादेरुभयात्मकत्वात् सामान्यविशेषरूपत्वमिति । यदुक्तम्—

'कृष्णायां मार्गशीर्षस्य नवम्यां रजनीमुखे ।
आदित्योत्तरफल्गुन्योः पूर्वार्धप्रहरद्वयम् ॥
पौषमासनवम्यां च कृष्णायामर्धरात्रगम् ।
चित्राचन्द्रमसोर्योगे द्वितीयं पर्व पार्वति ॥
पूर्णायां पञ्चदश्यां च माघस्यार्धनिशागमे ।
योगे मघाबृहस्पत्योस्तृतीयं पर्व कौलिकम् ॥
तिष्यचन्द्रमसोर्योगे द्वादश्यां फाल्गुने सिते ।
चतुर्थं पर्व कथितं नभोमध्यगते रवौ ॥
बुधस्य पूर्वफल्गुन्या योगे मध्यगते रवौ ।
चैत्रशुक्लत्रयोदश्यां पञ्चमं पर्व चिन्तयेत् ॥

जैसे कि रक्ष ही राक्षस होता है । प्राक्फल्गु = पूर्वाफाल्गुनी । कर्ण = श्रवण । प्राजापत्य = रोहिणी । रन्ध्रे = दो नवमी । तिथि = पञ्चदशी । अर्का = द्वादशी । परा = त्रयोदशी । वसु = अष्टमी । शशी = प्रतिपत् । वृषाङ्का = एकादशी । रसा = षष्ठी । शराः = पाँच । यहाँ मार्गशीर्ष से लेकर बारह मासों में कृष्णपक्ष आदि को क्रम से जोड़ें । जैसे कि मार्गशीर्ष महीने का कृष्णपक्ष रविवार उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र नवमी को पूर्व निशार्ध के प्रथम दो प्रहर में (पूजा का) पर्व होता है । इस प्रकार यहाँ षष्ठी एकादशी द्वादशी त्रयोदशी इन चार तिथियों का, नक्षत्र ग्रह आदि से युक्त होने के कारण वैशिष्ट्य है । शेष नवमी आदि का दोनों रूप होने से सामान्यविशेष रूप है ।

जैसा कि कहा गया—

'हे पार्वती ! मार्गशीर्ष की कृष्ण नवमी में सायङ्काल रविवार उत्तराफाल्गुनी का पूर्वार्ध दो प्रहर (को पहला पर्व) और पूष मास की कृष्ण नवमी में चित्रा सोमवार का योग होने पर आधीरात को दूसरा पर्व होता है । माघ की पूर्णा पञ्चदशी में आधी रात्रि के समय मघा और वृहस्पति का योग होने पर तीसरा कौल पर्व होता है । फाल्गुन शुक्ल द्वादशी को पुष्य और सोमवार का योग होने पर मध्याह्न में

वैशाखमासस्याष्टम्यां बुधश्रवणसङ्गमे ।
मध्याह्ने कृष्णपक्षे च षष्ठं पर्व वरानने ॥
ज्येष्ठमास्यसिते पक्षे नवम्यां मध्यवासरे ।
चन्द्रवारुणयोर्योगे सप्तमं पर्व पार्वति ॥
आषाढमासप्रतिपद्यर्के मध्याह्नगे सिते ।
मूलभास्करयोर्योगे पर्वाष्टममुदाहृतम् ॥
श्रावणे रोहिणीशुक्रयोगे चैकादशेऽहनि ।
कृष्णपक्षे प्रभाते च नवमं पर्व भामिनि ॥
विशाखाजीवसंयोगे षष्ठ्यां भाद्रपदे सिते ।
मध्याह्नसमये देवि दशमं पर्व कौलिकम् ॥
या शुक्लनवमी मासि भवेदाश्वयुजे प्रिये ।
तस्यां तु ग्रहनक्षत्रवेलाकालो न गण्यते ॥
एतदेकादशं पर्व कुलसिद्धिमहोदयम् ।
कार्तिके मासि शुक्लायां नवम्यां रजनीमुखे ॥
श्रवणेन्दुसमापत्तौ द्वादशं पर्व कीर्तितम् ।' इति ।

अन्त्यजेति—धीवरीमातङ्ग्याद्या । तत्त्ववेदिनीति—समयज्ञा । तदुक्तम्—

'धीवरीचक्रपूजा च रात्रौ कार्या विधानत. ।
चक्रं संपूजयेद्देवि मातङ्गीकुलसंभवम् ॥' इति,

चौथा पर्व कहा गया है । पूर्वाफाल्गुनी में बुध का योग होने पर चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को मध्याह्न पाँचवाँ पर्व कहा गया है । वैशाख मास के कृष्णपक्ष में बुधवार एवं श्रवण का सङ्गम होने पर हे वरानने ! छठाँ पर्व होता है । ज्येष्ठमास कृष्णपक्ष नवमी मध्याह्न में सोमवार एवं शतभिष का योग होने पर हे पार्वती ! सातवाँ पर्व होता है । आषाढ़ मास के प्रतिपद् में सूर्य के मध्याह्न में होने पर मूल और रविवार का योग होने पर आठवाँ पर्व कहा गया है । श्रावण में कृष्णपक्ष में एकादशी को रोहिणी शुक्र का योग होने पर हे भामिनी ! नवम पर्व होता है । विशाखा बृहस्पति के योग में भाद्रपद शुक्ल षष्ठी मध्याह्न में दशम कौल पर्व होता है । हे प्रिये ! आश्विन में जो शुक्ल नवमी होती है उसमें दिन नक्षत्र वेला समय का विचार नहीं होता । यह कुलसिद्धि को देने वाला ग्यारहवाँ पर्व है । कार्तिक मास शुक्ल नवमी सायङ्काल श्रवण एवं सोमवार का योग होने पर बारहवाँ पर्व कहा गया है ।'

अन्त्यजा = धीवरी मातङ्गी आदि । तत्त्ववेदिनी = समय को जानने वाली । वहीं कहा गया—

'रात्रि में धीवरीचक्रपूजा विधिवत् करनी चाहिये । हे देवि ! मातङ्गी (= जङ्गल निवासी) कुल में उत्पन्न चक्र का पूजन करे ।'

'शक्तयः समयज्ञाश्च दिनान्ते क्रीडयन्ति ताः।' इति च ॥

ननु इह पूजा नाम आदियागात् प्रभृति अनुयागपर्यन्तमुच्यते, सा च बहुकालनिर्वर्त्येति कथमसौ इयति समये पर्वसु सिद्ध्येत् ?—इत्याशङ्क्य आह—

सर्वत्र च पर्वदिने कुर्यादनुयागचक्रमतिशयतः ॥ ४० ॥
गुप्तागुप्तविधानादियागचर्याक्रमेण सम्पूर्णम् ।
अनुयागः किल मुख्यः सर्वस्मिन्नेव कर्मविनियोगे॥ ४१ ॥
अनुयागकाललाभे तस्मात्प्रयतेत तत्परमः ।

मुख्य इति—आदियागो हि पूजोपकरणभूतद्रव्योपहरणरूपत्वादेतदङ्गम्—इति भावः, तेन पर्ववेलायामनुयाग एव भरः कार्यः—इति तात्पर्यम् ॥

ननु कस्मादत्र आश्वयुजे मासि भग्रहादियोगो नोक्तः ?—इत्याशङ्क्य आह—

अग्रहसमयविशेषो नाश्वयुजे कोऽपि तेन तद्वर्जम् ॥ ४२ ॥
वेलाभग्रहकलना कथितैकादशसु मासेषु ।

अत एव अत्र विशेषविशेषवत्त्वम् ॥

'वे समय जानने वाली शक्तियाँ शाम को क्रीडा कराती हैं' ॥

प्रथम पूजा प्रथम याग से लेकर अनुयाग तक को कहते हैं । और वह बहुत समय में पूरी होती है । फिर वह इतने न्यून काल में पर्वों में कैसे सिद्ध हो जायगी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

सर्वत्र पर्वदिन में अनुयाग चक्र को गुप्त अगुप्त विधान आदि याग के चर्याक्रम से अतिशयित रूप से पूरा करना चाहिये । सब कर्मों में अनुयाग ही मुख्य है । इस कारण अनुयागकाल के मिलने के विषय में उसको अन्तिम लक्ष्य मान कर प्रयास करना चाहिये ॥ -४०-४२- ॥

मुख्य—आदियाग पूजा का उपकरणभूत द्रव्यानयन आदि रूप होने से उसका अङ्ग है । इसलिये पर्ववेला में अनुयाग में ही शक्ति लगानी चाहिये—यह तात्पर्य है ॥

प्रश्न—आश्विन मास में नक्षत्र ग्रह आदि का योग क्यों नहीं कहा गया?— यह शङ्का कर कहते हैं—

क्वार के विषय में कोई भी नक्षत्र, ग्रह और समय का विशेष नही है । इसलिये उसको छोड़कर ग्यारह महीनों में समय नक्षत्र दिन का ग्रहण किया है ॥ -४२-४३- ॥

इसीलिये इसमें 'वि.षविशेषवत्ता है ॥

एवमन्यत्रापि विशेषविशेषत्वं दर्शयति—

फाल्गुनमासे शुक्लं यत्प्रोक्तं द्वादशीदिनं पर्व॥ ४३ ॥
अग्रतिथिवेधयोगो मुख्यतमोऽसौ विशेषोऽत्र ।

अग्रतिथिः = त्रयोदशी । तदुक्तम्—

'फाल्गुने द्वादशी शुक्ला सोमतिथियुता भवेत् ।
सिद्धावप्यग्रतिथ्यंशे विशेषोऽत्र महानयम् ॥' इति ॥

न केवलमत्रैव विशेषविशेषता, यावत् सर्वत्रापि—इत्याह—

दिवसनिशे किल कृत्वा त्रिभागशः प्रथममध्यमापरविभागः ॥४४॥
पूजाकालस्तत्र त्रिभागिते मुख्यतमः कालः ।
यदि सङ्घटेत वेला मुख्यतमा भग्रहौ तथा चक्रम् ॥ ४५ ॥
तद्याग आदियागस्तत्काम्यं पूजयैव पर्वसु सिद्ध्येत् ।
दिनवेलाभग्रहकल्पनेन तत्रापि सौम्यरौद्रत्वम् ॥ ४६
ज्ञात्वा साधकमुख्यस्तत्तत्कार्यं तदा तदा कुर्यात् ।

इह किल पर्वतया अभिमतं दिनं निशां वा त्रिभागीकृत्य यथास्वं प्रथम-

---

इसी तरह अन्यत्र भी विशेषविशेषता दिखलाते हैं—

फाल्गुन मास में जो शुक्ल द्वादशी का दिन पर्व के रूप में कहा गया है इसमें त्रयोदशी तिथि का वेधयोग होना मुख्यतम विशेष है ॥ -४३-४४- ॥

अग्रतिथि = त्रयोदशी । वही कहा गया—

'फाल्गुन मास की शुक्ल द्वादशी यदि सोमतिथि (= त्रयोदशी) से युक्त हो तो (द्वादशी पर्व के) होने पर भी अग्रतिथि के अंश का योग होने पर विशेष पर्व होता है ।'

केवल यहीं विशेषविशेषता नहीं है बल्कि सर्वत्र ही है—यह कहते हैं—

दिन और रात को तीन भाग करने पर प्रथम मध्यम और अन्तिम विभाग पूजा का समय होता है । उसमें फिर तीन भाग करने पर मुख्यतम काल होता है । यदि मुख्यतम वेला नक्षत्र दिन तथा चक्र सङ्घटित हो जाँय तो वह याग आदि याग होता है । उन पर्वों पर पूजामात्र से काम्य (फलों) की सिद्धि हो जाती है । उसमें भी दिन वेला नक्षत्र दिन की कल्पना से सौम्यता और रौद्रता को जानकर साधक तत्तत् कार्यों को उस-उस समय करे ॥ -४४-४७- ॥

पर्व के रूप में माने गये दिन अथवा रात्रि को तीन भाग में बाँट कर

मध्यमापररूपभागत्रयान्यतरात्मा प्रत्यूषमध्याह्नप्रदोषलक्षणो यः पूजाकालः, तस्मिन्नपि त्रिभिर्विभक्ते यथास्वमेव प्रथमो मध्यमः परो वा मुख्यतमो यः पूजाकालः, तत्रैव पूज्यतया संमतं कन्यान्त्यजादीनां चक्रम् । वेला भग्रहादयश्च मुख्यतमा यदि सङ्घटन्ते, तत् तस्मिन् क्षणे क्रियमाणो याग आदियागः प्रधानं यजनम्—इत्यर्थः । तत्तस्माद्धेतोः पर्वसु विनापि योगं ज्ञानं वा पूजयैव काम्यं सिद्ध्येत्—अभीष्टसंपत्तिः स्यात्—इत्यर्थः । तत्रापीति—विशेषविशेषात्मनि मुख्यतमेऽपि काले—इत्यर्थः । तत्तदिति—शान्त्युच्चाटनादि ॥

ननु अत्रैव विभाजितं पूजाकालमतिक्रम्य तिथ्यादि यदि स्यात्, तदा किं प्रतिपत्तव्यम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

उक्तो योऽर्चाकालस्तं चेदुल्लङ्घ्य भग्रहतिथिः स्यात्॥ ४७ ॥
तमनादृत्य विशेषं प्रधानयेत्सामयमिति केचित् ।

अत्रैव मतान्तरमाह—

नेति त्वस्मद्गुरवो विशेषरूपा हि तिथिरिह न वेला ॥ ४८ ॥

ननु अत्र तिथिरेव नाम का यस्या अपि विशेषत्वं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

स्वेच्छया प्रथम मध्यम और अन्तिम तीन भाग में से एक भाग रूप प्रातः मध्याह्न एवं प्रदोष नामक काल उसका भी तीन भाग होने पर इच्छानुकूल हो प्रथम मध्यम अथवा पर जो मुख्यतम पूजाकाल है उसी समय पूज्य के रूप में सम्मत जो अन्त्यज आदि की कन्याओं का चक्र, वेला नक्षत्र ग्रह आदि जो कि मुख्यतम है, सङ्घटित होते है तो उस क्षण में क्रियमाण याग आदियाग अर्थात् प्रधान यजन होता है । इसलिये पर्वों पर बिना योग अथवा ज्ञान के केवल पूजा से = अभीष्ट की सिद्धि हो जाती है । उसमें भी = विशेषविशेष रूप मुख्यतम भी काल में । वह-वह = शान्ति उच्चाटन आदि ॥

प्रश्न—यदि इसी में विभाजित पूजाकाल का अतिक्रमण। करके तिथि आदि हो तो क्या मानना चाहिये?—यह शङ्का कर कहते हैं—

पूजा का जो समय कहा गया है यदि नक्षत्र ग्रह और तिथि उसको छोड़कर मिलते हैं तो उस तिथि आदि विशेष को छोड़कर काल को ही प्रधान मानना चाहिये—ऐसा कुछ लोग कहते हैं ॥ -४७-४८- ॥

इसी में मतान्तर कहते हैं—

नहीं मानना चाहिए—ऐसा हमारे गुरु कहते हैं । तिथि प्रधान होती है समय नहीं ॥ -४८ ॥

प्रश्न—यहाँ तिथि ही क्या है जिसकी कि विशेषता होती है?—यह शङ्का कर

संवेद्यरूपशशधरभागः संवेदकार्ककरनिकरैः ।
यावान्यावति पूर्णः सा हि तिथिर्भग्रहैः स्फुटीभवति ॥ ४९ ॥

इह यत्

'प्रतिदिवसमेवमर्कात् स्थानविशेषेण शौक्ल्यपरिवृद्धिः ।
भवति शशिन.... .... ॥'

(बृ०सं० ४।४)

इत्यादिज्योतिःशास्त्रोदितदृष्ट्या प्रमेयात्मनः शशिनो यावान् एकैककलारूपो भागः प्रमाणात्मनोऽर्कस्य करनिकरैर्यावति ऊनाधिकषष्टिघटिकात्मनि काले दृश्यभागे परभागे वा पूर्णः परिवृद्धशौक्ल्यः स्यात्, सा हि तिथिरुच्यते या भग्रहैः स्फुटीभवति विशिष्टतामासादयति—इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

अतश्च तिथेरेव मुख्यत्वम्—इत्याह—

तस्मान्मुख्यात्र तिथिः सा च विशेष्या ग्रहर्क्षयोगेन।
वेलात्र न प्रधानं युक्तं चैतत्तथाहि परमेशः ॥ ५० ॥
श्रीत्रिकभैरवकुलशास्त्रेषूचे न पर्वदिवसेषु ।
वेलायोगं कञ्चन तिथिभग्रहयोगतो ह्यन्यम् ॥ ५१ ॥

कहते हैं—

प्रमेय रूप चन्द्रमा का जितना भाग प्रमाण रूप सूर्य के किरणसमूहों से जितने (समय) में पूर्ण होता है वही तिथि नक्षत्र एवं ग्रहों से स्फुट होती है ॥ ४९ ॥

यहाँ जो—

'प्रतिदिन सूर्य के कारण स्थानविशेष से चन्द्रमा की शुक्लता की वृद्धि होती है.......।'

इत्यादि ज्योतिष्शास्त्र में उक्त दृष्टि से प्रमेयात्मक चन्द्रमा का जितना = एक-एक कलारूप भाग प्रमाणरूप सूर्य के किरणसमूहों से जितने कम या अधिक साठ घड़ी वाले काल में दृश्यभाग या परभाग में पूर्ण = परिवृद्धशुक्लता वाला, होता है वह तिथि होती है जो कि नक्षत्र एवं दिनों से स्पष्ट होती है = विशेषता को प्राप्त होती है ॥ ४९ ॥

इसलिये तिथि की ही प्रधानता होती है—यह कहते हैं—

इस कारण तिथि ही मुख्य है क्योंकि वह ग्रह नक्षत्र के योग से विशिष्ट बनाने योग्य है । यहाँ समय प्रधान नहीं है । यही ठीक भी है । परमेश्वर ने त्रिक, भैरवकुल शास्त्रों में कहा है—पर्व दिनों में तिथि ग्रह

चो हेतौ । एतच्च आगमतोऽपि उपपादयितुमाह—युक्तं चैतदित्यादि । तदुक्तं तत्र—

'मासस्य मार्गशीर्षस्य या तिथिर्नवमी भवेत् ।
कृष्णपक्षे सूर्ययुक्ता उत्तराफल्गुनीयुता ॥
तस्यां विशेषसंपूजा कर्तव्या साधकोत्तमैः ।' इत्यादि
'कार्तिकस्य तु मासस्य शुक्ला या नवमी भवेत्।
चन्द्रश्रवणसंयोगे द्वादशं पर्व पूजयेत् ॥'

इत्यन्तम् ॥ ५१ ॥

अतश्च तिथेरेव मुख्यतया पूज्यत्वम्—इत्याह—

भग्रहयोगाभावे तिथिस्तु पूज्या प्रधानरूपत्वात् ।

तुर्हेतौ । यत् स्मृतिरपि—

'.......................तिथिं यत्नेन याजयेत् ।' इति ।

अनेन च अत्र पर्वणां विशिष्टत्वेऽपि सामान्यरूपत्वमुक्तम् ॥

एतदेव शास्त्रान्तरप्रसिद्धन्यायगर्भं दृष्टान्तयति—

नक्षत्र के योग से भिन्न कोई समययोग नहीं है ॥ ५०-५१ ॥

'च' का प्रयोग हेतु अर्थ में है । इसे आगम से भी सिद्ध करने के लिये कहते हैं—यह ठीक भी है...........इत्यादि । वही वहाँ-

'मार्गशीर्ष मास के कृष्णपक्ष में जो नवमी तिथि होती है यदि वह रविवार एवं उत्तराफाल्गुनी से युक्त हो तो उसमें साधकों के द्वारा विशेष पूजा की जानी चाहिये ।' यहाँ से लेकर

'कार्त्तिक मास की जो शुक्ला नवमी होती है सोमवार एवं श्रवण नक्षत्र का योग होने पर बारहवें पर्व की पूजा करे'—यहाँ तक कहा गया है ॥ ५१ ॥

इसलिये तिथि ही मुख्य रूप से पूज्य है—यह कहते हैं—

क्योंकि नक्षत्र एवं दिन का योग न मिलने पर तिथि ही प्रधान रूप से पूज्य होती है ॥ ५२- ॥

'तु' हेतु अर्थ में है । स्मृति भी (कहती) है—

'.......................(पूजा के विषय मे) तिथि को ही प्रयत्नपूर्वक पूजित करे (= महत्त्व दे) ।'

इस (कथन) से यहाँ पर्वो की, विशेष होने पर भी, सामान्यरूपता कही गयी है ॥

श्वेताभावे कृष्णच्छागालम्भं हि कथयन्ति ॥ ५२ ॥

मीमांसका हि श्वेतं छागमालभेतेति चोदितः पशुः, यदि पशुरुपाकृतः पलायेत, अन्यं तद्वर्णं तद्वयसमालभेतेत्यादौ यदि तद्वर्ण एव न प्राप्येत, तदा 'गुणाः प्रतिनिधीयन्ते च्छागादीनां न जातयः' इत्यादिनयेन अतद्वर्णस्यापि छागस्यैव आलम्भं कथयन्ति—इति वाक्यार्थः । एवं प्रकृतेऽपि भग्रहवेलादि-विशिष्टा तिथिश्चेत् न भवेत्, तत्केवलैव पर्वतया इयं ग्राह्येति ॥ ५२ ॥

नन्वत्र श्रीत्रिककुलादावनुक्तोऽपि भगवता वेलायोगः कथमूर्मिकुलादावभि-धीयमानः सङ्गच्छताम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

यत्पुनरूर्मिप्रभृतिनि शास्त्रे वेलोदितापि तत्काम्यम् ।
मुख्यतयोद्दिश्य विधिं तथा च तत्र पौषपर्वदिने ॥ ५३ ॥
कृत्वार्चनमर्धनिशि ध्यात्वा जप्त्वा बहिर्गतस्य यथा ।
आदेशः फलति तथा माघे चक्राद्वचः फलति ॥ ५४ ॥
अचिरादभीष्टसिद्धिः पञ्चसु मैत्री धनं च मेलापः ।

इसी को (मीमांसा) शास्त्र में प्रसिद्ध न्याय के अनुसार उदाहरणद्वारा प्रस्तुत करते हैं—

(मीमांसक लोग) श्वेत (बकरा) के अभाव में काले बकरे की बलि कहते हैं ॥ -५२ ॥

मीमांसक कहते हैं—'श्वेत बकरे की बलि देनी चाहिये' इस वाक्य से पशु बलि का विधान है । यदि उपाकर्मसम्पन्न पशु भाग जाय तो उसी रंग का अवस्था का अन्य पशु (= बकरा) आलम्भित करना चाहिये । यदि उस रंग का न प्राप्त हो तो 'छाग आदि के गुणों का प्रतिनिधित्व किया जाता है (= एक गुण के बदले दूसरे गुण को रखा जाता है) न कि जाति का' इत्यादि नियम के अनुसार उस (श्वेतवर्ण) से भिन्नवर्ण वाले भी छाग का ही आलम्भन हो—यह वाक्यार्थ है । इसी प्रकार यहाँ भी यदि दिन नक्षत्र वेला आदि से विशिष्ट तिथि न मिले तो केवल इसी का (= तिथि का) ही पर्व के रूप में ग्रहण करना चाहिये ॥ ५२ ॥

प्रश्न—त्रिक एवं कौलशास्त्र आदि में भगवान् के द्वारा अनुक्त समय का योग ऊर्मिकुल आदि में उक्त होने पर कैसे संगत होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो उर्मि आदि शास्त्रों में वेला कही गयी है वह मुख्यतया काम्यविधि को लक्ष्य कर । इस प्रकार पौष मास में पर्व के दिन अर्धरात्रि में अर्चन ध्यान और जप करने के बाद (आदेश सुनकर) बाहर गये (साधक) के लिये जिस प्रकार आदेश फलीभूत होता है माघ में चक्र (= पूजा) से आदेश फलित होता है । (फाल्गुन से लेकर) पाँच (महीनों) में शीघ्र ही

चक्रस्थाने क्रोधात् पाषाणस्फोटनेन रिपुनाशः ॥ ५५ ॥
सिद्धादेशप्राप्तिर्मार्गान्तं कथ्यते विभुना ।

एतदेव दर्शयति—तथा चेत्यादिना । पञ्चस्विति काकाक्षिन्यायेन योज्यम्, तेन फाल्गुनादाषाढान्तं पञ्चसु अभीष्टसिद्धिः, श्रावणान्मार्गशीर्षान्तुं च पञ्चसु क्रमेण मैत्र्यादीनि । तदुक्तं तत्र पौषमासादिक्रमेण

'पूजा तत्रैव यत्नेन रात्र्यर्धसमये प्रिये ।
ध्यानयुक्तो भवेत्पश्चान्मन्त्रजप्यपरायणः ॥
आदेशो जायते तस्य श्रुत्वासौ निष्क्रमेद् बहिः ।
तत्राभिवाञ्छितं भद्रे प्रापयेन्नात्र संशयः ॥' इति,
'रात्र्यर्धसमये मन्त्री विशेषात्तत्र पूजनात् ।
भ्रममाणस्य चक्रस्य वचनं यत्पतिष्यति ॥
तदविघ्नेन देवेशि सप्ताहात् सफलं भवेत् ।' इति,
'दिनार्धे पूजनात्तत्र अभीष्टं सिद्ध्यतेऽचिरात् ।' इति,
'यां सिद्धिमभिवाञ्छेत सा तस्य अचिराद्भवेत् ॥' इति,
'प्रार्थितं सिद्ध्यते देवि.......................... ।' इति,
'मनोवाञ्छितसिद्धर्थं चक्रं संपूजयेत्प्रिये ।

मैत्री धन मेलाप (मिलन) आदि अभीष्टसिद्धि होती है । चक्रस्थान में क्रोधपूर्वक पत्थर फोड़ने से शत्रुनाश सिद्धादेश की प्राप्ति मार्गशीर्ष पर्यन्त परमेश्वर के द्वारा कही जाती है ॥ ५३-५६- ॥

'तथा च'—इत्यादि के द्वारा इसी को दिखलाते हैं । 'पाँच (महीनों) में' इसे काकाक्षिन्याय से जोड़ना चाहिये । इस प्रकार फाल्गुन से लेकर आषाढ़ पर्यन्त पाँच (महीनों) में इष्टसिद्धि होती है । श्रावण से लेकर मार्गशीर्ष पर्यन्त पाँच (महीनों) में क्रम से मैत्री आदि होते हैं । वही वहाँ पौष मास आदि के क्रम से कहा गया है—

'हे प्रिये ! उसी (समय) में आधी रात्रि के समय प्रयत्नपूर्वक पूजा करे बाद में ध्यानयुक्त होकर मन्त्रजप में लग जाय । फिर उसे आदेश मिलता है । उसे सुनकर वह बाहर चला जाय । हे भद्रे ! वहाँ वह अभीष्ट को प्राप्त करता है । इसमें सन्देह नहीं है ।'

'साधक आधीरात के समय वहाँ विशेष पूजन के कारण जो आदेश प्राप्त करता है हे देवेशि ! एक सप्ताह के अन्दर निर्विघ्न रूप से वह (वचन) सफल हो जाता है ।'

'दो पहर के समय पूजा करने से शीघ्र अभीष्ट सिद्ध होता है ।'

'जिस सिद्धि को चाहता है वह उसको शीघ्र मिल जाती है ।'

'हे देवि ! अभीष्ट सिद्ध होता है........... ।'

......................तच्चक्रं पूज्य सिद्ध्यति ॥' इति,
'पूजां वै वासरारम्भे कुर्वतोऽत्र विधानतः ।
मैत्रीभावेन तिष्ठन्ति सर्वभूतानि तस्य च ॥' इति,
'मध्याह्ने पूजनात्तत्र सौभाग्यधनधान्यतः ।
वृद्धिर्भवति देवेशि................................ ॥' इति,
'मेलापकं तु सर्वत्र तस्मिन्पर्वे भविष्यति ।' इति,
'भूमावास्फोटयेत् क्रोधात्संज्ञया यस्य वै प्रिये ।
पाषाणे स्फुटयेत् देवि तस्य मूर्धा तु सप्तधा॥
स्फुटते तु महाभागे सत्यं नास्त्यत्र संशयः ।
निशि क्षेत्राटनादेवि सिद्धादेशमवाप्नुयात् ॥' इति च ॥

ननु अत्र तिथौ भग्रहाद्यभावेऽपि भवन् वेलायोगः किमपेक्षणीयो न वा ?— इत्याशङ्क्य आह—

भग्रहयोगाभावे वेलां तु तिथेरवश्यमीक्षेत ॥ ५६ ॥
सा हि तथा स्फुटरूपा तिथेः स्वभावोदयं दद्यात् ।

एवं षडंशयोगिनि दिने तु महता विशेषेण अर्चनं कुर्यात्—इत्याह—

'हे प्रिये ! मनोवाञ्छित सिद्धि के लिये चक्रपूजा करनी चाहिये । उस चक्र की पूजा कर (पूजक) सिद्ध हो जाता है ।'

'इस समय दिन के प्रारम्भ में विधिपूर्वक पूजा करने वाले उस पूजक के साथ समस्त प्राणी मित्रभाव से रहते हैं ।'

'हे देवेशि ! उस (योग) में मध्याह्न में पूजा करने से सौभाग्य धनधान्य के द्वारा पूजक की वृद्धि होती है ।'

'उस पर्व में सर्वत्र मेल हो जायगा ।'

'हे प्रिये ! जिसका नाम लेकर क्रोध से धरती पर (पत्थर) फोड़े । पत्थर के फूटने पर उसका शिर सात टुकड़ों में फट जाता है । हे महाभागे ! यह सत्य है इसमें संशय नहीं है । रात्रि में क्षेत्र में घूमने पर (पूजक) सिद्ध का आदेश प्राप्त करता है' ॥

प्रश्न—तिथि में नक्षत्र दिन आदि के अभाव में भी होने वाले कालयोग की अपेक्षा करनी चाहिये या नहीं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

नक्षत्र दिन के अभाव में तिथि की वेला की अपेक्षा अवश्य करनी चाहिये । क्योंकि उस प्रकार वह (= वेला) स्पष्ट होती हुयी तिथि के स्वाभाविक उदय को बतलाती है ॥ -५६-५७- ॥

इस प्रकार षडंशयोग वाले दिन में प्रचुर वैशिष्ट्य के साथ अर्चन करना

भग्रहतिथिवेलांशानुयायि सर्वाङ्गसुन्दरं तु दिनम् ॥ ५७ ॥
यदि लभ्येत तदास्मिन्विशेषतमपूजनं रचयेत् ।

सर्वाङ्गसुन्दरमित्यनेन अस्य अतीव दुर्लभत्वं प्रकाशितम् ॥

ननु काम्यमेव केवलमधिकृत्य यदि यागोऽभिप्रेतः, तदिह नैमित्तिकप्रकरणेऽपि अवश्यन्तया तद्योगः कस्मादुक्तः ?—इत्याशङ्क्य आह—

न च काम्यमेव केवलमेतत्परिवर्जने यतः कथितः ॥ ५८ ॥
समयविलोपः श्रीमद्भैरवकुल ऊर्मिशास्त्रे च ।
दुष्टा हि दुराचाराः पशुतुल्याः पर्व ये न विदुः ॥ ५९ ॥

तदेवार्थद्वारेण पठति—दुष्टा हीत्यादि ॥ ५९ ॥

ननु एतावतैव केवलकाम्याधिकारेण एतन्नोक्तमिति कुतोऽवगतम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

न च काम्यस्याकरणे स्याज्जातु प्रत्यवायित्वम् ।

चो हेतौ ॥

एवं पर्वविशेषमभिधाय चक्रचर्चा कर्तुमाह—

चाहिये—यह कहते हैं—

यदि नक्षत्र दिन तिथि वेलांश से युक्त सर्वाङ्गसुन्दर दिन मिले तो उस दिन विशेषतम पूजा करनी चाहिये ॥ -५७-५८- ॥

'सर्वाङ्गसुन्दर' पद से इस दिन की अत्यन्त दुर्लभता बतायी गयी ॥

प्रश्न—यदि केवल काम्य (कर्म) को लक्ष्य कर याग अभिप्रेत है तो इस नैमित्तिक प्रकरण में भी उसका योग क्यों कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

केवल काम्य (कर्म में ही यह याग अभिप्रेत) नहीं है क्योंकि भैरव कुल और ऊर्मिशास्त्र मे भी समयविलोप कहा गया है । जो लोग पर्व को नहीं जानते वे दुष्ट दुराचारी तथा पशुतुल्य हैं ॥ -५८-५९ ॥

उसी को अर्थ के द्वारा पढ़ते हैं—दुष्टा हि.......... ॥

प्रश्न—केवल इतने से ही यह कैसे जाना जाय कि यह केवल काम्य कर्मों को लक्ष्यकर नहीं कहा गया—यह शङ्का कर कहते हैं—

क्योंकि काम्य (कर्मों) के न करने में विघ्न (= पाप) नहीं होता है ॥ ६०- ॥

'च' हेतु अर्थ में प्रयुक्त है ॥

तत्रानुयागसिद्ध्यर्थं चक्रयागो निरूप्यते ॥ ६० ॥
मूर्तियाग इति प्रोक्तो यः श्रीयोगीश्वरीमते ।
नित्यं नैमित्तिकं कर्म यदत्रोक्तं महेशिना ॥ ६१ ॥
सर्वत्र चक्रयागोऽत्र मुख्यः काम्ये विशेषतः ।
ज्ञानी योगी च पुरुषः स्त्री वास्मिन्मूर्तिसंज्ञके ॥ ६२ ॥
यागे प्रयत्नतो योज्यस्तद्धि पात्रमनुत्तरम् ।
तत्संपर्कात्पूर्णता स्यादिति त्रैशिरसादिषु ॥ ६३ ॥

तदिति—ज्ञान्यादि ॥ ६३ ॥

तदेव पठति—

तेन सर्वं हुतं चेष्टं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
ज्ञानिने योगिने वापि यो ददाति करोति वा ॥ ६४ ॥
दीक्षोत्तरेऽपि च प्रोक्तमन्नं ब्रह्मा रसो हरिः ।
भोक्ता शिव इति ज्ञानी श्वपचानप्यथोद्धरेत् ॥ ६५ ॥
सर्वतत्त्वमयो भूत्वा यदि भुङ्क्ते स साधकः ।
तेन भोजितमात्रेण सकृत्कोटिस्तु भोजिता ॥ ६६ ॥
अथ तत्त्वविदेतस्मिन्यदि भुञ्जीत तत् प्रिये ।

पर्वविशेष का कथन कर चक्रचर्चा करने के लिये कहते हैं—

इसमें अनुयाग की सिद्धि के लिये चक्रयाग का निरूपण किया जाता है जिसे कि सिद्धयोगीश्वरी मत में मूर्त्तियाग कहा गया है । परमेश्वर ने यहाँ (= सिद्धयोगीश्वरी मत में) जिस नित्य नैमित्तिक कर्म का कथन किया है उसमें सर्वत्र चक्रयाग मुख्य है और काम्य कर्मों में विशेष रूप से । इस मूर्त्तिनामक याग में ज्ञानी योगी अथवा स्त्री को विशेष रूप से लगाना चाहिये । क्योंकि वह (इसके लिये) सर्वोत्कृष्ट पात्र होता है । उसके सम्पर्क से याग की पूर्णता होती है—ऐसा त्रिशिरोभैरव आदि में (कहा गया है) ॥ -६०-६३ ॥

उसके = ज्ञानी आदि के ॥ ६३ ॥

उसी को पढ़ते है—

जो व्यक्ति ज्ञानी अथवा योगी को देता या (उसके लिए कुछ) करता है उसके द्वारा समस्त सचराचर त्रैलोक्य के लिये आहुति दी गयी या पूजा की गयी होती है । दीक्षोत्तर तन्त्र में भी कहा गया—अन्न ब्रह्मा रस विष्णु और भोक्ता शिव है—ऐसा समझने वाला चाण्डालों का भी उद्धार कर देता है । यदि वह साधक सर्वतत्त्वमय होकर भोजन करता है तो उसको केवल

परिसंख्या न विद्येत तदाह भगवाञ्छिवः ॥ ६७ ॥
भोज्यं मायात्मकं सर्वं शिवो भोक्ता स चाप्यहम् ।
एवं यो वै विजानाति दैशिकस्तत्त्वपारगः ॥ ६८ ॥
तं दृष्ट्वा देवमायान्तं क्रीडन्त्योषधयो गृहे ।
निवृत्तमद्यैवास्माभिः संसारगहनार्णवात् ॥ ६९ ॥
यदस्य वक्त्रं संप्राप्ता यास्यामः परमं पदम् ।
अन्येऽपानभुजो ह्यूर्ध्वे प्राणोऽपानस्त्वधोमुखः ॥ ७० ॥
तस्मिन्भोक्तरि देवेशि दातुः कुलशतान्यपि ।
आश्वेव परिमुच्यन्ते नरकाद्यातनार्णवात् ॥ ७१ ॥

करोतीति—अर्थात् सेवादि । कोटिरिति—अर्थात् ब्राह्मणानाम् । यदुक्तम्—

'चतुर्वेदार्थविदुषां ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
आचार्ये भोजिते देवि कोटिर्भवति भोजिता ॥' इति ।

एतस्मिन्निति—चक्रयागे । अन्य इति—अतत्त्वपारगाः । अपानभुज इति—अधःपातदायिनीं भोग्यरूपतामेव अनुसन्दधानाः—इत्यर्थः । अत एवोक्तम-

---

भोजन कराने से एक करोड़ लोग भोजन करा दिये जाते हैं । हे प्रिये ! यदि तत्त्वज्ञानी इस याग में भोजन करे तो (भोक्ताओं की) संख्या नहीं होती । वही बात भगवान् शिव ने कही है—

समस्त भोज्य मायात्मक है शिव भोक्ता है और मैं भी वही (= भोक्ता) हूँ—जो तत्त्वज्ञानी आचार्य ऐसा जानता है उस देवता को घर में आते देखकर ओषधियाँ खेलने लगती हैं । (वे समझती हैं कि) आज ही हम लोग संसार के गम्भीर समुद्र से पार हो गयीं । हम जो इसके मुख में चली गयीं तो परमपद को चली जायेंगी । अन्य लोग तो अपानभोगी (= भोजन के बाद मल मूत्र आदि अपान वायु के द्वारा नीचे की ओर ले जाये जाते हैं । ऐसे सामान्य व्यक्ति अपानभोगी) होते हैं । प्राण ऊर्ध्व में है और अपान अधोमुख । हे देवेशि ! उस (ज्ञानी) के भोक्ता बनने पर (भोजन) दाता के सैकड़ों कुल यातनासमुद्र के नरक से शीघ्र ही पार हो जाते हैं ॥ ६४-७१ ॥

करता है—अर्थात् सेवा आदि । करोड़—अर्थात् ब्राह्मणों की संख्या । जैसा कि कहा गया—

'हे देवि ! आचार्य को भोजन कराने पर चतुर्वेदाभिज्ञ महात्मा ब्राह्मणों की एक करोड़ संख्या भोजित हो जाती है ।'

इसमें = चक्रयाग में । अन्य लोग = तत्त्वज्ञान रहित । अपानभोजी = अधः

पानस्त्वधोमुख इति । तदुक्तम्—

'धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।' (सां० का०)

इति । तस्मिन्निति = प्राणभुजि तत्त्वपारगे ॥ ७१ ॥

ज्ञानिनश्च सर्वत्रैव अविगीतमुत्कृष्टत्वम्—इत्याह—

श्रीमन्निशाटनेऽप्युक्तं कथनान्वेषणादपि ।
श्रोत्राभ्यन्तरसंप्राप्ते गुरुवक्त्राद्विनिर्गते ॥ ७२ ॥
मुक्तस्तदैव काले तु यन्त्रं तिष्ठति केवलम् ।
सुरापः स्तेयहारी च ब्रह्महा गुरुतल्पगः ॥ ७३ ॥
अन्त्यजो वा द्विजो वाथ बालो वृद्धो युवापि वा ।
पर्यन्तवासी यो ज्ञानी देशस्यापि पवित्रकः ॥ ७४ ॥
तत्र संनिहितो देवः सदेवीकः सकिङ्क

सुराप इत्यादिना अस्य महापातकित्वमपि अगण्यमेव—इति भावः ॥

अतश्च ज्ञानिनमेव आश्रित्य मूर्तियागं कुर्यात्—इत्याह—

पतन कराने वाली भोग्यरूपता का ही अनुसन्धान करने वाले । इसीलिये कहा गया—अधोमुख है । वही कहा गया—

'धर्म से ऊर्ध्वगमन तथा अधर्म से अधोगमन होता है ।'

उसमें = तत्त्वपारगामी प्राणभोक्ता में ॥ ७१ ॥

ज्ञानी सर्वत्र निर्विरोध रूप से उत्कृष्ट है—यह कहते हैं—

श्रीनिशाटन शास्त्र में भी कहा गया है—वचन (= गुरु चरित्र की चर्चा) अथवा अन्वेषण (= गुरु के चरित्र का अनुकरण) से भी गुरु के मुख से निकले एवं (शिष्य के) कान के अन्दर प्रविष्ट होने पर उसी समय मुक्त हुआ (शिष्य) केवल यन्त्र के समान रहता है । शराबी, चोर, ब्रह्मघाती, गुरुपत्नीगामी, अन्त्यज अथवा द्विज, बाल, वृद्ध अथवा युवा होते हुए भी (शिष्य यदि) आचार्य का पर्यन्तवासी (= समीप में रहने वाला) और ज्ञानी है वह स्थान को भी पवित्र करने वाला होता है । उस स्थान पर देवी और अनुचरों के सहित परमेश्वर सन्निहित रहते हैं ॥ ७२-७५- ॥

सुराप—इत्यादि के द्वारा इस (ज्ञानी) का महापातक भी नगण्य है—यह भाव है ॥

इसलिये ज्ञानी आचार्यत्व में मूर्त्तियाग करे—यह कहते हैं—

तस्मात्प्राधान्यतः कृत्वा गुरुं ज्ञानविशारदम् ॥ ७५ ॥
मूर्तियागं चरेत्तस्य विधिर्योगीश्वरीमते ।

विधिरिति—कर्म, अत एव अनेन चक्रार्चनमपि आसूत्रितम् ॥

स च कदा कार्यो किंविधिश्च—इत्याह—

पवित्रारोहणे श्राद्धे तथा पर्वदिनेष्वलम् ॥ ७६ ॥
सूर्यचन्द्रोपरागादौ लौकिकेष्वपि पर्वसु ।
उत्सवे च विवाहादौ विप्राणां यज्ञकर्मणि ॥ ७७ ॥
दीक्षायां च प्रतिष्ठायां समयानां विशोधने ।
कामनार्थं च कर्तव्यो मूर्तियागः स पञ्चधा ॥ ७८ ॥

उत्सव इति—स्वगुरुजन्मदिनादौ ॥ ७८ ॥

पञ्चधात्वमेव दर्शयति—

केवलो यामलो मिश्रश्चक्रयुग्वीरसङ्करः ।
केवलः केवलैरेव गुरुभिर्मिश्रितः पुनः ॥ ७९ ॥
साधकाद्यैः सपत्नीकैर्यामलः स द्विधा पुनः ।
पत्नीयोगात् क्रयानीतवेश्यासंयोगतोऽथवा ॥ ८० ॥
चक्रिण्याद्याश्च वक्ष्यन्ते शक्तियोगाद्यथोचिताः।

इस कारण ज्ञानी गुरु को प्रधान बनाकर मूर्त्तियाग करे । उस (याग) की विधि योगीश्वरी मत में (कही गयी है) ॥ -७५-७६- ॥

विधि = कर्म । इसीलिये इसके द्वारा चक्रपूजा भी कही गयी है ॥

वह (याग) कब करे और उसको क्या विधि है—यह कहते हैं—

पवित्रारोहण, श्राद्ध, पर्वदिन, सूर्यचन्द्रग्रहण, लौकिक पर्व, विवाह आदि उत्सव, ब्राह्मणों का यज्ञ कर्म, दीक्षा, प्रतिष्ठा, समयों के संशोधन में तथा कामना (की सिद्धि) के लिये मूर्त्तियाग करना चाहिये । वह पाँच प्रकार का होता है ॥ -७६-७८ ॥

उत्सव = अपने गुरु के जन्मदिन आदि के समय ॥ ७८ ॥

पाँच प्रकार को दिखलाते हैं—

केवल, यामल, मिश्रित, चक्रयुक्, वीरसङ्कर । केवल याग केवल गुरुओं के द्वारा होता है । मिश्रित सपत्नीक साधक आदि के साथ मिलकर होता है । यामल (याग) दो प्रकार का है—पत्नी के साथ अथवा किराये पर लायी गयी वेश्या के साथ । चक्रिणी (= कुम्भकार की पत्नी) आदि

तत्संयोगाच्चक्रयुक्तौ याग: सर्वफलप्रदः ॥ ८१ ॥
सर्वैस्तु सहितो यागो वीरसङ्कर उच्यते ।

सपत्नीकैरिति—अर्थात् गुर्वादिभिश्चतुर्भिरपि । पत्न्यो—विवाहिताः । वक्ष्यन्ते इति—

'मातङ्गकृष्णसौनिककान्दुकचार्मिकविकोशिघातुविभेदाः ।
मात्स्यिकचाक्रिकसहितास्तेषां पत्न्यो नवात्र नवयागे ॥'

इत्यादिना एकान्नत्रिंशाह्निके । चक्रयुक्त इति—चक्रयुक् । सर्वैरिति—एवमुक्तैः पुंस्त्रीरूपैः ॥

अत्रैव उपवेशने क्रमं दर्शयति—

मध्ये गुरुर्भवेत्तेषां गुरुवर्गस्तदावृतिः ॥ ८२ ॥
तिस्र आवृतयो बाह्ये समय्यन्ता यथाक्रमम्।
पङ्क्तिक्रमेण वा सर्वे मध्ये तेषां गुरुः सदा ॥ ८३ ॥
तदा तद्गन्धधूपस्रक्समालम्भनवाससा ।
पूज्यं चक्रानुसारेण तत्तच्चक्रमिदं त्विति ॥ ८४ ॥

जिस प्रकार शक्तियोग के कारण (याग के लिये) उचित है—कही जायेगी । उनके साथ चक्रयुक्त याग समस्त फलों को देने वाला होता है । सबके साथ याग वीरसङ्कर कहा जाता है ॥ -७९-८२- ॥

सपत्नीक—अर्थात् गुरु आदि (= गुरुपत्नी, शिष्य, शिष्यपत्नी) चार के द्वारा । पत्नी = विवाहिता । कही जायेगी—

'मातङ्ग, कृष्ण (= काले रंग वाला डोम आदि), सौनिक (= कसाई), कान्दुक (= लोहा), चार्मिक (= चमड़े का व्यवसायी) विकोशी (= शराब बनाने वाला अर्थात् कलवार) धातुभेदक (= हड्डी तोड़ने वाला कापालिक), मछुवारा, चाक्रिक (= तेली)—ये नव और इनकी नव पत्नियाँ नव याग में गृहीत है ।' (तं०आ० २९।६६)

इत्यादि के द्वारा उन्तीसवें आह्निक में । चक्र से युक्त चक्रयुक् होता है । सबके साथ = इस प्रकार से कहे गये पुरुषस्त्री के साथ ॥

इसी में बैठने का क्रम दिखलाते हैं—

उनके मध्य में गुरु होता है । उस (= गुरु) को घेर कर गुरुवर्ग । बाहर क्रम से समयी पर्यन्त तीन घेरे बनते हैं । अथवा सब पंक्ति के क्रम से (बैठते) हैं । गुरु सदा उनके मध्य में रहता है । तत्पश्चात् गन्ध धूप माला वस्त्र से चक्र के अनुसार इस तत्तत् चक्र की पूजा करे ॥-८२-८४॥

तदावृतिरिति—गुरुवर्गावरणम्—इत्यर्थः । सदेति—आवृतिक्रमे पङ्क्तिक्रमे वा । तत्तच्चक्रमिति—गुरुसाधकादिरूपं पूज्यतया संमतम् ॥ ८४ ॥

तदेव उदाहरति—

एकारके यथा चक्रे एकवीरविधिं स्मरेत् ।
द्व्यरे यामलमन्यत्र त्रिकमेवं षडस्रके ॥ ८५ ॥
षड्योगिनीः सप्तकं च सप्तारेऽष्टाष्टके च वा ।
अन्यद्वा तादृशं तत्र चक्रे तादृक्स्वरूपिणि ॥ ८६ ॥
ततः पात्रेऽलिसंपूर्णे पूर्वं चक्रं यजेत्सुधीः ।
आधारयुक्ते नाधाररहितं तर्पणं क्वचित् ॥ ८७ ॥
आधारेण विना भ्रंशो न च तुष्यन्ति रश्मयः ।

अन्यत्रेति—त्र्यरे । तादृशमिति—तत्तन्नियतसंख्याकम्—इत्यर्थः । पूर्वमिति—प्रथमं प्रधानं वा ॥

एतदेव उपपादयति—

प्रेतरूपं भवेत्पात्रं शाक्तामृतमथासवः ॥ ८८ ॥
भोक्त्री तत्र तु या शक्तिः स शम्भुः परमेश्वरः ।

तदावृत्ति = गुरुवर्ग का आवरण । सदा = आवृतिक्रम या पङ्क्तिक्रम में । तत्तच्चक्र = गुरु साधक आदि रूप जो कि पूज्य माने गये हैं ॥ ८४ ॥

उसी को कहते हैं—

उदाहरणार्थ—एक अरावाले चक्र में एकवीरविधि का स्मरण करे । दो अरों वाले में यामल विधि का । अन्यत्र त्रिक का । इस प्रकार छह अरों वाले में छह योगिनियों का, सात अरों वाले में सात एवं आठ (अरों वाले) में आठ का । अथवा उस प्रकार के चक्र में वैसी ही (विधि का स्मरण करे) । इसके बाद मद्य से पूरित आधारयुक्त पात्र में विद्वान् पहले चक्र की पूजा करे । आधारहीन तर्पण कहीं भी (मान्य) नहीं है । आधार के बिना (यज्ञ) भ्रष्ट हो जाता है । और रश्मियाँ (= देवतायें) तृप्त नहीं होतीं ॥ ८५-८८- ॥

अन्यत्र = तीन अरों वाले । तादृश = तत्तत् नियत संख्या वाले । पूर्व = प्रथम अथवा प्रधान ॥

इसी को सिद्ध करते हैं—

पात्र प्रेतरूप होता है, आसव शाक्त अमृत होता है वहाँ जो भोक्त्री शक्ति है वह परमेश्वर शिव है । इस प्रकार अणु शक्ति और शिव वाले

अणुशक्तिशिवात्मेत्थं ध्यात्वा संमिलितं त्रयम् ॥ ८९ ॥
ततस्तु तर्पणं कार्यमावृतेरावृतेः क्रमात् ।
प्रतिसञ्चरयोगेन पुनरन्तः प्रवेशयेत् ॥ ९० ॥
यावद्गुर्वन्तिकं तद्धि पूर्णं भ्रमणमुच्यते ।

आवृतेरावृतेरिति—आवरणचतुष्टयस्यापि—इत्यर्थः । क्रमादिति—न तु अनन्तरोल्लङ्घनेन—इत्यर्थः । प्रतिसञ्चरः—प्रतीपं सञ्चरणम् । तद्धि पूर्णं भ्रमणमिति सृष्टिसंहारक्रमोभयात्मक एकः सञ्चारः—इत्यर्थः ॥

तर्पणे च अत्र क्रममाह—

तत्रादौ देवतास्तर्प्यास्ततो वीरा इति क्रमः ॥ ९१ ॥
वीरश्च वीरशक्तिश्चेत्येवमस्मद्गुरुक्रमः ।
ततोऽवदंशान्विविधान् मांसमत्स्यादिसंयुतान् ॥ ९२ ॥
अग्रे तत्र प्रविकिरेत् तृप्त्यन्तं साधकोत्तमः ।
पात्राभावे पुनर्भद्रं वेल्लिताशुक्तिमेव च ॥ ९३ ॥
पात्रे कुर्वीत मतिमानिति सिद्धामते क्रमः ।

तदेव दर्शयति—

दक्षहस्तेन भद्रं स्याद्वेल्लिता शुक्तिरुच्यते ॥ ९४ ॥

तीन का सम्मिलित ध्यान कर फिर आवृति-आवृति के क्रम से तर्पण करना चाहिये । फिर उल्टे क्रम से गुरु पर्यन्त पुनः अन्दर प्रवेश कराये । यह पूर्ण भ्रमण कहा जाता है ॥ -८८-९१- ॥

आवृति-आवृति का = चारो आवरणों का । क्रम से न कि अनन्तर का उल्लङ्घन करके । प्रतिसञ्चर = उल्टा सञ्चरण । वह पूर्ण भ्रमण है = सृष्टि संहार दोनों क्रमरूप एक सञ्चार है—यह अर्थ है ॥

यहाँ तर्पण में क्रम को कहते हैं—

इसमें पहले देवताओं का तर्पण करे फिर वीरों का—यह क्रम है । और वीरशक्ति का (तर्पण)—यह हमारे गुरु का (= के द्वारा निर्दिष्ट) क्रम है । इसके बाद साधक मांस मत्स्य आदि से युक्त अनेक प्रकार के अवदंशों (= चटपटा मसालेदार भोजन जिसके खाने से प्यास लगती है) को तृप्ति के लिये उनके आगे फैलाये । पात्र के अभाव में बुद्धिमान् भद्र और वेल्लिताशुक्ति को ही पात्र के लिये बनाये—ऐसा सिद्धामत में क्रम है ॥ -९१-९४- ॥

उसी को दिखलाते हैं—

दक्षहस्तस्य कुर्वीत वामोपरि कनीयसीम् ।
तर्जन्यंगुष्ठयोगेन दक्षाधो वामकांगुलीः ॥ ९५ ॥
निःसन्धिबन्धौ द्वावित्थं वेल्लिता शुक्तिरुच्यते।
ये तत्र पानकाले तु बिन्दवो यान्ति मेदिनीम् ॥ ९६ ॥
तैस्तुष्यन्ति हि वेतालगुह्यकाद्या गभस्तयः ।
धारया भैरवस्तुष्येत् करपानं परं ततः ॥ ९७ ॥
प्रवेशोऽत्र न दातव्यः पूर्वमेव हि कस्यचित् ।
प्रमादात्तु प्रविष्टस्य विचारं नैव चर्चयेत् ॥ ९८ ॥
एवं कृत्वा क्रमाद्यागमन्ते दक्षिणया युतम् ।
समालम्भनताम्बूलवस्त्राद्यं वितरेद्बुधः ॥ ९९ ॥
रूपकार्धात् परं हीनां न दद्याद्दक्षिणां सुधीः ।
समयिभ्यः क्रमाद् द्विद्विगुणा गुर्वन्तकं भवेत्॥ १०० ॥
एष स्यान्मूर्तियागस्तु सर्वयागप्रधानकः ।
काम्ये तु संविधौ सप्तकृत्वः कार्यस्तथाविधः ॥ १०१ ॥

दक्षहस्तेनेति—अर्थात् निविडोन्नतसंकुचितांगुलीकेन । तर्जन्यंगुष्ठयोगेनेति—अर्थात् वामकरसंबन्धिना, तेन वामोपरिस्थितां दक्षकनीयसीं तत्तर्जन्यंगुष्ठाभ्यामेव बद्धां कृत्वा अयं संनिवेशः स्यात् । तदुक्तम्—

दायें हाथ से भद्र होता है और वेल्लिताशुक्ति आगे कही जाती है—दायें हाथ की कनिष्ठा को बायें (हाथ) के ऊपर रखे । बायें हाथ की अंगुलियों को तर्जनी अंगूठा से मिलाकर दायें हाथ के नीचे रखे । इस प्रकार बिना सन्धि के बन्ध वाले दोनों हाथों को वेल्लिताशुक्ति कहा जाता है । पान करने के समय (मद्य के) जो बिन्दु धरती पर गिरते हैं उनसे वेताल गुह्यक आदि रश्मियाँ तृप्त होती हैं । धारा से भैरव सन्तुष्ट होते हैं। इस कारण करपान श्रेष्ठ होता है । चक्रपूजा में पहले किसी को प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिये । प्रमाद से प्रविष्ट व्यक्ति के विषय में विचार नहीं करना चाहिये । इस प्रकार विद्वान् क्रम से याग कर अन्त में दक्षिणा से युक्त समालम्भन (कुष्माण्ड आदि की बलि अथवा अपने प्रियजनों का आलिङ्गन) करे फिर ताम्बूल वस्त्र आदि को दे । मतिमान् आधी स्वर्णमुद्रा से कम दक्षिणा समयी लोगों को न दे । (दक्षिणा को) गुरुपर्यन्त क्रम से दो-दो गुना करनी चाहिये । यह मूर्त्तियाग है जो समस्त यागों में प्रधान है। काम्य विधि में यह कार्य उसी प्रकार सात बार करे ॥ -९४-१०१ ॥

दायें हाथ से—सघन उठी हुयी संकुचित उँगली वाले । तर्जनी अंगूठा के योग से—अर्थात् बायें हाथवाली । इससे बायें (हाथ) पर स्थित दायें (हाथ) की कनिष्ठा

'अथ पात्रविधिर्नास्ति ततः कुर्यादमुं विधिम् ।
भद्रं वेल्लितशुक्तिर्वा पानं वै तत्र शस्यते ॥
दक्षिणेन भवेद्भद्रं हस्तेन परमेश्वरि ।
द्वाभ्यां चैव तु कर्तव्या वेल्लिशुक्तिर्महाफला ॥
दक्षिणे या कनिष्ठा तां कृत्वा वामस्य चोपरि ।
हस्तस्य तु वरारोहे तर्जन्यंगुष्ठयोगतः ॥
कृत्वा वामस्य चांगुल्यो दक्षिणाधो व्यवस्थिताः ।
निःसन्धि वेल्लिशुक्तिं तु कृत्वा पानं प्रसिद्ध्यति॥' इति ।

अत्रेति—चक्रयागे । रूपकम् = दीनारः ॥ १०१ ॥

सप्तकृत्वः करणे प्रयोजनमाह—

जानन्ति प्रथमं गेहं ततस्तस्य समर्थताम् ।
बलाबलं ततः पश्चाद्विस्मयन्तेऽत्र मातरः ॥ १०२ ॥
ततोऽपि संनिधीयन्ते प्रीयन्ते वरदास्ततः ।
देवीनामथ नाथस्य परिवारयुजोऽप्यलम् ॥ १०३ ॥
वल्लभो मूर्तियागोऽयमतः कार्यो विपश्चिता ।
रात्रौ गुप्ते गृहे वीराः शक्तयोऽन्योन्यमप्यलम् ॥ १०४ ॥
असङ्केतयुजो योज्या देवताशब्दकीर्तनात् ।

को तर्जनी और अंगूठा से ही बाँध कर यह सन्निवेश होता है । वही कहा गया—

'यदि पात्रविधि (= पीने का पात्र) नहीं है तो इस विधि को करे । इसमें भद्र (पान) अथवा वेल्लितशुक्ति पान प्रशस्त माना गया है । हे परमेश्वरी ! दायें हाथ से भद्र होता है। दोनों (हाथों) से महाफलदायिनी वेल्लिशुक्ति बनानी चाहिये । दायें (हाथ) में जो कनिष्ठा है उसे बायें हाथ के ऊपर रख कर तर्जनी और अंगूठा से बाँध कर यह (होती) है । बाँयें हाथ की अंगुलियाँ दायें के नीचे रहती है । बिना सन्धि के वेल्लिशुक्ति को बनाकर (मद्य) पान सिद्ध होता है ।'

यहाँ = चक्रयाग में । रूपक = दीनार = गिन्नी ॥ १०१ ॥

सात बार के करने में प्रयोजन बतलाते हैं—

पहली बार (मातायें अथवा देवतायें) घर समझती है फिर (उसकी याग आदि में) समर्थता को, तत्पश्चात् बलाबल को जानती हैं । तब इसमें माताओं को आश्चर्य होता है । फिर (वहाँ घर में) जाती हैं । तत्पश्चात् प्रसन्न होती है फिर वरप्रदान करती है । यह मूर्त्तियाग देवियों एवं परिवार वाले परमेश्वर का अत्यन्त प्रिय है । इसलिये विद्वान् इसे रात्रि में गुप्त गृह में करे । वीर (साधक) लोगों और सङ्केत अर्थात् नामरहित शक्तियों को

अलाभे मूर्तिचक्रस्य कुमारीरेव पूजयेत् ॥ १०५ ॥
काम्यार्थे तु न तां व्यङ्गां स्तनपुष्पवतीं तथा ।
प्रतिपच्छ्रुतिसंज्ञे च चतुर्थी चोत्तरात्रये ॥ १०६ ॥
हस्ते च पञ्चमी षष्ठी पूर्वास्वथ पुनर्वसौ ।
सप्तमी तत्परा पित्र्ये रोहिण्यां नवमी तथा ॥ १०७ ॥
मूले तु द्वादशी ब्राह्मे भूताश्विन्यां च पूर्णिमा ।
धनिष्ठायाममावस्या सोऽयमेकादशात्मकः ॥ १०८ ॥
अर्कादित्रयशुक्रान्यतमयुक्तोऽप्यहर्गणः ।
योगपर्वेति विख्यातो रात्रौ वा दिन एव वा ॥ १०९ ॥
योगपर्वणि कर्तव्यो मूर्तियागस्तु सर्वथा ।
यः सर्वान्योगपर्वाख्यान् वासरान् पूजयेत्सुधीः ॥ ११० ॥
मूर्तियागेन सोऽपि स्यात् समयी मण्डलं विना ।
इत्येष मूर्तियागः श्रीसिद्धयोगीश्वरीमते ॥ १११ ॥

समर्थतामिति—यागादौ । बलाबलमिति—वीरकर्मसु सामर्थ्यमसामर्थ्यं च । विस्मयन्ते इति एवंविधा अपि मर्त्या भवन्तीत्याश्चर्यं मन्वते—इत्यर्थः । मातर इति—सर्वसंबन्धः । तदुक्तम्—

'प्रथमे मूर्तियागे तु वेश्म जानन्ति साधके ।

एक दूसरे के साथ देवता शब्द कह कर जोड़ना चाहिये । मूर्त्तिचक्र (याग) के न होने पर काम्यफल की प्राप्ति के लिये कुमारियों का ही पूजन करे । वे विकृत अङ्गों वाली स्तन एवं रजोधर्म से युक्त न हों । श्रवण में प्रतिपत्, तीनों उत्तराओं में चतुर्थी, हस्त में पञ्चमी, तीनों पूर्वाओं में षष्ठी, पुनर्वसु में सप्तमी, मघा में अष्टमी, रोहिणी में नवमी, मूल में द्वादशी, पुष्य में चतुर्दशी, अश्विनी में पूर्णिमा, धनिष्ठा में अमावास्या, ये ग्यारह (योग पर्व) हैं । रवि एवं उसके बाद तीन (सोम भौम बुध) तथा शुक्र इनमें से किसी एक से युक्त दिन योगपर्व कहा गया है । योगपर्व पर रात्रि अथवा दिन में ही मूर्त्तियाग सब प्रकार से करना चाहिये । जो बुद्धिमान् सब योगपर्व नामक दिनों की मूर्त्तियाग से पूजा करता है वह भी बिना मण्डल के समयी हो जाता है । सिद्धयोगेश्वरी मत के अनुसार यह मूर्त्तियाग है ॥ १०२-१११ ॥

सामर्थ्य—याग आदि के विषय में । बलाबल—वीर कर्मों में सामर्थ्य एवं असामर्थ्य को । विस्मयन्ते—इस प्रकार के भी मनुष्य होते हैं (जो अल्पसामर्थ्य रहते हुए भी इस याग को करने का साहस करते हैं)—ऐसा आश्चर्य करती हैं मातायें—इस (पद) का सबसे सम्बध है । वही कहा गया है—

द्वितीये तस्य सामर्थ्यं तृतीये तु बलाबलम् ॥
चतुर्थे विस्मयं यान्ति देवि ता मातरः स्वयम्।
पञ्चमे तस्य गत्वा तु विशन्ति गृहमध्यतः ॥
षष्ठे तु प्रीतिमायान्ति सप्तमे तु वरप्रदाः ।
वाञ्छितं तस्य दास्यन्ति आयुरारोग्यसंपदः ॥' इति ।

देवताशब्दकीर्तनादसङ्केतयुजः कस्माच्चिदभिधानात् लौकिकशब्दव्यवहार-शून्याः—इत्यर्थः, अत एवोक्तम्—गुप्त इति । श्रुतिसंज्ञ इति—श्रवणे । उत्तरात्रये इति—तदेकतमयुक्ते—इत्यर्थः । एवं पूर्वास्वपि ज्ञेयम् । तत्परेत्यष्टमी, पित्र्य इति—मघासु । ब्राह्म इति

'केन्द्रायाष्टधनेषु भूमितनयात्स्वात्मत्रिषु ब्राह्मणः ।'

इति ब्राह्मणशब्देन जीवस्याभिधानात् तद्दैवते तिष्ये—इत्यर्थः । भूतेति—चतुर्दशी । अर्कादित्रयेति—अर्कश्च तदादि च त्रयं चन्द्रभौमबुधलक्षणम्—इत्यर्थः । एवमेतद्ग्रहपञ्चकादेकतमेन युक्तो यथोक्ततिथिनक्षत्रोपलक्षितोऽहर्गणो योगपर्वेति विख्यातस्तन्नाम—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'नवमी रोहिणीयोगे पुष्ये चैव चतुर्दशी ।
हस्ते च पञ्चमी ज्ञेया मूले तु द्वादशी भवेत् ॥

'प्रथम मूर्त्तियाग में (मातायें) साधक के घर को समझती हैं । दूसरे में उसका (= साधक का) सामर्थ्य, तीसरे दिन के याग में बलाबल । हे देवि ! चौथे में वे मातायें स्वयं विस्मय को प्राप्त होती हैं । पाँचवें (याग) में उसके घर के मध्य (= मण्डप) में घुस जाती है । छठे में प्रसन्न होती हैं और सातवें (याग) के सम्पन्न होने पर वरदायिनी होकर उसके द्वारा वाञ्छित आयु आरोग्य और सम्पत्ति देती है ।'

देवता शब्द कहने से—सङ्केतरहित किसी भी देवता के नाम के कथन से अर्थात् लौकिक शब्द के व्यवहार से शून्य । इसीलिये कहा गया—गुप्त । श्रुतिनाम वाले = श्रवण नक्षत्र । तीनों उत्तराओं में = उनमें से किसी एक से युक्त में । इसी प्रकार पूर्वाओं के विषय में भी समझना चाहिये । उसके बाद वाली = अष्टमी । पित्र्य = मघा । ब्राह्म—

'केन्द्रायाष्टधनेषु.....................।'

यहाँ ब्राह्मण शब्द से जीव (= वृहस्पति) का कथन होने से उस देवता वाले तिष्य (= पुष्य) नक्षत्र में । भूत = चतुर्दशी । अर्कादित्रय—अर्क (= सूर्य) और वह आदि में है जिनके ऐसे तीन = चन्द्र भौम और बुध । इन पाँच ग्रहों में से एक से युक्त उपर्युक्त तिथि नक्षत्र से युक्त दिन योगपर्व नाम से विख्यात है । जैसा कि कहा गया—

श्रवणे प्रतिपत्सिद्धा चतुर्थी चोत्तरात्रये ।
पूर्वासु सिद्धिदा षष्ठी मघासु पुनरष्टमी ॥
अश्विन्यां पूर्णिमा ज्ञेया वसुना सप्तमी स्मृता ।
धनिष्ठायाममावास्या ज्ञात्वा चैवं वरानने ॥
सोमे शुक्रे तथादित्ये बुधे चैवाथ लोहिते ।
कर्तव्यं वारगणनम्.................................॥' इति॥ १११ ॥

एवं चक्रार्चनमभिधाय पवित्रकविधिमभिधातुमाह—

अथोच्यते शिवेनोक्तः पवित्रकविधिः स्फुटः ।
श्रीरत्नमालात्रिशिरःशास्त्रयोः सूचितः पुनः ॥ ११२ ॥
श्रीसिद्धाटनसद्भावमालिनीसारशासने ।
तत्र प्राधान्यतः श्रीमन्मालोक्तो विधिरुच्यते ॥ ११३ ॥

सूचित इति—श्रीसिद्धादौ साक्षादनभिधानात् । प्राधान्यत इति—स्फुटत्वाविशेषेऽपि तदुत्पत्त्यादेरत्र आधिक्येन उक्तेः ॥ ११३ ॥

तदेव आह—

क्षीराब्धिमथनोद्भूतविषनिद्राविमूर्च्छितः ।
नागराजः स्वभुवने मेघकाले स्म नावसत् ॥ ११४ ॥

'रोहिणी का योग होने पर नवमी, पुष्य में चतुर्दशी, हस्त में पञ्चमी, मूल में द्वादशी, श्रवण में प्रतिपत् को सिद्धयोग जानना चाहिये । तीनों उत्तराओं में चतुर्थी, पूर्वाओं में षष्ठी, मघा में अष्टमी, अश्विनी में पूर्णिमा, पुनर्वसु से युक्त सप्तमी, धनिष्ठा में अमावास्या को (सिद्धयोग) जानकर हे वरानने ! सोम शुक्र रवि बुध और मङ्गल को दिन की गणना करे' ॥ १११ ॥

चक्रपूजा का कथन कर पवित्रक विधि को बतलाने के लिये कहते हैं—

अब शिव के द्वारा उक्त तथा रत्नमाला और त्रिशिरोभैरव में सूचित पुनः श्री सिद्धाटनसद्भाव तथा मालिनीसार शास्त्र में कही गयी स्पष्ट पवित्रक विधि कही जा रही है । उसमें भी मुख्यरूप से रत्नमाला में उक्त विधि को कहा जा रहा है ॥ ११२-११३ ॥

सूचित है—सिद्धा आदि में साक्षात् कथन न होने से संकेतित है । प्रधानरूप से—स्फुटता समान होने पर भी इस (ग्रन्थ) में उत्पत्ति आदि के अधिक रूप से कहे जाने के कारण ॥ ११३ ॥

उसी को कहते हैं—

क्षीरसागर के मन्थन से उत्पन्न विष की निद्रा से विमूर्च्छित नागराज

केवलं तु पवित्रोऽयं वायुभक्षः समाः शतम्।
दिव्यं दशगुणं नाथं भैरवं पर्यपूजयत् ॥ ११५ ॥
व्यजिज्ञपच्च तं तुष्टं नाथं वर्षास्वहं निजे।
पाताले नासितुं शक्तः सोऽप्येनं परमेश्वरः ॥ ११६ ॥
नागं निजजटाजूटपीठगं पर्यकल्पयत् ।
ततः समस्तदेवौघैर्धारितोऽसौ स्वमूर्धनि ॥ ११७ ॥
महतां महितानां हि नाद्भुता विश्वपूज्यता ।
तस्मान्महेशितुर्मूर्ध्नि देवतानां च सर्वशः ॥ ११८ ॥
आत्मनश्च पवित्रं तं कुर्याद्यागपुरःसरम् ।
दश कोट्यो न पूजानां पवित्रारोहणे समाः ॥ ११९ ॥
वृथा दीक्षा वृथा ज्ञानं गुर्वाराधनमेव च ।
विना पवित्राद्येनैतद्धरेन्नागः शिवाज्ञया ॥ १२० ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स कार्यः कुलवेदिभिः ।

पवित्रोऽयमिति तच्छब्दव्यपदेश्यः—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'तेनास्याराधितो देवि पवित्रेण महात्मना ।' इति,

'पवित्रो नाम नागेन्द्रो ज्येष्ठो भ्रातास्ति वासुकेः ।'

वर्षाकाल में अपने भुवन में नहीं रह पाते थे । पवित्र नामक इस नागराज ने दिव्य एक हजार वर्षों तक केवल वायुपान कर भैरवनाथ का पूजन किया । और सन्तुष्ट उन स्वामी भैरवनाथ से कहा—मैं वर्षा ऋतु में अपने पाताललोक में नहीं पाता । उन परमेश्वर ने भी नाग को अपने जटाजूट की पीठ पर रख लिया । फिर यह समस्त देवगणों के द्वारा अपने शिरपर धारित किया गया । पूजनीय बड़े लोगों की विश्वपूज्यता आश्चर्यकारिणी नहीं होती । इस कारण परमेश्वर एवं देवताओं के शिर पर सब प्रकार से (यह नागराज स्थित हुआ) । अपने और (गुरु आदि) के पवित्रक उस (विधि) को याग के बाद करे । दश करोड़ पूजा भी पवित्रारोहण (विधि) के तुल्य नहीं है । दीक्षा, ज्ञान, गुरु का आराधन सब पवित्रक के बिना व्यर्थ रहते हैं । जिस कारण नाग शिव की आज्ञा से (सब फल का) हरण कर लेते हैं । इस कारण कुलवेत्ताओं के द्वारा सब प्रयत्न से उसे किया जाना चाहिये ॥ ११४-१२१- ॥

पवित्र यह = उस पवित्र शब्द से पुकारा जाने वाला यह (नागराज) । जैसा कि कहा गया—

'हे देवि ! उस महात्मा पवित्र के द्वारा मै पूजित हुआ ।' तथा—

इति च । पवित्रेणेति पाठे तु पञ्चगव्यादिनेति—व्याख्येयम् । समाः शतं दशगुणमिति वर्षसहस्रम्—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'दिव्यवर्षसहस्रं तु वायुभक्षो महाबलः ।' इति ।

कुर्यादिति—गुर्वादिः । दशेत्यादिना प्रयोजनमुक्तम् ॥

कदा कार्यः—इत्याह—

आषाढशुक्लान्मिथुनकर्कटस्थे रवौ विधिः ॥ १२१ ॥
कर्तव्यः सोऽनिरोधेन यावत्सा तुलपूर्णिमा ।
तुलोपलक्षितस्यान्त्यं कार्तिकस्य दिनं मतम् ॥ १२२ ॥
कुलशब्दं पठन्तोऽन्ये व्याख्याभेदं प्रकुर्वते ।

मिथुनेत्याद्युपलक्षणम्, तेन सिंहादिस्थेऽपि । अनिरोधेनेति—अविच्छेदेन—इत्यर्थः । तुलोपलक्षितस्येति—कार्तिके हि तुलागत एव रविर्भवेत्—इति भावः ॥

तमेव व्याख्याभेदं दर्शयति—

नित्यातन्त्रविदः कृष्णं कार्तिकाच्चरमं दिनम् ॥ १२३ ॥

'पवित्र नाम का नागराज वासुकि का ज्येष्ठ भ्राता है ।'

पवित्रेण—ऐसा पाठ होने पर—पञ्चगव्य आदि के द्वारा पवित्र—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये । दशगुने सौ वर्ष = एक हजार वर्ष । वही कहा गया—

'एक हजार देवताओं के वर्ष तक हवा पीने वाला महाबली ।'

करे = गुरु आदि । दश इत्यादि के द्वारा—प्रयोजन कहा गया है ॥

कब करना चाहिये—यह कहते हैं—

जब सूर्य मिथुन एवं कर्क राशि पर हों आषाढ़ शुक्लपक्ष के उस समय से वह विधि अव्यवहित रूप से उस तुला राशि से युक्त पूर्णिमा (= कार्त्तिक पूर्णिमा) तक करनी चाहिये । (यह पूर्णिमा) (सूर्य की) तुला राशि से उपलक्षित—कार्त्तिक का अन्तिम दिन माना गया है । दूसरे लोग (तुला के स्थान पर) कुल शब्द पढ़ते हुये व्याख्यानभेद करते हैं ॥ -१२१-१२३- ॥

मिथुन इत्यादि उपलक्षण है । इससे सिंह आदि में सूर्य के स्थित होने पर भी (यह विधि कर्त्तव्य है) । अनिरोधपूर्वक = लगातार । तुलोपलक्षित—कार्तिक में सूर्य तुला राशि पर स्थित हो जाता है ॥

उसी व्याख्याभेद को दिखलाते हैं—

नित्या तन्त्र को जानने वाले कार्त्तिक के कृष्णपक्ष के अन्तिम दिन (=

कुलस्य नित्याचक्रस्य पूर्णत्वं यत्र तन्मतम् ।

यदुक्तम्—

'दीपपर्वणि कर्त्तव्यं विधानमिदमुत्तमम् ।
कुलं शक्तिः समाख्याता सा च नित्या प्रकीर्तिता ॥'

इत्याद्युपक्रम्य

'मध्यमे वा सदा देवि सर्वारिष्टनिवृत्तये ।
अनेन तु विधानेन नित्याचक्रं प्रपूजयेत् ॥' इत्यन्तम् ॥

एवमेकीयं मतं प्रदर्श्य, अन्यदप्याह—

माघशुक्लान्त्यदिवसः कुलपर्वेति तन्मतम् ॥ १२४ ॥
पूर्णत्वं तत्र चन्द्रस्य सा तिथिः कुलपूर्णिमा ।

ननु कुलपर्वत्वं चन्द्रस्य पूर्णत्वं तिथ्यन्तरेष्वप्यस्ति, तत् कथं माघपूर्णिमैव कुलपूर्णिमाशब्देनोच्यते?—इत्याशङ्क्य आह—

दक्षिणोत्तरगः कालः कुलाकुलतयोदितः ॥ १२५ ॥

अमावास्या) को, जिसमें कि नित्याचक्रकुल की पूर्णता होती है, अन्तिम दिन मानते हैं ॥ -१२३-१२४- ॥

जैसा कि—

'इस उत्तम विधि को दीपावली के पर्व पर करे । कुल को शक्ति भी कहा गया है और वही नित्या (नाम से भी) बतलायी गयी है ॥'

इत्यादि प्रारम्भ कर

'हे महेश्वरी ! उस (समय) में उस (पवित्रक विधि) की पूर्णता होती है ।'

'हे देवि ! इसी समय के बीच समस्त अनिष्टों की निवृत्ति के लिये इस विधि से नित्याचक्र की पूजा करे ।' यहाँ तक कहा गया है ॥

इस प्रकार एक मत को दिखला कर अन्य (मत) को भी कहते हैं—

माघ शुक्ल पक्ष का अन्तिम दिन कुलपर्व माना गया है । उस दिन चन्द्रमा की पूर्णता होती है । इसलिये वह तिथि कुलपूर्णिमा (कही गयी) है ॥ -१२४-१२५- ॥

प्रश्न—कुलपर्व अर्थात् चन्द्रमा की पूर्णता दूसरे (महीनों की) तिथियों में भी होती है फिर माघपूर्णिमा ही कुलपूर्णिमा क्यों कही जाती है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(सूर्य के) दक्षिण और उत्तर जाने का काल कुल और अकुल के

कुलस्य तस्य चरमे दिने पूर्णत्वमुच्यते ।

इह फाल्गुनमासादारभ्य संवत्सरस्य ऋतूनां च उदय इति श्रावणमासं यावत् षट् पूर्णिमा उत्तरायणम् । भाद्रपदादारभ्य च माघमासं यावत् षडेव पूर्णिमा दक्षिणायनम् । यतः कुलशब्दवाच्यस्य दक्षिणायनस्य माघान्त्यदिवसे पूर्णत्वमस्तीत्युक्तम् । यच्छ्रुतिः—

'मुखं वा एतत्संवत्सरस्य यत्फाल्गुनी पौर्णमासी ।' इति ।

तथा

'फाल्गुनपूर्णमास आधेय एतद्वा ऋतूनां मुखम् ।' इति ॥

अतश्चेदमप्युक्तं भवति—इत्याह—

दक्षिणायनषण्मासकर्तव्यत्वमतो विधौ ॥ १२६ ॥
पवित्रके प्रकाशत्वसिद्ध्यै कृष्णस्य वर्त्मनः ।

कृष्णस्येति—तमोरूपसमयलोपाद्यात्मनः ॥

एवमेतत् प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेव आह—

तदेतद्बहुशास्त्रोक्तं रूपं देवो न्यरूपयत् ॥ १२७ ॥
एकेनैव पदेन श्रीरत्नमालाकुलागमे ।

रूप में कहा गया है । उस कुल के अन्तिम दिन में पूर्णता कही जाती है ॥ -१२५-१२६- ॥

फाल्गुन मास से लेकर संवत्सर और ऋतुओं का उदय (= प्रारम्भ) होता है । इस प्रकार (फाल्गुन से लेकर) श्रावण मास तक छह पूर्णिमायें उत्तरायण होती हैं। भाद्रपद से लेकर माघमास तक छह ही पूर्णिमा दक्षिणायन है । चूँकि कुलशब्दवाच्य दक्षिणायन की माघ के अन्तिम दिन पूर्णता होती है इसलिये (उसे कुलपूर्णिमा) कहा गया है । जैसी कि श्रुति है--

'जो फाल्गुन की पूर्णमासी है वह संवत्सर का मुख (= प्रारम्भ) है ।'

'फाल्गुन को पूर्णमास समझना चाहिये । यह ऋतुओं का मुख है ॥'

इसलिये यह भी कहा जाता है—

इसलिये पवित्रक विधि में कृष्णमार्ग के प्रकाशत्व की सिद्धि के लिये विधि के विषय में दक्षिणायन के छह महीने कर्त्तव्य (—ग्राह्य) हैं ॥ -१२६-१२७- ॥

कृष्ण = तमोरूप समयलोप आदि वाले ॥

प्रसङ्गात् इसका कथन कर प्रस्तुत को कहते हैं—

तदत्र समये सर्वविधिसंपूरणात्मकः ॥ १२८ ॥
पवित्रकविधिः कार्यः शुक्लपक्षे तु सर्वथा ।

बहु इति वैदिकात्प्रभृति—इत्यर्थः ॥

ननु

'नभस्यनभसोर्मध्ये पक्षयोः कृष्णशुक्लयोः ।'

इत्याद्युक्त्या कृष्णपक्षेऽपि अयं विधिः कर्तव्यत्वेनोक्तः, तत्कथमिहान्यथोक्तम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

पूरणं शक्तियोगेन शक्त्यात्म च सितं दलम् ॥ १२९ ॥
दक्षिणायनसाजात्यात् तेन तद्विधिरुच्यते ।
एकद्वित्रिचतुःपञ्चषड्लतैकतमं महत् ॥ १३० ॥
हेमरत्नाङ्कितग्रन्थि कुर्यान्मुक्तापवित्रकम् ।
सौवर्णसूत्रं त्रिगुणं सैकग्रन्थिशतं गुरौ ॥ १३१ ॥
परे गुरौ तु त्र्यधिकमध्यब्धि परमेष्ठिनि ।
प्राक्सिद्धाचार्ययोगेश विषये तु रसाधिकम् ॥ १३२ ॥

तो अनेक शास्त्रों में उक्त इस रूप को परमेश्वर ने रत्नमालाकुलागम में एक ही पद से कह दिया । तो समस्त विधि की पूरणतारूप यह पवित्रक विधि इस समय (दक्षिणायन) में करनी चाहिये और वह भी सर्वथा शुक्लपक्ष में ॥ -१२७-१२९- ॥

बहु—वैदिक शास्त्रों से लेकर ॥

प्रश्न—'नभस् (= श्रावण) और अनभस् (= फाल्गुन) के बीच कृष्ण एवं शुक्ल पक्षों में'

इत्यादि उक्ति के अनुसार कृष्ण पक्ष में भी यह विधि कर्त्तव्य है ऐसा कहा गया । तो फिर यहाँ अन्यथा कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

पूरण शक्ति के योग से होता है और शक्त्यात्मक है । शुक्ल पक्ष दक्षिणायन का सजातीय है । इस कारण यह विधि (शुक्लपक्ष में) कही जाती है । एक दो तीन चार पाँच छह लताओं (= लड़ियों) में से किसी एक (लड़ी वाले) मुक्तापवित्रक को प्रचुर स्वर्णरत्न से चिह्नित ग्रन्थि वाला बनाये । गुरु के लिये तीन गुने सुवर्णसूत्र वाला एक सौ एक ग्रन्थि का (पवित्रक) बनायें । परम गुरु के लिये तीन अधिक (= १०३), परमेष्ठी गुरु के लिये चार अधिक (= १०४), पूर्वसिद्ध आचार्य या योगी के लिये छह अधिक (= १०६) शिव के लिये आठ अधिक (= १०८)

अष्टाधिकं शिवस्योक्तं चित्ररत्नप्रपूरितम् ।
विद्यापीठाक्षसूत्रादौ गुरुवच्छिववत् पुनः ॥ १३३ ॥
वटुके कनकाभावे रौप्यं तु परिकल्पयेत् ।
पाट्टसूत्रमथ क्षौमं कार्पासं त्रित्रितानितम् ॥ १३४ ॥
तस्मान्नवगुणात् सूत्रात् त्रिगुणादिक्रमात् कुरु ।
चण्डांशुगुणपर्यन्तं ततोऽपि त्रिगुणं च वा ॥ १३५ ॥
तेनाष्टादशतन्तूत्थमधमं मध्यमं पुनः ।
अष्टोत्तरशतं तस्मात् त्रिगुणं तूत्तमं मतम् ॥ १३६ ॥
ग्रन्थयस्तत्त्वसंख्याताः षडध्वकलनावशात् ।
यद्वा व्याससमासाभ्यां चित्राः सद्गन्धपूरिताः ॥ १३७ ॥
विशेषविधिना पूर्वं पूजयित्वार्पयेत्ततः ।
पवित्रकं समस्ताध्वपरिपूर्णत्वभावनात् ॥ १३८ ॥
गुर्वात्मनोर्जानुनाभिकण्ठमूर्धान्तिगं च वा ।
ततो महोत्सवः कार्यो गुरुपूजापुरसरः ॥ १३९ ॥
तर्प्याः शासनगाः सर्वे दक्षिणावस्त्रभोजनैः ।
महोत्सवः प्रकर्तव्यो गीतनृत्तात्मको महान् ॥ १४० ॥
चातुर्मास्यं सप्तदिनं त्रिदिनं वाप्यलाभतः ।
तदन्ते क्षमयेद्देवं मण्डलादि विसर्जयेत् ॥ १४१ ॥

(ग्रन्थिवाला) अनेक प्रकार के रत्नों से पूर्ण (पवित्रक बनाये) । विद्यापीठ अक्षमाला आदि में गुरु अथवा शिव की भाँति (ग्रन्थि बनाये) । सुवर्ण के अभाव में वटु के लिये चाँदी का (पवित्रक) बनाये । रंगीन रेशमी या कपास का बना तीन-तीन (= नव) धागे वाला (बनाये) । उस नव धागे वाले सूत्र से तीन गुना आदि के क्रम से बारह गुण तक अथवा अठारह तन्तुओं का बना हुआ (पवित्रक) अधम होता है । मध्यम एक सौ आठ और उससे तीन गुना (अधिक अर्थात् ३२४ सूत्रों वाला पवित्रक) उत्तम माना गया है । (पवित्रक में) छह अध्वा की गणना के कारण ग्रन्थियाँ तत्त्वसंख्या वाली (= ३६) होती हैं । अथवा व्यास (= ३६) तथा समास (कलासंख्या = ५) से (ग्रन्थियाँ होती हैं ये) विचित्र एवं सुगन्धि से पूरित होती हैं । गुरु की शरीर की अथवा अपने जानु नाभि कण्ठ मूर्धा तक की नाप वाले पवित्रक की समस्त अध्वा की परिपूर्णता की भावना से पहले विशेष विधि से पूजन कर बाद में उसे अर्पित करे । फिर गुरु की पूजा कर उत्सव करे । दक्षिणा वस्त्र भोजन से शासनिक अधिकारियों को तृप्त करे । चार महीने, सात दिन, अथवा समयाभाव के कारण तीन दिनों तक

वह्निं च पश्चात्कर्तव्यश्चक्रयागः पुरोदितः ।
मासे मासे चतुर्मासे वर्षे वापि पवित्रकम् ॥ १४२ ॥
सर्वथैव प्रकर्तव्यं यथाविभवविस्तरम् ।

सितं दलमिति—सितः पक्षः । उच्यते इति—अस्मच्छास्त्रे हि एवं श्रुतिरस्ति—इत्याशयः । परे गुराविति—परमगुरौ । अध्यब्धीति—चतुरधिकमित्यर्थः । रसाः = षट् । चित्ररत्नप्रपूरितमिति—अर्थात् ग्रन्थिस्थाने । पाट्टसूत्रमिति—अर्थात् रूप्याभावेऽपि । चण्डांशवो—द्वादश । ततोऽपि त्रिगुणमिति—चतुर्विंशत्यधिकशतत्रयात्मकम्—इत्यर्थः । तन्त्विति—यत्र यादृशोऽभि- मताः । षडध्वेति—तेन कलासंख्यया पञ्चग्रन्थयो यावद् भुवनसंख्यया अष्टादशोत्तरं शतम् व्यास समासाभ्यामिति—तत्त्वसंख्यया व्यासः, कलासंख्यया तु समास—इत्यर्थः । चित्रा इति—कुंकुमाद्यरुणीकृतत्वात्, अत एवोक्तम्—सद्गन्धपूरिता इति । चातुर्मास्यमिति—चतुर्षु मासेषु—इत्यर्थः ॥

सर्वथैव अस्य कर्तव्यत्वमुपोद्बलयति—

वित्ताभावे पुनः कार्यं काशैरपि कुशोम्भितैः ॥ १४३ ॥
सति वित्ते पुनः शाठ्यं व्याधये नरकाय च ।

गीत नृत्य वाला महोत्सव करे । इसके बाद देवता से क्षमा माँग कर विसर्जन करे । बाद में पूर्वोक्त अग्निहोम और चक्रयाग करे । महीने-महीने, चार महीने या वर्ष में अपने वैभव के अनुसार सब प्रकार से पवित्रक कृत्य करना चाहिये ॥ -१२९-१४३- ॥

सितदल = शुक्ल पक्ष । कहा जाता है = हमारे शास्त्र में ऐसी श्रुति है । पर गुरु = परम गुरु । अधि अब्धि = चार अधिक । रस = छह । चित्ररत्नपूरित = ग्रन्थि में । पाट्टसूत्र—चाँदी के अभाव में भी । चण्डांशु = बारह । उससे भी तीन गुना = ३६ तन्तुओं वाला । उससे त्रिगुण = ३२४ सूत्रों वाला । तन्तु—जहाँ जैसा वाञ्छित हो । षडध्व—इससे कला संख्या के अनुसार पाँच ग्रन्थियाँ और भुवन संख्या के अनुसार ११८ ग्रन्थियाँ होनी चाहिये । व्यास समास से—तत्त्व की संख्या के अनुसार व्यास और कला संख्या के अनुसार समास । चित्र—कुंकुम आदि से लाल किये जाने के कारण । इसीलिये कहा गया—सुगन्ध से भरे हुये । चातुर्मास्य = चार महीनों में ॥

सब प्रकार से इसकी कर्त्तव्यता को बतलाते हैं—

धन के अभाव में कुश से युक्त काश से (इस पवित्रक को) बनाये । धन होने पर शठता (= कृपणता) रोग और नरक के लिये होती है ॥ -१४३-१४४- ॥

ननु

'अभावान्नित्यपूजाया अवश्यं ह्येषु पूजयेत् ।'

इत्याद्युक्त्या नित्यलोपपूरणाय पर्वसु पूजनमुक्तं तत्किं पवित्रकेणापि ?—इत्याशङ्क्य आह—

नित्यपूजासु पूर्णत्वं पर्वपूजाप्रपूरणात् ॥ १४४ ॥
तत्रापि परिपूर्णत्वं पवित्रकसमर्चनात् ।

नन्वेवं पवित्रकस्यापि लोपे किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

पवित्रकविलोपे तु प्रायश्चित्तं जपेत्सुधीः ॥ १४५ ॥
सुशुद्धः सन्पुनः कुर्यादित्याज्ञा परमेशितुः ।

एवं श्रीरत्नमालायामुक्तं पवित्रकविधिमभिधाय, श्रीत्रिशिरोभैरवीयमप्याह—

अथ त्रिशिरसि प्रोक्तो लिख्यते तद्विधिः स्फुटः ॥ १४६ ॥

तदेवाह—

त्रिप्रमेयस्य शैवस्य पञ्चपञ्चात्मकस्य वा ।

प्रश्न—'नित्यपूजा के अभाव के कारण इन पर्वों पर अवश्य पूजा करें ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार नित्यलोप के पूरण के लिये पर्वों पर पूजन कहा गया है तो क्या पवित्रक के द्वारा भी (पूरण होता है) ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

नित्यपूजाओं में पूर्णता पर्वपूजा के पूरण से होती है और उस (पर्व-पूजा) में भी पूरण पवित्रक के अर्चन के द्वारा होता है ॥ -१४४-१४५- ॥

प्रश्न—पवित्रक का लोप होने पर क्या होना चाहिये?—यह शङ्का कर कहते हैं—

पवित्रक का लोप होने पर बुद्धिमान् प्रायश्चित्त करे । और भली प्रकार शुद्ध होता हुआ पुनः (पूजा) करे—ऐसी परमेश्वर की आज्ञा है ॥ -१४५-१४६- ॥

इस प्रकार श्रीरत्नमाला में कथित पवित्रकविधि की कथा कर त्रिशिरोभैरव शास्त्र में उक्त (विधि) को भी कहते हैं—

अब त्रिशिरोभैरव में कथित विधि को स्पष्ट रूप से लिख दिया जा रहा है ॥ -१४६ ॥

वही कहते हैं—

तीन प्रमेय वाला अथवा पाँच पञ्चात्मक (= शिव के ईशान आदि

दशाष्टादशभेदस्य षट्स्रोतस इहोच्यते ॥ १४७ ॥

त्रिप्रमेयस्येति—नरशक्तिशिवात्मकत्वात् । पञ्चपञ्चात्मकस्येति—तन्त्रप्रक्रियया वक्त्रतया, विशेषप्रक्रियया वामेश्यादितया च एवंरूपस्य—इत्यर्थः । षट्स्रोतस इति—पिचुवक्त्रेण सह ॥ १४७ ॥

तत्र अधिकारिनिर्देशाय आह—

ये नराः समयभ्रष्टा गुरुशास्त्रादिदूषकाः ।
नित्यनैमित्तिकाद्यन्यपर्वसन्धिविवर्जिताः ॥ १४८ ॥
अकामात् कामतो वापि सूक्ष्मपापप्रवर्तिनः ।
तेषां प्रशमनार्थाय पवित्रं क्रियते शिवे ॥ १४९ ॥
श्रावणादौ कार्तिकान्ते शुक्लपक्षे शुभप्रदे ।
न तु दुःखप्रदे कृष्णे कर्तृराष्ट्रनृपादिषु ॥ १५० ॥

सूक्ष्मेत्यनेन असंलक्षितत्वमुक्तम् । अत्रैव कालं निर्दिशति—श्रावणादावित्यादिना ॥ १५० ॥

अस्यैव स्वरूपं निर्देष्टुमाह—

पाट्टसूत्रं तु कौशेयं कार्पासं क्षौममेव च ।
चातुराश्रमिकाणां तु सुभ्रुवा कर्तितोक्षितम् ॥ १५१ ॥

पाँच मुख और उनकी शक्तियाँ) शैव मत जो कि दश और अठारह भेद वाला है पिचुवक्र को मिलाकर छह स्रोतों वाला कहा जाता है ॥ १४७ ॥

त्रिप्रमेय—नर शक्ति शिवात्मक होने से । पाँच पञ्चात्मक—तन्त्रप्रक्रिया के द्वारा वक्त्र रूप से एवं विशेषप्रक्रिया के द्वारा वामेश्वरी आदि रूप से रस (= छ) प्रकार का । छह स्रोत वाले—पिचुवक्त्र को जोड़कर ॥ १४७ ॥

इस विषय में अधिकारी के निर्देश के लिये कहते हैं—

जो मनुष्य समयसिद्धान्त से च्युत, गुरुशास्त्र की निन्दा करने वाले, नित्य नैमित्तिक आदि अन्य पर्वसन्धि से रहित, जाने अनजाने सूक्ष्म पाप करने वाले हैं, हे शिवे ! उनके (पापों के) प्रशमन के लिये पवित्रक किया जाता है । श्रावण से लेकर कार्त्तिक के अन्त में शुभप्रद शुक्लपक्ष में न कि दुःखप्रद कृष्णपक्ष में व्यक्ति राष्ट्र राजा आदि (के कल्याण के लिये यह विधि करणीय है) ॥ १४८-१५० ॥

सूक्ष्म—इससे (पाप की) अप्रकटता कही गयी है । इस विषय में श्रावण आदि के द्वारा काल का निर्देश करते हैं ॥ १५० ॥

इसका स्वरूप बतलाने के लिये कहते हैं—

त्रिधा तु त्रिगुणीकृत्य मानसंख्यां तु कारयेत्।
अष्टोत्तरं तन्तुशतं तदर्धं वा तदर्धकम् ॥ १५२ ॥
ह्रासस्तु पूर्वसंख्याया दशभिर्दशभिः क्रमात् ।
नवभिः पञ्चभिः सप्तविंशत्या वा शिवादितः॥ १५३ ॥
यादृशस्तन्तुविन्यासो ग्रन्थीन्कुर्यात्तु तावतः ।
चतुः सम्रविलिप्तांस्तानथवा कुंकुमेन तु ॥ १५४ ॥
व्यक्ते जानुतटान्तं स्याल्लिङ्गे पीठावसानकम् ।
अर्चासु शोभनं मूर्ध्नि त्रितत्त्वपरिकल्पनात् ॥ १५५ ॥
द्वादशग्रन्थिशक्तीनां ब्रह्मवक्त्रार्चिषामपि ।

कौशेयं—पट्टभेदः । चातुराश्रमिकाणामिति—समय्यादीनाम् । पूर्वसंख्याया इति—अष्टोत्तरशतादिरूपायाः । तत्र अष्टोत्तरशतात् दशभिर्दशभिर्ह्रासे अष्टानवति-तन्तुकानि च पवित्रकाणि भवन्तीत्यादि ब्रूमः । व्यक्त इति—प्रतिमायाम् । लिङ्ग इति—अर्थादव्यक्ते व्यक्ताव्यक्ते च । अर्चास्विति—सर्वासु । तदुक्तं मये—

'त्रितयं मूर्ध्नि कर्तव्यमात्मविद्याशिवात्मकम् ।' इति ।

सुन्दरी स्त्री के द्वारा काता एवं माजा गया कुश कपास अथवा रेशम का (पवित्रक) चारो आश्रम वालों के लिये होता है । (उसे) तीन बार तीन गुना करके परिमाण संख्या बनाये । एक सौ आठ अथवा उसका आधा (= चौवन) अथवा उसका आधा (= सत्ताईस सूत्रों का) मान होना चाहिये। पूर्व संख्या का ह्रास क्रम से दश, दश, नव, पाँच, सत्ताईस (सूत्रों) से शिवादि (शिव शक्ति सदाशिव आदि के क्रम) से होना चाहिये । जितना बड़ा तन्तु हो उतनी हो गाठें बाँधनी चाहिये । चार समभाग से उसका (चार रंगों से) उपलेप करे अथवा कुंकुम से लेप करे । व्यक्त (= प्रतिमा के रूप में निर्मित लिङ्ग) की पूजाओं में शिर पर (पूजा) उत्कृष्ट मानी जाती है । क्योंकि (उस शिर में) नर शक्ति और शिव तीन तत्त्वों की कल्पना होती है । (छ चक्रों के ऊपर नीचे वर्त्तमान) बारह ग्रन्थि रूपी शक्तियों का तथा ब्रह्म (= शिव के पाँच मुखों) की शाक्त अर्चियों का (पूजन पापदाह के लिये आवश्यक है) ॥ १५१-१५६- ॥

कौशेय—एक प्रकार का वस्त्र (= रेशमीवस्त्र)। चार आश्रम वाले = समयी आदि । पूर्व संख्या का = एक सौ आठ आदि रूपों वाली का । एक सौ आठ में से दश-दश को घटाने से अट्ठानवे तन्तु वाले पवित्रक होते हैं—(हम) यह कहते हैं। व्यक्त होने पर—प्रतिमा में । लिङ्ग में—व्यक्त और व्यक्ताव्यक्त । अर्चाओं में—सभी । वही मय (= इस नाम का शास्त्र) में कहा गया है—

'शिर में आत्मा (= नर) विद्या और शिव रूप तीन को करना चाहिये ।'

शक्तीनामिति—अघोर्यादीनाम् । ब्रह्मवक्त्रार्चिषामिति—अङ्गवक्त्राणाम्—इत्यर्थः । तदुक्तं तत्रैव—

'ब्रह्मवक्त्रैश्च सहितान्यङ्गानि प्रवदाम्यहम् ।' इति ॥

विद्यापीठे चले लिङ्गे स्थण्डिले च गुरोर्गणे ॥ १५६ ॥
घण्टायां स्रुक्स्रुवे शिष्यलिङ्गिषु द्वारतोरणे ।
स्वदेहे वह्निपीठे च यथाशोभं तदिष्यते ॥ १५७ ॥
प्रासादे यागगेहे च कारयेन्नवरङ्गिकम् ।

वह्निपीठ इति—कुण्डे । नवरङ्गिकमिति—नानावर्णमित्यर्थः ॥

अत्रैव ग्रन्थीन् निर्दिशति—

विद्यापीठे तु खशराः, प्रतिमालिङ्गपीठगम् ॥ १५८ ॥
वसुवेदं, च घण्टायां शराक्ष्यष्टादश स्रुवे ।
वेदाक्षि स्रुचि, षट्त्रिंशत् प्रासादे, मण्डपे रविः ॥ १५९ ॥
रसेन्दु स्नानगेहेऽब्धिनेत्रे ध्यानगृहे, गुरौ ।
सप्त, साधकगाः पञ्च, पुत्रके सप्त, सामये ॥ १६० ॥
चत्वारोऽथान्यशास्त्रस्थे शिष्ये पञ्चकमुच्यते ।
लिङ्गिनां केवलो ग्रन्थिस्तोरणे दश कल्पयेत् ॥ १६१ ॥
द्वारेष्वष्टौ ग्रन्थयः स्युः कृत्वेत्थं तु पवित्रकम् ।

शक्तियों का = अघोरी आदि । ब्रह्मवक्त्रार्चिष् वोले—अङ्गवक्त्रों का । वहीं वहाँ कहा गया—

'मैं ब्रह्मवक्त्रों के सहित अङ्गों को बतला रहा हूँ ॥'

विद्यापीठ, चललिङ्ग, स्थण्डिल, गुरुवृन्द, घण्टा, स्रुक् स्रुवा, शिष्यलिङ्गी, द्वारतोरण, अपने शरीर एवं अग्निकुण्ड में शोभा के अनुसार उसे (= पवित्रक को) किया जाता है । प्रासाद एवं यज्ञस्थल में अनेक रंग वाले (उसको) करना चाहिये ॥ -१५६-१५८- ॥

वह्निपीठ में = कुण्ड में । नवरङ्गिक = अनेक वर्ण वाला ॥

इसी में ग्रन्थियों का निर्देश करते हैं—

विद्यापीठ में ५०, प्रतिमा और लिङ्गपीठ में ४८, घण्टा में २५, स्रुवा में १८, स्रुक् में २४, प्रसाद में ३६, मण्डप में १२, स्नानगृह में १६, ध्यानगृह में २४, गुरुगृह में ७, साधक गृह में ५, पुत्रक गृह में ७, समयी गृह में ४, अन्यशास्त्र के अनुयायी के गृह, शिष्य के गृह में ५ (ग्रन्थियाँ) कही जाती हैं । लिङ्गियों में एक ग्रन्थि, तोरण में दश

पूजयित्वा मन्त्रजालं तत्स्थत्वात्मस्थते ततः ॥ १६२ ॥
पवित्रकाणां संपाद्य कुर्यात्संपातसंस्क्रियाम् ।
ततः संवत्सरं ध्यायेद्भैरवं छिद्रसाक्षिणम् ॥ १६३ ॥
दत्त्वा पूर्णाहुतिं देवि प्रणमेन्मन्त्रभैरवम् ।
ओं समस्तक्रियादोषपूरणेश व्रतं प्रति ॥ १६४ ॥
यत्किञ्चिदकृतं दुष्टं कृतं वा मातृनन्दन ।
तत्सर्वं मम देवेश त्वत्प्रसादात्प्रणश्यतु ॥ १६५ ॥
सर्वथा रश्मिचक्रेश नमस्तुभ्यं प्रसीद मे ।
अनेन दद्याद्देवाय निमन्त्रणपवित्रकम् ॥ १६६ ॥
योगिनीक्षेत्रमातृणां बलिं दद्यात्ततो गुरुः ।
पञ्चगव्यं चरुं दन्तकाष्ठं शिष्यैः समन्ततः ॥ १६७ ॥
आचार्य निद्रां कुर्वीत प्रातरुत्थाय चाह्निकम् ।
ततो विधिं पूजयित्वा पवित्राणि समाहरेत् ॥ १६८ ॥
दन्तकाष्ठं मृच्च धात्री समृद्धात्री सहाम्बुना ।
चतुःसमं च तैः सार्धं भस्म पञ्चसु योजयेत् ॥ १६९ ॥
प्राग्दक्षपश्चिमोर्ध्वस्थवामवक्त्रेषु वै क्रमात् ।
पञ्चैतानि पवित्राणि स्थापयेच्चेशगोचरे ॥ १७० ॥

बनाये। द्वारों में आठ ग्रन्थियाँ होनी चाहिये । इस प्रकार पवित्रक बनाकर मन्त्रजाल की पूजा कर फिर पवित्रकों का तत्स्थत्व और आत्मस्थत्व बनाकर संपातसंस्कार करे । फिर छिद्रसाक्षी (= अनुष्ठानगत दोषों के द्रष्टा) संवत्सर भैरव का ध्यान करे । हे देवि ! फिर पूर्णाहुति देकर यह कहते हुये प्रणाम करे कि—'हे समस्त क्रियादोष को पूरा करने वाले भगवान् ! व्रत के प्रति जो कुछ छूट गया या गलत किया गया हे मातृनन्दन ! हे देवेश ! आपकी कृपा से मेरा वह सब सब प्रकार से नष्ट हो जाय । हे रश्मिचक्रेश ! तुम्हें नमस्कार है । मेरे ऊपर प्रसन्न हों ।' इस (वचन) से देव के लिये निमन्त्रण पवित्रक दे । इसके बाद गुरु योगिनी क्षेत्रपाल एवं मातृकाओं के लिये बलि दे । इसके बाद आचार्य पञ्चगव्य चरु दन्तकाष्ठ को लेकर पार्श्ववर्त्ती शिष्यों के साथ सो जाय । प्रातः उठकर दैनिक क्रिया करे । इसके बाद विधि का पूजन कर पवित्रों को लाये । दन्तकाष्ठ मृत्तिका युक्त आँवला, आँवला युक्त मिट्टी और पानीसहित आँवला, चारों को एक साथ फिर उनके साथ (काष्ठ मिट्टी आदि का) भस्म क्रम से पूर्व दक्षिण पश्चिम ऊर्ध्वस्थ एवं उत्तर मुखों में लगाये । इन पाँचों पवित्रकों को ईशान दिशा में स्थापित करे ॥ -१५८-१७० ॥

कुशेध्म पञ्चगव्यं च शर्वाग्रे विनियोजयेत् ।
वामामृतादिसंयुक्तं नैवेद्यं त्रिविधं ततः ॥ १७१ ॥
दद्यादसृक् तथा मद्यं पानानि विविधानि च ।
ततो होमो महाक्ष्माजमांसैस्तिलयुतैरथो ॥ १७२ ॥
तिलैर्घृतयुतैर्यद्वा तण्डुलैरथ धान्यकैः ।
शर्कराखण्डसंयुक्तपञ्चामृतपरिप्लुतैः ॥ १७३ ॥
मूलं सहस्रं साष्टोक्तं त्रिशक्तौ ब्रह्मवक्त्रकम् ।
अर्चिषां तु शतं साष्टं ततः पूर्णाहुतिं क्षिपेत् ॥ १७४ ॥
ततोऽञ्जलौ पवित्रं तु गृहीत्वा प्रपठेदिदम् ।
अकामादथवा कामाद्यन्मया न कृतं विभो ॥ १७५ ॥
तदच्छिद्रं ममास्त्वीश पवित्रेण तवाज्ञया ।
मूलमन्त्रः पूरयेति क्रियानियममित्यथ ॥ १७६ ॥
वौषडन्तं पवित्रं च दद्याद्बिन्द्ववसानकम् ।
नादान्तं समनान्तं चाप्युन्मनान्तं क्रमात् त्रयम् ॥ १७७ ॥
एवं चतुष्टयं दद्यादनुलोमेन भौतिकः ।
नैष्ठिकस्तु विलोमेन पवित्रकचतुष्टयम् ॥ १७८ ॥
यत्किञ्चिद्विविधं वस्त्रच्छत्रालङ्करणादिकम् ।

शिव के सामने कुश ईधन और पञ्चगव्य रखे । फिर वामामृत (= मद्य) आदि से युक्त तीन प्रकार का नैवेद्य, ताजा रक्त, मद्य तथा अनेक प्रकार का पेय रखे । इसके बाद तिल से युक्त महाक्ष्माज (= एक जानवर) का मांस अथवा घृतयुक्त तिल से अथवा यव से युक्त तण्डुल अथवा शक्कर मिश्री से युक्त पञ्चमृत से होम करे । मूल मन्त्र से १००८ फिर तीन शक्ति (= नर शक्ति शिव) अथवा महाकाली महालक्ष्मी और महासरस्वती अथवा परा परापरा और अपरा) में फिर ब्रह्मवक्त्र (= पूर्व वर्णित शिव के पाँच मुख) में फिर १०८ अर्चिषों का (होम कर) पूर्णाहुति डाल दे । फिर अञ्जुली में पवित्र को लेकर यह पढ़े—"हे प्रभो ! इच्छा अथवा अनिच्छा से जो मेरे द्वारा नहीं किया गया है ईश ! वह आपकी आज्ञा से पवित्रक के द्वारा मेरे लिये अच्छिद्र (= दोषरहित अर्थात् पूर्ण) हो जाय ।" फिर मूल मन्त्र (का पाठ कर) 'क्रियानियमं पूरय' कहे । फिर (मूलमन्त्र के साथ) अन्त में वौषट् जोड़ कर बिन्दु अन्तवाले फिर क्रम से नादान्त, समनान्त और उन्मनान्त इस प्रकार चार (पवित्रक), अनुलोम से भौतिक (= साधक) दे । और नैष्ठिक साधक विलोम से (= उन्मनान्त, समनान्त, नादान्त एवं विन्द्वन्त) चार पवित्रक दे ॥ १७१-१७८ ॥

तन्निवेद्यं दीपमाला: सुवर्णतिलभाजनम् ॥ १७९ ॥
वस्त्रयुग्मयुतं सर्वसम्पूरणनिमित्ततः ।
भोजनीयाः पूजनीयाः शिवभक्तास्तु शक्तितः ॥ १८० ॥
चतुस्त्रिद्व्येकमासादिदिनैकान्तं महोत्सवम् ।
कुर्यात्ततो न व्रजेयुरन्यस्थानं कदाचन ॥ १८१ ॥
ततस्तु दैशिकः पूज्यो गामस्मै क्षीरिणीं नवाम् ।
दद्यात्सुवर्णरत्नादिरूप्यवस्त्रविभूषिताम् ॥ १८२ ॥
वदेद्गुरुश्च संपूर्णो विधिस्तव भवत्विति ।
वक्तव्यं देवदेवस्य पुनरागमनाय च ॥ १८३ ॥
ततो विसर्जनं कार्यं गुप्तमाभरणादिकम् ।
नैवेद्यं गुरुरादाय यागार्थे तन्नियोजयेत् ॥ १८४ ॥
चतुर्णामपि सामान्यं पवित्रकमिति स्मृतम् ।
नास्माद् व्रतं परं किञ्चित् का वास्य स्तुतिरुच्यते ॥ १८५ ॥
शेषं त्वगाधे वार्योघे क्षिपेन्न स्थापयेत्स्थिरम् ।

खशराः = पञ्चाशत् । वसुवेदम् = अष्टाचत्वारिंशत् । शराक्षि = पञ्चविंशत् । वेदाक्षि = चतुर्विंशत् । रविः = द्वादश । रसेन्दु = षोडश । अब्धिनेत्रे = चतुर्विंशत् । तदुक्तम्—

जो कुछ अनेक प्रकार के वस्त्र छत्र अलङ्करण आदि, दीपमाला दो वस्त्रों से युक्त सुवर्ण और तिल से पूरित पात्र, यह सब अर्पित करे । सर्वसम्पूर्णता के लिये यथाशक्ति शिवभक्तों को भोजन कराये । चार तीन दो एक मास आदि के क्रम से से एक दिन तक उत्सव करे । उस (स्थान) से अन्य स्थान में कभी भी न जाय । इसके बाद आचार्य की पूजा करे । इसके लिये सुवर्ण रत्न आदि चाँदी एवं वस्त्र से अलंकृत नयी दूध देने वाली गाय दान करे । और आचार्य (यजमान शिष्य से) कहे कि—तुम्हारी विधि पूर्ण हो ।' फिर (शिष्य) देवाधिदेव के पुनरागमन के लिये कहे । इसके बाद विसर्जन करे । गुरु गुप्त आभरण आदि नैवेद्य को लेकर उसे यज्ञ के लिये लगाये । (समयी आदि) चारों के लिये यह पवित्रक कहा गया है । इससे बढ़कर कोई व्रत नहीं है । इसकी क्या स्तुति की जाय । (यज्ञ से) अवशिष्ट (नैवद्य) को अथाह जल में डाल दे, (उसे) बहुत देर तक (अपने पास) न रखे ॥ १७९-१८६- ॥

खशराः = पचास । वसुवेद = अंड़तालिस । शराक्षि = पचीस । वेदाक्षि = चौबीस । रवि = बारह । रसेन्दु = सोलह । अब्धिनेत्र = चौबीस । वही कहा गया है—

'विद्यापीठे तु पञ्चाशत् प्रतिमालिङ्गपीठयोः ।
चत्वारिंशदथाष्टौ च घण्टायां पञ्चविंशतिः ॥
अष्टादश स्रुवे ज्ञेयाः स्रुचि विंशच्चतुस्तथा ।
प्रासादे चैव षट्त्रिंशत् द्वादशैव तु मण्डपे ॥
ध्यानगेहे चतुर्विंशत् षोडश स्नानमण्डपे ।
दैशिके सप्त दातव्याः साधके पञ्चकं ददेत् ॥
पुत्रके सप्तकं दद्याच्चतुः समयिनां तथा ।
अन्यशास्त्रोदितानां च शिष्याणां पञ्चकं ददेत् ॥
लिङ्गिनां केवलो ग्रन्थिस्तोरणेऽथ द्विपञ्चकम् ।
द्वारेषु अष्टकं दद्याद् ग्रन्थीनां मातृनायिके ॥' इति ।

तत्स्थत्वादि प्रागेव व्याख्यातम् । अनेनेति—श्लोकबद्धेन मन्त्रेण । आह्निकं च कुर्वीतेति प्राच्येन संबन्धः । तत इति—आह्निकानन्तरम् । विधिं पूजयित्वेति —गणेशादिविधिं विशेषेण इष्ट्वा—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'......................विधिपूजां समाचरेत् ।
गणेशं प्रथमं पूज्य गुरुत्रयसमन्वितम् ॥
सर्वावरणसंयुक्तं त्रिशिरोमातृनायकम् ।
पवित्राण्याहरेत्पश्चात्...................... ॥' इति ।

तैरिति—दन्तकाष्ठादिभिः सर्वैः ।

'विद्यापीठ में पचास, प्रतिमा एवं लिङ्गपीठ में चालिस और आठ (= ४८), घण्टा में पचीस, स्रुवा में अठारह और स्रुक् में चौबीस (ग्रन्थियाँ) जाननी चाहिये । प्रासाद में छत्तीस, मण्डप में बारह, ध्यानगृह में चौबीस, स्नानमण्डप में सोलह, आचार्य गृह के लिये सात और साधक गृह के लिये पाँच (ग्रन्थियाँ) देनी चाहिये । पुत्रक के लिये सात, समयी लोगों के लिये चार तथा अन्य शास्त्र के अनुयायी शिष्यों लिये पाँच देनी चाहिये । लिङ्गियों के लिये एक, तोरण में दश और हे मातृ नायिके ! द्वार में आठ ग्रन्थियाँ देनी चाहिये ।'

तत्स्थत्व आदि की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है । इससे = श्लोकबद्ध मन्त्र से । आह्निक करे—ऐसा पहले से सम्बन्ध है । तत्पश्चात् = आह्निक के बाद । विधि का पूजन कर = गणेश आदि विधि को विशेष रूप से पूजित कर । जैसा कि कहा गया—

'.........विधिपूजा करे । तीनो गुरुओं (= साक्षाद् गुरु, परम गुरु और परमेष्ठी गुरु) से समन्वित समस्त आवरणों से युक्त त्रिशिरोमातृनायक गणेश का पहले पूजन करे तत्पश्चात् पवित्रकों को लाये ।'

उनके द्वारा = दन्तकाष्ठ आदि सबके द्वारा ।

'दन्तकाष्ठं तथा देवि पूर्ववक्त्रे नियोजयेत् ।
धात्रीं तु मृत्तिकायुक्तां दक्षिणे विनियोजयेत् ॥
मृदमामलकैर्युक्तां पश्चिमे विनियोजयेत् ।
वारि चामलकैर्युक्तं चतु:समसमन्वितम् ।
ऊर्ध्ववक्त्रस्य दातव्यं भस्म काष्ठमृदादिना ॥
उत्तरस्य तु वक्त्रस्य दापयेच्चुम्बकोत्तमः ।' इति ।

एतानीति—दन्तकाष्ठादीनि । ईशगोचर इति—तत्कोणे । इदमिति—वक्ष्यमाणम् । तदत्र सप्रणवोऽयं श्लोको यथाभिप्रेतो मूलमन्त्रः । पूरय क्रियानियमं वौषडित्यूहः । त्रयमिति तत्त्वकल्पनया, एवमित्याद्येन सह चतुष्टयमित्यत्र छेदः । पुनरागमनायेति—

'ऊनाधिकं यद्विपरीतचेष्टं क्षमस्व सर्वं मम विश्वमूर्ते ।
प्रसीद देवेश नमोऽस्तु तुभ्यं प्रयाहि तुष्टः पुनरागमाय ॥'

इति वक्तव्यम् । गुप्तमिति—यथा पामरादिरन्यो लोभादिवैवश्यं न जानीयात्, अत एवोक्तम्—यागार्थे तन्नियोजयेत् । कास्य स्तुतिरिति । यदुक्तम्—

'एतद्देवि परं गुह्यं व्रतानामधिनायकम् ।
विपरीतविनाशाय कर्तव्यं चुम्बकादिभिः ॥'

'हे देवि ! पूर्वमुख में दन्तकाष्ठ लगाये । दक्षिण(मुख) में मिट्टी लगे आँवले को, पश्चिम वाले में आँवला लगी मिट्टी को, चतु:समसमन्वित (= चार भागों में समान विभक्त) आँवला से युक्त जल ऊर्ध्ववक्त्र में दे । उत्तम गुरु काष्ठ मिट्टी आदि से युक्त भस्म उत्तर मुख में दिखाये ।'

ये सब = दन्त काष्ठ आदि । ईशगोचर = ईशान दिशा । यह = आगे कहे जाने वाला । ॐकार से युक्त यह श्लोक (= अकामादथवा कामात्.......) ही यथेष्ट मूलमन्त्र है । 'क्रियानियमं पूरय वौषट् ।' इतना अपनी ओर से जोड़ना चाहिये । तीन = तत्त्व की कल्पना के अनुसार । श्लोक सं० १७८ में 'एवं' = इस प्रकार = आद्य के साथ (= बिन्दु नादान्त समनान्त के साथ; उन्मनान्त इन चार को)। चतुष्टय—यहाँ विराम है (अर्थात् इसका सम्बन्ध पहले श्लोक से है)। पुनरागमन के लिये—

'हे विश्वमूर्त्ते ! जो कुछ कम या अधिक अथवा विपरीत चेष्टा वाला है, मेरा वह सब क्षमा करो । हे देवेश ! प्रसन्न हो जाओ । आपको नमस्कार है । सन्तुष्ट होकर पुन: आगमन के लिये जाओ ।'

ऐसा कहना चाहिये । गुप्त—जिससे कि कोई दूसरा गंवार आदि लोभ आदि की विवशता न जान सके । इसीलिये कहा गया कि—उसे यज्ञ के लिये लगाये । इसकी क्या स्तुति की जाय—वही कहा गया है—

इत्युपक्रम्य

कृच्छ्रचान्द्रायणेनैव वाजपेयाश्वमेधकैः ।
सौत्रामणिं चातिकृच्छ्रं सम्यङ्निर्वर्त्य यत्फलम् ॥
तत्फलं कोटिगणितं पवित्रारोहणे कृते ।' इति ॥

इदानीं कुलपर्वादावासूत्रितो नैमित्तिकविधिरुच्यते—इत्याह—

अथ नैमित्तिकविधिर्यः पुरासूत्रितो मया ॥ १८६ ॥
स भण्यते तत्र कार्या देवस्यार्चा विशेषतः ।
चक्रयागश्च कर्तव्यः पूर्वोक्तविधिना बुधैः ॥ १८७ ॥
तत्र यद्यन्निजाभीष्टभोगमोक्षोपकारकम् ।
पारम्पर्येण साक्षाद्वा भवेच्चिदचिदात्मकम् ॥ १८८ ॥
तत्पूज्यं तदुपायाश्च पूज्यास्तन्मयताप्तये ।
तदुपायोऽपि संपूज्यो मूर्तिकालक्रियादिक ॥ १८९ ॥

चिदचिदात्मकमिति—आत्मप्राणादिरूपम्—इत्यर्थः । तदुपाया इति—ज्ञानयोगादयः । मूर्तिः—लिङ्गादिरूपा, कालः—कुलपर्वादिः, क्रिया—स्नानध्यानादिरूपा ॥ १८९ ॥

'हे देवि ! यह परम गुह्य, व्रतों में सर्वश्रेष्ठ (व्रत) चुम्बक (= गुरुजन) आदि के द्वारा विपरीत के विनाश के लिये करना चाहिये ।'

ऐसा प्रारम्भ कर—

'कृच्छ, चान्द्रायण, वाजपेय अश्वमेध के द्वारा अथवा अति कष्टदायक सौत्रामणि याग को सम्पन्न कर जो फल (मिलता) है उससे कोटि गुना अधिक फल पवित्रारोहण के करने पर प्राप्त होता है ॥'

अब, जिसका मैंने कुलपर्व आदि में सङ्केत किया था, वह नैमित्तिक विधि कही जा रही है—

उसमें परमेश्वर की विशेष पूजा करे । विद्वान् लोग पूर्वोक्त विधि के अनुसार चक्रयाग करें । उसमें चित् अथवा अचित् रूप जो-जो अपने इष्ट भोग या मोक्ष का साक्षात् अथवा पारम्परिक रूप से साधक हो उसकी पूजा करे । तथा तन्मयता की प्राप्ति के लिये उसके उपाय भी पूजनीय हैं। मूर्त्ति काल क्रिया आदि उस (तन्मयता) के उपाय भी पूज्य हैं ॥ -१८६-१८९ ॥

चित् अचित् रूप = आत्मा प्राण आदि रूप । उसके उपाय = ज्ञान योग आदि । मूर्त्ति—लिङ्ग आदि रूप, काल—कुलपर्व आदि । क्रिया—स्नान ध्यान आदि ॥ १८९ ।'

ननु उपायत्वं नाम तदुपकरणमात्ररूपत्वमुच्यते, तस्यापि पूजया किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

उपेयसूतिसामर्थ्यमुपायत्वं तदर्चनात् ।
तद्रूपतन्मयीभावादुपेयं शीघ्रमाप्नुयात् ॥ १९० ॥

इदं हि नाम उपायस्य उपायत्वं यदुपेयाविष्करणे परानपेक्षं समर्थत्वम् । तत् तस्य उपेयोपायस्यापि अर्चनात्

'......................सा पूजा ह्यादराल्लयः ।'

(वि०भै० १४७ श्लो०)

इत्यादिनीत्या तत्रैव लयात् उपायेऽपि तदुपेये इव तन्मयीभावो भवेत् येन यथायथमधिरोहात् निर्विलम्बमुपेयमयतैव स्यात् ॥ १९० ॥

अत एव आह—

यथा यथा च नैकट्यमुपायेषु तथा तथा ।
अवश्यंभावि कार्यत्वं विशेषाच्चार्चनादिके ॥ १९१ ॥

विशेषादिति—लोके हि यावदुपायोपेययोरन्यत्वात् अन्यथाभावोऽपि संभाव्येत, इह पुनरुपेयमयतापत्तिरेव उपायत्वमित्यन्यथाभावाशङ्काया अपि नास्त्यवकाशः—इत्याशयः ॥ १९१ ॥

प्रश्न—उस (= उपेय) का उपकरणमात्र होना उपाय कहा जाता है फिर उसकी (= उपाय की) पूजा से क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उपेय को प्राप्त करने का सामर्थ्य उपाय है । उसकी पूजा से तद्रूप में तन्मयी भाव के कारण उपेय शीघ्र प्राप्त हो जाता है ॥ १९० ॥

उपाय की उपायता है—उपेय के आविष्करण में (उपाय का) परानपेक्ष सामर्थ्य । तो उस उपेयोपाय के भी पूजन के द्वारा—

'आदर के साथ उसमें लीन हो जाना ही उसकी पूजा होती है ।'

इत्यादि रीति के अनुसार उसी में लय होने से उपाय में भी उसके उपेय की भाँति तन्मयीभाव हो जाता है जिससे क्रमशः अधिरोहण के कारण शीघ्र ही उपेयमयता हो जाती है ॥ १९० ॥

इसीलिये कहते हैं—

जैसे-जैसे उपायों में निकटता होती जाती है वैसे-वैसे अर्चन आदि में विशेष कार्यता अवश्यभावी होती है ॥ १९१ ॥

विशेष के कारण—लोक में उपाय और उपेय के भिन्न होने से अन्यथाभाव भी

अतश्च आत्मज्ञानस्य साक्षान्मोक्षाद्युपायत्वात् तदवाप्तिदिनं मुख्यं पर्व—इत्याह—

ज्ञानस्य कस्यचित्प्राप्तिर्भोगमोक्षोपकारिणः।
यदा तन्मुख्यमेवोक्तं नैमित्तिकदिनं बुधैः ॥ १९२ ॥
तदुपायः शास्त्रमत्र वक्ताप्यौपयिको गुरुः।
तद्विद्योऽपि गुरुभ्राता संवादाज्ज्ञानदायकः ॥ १९३ ॥

ननु इह पितरमुद्दिश्य भ्रात्रादिव्यवहारो न्याय्यः, तत्कथं गुरुमुद्दिश्यापि एवमुक्तम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

गुरोः पत्नी तथा भ्राता पुत्र इत्यादिको गणः।
न योनिसंबन्धवशाद्विद्यासंबन्धजस्तु सः ॥ १९४ ॥

नन्वत्र कस्मान्न यौन संबन्धः ?—इत्याशङ्क्य आह—

वीर्यारुणपरीणामदेहाहन्ताप्रतिष्ठिताः ।
देहोपकारसन्ताना ज्ञातेये परिनिष्ठिताः ॥ १९५ ॥

सम्भव होता है किन्तु यहाँ तो उपेयमयता की प्राप्ति ही उपायता है । इसलिये अन्यथाभाव की आशङ्का के लिये भी अवकाश नहीं है ॥ १९१ ॥

इसलिये आत्मज्ञान मोक्ष का साक्षात् उपाय होने के कारण उस (= आत्मज्ञान) की प्राप्ति का दिन मुख्यपर्व होता है—यह कहते हैं—

भोग मोक्ष के उपकारी किसी भी ज्ञान की प्राप्ति जिस दिन होती है वह मुख्य (दिन) ही विद्वानों के द्वारा नैमित्तिक दिन कहा जाता है । यहाँ शास्त्र उसका उपाय है । उपाय का वक्ता भी औपयिक गुरु है । उस विद्या वाला भी गुरु भाई है जो कि संवाद के कारण ज्ञानदायक होता है ॥ १९२-१९३ ॥

प्रश्न—पिता के सम्बन्ध में भाई आदि का व्यवहार उचित है फिर गुरु के सम्बन्ध में ऐसा कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

गुरु की पत्नी, भाई तथा पुत्र इत्यादि लोगों का समूह योनिसम्बन्ध के कारण नहीं बल्कि वह (लोकसमूह) विद्यासम्बन्ध से उत्पन्न होता है ॥ १९४ ॥

प्रश्न—यहाँ यौनसम्बन्ध क्यों नही?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वीर्य और रज के परिणाम रूप देह की अहन्ता में प्रतिष्ठित, देहसन्तान और उपकारसन्तान वाले ही ज्ञातेय (= सम्बन्ध) में परिनिष्ठित (= प्रसिद्ध) होते हैं ॥ १९५ ॥

देहसन्तानः—पुत्रादिः, उपकारसन्तानः—सेवकादिः ॥ १९५ ॥

अतश्च स्मृतिरपि युक्ता—इत्याह—

तथा च स्मृतिशास्त्रेषु सन्ततेर्दायहारिता ।
युक्तैव तावान्स ह्युक्तो भेदाद्दूरान्तिकत्वतः॥ १९६ ॥
ये तु त्यक्तशरीरास्था बोधाहम्भावभागिनः ।
बोधोपकारसन्तानद्वयात्ते बन्धुताजुषः॥ १९७ ॥

तावानिति—पुत्रपौत्रादिक्रमेण तथा तथा स्थितः—इत्यर्थः । स इति—पित्रादिः । दूरान्तिकत्वतो भेदादिति—पुत्रभ्रातृपुत्रादिलक्षणात् । यदभिप्रायेणैव

'अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् ।'

(मनु० ९।१८७)

इत्यादि स्मृतम् । त्यक्तशरीरास्था इति देहादावनात्माभिमानिनः—इत्यर्थः ॥ १९७ ॥

ननु अस्य कथं देहादावहम्भाव एव भ्रश्येत्, येन तत्र अनास्थापि स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

देहसन्तान = पुत्र आदि । उपकारसन्तान = सेवक आदि ॥ १९५ ॥

इसीलिये स्मृति भी ठीक कहती है—

इस प्रकार स्मृति शास्त्रों में सन्तानों का सम्पत्तिअधिकार (का कथन) उचित ही है । क्योंकि दूर और अन्तिक भेद से वह (= पिता आदि) उसी क्रम से (सन्तान वाला) कहा गया है । जो कि शरीर में आस्था (= अहंभाव) को छोड़ चुके हैं तथा संविद् रूप अहंभाव वाले हो गये हैं वे लोग ज्ञान एवं सेवा रूप दो सन्तानों के कारण बन्धुता वाले होते हैं ॥ १९६-१९७ ॥

उतना = पुत्र पौत्र आदि के क्रम से उस-उस प्रकार से स्थित ।

वह = पिता आदि । दूर और अन्तिक के भेद से = पुत्र भतीजे आदि वाले । जिस अभिप्राय से—

'जो सपिण्ड पिता के अनन्तर होता है उसका (= पिता आदि का) धन उसका (= अनन्तर भावी का) होता है ।'

इत्यादि कहा गया है । त्यक्तशरीरास्था = देह आदि में आत्माभिमान न रखने वाले ॥ १९७ ॥

प्रश्न—देह आदि में इसका अहंभाव कैसे नष्ट हो जाता है जिससे उसमें (= देह आदि में) अनास्था भी हो जाती है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

तत्रेत्थं प्राग्यदा पश्येच्छक्त्युन्मीलितदृक्क्रियः ।

इत्थमिति—वक्ष्यमाणेन प्रकारेण ॥

तदेव आह—

देहस्तावदयं पूर्वपूर्वोपादाननिर्मितः ॥ १९८ ॥
आत्मा विकाररहितः शाश्वतत्वादहेतुकः ।

पूर्वपूर्वेति—पितृपितामहादयः, अत एव कृतकत्वाद्विनश्वरः ॥

ननु यदि आत्मा निर्विकारः, तत्कथं पूर्णोऽपि अपूर्णतां श्रयेत्, अपूर्णोऽपि पूर्णताम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

स्वातन्त्र्यात् पुनरात्मीयादयं छन्न इव स्थितः ॥ १९९ ॥
पुनश्च प्रकटीभूय भैरवीभावभाजनम् ।

ननु अस्य पुनः स्वत एव चेद्भैरवीभावो भवेत् तत्कृतमनया प्रक्रान्तया दर्शनव्यवस्थया; मलपरिपाकादिश्च हेतुर्न न्याय्य इत्युक्तम्, तत्कतरस्तावदत्र समुचित उपाय इति न जानीमः ?—इत्याशङ्क्य आह—

तत्रास्य प्रकटीभावे भुक्तिमुक्त्यात्मके भृशम् ॥ २०० ॥

पहले शक्ति के द्वारा उन्मीलित ज्ञानक्रियावाला (वह) जब इस प्रकार देखता है ॥ १९८- ॥

इस प्रकार = आगे कहे जाने वाले प्रकार से ॥

वही (= देखने का क्रम) कहते हैं—

यह शरीर पूर्व-पूर्व उपादान से बना हुआ है और आत्मा विकाररहित होने से शाश्वत (= नित्य) होने के कारण अहेतुक है ॥ -१९८-१९९- ॥

पूर्व-पूर्व = पिता पितामह आदि । इसलिये रचित होने के कारण विनश्वर है ॥

प्रश्न—यदि आत्मा निर्विकार है तो पूर्ण होते हुये अपूर्ण तथा अपूर्ण होते हुये पूर्ण कैसे हो जाता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अपने स्वातन्त्र्य के कारण यह (= आत्मा) छन्न जैसा स्थित होता है और फिर प्रकट होकर भैरवीभाववाला हो जाता है ॥ -१९९-२००- ॥

प्रश्न—यदि इसका भैरवीभाव स्वयं हो जाता है तो फिर यह प्रस्तुत दर्शन व्यवस्था व्यर्थ है और मलपरिपाक आदि (जो कि भैरवीभाव के कारण हैं) उचित नहीं है । तो दोनों में से कौन सा उपाय इस विषय में समुचित है—हम नहीं जानते ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

य उपायः समुचितो ज्ञानसन्तान एष सः।

समुचितोपायत्वमेव अस्य दर्शयति—

क्रमस्फुटीभवत्तादृक्सदृशज्ञानधारया ॥ २०१ ॥
गलद्विजातीयतया प्राप्यं शीघ्रं हि लभ्यते ।

ननु एवं प्राप्यलाभेऽस्य किं स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

एवं चानादिसंसारोचितविज्ञानसन्ततेः ॥ २०२ ॥
ध्वंसे लोकोत्तरं ज्ञानं सन्तानान्तरतां श्रयेत् ।

इदमेव च अन्यैरितो बाह्यैराश्रयपरावृत्तिः—इत्युक्तम् ॥

यद्यपि च विज्ञानसन्तानस्य कारणत्वमुक्तं तथापि सहकारित्वात् न तन्मुख्य-मित्यत्र मुख्येन कारणान्तरेण भाव्यम्—इत्याह—

असंसारोचितोदारतथाविज्ञानसन्ततेः ॥ २०३ ॥
कारणं मुख्यमाद्यं तद्गुरुविज्ञानमात्मगम् ।

उसके भुक्ति मुक्तिरूप प्राकट्य में जो उपाय बहुत अधिक उचित है वह यह ज्ञानसन्तान ही है ॥ -२००-२०१- ॥

इसकी समुचित उपायता को ही दिखलाते हैं—

क्रमशः स्फुटित होने वाली उस प्रकार की समान ज्ञानधारा, जिसका कि विजातीय (ज्ञान) विगलित हो गया है, के द्वारा प्राप्य (= बोधस्वातन्त्र्य) शीघ्र ही उपलब्ध हो जाता है ॥ -२०१-२०२- ॥

प्रश्न—इस प्रकार प्राप्य का लाभ होने पर इसको क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस प्रकार अनादि संसार के कारणभूत विज्ञानसन्तान के नष्ट होने पर लोकोत्तर ज्ञान वाले दूसरे सन्तान का प्रारम्भ हो जाता है ॥-२०२-२०३-॥

इससे बाह्य अन्य लोगों के द्वारा यहीं 'आश्रयपरावृत्ति'—ऐसा कहा गया है ॥

यद्यपि विज्ञानसन्तान को कारण बताया गया तो भी सहकारी होने के कारण वह मुख्य नहीं है इसलिये यहाँ कोई दूसरा मुख्य कारण होना चाहिये—यह कहते हैं—

असंसार (= संसार से परे अर्थात् मोक्ष) के लिये उचित उदार उस प्रकार की विज्ञानसन्तति का मुख्य कारण प्रथम आत्मगामी (= आत्मा में रहने वाला) वह गुरुविज्ञान है ॥ -२०३-२०४- ॥

मुख्यमिति उपादानरूपम्—इत्यर्थः ॥

तदेव अस्य उपपादयति—

अत्यन्तं स्वविशेषाणां तत्रार्पणवशात् स्फुटम् ॥ २०४ ॥
उपादानं हि तद्युक्तं देहभेदे हि सत्यपि ।

तत्रार्पणवशादिति—उपादानकारणं हि अनुगामि भवेत्—इति भावः ॥

ननु देहभेदे सति अन्यस्य अन्यत्र कथं स्वविशेषार्पणं न्याय्यम्?—इत्याशङ्क्य आह—

देहसन्ततिगौ भेदाभेदौ विज्ञानसन्ततेः ॥ २०५ ॥
न तथात्वाय योगीच्छाविष्टशावशरीरवत् ।

न तथात्वायेति—क्वचिदपि नानयोः प्रयोजकत्वम्—इत्यर्थः ॥

न च अत्र कस्यचिद्विप्रतिपत्तिः—इत्याह—

योगिनः परदेहादिजीवत्तापादने निजम् ॥ २०६ ॥

मुख्य = उपादान रूप ॥

इसकी उसी (बात) को सिद्ध करते हैं—

देहभेद के होने पर भी अपने विशेषों का उस (शिष्य) में अर्पण करने के विषय में उस (= गुरु) का स्पष्ट रूप से उपादान होना समीचीन है ॥ -२०४-२०५- ॥

उसमें अर्पण के कारण—उपादानकारण अनुगामी होता है—यह भाव है ॥

प्रश्न—शरीर भिन्न होने पर अन्य शरीर में अन्य अपने विशेषों का अर्पण कैसे न्याय्य है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

देहसन्तान में रहने वाले विज्ञानसन्तान के भेदाभेद, योगी की इच्छा से आविष्ट शाव शरीर (मृतशरीर) की भाँति उसके लिये नहीं होते (तात्पर्य यह है कि जैसे योगी अपनी इच्छा से मृतशरीर में विज्ञान का प्रवेश करा देता है और शरीर जीवित हो जाता है पर वह विज्ञान योगी के लिए नहीं वरन् मृत जीवित व्यक्ति के लिये होता है उसी प्रकार ज्ञानी गुरु अपने विज्ञान सन्तान को शिष्य के अन्दर प्रविष्ट करा देता है और वह प्रविष्ट विज्ञान शिष्य के लिये होता है गुरु के लिये नहीं) ॥ -२०५-२०६- ॥

उसके लिये नहीं—ये दोनों कहीं भी प्रयोजक नहीं होते ॥

और इस विषय में किसी को आपत्ति भी नहीं है—यह कहते हैं—

देहमत्यजतो नानाज्ञानोपादानता न किम् ।

नानाज्ञानेति—चक्षुरादीन्द्रियजानाम्—इत्यर्थः ॥

प्रकृतमेव उपसंहरति—

तेन विज्ञानसन्तानप्राधान्याद्यौनसन्ततेः ॥ २०७ ॥
अन्योन्यं गुरुसन्तानो यः शिवज्ञाननिष्ठितः ।
इत्थं स्थिते त्रयं मुख्यं कारणं सहकारि च ॥ २०८ ॥
एककारणकार्यं च वस्त्वित्येष गुरोर्गणः ।

इत्थं स्थित इति—यौनसन्ततेर्गुणभावेन गुरुसन्ततेरेव प्राधान्ये न्याय्ये—इत्यर्थः ॥

तदेव विभजति—

गुरुः कारणमत्रोक्तं तत्पत्नी सहकारिणी ॥ २०९ ॥
यतो निःशक्तिकस्यास्य न यागेऽधिकृतिर्भवेत् ।

सहकारिणश्च कदाचिदसंभवेऽपि न काचित् क्षतिः—इत्याह—

योगी की, अपने शरीर को न छोड़ते हुये दूसरे शरीर को जीवित करने में, क्या अनेक ज्ञानोपादानता नहीं होती (अर्थात् अवश्य होती) है ॥ २०७- ॥

अनेक ज्ञान—चक्षुरादि इन्द्रियों से उत्पन्न ॥

प्रस्तुत का उपसंहार करते हैं—

इसलिये यौन सन्तान की अपेक्षा विज्ञानसन्तान के मुख्य होने के कारण गुरुसन्तान जो कि शिवज्ञान में निष्ठित है, अन्योऽन्य (= एक दूसरे को) प्रभावित करता है। ऐसा होने पर तीन कारण होते हैं—मुख्य, सहकारी तथा एककारण कार्य। यही वास्तविक स्थिति है—ऐसा गुरुवर्ग (कहता) है ॥ -२०७-२०९- ॥

इस प्रकार की स्थिति होने पर—यौन सन्तति के गौड़ होने के कारण गुरु सन्तति की ही प्रधानता उचित होने पर—यह अर्थ है।

उसी का विभाग करते हैं—

इस विषय में गुरु (मुख्य) कारण कहे गये हैं और उनकी पत्नी सहकारी कारण है। क्योंकि शक्ति (= स्त्री) से रहित (व्यक्ति) का याग में अधिकार नहीं होता ॥ -२०९-२१०- ॥

सहकारी के कभी न रहने पर भी कोई क्षति नहीं है—यह कहते हैं—

अन्तःस्थोदारसंवित्तिशक्तेर्बाह्यां विनापि ताम् ॥ २१० ॥
सामर्थ्यं योगिनो यद्वद्विनापि सहकारिणम् ।
एकजन्या भ्रातरः स्युस्तत्सदृग्यस्तु कोऽपि सः ॥ २११ ॥
पुनः परम्परायोगाद्गुरुवर्गोऽपि भण्यते ।
मुख्य एष तु सन्तानः पूज्यो मान्यश्च सर्वदा ॥ २१२ ॥

तत्सदृगिति—गुरुभ्रात्रादिसदृशः—इत्यर्थः ॥ २१२ ॥

इदानीं

'ज्ञानस्य कस्यचित्प्राप्तिः......................... ।' (१९२)

इत्यादिना उपक्रान्तं नैमित्तिकदिनमुख्यत्वमेव निर्वाहयति—

गुर्वादीनां च सम्भूतौ दीक्षायां प्रायणेऽपि च ।
यदहस्तद्धि विज्ञानोपायदेहादिकारणम् ॥ २१३ ॥
एवं स्वजन्मदिवसो विज्ञानोपाय उच्यते ।
तादृग्भोगापवर्गादिहेतोर्देहस्य कारणम् ॥ २१४ ॥
दीक्षादिकश्च संस्कारः स्वात्मनो यत्र चाह्नि तत्।
भवेज्जन्मदिनं मुख्यं ज्ञानसन्तानजन्मतः ॥ २१५ ॥
स्वकं मृतिदिनं यत्तु तदन्येषां भविष्यति ।
नैमित्तिकं मृतो यस्माच्छिवाभिन्नस्तदा भवेत् ॥ २१६ ॥

जैसे बिना बाह्य (शक्ति) के अन्तःस्थ उदार संवित्शक्ति के कारण योगी का (अलौकिक कार्य सम्पादन का) सामर्थ्य होता है उसी प्रकार बिना सहकारी के भी एक जन्य (= सहोदर) भाई होते हैं । जो कोई उसके समान होता है मुख्य सन्तान है जो कि सर्वदा पूज्य और मान्य कहा जाता है ॥ -२१०-२१२ ॥

उसके समान = गुरुभाई आदि के समान ॥ २१२ ॥

अब 'ज्ञानस्य कस्यचित् प्राप्ति...............।' (तं०आ० २८।१९२)

इत्यादि के द्वारा प्रस्तुत नैमित्तिक दिन की मुख्यता को बतलाते हैं—

गुरु आदि की उत्पत्ति, (अपनी) दीक्षा, (गुरु की) मृत्यु, का जो दिन होता है वह विज्ञानोपायदेह आदि का कारण होता है । इसी प्रकार अपना जन्मदिन भी विज्ञानोपाय कहा जाता है क्योंकि (वह) उस प्रकार के भोगमोक्ष के कारणभूत देह का कारण होता है । जिस दिन अपना दीक्षा आदि संस्कार होता है, ज्ञानसन्तान के जन्म के कारण वह जन्मदिन मुख्य होता है । जो अपना मृत्युदिन है वह दूसरों के लिये नैमित्तिक (दिन) होता

स्वजन्मेति—शिष्यादेः । इदमत्र तात्पर्यम् यदिह सर्वेषां स्वजन्मदिनं (तत्) तावन्मुख्यं नैमित्तिकम् । तथाहि—यदि अयं देहो नाभविष्यत्, तज्ज्ञानमपि नाभविष्यत् । एवं गुरुजन्मदिनमपि, तदभावे किं सतापि स्वजन्मदिनेन स्यात् । एतच्च दीक्षासंस्कारं विना सर्वं व्यर्थमिति तद्दिनमपि मुख्यमेव नैमित्तिकम् । तदपि विज्ञानसन्ततेरुत्पादात् जन्मदिनमेव । प्रायणदिनमपि एवमेव यदत्रापि शिवेनैकात्म्यापत्तिः । इयांस्तु विशेषो यदुभयमेतत् स्वपरयोरपि, इदं तु परस्यैवेति । एवं च दिनत्रयस्यापि विज्ञानोपायदेहादिकारणत्वं युक्तमेवोक्तमिति ॥ २१६ ॥

ननु मरणमेव नाम किमुच्यते यस्मिन्सति शिवाभेदोऽपि भवेत् ?— इत्याशङ्कायां प्रसङ्गापतितं मरणस्वरूपमेव तावदभिधातुं प्रतिजानीते—

तत्र प्रसङ्गान्मरणस्वरूपं ब्रूमहे स्फुटम् ।

अनेन गुर्वादिजन्मदीक्षाप्रायणदिनार्चाप्रयोजनादिनिरूपणानन्तर्येण अनुजोद्देशोद्दिष्टमृतिपरीक्षणमपि उपक्रान्तम् ॥

तदेव आह—

है । क्योंकि मृत व्यक्ति तब शिव से अभिन्न हो जाता है ॥२१३-२१६ ॥

अपना जन्म—शिष्य आदि का जन्म । यहाँ यह तात्पर्य है कि सबका अपना जन्मदिन मुख्य = नैमित्तिक होता है । वह इस प्रकार—यदि यह शरीर न होता तो ज्ञान भी न होता । इसी प्रकार गुरु का जन्मदिन भी नैमित्तिक होता है । क्योंकि उसके अभाव में अपना जन्मदिन होने से भी क्या लाभ । और यह सब दीक्षा संस्कार के बिना व्यर्थ है इसलिये वह दिन भी मुख्य नैमित्तिक दिन है । वह भी विज्ञानसन्तति के उत्पन्न होनें के कारण जन्मदिन है । मृत्यु का दिन भी ऐसा ही है। क्योंकि इस दिन भी शिव के साथ तादात्म्य की प्राप्ति होती है । इतना अन्तर है कि यह दोनों अपने और पर के लिये है । और यह (= मृत्युदिन) दूसरे के लिये ही होता है । इस प्रकार तीनों दिनों का विज्ञानोपायस्वरूप देह आदि का कारण होना ठीक ही कहा गया है ॥ २१६ ॥

प्रश्न—मरण ही क्या कहा जाता है जिसके होने पर शिव के साथ अभेद भी हो जाता है?—यह शङ्का होने पर प्रसङ्गतः प्राप्त मरण के स्वरूप को बतलाने के लिये कहते हैं—

ऐसा होने पर (हम) प्रसङ्गवश मरण का स्वरूप स्पष्टतया बतला रहे हैं ॥ २१७- ॥

इससे गुरु आदि का जन्म दीक्षा और मृत्यु का दिन अर्चा का प्रयोजन आदि बतलाने के बाद अनुजोद्देशोद्दिष्ट मृत्यु का परीक्षण भी प्रस्तुत हो गया ॥

उसी को कहते हैं—

व्यापकोऽपि शिवः स्वेच्छाक्लृप्तसङ्कोचमुद्रणात् ॥ २१७ ॥
विचित्रफलकर्मौघवशात्तत्तच्छरीरभाक् ।

किं नाम च अस्य शरीरभाक्त्वमुच्येत ?—इत्याशङ्क्य आह—

शरीरभाक्त्वं चैतावद्यत्तद्गर्भस्थदेहगः ॥ २१८ ॥
संवित्तेः शून्यरूढायाः प्रथमः प्राणनोदयः ।

तच्च शरीरभाक्त्वं संवित्तेरेतावत् यदस्याः शून्यदशामधिशयानाया बहिरुच्छलनादुदराकाशगर्भे वर्तमानं देहं गतः प्रथमः प्राणनोदयः

'प्राक् संवित् प्राणे परिणता ।'

इति नयेन आद्यस्पन्दसंज्ञितया प्राणनामात्ररूपतया संवित् आश्यानतामाश्रिता—इत्यर्थः ॥

ननु गर्भस्थ एव देहः कुतस्त्यो यद्गतत्वेन प्राथमिकः प्राणनोदयोऽपि स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

गर्भस्थदेहनिर्माणे तस्यैवेश्वरता पुनः ॥ २१९ ॥
असङ्कोचस्य तन्वादिकर्ता तेनेश उच्यते ।

व्यापक भी शिव स्वेच्छा से गृहीतसङ्कोच के मुद्रण के द्वारा विचित्र फल वाले कर्मसमूह के कारण तत्तत् शरीर धारण करता है ॥ -२१७-२१८- ॥

इसका शरीरधारण करना क्या कहलाता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

और शरीरभागी होना इतना ही है कि शून्य रूढसंवित्ति का उस गर्भ में स्थित शरीर में प्रथम प्राणनोदय ॥ -२१८-२१९- ॥

और संविद् का शरीर भागी होना इतना ही है कि शून्यदशा को प्राप्त इस (संविद्) का बाह्य उच्छलत्ता के कारण उदराकाशगर्भ में वर्त्तमान देह में रहने वाला प्रथम प्राणनक्रिया का प्रारम्भ ।

'संवित् पहले प्राण के रूप में परिणत हुयी ।'

इस सिद्धान्त के द्वारा आद्यस्पन्द नामक प्राणनामात्र रूप से संवित् संकोच को प्राप्त हो गयी ॥

प्रश्न—गर्भस्थ देह ही कहाँ से हो जाता है जिसमें प्रथम प्राणन का उदय होता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

गर्भस्थ देह के निर्माण में उसी सङ्कोचरहित (परमेश्वर) का ऐश्वर्य कारण होता है । इस कारण शरीर आदि का निर्माता ईश्वर कहा जाता है ॥ -२१९-२२०- ॥

तस्यैवेति—प्राथमिकस्यैव प्राणनोदयस्य । असङ्कोचस्येति—अपरिगृहीत-प्राणापानाद्यवच्छेदस्य—इत्यर्थः । यद्वशादेव अयं प्रावादुकानां प्रवादस्तनुकरण-भुवनादिनिर्माता परमेश्वर इति ॥

गृहीतसङ्कोचः पुनरयं जाड्याच्चेतनाधिष्ठेय एव—इत्याह—

स वाय्वात्मा दृढे तस्मिन्देहयन्त्रे चिदात्मना ॥ २२० ॥
प्रेर्यमाणो विचरति भस्त्रायन्त्रगवायुवत् ।
अतः प्राग्गाढसंसुप्तोत्थितवत्स प्रबुध्यते ॥ २२१ ॥
क्रमाद्देहेन साकं च प्राणना स्याद्बलीयसी ।
तत्रापि कर्मनियतिबलात्सा प्राणनाक्षताम् ॥ २२२ ॥
गृह्णाति शून्यसुषिरसंवित्स्पर्शाधिकत्वतः ।
एवं क्रमेण संपुष्टदेहप्राणबलो भृशम् ॥ २२३ ॥
भोगान्कर्मकृतान्भुङ्क्ते योन्ययोनिजदेहगः ।

स इति—प्रथमः प्राणोदयः । वाय्वात्मेति—प्राणापानादिवायुपञ्चकात्मना गृहीतावच्छेदः—इत्यर्थः । अत इति—एवं वाय्वात्मनोऽस्य विचरणाद्धेतोः । स इति—गर्भस्थो देहः । तदुक्तं प्राक्—

उसी का = प्राथमिक प्राणनोदय का । असङ्कोचस्य = प्राण अपान आदि अवच्छेद से रहित का । जिस कारण यह प्रावादुकों का प्रवाद है कि शरीर इन्द्रिय भुवन आदि का निर्माता परमेश्वर है ॥

सङ्कोचग्रहण करने वाला यह जड़ता के कारण चेतन से अधिष्ठेय होता है—यह कहते हैं—

वायुरूप वह चिदात्मा के द्वारा दृढ उस देहयन्त्र में प्रेरित होता हुआ (लोहार की) भाथी में स्थित वायु की भाँति विचरण करता है ॥

पहले गाढ निद्रा में सोये पश्चात् उठे हुये (व्यक्ति) के समान वह (= गर्भस्थदेह) प्रबुद्ध होता है । क्रमशः शरीर के साथ (उसकी) प्राणनक्रिया बलवती होती जाती है । फिर कर्म के नियति के बल से वह प्राणना शून्यनाड़ी को प्राप्त संवित् के स्पर्श की अधिकता के कारण क्षीण हो जाती है । इस प्रकार योनिज और अयोनिज शरीर में गमन करने वाला (वह परमेश्वर) क्रम से अत्यधिक संपुष्ट देह प्राण बल वाला (होकर) कर्म से उत्पन्न भोगों को भोगता है ॥ -२२०-२२४- ॥

वह = प्रथम प्राणनोदय । वाय्वात्मा—प्राण अपान आदि पाँच वायुओं से अवच्छिन्न । इसलिये = वायुरूप इसके विचरण के कारण । वह = गर्भस्थ शरीर । वही पहले कहा गया—

'सा प्राणवृत्तिः प्राणाद्यै रूपैः पञ्चभिरात्मसात् ।
देहं यत् कुरुते संवित्पूर्णस्तेनैष भासते ॥' (६।१४)

इति । तत्रापीति—एवं बलीयस्त्वे सति—इत्यर्थः । अक्षताग्रहणे शून्येत्यादिहेतुः, शून्याश्चक्षुरादीन्द्रियाधिष्ठानरूपाः सुषीर्नाडीर्लभमानस्य संवित् स्पर्शस्य आधिक्यात् इन्द्रियनाडीषु प्राणनात्मनः संवित्स्पर्शस्य उद्रेकेण अवस्थानात्—इत्यर्थः । अत्रापि हेतुः कर्मनियतिबलादिति, यदभिप्रायेणैव

'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ।' (सां०का० २९)

इत्यादि अन्यैरुक्तम् । भुङ्क्ते इति—अर्थाद् गृहीतसङ्कोचः शिव एव ॥

न च एतत्स्वोपज्ञमेव अस्माभिरुक्तम्—इत्याह—

उक्तं च गह्वराभिख्ये शास्त्रे शीतांशुमौलिना ॥ २२४ ॥
यथा गृहं विनिष्पाद्य गृही समधितिष्ठति ।
तथा देही तनुं कृत्वा क्रियादिगुणवर्जितः ॥ २२५ ॥
किञ्चित्स्फुरणमात्रः प्राग्निष्कलः सोऽपि शब्द्यते ।
स्फुटेन्द्रियादितत्त्वस्तु सकलात्मेति भण्यते ॥ २२६ ॥
इत्यादि श्रीगह्वरोक्तं तत एव पठेद्बहु ।

तत एव बहु पठेदिति—अस्माभिस्तु ग्रन्थविस्तरभयान्न पठितम्—

'सा......................भासते ।'

वैसा होने पर भी = इस प्रकार बलीयान् होने पर भी । अक्षत के ग्रहण में शून्य इत्यादि हेतु है । शून्य = चक्षु आदि इन्द्रियों की अधिष्ठान रूप, सुषिर = नाड़ियों को, प्राप्त करने वाले संवित्स्पर्श की अधिकता से अर्थात् इन्द्रिय नाड़ियों में प्राणनरूप संवित्स्पर्श के उद्रेकपूर्वक स्थित होने से । इसमें भी कारण है—कर्म की नियति के बल से । जिस अभिप्राय से—'प्राण आदि पाँच वायु करणसामान्य में रहते हैं ।' (सां०का० २९)

इत्यादि दूसरों के द्वारा कहा गया । भोगता है—सङ्कोच ग्रहण करने वाला शिव ॥

यह हमने स्वोपज्ञ नहीं कहा है—यह कहते हैं—

कुलगह्वर नामक शास्त्र में परमेश्वर ने कहा है—जैसे गृहस्थ घर को बनाकर रहता है उसी प्रकार आत्मा शरीर बनाकर पहले क्रिया आदि गुणों से रहित किञ्चित् स्फुरण मात्र होता हुआ निष्कल कहा जाता है । बाद में स्फुट इन्द्रिय आदि तत्त्व वाला वह सकल कहा जाता है—इत्यादि श्री कुलगह्वर शास्त्र में (बहुत) कहा गया है । वहीं से बहुत पढ़ना चाहिये ॥ -२२४-२२७- ॥

इत्यभिप्राय: । तदुक्तं तत्र—

'ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं विश्वं तु सचराचरम् ।
मायातत्त्वसकाशात्तु सर्वमेव विनि:सृतम् ॥
धर्माधर्मनिबद्धस्तु पिण्ड उत्पद्यते तदा ।
तत उत्पद्यते गन्ध: शुक्रशोणितसंभव: ॥
शुक्रान्मांसं ततो मेदो मज्जा चास्थीनि देहिनाम् ।
रक्तात्त्वक्स्नायुमांसं च धातुषट्कं भवेदिदम् ॥
शुक्रं च शोणितं चैव अष्टधातुकमुच्यते ।
पश्चाद्भूतगणोपेतो देहो भवति देहिनाम् ॥
यथा गृहं तु निष्पाद्य गृही पश्चात्तु तिष्ठति ।
एवं देहं विनिष्पाद्य देही तिष्ठति चेश्वर: ॥
पुरुष: शून्यरूपस्तु निष्क्रियो गुणवर्जित: ।
किञ्चित्स्फुरणमात्रस्तु निष्कल: स हि कथ्यते ॥
सकल: कलया युक्त: शान्तात्मा प्रभुरव्यय: ।
तन्मात्राणि च भूतानि इन्द्रियाणि दशैव तु ॥
इन्द्रियार्था मनो बुद्धिस्तथाहङ्कार एव च ।
विज्ञेय: सकलो ह्येष शिवो देहे व्यवस्थित: ॥
मानुषाणां पशूनां च सर्पाणां जलचारिणाम् ।
व्यापकोऽपि शिवाख्यो वै संसारे संव्यवस्थित: ॥'

वहीं से बहुत अधिक पढ़ना चाहिये—हमने ग्रन्थविस्तार के भय से नहीं पढ़ा—यह अभिप्राय है । वही वहाँ—

'ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक समस्त सचराचर विश्व मायातत्त्व से निकला है । तब धर्म अधर्म से निबद्ध पिण्ड उत्पन्न होता है । फिर शुक्र शोणित से गन्ध की उत्पत्ति होती है । शुक्र से मांस उस (= मांस) से शरीरियों के मेदा मज्जा और हड्डियाँ तथा रक्त से त्वचा स्नायु और मांस ये छह धातुयें उत्पन्न होती हैं । शुक्र और शोणित (को जोड़कर यह शरीर) आठ धातु (वाला) कहा जाता है । बाद मे (पाँच) महाभूतों से युक्त होकर (यह) आत्माओं का शरीर होता है । जैसे (पहले) घर बनाकर गृही (उसमें) बाद में रहता है । इसी प्रकार ईश्वर शरीर को बनाकर देही के रूप में (इसमें) रहता है । पुरुष शून्यरूप निष्क्रिय तथा निर्गुण है । वह किञ्चित्स्फुरणमात्र रूप में निष्कल कहलाता है । शान्त आत्मा वाला नित्य प्रभु कला से युक्त होकर सकल (कहा जाता) है । (पाँच) तन्मात्रा (पाँच) भूत दश इन्द्रियाँ और (दश) इन्द्रियों के विषय मन बुद्धि तथा अहङ्कार को इस सकल की देह में व्यवस्थित शिव ही जानना चाहिये । व्यापक रूप से वर्त्तमान भी शिव मनुष्य पशु सरीसृप जलचरों तथा संसार में सम्यक् व्यवस्थित है ।'

इत्यादि बहु ॥

इह मरणस्य नान्तरीयकवृत्तित्वात् जन्माभिधानपूर्वं समुचितं वचनम्—इत्याह—

क्षये तु कर्मणां तेषां देहयन्त्रेऽन्यथागते ॥ २२७ ॥
प्राणयन्त्रं विघटते देहः स्यात्कुड्यवत्ततः।

तेषां तु कर्मणामिति—देहारम्भकाणाम् । तत इति—प्राणयन्त्रस्य विघटनात् ॥

तद्विघटनमेव दर्शयति—

नाडीचक्रेषु सङ्कोचविकासौ विपरीततः ॥ २२८ ॥
भङ्गः शोषः क्लिदिर्वातश्लेष्माग्न्यपचयोच्चयैः ।
इत्येवमादि यत्किञ्चित् प्राक्संस्थानोपमर्दकम् ॥ २२९ ॥
देहयन्त्रे विघटनं तदेवोक्तं मनीषिभिः ।

विपरीतत इति—संकुचितं हि नाडीचक्रं विकसति, विकसितं च संकुचतीति। अग्निः = पित्तम्, तेन धातुत्रयस्यापि अपचयादत्यन्तं वा चयादस्य भङ्गादि भवेत् येन एतत् प्राग्रूपात्प्रच्युतिमेव आसादयेदेवम् । किं बहुना यदेव

इत्यादि बहुत कहा गया है ॥

मरण के अवश्य सहभावी होने से पहले जन्म का कथन समुचित है—यह कहते हैं—

उन (= प्रारब्ध) कर्मों का क्षय होने तथा देहयन्त्र के अन्यथा हो जाने पर प्राणयन्त्र विघटित हो जाता है और फिर शरीर कुड्य (= दीवार) जैसा (जड) हो जाता है ॥ -२२७-२२८- ॥

उन कर्मों के = देहारम्भक कर्मों के । फिर = प्राणयन्त्र के विघटन के कारण ॥

उसका विघटन ही दिखलाते हैं—

नाड़ी चक्रों में (जब) विपरीत क्रम से **सङ्कोच** विकास (होने लगते हैं) **वात पित्त और कफ के** अपचय **तथा उपचय** से भङ्ग, शोष, तरलता इत्यादि जो **कुछ पूर्व संस्थान** का नाशक **है** (उत्पन्न होने लगती हैं) तो वही **मनीषियों के द्वारा देहयन्त्र में** विघटन कहा जाता है ॥-२२८-२३०-॥

विपरीत क्रम से—संकुचित नाडीचक्र विकसित एवं विकसित (नाडीचक्र) संकुचित होने लगता है । अग्नि = पित्त । इससे तीनो धातुओं (= वात पित्त श्लेष्मा) के अत्यन्त घटने या बढ़ने से इस (शरीर) का भङ्ग आदि होता है जिस

नाम हि किञ्चित् देहयन्त्रे प्राक्संस्थानोपमर्दकं तदेव मनीषिभिर्विघटनमित्युक्तं यल्लोके मरणमिति प्रसिद्धम् ॥

न च एतावतैव अस्य संसारोच्छेदः—इत्याह—

तस्मिन्विघटिते यन्त्रे सा संवित्प्राणनात्मताम् ॥ २३० ॥
गृह्णाति योनिजेऽन्यत्र वा देहे कर्मचित्रिते ।
स देहः प्रतिबुध्येत प्रसुप्तोत्थितवत्तदा ॥ २३१ ॥
तस्यापि भोगतद्धानिमृतयः प्राग्वदेव हि ।

यन्त्र इति—देहे, वाशब्दादयोनिजेऽपि । प्रतिबुध्येतेत्यनेन अस्य सृष्टिरुक्ता । भोगतद्धानीति तत्प्राप्त्यप्राप्ती, एषैव च अस्य स्थितिः ॥

एते च अस्य सृष्ट्यादयः कर्मबलोपनता इति नियत्याद्यपेक्षित्वात् तत्तद्वैचित्र्यभाजो भवन्ति—इत्याह—

विसृष्टिस्थितिसंहारा एते कर्मबलाद्यतः ॥ २३२ ॥
अतो नियतिकालादिवैचित्र्यानुविधायिनः ।

अनुग्रहः पुनरस्य कर्मादि अनपेक्ष्यैव स्यात्—इत्याह—

कारण यह (अपने) पहले स्वरूप से च्युत हो जाता है । यहाँ तक कि शरीर में जो कुछ पूर्व संस्थान का उपमर्दक होता है वही विद्वानों के द्वारा विघटन कहा गया है और लोक में मरण के नाम से प्रसिद्ध है ॥

इतने से ही इसका संसारोच्छेद नहीं होता—यह कहते हैं—

उस देहयन्त्र के नष्ट होने पर वह संवित् योनिज या कर्मचित्रित किसी अन्य शरीर में प्राण का रूप धारण करती है । तब सोकर उठे हुये के समान वह शरीर चैतन्ययुक्त हो जाता है । फिर उसके भी भोगप्राप्ति उसकी हानि एवं मृत्यु पहले की ही भाँति होते हैं ॥ -२३०-२३२- ॥

यन्त्र = देह । श्लोकस्थ 'वा' शब्द से अयोनिज में भी (समझना चाहिये) । प्रतिबुद्ध होता है—इस (कथन) से इसकी सृष्टि कही गयी है । भोग और उसकी हानि = उसकी प्राप्ति और अप्राप्ति । और यही इसकी (= देह की) स्थिति है ॥

इसकी यह सृष्टि आदि कर्म के बल से होती है और नियति आदि की अपेक्षा के कारण तत्तद् वैचित्र्य वाली होती हैं—यह कहते हैं—

चूँकि ये सृष्टि स्थिति संहार कर्म के बल से होते हैं इस कारण नियति काल आदि के वैचित्र्य के अनुसार इनका भी वैचित्र्य होता है ॥ -२३२-२३३- ॥

अनुग्रहस्तु यः सोऽयं स्वस्वरूपे विकस्वरे॥ २३३ ॥
ज्ञप्त्यात्मेति कथं कर्मनियत्यादि प्रतीक्षते ।

ननु अनुग्रहस्यापि कर्मादिहेतुत्वे को दोषः?—इत्याशङ्क्य आह—

कर्मकालनियत्यादि यतः सङ्कोचजीवितम् ॥ २३४ ॥
सङ्कोचहानिरूपेऽस्मिन्कथं हेतुरनुग्रहे ।
अनुग्रहश्च क्रमिकस्तीव्रश्चेति विभिद्यते ॥ २३५ ॥
प्राक् चैष विस्तरात्प्रोक्त इति किं पुनरुक्तिभिः ।

यदुक्तं प्राक्—

'यत्तु कस्मिंश्चन शिवः स्वेन रूपेण भासते ।
तत्रास्य नाणुगे तावदपेक्ष्ये मलकर्मणी ॥
तथास्वरूपताहानौ तद्गतं हेतुतां कथम्।
व्रजेन्मायानपेक्षत्वमत एवोपपादयेत् ॥
तेन शुद्धः स्वप्रकाशः शिव एवात्र कारणम् ।' (१३।११६)

इति । प्रागिति—शक्तिपातपरीक्षाह्निके ॥

ननु एवंविधेन अनुग्रहेण अस्य किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

किन्तु इसके ऊपर अनुग्रह (इसके) कर्म आदि की अपेक्षा न रख कर होता है—यह कहते हैं—

और जो अनुग्रह है वह अपने विकस्वरस्वरूप के विषय में ज्ञानरूप है फिर वह कर्म नियति आदि की अपेक्षा क्यों करेगा ॥ -२३३-२३४- ॥

प्रश्न—यदि कर्म आदि को अनुग्रह का भी कारण माना जाय तो क्या दोष होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चूँकि कर्म काल नियति आदि सङ्कोच के कारण होते हैं तो सङ्कोचहानि रूप इस अनुग्रह में वे (= कर्म आदि) कैसे कारण हो सकते हैं । अनुग्रह क्रमिक और तीव्रभेदवाला होता है । यह पहले विस्तारपूर्वक कह दिया गया है अतः पुनरुक्ति से क्या लाभ ? ॥ -२३४-२३६- ॥

जैसा कि पहले कहा गया—

'यत्तु..........................कारणम् ।' (तं०आ० १३।११६)

पहले = शक्तिपातपरीक्षा नामक आह्निक में ॥

प्रश्न—इस प्रकार के अनुग्रह से इसका (= जीव का) क्या होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

तेन दीक्षाशिवज्ञानदग्धसङ्कोचबन्धनः ॥ २३६ ॥
देहान्ते शिव एवेति नास्य देहान्तरस्थितिः ।

नन्वेवं देहान्तरानुत्पत्तौ दीक्षैव किं निमित्तमुत निमित्तान्तरमस्ति?—इत्याशङ्क्य आह—

येऽपि तत्त्वावतीर्णानां शङ्कराज्ञानुवर्तिनाम् ॥ २३७ ॥
स्वयम्भूमुनिदेवर्षिमनुजादिभुवां गृहे ।
मृतास्ते तत्पुरं प्राप्य पुरेशैर्दीक्षिताः क्रमात् ॥ २३८ ॥
मर्त्येऽवतीर्य वा नो वा शिवं यान्त्यपुनर्भवाः ।
तत्र स्वयम्भुवो द्वेधा केऽप्यनुग्रहतत्पराः ॥ २३९ ॥
केऽपि स्वकृत्यायातांशस्थानमात्रोपसेविनः ।
येऽनुग्रहार्थमाज्ञप्तास्तेषु यो म्रियते नरः ॥ २४० ॥
सोऽनुग्रहं स्फुटं याति विना मर्त्यावतारतः ।
यस्तु स्वकार्यं कुर्वाणस्तत्स्थानं नाशतस्त्यजेत् ॥ २४१ ॥
यथा गौरी तपस्यन्ती कश्मीरेषु गुहागता ।
तत्रैव वा यथा ध्यानोड्डारे नरहरिर्विभुः ॥ २४२ ॥

इससे दीक्षा एवं शिवज्ञान के कारण दग्ध सङ्कोचरूपीबन्धन वाला (यह जीव) देहान्त में शिव ही हो जाता है । इसलिये इसकी दूसरे शरीर में स्थिति नहीं होती ॥ -२३६-२३७- ॥

प्रश्न—देहान्तर की उत्पत्ति न होने में क्या दीक्षा ही कारण है या और कोई कारण ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो लोग तत्त्वावतीर्ण शिवाज्ञापालक स्वयम्भू मुनि देवता ऋषि या मनुष्य आदि से उत्पन्न होने वालों के घर में मरते हैं वे उस पुर को प्राप्त होकर क्रम से पुरेश्वरों के द्वारा दीक्षित होते हैं फिर मर्त्यलोक में अवतार लेकर अथवा न लेकर बिना पुनर्जन्म के शिवत्व को प्राप्त होते हैं ।

उनमें भी स्वम्भू दो प्रकार के होते हैं—कोई तो अनुग्रह में तत्पर होते हैं और कोई अपने कर्म से प्राप्त अंशतः उस स्थान का केवल सेवन करते हैं । जिनको अनुग्रह के लिये आज्ञा दी गयी है उनमें जो-जो आदमी मरता है वह मृत्युलोक में बिना अवतार लिये अनुग्रह को प्राप्त हो जाता है । और जो अपना कार्य करता हुआ उस स्थान को अंशतः नहीं छोड़ता—जैसे कि तपस्या करती हुयी गौरी कश्मीर में गुफा में गयी (आज भी यह स्थान गौरीगुहा के नाम से प्रसिद्ध है) । या वहीं (= कश्मीर में) ध्यानोड्डार में भगवान् नृसिंह व्यास नदी को ले जाने वाले दैत्यों को

वितस्तां नयतो दैत्यांस्त्रासयन्दृप्त उत्थितः ।
सालिग्रामे यथा विष्णुः शिवो वा स्वोपभोगिनः ॥ २४३ ॥
तपस्यन्तौ बदर्यां च नरनारायणौ तथा ।
इत्येवमादयो देवाः स्वकृत्यांशस्थितास्तथा ॥ २४४ ॥
आराधिताः स्वोचितं तच्छीघ्रं विदधते फलम् ।
स्वकृत्यांशस्थितानां च धाम्नि येऽन्तं व्रजन्ति ते ॥ २४५ ॥
तत्र भोगांस्तथा भुक्त्वा मर्त्येष्ववतरन्त्यपि ।
मर्त्यावतीर्णास्ते तत्तदंशकास्तन्मयाः पुनः ॥ २४६ ॥
तद्दीक्षाज्ञानचर्यादिक्रमाद्यान्ति शिवात्मताम् ।
स्थावराद्यास्तिर्यगन्ताः पशवोऽस्मिन्द्वये मृताः ॥ २४७ ॥
स्वकर्मसंस्क्रियावेधात्तल्लोके चित्रताजुषः ।

यद्यपि च अत्र पवित्रकविध्यनन्तरं तीर्थायतनचर्चनमुद्दिष्टं तथापि तत् मरणोपयोगित्वात् तत्परीक्षान्तरुपक्षिप्तमिति न कश्चित् पूर्वापरव्याघातः । अनुग्रहतत्परा इति—अबादिभ्यो हि तत्त्वेभ्यः परमेश्वराज्ञया पञ्चापि अष्टकानि अनुग्रहार्थमेव भुवमवतीर्णानि—इत्याशयः । स्फुटमिति—अनुग्रहार्थमेव एषामवतीर्णत्वात् । तपस्यन्तीत्यादिना एषां स्वकार्यविदनं कृतम् । तत्रेति—तत्परेषु मर्त्येष्वप्यव-

---

सन्त्रस्त करते हुये दृप्त होकर उठे और व्यास नदी को यथास्थान ले आये। अथवा जैसे सालिग्राम में विष्णु अथवा शिव ने अपनी साधना करने वाले (साधक शिष्यों को अनुगृहीत किया था) उसी प्रकार बदरिकाश्रम में तपस्या करते हुये नरनारायण जो कि आज भी दो पर्वतों के रूप में वहाँ विराजमान हैं—इत्यादि देवता हैं वे अपने कृत्यांश में स्थित हुये आराधित होने पर शीघ्र फल देते हैं । जो लोग अपने कार्य के अंश में स्थित (देवताओं) के धाम में अन्त तक जाते हैं वे वहाँ उस प्रकार भोगों को भोग कर मर्त्यलोक में अवतीर्ण होते हैं । मर्त्यलोक में अवतीर्ण होकर तत्तत् अंश वाले वे तन्मय होकर पुनः तत्तत् दीक्षा ज्ञान चर्या आदि के क्रम से शिवात्मता को प्राप्त होते हैं । स्थावर आदि से तिर्यक् पर्यन्त पशु जो इन दोनों में मर जाते हैं वे अपने कर्म एवं संस्कार के वेध से उस लोक में विचित्र शरीर धारण करते हैं ॥ -२३७-२४८- ॥

यद्यपि यहाँ पवित्रक विधि के बाद तीर्थायतन की चर्चा कही गयी है तथापि मरणोपयोगी होने से वह उसकी परीक्षा के अन्दर कह दिया गया इसलिये कोई पूर्वापर व्याघात नहीं है । अनुग्रह में तत्पर = जल आदि तत्त्वों में परमेश्वर की आज्ञा से पाँच अष्टक अनुग्रह के लिये पृथिवी पर आये—यह आशय है । स्फुट = अनुग्रह के लिये इनका अवतार होने से । तपस्या करती हुयी—इत्यादि के द्वारा

तरन्तीति तेषां साक्षादनुग्रहकारित्वाभावात् । तत्तदंशका इति—ब्रह्मविष्णु-रुद्राद्यंशाः—इत्यर्थः । अस्मिन्द्वय इति—अनुग्रहार्थं स्वकार्यार्थं च अवतीर्णे ॥

ननु यदि एवमपि स्थावरादीनां सालोक्यं स्यात्, तन्मनुष्याणां का वार्त्ता?—इत्याशङ्क्य आह—

पुंसां च पशुमात्राणां सालोक्यमविवेकतः ॥ २४८ ॥

पशुमात्राणामिति—अन्येषां पुनः सायुज्याद्यपि भवेत्--इति भावः ॥ २४८॥

ननु एषां स्थावरादिवदेव किमविवेकः समस्ति न वा?—इत्याशङ्क्य आह—

अविवेकस्तद्विशेषानुन्मेषान्मौढ्यतस्तथा ।

तद्विशेषानुन्मेषादिति—राजसत्वात् पुंसाम् । मौढ्यत इति—स्थावरादीनां तामसत्वात् ॥

ननु अन्यत्र स्थावरादीनां

'येषां मृतानां चर्माणि यान्ति योगं शिवालये ।
वृक्षाणामपि दारूणि तेऽपि रुद्रा न संशयः ॥'

इनका अपने कार्य का आवेदन किया गया । वहाँ = तत्परक में । मर्त्यों में भी अवतार लेते हैं—क्योंकि वे साक्षात् अनुग्रहकारी नहीं है । तत्तत् अंश वाले = ब्रह्मा विष्णु रुद्र आदि अंश वाले । इन दोनों में = अनुग्रह और अपने कार्य के लिये अवतीर्ण होने में ॥

प्रश्न—यदि इस प्रकार स्थावर आदि को सालोक्य प्राप्त होगा तो मनुष्यों की क्या बात होगी?—यह शङ्का कर कहते हैं—

पशुमात्र पुरुषों को अविवेक के कारण सालोक्य प्राप्त होता है ॥ -२४८ ॥

पशुमात्र को—अन्य लोगों (= विशिष्ट पुरुषों) को सायुज्य आदि भी होता है—यह भाव है ॥ २४८ ॥

प्रश्न—इनको स्थावर आदि के समान ही क्या अविवेक सम्भव है अथवा नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

तद्विशेष (= विवेक) के अनुन्मेष तथा मूढता के कारण अविवेक होता है ॥ २४९- ॥

तद्विशेष के अनुन्मेष से—पुरुषों के राजस होने के कारण । मूढ़ता के कारण—स्थावर आदि के तामस होने के कारण ॥

प्रश्न—अन्यत्र स्थावर आदि की

इति दृशा रुद्रत्वमेव भवेत्—इत्युक्तम् । इह पुनरेषां सालोक्यं कस्मादभिहितम्?—इत्याशङ्क्य आह—

स्थावराद्यास्तथाभावमुत्तरोत्तरतां च वा ॥ २४९ ॥
प्रपद्यन्ते न ते साक्षाद्रुद्रतां तां क्रमात्पुनः ।

तथाभावमिति—स्थावरादिरूपत्वम् । उत्तरोत्तरतामिति—पुमादिरूपतासादन-क्रमेण ॥

अत एवम् आगमोऽप्येवम्—इत्याह—

हंसकारण्डवाकीर्णे नानातरुकुलाकुले ॥ २५० ॥
इत्येतदागमेषूक्तं तत एव पुरे पुरे ।
क्षेत्रमानं ब्रुवे श्रीमत्सर्वज्ञानादिषूदितम् ॥ २५१ ॥
लिङ्गाद्धस्तशतं क्षेत्रमाचार्यस्थापिते सति ।
स्वयम्भूते सहस्रं तु तदर्धमृषियोजिते ॥ २५२ ॥
तत्त्ववित्स्थापिते लिङ्गे स्वयम्भूसदृशं फलम् ।

'जिन मरे हुये (पशुओं) के चर्म तथा वृक्षों की लकड़ियाँ शिवालय के काम में आते हैं वे भी रुद्र हो जाते हैं इसमें संशय नहीं हैं ।'

इस दृष्टि से अन्यमत में स्थावर आदि को भी रुद्रत्व प्राप्त होता है—ऐसा कहा गया फिर यहाँ इनका सालोक्य ही कैसे कहा गया (सारुप्य या रुद्रत्व कहा जाना चाहिये था)?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(वे जीव) स्थावर आदि उस प्रकार के भाव को अथवा उत्तरोत्तरता को क्रम से प्राप्त करते हैं न कि सीधे उस रुद्रता को (प्राप्त करते हैं) ॥ -२४९-२५०- ॥

उस प्रकार के भाव को = स्थावर आदि रूप को । उत्तरोत्तरता को—पुरुष आदि की रूपता को प्राप्त करने के क्रम से ॥

इसीलिये आगम भी ऐसा है—यह कहते हैं—

'हंस कारण्डव से भरे अनेक प्रकार के वृक्षसमूहों से व्याप्त (क्षेत्र) में ....' ऐसा आगमों में कहा गया है । इसी कारण श्रीसर्वज्ञानोत्तर आदि शास्त्रों में उक्त एक-एक पुर में क्षेत्र का मान बतलाता हूँ—आचार्य द्वारा स्थापित लिङ्ग से एक सौ हाथ चारो ओर का परिसर (पवित्र या तीर्थ क्षेत्र) माना जाता है । स्वयंभू लिङ्ग (का परिसर) एक हजार हाथ का होता है । ऋषि द्वारा स्थापित लिङ्ग का क्षेत्र उसका आधा (= पाँच सौ हाथ का) होता है । तत्त्ववेत्ता द्वारा स्थापित लिङ्ग वाले परिसर में स्वयम्भू के

अतत्त्वविद्यदाचार्यो लिङ्गं स्थापयते तदा ॥ २५३ ॥
पुनर्विधिर्भवेद्दोषो ह्यन्यथोभयदूषकः ।

ननु स्वयम्भ्वादीनां साक्षात्सन्निधेः क्षेत्रादिरूपत्वमस्तीति तद्गृहे मृतानां भवेदेवं को दोषः, मनुष्यादिप्रतिष्ठितानां लिङ्गानां पुनः कथमेवं युज्येत?—इत्याशङ्कां प्रशमयितुमागममेव संवादयति—क्षेत्रेत्यादिना । आचार्योऽत्र उत्कर्षी ॥

अतत्त्ववित्त्वमेव दर्शयति—

अहमन्यः परात्मान्यः शिवोऽन्य इति चेन्मतिः ॥ २५४ ॥
न मोचयेन्न मुक्तश्च सर्वमात्ममयं यतः ।
तस्मात्तत्त्वविदा यद्यत्स्थापितं लिङ्गमुत्तमम् ॥ २५५ ॥
तदेवायतनत्वेन संश्रयेद्भुक्तिमुक्तये ।

तथा च आगमोऽप्येवम्—इत्याह—

उक्तं श्रीरत्नमालायां ज्ञात्वा कालमुपस्थितम् ॥ २५६ ॥
मोक्षार्थी न भयं गच्छेत्त्यजेद्देहमशङ्कितः ।

समान फल होता है । यदि अतत्त्ववेत्ता (= भेदज्ञानोपहत) आचार्य लिङ्ग की स्थापना करे तो पुनर्विधिदोष होता है । अन्यथा उभय (= आचार्य और यजमान दोनों को) दोष होता है ॥ -२५०-२५४- ॥

प्रश्न—स्वयम्भू आदि की, साक्षात् सन्निधि के कारण उनकी क्षेत्रादिरूपता हो जाती है इसलिये उस घर में मृत लोगों को यह (= मुक्ति) हो जाती है इसमे क्या दोष है किन्तु मनुष्य आदि के द्वारा प्रतिष्ठित लिङ्गों के क्षेत्र में मरने वालों की मुक्ति हो जाती है यह कैसे उचित है?—इस शङ्का को शान्त करने के लिये आगम को ही उद्धृत करते हैं—क्षेत्र इत्यादि । आचार्य इस विषय में उत्कर्षी है ॥

अतत्त्ववित्ता को दिखलाते हैं—

मैं अन्य हूँ, परात्मा अन्य है, शिव अन्य है—ऐसी बुद्धि यदि होती है तो (वह व्यक्ति) न तो दूसरे को मुक्त करता है न स्वयं मुक्त होता है क्योंकि सब आत्ममय है । इस कारण जो लिङ्ग तत्त्ववेत्ता के द्वारा स्थापित होता है वह उत्तम होता है । भोग और मोक्ष के लिये उसी का आयतन के रूप में आश्रयण करना चाहिये ॥ -२५४-२५६- ॥

श्रीरत्नमाला में कहा गया है—

मृत्यु को उपस्थित जानकर मोक्षार्थी को भयभीत नहीं होना चाहिये प्रत्युत शङ्कारहित होकर शरीर का त्याग करना चाहिये । अथवा हे

तीर्थायतनपुण्येषु कालं वा वञ्चयेत्प्रिये ॥ २५७ ॥
अयोगिनामयं पन्था योगी योगेन वञ्चयेत् ।
वञ्चने त्वसमर्थः सन् क्षेत्रमायतनं व्रजेत् ॥ २५८ ॥
तीर्थे समाश्रयात्तस्य वञ्चनं तु विजायते ।

ज्ञात्वेति—

'यस्य वै स्नातमात्रस्य हृत्पादौ वाथ शुष्यतः ।
धूमो वा मस्तके नश्येद्दशाहं न स जीवति ॥'

इत्याद्युक्तैस्तत्रत्यैरेव लक्षणैः । त्यजेदिति—उत्क्रान्त्यादिक्रमेण । उत्क्रान्त्यादावसमर्थः पुनस्तीर्थादावनशनादिना देहं त्यजेत्, येन अस्य पुनर्जन्ममरणायोगात् कालवञ्चनं सिध्येत्—इत्याह—तीर्थेत्यादि; अत एवाह—अयोगिनामयं पन्था इति। अनशनादिनापि देहं त्यक्तुमसमर्थेन क्षेत्रादि आश्रयणीयमेव यद्वशात्स्वारसिके देहापगमे कालवञ्चनं स्यात्—इत्याह—वञ्चनेत्विति । एकस्तुशब्दो हेतौ ॥

इदमेव च अत्र नाभिधेयं यावदन्यदपि—इत्याह—

अनेन च धराद्येषु तत्त्वेष्वभ्यासयोगतः ॥ २५९ ॥
तावत्सिद्धिजुषोऽप्युक्ता मुक्त्यै क्षेत्रोपयोगिता ।

प्रिये ! पुण्य तीर्थ आयतन (= गृह) पुण्य (क्षेत्र) में प्राणत्याग करना चाहिये । यह अयोगियों के लिये मार्ग है । योगी योग के द्वारा देहत्याग करे । यदि वञ्चन (= देहत्याग) में असमर्थ हो जाता है तो तीर्थक्षेत्र आयतन को जाय । क्योंकि तीर्थ में आश्रयण से उसका देहत्याग हो जाता है ॥ -२५६-२५९- ॥

जानकर—

'जिस पुरुष का स्नान करते समय हृदय अथवा पैर सूखने लगे अथवा मस्तक से धूम गिरने लगे वह मात्र दश दिन तक जीवित रहता है ।'

इत्यादि वहीं कथित लक्षणों के द्वारा । त्याग करे—उत्क्रान्ति आदि के क्रम से। यदि उत्क्रान्ति आदि में असमर्थ हो तो तीर्थ आदि में उपवास आदि के द्वारा शरीरत्याग करे जिससे इसका पुनर्जन्ममरण न होने से कालवञ्चन सिद्ध हो जाय—यह कहते हैं—तीर्थ आदि । इसीलिये कहते हैं—यह अयोगियों का रास्ता है । अनशन आदि के द्वारा भी शरीरत्याग में असमर्थ व्यक्ति क्षेत्र आदि का आश्रय ले जिससे स्वाभाविक देहनाश होने पर कालवञ्चन हो जाय—यह कहते हैं—वञ्चन में तो । दूसरा 'तु' शब्द हेतु अर्थ में है ॥

यहाँ यही वर्णनीय नहीं है, बल्कि और कुछ है--यह कहते हैं—

इससे पृथिवी आदि तत्त्वों में अभ्यास के कारण उतनी सिद्धिप्राप्त

धरादियोगिनां हि तद्धारणाक्रमेण तत्सिद्धिभाक्त्वं तावत् सिद्धं मुक्तिस्तु क्षेत्रोपसेवनाद्भवेदिति भाव: ॥

नन्वेवं क्षेत्रोपयोग: किमज्ञानामेव किं स्वित् ज्ञानिनामपि?—इत्याशङ्क्य आह—

सम्यग्ज्ञानिनि वृत्तान्त: पुरस्तात्तूपदेक्ष्यते ॥ २६० ॥

नन्वेवं ये न ज्ञानिन:, नापि पशव:, तेषां का वार्त्ता?—इत्याशङ्क्य आह—

ते तदीशसमीपत्वं यान्ति स्वौचित्ययोगत: ॥ २६१ ॥
योग्यतावशसञ्जाता यस्य यत्रैव वासना ।
स तत्रैव नियोक्तव्य: पुरेशाच्चोर्ध्वशुद्धिभाक्॥ २६२ ॥
इति श्रीपूर्वकथितं श्रीमत्स्वायम्भुवेऽपि च ।
यो यत्राभिलषेद्भोगान्स तत्रैव नियोजित: ॥ २६३ ॥
सिद्धभाङ्मन्त्रसामर्थ्यादित्याद्यन्यत्र वर्णितम् ।

स्वौचित्येति—न तु क्षेत्रौचित्ययोगत: । अन्यत्र श्रीमत्स्वायम्भुवेऽपि च वर्णितमिति संबन्ध: ॥

लोगों के लिये भी मुक्त्यर्थ क्षेत्र की उपयोगिता है ॥ -२५९-२६०- ॥

पृथिवी आदि तत्व के साधकों को उनकी धारणा के क्रम से सिद्धि मिलती है—यह सिद्ध हुआ किन्तु मुक्ति तो क्षेत्र के सेवन से ही होती है ॥

प्रश्न—क्षेत्र का उपयोग क्या अज्ञों के लिये ही है या ज्ञानियों के लिये भी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

सम्यक् ज्ञानी के विषय में वृत्तान्त आगे कहा जायगा ॥ -२६० ॥

प्रश्न—जो न तो ज्ञानी है न पशु उनकी क्या बात है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यह पशुओं का वृत्तान्त है । जो लोग कि तत्तत् तत्त्व में दीक्षित है वे अपने औचित्य के अनुसार तत्तत् तत्त्व के अधीशों के समीप जाते हैं । जिसकी जहाँ योग्यतावश वासना होती है उसे वहीं नियुक्त करना चाहिये । (वह व्यक्ति उस) पुर के ईश्वर के द्वारा ऊर्ध्वशुद्धि का भागी होता है—ऐसा मालिनीविजयोत्तर और स्वायम्भुव तन्त्रों में कहा गया है । जो जिस लोक में भोग चाहता है वह वहीं नियोजित होकर मन्त्र के सामर्थ्य से सिद्धि प्राप्त करता है—इत्यादि अन्यत्र कहा गया है ॥ -२६१-२६४- ॥

अपने औचित्य—न कि क्षेत्र के औचित्य के योग से । अन्यत्र—स्वायम्भुव में भी वर्णित है—ऐसा सम्बन्ध है

क्षेत्रौचित्यात् पुनरेषां लोकधर्मिणां तत्सायुज्यमेव भवेत्—इत्याह—

ये तु तत्तत्त्वविज्ञानमन्त्रचर्यादिवर्तिनः ॥ २६४ ॥
मृतास्ते तत्र तद्रुद्रसयुक्त्वं यान्ति कोविदाः ।

नन्वेवमपि एषां सर्वेषां किमविशेषेणैव रुद्रत्वेन अवतारः, उत न ?—इत्याशङ्क्य आह—

तेषां सयुक्त्वं यातानामपि संस्कारतो निजात् ॥ २६५ ॥
तथा तथा विचित्रः स्यादवतारस्तदंशतः ।

संस्कारत इति—प्राक्कर्मवासनारूपात् ॥

तथा च आगमोऽपि—इत्याह—

सिद्धान्तादौ पुराणेषु तथा च श्रूयते बहु ॥ २६६ ॥
तुल्ये रुद्रावतारत्वे चित्रत्वं कर्मभोगयोः ।

नन्वेवमैकरूप्येऽपि रुद्रत्वस्य कथमेतद्युज्येत?—इत्याशङ्क्य आह—

अनेकशक्तिखचितं यतो भावस्य यद्वपुः ॥ २६७ ॥
शक्तिभ्योऽर्थान्तरं नैष तत्समूहादृते भवेत् ।

क्षेत्र के औचित्य के कारण इन लोकधर्मियों का उससे सायुज्य ही होता है-यह कहते हैं—

जो कि उस तत्त्व के विज्ञान मन्त्र चर्या आदि वाले होते हैं वे विद्वान् उस (लोक) में मर कर उसके रुद्र के सायुज्य को प्राप्त करते हैं ॥ -२६४-२६५- ॥

प्रश्न—क्या इन सबका समान रूप से रुद्र के रूप में अवतार होता है अथवा नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

सायुज्य को प्राप्त हुये उन लोगों का भी अपने संस्कार के अनुसार उसके अंश से उस-उस प्रकार का विचित्र अवतार होता है ॥ -२६५-२६६- ॥

संस्कार से—पूर्वकर्मों की वासनारूप ॥

आगम भी है—

सिद्धान्त आदि और पुराणों में भी बहुत सुना जाता है कि रुद्रावतार समान होने पर भी कर्म और भोग में विचित्रता होती है ॥-२६६-२६७-॥

प्रश्न—रुद्रत्व के एकरूप होने पर भी यह (= कर्मभोगवैचित्र्य) कैसे होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यच्छब्दो हेतौ भिन्नक्रमः, तेन वपुःशब्दानन्तरं योज्यः, एवं तर्हि तत्तच्छक्त्यतिरिक्तं भावस्य रूपं पर्यवस्येत्?—इत्याशङ्क्य आह—शक्तिभ्योऽर्थान्तरं नैष इति । ततोऽर्थान्तरत्वे तु अस्य किं स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—तत्समूहादृते भवेदिति । यदनेकाभाससंमूर्छनात्मको भाव इति एष तदाभाससंमूर्छनामन्तरेण न किञ्चिदपि रूपं बिभृयात्—इत्यस्मत्सिद्धान्तः ॥

ननु अनेन प्रकृते किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

तेन शक्तिसमूहाख्यात् तस्माद्रुद्राद्यदंशतः ॥ २६८ ॥
कृत्यं तदुचितं सिद्ध्येत् सोंऽशोऽवतरति स्फुटम् ।

अतश्च अनेकाभासकदम्बतया उद्भासमानाद्रुद्रात् यस्मादेव आभासांशात् तत्तत्प्राक्कर्मानुगुणं कार्यं सिद्ध्येत्, स एव आभासांशः स्फुटमवतरति—तत्तद्रुद्ररूपतां साक्षाद् गृह्णीयात्—इत्यर्थः ॥

अत्रैव अधिकारिभेदात् वैचित्र्यान्तरमपि दर्शयितुमाह—

ये चाधरप्राप्तदीक्षास्तदास्थानुज्झिताः परे ॥ २६९ ॥

चूँकि भाव का शरीर अनेक शक्ति से युक्त है इसलिये यह (भाव) शक्ति से अतिरिक्त कुछ नहीं है (यदि अर्थान्तर होता तो) उस (= शक्ति) समूह के बिना भी (यह) होता ॥ -२६७-२६८- ॥

'यत्' शब्द हेतु अर्थ में है । उसका क्रम भिन्न है इस कारण उसे 'वपु' शब्द के बाद जोड़ना चाहिये । इस प्रकार तो भाव का रूप तत्तत् शक्ति के अतिरिक्त होने लगेगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—यह शक्ति से भिन्न पदार्थ नहीं है । इसके अर्थान्तर होने पर क्या होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—उस समूह के बिना भी इसकी सत्ता होगी । जो भाव अनेक संमूर्च्छनात्मक है वह उस आभास संमूर्च्छना के बिना कोई रूप धारण नहीं करता—यह हमारा सिद्धान्त है ॥

प्रश्न—इससे प्रस्तुत विषय में क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस कारण शक्तिसमूह नामक उस रुद्र से आंशिक रूप में जो कृत्य उसके उचित सिद्ध होता है वही अंश साक्षात् अवतरित होता है ॥ -२६८-२६९- ॥

इस कारण अनेक आभाससमूह रूप में उद्भासमान रुद्र से जिस आभासांश से तत्तत् पूर्व कर्मों के अनुकूल कार्य सिद्ध होता है वही आभासांश स्फुट अवतरित होता है = तत्तत रुद्ररूपता का साक्षात् ग्रहण करता है ॥

यहीं पर अधिकारीभेद से वैचित्र्यान्तर भी दिखलाने के लिये कहते हैं—

जो लोग नीचे वाले तत्त्वों में दीक्षा प्राप्त किये हुये होते हैं तथा उसमें

तत्त्वे मृताः काष्ठवत्तेऽधरेऽप्युत्कर्षभागिनः ।
ये तूज्झिततदुत्कर्षास्ते तदुत्तरभागिनः ॥ २७० ॥
येऽप्यूर्ध्वतत्त्वदीक्षास्ते विना तावद्विवेकतः ।
प्राप्ताधरान्ता अपि तद्दीक्षाफलसुभागिनः ॥ २७१ ॥
अत्यक्तास्था हि ते तत्र दीक्षायामपि शास्त्रितात्।
विना विवेकादास्थां ते श्रिता लोकप्रसिद्धितः ॥ २७२ ॥

ये च लोकधर्मिण एव अप्तत्त्वादावधरपदे प्राप्तयोजनिकास्तत्रैव च सादराः, परे तदुत्तरे तेजस्तत्त्वादौ तत्तत्त्वावतीर्णस्य अतिगुह्याष्टकादिमध्यादेकतरस्य स्थाने विनैव सन्धानं मृतास्ते तत्र अधरेऽपि उत्कर्षभागिनः तत्स्थानमृतसाधकान्तर-वैलक्षण्येन भोगभाजो भवन्ति—इत्यर्थः । ये पुनरप्तत्त्वादावेव प्राप्तदीक्षाः, तत्र तथा अनादृतास्तेऽपि एवं मृतास्तदुत्तरे तेजस्तत्त्वादावेव भोगिनस्तत्पदमेव आसादयन्ति—इत्यर्थः । येऽपि तेजस्तत्त्वादावूर्ध्वे प्राप्तदीक्षास्ते मौढ्यादप्तत्त्वाद्य-वतीर्णस्य स्वयम्भुवः संबन्धिनि अधरे स्थाने प्राप्तमृत्यवोऽपि तद्दीक्षाफलमेव सुष्ठु भजन्ते । यतस्ते तथाविधायामपि दीक्षायां बद्धास्था गतानुगतिकया प्रसिद्धिमात्रादेव

आस्था को रखते हुये पर तत्त्व में मरते हैं वे 'काष्ठ के समान[1] अधर तत्त्व में भी उत्कर्ष के भागी होते हैं । जो जीव उस उत्कर्ष को छोड़ देते हैं वे उससे ऊपर वाले (तत्त्व) में भोगग्रहण करते हैं । जो कि ऊर्ध्वतत्त्व में दीक्षा प्राप्त हैं वे बिना विवेक के अधर तत्त्वों को प्राप्त होकर भी उस (ऊर्ध्वतत्त्व वाली) दीक्षा के फल को प्राप्त करते हैं । क्योंकि वे उसमें बद्धआस्था वाले हैं इसलिये दीक्षा होने पर भी शास्त्रीय विवेक के बिना भी लोकप्रसिद्धि के कारण आस्था रखते हैं ॥ -२६९-२७२ ॥

जो = लोकधर्मी ही, जल तत्त्व आदि निम्नस्तर में योजनिका दीक्षा प्राप्त करने वाले हैं और उसी में आदर रखते हुये पर = उसके ऊपरी तेजस् तत्त्व आदि में उस तत्त्व से अवतीर्ण अतिगुह्याष्टक आदि में से किसी एक के स्थान में बिना सन्धान के मरते हैं वे उस अधर में उत्कर्ष के भागी होते हैं = उस स्थान में मरे हुये अन्य साधक से विलक्षण रूप में भोग प्राप्त करते हैं । और जो लोग केवल जल तत्त्व आदि में दीक्षा प्राप्त करते हैं और उसमें आदर नहीं रखते वे भी इस प्रकार मर कर उसके ऊर्ध्ववर्त्ती तेजस्तत्त्व आदि में ही भोग वाले होते हैं अर्थात् उस पद को ही प्राप्त करते हैं । जो लोग ऊर्ध्ववर्त्ती तेजस्तत्त्व आदि में दीक्षित होते हैं वे मूढ़ता के कारण अपतत्त्व आदि में अवतीर्ण स्वयंभू से सम्बद्ध अधर स्थान में मृत्यु को प्राप्त होकर भी उस (ऊर्ध्व स्थान) वाली दीक्षा के फल को

---

१. उच्च स्थान में उत्पन्न और वहीं सूख गया वृक्ष गृह आदि के निर्माण के लिये नीचे वाले स्थान में आकर भी उतना ही महत्त्व प्राप्त करता है जितना कि ऊपर उसका महत्त्व था ।

अधरायतनादावास्थां श्रिताः । नहि एषामेवं शास्त्रीयो विवेकः समस्ति येन दीक्षोचितमेव स्थानमनुसरेयुः ॥ २७२ ॥

एवमियता किं पर्यवसितम्?—इत्याशङ्क्य आह—

पशुमात्रस्य सालोक्यं सामीप्यं दीक्षितस्य तु ।
तत्परस्य तु सायुज्यमित्युक्तं परमेशिना ॥ २७३ ॥

दीक्षितस्येति—लोकधर्मिदीक्षया । तत्परस्येति—एवं दीक्षितत्वेऽपि तत्तत्स्थानादौ मृतस्य ॥

सिद्धान्तादावूर्ध्वोर्ध्वं दीक्षितस्य पुनस्तत्र अनास्थया तीर्थादि आश्रयतः सर्वं निरर्थकमेव भवेत्—इत्याह—

यस्तूर्ध्वशास्त्रगस्तत्र त्यक्तास्थः संशयेन सः ।
व्रजन्नायतनं नैव फलं किञ्चित्समश्नुते ॥ २७४ ॥
उक्तं तद्विषयं चैतद्देवदेवेन यद्वृथा ।
दीक्षा ज्ञानं तथा तीर्थं तस्येत्यादि सविस्तरम् ॥ २७५ ॥

तदुक्तम्—

भली भाँति प्राप्त करते हैं । क्योंकि वे उस प्रकार की भी दीक्षा में आस्थावान् होकर भी गतानुगातिक होने के कारण प्रसिद्धिमात्र से अधरायतन आदि में आस्था वाले होते हैं । इनके पास ऐसा शास्त्रीय विवेक सम्भव नहीं होता जिससे (वे) दीक्षोचित स्थान का अनुसरण करें ॥ २७२ ॥

इतने से क्या निकला?—यह शङ्का कर कहते हैं—

पशुमात्र को सालोक्य, दीक्षित को सामीप्य, उस लोक में मरे को सायुज्य (मोक्ष) मिलता है—ऐसा परमेश्वर ने कहा है ॥ २७३ ॥

दीक्षित—लोकधर्मी दीक्षा से । तत्पर = इस प्रकार दीक्षित होने पर भी तत्तत् स्थान आदि में मृत ॥

शैवसिद्धान्त आदि में ऊर्ध्व-ऊर्ध्व दीक्षित की उस (= शैव सिद्धान्त आदि) में अनास्था होने से तीर्थ आदि का आश्रयणं करने वाले के लिये सब निरर्थक हो जाता है—यह कहते हैं—

जो कि ऊर्ध्वशास्त्र में दीक्षित है और संशय के कारण आस्था का त्याग कर दिया है तो वह (तीर्थादि) आयतन का आश्रयण करने पर भी कुछ फल नहीं पाता । इस विषय में देवाधिदेव ने 'उसका दीक्षा ज्ञान तथा तीर्थ सेवन व्यर्थ है' इत्यादि विस्तारपूर्वक कहा है ॥ २७४-२७५ ॥

वही कहा है—

'दीक्षितः शिवसिद्धान्ते गुरुपूजादिकां क्रियाम्।
कृत्वान्ते च व्रजेद्यस्तु तीर्थमायतनादि वा ॥
वृथा दीक्षा वृथा ज्ञानं मन्त्राराधनमेव च ।
त्यक्तं तेनैव तत्सर्वं तीर्थमात्रफलेप्सुना ॥'

इति ॥ २७५ ॥

यस्तु तावदयोग्योऽपि तथास्ते स शिवालये ।
पश्चादास्थानिबन्धेन तावदेव फलं भजेत् ॥ २७६ ॥

तावदयोग्य इति—आजीवम् । पश्चादिति—मृत्युसमय एव । तावदिति—पूर्णम् ॥ २७६ ॥

ननु स्वयम्भ्वादीनामेव स्थाने मृतानामेवं भवेदिति कस्मादुक्तं यदन्यत्र अन्तर्वेद्यादावपि मरणस्थानत्वमभिहितम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

नदीनगह्रदप्रायं यच्च पुण्यं न तन्मृतौ ।
उत्कृष्टं तन्मृतानां तु स्वर्गभोगोपभोगिता ॥ २७७ ॥
ये पुनः प्राप्तविज्ञानविवेका मरणान्तिके ।
अधरायतनेष्वास्था श्रितास्तेऽत्र तिरोहिताः ॥ २७८ ॥

'शैव शास्त्र में दीक्षित व्यक्ति गुरुपूजा आदि क्रिया को करके अन्त में तीर्थ अथवा देवायतन आदि में जाता है उसकी दीक्षा व्यर्थ हैं, ज्ञान और मन्त्राराधन व्यर्थ है क्योंकि तीर्थमात्र का फल चाहने वाला उसने सब छोड़ दिया' ॥ २७५ ॥

और जो उतने काल तक अयोग्य होते हुये भी शिवालय में उस प्रकार (= आस्थावान् होकर) रहता है वह बाद में आस्था के कारण उतना ही फल प्राप्त करता है जितना कि योग्य पुरुष ॥ २७६ ॥

तावत् = जीवनपर्यन्त । पश्चात् = मृत्यु के समय में ही । उतना = सम्पूर्ण ॥ २७६ ॥

प्रश्न—स्वयम्भू आदि के ही स्थान में मरे लोगों को ऐसा होता है—ऐसा क्यों कहा जब कि अन्यत्र अन्तर्वेदि आदि भी मृत्युस्थान कहा गया है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

नदी, पर्वत, तालाब आदि जो पुण्य स्थल है वह मृत्यु के विषय में उत्कृष्ट नहीं है । उनमें मरने वालों को स्वर्गभोग मिलता है । और जो कि विज्ञानविवेक को प्राप्त कर चुके हैं तथा मृत्युकाल में अधरायतन में आस्था वाले होते हैं वे यहाँ तिरोहित (नामक संज्ञा से विभूषित) होते हैं ॥ २७७-२७८ ॥

निष्कृतिश्च एषां किमस्ति न वा?—इत्याशङ्क्य आह—

तज्ज्ञानदूषणोक्तं यत्तेषां स्यात्किल पातकम् ।
तत्तत्पुरेशदीक्षादिक्रमान्नश्येदिति स्थितिः ॥ २७९ ॥
दीक्षायतनविज्ञानदूषिणो ये तु चेतसा ।
आचरन्ति च तत्तेऽत्र सर्वे निरयगामिनः ॥ २८० ॥

ननु एते साक्षात् यदि आचरन्तो दृश्यन्त इति कुतस्तद्विशेष एषां ज्ञायेत ?—इत्याशङ्क्य आह—

ज्ञानायतनदीक्षादावास्थाबन्धपरिच्युतिः ।
व्यापारव्याहृतैर्ज्ञेया तान्यपि द्विविधानि च ॥ २८१ ॥

इह द्विविधानि व्यापारव्याहृतानि संसारभागीयानि कैवल्यभागीयानि च । तत्र एषां क्वचिद्यथानुसन्धानं प्रवृत्तिः, क्वचिदयथानुसन्धानं क्वचिच्च निरनुसन्धानमिति। तत्र आद्यः स्पष्ट एव पन्था यथानुसन्धानं व्यापारादेर्भावात् । द्वितीयस्तु विपर्यस्तो व्यापारादेरनुसन्धानविपर्ययेण दर्शनात् । तृतीयस्तु नैवंविधः—इत्याह—

यानि जातुचिदप्येव स्वास्थ्ये नोदमिषन्पुनः ।
अस्वास्थ्ये धातुदोषोत्थान्येव तद्रोगमात्रकम् ॥ २८२ ॥

इनकी निष्कृति होती है या नहीं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस (= निम्नशास्त्र) के ज्ञानदोष से कथित जो पाप उनको लगता है वह उस पुर के ईश्वर द्वारा प्रदत्त दीक्षा आदि के क्रम से नष्ट हो जाता है ऐसी स्थिति है । दीक्षा के आयतन से प्राप्त विज्ञान की निन्दा करने वाले जो लोग मन से भी वैसा करते हैं वे सबके सब यहाँ नरकगामी होते हैं ॥ २७९-२८० ॥

प्रश्न—यदि ये साक्षात् आचरण करते हुये देखे जाँयें फिर इनका विशेष कहाँ से ज्ञात होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

ज्ञान आयतन दीक्षा आदि में आस्थाबन्ध से स्खलन व्यापारव्याहृतियों (= क्रियाकलाप) से जानना चाहिये ॥ २८१ ॥

व्यापारव्याहृत दो प्रकार के हैं—संसारभागीय और कैवल्यभागीय । उनमें से इनकी कहीं तो अनुसन्धान के अनुसार प्रवृत्ति होती है, कहीं अनुसन्धान के अनुसार नहीं और कहीं बिना अनुसन्धान के । उनमें से पहला मार्ग स्पष्ट ही है क्योंकि व्यापार आदि यथानुसन्धान होते हैं । दूसरा उल्टा है क्योंकि अनुसन्धान के विपरीत व्यापार देखा जाता है । तीसरा इस प्रकार का नहीं-यह कहते हैं—

वे भी दो प्रकार के हैं । जो कि कभी भी स्वास्थ्य में उन्मिषित

यानि संसारकैवल्यभागीयतया द्विविधानि, तानि व्यापारव्याहतानि स्वास्थ्ये कदाचिदपि नोदितानि यथा ज्ञानिनः संसारभागीयानि अज्ञानिनस्तु कैवल्यभागीयानि, अस्वास्थ्ये पुनर्धातुदोषवशादुत्थितानि, तद्भोगमात्रकमेव तदानीमेषामेवंविधः प्राक्कर्मबलोपनतो भोग एव, न तु शुभाशुभकारि किञ्चित्—इत्यर्थः ॥ २८२ ॥

ननु कथं भोगमात्रकमेव एतदित्युक्तं यज्ज्ञानिनोऽपि अन्तश्च आत्तानां संसारवासनानामन्तरान्तरा दर्शनादज्ञानित्वं स्यात्, अज्ञानिनोऽपि ज्ञान्युचितानां संस्काराणामुदयात् ज्ञानित्वमिति?—इत्याशङ्क्य आह—

धातुदोषाच्च संसारसंस्कारास्ते प्रबोधिताः ।
छिद्रगा अपि भूयिष्ठज्ञानदग्धा न रोहिणः ॥ २८३ ॥
ये तु कैवल्यभागीयाः स्वास्थ्येऽनुन्मिषिताः सदा ।
अस्वास्थ्ये चोन्मिषन्त्येते संस्काराः शक्तिपाततः ॥ २८४ ॥

भूयिष्ठेति—एषां हि बलवज्ज्ञानम्—इत्याशयः । अनुन्मिषिता इति—अर्थादज्ञानिनः ॥ २८४ ॥

ननु स्वास्थ्याविशेषेऽपि ज्ञानिनां धातुदोषादेते संस्काराः प्रबुद्धाः, इतरेषां तु

नहीं हुये । और अस्वास्थ्य में धातुदोष से उत्पन्न उन भोगों के रूप में होते हैं ॥ २८१-२८२ ॥

संसारभागीय और कैवल्यभागीय रूप से जो दो प्रकार के हैं वे व्यापार—व्याहत स्वास्थ्य में कभी भी नहीं कहे गये जैसे कि ज्ञानी के लिये संसारभागीय और अज्ञानी के लिये कैवल्यभागीय । अस्वास्थ्य में धातुदोष के कारण उत्पन्न भोगमात्र ही रहते हैं अर्थात् उस समय इनका इस प्रकार का पूर्व कर्म के बल से प्राप्त भोग ही है न कि कुछ शुभाशुभकारी है ॥ २८२ ॥

प्रश्न—यह केवल भोग ही है—ऐसा कैसे कहा गया क्योंकि ज्ञानी भी हृदय में प्राप्त संसारवासना का बीच-बीच में दर्शन होने से अज्ञानी होगा और अज्ञानी भी ज्ञानी के योग्य संस्कारों के उदय के कारण ज्ञानी हो जायगा?—ऐसी शङ्का कर कहते हैं—

धातुदोष के कारण प्रबोधित वे संसारीसंस्कार छिद्रगामी (= अनर्थकारी) होते हुए भी अत्यधिक ज्ञान से दग्ध होकर फल नहीं देते । और जो प्रत्यय कैवल्यभागीय हैं स्वास्थ्य में सदा उन्मि नहीं हैं ये संस्कार अस्वास्थ्य में शक्तिपात के कारण सदा उन्मिषित होते हैं ॥ २८३-२८४॥

भूयिष्ठ—इनको बलवत् ज्ञान होता है—यह आशय है । अनुन्मिषित-अज्ञानी के ॥ २८४ ॥

शक्तिपातत इति कुतस्त्योऽयं विशेषः ?—इत्याशङ्क्य आह—

यतः सांसारिकाः पूर्वगाढाभ्यासोपसंस्कृताः ।
इत्यूचे भुजगाधीशस्तच्छिद्रेष्विति सूत्रतः ॥ २८५ ॥
ये तु कैवल्यभागीयाः प्रत्ययास्ते न जातुचित् ।
अभ्यस्ताः संसृतेर्भावात्तेनैते शक्तिपाततः ॥ २८६ ॥

न च एतदस्मदुपज्ञमेवेत्याह—इतीत्यादि । तच्छिद्रेष्विति, सूत्रत इति ।

'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ।' (४।२७)

इति सूत्रे—इत्यर्थः । सांसारिकाणां हि व्यापारादीनां जन्मान्तरीयो गाढाभ्यासोऽस्ति निमित्तं यद्वशादेषामुदयोऽपि स्यात्, इतरेषां तु संसारिषु अभ्यासो नास्ति, कादाचित्कश्च उदयो दृश्यते, तदत्र केनचित् निमित्तेन भाव्यम् । स च शक्तिपात एवेति युक्तमुक्तम्—एते संस्काराः शक्तिपातत इति ॥ २८५-२८६ ॥

ननु एवं ज्ञानिनोऽपि एते संस्कारास्तिरोधानशक्तिपातहेतुका एव सन्ति?—इत्याशङ्क्य आह—

प्रश्न—स्वास्थ्य के समान होने पर भी ज्ञानियों के ये संस्कार धातुदोष के कारण प्रबुद्ध होते हैं अन्य लोगों (अज्ञानियों) को शक्तिपात के कारण—यह अन्तर क्यों है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

क्योंकि सांसारिक लोग पूर्व गाढ अभ्यास से संस्कृत होते हैं—ऐसा भगवान् भुजगाधीश (= पतञ्जलि) ने 'तच्छिद्रेषु.........................
इस सूत्र से कहा है और जो कैवल्यभागीय प्रत्यय होते हैं वे संसार के कारण कभी भी अभ्यस्त नहीं होते । इसलिये वे शक्तिपात से उद्बुद्ध होते हैं ॥ २८५-२८६ ॥

यह हमारा उपज्ञ नहीं है—यह कहते हैं—'ऐसा.......... ।'

'तच्छिद्रेषु..........प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ।' (पा.यो.सू. ४।२७)

इस सूत्र में कहा गया—'छिद्रों (= दोषों) में दूसरे प्रत्यय संस्कारों के कारण (उत्पन्न होते हैं)'—यह पूरा सूत्र है ।

सांसारिक व्यापार आदि का कारण जन्मान्तरीय गाढ़ अभ्यास होता है जिस कारण इनका उदय होता है । अन्य (= अलौकिक व्यापारों) का संसारियों में अभ्यास नहीं होता और उदय कादाचित्क देखा जाता है । तो यहाँ भी कोई कारण होना चाहिये और वह शक्तिपात ही है । इसलिये ठीक ही कहा गया—ये संस्कार शक्तिपात से होते हैं ॥ २८५-२८६ ॥

प्रश्न—ये संस्कार ज्ञानी के अन्दर भी तिरोधानशक्तिपात के कारण हो जाँय?—यह शङ्का कर कहते हैं—

व्यापारव्याहतैस्तेन धातुदोषप्रकोपितैः ।
अप्राप्तनिश्चयामर्शैः सुप्तमत्तोपमानकैः ॥ २८७ ॥
विपरीतैरपि ज्ञानदीक्षागुर्वादिदूषकैः ।
तिरोभावो न विज्ञेयो हृदये रूढ्यभावतः ॥ २८८ ॥

अप्राप्तनिश्चयामर्शैरिति—अन्यथाद्धित्वात् । रूढ्यभावत इति—अस्य हि अन्यत्र अस्ति दृढतरमभ्यास:—इति भाव: ॥ २८८ ॥

अतश्च अस्य अन्येऽपि सांसारिका: संस्कारा: सन्ति—इत्याह—

अत एव प्रबुद्धोऽपि कर्मोत्थान्भोगरूपिणः ।
यमकिङ्करसर्पादिप्रत्ययान्देहगो भजेत् ॥ २८९ ॥

तर्हि अस्य किं नाम मुक्तत्वम्?—इत्याशङ्क्य आह—

नैतावता न मुक्तोऽसौ मृतिर्भोगो हि जन्मवत् ।
स्थितिवच्च ततो दुःखसुखाभ्यां मरणं द्विधा ॥ २९० ॥
अतो यथा प्रबुद्धस्य सुखदुःखविचित्रताः ।
स्थितौ न घ्नन्ति मुक्तत्वं मरणेऽपि तथैव ताः ॥ २९१ ॥

अत इति—जन्मादिवत् मरणस्यापि भोगविशेषात्मकत्वात् ॥ २९१ ॥

व्यापारव्याहत और इस कारण धातुदोष से प्रकोपित, अप्राप्तनिश्चयामर्श वाले, सुप्त मत्त के समान, विपरीत भी ज्ञानदीक्षागुरु आदि के निन्दकों के द्वारा (यह) तिरोभाव जानने योग्य नहीं है क्योंकि हृदय में रुढ़ि का अभाव है ॥ २८७-२८८ ॥

निश्चयामर्श को प्राप्त न करने वाले—अन्यथासिद्ध होने से । रुढि के अभाव के कारण—अर्थात् इसका (संसारी का) अन्यत्र दृढतर अभ्यास है—यह भाव है ॥ २८८ ॥

इस कारण इसके अन्य भी सांसारिक संस्कार हैं—यह कहते हैं—

इसलिये ज्ञानी भी देहधारण कर कर्म से उत्पन्न भोगरूपी यमकिङ्कर, सर्प आदि के द्वारा मृत्यु के प्रत्ययों का भागी होता है ॥ २८९ ॥

तो फिर इसकी मुक्ति क्या है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इससे यह मुक्त नहीं है—ऐसी बात नहीं है क्योंकि मृत्यु भी जन्म और स्थिति के समान भोग है । इस कारण दुःख सुख के भेद से मरण भी दो प्रकार का है । इसलिये जैसे ज्ञानी की सुख दुःख विचित्रतायें उसके स्थिति काल में मुक्तत्व का घात नहीं करतीं मरने पर भी वे वैसी ही होती है ॥ २९०-२९१ ॥

योगिनां पुनर्ज्ञानिभ्योऽपि मृतावतिशयः—इत्याह—

ये पुनर्योगिनस्तेऽपि यस्मिंस्तत्त्वे सुभाविताः ।
चित्तं निवेशयन्त्येव तत्तत्त्वं यान्त्यशङ्किताः ॥ २९२ ॥

निवेशयन्तीति उत्क्रान्त्यादिनिमित्तम् । अशङ्किता इति मरणव्यथाद्ययोगात् ॥ २९२ ॥

तथा च आगमोऽप्येवम्—इत्याह—

श्रीस्वच्छन्दे ततः प्रोक्तं गन्धधारणया मृताः ।
इत्यादि मालिनीशास्त्रे धारणानां तथा फलम् ॥ २९३ ॥

यदुक्तम्—

'धारणां गन्धतन्मात्रे प्राणांस्त्यक्त्वा तु योगिनः ।
ते यान्ति तादृशीं मूर्तिं धरित्र्याः परमां तनुम् ॥' (१०।७८८)

इति ।

'रसतन्मात्रमात्रे वै कृत्वा सम्यक् तु धारणाम् ।
अपां योनिं परां प्राप्ताः.......................... ॥' (१०।७९९)

इस कारण = जन्म आदि की भाँति मृत्यु के भी भोगविशेष होने से ॥ २९१ ॥

योगियों की मृत्यु में ज्ञानियों से भी अतिशय होता है—यह कहते है—

जो योगी लोग हैं वे भी जिस तत्त्व में दृढ़ भावना के साथ चित्त को लगाते हैं उस तत्त्व में अशंकित (= बिना कष्ट के) पहुँचते हैं ॥ २९२॥

निवेशित करते हैं—उत्क्रान्ति आदि के लिये । अशङ्कित—मरणव्यथा आदि के न होने से ॥ २९२ ॥

आगम भी ऐसा है—यह कहते हैं—

इस कारण श्री स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है—'गन्ध की धारणा से मृत........ ।' इत्यादि । इसी प्रकार मालिनीविजयोत्तर में (कहा गया कि) धारणाओ का वैसा ही फल होता है ॥ २९३ ॥

जैसा कि कहा गया—

'जो योगी लोग गन्धतन्मात्र में धारणा (कर) प्राणों को छोड़ते हैं वे धरित्री की परम तनु उस प्रकार की मूर्त्ति को प्राप्त करते हैं ।' और

'(दूसरे योगी लोग) केवल रसतन्मात्रा में सम्यक् धारणा कर परम जलीय योनि को प्राप्त होते हैं ।'

इति च । श्रीपूर्वशास्त्रे तु द्वादशपटलात्प्रभृति वितत्य एतदुक्तमिति तत एव अवधार्यम् ॥ २९३ ॥

ननु मरणं चेद्योगिनामस्ति अवश्यम्, सुखदुःखाद्यात्मा तद्भोगोऽपि स्यात्; तत्किमेतदुक्तम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

एतेषां मरणाभिख्यो भोगो नास्ति तु ये तनुम् ।
धारणाभिस्त्यजन्त्याशु परदेहप्रवेशवत् ॥ २९४ ॥

ननु कियान् मरणाभिख्यो भोगो य एषां नास्ति—इत्याशङ्क्य आह—

एतावान्मृतिभोगो हि मर्मच्छिन्मूढताक्षगा ।
ध्वान्ताबिलत्वं मनसि तच्चैतेषु न विद्यते ॥ २९५ ॥

तदिति—मर्मच्छिदादि ॥ २९५ ॥

तदेव उपपादयति—

तथाहि मानसं यत्नं तावत्समधितिष्ठति ।
अहंरूढ्या परे देहे यावत्स्याद् बुद्धिसञ्चरः ॥ २९६ ॥
प्राणचक्रं तदायत्तमपि सञ्चरते यथा ।
तेनैवातः प्रबुद्धयेत परदेहेऽक्षचक्रकम् ॥ २९७ ॥

मालिनीविजय में तो बारहवें पटल से लेकर विस्तृत रूप से यह कहा गया है इसलिये वहीं से जान लेना चाहिये ॥ २९३ ॥

प्रश्न—यदि योगियों का मरण अवश्य होता है, सुख दुःख आदि रूप उसका भोग भी होता है तो फिर यह ऐसा कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो लोग शरीर को धारणाओं के द्वारा शीघ्र छोड़ देते हैं उनको परकाय प्रवेश की भाँति मरण नामक भोग नहीं प्राप्त होता ॥ २९४ ॥

प्रश्न—मरण नामक भोग कितना होता है जो इनको नहीं मिलता?—यह शङ्का कर कहते हैं—

मृत्यु नामक भोग इतना ही है कि मर्मवेदना, इन्द्रियमूढ़ता, मन में अन्धकार और धुन्ध । और वह इनमें (= योगियों में) नहीं होता ॥ २९५ ॥

वह = मर्मवेदना आदि ॥ २९५ ॥

उसी को उपपन्न करते हैं—

मानसिक यत्न तब तक होता रहता है जब तक कि अहंरूढ़ि के द्वारा परशरीर में बुद्धिसञ्चार नहीं होता । उसके अधीन वर्त्तमान प्राणचक्र भी

यदि हि नाम स्वदेहं त्यजतो योगिनो मर्मसु वेदना, इन्द्रियेषु मोहः, मनसि तमोमयत्वं च अभविष्यत्, तदयं तत्प्रयत्ननिर्वर्त्यं परपुरप्रवेशादि एवं कथङ्कारमकरिष्यत् । मनःप्रयत्नाधीन एव हि योगिनः परदेहे बुद्धिप्राणादिसञ्चारः, येन अस्य तत्र अहन्ताप्ररोहः ॥ २९७ ॥

ननु प्राणादेरिन्द्रियचक्रस्य मनोऽनुगामित्वमेव कस्मात् ?—इत्याशङ्कां दृष्टान्तदिशा उपशमयति—

मक्षिका मक्षिकाराजं यथोत्थितमनूत्थिताः ।
स्थितं चानुविशन्त्येवं चित्तं सर्वाक्षवृत्तयः ॥ २९८ ॥

एवं योगिनां देहापगमेऽपि अन्यवदिन्द्रियाणामन्तरा अस्तमयो नास्ति—इत्याह—

अतोऽस्य परदेहादिसञ्चारे नास्ति मेलनम् ।
अक्षाणां मध्यगं सूक्ष्मं स्यादेतद्देहवत्पुनः ॥ २९९ ॥

अत इति—मृतिभोगाभावात् । ननु एतस्मिन्नेव देहे गाढमर्मप्रहार-

उसी रास्ते से सञ्चरण करता है इसलिये परकाय में इन्द्रियचक्र प्रबुद्ध होता है ॥ २९६-२९७ ॥

यदि अपने शरीर को छोड़ने के (समय) योगी को हृदय में वेदना, इन्द्रियों में मोह, मन में तमोगुण होता तो यह उस प्रयत्न से सिद्ध होने वाले परशरीरप्रवेश आदि को कैसे करता । दूसरे के शरीर में योगी का बुद्धि प्राण आदि का सञ्चार मन के प्रयत्न के अधीन होता है इस कारण इसको (= योगी को) उसमें अहन्ता उत्पन्न होती है ॥ २९७ ॥

प्रश्न—प्राण आदि इन्द्रियसमूह मनोऽनुगामी ही क्यों होते हैं?—इस आशङ्का को दृष्टान्त देकर शान्त करते हैं—

जैसे रानी मक्खी के उड़ने के पीछे (अन्य साधारण) मक्खियाँ उड़ती है (उसके) बैठने पर बैठती हैं उसी प्रकार चित्त (= मन) के पीछे समस्त इन्द्रियवृत्तियाँ (काम करती) हैं ॥ २९८ ॥

इस प्रकार योगियों का शरीरनाश होने पर भी अन्य (= सामान्य लोगों) की भाँति इन्द्रियों का बीच में अस्तमय नहीं होता—यह कहते हैं—

इस कारण इस (= योगी के) परदेहसंक्रमण से (भी) इन्द्रियों का मध्यगामी मेलन नहीं होता (यह स्थूल मेलन साधारण मनुष्य की मृत्यु के समय होता है) जैसे कि इस शरीर में अपितु सूक्ष्म रूप से होता है ॥ २९९ ॥

मात्रेणेन्द्रियाणामन्तरा मेलनं भवेत्, कथं पुनस्तत्त्यागेन?—इत्याशङ्क्य उक्तम्—सूक्ष्मं स्यादेतद्देहवत्पुनरिति ॥ २९९ ॥

एतदेव दृष्टान्तगर्भमुपसंहरति—

एवं परशरीरादिचारिणामिव योगिनाम् ।
तत्तत्तत्त्वशरीरान्तश्चारिणां नास्ति मूढता ॥ ३०० ॥
ते चापि द्विविधा ज्ञेया लौकिका दीक्षितास्तथा ।
पूर्वे शिवाः स्युः क्रमशः परे तद्भोगमात्रतः ॥ ३०१ ॥
दीक्षाप्यूर्ध्वाधरानेकभेदयोजनिकावशात् ।
भिद्यमाना योगिनां स्याद्विचित्रफलदायिनी ॥ ३०२ ॥

ते इति—योगिनः । लौकिका इति—पातञ्जलादिनिष्ठाः ॥ ३०२ ॥

एवं योगिनो मृतवृत्तान्तमभिधाय, ज्ञानिनोऽपि आह—

ये तु विज्ञानिनस्तेऽत्र द्वेधा कम्प्रेतरत्वतः ।
तत्र ये कम्प्रविज्ञानास्ते देहान्ते शिवाः स्फुटम् ॥ ३०३ ॥

एतदेव उपपादयति—

इस कारण = मृत्युभोग के अभाव के कारण । प्रश्न—इसी शरीर में गाढमर्मप्रहार से इन्द्रियों का बीच में मेलन हो जाता है फिर उसके त्याग से कैसे ?—यह शङ्का कर कहा गया—सूक्ष्म होता है इस शरीर के समान ॥ २९९॥

इसी का दृष्टान्त देकर उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार परकायप्रवेष्टा योगियों की भाँति तत्तत् तत्त्वशरीर के भीतर प्रवेश करने वालों को मूढ़ता नहीं होती । वे (योगी) भी दो प्रकार के जानने चाहिये—लौकिक और दीक्षित । पहले (योगी) क्रमशः शिव हो जाते हें और दूसरे उसके (= कर्मफल के) भोग से (शिव होते हैं)। दीक्षा भी ऊर्ध्व अधर अनेक भेद वाली योजनिका के बल से भिन्न होती हुयी योगियों को विचित्र फल देने वाली होती है ॥ ३००-३०२ ॥

वे = योगी लोग । लौकिक = पातञ्जल योग में विश्वास रखने वाले ॥ ३०२ ॥

योगी का मृतवृत्तान्त बतलाकर ज्ञानी का भी बतलाते हैं—

जो कि ज्ञानी लोग हैं वे दो प्रकार के होते हैं—कम्प्रविज्ञानी और अन्य (= अकम्प्र विज्ञानी) । उनमें से जो कम्प्रविज्ञानी हैं वे देहान्त होने पर निश्चित रूप से शिव हो जाते हैं ॥ ३०३ ॥

इसी को बतलाते हैं—

यतो विज्ञानमेतेषामुत्पन्नं न च सुस्फुटम् ।
विकल्पान्तरयोगेन न चाप्युन्मूलितात्मकम् ॥ ३०४ ॥
अतो देहे प्रमादोत्थो विकल्पो देहपाततः ।
नश्येदवश्यं तच्चापि बुध्यते ज्ञानमुत्तमम् ॥ ३०५ ॥

न च सुस्फुटमिति—देहबलोपनतेन विकल्पेन ग्लपनात् । विकल्पान्तरेति—विरुद्धस्य ॥ ३०५ ॥

ननु देहपाते विकल्पस्य प्रशमोऽस्तु, प्रस्फुटज्ञानोदये तु को हेतुः ?—इत्याशङ्क्य आह—

संस्कारकल्पनातिष्ठदध्वस्तीकृतमन्तरा ।
प्राप्तपाकं संवरीतुरपाये भासते हि तत् ॥ ३०६ ॥
ये तु स्वभ्यस्तविज्ञानमयाः शिवमयाः सदा ।
जीवन्मुक्ता हि ते नैषां मृतौ कापि विचारणा ॥ ३०७ ॥

प्राप्तपाकमिति—परां काष्ठामधिरूढम्—इत्यर्थः । संवरीतुरिति—पिधायकस्य देहस्य ॥ ३०७ ॥

ननु किं न ज्ञानिनां मृतौ विचारः, यत्तेऽपि तदा पामरवत् देहादिमया एव

क्योंकि इनको जो विज्ञान उत्पन्न होता है वह दूसरे विकल्पों के योग के कारण सुस्फुट नहीं होता और न उन्मूलित रहता है । इसलिये देह में प्रमाद के कारण उत्पन्न विकल्प देहपात से अवश्य नष्ट होता है और वह भी उत्तम ज्ञान माना जाता है ॥ ३०४-३०५ ॥

सुस्फुट नहीं है—देहबल से प्राप्त विकल्प के कारण मलिन होने से । विकल्पान्तर—विरुद्ध (दूसरे विकल्प) के ॥ ३०५ ॥

प्रश्न—देहपात होने पर तो विकल्प का अन्त हो जायगा प्रस्फुट ज्ञान के उदय में क्या कारण है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

संस्कारों की कल्पना में स्थित बीच में नष्ट न किया गया अत एव पूर्ण परिपक्व वह (= ज्ञान) संवरीता (= शरीर) के नष्ट होने पर भासित होता है । और जो लोग सदा स्वभ्यस्त विज्ञानमय शिवमय हैं वे जीवन्मुक्त हैं इनकी मृत्यु के विषय में कोई भी विचार नहीं किया जाता ॥ ३०६-३०७ ॥

प्राप्तपाक = अन्तिम सीमा को प्राप्त । संवरीता का = संवरण करने वाले देह का ॥ ३०७ ॥

प्रश्न—ज्ञानियों की मृत्यु में विचार क्यों नहीं किया जाता । वे भी तो सामान्य

किं न वा?—इत्याशङ्क्य दृष्टान्तगर्भमाह—

यथाहि जीवन्मुक्तानां स्थितौ नास्ति विचारणा ।
सुखिदुःखिविमूढत्वे, मृतावपि तथा न सा ॥ ३०८ ॥

तथा च आगम—इत्याह—

श्रीरत्नमालाशास्त्रे तदुवाच परमेश्वरः ।
स्वशास्त्रे चाप्यहीशानो विश्वाधारधुरन्धरः ॥ ३०९ ॥

स्वशास्त्रे इति—आधारकारिकासु ॥ ३०९ ॥

तदेव क्रमेण पठति—

रथ्यान्तरे मूत्रपुरीषमध्ये चण्डालगेहे निरये श्मशाने ।
सचिन्तको वा गतचिन्तको वा ज्ञानी विमोक्षं लभतेऽपि चान्ते ॥ ३१०॥

निरये इति—अपकृष्टस्थाने—इत्यर्थः ॥ ३१० ॥

एतदेव संक्षेपेण व्याचष्टे—

अपि चेति ध्वनिर्जीवन्मुक्ततामस्य भाषते ।

जन की भाँति देह आदि वाले होते हैं या नहीं?—यह शङ्का कर दृष्टान्त रखकर कहते हैं—

जिस प्रकार जीवन्मुक्तों की स्थिति में विचार नहीं होता उसी प्रकार (उनकी) सुख दुःख मूढ़ता और मृत्यु में भी वह (= विचार) नहीं होता ॥ ३०८ ॥

आगम भी है—यह कहते हैं—

परमेश्वर ने श्रीरत्नमाला शास्त्र में कहा है—अपने शास्त्र में विश्वाधारधुरन्धर अहीशान (भगवान् शेषनाग ने भी कहा है) ॥ ३०९ ॥

अपने शास्त्र में = आधारकारिकाओं में ॥ ३०९ ॥

उसी को क्रम से पढ़ते हैं—

गली में, मूत्र मल के बीच, चाण्डाल के घर, निकृष्ट स्थान या श्मशान में रहने वाला सचिन्तक अथवा अचिन्तक (= स्थानों के विषय में सोचने और न सोचने वाला) ज्ञानी अन्त में भी मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ३१० ॥

निरय में = अपकृष्ट स्थान में ॥ ३१० ॥

इसी का संक्षेप में व्याख्यान करते हैं—

सचिन्ताचिन्तकत्वोक्तिरेतावत्संभवस्थितिम् ॥ ३११ ॥

न केवलमन्ते ज्ञानी विमोक्षं लभते, यावज्जीवन्नपि—इत्यर्थः । एतावदिति आसङ्गरहित इति यावत् ॥ ३११ ॥

इतरत्रापि तात्पर्यार्थं तावदाह—

तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजेद्देहम् ।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः ॥ ३१२ ॥
अनन्तकारिका चैषा प्राहेदं बन्धकं किल ।
सुकृतं दुष्कृतं चास्य शङ्क्यं तच्चास्य नो भवेत्॥ ३१३ ॥

ज्ञानिनो हि बन्धकं कर्म नास्तीत्यस्य तीर्थादौ मरणे न कश्चिद्विशेष—इत्यत्र तात्पर्यम् ॥ ३१२-३१३ ॥

तदेव पदशो व्याचष्टे—

अपिशब्दादलुप्तस्मृत्या वा संभाव्यते किल ।
मृतिर्नष्टस्मृतेरेव मृतेः प्राक् साऽस्तु किं तया ॥ ३१४ ॥
लिङ् च संभावनायां स्यादियत्संभाव्यते किल ।

'अपि च' यह ध्वनि इस (ज्ञानी) की जीवन्मुक्तता को बतलाती है । सचिन्ताचिन्तकत्व कथन इतनी सम्भव स्थिति (= अनाशक्ति की स्थिति) को बतलाता है ॥ ३११ ॥

ज्ञानी केवल अन्त में नहीं बल्कि जीवित रहते हुये भी मोक्ष प्राप्त करता है । इतना = आसक्तिरहित ॥ ३११ ॥

अन्यत्र भी तात्पर्यार्थ को बतलाते हैं—

तीर्थ में अथवा चाण्डाल के घर में नष्टस्मृति वाला भी (ज्ञानी) यदि शरीरत्याग करता है ज्ञान के समय मुक्त हुआ वह शोकरहित होकर कैवल्य को प्राप्त होता है । यह अनन्तकारिका (नामक पुस्तक) कहती है कि यह बन्धक और पुण्य पाप इसके (= ज्ञानी के) बारे में शङ्कनीय तो हैं किन्तु यह इस (ज्ञानी) को होते नहीं ॥ ३१२-३१३ ॥

कर्म ज्ञानी का बन्धक नहीं होता इसलिये तीर्थ आदि में (इसके) मरने पर कोई विशेष नहीं है—यह तात्पर्य है ॥ ३१२-३१३ ॥

उसी की एक-एक पद करके व्याख्या करते हैं—

(श्लोकस्थ) 'अपि' शब्द से अलुप्त स्मृति के द्वारा भी यह संभव होता है । नष्टस्मृति वाले की ही मृत्यु होती है । मृत्यु के पहले भी वह

स च कालध्वनिः प्राह मृतेर्मुक्तावहेतुताम् ॥ ३१५ ॥

इह मरणं तावत् नष्टस्मृतेरेव भवतीति संभवन्त्या अपि मरणात्प्राक् स्मृत्या न कश्चिदर्थः—इति । अपिशब्दादनष्टायां स्मृतौ संभावनापि अफलप्रायैव—इत्यर्थः । लिङिति—परित्यजेदिति । इयत्संभाव्यते इति—ज्ञानी हि नष्टस्मृतिरनष्टस्मृतिर्वा यत्र तत्र देहं परित्यजतीति । मृतेर्मुक्तावहेतुतामिति—ज्ञानप्राप्त्यैव हि अयं मुक्तः, किमस्य स्मरणेन—इत्याशयः ॥ ३१४-३१५ ॥

ननु यद्येवं ज्ञानसमकालमेव मुक्तः, किं कैवल्यं यातीत्युक्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—

कैवल्यमिति चाशङ्कापदं याप्यभवत्तनुः ।
भेदप्रदत्वेनैषापि ध्वस्ता तेन विशोकता ॥ ३१६ ॥

आशङ्कापदमिति—ज्ञानसमकालमेव अयं किं मुक्तो न वेति । अत एव हतशोको निःशङ्कः—इत्युक्तम् ॥ ३१६ ॥

ननु किमिदमाशङ्कापदम्, नहि ज्ञानिनो देहादि किञ्चिद्बन्धकम्, यदुक्तम्—

(स्मृति) रहे उससे क्या । लिङ् संभावना अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् इतना संभव हो सकता है । और यह काल ध्वनि मृत्यु का मुक्ति में कारण न होना बतलाती है ॥ ३१४-३१५ ॥

नष्टस्मृति वाले की ही मृत्यु होती है इसलिये मृत्यु के पहले सम्भव होने वाली स्मृति का कोई सार्थक्य नहीं । 'अपि' शब्द से यह जानना चाहिये कि स्मृति के अनष्ट होने पर संभावना भी व्यर्थ है । लिङ्—'परित्यजेत्' (यहाँ पर) । इतना सम्भव है = ज्ञानी नष्टस्मृति वाला या अनष्टस्मृति वाला हो जहाँ कहीं भी शरीरत्याग कर देता है । मृत्यु की मुक्ति में अकारणता—ज्ञान की प्राप्ति से ही यह मुक्त होता है इसके (= ज्ञानी के) स्मरण से क्या ॥ ३१४-३१५ ॥

प्रश्न—यदि (यह ज्ञानी) ज्ञान के समय ही मुक्त हो जाता है तो फिर 'कैवल्य को प्राप्त होता है'—ऐसा कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

'कैवल्य को' यह आशङ्का का पद है । जो (ज्ञानी का) शरीर है वह भी भेदप्रद होने के कारण नष्ट हो जाता है । इससे शोकरहितता होती है ॥ ३१६ ॥

आशङ्का का पद—ज्ञान के समय ही यह मुक्त हो जता है या नहीं, इसीलिये 'हतशोक' और 'निःशङ्क' यह कहा गया है ॥ ३१६ ॥

प्रश्न—यह 'कैवल्य' पद आशङ्का को क्यों उत्पन्न करता है । देह आदि कुछ भी ज्ञानी का प्रतिबन्धक नहीं होता—जैसा कि कहा गया—

'सम्यग्ज्ञानाधिगमाद्धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद्धृतशरीरः ॥' (सां०का० ६७)

इति?—इत्याशङ्क्य आह—

परदेहादिसंबन्धो यथा नास्य विभेदकः ।
तथा स्वदेहसंबन्धो जीवन्मुक्तस्य यद्यपि ॥ ३१७ ॥
अतश्च न विशेषोऽस्य विश्वाकृतिनिराकृतेः ।
शिवाभिन्नस्य देहे वा तदभावेऽपि वा किल ॥ ३१८ ॥
तथापि प्राच्यतद्भेदसंस्काराशङ्कनस्थितेः ।
अधुनोक्तं केवलत्वं यद्वा मात्रन्तराश्रयात् ॥ ३१९ ॥
तान्येनं न विदुर्भिन्नं तैः स मुक्तोऽभिधीयते ।

इह ज्ञानिनः परदेहसंबन्धवत् स्वदेहसंबन्धो न बन्धको यतोऽस्य सति असति वा देहे शिवाभिन्नस्य विश्वाकारत्वे निराकारत्वे वा कश्चिद्विशेषो नास्ति यद्यपि, तथापि सति देहे भेदसंस्काराशङ्कापि संभाव्येति अधुना देहपातानन्तर्येण कैवल्यं यातीत्युक्तम् । अथवा जीवतोऽपि अस्य मुक्तदेहसद्भावात्प्रमात्रन्तराणां तदा न ज्ञानमधुना तु ज्ञानमिति ॥

'सम्यक् ज्ञान (= विवेकख्याति) की प्राप्ति के कारण धर्म आदि अकारण हो जाते हैं इसलिये (ज्ञानी) संस्कारवश चक्रभ्रमि की भाँति शरीर धारण किये हुये पड़ा रहता है (= इस ज्ञानी के कर्म से संस्कार या कर्माशय नहीं बनते)॥' (सां० का० ६७) ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यद्यपि जैसे इस (ज्ञानी) का परदेह आदि से सम्बन्ध, उसी प्रकार जीवन्मुक्त का परदेहसम्बन्ध भी भेदक नहीं होता इसलिये देह के होने या न होने पर इस शिवाभिन्न के विश्वाकार और निराकार होने पर कुछ भी अन्तर नहीं होता तथापि पूर्ववर्त्ती एवं तद्भेदसंस्कार की आशङ्का के होने के कारण अब 'कैवल्य' कहा गया । अथवा दूसरे प्रमाताओं के अन्तर के कारण (ऐसा कहा गया) । वे (प्रमाता लोग) इसको (जीवमुक्तावस्था में अपने से) भिन्न नहीं समझते । उन लोगों के द्वारा वह (मर जाने पर) मुक्त कहा जाता है ॥ ३१७-३२०- ॥

यद्यपि परदेहसम्बन्ध की भाँति स्वदेहसम्बन्ध भी ज्ञानी का बन्धक नहीं होता क्योंकि देह के रहने या न रहने पर शिवाभिन्न इसके विश्वाकार या निराकार होने में कोई अन्तर नहीं होता तो भी शरीर के रहने पर भेदसंस्कार की आशङ्का हो सकती है और अब देहपात के बाद कैवल्य को प्राप्त होता है—यह कहा गया । अथवा जीवित रहते हुये भी इसके मुक्तदेह रहने से दूसरे प्रमाताओं (= सामान्य लोगों) को उस समय (योगी की जीवनावस्था में, उसके मुक्तत्व का) ज्ञान नहीं होता और अब

तथा च आगमोऽप्येवम्—इत्याह—

श्रीमत्त्रैशिरसेऽप्युक्तं सूर्येन्दुपुटवर्जिते ॥ ३२० ॥
जुगुप्साभावभङ्गस्थे सर्वतः स्तम्भवत्स्थिते ।
सर्वव्यापत्तिरहिते प्रमाणप्रत्ययातिगे ॥ ३२१ ॥
तस्मिन्बोधान्तरे लीनः कर्मकर्ताप्यनञ्जनः ।
प्रधानं घट आकाश आत्मा नष्टे घटेऽपि खम् ॥ ३२२ ॥
न नश्येत्तद्वदेवासावात्मा शिवमयो भवेत् ।
स्वतन्त्रोऽवस्थितो ज्ञानी प्रसरेत्सर्ववस्तुषु ॥ ३२३ ॥
तस्य भावो न चाभावः संस्थानं न च कल्पना ।

प्रधानं कार्यकारणाद्यारब्धं प्राधानिकं शरीरम्—इत्यर्थः, तेन शरीरघटयो-रात्माकाशयोश्च तुल्यत्वमिति । यथा घटे नष्टे तदवच्छिन्नं खं न नश्यति, तथा शरीरे नष्टेऽपि आत्मा, किन्तु अनवच्छिन्नस्वस्वरूपमय एव भवेत् । तदसौ तत्तत्प्रतिनियतकर्मकारित्वेऽपि तस्मिन् परप्रमातृतया प्रख्याते, अत एव स्वप्रकाशत्वात् प्रमाणप्रत्ययातिगे तदप्रत्येये, अत एव सूर्येन्दुपुटवर्जिते प्रमाण-प्रमेययुगलकानवच्छिन्ने, अत एव जुगुप्सा जुगुप्स्यं वस्तु तदभावरूपमजुगुप्स्यं च

(= मरने पर) ज्ञान हो जाता है ॥ ३२० ॥

आगम में भी ऐसा है—यह कहते हैं—

श्रीमत् त्रिशिरोभैरव में भी कहा गया—प्रमाणप्रत्यय से परे वर्त्तमान, सब व्यापत्ति से रहित, प्रमाणप्रमेययुगल से रहित, जुगुप्साभाव के भङ्ग में स्थित अत एव सब प्रकार से स्तम्भ के समान स्थित उस बोधान्तर में लीन कर्मकर्त्ता भी निरञ्जन (= निर्लेप) है । शरीर घट (सदृश) और आत्मा आकाश (= सदृश) है । जिस प्रकार घट के नष्ट होने पर आकाश नष्ट नहीं होता उसी प्रकार (शरीर के नष्ट होने पर) यह आत्मा (= नष्ट नहीं होता वरन्) शिवमय हो जाता है । इस प्रकार स्थित ज्ञानी स्वातन्त्र्य के कारण सब वस्तुओं में व्याप्त होता है । उसकी सत्ता रहती है अभाव नहीं । (उसकी) संस्थान (= अवयव) कल्पना नहीं है ॥ -३२०-३२४-॥

प्रधान = कार्यकारण आदि से आरब्ध प्राधानिक शरीर । इस कारण शरीर से घट की तथा आत्मा से आकाश की तुल्यता है । जैसे घट के नष्ट होने पर उससे अवच्छित्र आकाश नष्ट नहीं होता उस प्रकार शरीर के नष्ट होने पर आत्मा (नष्ट नहीं होता) किन्तु अनवच्छित्र स्वस्वरूपमय हो जाता है । तो वह तत्तत् निश्चित कर्म को करने वाला होते हुये भी परप्रमाता के रूप में प्रख्यात इसलिये स्वप्रकाश होने के कारण प्रमाणप्रत्यय से अतिक्रान्त = उससे अप्रत्येय, इसलिये सूर्य चन्द्र के पुट से रहित = प्रमाण प्रमेय दोनों से अनवच्छित्र, इसलिये जुगुप्सा = निन्दनीय

तयोर्भङ्गस्थे हेयोपादेयकल्पनानिर्मुक्ते, अत एव

'सर्वाःशक्तीश्चेतसा दर्शनाद्याः स्वे स्वे वेद्ये यौगपद्येन विष्वक् ।
क्षिप्त्वा मध्ये हाटकस्तम्भभूतस्तिष्ठन् विश्वाधार एकोऽवभासि ॥'

इत्याद्युक्त्या सर्वतः स्तम्भवत्स्थिते, अत एव सदसदाद्यविकल्प्यत्वाच्छब्द-संस्पर्शासहिष्णौ निर्विकल्पात्मनि बोधान्तरे लीनत्वादनञ्जनो निरुपाधिचिदेकघन-स्वस्वरूप एव—इत्यर्थः । अतश्चैवं ज्ञाततत्त्वो ज्ञानी स्वातन्त्र्यमास्थितः सर्ववस्तुषु प्रसरेत् = सर्वत्र एकात्म्येनैव तिष्ठेत् । नहि अस्य जन्ममरणादिलक्षणा काचिद्वास्तवी कल्पना अस्ति—इत्यर्थः ॥

शास्त्रान्तराण्यपि एवम्—इत्याह—

एतदेवान्तरागूर्य गुरुर्गीतास्वभाषत ॥ ३२४ ॥

तदेव आह—

यं य वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ३२५ ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।

वस्तु और उसका अभावरूप अजुगुप्स्य उन दोनों के भङ्ग में स्थित = हेयोपादेयकल्पना से विनिर्मुक्त होता है, इसलिये—

'दर्शन आदि समस्त शक्तियों को चित्त के द्वारा अपने-अपने वेद्य में एक साथ सम्यक् फेंक कर मध्य में स्वर्णस्तम्भ के रूप में स्थित होते हुये (आप) एक विश्वाधार भासित होते हैं ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार सर्वतः स्तम्भ के समान स्थित रहता है इसलिये सद् -असत् आदि से अविकल्प्य होने के कारण शब्दसंस्पर्श के असहिष्णु निर्विकल्प रूप बोधान्तर में लीन होने के कारण अनञ्जन = निरुपाधि, चिदेकघन स्वस्वरूप ही इसलिये इस प्रकार तत्त्व का ज्ञान करने वाला ज्ञानी स्वातन्त्र्य में स्थित रहकर सब वस्तुओं में प्रसृत होता है = सर्वत्र ऐकात्म्यरूप से स्थित रहता है । अर्थात् इसकी जन्ममृत्यु लक्षण वाली कोई वास्तविक कल्पना नहीं है ॥

दूसरे शास्त्र में भी ऐसे हैं—यह कहते हैं—

इसी को मन में विचार कर गुरु (= भगवान् कृष्ण) ने गीता में कहा ॥ ३२४ ॥

उसी को कहते हैं—

अन्त में जिस-जिस भाव का स्मरण करता हुआ (जीव) शरीर का त्याग करता है, हे अर्जुन ! उस भाव से भावित हुआ वह सदा उस-उस

तदेव व्याचिकीर्षुः पीठिकाबन्धं कर्तुं गीतार्थमेव तावत् संगृह्य अभिधत्ते यदेत्यादिना—

यदा सत्त्वे विवृद्धे तु प्रलीनस्त्वूर्ध्वगस्तदा ॥ ३२६ ॥
क्रमाद्रजस्तमोलीनः कर्मयोनिविमूढगः ।

यदा हि कस्यचिदाजन्माभ्यासात् सत्त्वरजस्तमसां मध्यात् यद्यदेव प्रलयसमये विवृद्धं भवति, तदा अस्य तदौचित्यादेव मनुष्यस्थावरादिरूपतया गतिः स्यात्—इति वाक्यार्थः—यद्गीतम्—

'यदा सत्त्वे प्रवृत्ते तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥'

(भ०गी० १४।१५) इति ॥

ननु अन्तकाले सत्त्वादिमयत्वेऽपि श्वासायासहिक्कागद्गदादिवैवश्येन सर्वेषां मूढतयैव भाव्यम्, तथात्वे च एषां कथमूर्ध्वगत्यादिसमुचिता देहान्तरसङ्गतिः सङ्गच्छताम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

(भाव वाले) शरीर को प्राप्त करता है । इसलिये सब समय में (पहले)मेरा स्मरण करो और बाद में युद्ध करो अथवा पहले युद्ध करो पीछे-पीछे मेरा स्मरण भी करते जाओ ॥ ३२५-३२६- ॥

उसी की व्याख्या करने की इच्छा वाले (ग्रन्थकार) भूमिका बनाने के लिये गीता के अर्थ को संगृहीत कर 'यदा.........' इत्यादि के द्वारा कहते हैं—

जब (जीव अन्तकाल में) प्रवृद्ध सत्त्व में लीन होता है तब ऊर्ध्वगामी होता है । (इसी प्रकार जब) रजस् एवं तमस् में लीन होता है (तब) क्रमशः कर्मयोनि और विमूढ (योनि) में जाता है ॥ -३२६-३२७- ॥

जब किसी का जन्म से ही अभ्यास के कारण सत्त्वरजस् तमस् में से जो-जो मृत्यु के समय बढ़ जाता है तो उसकी उसी के अनुरूप मनुष्य स्थावर आदि के रूप में गति होती है—यह वाक्यार्थ है । जैसा कि गीता में कहा गया—

'जब देहधारी सत्त्व के प्रवृत्त होने पर मरता है तब वह ज्ञानियों के निर्मल लोक में जाता है । रजोगुण में मर कर कर्मसङ्गियों (= मनुष्ययोनि) में जन्म लेता है । उसी प्रकार तमोगुण में प्रलीन होकर मूढ योनि (= वृक्ष आदि) में पैदा होता है' ॥ ३२६- ॥ (भ०गी० १४।१४-१५)

प्रश्न—अन्तकाल में सत्त्वादिमय होने पर भी श्वासायास, हिचकी, गद्‌गद (= कफ घेरना) आदि की विवशता के कारण सब लोग मूढ ही होंगे । वैसा होने

तत्रेन्द्रियाणां संमोहश्वासायासपरीतता ॥ ३२७ ॥
इत्यादिमृतिभोगोऽयं देहे न त्यजनं तनोः ।

इह यन्नाम सत्यामपि तनौ इन्द्रियसंमोहादिः, सोऽयं गौण्या वृत्त्या देहत्यजनशब्दवाच्यो मृतिभोग उच्यते, न तु साक्षादेव देहत्यागः, तदानीमपि अस्य स्फुटत्वेनैव अवस्थानात् ॥

ननु यद्येवं तद्देहस्य साक्षात्त्यागः पुनः कदा स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

यस्त्वसौ क्षण एवैकश्चरमः प्राणनात्मकः ॥ ३२८ ॥
यदनन्तरमेवैष देहः स्यात्काष्ठकुड्यवत् ।
सा देहत्यागकालांशकला देहवियोगिनी ॥ ३२९ ॥
तत एव हि तद्देहसुखदुःखादिकोज्झिता ।
तस्यां यदेव स्मरति प्राक्संस्कारप्रबोधतः ॥ ३३० ॥
अदृष्टाभ्यासभूयस्त्वशक्तिपातादिहेतुकात् ।
तदेव रूपमभ्येति सुखिदुःखिविमूढकम् ॥ ३३१ ॥

यः पुनरयमेक एव एतदनन्तरं क्षणान्तरस्य अनुदयादसहायः, अत एव

पर इनकी ऊर्ध्वगति आदि के अनुरूप देहान्तर की सङ्गति कैसे होगी?—यह शङ्का कर कहते हैं—

शरीर में इन्द्रियों का संमोह श्वास बढ़ने से परिश्रम या थकान आदि मृत्यु का भोग है, शरीर का त्याग नहीं ॥ -३२७-३२८- ॥

यहाँ शरीर के रहने पर भी जो इन्द्रियसंमोह आदि (होता है) वह गौणरूप से शरीरत्याग शब्द का अर्थ माना जाता है । वस्तुतः वह मृत्युभोग कहा जाता है न कि साक्षात् शरीरत्याग क्योंकि उस समय भी यह (= शरीरमनः संयोग) स्पष्ट रूप से स्थित रहता है ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो देह का साक्षात् त्याग कब होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो यह अन्तिम प्राणतात्मक एक क्षण होता है जिसके बाद यह (शरीर) काष्ठ या मिट्टी के ढेले सदृश हो जाता है वह देहत्यागकाल के अंश की कला देहवियोगिनी होती है । इसलिये उस देह के कारण सुख दुःख आदि का त्याग होता है । उस (= कालांशकला) में अदृष्ट, अभ्यास की अधिकता, शक्तिपात आदि कारणों वाले पूर्वसंस्कार के प्रबोध के कारण (जीव) जो स्मरण करता है उसी सुखी दुःखी मूढरूप को प्राप्त करता है ॥ -३२८-३३१ ॥

जो यह एक ही—इसके बाद दूसरे क्षण का उदय न होने से असहाय,

चरमः, अत एव प्राणापानादिविभागस्य त्रुटितत्वात्प्राणनात्मकस्तावत्संकुचितसंवित्स्वभावः क्षणो यदानन्तर्येणैव च देहस्य काष्ठलोष्टादिप्रमेयान्तरसमानकक्ष्यत्वमभिलक्ष्यते, सा साक्षात् देहत्यजनशब्दवाच्या सर्वजनसंलक्षणीया कालांशस्यापि अंशरूपा कला तद्दार्ढ्यबन्धप्रच्यावात् देहवियोगिनी, अत एव तन्निबन्धनसुखादिकोज्झिता संकुचितसंविन्मात्ररूपा—इत्यर्थः । तस्यामेव च अन्त्यक्षणदशायां अदृष्टादिहेतुबलोपनतात् प्राक्संस्कारस्य प्रबोधात् यदेव सत्त्वादिप्रधानं किञ्चिद्देहान्तरासङ्गि स्मरति, तदेव अस्य प्रथमसंविदनुगृहीतं रूपं संपद्यते—इत्यर्थः ॥ ३३१ ॥

एवमेतदज्ञविषयमभिधाय स्वभ्यस्तास्वभ्यस्तज्ञानिविषयतयापि अभिधत्ते—

यद्वा निःसुखदुःखादि यदि वानन्दरूपकम् ।

निःसुखदुःखादीति—विश्वोत्तीर्णसंविद्रूपम्—इत्यर्थः । आनन्दरूपकमिति पूर्णपरब्रह्मात्मकम्—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहकं न च ।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥'

(स्प०का० १।५) इति ।

'आनन्दो ब्रह्मणो रूपम् ।' इति च ॥

इसीलिये चरम, इसीलिये प्राण अपान आदि विभाग के टूट जाने से प्राणनरूप संकुचित संवित्स्वभाव वाला क्षण जिसके बाद ही शरीर काष्ठ लोष्ट आदि दूसरे प्रमेयों की समानकक्ष्या वाला जाना जाता है वह साक्षात् देहत्याग शब्द का अर्थ है। सर्वजनवेद्य कालांश की भी अंशरूपा कला उस दृढ़ता के बन्ध को समाप्त करने से देहवियोगिनी, इसलिये उसके कारण उत्पन्न होने वाले सुख दुःख आदि से रहित संविन्मात्र रूपा है । उसी अन्त्यक्षण की दशा में अदृष्ट आदि कारणों के बल से प्राप्त, पूर्वसंस्कार के प्रबोध से (जीव) जिस सत्त्वादिप्रधान किसी देह आदि की सङ्गति का स्मरण करता है प्रथम संविदनुगृहीत उसी रूप को यह प्राप्त करता है ॥ ३३१ ॥

सामान्यजनविषयक इसका कथन कर आगे स्वभ्यस्त और अस्वभ्यस्त ज्ञानी के विषयरूप में भी इसे कहते हैं—

अथवा सुख दुःख से रहित या आनन्दरूप (स्थिति को प्राप्त करता है) ॥ ३३२- ॥

निःसुखदुःख आदि = विश्वोत्तीर्ण संविद्रूप । आनन्दरूपक = पूर्ण ब्रह्मात्मक रूप । जैसा कि कहा गया—

'जिस (स्थिति) में न दुःख है न सुख, न ग्राह्य है न ग्राहक और न मूढ़ भाव है वह पारमार्थिक रूप है ।' (स्प०का० १।५) और

ननु स्मरणमात्रादेव अस्य कस्मादेवंरूपत्वापत्तिः स्यात् ?—इत्याशङ्क्य प्रतिविधत्ते तदेवेत्यादिना—

कस्मादेति तदेवैष यतः स्मरति संविदि ॥ ३३२ ॥

इह अन्त्ये क्षणे हि अभ्यासभूयस्त्वादिना येनैव रूपेण अग्रे भवितव्यं तत्संस्कारस्यैव प्रबोधेन भाव्यम्, तद्वशात्तत्स्मरणं तत्स्मृत्या च तद्भावप्राप्तिरिति ॥ ३३२ ॥

ननु नित्याविलुप्तस्वरूपायाः संविदस्तावन्नास्ति प्रलीनत्वं तदधिष्ठेयत्वमेव देहत्वं तच्च नीलपीतादिभिरपि अविशिष्टं तत् कथमेवं देहस्यैव प्रलीनत्वमुच्यमानं सङ्गच्छतां येन स्मृत्यादिचिन्तापि स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

प्राक् प्रस्फुरेद्यदधिकं देहोऽसौ चिदधिष्ठितेः ।

इह यत् नीलाद्यपेक्षया प्रथमतरं चिदधिष्ठानवशात् सम्यगनधिकवृत्तित्वेऽपि दर्पणप्रतिबिंबवदधिकतया स्फुरति असौ देहः प्रमातृदशामधिशयानस्तच्छब्दव्यपदेश्यः स्यात्—इत्यर्थः ॥

'आनन्द ब्रह्म का रूप है ॥'

प्रश्न—केवल स्मरण से ही इसको कैसे यह रूप प्राप्त हो जाता है?—यह शङ्का कर तदेव........... इत्यादि के द्वारा समाधान करते हैं—

कैसे (उस रूपता को) प्राप्त करता है? इसलिये कि यह उसी का संविद् में स्मरण करता है ॥ -३३२ ॥

अन्तिम क्षण में अभ्यास की अधिकता आदि के कारण जिस रूप से आगे (जन्म) होना है उसी संस्कार का प्रबोध होता है उसके कारण उस (= रूप) का स्मरण होता है और उस स्मृति से उस भाव की प्राप्ति होती है ॥ ३३२ ॥

प्रश्न—नित्य अविलुप्तस्वरूप वाली संविद् प्रलीन नहीं होती और देहत्व उससे अधिष्ठेय है और वह (देहत्व) नील पीत, आदि से भिन्न नहीं है फिर देह की ही प्रलीनता का कहना कैसे सङ्गत होगा जिससे स्मृति आदि की चिन्ता भी होगी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो यह शरीर पहले चिद् के अधिष्ठान के कारण अधिक स्फुरित होता है ॥ ३३३- ॥

जो, नील (= घट पट) आदि की अपेक्षा प्रथमतर चिदधिष्ठान के कारण सम्यक् अनधिकवृत्ति वाला होने पर भी दर्पणगत प्रतिबिम्ब के समान अधिक रूप से स्फुरित होता है, यह शरीर प्रमातृदशा को प्राप्त हुआ उस (= देह) शब्द से पुकारा जाता है ॥

ननु एतावता प्रलीनतार्थः कः?—इत्याशङ्क्य आह—

यदेव प्रागधिष्ठानं चिता तादात्म्यवृत्तितः ॥ ३३३ ॥
सैवात्र लीनता प्रोक्ता सत्त्वे रजसि तामसे ।

यदेव हि चिता प्रागस्याधिष्ठानं सैव अत्र सत्त्वादि अधिकृत्य लीनता प्रोक्ता, किं नाम असमञ्जसमस्याः—इत्यर्थः । ननु इह निखिलमेव भावजातं चिदधिष्ठानवशात्सत्तामुपेयात्, अन्यथा हि न किञ्चिदपि चेत्येत, अतश्चिदधिष्ठानत्वमेव चेत् प्रलीनत्वम्, को विशेषो जीवनमरणयोः?—इत्याशङ्क्य उक्तम्—तादात्म्यवृत्तित इति । इह देहादीनां संवित्तादात्म्यवृत्तित्वेऽपि तत्स्वातन्त्र्यादेव तदनात्मवृत्तितयेव आधिक्येन प्रस्फुरणं जीवनम्, अन्यथा तु प्रलीनत्वादिशब्दव्यपदेश्यं मरणम्—इति तात्पर्यार्थः ॥

ननु आस्तामेतत्, देहस्य पुनः चिता नीलाद्यपेक्षया प्रागधिष्ठानमित्यत्र किं निबन्धनम्?—इत्याशङ्क्य आह—

नीलपीतादिके ज्ञेये यतः प्राक्कल्पितां तनुम् ॥ ३३४ ॥
अधिष्ठायैव संवित्तिरधिष्ठानं करोत्यलम् ।

अत एव संविदधिष्ठेयत्वाविशेषेऽपि नीलादिभ्योऽस्ति देहस्य विशेषः—इत्याह—

प्रश्न—इससे प्रलीनतार्थ क्या है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

तादात्म्यवृत्ति के कारण चैतन्य के द्वारा जो पहले अधिष्ठान है वही यहाँ सत्त्व रजस् और तमस् में लीनता कही गयी है ॥ -३३३-३३४- ॥

जो चैतन्य के द्वारा पहले इसका अधिष्ठान है वही यहाँ सत्त्व आदि की दृष्टि से लीनता कही गयी है । इसमें इसका क्या असमञ्जस है । प्रश्न—समस्त पदार्थसमूह चिदधिष्ठान के कारण सत्ता को प्राप्त होता है अन्यथा कुछ भी चेतन नहीं होगा इसलिये यदि चिदधिष्ठान होना ही प्रलीनता है तो जीवन-मरण में क्या अन्तर है?—यह शङ्का कर कहा गया—तादात्म्यवृत्ति के कारण । देह आदि का संविद् के साथ तादात्म्य होने पर भी उसके स्वातन्त्र्य के ही कारण उसके अनात्मवृत्ति के रूप से अधिकाधिक स्फुरण जीवन है अन्यथा प्रलीनत्व आदि शब्द से व्यवहार्य मरण ॥

प्रश्न—इसे रहने दीजिये । (यह बताइये कि) नील आदि की अपेक्षा शरीर का चित् के द्वारा पहले अधिष्ठान होता है इसमें क्या कारण है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

क्योंकि संविल् पूर्वकल्पित शरीर में पूर्ण अधिष्ठित होकर ही नील पीत आदि ज्ञेय पदार्थों में अधिष्ठान करती है ॥ -३३४-३३५- ॥

अतोऽधिष्ठेयमात्रस्य शरीरत्वेऽपि कुड्यतः ॥ ३३५ ॥
देहस्यास्ति विशेषो यत्सर्वाधिष्ठेयपूर्वता ।

ननु एवमपि संविदधिष्ठेयत्वाविशेषात् नीलादीनामपि कथं न प्रलीनत्वं प्रोक्तम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

तादात्म्यवृत्तिरन्येषां तन्न सत्यपि वेद्यते ॥ ३३६ ॥
वेद्यानां किन्तु देहस्य नित्याव्यभिचरित्वतः ।

तत् तस्मात् देहस्य चिता प्रागधिष्ठेयत्वादेर्हेतोरन्येषां नीलादीनां वेद्यानां संभवन्ती अपि वेदयितृस्वभावायां संविदि तादात्म्यवृत्तिर्न अनुभूयते तेषामिदन्तया परामर्शात् । देहस्य पुनर्वेद्यत्वेऽपि सा सर्वकालमव्यभिचारिणी अहन्तापरामर्श-सहिष्णुतया प्रमातृरूपस्य अविच्युतेः ॥

एवंरूपतायां च अत्र किं निमित्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—

सा च तस्यैव देहस्य पूर्वमृत्यन्तजन्मना ॥ ३३७ ॥
स्मृत्या प्राच्यानुभवनकृतसंस्कारचित्रया ।

इसीलिये संविद् के द्वारा अधिष्ठानता के समान होने पर भी नील आदि से देह का वैशिष्ट्य रहता है—यह कहते हैं—

इसलिये (समस्त पदार्थों के) अधिष्ठेय शरीर वाला होने पर भी कुड्य की अपेक्षा शरीर विशिष्ट होता है क्योंकि वह अधिष्ठेयों में सबसे पहले है ॥ -३३५-३३६- ॥

प्रश्न—संविद् के द्वारा अधिष्ठेयता के समान होने पर भी नील आदि की प्रलीनता क्यों नहीं कही गयी?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस कारण अन्य वेद्यों की (संवित् के साथ) तादात्म्यवृत्ति रहते हुये ज्ञात नहीं होती किन्तु शरीर की (वह वृत्ति) नित्य अव्यभिचरित होने से (ज्ञात होती है) ॥ -३३६-३३७- ॥

उस = देह का चित् के द्वारा पहले अधिष्ठित होने के कारण, अन्यों की = नील आदि वेद्यों की, वेदयिता स्वभाव वाली संविद् सम्भव होने पर भी तादात्म्यवृत्ति का अनुभव नहीं होता क्योंकि उनका 'इदम्' के रूप में परामर्श होता है और वेद्य होने पर भी देह की वह (= तादात्म्यवृत्ति) सब समय अव्यभिचरित रूप से रहने वाली है क्योंकि अहन्तापरामर्शसहिष्णु होने के कारण (उसकी) प्रमातृरूपता बनी रहती है ॥

(उसकी) इस रूपता का क्या कारण है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

और यह पूर्वमृत्यु के अन्त में जन्म लेने वाली तथा पूर्वानुभवकृत

सेति—तादात्म्यवृत्तिः । तथात्वे हि पूर्वशरीरप्रायणान्त्ये क्षणे प्रागनुभवाहित-संस्कारसमुत्थं तस्य नित्याव्यभिचरितसंविद्रूपस्य देहस्यैव स्मरणं निमित्तम् । येनैव हि वस्तुना सदा भावितान्तःकरणः, तदेव मरणसमये स्मरति, तद्भावमेव च प्राप्नोतीति । अत एव

'................तदेवैष यतः स्मरति संविदि ।' (३३२)

इति अनन्तरमेव उक्तम् ॥

अत एव अस्मद्गुरुभिरपि युक्तमेवोक्तम्—इत्याह—

युक्त्यानयास्मत्सन्तानगुरुणा कल्लटेन यत्॥ ३३८ ॥
देहाविशेषे प्राणाख्यदार्ढ्यं हेतुरुदीरितम् ।
तद्युक्तमन्यथा प्राणदार्ढ्ये को हेतुरेकतः ॥ ३३९ ॥
देहत्वस्याविशेषेऽपीत्येष प्रश्नो न शाम्यति ।

यन्नाम श्रीमत्कल्लटपादैः

'देहनीलादीनां सर्वशरीरग्रहणम् ।'

इत्याद्युक्त्या शरीरत्वाविशेषेऽपि देह एव तथात्वनिबन्धनम्

संस्कार के कारण विचित्र उसी शरीर की स्मृति के कारण होता है ॥ -३३७-३३८- ॥

वह = तादात्म्यवृत्ति । वैसा होने में पूर्वशरीर की मृत्यु के अन्त्यक्षण में पूर्वानुभव से प्राप्त संस्कार से उत्पन्न उस नित्य अव्यभिचरित संविद्रूप शरीर का स्मरण ही निमित्त है । जिस वस्तु के द्वारा (मनुष्य) सदा भावितअन्तःकरण वाला होता है उसी का मृत्यु के समय स्मरण करता है और उसी भाव को प्राप्त होता है । इसीलिये—

'.........तदेवैष.........'

यह अभी पहले कहा गया ॥

इसीलिये हमारे गुरु ने भी ठीक ही कहा है—यह कहते हैं—

इस युक्ति से हमारे (विद्या)-सन्तानगुरु कल्लट ने जो कहा कि—देह के अविशेष (= समान) में प्राणनामक दृढ़ता कारण है—वह (कथन) ठीक है अन्यथा देहरूपता के समान होने पर भी एकत्र प्राणदृढ़ता में क्या कारण है ?—यह प्रश्न खड़ा ही रहता है ॥ -३३८-३४०- ॥

जो श्रीकल्लटपाद ने—

'देह नील आदि कथन के द्वारा सब शरीर का ग्रहण समझना चाहिये ।'

'प्राणाख्यनिमित्तदार्ढ्यम् ।'

इत्याद्युक्त्या प्राणदार्ढ्यं निमित्तमुक्तं तदनया समनन्तरोक्त्या

'प्राक्संवित्प्राणे परिणता ।'

इत्यादिसूत्रितया सर्वाधिष्ठेयपूर्वत्वादिलक्षणया युक्त्या न्याय्यम् । अन्यथा हि अविशेषेऽपि एकत्र प्राणदार्ढ्ये को हेतुरित्येष दुरुद्धर एव प्रश्नः स्यात् ॥

ननु अस्तु अन्त्ये क्षणे स्मरणं भाविदेहहेतुत्वं तु तस्य कुतोऽवगतम्?—इत्याशङ्क्य आह—

स्मरन्निति शता हेतौ तद्रूपं प्रतिपद्यते ॥ ३४० ॥

ननु यदि यदेव स्मर्यते तदेव प्राप्यते, तर्हि तत्क्षणभावि नीलादिस्मरणमपि तथात्वनिबन्धनं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

प्राक् स्मर्यते यतो देहः प्राक्चिताधिष्ठितः स्फुरन् ।

तद्देहाख्यमेव प्राग्भाविरूपमसौ प्राप्नोति यदन्त्यक्षणे देह एव प्राक् नीलादिभ्यः

इत्यादि उक्ति के द्वारा देहत्व के समान होने पर भी देह ही वैसा होने का कारण है—

'प्राणाख्यनिमित्तदार्ढ्यम्'

इत्यादि उक्ति के द्वारा प्राण की दृढ़ता को कारण बतलाया गया वह इस = समनन्तारोक्त—

'पहले-पहल संवित् प्राण के रूप में परिणत हुई ।'

इत्यादि सूत्र वाली सर्वाधिष्ठेयपूर्वत्व आदि लक्षण वाली युक्ति से न्याय्य है । अन्यथा समान होने पर भी एकत्र प्राण की दृढ़ता में क्या कारण है—यह प्रश्न दुरुद्धर हो जायगा ॥

प्रश्न—अन्तिम क्षण में स्मरण होवे किन्तु वह भावी देह का कारण होता है—यह कैसे जाना गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

'स्मरन्' यह शतृ प्रत्यय हेतु अर्थ में है ॥ -३४० ॥

प्रश्न—यदि 'जिसका स्मरण होता है वही प्राप्त होता है' तो उस क्षण में होने वाला नील आदि का स्मरण भी उसके होने (= नील आदि के रूप में जन्म) का कारण होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चूँकि शरीर ही चैतन्य के द्वारा (नील आदि की अपेक्षा) पहले अधिष्ठित होता है इसलिये (वही) स्फुरित होता हुआ स्मृति का विषय बनता है ॥ ३४१- ॥

पूर्वचिता अधिष्ठितः, अत एव स्फुरन् स्मर्यते = स्मृतिविषयतामुपेयात— इत्यर्थः ॥

ननु तदा एवंविधस्य स्मरणस्य सद्भावे किं प्रमाणम्?—इत्याशङ्क्य आह—

अतः स्मरणमन्त्यं यत्तदसर्वज्ञमातृषु ॥ ३४१ ॥
न जातु गोचरो यस्माद्देहान्तरविनिश्चयः ।

अतो देहवियोगावस्थावस्थानात् देहान्तरासङ्गि यदेवंविधं स्मरणम्, तदसर्वज्ञ-मातृषु न गोचरो देहसंबन्धघटनेन अस्य प्रतिपादनवैफल्यादर्वाग्दृशः परे तत्कथमवबुद्ध्यन्ताम्—इत्यर्थः ।

ननु किमिदमनुभवविरुद्धमभिधानं यदन्त्येऽपि क्षणे बन्धुप्रभृतेः शिशिरोदक-पानादेर्वा दृश्यत एव स्मरणमिति ?—इत्याशङ्क्य आह—

यत्तु बन्धुप्रियापुत्रपानादिस्मरणं स्फुटम् ॥ ३४२ ॥
न तद्देहान्तरासङ्गि न तदन्त्यं यतो भवेत् ।

न तदन्त्यमिति अपितु उपान्त्यक्षणवर्ती मृतिभोगोऽयम्—इति भावः ॥

देह नामक प्राग्भावी रूप को यह इसलिये प्राप्त करता है क्योंकि देह ही नील आदि के पहले पूर्वचैतन्य के द्वारा अधिष्ठित हुआ । इसीलिये स्फुरित होता हुआ स्मृत होता है = स्मरण का विषय बनता है ॥

प्रश्न—उस समय इस प्रकार का स्मरण होने में क्या प्रमाण है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यह स्मरण इसलिये अन्तिम होता है क्योंकि वह असर्वज्ञ प्रमाताओं का कभी भी विषय नहीं बनता जिससे देहान्तर का निश्चय हो सके ॥ -३४१-३४२- ॥

अतः = देहवियोगावस्था के होने से, देहान्तर से सम्बद्ध जो इस प्रकार का स्मरण, वह असर्वज्ञ प्रमाताओं में विषय नहीं बनता देह से सम्बद्ध होने पर इसका प्रतिपादन व्यर्थ होने से दूसरे स्थूलबुद्धि वाले उसे कैसे जाने ॥

प्रश्न—यह अनुभवविरुद्ध कथन कैसे (हो रहा है) क्योंकि अन्तिम भी क्षण में भाई बन्धु आदि का या शीतल जलपान आदि का स्मरण देखा ही जाता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो कि बन्धु, प्रिया, पुत्र, पान आदि का स्मरण है चूँकि स्फुट रूप से वह देहान्तरासङ्गी नहीं है इसलिये वह अन्तिम नहीं होता है ॥ -३४२-३४३- ॥

वह अन्त्य नहीं है बल्कि उपान्त्य क्षणवर्त्ती मृत्यु का भोग है यह ॥

ननु स्मरणमिव अनुभवोऽपि भाविदेहान्तरासङ्गे निमित्ततां यायात्; तथाहि—कश्चिन्मुनिः स्वसुतनिर्विशेषतया वर्धितं विपन्नजननीकमाश्रममृगपोतकं शवरशराघातविगतजीवितमवलोक्य महता दुःखेन तमेवानुशोचन् प्राणैर्विमुक्तो मृगीभावमभ्युवाहेति पुराविदः, तत् स्मरणस्यैव कथमेवंभाव उक्तः ?—इत्याशङ्क्य आह—

कस्यापि तु शरीरान्ते वासना या प्रभोत्स्यते ॥ ३४३ ॥
देहसत्त्वे तदौचित्याज्जायेतानुभवः स्फुटः ।
यथा पुराणे कथितं मृगपोतकतृष्णया ॥ ३४४ ॥
मुनिः कोऽपि मृगीभावमभ्युवाहाधिवासितः ।

इह यस्य कस्यचन यैव अनेकजन्माभ्यस्ता वासना शरीरान्ते प्रभोत्स्यते = देहान्तरासङ्गनिमित्तं स्मरणरूपतया प्रबोधमेष्यति, तदनुगुणोऽस्य देहसद्भावेऽपि स्फुटोऽनुभवो भवेत्, यदभिप्रायेणैव विष्णुपुराणादौ मृगपोतकतृष्णया अधिवासितः कोऽपि मुनिर्मृगीभावमभ्युवाहेति आख्यानम् ॥

एतदेव विविनक्ति—

तत्र सोऽनुभवो हेतुर्न जन्मान्तरसूतये ॥ ३४५ ॥
तस्यैतद्वासना हेतुः काकतालीयवत् स तु ।

प्रश्न—स्मरण की भाँति अनुभव भी भावी देहान्तर की प्राप्ति में कारण बन जाय । जैसे कि कोई मुनि (= जडभरत) अपने पुत्र के समान वर्धित मृतमाता वाले आश्रम के मृग के बच्चे को शबरशर के आघात से निर्जीव देखकर अत्यधिक दुःख के कारण उसी को सोचते हुये प्राणों के त्यक्त होने पर मृगीभाव को प्राप्त हुये—ऐसा पुराणवेत्ता कहते हैं । तो स्मरण का ही ऐसा होना कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

किसी के भी शरीरान्त के समय जो वासना प्रबुद्ध होती है (दूसरी) देह होने पर उसके अनुसार स्पष्ट अनुभव होता है । जैसे कि पुराण में कहा गया—कोई मुनि मृगपोतक की तृष्णा से अधिवासित होकर मृगीभाव को प्राप्त किये ॥ -३४३-३४५- ॥

जिस किसी की अनेक जन्मों में अभ्यस्त जो वासना शरीरान्त में प्रबुद्ध होती है = देहान्तर की प्राप्ति के कारणभूत स्मरण के रूप में प्रबोध को प्राप्त होती है, देह के रहने पर भी उसके अनुरूप स्फुट अनुभव होता है । इसी अभिप्राय से विष्णुपुराण आदि में—मृगपोतक की तृष्णा से अधिवासित कोई मुनि मृगीभाव को प्राप्त हुआ—यह आख्यान (वर्णित) है ॥

इसी की व्याख्या करते हैं—

वहाँ जन्मान्तर की प्राप्ति के लिये वह अनुभव कारण नहीं है बल्कि

तस्येति जन्मान्तरस्य । एतद्वासनेति—शरीरान्ते प्रभोत्स्यमाना । स—इत्यनुभवः ॥

ननु यदि मृगीभावस्मरणमेव तद्देहासङ्गे निमित्तं तदवश्यं तत्पूर्वकत्वात् स्मरणस्य अनुभवोऽपि जन्मान्तरसूतये हेतुर्वाच्यः, अनुभवाहितविषयनियन्त्रणाविरहे हि यत्किञ्चन स्मर्येत नियमस्तु कुतस्त्यः ?—इत्याशङ्कते—

ननु कस्मात्तदेवैष स्मरति इत्याह-यत्सदा ॥ ३४६ ॥

अनुभवं विनापि भावनाद्वारं स्मृतेर्विषयनियमं दर्शयितुमाह—

तद्भावभावितस्तेन तदेवैष स्मरत्यलम् ।

यत् यस्मादेष सदा तद्भावभावितः, ततस्तदेव पर्याप्तं स्मरति—इति भगवानाह, कथितवान्—इत्यर्थः ॥

ननु तद्भावभावनमपि अनुभव एव अभिहितो भवेत् ?—इत्याशङ्क्य आह—

उसकी यह वासना कारण है वह (= अनुभव) तो काकतालीयवत्[1] (कारण बनता) है ॥ -३४५-३४६- ॥

उसका = जन्मान्तरं का । यह वासना = शरीरान्त में उद्बुद्ध होने वाली । वह = अनुभव ॥

प्रश्न—यदि मृगीभाव का स्मरण ही उस (= मृग)-देह की प्राप्ति में कारण है तो स्मरण के उस (= अनुभव)-पूर्वक होने से अनुभव भी जन्मान्तर की प्राप्ति में कारण कहा जाना चाहिये । अनुभव से प्राप्त स्मरण के नियम के अभाव में (स्मर्त्ता) जिस किसी का स्मरण करेगा । फिर अनुभूत का ही स्मरण होता है यह नियम ही क्यों है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रश्न है कि यह उसी का स्मरण क्यों करता है ?॥ -३४६ ॥

अनुभव के बिना भी भावना के माध्यम से स्मृति के विषयनियम को दिखलाने के लिये कहते हैं—

जिस कारण (जीव) सदा उस भाव से भावित रहता है इस कारण उसी का प्रचुर मात्रा में स्मरण करता है ॥ ३४७- ॥

यत् = जिस कारण, यह सदा उस भाव से भावित होता रहता है इसलिये उसी का पर्याप्त स्मरण करता है—ऐसा भगवान् कहते हैं ॥ ३४६- ॥

प्रश्न—तद्भावभावना भी अनुभव ही कही जाय?—यह शङ्का कर कहते हैं—

---

१. काक उड़ता हुआ जा रहा था ज्यों ही वह ताल के पेड़ के नीचे से गुजर रहा था एक ताल फल उसके ऊपर गिरा और वह काक मृत्यु को प्राप्त हो गया ।

एवमस्मि भविष्यामीत्येष तद्भाव उच्यते ॥ ३४७ ॥

ननु भविष्यद्विषयैव वासना भवेदिति कुतस्त्योऽयं नियमः?—इत्याशङ्क्य आह—

भविष्यतो हि भवनं भाव्यते न सतः क्वचित् ।

न सत इति—भूतस्य हि अनुभवनमेव भवेत्, न भावनम्—इति भावः ॥

तदेव व्यनक्ति—

क्रमात्स्फुटत्वकरणं भावनं परिकीर्त्यते ॥ ३४८ ॥
स्फुटस्य चानुभवनं न भावनमिदं स्फुटम् ।

ननु गाढमूढतया क्षणमपि भावनावकाशो येषां नास्ति तेषामन्त्यस्मरणाभावात् कथङ्कारं देहान्तरासङ्गः स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

तदहर्जातबालस्य पशोः कीटस्य वा तरोः ॥ ३४९ ॥
मूढत्वेऽपि तदानीं प्राग्भावना ह्यभवत्स्फुटा ।
सा तन्मूढशरीरान्ते संस्कारप्रतिबोधनात् ॥ ३५० ॥
स्मृतिद्वारेण तद्देहवैचित्र्यफलदायिनी ।

'ऐसा हूँ' 'ऐसा होऊँगा'—यह तद्भाव कहा जाता है ॥ -३४७ ॥

वासना भविष्यद्विषया ही होती है—यह नियम क्यों है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

भविष्य का ही होना भावित होता है सत् (= वर्त्तमान) का कहीं नहीं ॥ ३४८- ॥

सत् का नहीं । भूत का अनुभवन ही होता है भावन नहीं ॥

उसी को व्यक्त करते हैं—

क्रमशः स्फुटता का किया जाना भावन कहा जाता है और स्फुट का अनुभव करना यह स्पष्ट रूप से भावन नहीं है ॥ -३४८-३४९- ॥

प्रश्न—गाढ मूढ होने के कारण जिनको एक क्षण के लिये भी भावना का अवकाश नहीं है उनको अन्त्य स्मरण का अभाव होने से देहान्तर की प्राप्ति कैसे होगी?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उसी दिन उत्पन्न बालक पशु कीट अथवा वृक्ष के उस समय मूढ होने पर भी पूर्व भावना स्फुट होती है इसलिये मूढ शरीरान्त में संस्कार के उद्बुद्ध होने के कारण वह (भावना) स्मृति के द्वारा तत्तद् देहवैचित्र्य रूपी फल को देती है ॥ -३४९-३५१- ॥

तदहर्जातबालादीनां हि तदानीं मूढत्वेऽपि प्राग्जन्मनि सतताभ्यस्ततया स्फुटा भावना नूनमभवत्, अतस्तस्य प्रक्रान्तस्य मूढशरीरस्य अन्ते संस्कारप्रबोधोन्मिषितस्मरणद्वारेण सा भावना यथोचितदेहवैचित्र्यफलदायिनी भवेत्—इति वाक्यार्थः ॥

नन्वत्र कथङ्कारं शरीरान्तरावस्थितत्वात् दूरव्यवहिता वासना प्रबोधमियात् येन तदुत्थायाः स्मृतेरपि तद्देहवैचित्र्यफलदायित्वं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

देशादिव्यवधानेऽपि वासनानामुदीरितात् ॥ ३५१ ॥
आनन्तर्यैकरूपत्वात्स्मृतिसंस्कारयोरतः ।
तथानुभवनारूढ्या स्फुटस्यापि तु भाविता ॥ ३५२ ॥
भाव्यमाना न किं सूते तत्सन्तानसदृग्वपुः ।

इह देशकालव्यवधानेऽपि वासनानां

'देशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यम् ।' (यो० सू० ४।९)

इत्यादिना उदीरितादानन्तर्यैकरूपत्वादवश्यं प्रबोधेन भाव्यम्, तद्वशाच्च स्मरणेनेति स्मृतिसंस्कारयोस्तत्तद्देहवैचित्र्यफलदायित्वं युक्तमेवोक्तम् । एवं तथानुभवेऽपि भावनैव प्रधानम्—इत्याह—अत इत्यादि । अतः = एवमुक्ता-

---

उस दिन उत्पन्न बालक आदि के उस समय मूढ होने पर भी पूर्व जन्म में निरन्तर अभ्यस्त होने से स्फुट भावना होती है इसलिये उस = प्रकरणप्राप्त मूढ शरीर के अन्त में संस्कारप्रबोध से उत्पन्न स्मरण के द्वारो वह भावना यथोचित देहवैचित्र्य रूपी फल को देती है—यह वाक्यार्थ है ॥

प्रश्न—शरीरान्तर में स्थित होने के कारण दूर एवं व्यवहित वासना इसमें कैसे प्रबुद्ध होती है जिस कारण उससे उत्पन्न स्मृति भी उस देहवैचित्र्य रूप फल को टेने वाली होती है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

देश आदि का व्यवधान होने पर भी वासनाओं के पूर्वोक्त आनन्तर्यैकरूप होने से (प्रबोध होता ही है) । इस कारण स्मृति और संस्कार (तत्तद् देहवैचित्र्य फल देते हैं) । इस कारण उस प्रकार के अनुभव के दृढ होने से स्फुट (वस्तु) की भी भाव्यमान (भावना) भावित होती हुयी क्या उस सन्तान के योग्य शरीर को उत्पन्न नहीं करेगी? ॥ -३५१-३५३- ॥

देश काल का व्यवधान होने पर भी वासनाओं के—

'देश काल से व्यवहित भी (वासनाओं) का आनन्तर्य (होता) है ।'

इत्यादि के द्वारा पूर्वोक्त आनन्तर्यैकरूपता होने से प्रबोध अवश्य होता है । और उसके कारण स्मरण (होता है) । इस प्रकार स्मृति और संस्कार का तत्तद् देहवैचित्र्यफलदायी होना ठीक ही कहा गया है । उस प्रकार के अनुभव में भी

द्भावनानुभवयोर्विभागात् हेतोः, तथा भावनोचितेन रूपेण अनुभवस्य दार्ढ्येन प्ररोहात्, स्फुटस्यापि वस्तुनो भविष्यत्ता पुनर्भाव्यमानैव भवेत् न अनुभूयमाना, भूतविषयत्वादनुभवस्य । सा च एवंविधा भाव्यमाना भविष्यत्ता स्वसन्तानानुगुणमेव देहान्तरं किं न सूते, नात्र काचिद्विप्रतिपत्तिः—इत्यर्थः ॥

ननु यदि नाम अस्य भावनामात्रोपनत एव देहान्तरोदयः, तत् किं नाम शोकादिवत् भावयित्रेकगोचर एव असौ स्यात्, उत सर्वजनसंवेद्योऽपि?— इत्याशङ्क्य आह—

तत्तादृक्तादृशैर्बन्धुपुत्रमित्रादिभिः सह ॥ ३५३ ॥
भासतेऽपि परे लोके स्वप्नवद्वासनाक्रमात् ।

तत्तादृक् भावनोचितं तद्वपुर्वासनाक्रमात् स्वप्नवत् जन्मान्तरे तादृशैः प्राप्त-तद्रूपानुगुणैरेव बन्ध्वादिभिः सहापि भासते = सर्वजनसंवेद्यं स्यात्—इत्यर्थः ॥

ननु विषमोऽयं दृष्टान्तः, स्वप्नेऽपि भासमाना अपि बन्ध्वादयस्तद्वृत्तान्तान-भिज्ञा एव—इत्याह—

ननु मात्रन्तरैर्बन्धुपुत्राद्यैस्तत्तथा न किम् ॥ ३५४ ॥
वेद्यते........

भावना ही प्रधान है—यह कहते हैं—अतः......... । अतः = इस प्रकार उक्त भावना एवं अनुभव के विभाग के कारण, तथा भावनोचित रूप से अनुभव का दृढ़ प्रगेह होने से, स्फुट भी वस्तु की भविष्यत्ता पुनः भाव्यमान ही होती है न कि अनुभूयमान क्योंकि अनुभव भूतवस्तुविषयक होता है । और वह भाव्यमान भविष्यत्ता अपने सन्तान के अनुरूप देहान्तर को क्यों नहीं उत्पन्न करेगी । अर्थात् इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥

प्रश्न—यदि इसका देहान्तरोदय भावनामात्र से ही प्राप्त होता है तो क्या जैसे शोक आदि उसी प्रकार यह केवल भावयिता को प्रतीत होता है या सर्वजनसंवेद्य भी होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस प्रकार (की भावना के योग्य) वह (शरीर) पुत्र मित्र आदि के साथ वासना के क्रम से स्वप्न के समान परलोक में भी भासित होता है ॥ -३५३-३५४- ॥

तो उस प्रकार की भावना के योग्य वह = शरीर, वासना के क्रम से स्वप्न के समान जन्मान्तर में उस प्रकार के = प्राप्त तदनुरूप भी बन्धु आदि के, साथ भी भासित होता है = सर्वजनसंवेद्य होता है ॥

प्रश्न—यह दृष्टान्त असमीचीन है, स्वप्न में भी भासमान बन्धु आदि उस वृत्तान्त से अनभिज्ञ ही होते हैं—यह कहते हैं—

तदिति—स्वाप्नं वस्तु । तथेति—स्वप्नद्रष्टृवत्—इत्यर्थः । न किं वेद्यते इति—नैव ज्ञायते इति यावत् ॥

अत्र आह—

......क इदं प्राह स तावद्वेद वेद्यताम् ।

ननु क एवं वक्ति स स्वप्नद्रष्टा तावत् स्वाप्नस्य वस्तुनः सर्वजनवेद्यतां वेत्ति, ते तु विदन्तु मा वा विदन्निति ॥

ननु स्वप्ने देशकालादिव्यवहितत्वादसहिता एव बन्ध्वादय इति कथमसौ तद्वेद्यतामपि जानीयात् यद्वा भ्रान्तिमात्रमेतत् ।

ननु तत्र भासन्ते चेत् बन्ध्वादयः, कथमसन्निहिताः । नहि भातमभातं भवेत् । एवं हि जाग्रत्यपि तेषामसन्निधिरेव स्यात् । अथ तत्र व्यापारव्याहारादेर्दर्शनात्तत्सद्भावे बलवदनुमानं प्रमाणमस्तीति चेत्, इहापि तत्समानम्—इत्याह—

व्यापारव्याहृतिव्रातवेद्ये मात्रन्तरव्रजे ॥ ३५५ ॥
स्वप्ने नास्ति स इत्येषा वाक्प्रमाणविवर्जिता ।

प्रश्न है—बन्धु पुत्र आदि दूसरे प्रमाताओं के द्वारा वह उस प्रकार क्यों नहीं जाना जाता ? ॥ -३५४-३५५- ॥

वह = स्वाप्न वस्तु । उस प्रकार = स्वप्न द्रष्टा की भाँति । क्यों नहीं जाना जाता = नहीं ही जाना जाता ॥

इस विषय में कहते हैं—

कौन यह कहता है? वह तो वेद्यता को जानता है ॥ -३५५- ॥

प्रश्न है कि ऐसा कौन कहता है? वह = स्वप्न देखने वाला तो स्वप्नवस्तु की सर्वजनवेद्यता को जानता है वे लोग जानें या न जानें ॥

प्रश्न—स्वप्न में देश काल आदि से व्यवहित होने के कारण बन्धु आदि असंहत ही होते हैं फिर यह उनकी वेद्यता को भी जाने अथवा यह भ्रममात्र है ।

प्रश्न है कि यदि उसमें बन्धु आदि भासित होते हैं तो फिर असन्निहित कैसे हैं? जिसका भान होता है वह अभात नहीं होता? (उत्तर है) कि इस प्रकार तो जाग्रत् (अवस्था) में भी उनकी सन्निधि नहीं होगी । यदि यह कहें कि वहाँ व्यापार या पुकारने आदि के देखने से उसके (= सन्निधि के) होने से बलवत् अनुमान प्रमाण है ? तो यहाँ भी वह (= अनुमान प्रमाण) समान है—यह कहते हैं—

अन्य प्रमाताओं के व्यापारव्याहारसमूह से वेद्य होने पर 'स्वप्न में वह नही है'—यह कथन अप्रामाणिक है ॥ -३५५-३५६- ॥

स इति—मात्रन्तरव्रजः । प्रमाणाविवर्जितेति—नहि तत्र तदसद्भावावेदकं किञ्चित्प्रमाणमस्ति—इत्याशयः । भ्रान्तित्वेऽपि स्वप्नस्य जाग्रदविशेष एव । जाग्रदपि भ्रान्तिरेवेत्यत्र सर्वे कृतश्रमा इत्यलम् ॥

ननु एवमपि जाग्रत्स्वप्नयोर्दार्ढ्यादार्ढ्याभ्यां सत्यत्वमसत्यत्वं च सर्वत्र प्रसिद्धं कथमपह्नोतुं शक्यम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

य एवैते तु दृश्यन्ते जाग्रत्येते मयेक्षिताः ॥ ३५६ ॥
स्वप्न इत्यस्तु मिथ्यैतत्तत्प्रमातृवचोबलात्।

इत्येतदिति—एकत्वेन अभिमननम्—इत्यर्थः ।

तत्प्रमातृवचोबलादिति—ते हि जाग्रत्प्रमातारो मत्समक्षं ह्यः स्वप्ने भवद्भिः किं दृष्टमिति पृष्टा नेत्येव परं ब्रूयुरिति ॥

ननु स्वप्ने तावत् बन्ध्वादयः केचित्, नहि अस्य ते द्वये सम्भवन्ति ?—इत्याशङ्क्य आह—

यानपश्यमहं स्वप्ने प्रमातॄंस्ते न केचन ॥ ३५७ ॥

वह = अन्य प्रमाताओं का समूह । प्रमाणरहित—उसमें उसके असद्भाव को बतलाने वाला कोई प्रमाण नहीं है—यह आशय है । स्वप्न के भ्रान्ति होने पर भी जाग्रत से समानता है ही । जाग्रत अवस्था भी भ्रान्ति ही है—इस विषय में सब लोगों ने परिश्रम कर लिया है ॥

प्रश्न—फिर भी जाग्रत् एवं स्वप्न की दृढ़ता एवं अदृढ़ता से उन दोनों का सर्वत्र प्रसिद्ध सत्यत्व और असत्यत्व कैसे छिपाया जा सकता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो ये लोग जाग्रत् अवस्था में देखे जा रहे हैं वे लोग स्वप्न में भी मेरे द्वारा देखे गये उन प्रमाताओं के वचन के आधार पर यह मनन मिथ्या हो ॥ -३५६-३५७- ॥

यह = **एकत्वेन अभिमनन** ।

उन प्रमाताओं के वचन के आधार पर—वे जाग्रत् प्रमाता लोग—'मेरे सामने कल आप लोगों ने क्या देखा'—ऐसा पूछे जाने पर 'नहीं' ऐसा दूसरे लोगों के प्रति कहते हैं ॥

प्रश्न—स्वप्न में कोई बन्धु आदि होते हैं इस (= स्वप्नद्रष्टा) के लिये वे सब दोनों (जाग्रत् एवं स्वप्न) में सम्भव नहीं है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

मैंने जिन प्रमाताओं को स्वप्न में देखा वे कोई नहीं है वे न मुझे

न शोचन्ति न चेक्षन्ते मामित्यत्रास्ति का प्रमा ।

ये हि बन्ध्वादयः प्रमातारः स्वप्ने दृश्यन्ते ते न केचनेत्यत्र का प्रमा तदसद्भावावेदकं किञ्चित्प्रमाणं नास्ति—इत्यर्थः, प्रत्युत तत्सत्तावेदकमनुमानमत्रोक्तम् ते च न मां शोचन्ति नेक्षन्ते चेत्यनेनार्थक्रियाकारिणोऽपि—इत्यावेदितम् ॥

ननु अनुमानं प्रमाणम्, तच्च प्रमेयोपसर्जनम्, प्रमेयं च अत्र प्रमात्रन्तरलक्षणं नास्त्येवेति किमालम्बनं तदुदियात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

यतः सर्वानुमानानां स्वसंवेदननिष्ठितौ ॥ ३५८ ॥
प्रमात्रन्तरसद्भावः संविन्निष्ठो न तद्गतः ।

इह यतः

'संविन्निष्ठा हि विषयव्यवस्थितिः ।'

इत्यादिनीत्या सर्वानुमानानामर्थातिशयाधानाभावात् प्रमातर्येव फलवत्त्वात् तत्संविदुपारोहेणैव विश्रान्तिरिति प्रमीयमाणानां प्रमात्रन्तराणां सद्भावोऽपि अत्र तन्निष्ठ एव, न तु अनुमेयस्वरूपनिष्ठ इति किं तत्सत्त्वासत्त्वान्वेषणेन । एतच्च अन्यत्र अन्यैर्बहुशो वितानितमिति किमिह अप्राकरणिकप्रायेण अनेनेति

सोचते न देखते हैं इसमें क्या प्रमाण है ॥ -३५७-३५८- ॥

जो बन्धु आदि प्रमाता लोग स्वप्न में दिखलायी पड़ते हैं वे कोई नहीं है—इस विषय में क्या प्रमाण है?—अर्थात् उनकी असत्ता को बतलाने वाला कोई प्रमाण नहीं है । बल्कि उसकी सत्ता का आवेदक अनुमान यहाँ कहा गया—'वे मुझे नहीं सोचते और न देखते हैं' इससे 'ये अर्थक्रियाकारी भी है'—यह भी कहा गया ॥

प्रश्न—यहाँ अनुमान प्रमाण है और वह प्रमेय के आधार पर होता है यहाँ पर प्रमात्रन्तररूप (= प्रमाता से भिन्न) प्रमेय है नहीं फिर किस आधार पर वह (अनुमान) उत्पन्न होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

क्योंकि सब अनुमानों के स्वसंविद् में रहने पर प्रमात्रन्तरसद्भाव (भी) संविद् में ही रहता है उस (= प्रमेय) में नहीं ॥ -३५८-३५९- ॥

क्योंकि

'विषय की व्यवस्था संविद्निष्ठ (= संविद् में रहने वाली) होती है ।'

इत्यादि नीति के अनुसार समस्त अनुमानों का अर्थातिशयाधान न होने से प्रमाता में ही फलवान् होने के कारण उस संविद् के उपारोह से ही विश्रान्ति हो जाती है, इस कारण प्रमीयमाण दूसरे प्रमाताओं का अस्तित्व भी तन्निष्ठ (= संविद्गत) ही होता है न कि अनुमेयस्वरूपनिष्ठ । फिर उसके सत्त्व या असत्त्व

आस्ताम् ॥

न केवलमानुमानिक्येव प्रतीतिरेवम्, यावत् प्रात्यक्षी अपि—इत्याह—

घटादेरस्तिता संविन्निष्ठिता न तु तद्गता ॥ ३५९ ॥
तद्वन्मात्रन्तरेऽप्येषा संविन्निष्ठा न तद्गता ।

एतदनुमेयेऽपि अर्थे योजयति—तद्वदित्यादिना । एषेति—अस्तिता ॥

यथाव्याख्यातमेव प्रशमयति—

तेन स्थितमिदं यद्यद्भाव्यते तत्तदेव हि ॥ ३६० ॥
देहान्ते बुध्यते नो चेत् स्यादन्यादृक्प्रबोधनम् ।

अन्यादृगिति—अनियतमेव—इत्यर्थः ॥

भावनापेक्षामेव उपोद्बलयति—

तथाह्यन्त्यक्षणे ब्रह्मविद्याकर्णनसंस्कृतः ॥ ३६१ ॥
मुच्यते जन्तुरित्युक्तं प्राक्संस्कारबलत्वतः ।

असद्विषयायां सदातनायां भावनायां असद्गतिरेव भवति, तदपहस्तनाय सद्विषयायां च भावनायां अबलवत्यामपि बलवत्त्वापादनार्थम्

के अन्वेषण से क्या लाभ? इसे अन्य लोगों ने अन्यत्र बहुत विस्तृत किया है फिर यहाँ इस अप्राकरणिकप्राय (विवरण) से क्या लाभ? बस कीजिये ॥

यह प्रतीति केवल आनुमानिकी नहीं है बल्कि प्रात्यक्षी भी है—यह कहते हैं—

(जिस प्रकार) घटादि का अस्तित्व संविद्निष्ठ है न कि उस (घट) में रहने वाला । उसी प्रकार प्रमात्रन्तर के विषय में भी यह (= अस्तित्व) संविन्निष्ट है न कि तद्गत (प्रमात्रन्तरगत) ॥ -३५९-३६०- ॥

इसको तद्वद् इत्यादि के द्वारा अनुमेय अर्थ भी में जोड़ते हैं—यह = अस्तिता ॥

इसलिये यह निश्चित हो गया कि जिस-जिस की भावना की जाती है देहान्त में उसी-उसी का प्रबोध होता है । नहीं तो अन्यादृक् (= अन्य प्रकार का) प्रबोधन होता ॥ -३६०-३६१- ॥

अन्यादृक् = अनिश्चित ॥

इस प्रकार देहान्तक्षण में ब्रह्मविद्या के श्रवण से संस्कृत जीव पूर्व-संस्कार के बल से मुक्त हो जाता है—यह कहा गया ॥ -३६१-३६२- ॥

सदातन असद्विषयक भावना करने पर असद्गति होती है उसको हटाने के

'अचिन्त्या मन्त्रशक्तिर्वै परमेशमुखोद्भवा ।'

इत्याद्युक्त्या महाप्रभावाणां ब्रह्मविद्यानामन्त्ये क्षणे संस्कारार्थं भगवता उपदेशः कृतो येन अस्य मुक्तिरेव स्यात् ॥

न च एतदशब्दार्थमेव उक्तम्—इत्याह—

निपाताभ्यामन्तशब्दात्स्मरणाच्छतुरन्त्यतः ॥ ३६२ ॥
पादाच्च निखिलादर्धश्लोकाच्च समनन्तरात् ।
लीन(य)शब्दाच्च सर्वं तदुक्तमर्थसतत्त्वकम् ॥ ३६३ ॥

तत्र 'वा'शब्दो वृक्षादीनां जन्मान्तरव्यवहितभावनोपक्षेपं द्योतयति, 'अपि'-शब्दश्च बलवत्त्वेऽप्यनुभवस्य अनवक्लृप्तिम् । अन्तशब्दादिति—'अन्त'शब्द उपान्त्यादिक्षणव्यावर्तनपरः । स्मरणादिति—प्रकृतिरूपात् । शतुरिति—प्रत्यय-रूपात् । अन्त्यतः पादादिति—

'........................सदा तद्भावभावितः ।' (८।६) इति ।

निखिलादिति—काकाक्षिवत् । अर्धश्लोकादिति—

लिये दुर्बल भी सद्विषयक भावना पर बल देने के लिये

'परमेश्वर के मुख से उत्पन्न मन्त्रों की शक्ति अचिन्त्य होती है ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार भगवान् ने महाप्रभावशाली ब्रह्मविद्याओं का उपदेश अन्त्य क्षण में संस्कार करने के लिये किया जिससे इस (= जीव) की मुक्ति हो जाती है ॥

यह (गीतोक्त श्लोक का) अशब्दार्थ (= शब्दों का अर्थ न लेकर) नहीं कहा गया—यह कहते हैं—

'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥'

इस श्लोक में दो निपातों (= 'वा' अपि), 'अन्त' शब्द, 'स्मृ' धातु 'शत्रन्तपाद (= स्मरन्), अन्तिमपाद पश्चाद्वर्त्ती आधे श्लोक एवं 'लीन(य)' शब्द से वह तात्त्विक अर्थ कहा गया है ॥ -३६२-३६३ ॥

इनमें 'वा' शब्द वृक्ष आदि की जन्मान्तर से व्यवहित भावनाओं का उपक्षेप और 'अपि' शब्द बलवान् होने पर भी अनुभव की अनवकल्पना बतलाता है । 'अन्त' शब्द से—यहाँ अन्त्य शब्द उपान्त्य आदि क्षण का निषेध करता है । स्मरण से—प्रकृति रूप (= 'स्मृ'धातु) । शतृ—प्रत्यय रूप से । अन्त्य से—'सदा उस भाव से भावित' इस पाद से । निखिल—

इसे काकाक्षिन्याय से (पादात् और अर्धश्लोकात् दोनों के साथ जोड़ना

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।' (८।७) इति ।

अनेन हि सदैव सद्विषया भावना कार्या—इत्युक्तम् । लीने(ये)ति—'प्रलीन' (य)शब्दगतात् । अनेन विभाव्यमानार्थैकतानत्वमुपोद्बलितम् ॥ ३६३ ॥

एतदर्थानभिज्ञैः पुनरेतदन्यथा व्याख्यायि—इत्याह—

अज्ञात्वैतत्तु सर्वेऽपि कुशकाशावलम्बिनः ।
यत्तदोर्व्यत्ययं केचित्केचिदन्यादृशं क्रमम् ॥ ३६४ ॥
भिन्नक्रमौ निपातौ च त्यजतीति च सप्तमीम् ।
व्याचक्षते तच्च सर्वं नोपयोग्युक्तयोजने ॥ ३६५ ॥

यत्तदोर्व्यत्ययमिति—यं यं भावमेति तं तं स्मरन्निति । अन्यादृशमिति—पाठत एव । भिन्नक्रमाविति—स्मरन्वापीति । सप्तमीति—अन्त्ये क्षणे कलेवरं त्यजति सतीति ॥ ३६५ ॥

ननु एवंविधं व्याख्यानमनूद्य, कस्मान्न दूषितम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

चाहिये)। अर्धश्लोक से—

इस कारण सब समय मेरा अनुस्मरण और युद्ध करो' ।

इस (श्लोकार्ध) के द्वारा सदैव सद्विषयक भावना करनी चाहिये—यह कहा गया । 'लीन(य)'—प्रलीन(य) शब्द वर्त्ती (लीन शब्द) से । इससे विभाव्यमान अर्थ की एकतानता कही गयी है ॥ ३६३ ॥

इस अर्थ को न जानने वालों ने इसकी अन्यथा व्याख्या की है—यह कहते हैं—

इसको न जानकर सब के सब कुशकाश का सहारा (लेकर नदी पार करने) वाले हैं । कोई 'यत्' और 'तत्' का व्यत्यय (= विपरीत क्रम), कोई अन्य प्रकार का क्रम, निपातों को भी भिन्नक्रम वाला, 'त्यजति' (लट् प्रथमा एक वचन) को सप्तम्यन्त ('त्यजत्' शब्द के सप्तमी एकवचन का रूप) कहते हैं । उक्त योजना में यह सब उपयोगी नहीं है ॥ ३६४-३६५ ॥

'यत्' 'तत्' का व्यत्यय = जिस-जिस भाव को प्राप्त करता है उस-उस का स्मरण करता हुआ । अन्य प्रकार का = पाठ से भिन्न प्रकार का । भिन्न क्रम वाले—स्मरन् वापि (यह क्रम) । सप्तमी—अन्त्य क्षण में शरीर छोड़ने पर ॥ ३६५ ॥

प्रश्न—इस प्रकार के व्याख्यान का अनुवाद कर दोषप्रदर्शन क्यों नहीं किया गया—यह शङ्का कर कहते हैं—

न च तद्दर्शितं मिथ्या स्वान्तसम्मोहदायकम् ।

ननु किमियता स्वोत्प्रेक्षितेन मृतिसतत्त्वपरीक्षणेन ?—इत्याशङ्क्य आह—

तदित्थंप्रायणस्यैतत्तत्त्वं श्रीशम्भुनाथतः ॥ ३६६ ॥
अधिगम्योदितं तेन मृत्योर्भीतिर्विनश्यति ।

ननु कथं मृतिसतत्त्ववचनमात्रेण तद्भीतिः शाम्येत् ?—इत्याशङ्क्य आह—

विदितमृतिसतत्त्वाः संविदम्भोनिधाना-
दचलहृदयवीर्याकर्षनिष्पीडनोत्थम् ।
अमृतमिति निगीर्णे कालकूटेऽत्र देवा
यदि पिबथ तदानीं निश्चितं वः शिवत्वम् ॥ ३६७ ॥

एवमियत्तया तुलितमरणसतत्त्वा देवा मायाध्वनि व्यवहरन्तः परिमिताः प्रमातारः, स्वभावभूतत्वात् नित्याव्यभिचारिणः पराहंपरामर्शात्मनो वीर्यस्य परधाराधिरोहितया आकर्षणेन यन्निष्पीडनम् = सारतया स्वीकारः, स्तद्वशेन संविदब्धेरुत्थितं यदमृतम् = परानन्दचमत्कारमयं पूर्णत्वम्, तद्बुद्ध्या कालस्तत्तत्कलनाकारी समनान्तः पाशप्रपञ्चः, स एव अख्यातिरूपतया सत्यविपर्य-

---

मिथ्या स्वान्तसम्मोह को उत्पन्न करने वाला यह (= दोष) नहीं दिखलाया गया ॥ ३६६- ॥

प्रश्न—इस स्वकल्पित मृत्युतत्त्व के परीक्षण से क्या लाभ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

तो इस प्रकार मृत्यु का यह तत्त्व श्री शम्भुनाथ से जानकर मेरे द्वारा कहा गया । इससे मृत्युभय नष्ट हो जाता है ॥ -३६६-३६७- ॥

प्रश्न—मृत्युतत्त्व के केवल कथनमात्र से उससे भय कैसे खत्म हो जाती है? यह शङ्का कर कहते हैं—

हे देवताओं ! (आप लोग) मृत्यु तत्त्व को जानकर संवित्समुद्र से अचल हृदयवीर्य के आकर्षण के द्वारा उत्पन्न अमृत को इस कालकूट का निगरण करने के पश्चात् यदि पीते हैं तो निश्चित शिव हो जायेंगे ॥ ३६७- ॥

इतने से मृत्यु तत्त्व को जानने वाले देवता लोग = मायाध्वा में व्यवहार करने वाले परिमितप्रमाता लोग । स्वभावभूत होने के कारण नित्यप्राप्त परअहंपरामर्श रूप वीर्य के परधाराधिरोही के रूप में आकर्षण के द्वारा जो निष्पीडन = साररूप में स्वीकृति, उसके कारण संवित्समुद्र से उत्पन्न जो अमृत = परानन्द चमत्कारमयी-पूर्णता, उसको जानने से काल = तत्तत् रचना करने वाला समनापर्यन्त

यात्मा कूटस्तस्मिन्निगीर्णे = स्वात्मसंवित्साक्षात्कारेण पूर्णख्यातिमयतामापादिते, यदि अत्रैव मुक्तात्मनि अमृते पिबथ = पानक्रियामारभध्वे, तत् नूनं तदानीमेव वः पूर्णसंविन्मयत्वं स्यात् किमनेन पुनः पुनरमृतपानेन—इत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम् —यदनवरतमेव संविदद्वैतमभ्यस्यतः प्रायणान्ते तदैकात्म्यापत्तिरेव स्यादिति को नाम महात्मनो मरणभयस्य अवकाश इति । अथ च मर्त्यभुवमवतीर्य वर्तमाना देवाः समुद्रान्मन्दरोदराकर्षणेन स्ववीर्यनिष्पीडनेन च उत्थितमिदममृतमेवेति सङ्कल्पेन कालकूटे भक्षिते यदि अमृतपानं कुरुध्वे, तन्निश्चितं तदानीं निगीर्ण-दुर्विषहविषेण शिवेनैव भगवता वस्तुल्यत्वं स्यादिति ॥ ३६७ ॥

एवं प्रसङ्गान्मरणस्वरूपमभिधाय, प्रकृतमेव आह—

उत्सवोऽपि हि यः कश्चिल्लौकिकः सोऽपि संमदम् ।
संविदब्धितरङ्गाभं सूते तदपि पर्ववत् ॥ ३६८ ॥
एतेन च विपद्ध्वंसप्रमोदादिषु पर्वता ।
व्याख्याता तेन तत्रापि विशेषाद्देवतार्चनम् ॥ ३६९ ॥
पुरक्षोभाद्यद्भुतं यत्तत्स्वातन्त्र्ये स्वसंविदः ।
दार्ढ्यदायीति तल्लाभदिने वैशेषिकार्चनम् ॥ ३७० ॥

पाशविस्तार, वही अख्याति रूप होने से सत्यविरोधी विष है । उसके निगीर्ण होने पर = स्वात्मसंवित् साक्षात्कार के द्वारा पूर्णख्यातिमयता को प्राप्त कराने पर, यदि इसी मुक्तात्मा में अमृत पीते हैं = पान क्रिया का प्रारम्भ करते हो तो निश्चित रूप से उस समय आप पूर्णसंविन्मय हो जायेंगे । फिर इस बार-बार अमृतपान से क्या लाभ ?—यह अर्थ है । यहाँ यह तात्पर्य है—कि अनवरत संविदद्वैत का अभ्यास करने वाले को मृत्यु के अन्त में संविदैकात्म्य की प्राप्ति हो ही जाती है फलतः ऐसे महात्मा को मृत्यु से भय के लिये अवकाश कहाँ । यदि मृत्युलोक में आकर वर्त्तमान देवता समुद्र से मन्दराचल के आकर्षण और अपने वीर्य के निष्पीडन से उत्पन्न यह अमृत ही है—इस सङ्कल्प के साथ कालकूट का भक्षण करने पर यदि अमृतपान करें तो निश्चित ही उस समय दुर्विषह विष का निगरण करने वाले भगवान् शिव के साथ आपकी तुल्यता होगी ॥ ३६७ ॥

प्रसङ्गात् मृत्यु का स्वरूप बतला कर प्रस्तुत को कहते हैं—

जो कोई लौकिक भी उत्सव संवित्समुद्र की तरङ्ग के समान संमद को उत्पन्न करता है वह भी पर्वतुल्य होता है । इससे विपत्तिनाश प्रमोद आदि भी पर्व कहे गये है इसलिये उस समय भी विशेष रूप से देवपूजन करना चाहिये । जो अद्भुत पुरक्षोभ (= पूरे नगर में सम्पद्यमान उत्सव) आदि है वह स्वसंविद् के स्वातन्त्र्य में दृढ़ता लाने वाला है । इसलिये उसकी प्राप्ति के दिन विशेष पूजा करनी चाहिये ॥ ३६८-३७० ॥

संमदं सूते इति—स्वात्मविश्रान्त्युत्पादात् । तदपीति—अपिशब्दस्य न केवलं मृतिदिनं पर्ववद्भवेत्, यावदिदमपि—इत्यर्थः । एतेनेति—संमदप्रसूतिलक्षणेन समानन्यायत्वेन हेतुना—इत्यर्थः । तल्लाभेति—तच्छब्देन संवित्स्वातन्त्र्य-परामर्शः ॥

इदानीं मृतिपरीक्षानन्तरोद्दिष्टं योगिनीमेलकादि निर्देष्टुमाह—

योगिनीमेलको द्वेधा हठतः प्रियतस्तथा ।
प्राच्ये च्छिद्राणि संरक्षेत्कामचारित्वमुत्तरे ॥ ३७१ ॥
स च द्वयोऽपि मन्त्रोद्धृत्प्रसङ्गे दर्शयिष्यते ।

प्राच्ये इति—हठमेलापे । उत्तरे इति—प्रियमेलापे । कामचारित्वं छिद्ररक्षणं वा न वेति, एतच्च हठप्रियशब्दाभ्यामेव गतार्थम् । द्वय इति—द्व्यवयवे—इत्यर्थः । मन्त्रोद्धृत्प्रसङ्गे इति—त्रिंशाह्निके ॥

ननु भवत्वेवम्, नैमित्तिकत्वं तु अस्य कुतस्त्यम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

योगिनीमेलकाच्चैषोऽवश्यं ज्ञानं प्रपद्यते ॥ ३७२ ॥
तेन तत्पर्व तद्वच्च स्वसन्तानादिमेलनम् ।

संमद को उत्पन्न करता है—स्वात्मविश्रान्ति के उत्पन्न होने से । तदपि—यहाँ 'अपि' शब्द का (तात्पर्य है कि) केवल मृत्युदिन ही नहीं बल्कि यह (दिन) भी पर्व होता है । इससे—संमदप्रसूतिलक्षण वाले समानन्यायतारूप हेतु के द्वारा । तल्लाभ—यहाँ 'तत्' शब्द से संवित्स्वातन्त्र्य समझना चाहिये ॥

अब मृत्युपरीक्षा के बाद उक्त योगिनीमेलक आदि का निर्देश करने के लिये कहते हैं—

योगिनीमेलक हठमेलक और प्रियमेलक भेद से दो प्रकार का होता है। पहले वाले में छिद्र की और दूसरे में कामचारित्व की रक्षा करनी चाहिये यह दोनों (भेद) मन्त्रोद्धार के वर्णन में दिखलाया जायेगा ॥ ३७१-३७२- ॥

पूर्व में = हठमेलाप में । उत्तर में = प्रियमेलाप में । कामचारित्व और छिद्ररक्षण हो या न हो—यह हठ-प्रिय शब्दों से ही गतार्थ हो जाता है । दोनों = दो अवयवों वाला । मन्त्रोद्धारप्रसङ्ग में = तीसवें आह्निक में ॥

प्रश्न—ऐसा हो किन्तु यह नैमित्तिक पर्व कैसे होता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

योगिनीमेलक के कारण यह (साधक) ज्ञान को अवश्य प्राप्त करता है इस कारण वह पर्व है । उसी प्रकार अपने सन्तान आदि का मेलन भी

तेनेति—अवश्यंभाविना ज्ञानलाभेन । तद्वदिति—योगिनीमेलकवत् ॥

ननु योगिनीमेलकादवश्यमेष ज्ञानमाप्नोतीति अवश्यतायां किं प्रमाणम्?—इत्याशङ्क्य आह—

संवित्सर्वात्मिका देहभेदाद्या सङ्कुचेत्तु सा॥ ३७३ ॥
मेलकेऽन्योन्यसङ्घट्टप्रतिबिम्बाद्विकस्वरा ।

इह सर्वात्मकत्वेऽपि या संविद्देहभेदात् सङ्कोचप्राप्ता, सा मेलके सति अन्योन्यस्य सङ्घट्टेन प्रतिबिम्बात्परस्परं प्रतिसंक्रमणेन विकस्वरा सङ्कोचापहस्तनेन पूर्णा भवति—इत्यर्थः ॥

ननु कथमेतावतैव अस्यां विकस्वरत्वं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

उच्छलन्निजरश्म्योघः संवित्सु प्रतिबिम्बितः ॥ ३७४ ॥
बहुदर्पणवद्दीप्तः सर्वायेताप्ययत्नतः ।

यस्य कस्यचन बहिः प्रसरन्निन्द्रियमरीचिपुञ्जः तास्वेव अनेकदर्पणप्रख्यासु

(पर्व) है ॥ -३७२-३७३- ॥

इस कारण = अवश्यभावी ज्ञानलाभ के कारण । तद्वत् = योगिनीमेलक की भाँति ॥

प्रश्न—यह योगिनीमेलक से अवश्य ज्ञान प्राप्त करता है—इस अवश्यता में क्या प्रमाण है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो सर्वात्मिका संवित् देहभेद के कारण संकुचित होती है वह मेलक होने पर परस्पर के सङ्घट्ट के प्रतिबिम्ब के कारण विकस्वर हो जाती है ॥ -३७३-३७४- ॥

सर्वात्मक होने पर भी जो संवित् देहभेद के कारण सङ्कोच को प्राप्त होती है वह मेलक के होने पर अन्योऽन्य के सङ्घट्ट से प्रतिबिम्ब के कारण = परस्पर प्रतिसंक्रमण के कारण, विकस्वरा = सङ्कोच के हट जाने से पूर्ण हो जाती है ॥

प्रश्न—इतने से ही उसमें विकस्वरता कैसे होती है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उच्छलित होता हुआ अपनी इन्द्रियरश्मियों का समूह संवित् में प्रतिबिम्बित होता हुआ बहुदर्पण के समान दीप्त होकर बिना प्रयास के सर्वमय हो जाता है ॥ -३७४-३७५- ॥

जिस किसी का बाहर फैलता हुआ इन्द्रियकिरणसमूह उन्हीं अनेक दर्पण जैसे

योगिन्यादिसम्बन्धिनीषु संवित्सु प्रतिबिम्बितत्वात् दीप्तः सर्वतो विकासमासादयन् यत्नं विनापि सर्वायेत सर्वाकारतां यायात्—इत्यर्थः ॥

सर्वाकारत्वमेव च अस्याः परानन्दनिर्भरं पूर्णं रूपम्—इत्याह—

अत एव गीतगीतप्रभृतौ बहुपर्षदि ॥ ३७५ ॥
यः सर्वतन्मयीभावे ह्लादो नत्वेककस्य सः।

अत इति—सर्वाकारत्वादेव अस्याः । सर्वतन्मयीभाव इति—तावत्यंशे सर्वेषां भेदविगलनात् ॥

ननु

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च ।'

इत्यादिनीत्या प्रत्येकमपि आनन्दनिर्भरैव संविदिति किं सर्वतन्मयीभावेन?—इत्याशङ्क्य आह—

आनन्दनिर्भरा संवित्प्रत्येकं सा तथैकताम् ॥ ३७६ ॥
नृत्तादौ विषये प्राप्ता पूर्णानन्दत्वमश्नुते ।

ननु एवमपि देहसङ्कोचाद्यविगलनात् कथमेषां पूर्णानन्दमयत्वं स्यात्?—

शोभावाली योगिनी आदि से सम्बद्ध संविदों में प्रतिबिम्बित होने के कारण दीप्त = सब ओर से विकास को प्राप्त करता हुआ बिना प्रयास के सर्वायित होता है = सर्वाकारता को प्राप्त होता है ॥

सर्वाकारता ही इस (संवित्) का परानन्दनिर्भर पूर्णरूप है—यह कहते हैं—

इसलिये बहुत परिषत् वाले नृत्य गीत आदि के होने पर जो सर्वतन्मयीभाव होने पर आह्लाद होता है वह एक एक का नहीं होता (प्रत्युत सबका होता है) ॥ -३७५-३७६- ॥

इसीलिये = इसके सर्वाकार होने के कारण । सर्वतन्मयी भाव होने पर = इतने अंश में सबका भेद नष्ट हो जाने के कारण ॥

प्रश्न—'प्रदेश (= छोटा स्थान या अवयव) भी ब्रह्म का सार्वरूप्य है यह अनतिक्रमणीय और अविकल्प्य है ।'

इत्यादि नीति के अनुसार प्रत्येक (इकाई) भी आनन्दनिर्भरा संवित् है फिर सबके तन्मयीभाव से क्या लाभ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

नृत्त (= गात्रविक्षेप मात्र) आदि के विषय में आनन्दनिर्भरा वह संवित् प्रत्येक में उस प्रकार एकता को प्राप्त होकर पूर्णानन्दता का अनुभव करती है ॥ -३७६-३७७- ॥

इत्याशङ्क्य आह—

ईर्ष्यासूयादिसङ्कोचकारणाभावतोऽत्र सा॥ ३७७ ॥
विकस्वरा निष्प्रतिघं संविदानन्दयोगिनी ।

येषां पुनरीर्ष्यादिसङ्कोचाभावो नास्ति, तेषां किं संविन्मयीभावो भवेन्न वा?— इत्याशङ्क्य आह—

अतन्मये तु कस्मिंश्चित्तत्रस्थे प्रतिहन्यते ॥ ३७८ ॥
स्थपुटस्पर्शवत्संविद्विजातीयतया स्थिते ।

अतन्मये इति—संविन्मयतामनापन्ने—इत्यर्थः । अत एव उक्तम्— विजातीयतया स्थिते इति । स्थपुटस्पर्शवदिति—यथाहि निम्नोन्नतवस्तुनि निम्ने स्पर्शस्य प्रतिघातो भवेत्, तथा अत्रापि संविदः—इत्यर्थः ॥

एवमेवंविधस्य मेलकादौ प्रवेश एव न दातव्यः—इत्याह—

अतश्चक्रार्चनाद्येषु विजातीयमतन्मयम् ॥ ३७९ ॥
नैव प्रवेशयेत्संवित्सङ्कोचननिबन्धनम् ।

प्रवेशाभावे संवित्सङ्कोचनिबन्धनत्वं हेतुः ॥ एवं मेलकादावतन्मयस्य

प्रश्न—ऐसा होने पर भी देहसङ्कोच आदि के नष्ट न होने के कारण इनकी पूर्ण आनन्दमयता कैसे होती है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

ईर्ष्या असूया आदि सङ्कोच के कारणों के अभाव से वह विकस्वरा संवित् अप्रतिहत रूप से आनन्ददायिनी होती है ॥ -३७७-३७८- ॥

जिनमें ईर्ष्या आदि के सङ्कोच का अभाव नहीं है (अर्थात् ईर्ष्या आदि वर्त्तमान हैं) क्या उनका संविन्मयीभाव होता है अथवा नहीं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

स्थपुट के स्पर्श के समान अतन्मय किसी के तत्रस्थ होने पर संविद् से विजातीय रूप में स्थित (उसका) प्रतिघात होता है ॥ -३७८-३७९- ॥

अतन्मय = संविन्मयता को अप्राप्त । इसलिये कहा गया—विजातीय रूप में स्थित । स्थपुट (= ऊबड-खाबड़ पदार्थ) के स्पर्श की भाँति—जैसे ऊँची-नीची वस्तु में नीचे वाले भाग में स्पर्श नहीं हो पाता वैसे यहाँ भी संविद् की (ईर्ष्यादियुक्त व्यक्ति में आनन्दमयता नहीं हो पाती) ॥

मेलक आदि में ऐसे लोगों का प्रवेश नहीं कराना चाहिये—यह कहते हैं—

इसलिये चक्रपूजा आदि में संवित्सङ्कोच के कारण विजातीय अतन्मय (व्यक्ति) का प्रवेश नहीं कराना चाहिये ॥ ३७९-३८०- ॥

प्रवेशाभाव में संवित्सङ्कोचनिबन्धनता कारण है ॥ इस प्रकार मेलक आदि में

प्रवेशनिषेधात् तत्प्रवेशाभ्यनुज्ञानेऽपि विशेषावद्योतनाय तन्मया एव अत्र प्रवेशनीयाः—इत्याह—

यावन्त्येव शरीराणि स्वाङ्गवत्स्युः सुनिर्भराम्॥ ३८० ॥
एकां संविदमाविश्य चक्रे तावन्ति पूजयेत् ।

शरीराणीत्यनेन शरीरिणामत्र वस्तुतः कश्चिद्भेदो नास्तीति सूचितम् । अत एव उक्तम्—एकां सुनिर्भरां संविदमाविश्येति स्वाङ्गवदिति च ॥

ननु यदि नाम मेलकादावतन्मयः कश्चित्प्रमादात् प्रविष्टः, तदा किं प्रतिपत्तव्यम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

प्रविष्टश्चेत्प्रमादेन सङ्कोचं न व्रजेत्ततः॥ ३८१ ॥
प्रस्तुतं स्वसमाचारं तेन साकं समाचरेत्।

एवमस्य कश्चिदुपकारः स्यान्न वा ?—इत्याशङ्क्य आह—

स त्वनुग्रहशक्त्या चेद्विद्धस्तत्तन्मयीभवेत्॥ ३८२ ॥
वामाविद्धस्तु तन्निन्देत्पश्चात्तं घातयेदपि ।

अतन्मय का प्रवेशनिषिद्ध होने से उसके प्रवेश की अभ्यनुज्ञा होने पर भी विशेष दिखलाने के लिये तन्मय (व्यक्ति) का ही यहाँ प्रवेश कराना चाहिये—यह कहते हैं—

जितने शरीर सुनिर्भर एक संवित् में प्रवेश कर अपने (= संवित् के) अङ्ग के समान हो जाते हैं उतने (शरीरों) की ही चक्र में पूजा करे ॥ -३८०-३८१- ॥

शरीराणि—इस कथन से शरीरियों में इस विषय में वस्तुतः कोई भेद नहीं है—यह सूचित किया गया । इसीलिये कहा गया—एक सुनिर्भर संविद में आविष्ट होकर तथा स्वाङ्ग के समान ॥

प्रश्न—यदि मेलक आदि में कोई अतन्मय प्रमादवश प्रविष्ट हो गया तो क्या करना चाहिये?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यदि (कोई) प्रमादवश प्रविष्ट हो गया तो सङ्कोच नहीं करे बल्कि प्रस्तुत आचार को उसके साथ करे ॥ -३८१-३८२- ॥

ऐसा होने पर इस (= प्रविष्ट व्यक्ति) का कोई उपकार होगा या नहीं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वह यदि अनुग्रहशक्ति से बिद्ध होता है तो तन्मय हो जाता है । यदि वामा (शक्ति) से विद्ध है तो उसकी निन्दा करता है (इसलिये) उसको बाद में मार डालना चाहिये ॥ -३८२-३८३- ॥

तदिति—तत्रत्यं रहस्यचर्यादि । निन्देदिति—ईर्ष्यादिना । घातयेदिति—एवं समयस्य आम्नानात् । यदुक्तम्—

'समयप्रतिभेत्तृंस्तदनाचारांश्च घातयेत् ।' इति ॥

न च एतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तम्—इत्याह—

श्रीमत्पिचुमते चोक्तमादौ यत्नेन रक्षयेत् ॥ ३८३ ॥
प्रवेशं संप्रविष्टस्य न विचारं तु कारयेत् ।

एतच्च अतन्मयत्वेऽपि अधिकृतविषयं ज्ञेयम्, न अन्यथा—इत्याह—

लोकाचारस्थितो यस्तु प्रविष्टे तादृशे तु सः ॥ ३८४ ॥
अकृत्वा तं समाचारं पुनश्चक्रं प्रपूजयेत् ।

तादृशे इति—लोकाचारस्थिते । स इति—चक्राद्यर्चयिता । तमिति—मेलकादावाम्नातम् । पुनरिति—तस्मिन्निर्गते, परेऽहनि वा ॥

इदानीं क्रमप्राप्तं व्याख्याविधिं वक्तुं प्रतिजानीते—

अथ वच्मि गुरोः शास्त्रव्याख्याक्रममुदाहृतम्॥ ३८५ ॥

उसे = वहाँ के रहस्यचर्या आदि को । निन्दा करता है—ईर्ष्या आदि के कारण । मार डाले—ऐसा नियम का कथन होने से । जैसा कि कहा गया—

'नियम का उल्लङ्घन करने वाले और उसके अनुसार आचरण न करने वाले को मार डालना चाहिये' ॥

इसे हमने स्वोपज्ञ ही नहीं कहा है—यह कहते हैं—

श्री पिचुमत में कहा गया—पहले संप्रविष्ट के प्रवेश की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करे (उसके बारे में) विचार न करे ॥ -३८३-३८४- ॥

अतन्मय होने पर भी इसे अधिकृतविषयक जानना चाहिये अन्यथा नहीं—यह कहते हैं—

जो लोकाचार में स्थित है (चक्रबैठक में) उस प्रकार के (व्यक्ति के) प्रविष्ट होने पर वह (= चक्रपूजक) उस अनुष्ठान को न कर बाद में चक्रपूजन करे ॥ -३८४-३८५- ॥

उस प्रकार के—लोकाचार में स्थित के । वह = चक्र आदि का पूजक । उसको = मेलक आदि में कहे गये को । पुनः = उस (लोकाचारी) के चले जाने पर या दूसरे दिन करे ॥

अब क्रमप्राप्त व्याख्याविधि को बतलाने के लिये प्रतिज्ञा करते है—

देव्यायामलशास्त्रादौ तुहिनाभीशुमौलिना ।

तदेवाह—

कल्पवित्तत्समूहज्ञः शास्त्रवित्संहितार्थवित् ॥ ३८६ ॥
सर्वशास्त्रार्थविच्चेति गुरुर्भिन्नोऽपदिश्यते ।

तत्समूहेति—अनियता बहवः कल्पाः । शास्त्रं प्रतिनियतानेककल्पात्मकम् । संहिता—चतुष्पादा । सर्वशास्त्रेति—चतुर्दश विद्यास्थानानीति पञ्चधा भिन्नो गुरुरपदिश्यते = श्रीदेव्यायामले कथ्यते—इत्यर्थः । यदुक्तं तत्र—

'आचार्यं संप्रवक्ष्यामि सर्वशास्त्रविशारदम् ।
चतुष्पात्संहिताभिज्ञः कल्पस्कन्धे विशारदः ॥
शास्त्रैकल्पैकदेशे वा आचारचरणक्षमः ।' इति ॥

ननु एवं व्याख्यायां कस्य अधिकारः ?—इत्याशङ्क्य आह—

यो यत्र शास्त्रे स्वभ्यस्तज्ञानो व्याख्यां चरेत्तु सः ॥ ३८७ ॥
नान्यथा तदभावश्चेत्सर्वथा सोऽप्यथाचरेत् ।

अब देवीयामल शास्त्र आदि में शिव के द्वारा उक्त गुरु के शास्त्रव्याख्याक्रम को बतलाते हैं ॥ -३८५-३८६- ॥

उसी को कहते हैं—

कल्पवेत्ता, उस समूह का ज्ञाता, शास्त्रवेत्ता, संहितार्थवेत्ता और सर्वशास्त्रार्थवेत्ता इस प्रकार गुरु अनेक तरह के कहे जाते हैं ॥-३८६-३८७-॥

उस समूह = अनियत बहुत से कल्प । शास्त्र = निश्चित अनेक कल्परूप । संहिता = (क्रिया विद्या योग और चर्या रूप) चार पाद वाली । सब शास्त्र—चौदह विद्या स्थान (पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥) । इस प्रकार पाँच भेद से भिन्न गुरु कहे जाते है = देवीयामल में कहे जाते हैं । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'अब सर्वशास्त्रविशारद आचार्य का कथन करता हूँ । चतुष्पात् संहिता का ज्ञाता, कल्पस्कन्ध में विशारद, शास्त्र अथवा कल्प के एक देश में आचरण करने में सक्षम व्यक्ति (ही आचार्य होता है)' ॥

प्रश्न—इस प्रकार की व्याख्या में किसका अधिकार है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो जिस शास्त्र में अच्छी तरह अभ्यस्त ज्ञानवाला है वह उस व्याख्या को करे अन्यथा नहीं । यदि उस (= स्वभ्यस्त ज्ञानी) का अभाव है तो वह (= अस्वभ्यस्त ज्ञानी) भी सर्वथा (व्याख्या) करे ॥ -३८७-३८८- ॥

नान्य इति—अस्वभ्यस्तज्ञानः । अथ चेत्सर्वथा स्वभ्यस्तज्ञानो गुरुर्न स्यात्, तदा सोऽपि अस्वभ्यस्तज्ञानो व्याख्यां चरेत्, नैवं कश्चिद्दोष—इत्यर्थः ॥

न केवलमत्रैवोक्तं यावदन्यत्रापि—इत्याह—

श्रीभैरवकुले चोक्तं कल्पादिज्ञत्वमीदृशम् ॥ ३८८ ॥

ननु एवमपि स्वभ्यस्तज्ञानतायामेव गुरोः सर्वत्र कस्माद्भरः ?—इत्याशङ्क्य आह—

गुरोर्लक्षणमेतावत्सम्पूर्णज्ञानतैव या ।
तत्रापि याऽस्य चिद्बृत्तिकर्मिभित् साप्यवान्तरा॥ ३८९ ॥

ननु एवं तर्हि कर्मित्वमस्य न स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—तत्रेत्यादि । सम्पूर्णज्ञानतायामपि योऽस्य गुरोर्ज्ञानित्वकर्मित्वादिलक्षणो भेदः सोऽप्यवान्तर-रूपः—इत्यर्थः । एतच्च श्रीदेव्या यामले एव उक्तम्—इत्याह—

देव्यायामल उक्तं तद् द्वापञ्चाशद्व आह्निके ।

तदेव अर्थद्वारेण आह—

देव एव गुरुत्वेन तिष्ठासुर्दशधा भवेत् ॥ ३९० ॥

नान्यथा—अन्यथा नहीं । अन्य नहीं = अस्वभ्यस्त ज्ञानी । यदि सर्वथा स्वभ्यस्त ज्ञानी गुरु (उपलब्ध) न हो तो वह भी = अस्वभ्यस्तज्ञानी भी, व्याख्या करे । ऐसा होने पर कोई दोष नहीं है ॥ ३८७- ॥

(यह) केवल यहीं नहीं अन्यत्र भी कहा गया है—

श्री भैरवकुल में इस प्रकार का कल्पादिसत्त्व कहा गया है ॥ -३८८॥

प्रश्न—फिर भी सर्वत्र गुरु की स्वभ्यस्तज्ञानता पर ही क्यों जोर दिया गया है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो सम्पूर्णज्ञानता है यही गुरु का लक्षण है । उसमें भी जो इसका ज्ञानित्व कर्मित्वरूपी भेद है वह भी अवान्तर (लक्षण) है ॥ ३८९ ॥

प्रश्न—ऐसा होने पर वह कर्मी नहीं रहेगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—उस पर भी = सम्पूर्णज्ञानता के होने पर भी, इस = गुरु का जो ज्ञानित्व कर्मित्व आदि लक्षणों वाला भेद है वह भी अवान्तर (लक्षण) है । और यह श्री देवीयामल में ही कहा गया है—यह कहते हैं—

यह देवीयामल के बावनवें आह्निक में कहा गया है ॥ ३९०- ॥

उसको अर्थ के द्वारा कहते हैं—

दशधात्वमेव दर्शयति—

उच्छुष्मशवरचण्डगुमतङ्गघोरान्तकोग्रहलहलकाः ।
क्रोधी हुलुहुलुरेते दश गुरवः शिवमयाः पूर्वे ॥ ३९१ ॥
ते स्वांशवित्तवृत्तिक्रमेण पौरुषशरीरमास्थाय ।
अन्योन्यभिन्नसंवित्क्रिया अपि ज्ञानपरिपूर्णाः ॥ ३९२ ॥
सर्वेऽलिमांसनिधुवनदीक्षार्चनशास्त्रसेवने निरताः ।
अभिमानशमक्रोधक्षमादिरवान्तरो भेदः ॥ ३९३ ॥

अन्तकः = यमः । यदुक्तं तत्र—

'दश रुद्रा महाभागास्तन्त्रे गुरुवराः स्मृताः ।

इत्युपक्रम्य

'जटामुकुटधारी च लिङ्गार्चनरतः सदा ॥
मद्यमांसरतो नित्यं मन्त्रसेवादृढव्रतः ।
स्वशक्तिं रमयेच्चापि शास्त्राधीती च यत्नतः ॥
उच्छुष्मांशसमुद्भूतो दैशिकः शास्त्रपारगः ।
शवरांशसमुद्भूतस्तत्त्वमार्गावलम्बकः ॥
गुप्ताचारक्रियो नित्यं गुप्तदाराभिमैथुनी ।

परमेश्वर ही गुरु में रहने की इच्छा वाला होकर दश प्रकार का होता है ॥ -३९० ॥

उच्छुष्म शबर चण्डांशु मतङ्ग घोर अन्तक उग्र हलहल क्रोधी और हुलुहुलु ये दश गुरु पहले शिवमय है । वे अपने अंशभूत चित्तवृत्ति के क्रम से पुरुष का शरीर धारण कर परस्पर भिन्नसंवित्क्रिया वाले होते हुये भी ज्ञान से परिपूर्ण होते हैं । सब के सब मद्य मांस मैथुन दीक्षा (चक्रादि-) पूजन शास्त्रानुसार अनुष्ठान में लगे रहते हैं । अभिमान शान्ति क्रोध क्षमा आदि (इनका) अवान्तर भेद है ॥ ३९१-३९३ ॥

अन्तक = यम । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'तन्त्र में दश महाभाग रुद्र श्रेष्ठ गुरु माने गये है ।'

ऐसा प्रारम्भ कर

'उच्छुष्म भैरव के अंश से उत्पन्न (आचार्य) जटामुकुटधारी सदा लिङ्गार्चनरत मद्यमांससेवी मन्त्रसेवा में दृढव्रती अपनी शक्ति को रमण कराने वाला, प्रयत्नपूर्वक शास्त्राध्ययनरत शास्त्रपारगामी होता है । जो (आचार्य) शवरांश से उत्पन्न है वह तत्त्वमार्गाव लम्बी, गुप्त आचारक्रिया वाला, स्त्री के साथ गुप्त मैथुन करने वाला,

क्रोधनोऽतिप्रचण्डश्च मद्यमांसरतः सदा ॥
चण्डांश्वंशो गुरुश्चैव दीक्षानुग्रहकृत्सदा ।
क्षमी आमिषलौली च यज्ञे पशुनिपातकः ॥
मतङ्गांशसमुद्भूतो गुरुः शास्त्रार्थवेदकः ।
अभिमानी क्रोधनश्च मैथुनाभिरतः सदा ॥
सुगूढोऽत्यन्तदक्षश्च घोरांशश्च गुरुः स्मृतः ।
जपहोमक्रियासक्तं लिङ्गाद्यभ्यर्चने रतम् ॥
यमांशं गुरवः प्राहुर्दीक्षाकर्मणि निष्ठुरम् ।
धातुवादरसादीनि ओषध्यादिरसायनम् ॥
नित्यं सेवेत्सदा योगी शिष्यानुग्रहतत्परः ।
उग्रांशो गुरुभिः प्रोक्तो योऽसौ हलहलः स्मृतः ॥
क्रोधः सर्वत्र जायेत मानी योगरतः सदा ।
मन्यते तृणवत्सर्वं मत्तुल्यं नास्ति मन्यते ॥
दुराराधो जनैः सर्वैः कष्टसेव्य उपासिभिः ।
शिष्यानुग्रहकृन्नित्यं क्रोधिनोंऽशः प्रकीर्तितः ॥
दीक्षाकर्मणि निष्णातो मद्यमांसाशनः सदा ।
कुले हुलहुले जातो दैशिकः परिकीर्तितः ॥
दशैते गुरवः प्रोक्ताः स्वतत्त्वज्ञानगर्विताः ।
ये तदंशसमुद्भूतास्तत्स्वभावानुचारिणः ॥
तैस्तु येऽनुगृहीतास्तु ते तदाचारवर्तिनः ।'

क्रोधी, अति प्रचण्ड, सदा मद्यमांससेवी होता है । चण्डांशु के अंश वाला गुरु दीक्षा अनुग्रह करने वाला क्षमाशील मांसलोभी यज्ञ में पशु मारने वाला होता है । मतङ्गांश से उत्पन्न गुरु शास्त्र के अर्थ का ज्ञाता अभिमानी क्रोधी मैथुनरत होता है। घोरांश गुरु सुगूढ अत्यन्त दक्ष कहा गया है । गुरु लोगों ने जप होम क्रिया में निरत लिङ्ग आदि का पूजक, दीक्षाकर्म में निष्ठुर (गुरु को) यमांश से उत्पन्न कहा है । धातुवाद (= धातुनिर्मित) रस आदि ओषधि आदि रसायन का नित्य सेवन करने वाला, योगी एवं शिष्य के ऊपर अनुग्रह करने में तत्पर को गुरुओं ने उग्रांश कहा है । जो हलहल कहा गया है उसे सर्वत्र क्रोध होता है । वह सदा स्वाभिमानी एवं योगरत होता है । सबको तृणवत् समझता है । जो ऐसा समझता है कि मेरे समान (महान्) (कोई) नहीं है एवं जो लोगों के द्वारा दुराराध्य उपासकों के द्वारा कष्टसेव्य सर्वदा शिष्यानुग्रहकारी है वह क्रोधी का अंश कहा गया है । दीक्षाकर्म में निष्णात सदा मद्यमांससेवी हुलहुल कुल में उत्पन्न आचार्य (हुलहुल) कहा गया है । ये दश प्रकार के गुरु अपने तत्त्वज्ञान से गर्वित होते हैं । जो उनके अंश से उत्पन्न उनके स्वभाव के अनुगामी होते हैं उनके द्वारा जो अनुगृहीत होते हैं वे वैसा ही आचरण करते हैं ।'

इत्यादि बहुप्रकारम् । एतच्च ग्रन्थविस्तरभयात् यथोपयोगमुच्चित्य उच्चित्य लिखितमिति तत एव यथाशयमनुसर्तव्यम् ॥ ३९३ ॥

एवमेवंविधो गुरुर्व्याख्यार्थमभ्यर्थनीयः—इत्याह—

इत्थं विज्ञाय सदा शिष्यः सम्पूर्णशास्त्रबोद्धारम् ।
व्याख्यायै गुरुमभ्यर्थयेत पूजापुरःसरं मतिमान् ॥ ३९४ ॥
सोऽपि स्वशासनीये परशिष्येऽपि वापि तादृशं शास्त्रम्।
श्रोतुं योग्ये कुर्याद् व्याख्यानं वैष्णवाद्यधरे ॥ ३९५ ॥
करुणारसपरिपूर्णो गुरुः पुनर्मर्मधामपरिवर्जम् ।
अधमेऽपि हि व्याकुर्यात्सम्भाव्य हि शक्तिपातवैचित्र्यम्॥ ३९६ ॥

अनेन व्याख्याविध्यनुषक्तः श्रुतविधिरपि आसूत्रितः । सोऽपीति—गुरुः करुणावशेन वैष्णवादावधमेऽपि व्याख्यां कुर्यात्, किन्तु मर्मस्थानं वर्जयित्वा यदसौ साक्षादनायातशक्तिपात इति ॥ ३९६ ॥

अत्रैव इतिकर्तव्यतामाह—

लिप्तायां भुवि पीठे चतुरस्रे पङ्कजत्रयं कजगे ।
कुर्याद्विद्यापीठं स्याद्रसवह्न्यंगुलं त्वेतत् ॥ ३९७ ॥
मध्ये वागीशानीं दक्षोत्तरयोर्गुरून्गणेशं च ।

इत्यादि बहुत प्रकार से कहा गया है । (यहाँ) ग्रन्थविस्तार के भय से उपयोग के अनुसार (तत्तत् अंशों को) चुन-चुन कर लिखा गया इसलिये वहीं से आशय के अनुसार समझ लेना चाहिये ॥ ३९३ ॥

इस प्रकार के गुरु से व्याख्या के लिये प्रार्थना करनी चाहिये—यह कहते हैं—

इस प्रकार बुद्धिमान् शिष्य सम्पूर्ण शास्त्रज्ञ गुरु को जानकर (उसकी) पूजा करने के बाद व्याख्या के लिये प्रार्थना करे । वह (गुरु) भी अपने अथवा दूसरे के शिष्य को, जो कि उस प्रकार का शास्त्र सुनने के योग्य हो तथा वैष्णव आदि निम्न स्तर का हो, शास्त्रोपदेश करे । करुणारस से परिपूर्ण गुरु मर्मस्थान (= रहस्यस्थल) को छोड़ कर शक्तिपातवैचित्र्य की सम्भावना कर अधम (शिष्य) के लिये भी व्याख्या करे ॥ ३९४-३९६ ॥

इससे व्याख्याविधि से सम्बद्ध श्रुतविधि भी बतलायी गयी । वह भी = गुरु करुणावश वैष्णव आदि अधम के प्रति भी व्याख्या करे किन्तु मर्मस्थल को छोड़कर । क्योंकि यह (शिष्य) साक्षात् शक्तिपातयुक्त नहीं है ॥ ३९६ ॥

(गोबर से) लिपी हुयी भूमि पर चौकोर समतल कमल वाले पीठ पर तीन कमल बनाना चाहिये । यह विद्यापीठ ३६ अंगुल (विस्तार अर्थात्

अधरे कजे च कल्पेश्वरं प्रपूज्यार्घपुष्पतर्पणकैः ॥ ३९८ ॥
सामान्यविधिनियुक्तार्घपात्रयोगेन चक्रमथ सम्यक्।
सन्तर्प्य व्याख्यानं कुर्यात्सम्बन्धपूर्वकं मतिमान् ॥ ३९९ ॥

कजगे इति—पीठविशेषणम्, तेन अधस्तनपीठान्तरस्थपद्मोपरिवर्तिनि—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'......................पीठाधः पद्ममालिखेत् ।' इति ।

रसवह्नीति = षट्त्रिंशत् । मध्ये इति = मध्यपद्मे । अधरे इति = पीठाधोवर्तिनि । यदुक्तं तत्र—

'......................मध्ये वागीशिपूजनम् ।'
दक्षिणे गुरवः पद्मे उत्तरे तु गणेश्वरः ।
पीठाधो यद्भवेत्पद्मं कल्पेशं तत्र पूजयेत् ॥' इति ॥ ३९९ ॥

सम्बन्धपूर्वकत्वमेव दर्शयन् व्याख्यानशैलीं शिक्षयति—

सूत्रपदवाक्यपटलग्रन्थक्रमयोजनेन सम्बन्धात् ।
अव्याहतपूर्वापरमुपवृंह्य नयेत वाक्यानि ॥ ४०० ॥
मण्डूकप्लवसिंहावलोकनाद्यैर्यथायथं न्यायैः ।

लम्बा चौड़ा) का होगा । मध्य में वागीश्वरी और दक्षिण उत्तर में (क्रमशः) गुरुओं और गणेश को स्थापित करे । (पीठ के) नीचे वाले कमल में अर्घपुष्पतर्पण के द्वारा कल्पेश्वर की पूजा कर सामान्य विधि से नियुक्त अर्घपात्र के योग से चक्र का सम्यक् तर्पण कर मतिमान् (गुरु) सम्बन्धज्ञानपूर्वक व्याख्यान करे ॥ ३९७-३९९ ॥

कजगे—यह पीठ का विशेषण है । इससे (यह अर्थ होता है कि) नीचे पीठ के भीतर स्थित कमल के ऊपर रहने वाले । जैसा कि कहा गया—

'पीठ के नीचे कमल बनाना चाहिये । रस वह्नि = छत्तीस । मध्य में = मध्य वाले कमल में । अधर में = पीठ के अधोवर्त्ती में । जैसा कि वहाँ कहा ॥'

'...........मध्य कमल में वागीश्वरी का पूजन, दायें कमल में गुरुलोग, बायें में गणेश और पीठ के नीचे जो कमल होता है उसमें कल्पेश्वर की पूजा करनी चाहिये' ॥ ३९९ ॥

सम्बन्धपूर्वकता को दिखलाते हुये व्याख्यान शैली की शिक्षा देते हैं—

सूत्र पद वाक्य पटल ग्रन्थ क्रम के योजन से सम्बन्ध के कारण अव्याहत पूर्वापर का उपवृंहण कर वाक्यों को बनाना चाहिये । मण्डूकप्लुति (= जैसे मेढ़क कूद-कूद कर आगे के स्थान को प्राप्त करता

अविहतपूर्वापरकं शास्त्रार्थं योजयेदसङ्कीर्णम् ॥ ४०१ ॥
तन्त्रावर्तनबाधप्रसङ्गतर्कादिभिश्च सन्न्यायैः ।
वस्तु वदेद्वाक्यज्ञो वस्त्वन्तरतो विविक्ततां विदधत्॥ ४०२ ॥
यद्यद् व्याहृतिपदवीमायाति तदेव दृढतरैर्न्यायैः ।
बलवत्कुर्याद्दूष्यं यद्यप्यग्रे भविष्यत्स्यात् ॥ ४०३ ॥

पदेति—पदाद्यात्मा पदार्थः । ग्रन्थक्रमेति—विद्यादिपादरूपः । यदुक्तं तत्र—

'पादिकश्चात्र संबन्ध अन्यः पाटलिकः प्रिये ।
पादार्थः सौत्रवाक्यार्थ एतत्सम्बन्धपञ्चकम् ॥
चतुष्पात्संहिता यावत्तस्यां पादो यथोदितः ।
आदिमध्यावसानैश्च ग्राहयेदर्थसन्ततिम् ॥
परस्पराविभेदेन अविरुद्धा यथा भवेत् ।
एवं पादगतं ज्ञात्वा व्यावर्ण्यं कुरुते गुरुः ॥
यत्तत्पाटलिकं वस्तु पटलान्ते समर्पयेत् ।
अभिसन्ध्यान्यपटलमेतत्पाटलिकं स्मृतम् ॥
यः पदार्थोऽभिगम्येत तत्पादार्थेन निश्चितम् ।
अपरस्परभेदेन व्याख्यानं कुरुते गुरुः ॥

है और बीच का स्थान छोड़ता जाता है उस प्रकार) और सिंहावलोकन—न्यायों (= जैसे सिंह आगे चलते हुए पीछे भी मुड़कर देख लेता है उस प्रकार) के द्वारा यथोचित अव्याहत पूर्वापर वाले शास्त्रार्थ की विस्तृत व्याख्या करनीं चाहिये । तन्त्र-आवर्त्तन, बाध, प्रसङ्ग, तर्क आदि उचित न्यायों के द्वारा मीमांसावेत्ता वस्त्वन्तर से भेद को बतलाते हुये वस्तु का व्याख्यान करे । जो-जो व्याहृति की पदवी को प्राप्त हो उसी को दृढ़तर न्याय से बलवत्तर करे भले ही आगें चल कर वह दूषित करने योग्य हो ॥ ४००-४०३ ॥

पद = पदादिरूप पदार्थ । ग्रन्थक्रम—विद्यादिपाद रूप । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'हे प्रिये ! यहाँ पद पटल पदार्थ सूत्रार्थ और वाक्यार्थ नामक पाँच प्रकार का सम्बन्ध होता है । संहिता चार पादों वाली है । उसमें पाद पूर्वकथन के अनुसार होता है । आदि मध्य एवं अन्त (पदों) के द्वारा अर्थपरम्परा का बोध कराना चाहिये ताकि (वह परम्परा) परस्पर भेदरहित होते हुये अविरुद्ध हो । इस प्रकार पादगत (तात्पर्य) को जानकर व्याख्या कर गुरु जो पाटलिक वस्तु है उसे पटलान्त में समर्पित करे (= बतलाए)। जो अन्य पटलगत अभिसन्धि को (समझ) कर किया जाय वह पाटलिक माना गया है । जो पदोर्थ जाना जाता है गुरु पादार्थ से

एष पादार्थिको नाम्ना अन्यत्सूत्रगतं शृणु ।
सूत्रे संगृहीतं वस्तु सुपरीक्ष्यार्थसन्ततिः ॥
भेदभिन्ना तथात्रैव सूत्रेणान्येन सुन्दरि ।
एतत्सूत्रं विचार्येत वाक्येन परिनिष्ठितम् ॥
संस्कृतैः शब्दविषयैर्नदीस्रोतःप्रवाहकैः ।
वातोर्मिवेगभङ्गेन व्याख्यां द्विपगतिं च वा ॥
मण्डूकप्लुतिरेवात्र अथ सिंहावलोकितम् ।
ज्ञात्वा न्यायं तु शिष्यं हि तादृशेन प्रबोधयेत् ॥
स्वरूपेणार्थविषयं पादभेदेन वाऽथवा ।
दैशिकः कुरुते व्याख्यां यादृशं तेन पृच्छितम् ॥
तादृशं तस्य वक्तव्यं स्वाम्नायस्थितिपालनात् ।' इति ।

यागत्रयात्मकपौर्णमासाङ्गप्रयाजानुयाजवदेकमनेकसाधारणं तन्त्रम् । अवघातादेरिव यावद्द्रव्यमसकृत्प्रयुक्तिरावर्तनम् । चमसगोदोहनादिवदसक्तप्रतिषेधो बाधः । पशुपुरोडाशवत् परमध्यपातिनो निजतन्त्रनैरपेक्ष्येण परकीयेनैव तन्त्रेण सम्पादनं प्रसङ्गः । संशयनिर्णयान्तरालवर्ती भवितव्यतात्मकः प्रत्ययस्तर्कः । आदिशब्दादतिदेशादयः । सदिति—मण्डूकप्लवादिलौकिकन्यायविलक्षणैः—इत्यर्थः । वस्त्वन्तरतो विविक्ततां विदधत्—इत्यनेन असङ्कीर्णत्वमेव उपोद्बलितम् । दूष्यं भविष्यत्स्यादिति—भावि दूष्यभावं भजेत्—इत्यर्थः ॥ ४०३ ॥

निश्चित उसकी व्याख्या बिना परस्पर भेद के करता है । यह पादार्थिक नाम से (जाना जाता है) । अब दूसरा सूत्रगत (सम्बन्ध) सुनो । हे सुन्दरी ! सूत्र में संगृहीत वस्तु का सम्यक् परीक्षण कर उसमें अनुस्यूत अर्थसमूह की व्यापकता का विचार करते हुए वाक्य से परिनिष्ठित इस सूत्र का विचार करना चाहिये । संस्कृत शब्दविषयों से नदी की धारा के प्रवाह के द्वारा, वायु के द्वारा लहरों के भङ्ग की भाँति अथवा हाथी की चाल, अथवा मण्डूकप्लुति या सिंहावलोकन न्याय को जानकर शिष्य को उसी स्वरूप से अथवा पादभेद से समझाना चाहिये । आचार्य, जैसा उस (शिष्य) के द्वारा पूछा गया अपने आम्नाय की स्थिति की रक्षा के कारण, वैसी उससे व्याख्या करे ।'

तीन यागात्मक पौर्णमास के अङ्गभूत प्रयाज अनुयाज के समान एक का अनेकसाधारण प्रयोग तन्त्र[1] (कहा जाता) है । अवधात आदि के समान सम्पूर्ण द्रव्य का बार-बार प्रयोग आवृत्ति है । चमस गोदोहन आदि की भाँति असक्तप्रतिषेध बाध होता है । पशुपुरोडाशवत् परमध्यपाती का, अपने तन्त्र की अपेक्षा न रखते हुये, परकीय तन्त्र के द्वारा सम्पादन प्रसङ्ग है । संशय निर्णय का मध्यवर्त्ती भवितव्यतात्मक प्रत्यय तर्क है । आदि शब्द से अतिदेश आदि (का ग्रहण करना

---

१. सकृदुच्चरितत्वे सति बह्वर्थबोधकत्वं तन्त्रत्वम् ।

ननु यदुत्तरकालं दूष्यं तस्य आदौ बलवत्त्वाधानेन कोऽर्थः?—इत्याशङ्क्य आह—

दृढरचितपूर्वपक्षप्रोद्धरणपथेन वस्तु यद्वाच्यम् ।
शिष्यमतावारोहति तदाशुसंशयविपर्ययैर्विकलम् ॥ ४०४ ॥
भाषा न्यायो वादो लयः क्रमो यद्यदेति शिष्यस्य ।
सम्बोधोपायत्वं तथैव गुरुराश्रयेद् व्याख्याम् ॥ ४०५ ॥
वाच्यं वस्तु समाप्य प्रतर्पणं पूजनं भवेच्चक्रे ।
पुनरपरं वस्तु वदेत्पटलादूर्ध्वं तु नो जल्पेत् ॥ ४०६ ॥
व्याख्यान्ते क्षमयित्वा विसृज्य सर्वं क्षिपेदगाधजले ।
शास्त्रादिमध्यनिधने विशेषतः पूजनं कुर्यात् ॥ ४०७ ॥
विशेषपूजनं कुर्यात्समयेभ्यश्च निष्कृतौ ।

भाषा—संस्कृतादिरूपा षोढा भिन्ना । न्यायः—प्रागुक्तो लौकिकः शात्रीयो वा । वाद—तत्त्वनिश्चयफलरूपः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः । लयः—व्याख्येयवस्तुनिष्ठ-तल्लीनतात्मा व्याख्यानाभ्यासः । क्रमः—पाठार्थपरिपाटीविशेषः । वाच्यं वस्त्विति

चाहिये) । सत्—मण्डूकप्लुति आदि लौकिकन्याय से विलक्षण । वस्त्वन्तर से विलक्षणता रखते हुये—इस कथन से असङ्कीर्णता पर ही बल दिया गया । दूष्यं भविष्यत् स्यात्—इससे भविष्य में दोषभागी होगा—(यह समझना चाहिये) ॥४०३॥

प्रश्न—जो उत्तर काल में दूषित होने वाला है उसमें पहले बलवत्ता का आधान करने से क्या लाभ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

दृढ़रचित पूर्वपक्ष को उद्धृत करने वाले मार्ग से जो वाच्य वस्तु शिष्य की बुद्धि में प्रवेश करती है वह शीघ्र ही संशयविपर्यय से रहित हो जाती है । भाषा न्याय वाद लय क्रम जो-जो शिष्य के सम्यक् ज्ञान का उपाय बने गुरु उसी प्रकार की व्याख्या को अपनाये । वाच्य वस्तु का समापन कर फिर चक्र का तर्पण पूजन करे । फिर दूसरी वस्तु का कथन करे । पटल के बाद जल्पना न करे । व्याख्यान के अन्त में (संविद् देवी या ईश्वर से) क्षमा मांग कर विसर्जन कर सब को अगाध जल में फेंक दे । शास्त्र आदि के मध्य में निधन (= शास्त्र की व्याख्या करते समय ही व्याख्याकार अथवा श्रोता का निधन) होने पर विशेष पूजन करे । समयों से निष्क्रमण होने पर भी विशेष पूजन करे ॥ ४०४-४०८- ॥

भाषा—(उस समय प्रचलित) संस्कृत (कश्मीरी, डोंगरी) आदि छह प्रकार की भिन्न-भिन्न भाषायें । न्याय—पूर्वोक्त लौकिक अथवा शास्त्रीय । वाद = तत्त्वनिश्चयफलरूप पक्ष प्रतिपक्ष का सिद्धान्त । लय = व्याख्येय वस्तु से सम्बद्ध तल्लीनतारूप व्याख्यान का अभ्यास । क्रम = पाठ के लिये विशेष परिपाटी ।

—मूलसूत्रादि । अपरं वस्त्विति—सूत्रान्तरम् । यदुक्तम्—

'त्रीणि मूलानि सूत्राणि द्वे तदेकमथापि वा ।
व्याख्यायोपरमेदूर्ध्वं वदन्विघ्नैर्हि बाध्यते ॥' इति ।
'न गच्छेत्पटलादूर्ध्व.......................... ।' इति च ।

समयेभ्यश्च निष्कृतावित्यनेन समयनिष्कृतिरिति प्रागुक्तं त्रयोविंशमपि नैमित्तिकं व्याख्यातुमुपक्रान्तमिति आवेदितम् ॥

ननु इदं कार्यमिदं न कार्यमिति शास्त्रीया नियन्त्रणा हि समयः । स च निर्विकल्पानां नास्तीति कथमेतदविशेषेण उक्तम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

अविकल्पमतेर्न स्युः प्रायश्चित्तानि यद्यपि ॥ ४०८ ॥
तथाप्यतत्त्वविद्वर्गानुग्रहाय तथा चरेत् ।

नन्वेवमाचरणे किमस्य प्रमाणम्?—इत्याशङ्क्य आह—

श्रीपिचौ च स्मृतेरेव पापघ्नत्वे कथं विभो ॥ ४०९ ॥
प्रायश्चित्तविधिः प्रोक्त इति देव्या प्रचोदिते ।

वाच्य वस्तु = मूल सूत्र आदि । अपर वस्तु = दूसरे सूत्र । जैसा कि कहा गया—

'तीन दो अथवा एक मूल सूत्र की व्याख्या कर रुक जाना चाहिये । अधिक कहने वाला विघ्नों से बाधित होता है ।' तथा—

'पटल की समाप्ति के बाद व्याख्या न करे ।'

समयों से निष्कृति होने पर—समयनिष्कृति पूर्वोक्त तेईसवें नैमित्तिक की भी व्याख्या करने का उपक्रम है—यह बतलाया गया ॥

प्रश्न—यह करना चाहिये, यह नहीं करना चाहिये—इस प्रकार का शास्त्रीय नियम ही समय कहलाता है । और वह विकल्परहित लोगों के लिये नहीं है फिर इसे सामान्यरूप से कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यद्यपि निर्विकल्पक बुद्धि वालों के लिये प्रायश्चित नहीं होता है तो भी अतत्त्ववेत्तृसमूह के प्रति अनुग्रह के लिये वैसा करना चाहिये ॥ -४०८-४०९- ॥

प्रश्न—इसके इस प्रकार के आचरण में क्या प्रमाण है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

हे प्रभो ! पिचुमत में (मन्त्रों की) स्मृति के ही पापनाशक होने पर प्रायश्चित्तविधि क्यों कहीं गयी?—ऐसा देवी के द्वारा प्रश्न किये जाने पर

सत्यं स्मरणमेवेह सकृज्जप्तं विमोचयेत् ॥ ४१० ॥
सर्वस्मात्कर्मणो जालात्स्मृतितत्त्वकलाविदः ।
तथापि स्थितिरक्षार्थं कर्तव्यश्चोदितो विधिः ॥ ४११ ॥

स्मृतेरिति—मन्त्रादेः । स्मृतितत्त्वकलाविदः—इत्यनेन ज्ञानित्वमेव उपोद्बलितम्। स्थितिरक्षार्थमिति—यदुक्तम्—

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥' (भ०गी० ३।२१)

इति ॥ ४११ ॥

अतत्त्ववेदिनो ये हि चर्यामात्रैकनिष्ठिताः ।
तेषां दोलायिते चित्ते ज्ञानहानिः प्रजायते ॥ ४१२ ॥

एवं च यद्ययं निर्विकल्पत्वादेव न संवृतिपरस्तदा अतत्त्वविद्भिः सह समाचारमेव न कुर्यात् । अथ कुर्यात्, प्रायश्चित्तमप्याचरेत्—इत्याह—

तस्माद्विकल्परहितः संवृत्युपरतो यदि ।
शास्त्रचर्यासदायत्तैः सङ्करं तद्विवर्जयेत् ॥ ४१३ ॥
सङ्करं वा समन्विच्छेत्प्रायश्चित्तं समाचरेत् ।
यथा तेषां न शास्त्रार्थे दोलारूढा मतिर्भवेत् ॥ ४१४ ॥

(परमेश्वर ने कहा—) सचमुच एक बार जपा गया स्मरण ही स्मृतितत्त्वकलावेत्ता के समस्त कर्मजाल से (उसे) मुक्त करा देता है तथापि स्थिति (= लोक मर्यादा) की रक्षा के लिये निर्दिष्ट विधि को करना चाहिये ॥ -४०९-४११ ॥

स्मृति के—मन्त्र आदि की । स्मृतितत्त्वकलावेत्ता के—इस (कथन) से ज्ञानी होना कहा गया । स्थिति की रक्षा के लिये—जैसा कि कहा गया—

'श्रेष्ठपुरुष जो-जो आचरण करता है अन्यलोग भी वही-वही (करते हैं) । वह जिसको प्रमाण बतलाता है लोक उसका अनुगमन करता है' ॥ ४११ ॥

जो तत्त्ववेत्ता नहीं है केवल चर्या (= पूजा अनुष्ठान आदि) में निष्ठा रखते हैं उनके चित्त के संशययुक्त होने पर ज्ञानहानि होती है ॥ ४१२ ॥

इस प्रकार यदि यह (= ज्ञानी) निर्विकल्पक होने के कारण संवृति (= गोपनीयता) परक नहीं है तो अतत्त्ववेत्ता के साथ आचार व्यवहार न करे । यदि करता है तो प्रायश्चित्त करे—यह कहते हैं—

इस कारण निर्विकल्पक व्यक्ति यदि संवृति से उपरत है तो शास्त्रचर्या में सदा लगे हुये लोगों का सम्पर्क छोड़ दे । और यदि साङ्कर्य चाहता

संवृत्युपरत इति—संवृतिः = गुप्तिः, तत उपरतः = निवृत्तः = इत्यर्थः । शास्त्रचर्यासदायत्तैरिति—सर्वकालं शास्त्रीयनियन्त्रणापरवशैः—इत्यर्थः । तेषामिति—अतत्त्वविदाम् ॥ ४१४ ॥

समयनिष्कृतिमेव उदाहरणदिशा उपदर्शयति—

यत्स्वयं शिवहस्ताख्ये विधौ सञ्चोदितं पुरा ।
शतं जप्त्वास्य चास्त्रस्य मुच्यते स्त्रीवधादृते ॥ ४१५ ॥
शक्तिनाशान्महादोषो नरकं शाश्वतं प्रिये ।
इति श्रीरत्नमालायां समयोल्लङ्घने कृते ॥ ४१६ ॥
कुलजानां समाख्याता निष्कृतिर्दुष्टकर्तरी ।
श्रीपूर्वे समयानां तु शोधनायोदितं यथा ॥ ४१७ ॥
मालिनी मातृका वापि जप्या लक्षत्रयान्तकम्।
प्रतिष्ठितस्य तूरादेर्दर्शनेऽनधिकारिणा ॥ ४१८ ॥
प्रायश्चित्तं प्रकर्तव्यमिति श्रीब्रह्मयामले ।

यदिति—चोदनास्त्रम् । स्वयमिति—भगवता । पुरेति—द्वादशपटले, इदं हि तत्र चतुर्दशे पटले स्थितम् । एतच्च समनन्तराह्निके शिवहस्तप्रकरणे एव

है तो प्रायश्चित्त करे ताकि शास्त्र के विषय में उनकी बुद्धि दोलायित (= संशयग्रस्त) न हो ॥ ४१३-४१४ ॥

संवृत्युपरत—संवृति = गोपनीयता, उससे उपरत = निवृत्त, शास्त्रचर्या में सदा लगे = सब समय शास्त्रीय नियम के अधीन रहने वाले । उनका = अतत्त्ववेत्ताओं का ॥ ४१४ ॥

समय की निष्कृति को ही उदाहरण द्वारा दिखलाते हैं—

पहले शिवहस्त विधि में जो स्वयं (परमेश्वर के द्वारा) कहा गया है उस अस्त्र का एक सौ बार जप कर स्त्रीवध को छोड़कर (अन्य पापों से) मुक्त हो जाता है । हे प्रिये ! शक्तिनाश से महादोष और शाश्वत नरक प्राप्त होता है ऐसा श्री रत्नमाला में (कहा गया) है । समय का उल्लङ्घन करने पर कुलजों (= कौल मतानुयायियों) की निष्कृति दुष्टकर्त्तरी (= दुष्ट काम करने वाली कैंची या कटार) कही गयी है । श्री पूर्वशास्त्र में समयों के शोधन के लिये कहा गया है कि—मालिनी अथवा मातृका का तीन लाख तक जप करे । प्रतिष्ठित तूर आदि का अनधिकारी के द्वारा दर्शन किये जाने पर प्रायश्चित्त करना चाहिये—ऐसा ब्रह्मयामल में कहा गया ॥ ४१५-४१९- ॥

जो = चोदनास्त्र । स्वयं—भगवान् के द्वारा । पहले = बारहवें आह्निक में ।

संवादयिष्यते इति नेह लिखितम् । स्त्रीवधादृते इति—यदुक्तम्—

.....................स्त्रीवधे निष्कृतिः कुतः ।' इति ।

कुलजानामिति—अन्येषां हि

'अघोराष्टशतं जप्त्वा स्त्रीवधान्मुच्यते नरः।'

इत्यादि उक्तम् । समाख्यातेति—यदुक्तं तत्र—

'अथ कश्चिदजानानो लङ्घनं समयस्य तु ।
कुरुते कुलजो देवि तस्य वक्ष्यामि निष्कृतिम् ॥
शतं जप्त्वा महास्त्रस्य मुच्यते स्त्रीवधादृते ।
शक्तिनाशान्महादोषो नरकं शाश्वतं प्रिये ॥' इति।

लक्षत्रयान्तकमिति—समयोल्लङ्घनबलं विचार्य । यदुक्तं तत्र—

'प्रायश्चित्तेषु सर्वेषु जपेन्मालामखण्डिताम् ।
भिन्ना वाप्यथवाभिन्नां व्यतिक्रमबलाबलात् ॥
सकृज्जापात्समारभ्य यावल्लक्षत्रयं प्रिये ।' इति ।

अनधिकारिणेति—अदीक्षितादिना, एतच्च आचार्यादिविषयम् । साधके हि

यह वहाँ चौदहवें अध्याय में स्थित है इसे अव्यवहित उत्तर आह्निक में शिवहस्त प्रकरण में कहा जायगा इसलिये यहाँ नहीं लिखा गया । स्त्रीवध को छोड़कर—जैसा कि कहा गया—

'..........स्त्रीवध में निष्कृति (= प्रायश्चित्त) कहाँ ।'

कुलजों का । (इनसे) अन्य (लोगों) के लिये—

'अघोर मन्त्र का १०८ बार जप कर मनुष्य स्त्रीवध से छूट जाता है ।'

इत्यादि कहा गया है । कही गयी है—जैसा कि वहाँ कहा गया—

'यदि कोई पुरुष अज्ञानवश समय का लङ्घन करता है तो हे देवि ! उसकी निष्कृति को कहता हूँ । ऐसा वस्त्र महास्त्र का एक सौ जप कर (उस दोष से) मुक्त हो जाता है स्त्रीवध को छोड़कर । हे प्रिये ! शक्ति (रूपी स्त्री) के वध से महादोष और शाश्वत नरक होता है ।'

तीन लाख तक—समय के उल्लङ्घन के बल को समझ कर; जैसा कि वहाँ कहा गया—

'समस्त प्रायश्चित्तों में व्यक्तिक्रम के बलाबल से भिन्न अथवा अभिन्न अखण्ड माला का जप करे । हे प्रिये ! यह एक बार से लेकर तीन लाख तक (करना चाहिये) ।'

अधिकारिणापि दृष्टे दोष एव । यदभिप्रायेण

'स्वमन्त्रमक्षसूत्रं च गुरोरपि न दर्शयेत् ।'

इत्यादि उक्तम् ॥

न केवलमेतदेव श्रीब्रह्मयामले कथितं यावदिदमपि—इत्याह—

ब्रह्मघ्नो गुरुतल्पस्थो वीरद्रव्यहरस्तथा ॥ ४१९ ॥
देवद्रव्यहृदाकारप्रहर्ता लिङ्गभेदकः ।
नित्यादिलोपकृद् भ्रष्टस्वकमात्रापरिच्छदः ॥ ४२० ॥
शक्तिव्यङ्गत्वकृद्योगिज्ञानिहन्ता विलोपकः ।
नैमित्तिकानां लक्षादिक्रमाद् द्विगुणं जपेत् ॥ ४२१ ॥
व्रतेन केनचिद्युक्तो मितभुग्ब्रह्मचर्यवान् ।
दूतीपरिग्रहेऽन्यत्र गतश्चेत्काममोहितः ॥ ४२२ ॥
लक्षजापं ततः कुर्यादित्युक्तं ब्रह्मयामले ।

आकारेति—व्यक्तम् । मात्रापरिच्छद इति—व्रतोचिताक्षसूत्रयोगदण्डादिपरिकर इति यावत् । द्विद्विगुणमिति—तेन गुरुतल्पस्थे द्वे लक्षे, वीरद्रव्यहरे च

अनधिकारी = अदीक्षित आदि । यह आचार्य आदि के विषय में है । साधक तो अधिकारी हो तब भी देखने पर दोष ही होता है ॥ जिस अभिप्राय से—

'(साधक को चाहिये कि वह) अपना मन्त्र और अक्षमाला गुरु को भी न दिखाये ।'

इत्यादि कहा गया है ॥

ब्रह्मयामल में केवल यही नहीं, यह भी कहा गया है—

ब्रह्मघाती, गुरुपत्नीगामी, वीरद्रव्य (मद्य मांस आदि) को चुराने वाला, देवद्रव्य का हर्त्ता, (देव) आकार को नष्ट करने वाला, लिङ्गभेदक, नित्य आदि कर्मों का लोप करने वाला, भ्रष्ट (= चरित्रभ्रष्ट) अपने मात्रा को धारण करने वाला, स्त्री का अङ्ग काटने वाला, योगी अथवा ज्ञानी का घातक, नैमित्तिक कार्यों का लोप करने वाला, (कृच्छ चान्द्रायण आदि) किसी (एक) व्रत से युक्त, मिताहारी, ब्रह्मचारी होकर एक लक्ष आदि के क्रम से दो गुना जप करे । दूतीपरिग्रह में यदि कामासक्त होकर अन्यत्र चला गया तो एक लाख जप करे—ऐसा ब्रह्मयामल में कहा गया ॥ -४१९-४२३- ॥

आकार—व्यक्त । मात्रापरिच्छद—व्रत के लिये उचित अक्षमाला योगदण्ड आदि वस्तुओं से युक्त । दो-दो गुना—इस प्रकार गुरुतल्पगामी होने पर दो लाख,

चत्वारीत्यादिक्रमः । काममोहित इति—न तु रहस्यचर्यापरः ॥

इदानीं श्रुतविध्यनन्तरोद्दिष्टं गुरुपूजाविधिमभिधातुमाह—

दीक्षाभिषेकनैमित्तविध्यन्ते गुरुपूजनम् ॥ ४२३ ॥
अपरेद्युः सदा कार्यं सिद्धयोगीश्वरीमते ।
पूर्वोक्तलक्षणोपेतः कविस्त्रिकसतत्त्ववित् ॥ ४२४ ॥
स गुरुः सर्वदा ग्राह्यस्त्यक्त्वान्यं तत्स्थितं त्वपि।

कविरिति—सम्यग्वक्तेति यावत् । तत्स्थितमिति—तत्र त्रिकदर्शनादावेव स्थितं परिचितम्—इत्यर्थः ॥

कथं च अत्र गुरुपूजनं कार्यम्—इत्याह—

मण्डले स्वस्तिकं कृत्वा तत्र हैमादिकासनम् ॥ ४२५ ॥
कृत्वार्चयेत तत्रस्थमध्वानं सकलान्तकम् ।
ततो विज्ञपयेद्भक्त्या तदधिष्ठितये गुरुम् ॥ ४२६ ॥
स तत्र पूज्यः स्वैर्मन्त्रैः पुष्पधूपार्घविस्तरैः ।
समालम्भनसद्वस्त्रैर्नैवेद्यैस्तर्पणैः क्रमात् ॥ ४२७ ॥
आशान्तं पूजयित्वैनं दक्षिणाभिर्यजेच्छिशुः ।

वीरद्रव्य हरण में चार लाख यह क्रम है । कामासक्त—न कि रहस्यचर्या में लगा हुआ ॥

अब श्रुतविधि के बाद उद्दिष्ट गुरुपूजाविधि कहते हैं—

दीक्षा अभिषेक और नैमित्तिक विधि के अन्त में दूसरे दिन गुरु की पूजा सदा करे (ऐसा) सिद्धयोगीश्वरी मत में (कहा गया) है । पूर्वोक्त लक्षण से युक्त कवि त्रिकतत्त्ववेत्ता वह गुरु अन्य उस (त्रिक) में स्थित को भी छोड़कर सर्वदा ग्राह्य है ॥ -४२३-४२५- ॥

कवि = सम्यक् वक्ता । तत्स्थित = उसमें = त्रिकदर्शन आदि में, स्थित = परिचित ॥

यहाँ गुरुपूजन कैसे करे—यह कहते हैं—

मण्डल में स्वस्तिक बनाकर उस पर सोने का आसन रखकर उस पर स्थित सकल पर्यन्त अध्वा की पूजा करे । फिर उस पर बैठने के लिये गुरु से भक्ति के साथ निवेदन करे । उस (गुरु) का उस (आसन) पर अपने मन्त्रों पुष्प धूप अर्घका विस्तार, समालभन, सद्वस्त्र नैवेद्य तर्पण से पूजन करे । आशापर्यन्त इनकी पूजा कर शिष्य दक्षिणा से इनकी पूजा

सर्वस्वमस्मै संदद्यादात्मानमपि भावितः ॥ ४२८ ॥
अतोषयित्वा तु गुरुं दक्षिणाभिः समन्ततः ।
तत्त्वज्ञोऽप्यृणबन्धेन तेन यात्यधिकारिताम् ॥ ४२९ ॥

सकलः—सदाशिवः, एतदन्तश्च अनेन आसनपक्षन्यास उक्तः । तदधिष्ठितये इति—तच्छब्देन सकलान्तासनपक्षपरामर्शः । स्वैरिति—आरिराधयिषितैः । आशान्तमित्यनेन अस्य भैरवावेशोन्मुखत्वं प्रकाशितम् । अधिकारितामिति—मन्त्रमहेश्वरादिरूपत्वम् ॥ ४२९ ॥

किमत्र प्रमाणम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

गुरुपूजामकुर्वाणः शतं जन्मानि जायते ।
अधिकारी ततो मुक्तिं यातीति स्कन्दयामले ॥ ४३० ॥
तस्मादवश्यं दातव्या गुरवे दक्षिणा पुनः ।

ननु गुरोः

'सोऽभिषिक्तो गुरुं पश्चाद्दक्षिणाभिः प्रयूजयेत् ।'

इत्यादिना प्राक् दक्षिणादिदानमुक्तं तत्किमिहि अस्य पुनर्वचनेन?—

करे । इसके लिये सर्वत्र तथा अपने को भी भावनायुक्त होकर दान कर दे । गुरु को दक्षिणा से बिना सन्तुष्ट किये तत्त्वज्ञ भी ऋणबन्ध से (युक्त नहीं होता । वैसा करने पर ही) उसके कारण अधिकारी बनता है ॥ -४२५-४२९ ॥

सकल = सदाशिव, एतदन्त—इससे आसनपक्ष का न्यास कहा गया है । उस पर बैठने के लिये—यहाँ 'उस' शब्द से सकलान्त आसन पक्ष को समझा जाता है । अपने = आराधना करने की इच्छा वाले । आशान्त (= गुरु के शान्त होने तक)—इससे इस (गुरु) का भैरवावेश की ओर उन्मुख होना बतलाया गया । अधिकारिता—मन्त्रमहेश्वर आदि रूपता को ॥ ४२९ ॥

इसमें क्या प्रमाण है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

गुरुपूजा को न करने वाला एक सौ जन्म तक अधिकारी (वर्ग में प्रतिष्ठित) होता है तब मुक्ति को प्राप्त करता है—ऐसा स्कन्दयामल में कहा गया है । इस कारण गुरु को पुनः दक्षिणा अवश्य देनी चाहिये ॥ ४३०-४३१- ॥

प्रश्न—'वह अभिषिक्त होकर बाद में दक्षिणाओं से गुरु की पूजा करे ।

इत्यादि के द्वारा गुरु के लिये पहले दक्षिणा आदि कहा गया है फिर यहाँ

इत्याशङ्क्य आह—

पूर्वं हि यागाङ्गतया प्रोक्तं तत्तुष्टये त्विदम् ॥ ४३१ ॥
तज्जुष्टमथ तस्याज्ञां प्राप्याश्नीयात्स्वयं शिशुः ।
ततः प्रपूजयेच्चक्रं यथाविभवसम्भवम् ॥ ४३२ ॥

तज्जुष्टमिति—तदासेवितम्—इत्यर्थः ॥ ४३२ ॥

एतदेव व्यतिरेकमुखेनापि द्रढयति—

अकृत्वा गुरुयागं तु कृतमप्यकृतं यतः ।
तस्मात्प्रयत्नतः कार्यो गुरुयागो यथाबलम् ॥ ४३३ ॥

यथाबलमिति—वित्तशाठ्यादिवर्जम् ॥ ४३३ ॥

गुरुश्चेदसन्निहितः, तदा किं कार्यम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

अतत्रस्थोऽपि हि गुरुः पूज्यः सङ्कल्प्य पूर्ववत् ।
तद्द्रव्यं देवताकृत्ये कुर्याद्भक्तजनेष्वथ ॥ ४३४ ॥

आह्निकार्थमेव उपसंहरति—

इसके पूर्व कथन से क्या लाभ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

पहले याग के अङ्ग के रूप में कहा गया । उसकी तुष्टि के लिये यह (कहा गया) । इसके बाद उसके (= गुरु के) द्वारा सेवित (पदार्थ) को उसकी (= गुरु की) आज्ञा लेकर शिशु स्वयं खाये । बाद में अपने सामर्थ्य के अनुसार चक्र की पूजा करे ॥ -४३१-४३२ ॥

तज्जुष्टम् = उनके द्वारा आसेवित (= जूठा) ॥ ४३२ ॥

इसी को उल्टे ढंग से दृढ़ करते हैं—

चूँकि गुरु पूजा न करने से किया हुआ भी (समस्त अनुष्ठान) व्यर्थ हो जाता है इसलिये गुरुपूजा शक्ति के अनुसार करनी (ही) चाहिये ॥ ४३३ ॥

यथाबल = पैसे की कृपणता से रहित ॥ ४३३ ॥

प्रश्न—यदि गुरु पास में न हों तो क्या करना चाहिये?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अनुपस्थित भी गुरु की पहले की भाँति सङ्कल्प कर पूजा करे । उस द्रव्य को देवकार्य में या भक्तजनों के लिये लगाये ॥ ४३४ ॥

आह्निकार्थ का उपसंहार करते हैं—

पर्वपवित्रप्रभृतिप्रभेदि नैमित्तिकं त्विदं कर्म ।

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके पर्वपवित्रकादिप्रकाशनं नाम अष्टाविंशमाह्निकम् ॥ २८ ॥

इदं कर्मेति—अर्थादुक्तमिति शिवम् ॥

नित्यनिमित्ताद्यर्चाचर्चाचातुर्यचारुचरितेन ।
विवृतमिहाष्टाविंशं किलाह्निकं जयरथेनैतत् ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते पर्वपवित्रकादिप्रकाशनं नाम अष्टाविंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ २८ ॥

पर्व पवित्र आदि भेद वाला यह नैमित्तिक कर्म (कहा गया) ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के अष्टाविंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २८ ॥

यह कर्म—अर्थात् कहा गया ।

नित्य नैमित्तिक आदि पूजा की चर्चाचातुरी के द्वारा उत्तम चरित वाले जयरथ ने इस अट्ठाईसवें आह्निक की व्याख्या की ।

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के अष्टाविंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशमाह्निकम्
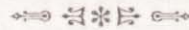
* विवेकः *

भद्राणि भद्रकालः कलयतु वः सर्वकालमतुलगतिः ।
अकुलपदस्थोऽपि हि मुहुः कुलपदमभिधावतीह प्रसभम् ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन रहस्यचर्चाविधिमभिधातुं प्रतिजानीते—

अथ समुचिताधिकारिण उद्दिश्य रहस्य उच्यतेऽत्र विधिः ।

रहस्य इति—कुलप्रक्रियायाम् । विधिरिति—यागः ॥

एतदेव विभजति—

अथ सर्वाप्युपासेयं कुलप्रक्रिययोच्यते ॥ १ ॥
तथा धाराधिरूढेषु गुरुशिष्येषु योचिता ।

---

* ज्ञानवती *

अतुल गति वाले भद्रकाल, जो कि अकुलपद में स्थित होते हुये भी हठात् कुलपद में जाते हैं, सब समय आपका कल्याण करें ॥

अब (श्लोक के) द्वितीयार्ध के द्वारा रहस्यचर्चाविधि को बतलाने के लिये प्रतिज्ञा करते हैं—

अब समुचित अधिकारी को लक्ष्य कर यहाँ रहस्यविधि (= कुलयाग) कही जा रही है ॥ १- ॥

रहस्य में—कुलप्रक्रिया में । विधि = याग ॥

इसी का विभाग करते हैं—

अब कुलप्रक्रिया के अनुसार यह सर्वोपासना (= याग) कहा जाता

कुलप्रक्रियया उपासेति—कुलयागः—इत्यर्थः । तथा धाराधिरूढेष्विति—अनेन परकाष्ठाप्राप्तनिर्विकल्पकदशाधिशायितया रूढप्रायतामभिदधता अधिकारिभेदोऽपि उपक्षिप्तः । अत्र च स्वकृतप्रतिज्ञासूत्रवार्तिकप्रायतामभिद्योतयितुमथशब्दस्य उपादानम् ॥

ननु कुलप्रक्रियायाः प्रक्रियान्तरेभ्यः किं नाम वैलक्षण्यं यदेवमधिकारिभेदोऽपि विवक्षितः ?—इत्याशङ्क्य आह—

उक्तं च परमेशेन सारत्वं क्रमपूजने ॥ २ ॥

तदेव आह—

सिद्धक्रमनियुक्तस्य मासेनैकेन यद्भवेत् ।
न तद्वर्षसहस्रैः स्यान्मन्त्रौघैर्विविधैरिति ॥ ३ ॥

सिद्धक्रमेति—सिद्धानां कृतयुगादिक्रमेण अवतीर्णानां श्रीखगेन्द्रनाथादीनां क्रमे तत्परम्परागतायां कुलप्रक्रियायाम्—इत्यर्थः । विविधैरिति—तत्तत्प्रक्रियान्तरोदितैः—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

है जो कि उस प्रकार की धारा में अधिरूढ़ गुरु शिष्यों के लिये उचित है ॥ -१-२- ॥

कुलप्रक्रिया के अनुसार उपासा = कुलयाग । उस प्रकार की धारा में अधिरूढ—इससे परा काष्ठा को प्राप्त निर्विकल्पक दशाधिशायी होने के कारण रूढप्रायता को कहने वाले के द्वारा अधिकारीभेद भी सङ्केतित किया गया । और यहाँ 'अथ' शब्द का ग्रहण अपने द्वारा की गयी प्रतिज्ञासूत्रवार्त्तिकप्रायता को बतलाने के लिये है ॥

प्रश्न—कुलप्रक्रिया की अन्य प्रक्रियाओं से क्या विचित्रता है जो इस प्रकार अधिकारीभेद (= भिन्न अधिकारी) भी विवक्षित है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

क्रमपूजा में परमेश्वर ने (इस का) सार कहा है ॥ -२ ॥

वही कहते हैं—

सिद्धक्रम में लगे हुये (साधक) को एक महीने में जो फल प्राप्त होता है वह विविध मन्त्रसमूहों द्वारा हजारों वर्ष में भी नहीं मिलता ॥ ३ ॥

सिद्धक्रम = सिद्ध = सत्ययुग आदि, के क्रम से अवतीर्ण श्री खगेन्द्रनाथ आदि के, क्रम में = परम्परा में = कुलप्रक्रिया में । (इससे यह अनुमान होता है कि खगेन्द्रनाथ या तो कौलमत के प्रवर्त्तक थे या अन्य प्रवर्त्तित इस कौलमार्ग के प्रसिद्ध प्रतिष्ठित आचार्य थे ।) विविध = उन-उन दूसरी प्रक्रियाओं में कहे गये । वही कहा गया—

'सिद्धान्तादिषु तन्त्रेषु ये मन्त्राः समुदाहृताः ।
वीर्यहीनास्तु ते सर्वे शक्तितेजोज्झिता यतः ॥
कौलिकास्तु महामन्त्राः स्वभावाद्दीप्ततेजसः ।
स्फुरन्ति दिव्यतेजस्काः सद्यःप्रत्ययकारकाः ॥' इति ॥ ३ ॥

तत्र कुलप्रक्रिययेत्यत्र उक्तं कुलशब्दं तावद् व्याचष्टे—

कुलं च परमेशस्य शक्तिः सामर्थ्यमूर्ध्वता ।
स्वातन्त्र्यमोजो वीर्यं च पिण्डः संविच्छरीरकम् ॥ ४ ॥

सामर्थ्यमिति—लयोदयकारित्वम् । ऊर्ध्वतेति—सर्वेषां कारणतया उपरिवर्तित्वम् । स्वातन्त्र्यमिति—सर्वकर्तृत्वाद्यात्मकम् । पिण्ड इति—विश्वस्य अत्र सामरस्येन अवस्थानात् । संविदिति—आत्मा । तदुक्तम्—

'कुलं हि परमा शक्तिः .... ।' इति
'लयोदयश्चित्स्वरूपस्तेन तत्कुलमुच्यते ।' इति
'स्वभावे बोधममलं कुलं सर्वत्र कारणम् ।' इति
'सर्वकर्तृ विभु सूक्ष्मं तत्कुलं वरवर्णिनि ।' इति
'सर्वेशं तु कुलं देवि सर्वं सर्वव्यवस्थितम् ।
तत्तेजः परमं घोरं............................ ॥' इति

'शैवसिद्धान्त आदि तन्त्रों में जो मन्त्र कहे गये हैं वे सब शक्तिहीन हैं क्योंकि वे शक्तितेज से रहित हैं । कौलिक महामन्त्र स्वभाव से दीप्ततेजस् वाले स्फुरित होते हैं । दिव्यतेजस् वाले वे सद्यः ज्ञानदायी हैं ॥ ३ ॥

'कुलप्रकियया' इसमें कथित कुल शब्द की व्याख्या करते हैं—

कुल परमेश्वर की शक्ति, सामर्थ्य, ऊर्ध्वता, स्वातन्त्र्य, ओज, वीर्य, शरीर और चैतन्य (या आत्मा का नाम) है ॥ ४ ॥

सामर्थ्य = लय और उदय कराना । ऊर्ध्वता = सबके कारण के रूप में ऊपर रहना । स्वातन्त्र्य = सर्वकर्तृत्व आदि रूप । पिण्ड—इस विश्व के सामरस्य के साथ स्थित होने के कारण । संवित् = आत्मा । वही कहा गया—

'कुल परमाशक्ति है ।'

'लय और उदय चिद्रूप है इसलिये कुल कहा जाता है ।'

'स्वभाव में अमल बोध कुल है जो कि सबका कारण है ।'

'हे वरवर्णिनि ! जो सबका कर्त्ता व्यापक और सूक्ष्म है वहीं कुल है ।'

'हे देवि ! सर्वेश ही कुल है (वह) सर्वात्मक सबमें स्थित परम घोर तेज है ।'

'शक्तिगोचरगं वीर्यं तत्कुलं विद्धि सर्वगम् ।' इति
'कुलं स परमानन्दः........................ ।' इति
'कुलमात्मस्वरूपं तु........................ ।' इति
'कुलं शरीरमित्युक्तम्........................ ।' इति ॥ ४ ॥

एवं कुलशब्दं व्याख्याय विध्युपासादिशब्दोन्नीतं यागशब्दमपि व्याख्यातुमाह—

तथात्वेन समस्तानि भावजातानि पश्यतः ।
ध्वस्तशङ्कासमूहस्य यागस्तादृश एव सः ॥ ५ ॥

तथात्वेनेति—शिवशक्तिस्फारसारतया ॥ ५ ॥

तथा पश्यतस्तस्य यागोऽपि तादृश एवेति किमर्थमुक्तम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

तादृग्रूपनिरूढ्यर्थं मनोवाक्कायवर्त्मना ।
यद्यत्समाचरेद्वीरः कुलयागः स स स्मृतः ॥ ६ ॥

एवमुक्तसतत्त्वश्च अयं यागः किमाधारः ?—इत्याशङ्क्य आह—

बहिः शक्तौ यामले च देहे प्राणपथे मतौ ।

'शक्ति के विषयों में रहने वाला जो सर्वगामी वीर्य उसे कुल समझो ।'

'वह परम आनन्द ही कुल है ।'

'आत्मस्वरूप कुल है ।'

'कुल शरीर को कहा गया है' ॥ ४ ॥

कुल शब्द की व्याख्या कर विध्युपासा शब्द से उन्नीत यागशब्द की व्याख्या करते हैं—

उस रूप में समस्त पदार्थों को देखने वाले तथा विनष्टशङ्कासमूह वाले के लिये वैसा करना ही याग होता है ॥ ५ ॥

उस रूप में = शिवशक्ति के स्फारसार के रूप में ॥ ५ ॥

वैसा देखने वाले का याग भी वैसा ही होता है—ऐसा क्यों कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस रूप (= शिवशक्तिस्फारसारदर्शन) में दृढ़ता प्राप्त करने के लिये मन वाणी एवं कर्म के द्वारा वीराचारी (साधक) जो-जो आचरण करता है वह-वह कुलयाग माना गया है ॥ ६ ॥

इस प्रकार के कथित तत्त्व वाले याग का आधार क्या है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इति षोढा कुलेज्या स्यात्प्रतिभेदं विभेदिनी॥ ७ ॥

यामले इति—आद्ययागाधिरूढे मिथुने । प्राणपथे इति—मध्यनाड्याम् । माताविति—बुद्धौ, तत्तदध्यवसायद्वारिकापि तत्सम्पत्तिर्भवेत्—इति भावः । प्रतिभेदं विभेदिनीति—यथा बहिरेव भूवस्त्राद्या विभेदाः ॥ ७ ॥

ननु एवमाधारभेदवदितिकर्तव्यतापि अत्र किं तन्त्रप्रक्रियातः किञ्चिद्विभिद्यते न वा ?—इत्याशङ्क्य आह—

स्नानमण्डलकुण्डादि षोढान्यासादि यत्र तत् ।
किञ्चिदत्रोपयुज्येत कृतं वा खण्डनाय नो ॥ ८ ॥

तेन यथेच्छमेतत्कुर्यात्—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'नास्यां मण्डलकुण्डादि किञ्चिदप्युपयुज्यते ।
न च न्यासादिकं पूर्वं स्नानादि च यथेच्छया॥' इति ॥ ८ ॥

ननु अत्र बाह्यस्नानादावनवक्लृप्तौ किं निमित्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—

षण्मण्डलविनिर्मुक्तं सर्वावरणवर्जितम् ।
ज्ञानज्ञेयमयं कौलं प्रोक्तं त्रैशिरसे मते ॥ ९ ॥

बाहर, शक्ति, यामल, देह, मध्यनाडी और बुद्धि में—इस प्रकार छह तरह का कुलयाग होता है । प्रत्येक भेद के कई उपभेद होते हैं ॥ ७ ॥

यामल = प्रथम याग में मिथुन के अधिरूढ होने पर । प्राणपथ में = सुषुम्ना में । मति में = बुद्धि में । तत्तत् निश्चय के द्वारा भी उस (याग) की प्राप्ति होती है । प्रतिभेद में भेदवाली—जैसे कि बाह्य याग में भू वस्त्र आदि भेद है ॥ ७ ॥

प्रश्न—आधारभेद की भाँति क्या यहाँ इतिकर्तव्यता भी तन्त्रप्रक्रिया से कुछ भिन्न होती है या नहीं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

स्नान मण्डल कुण्ड आदि छह प्रकार का न्यास आदि जो कुछ (अन्य मार्गों में विहित) है उसका यहाँ कुछ भी उपयोग नहीं है । यदि (किसी के द्वारा) किया गया तो (उसका) खण्डन भी नहीं है ॥ ८ ॥

इससे इच्छानुसार इसे करना चाहिये । जैसा कि कहा गया—

इस (कुलयाग) में मण्डल कुण्ड आदि किसी का उपयोग नहीं है न तो पहले न्यास आदि है । स्नान आदि इच्छानुसार है ॥ ८ ॥

प्रश्न—यहाँ बाह्य स्नान आदि की अनावश्यकता में क्या कारण है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

त्रिशिरोभैरव में कौलज्ञान को छह मण्डलों से रहित सर्वावरणवर्जित

इह शिवशक्तिसामरस्यात्मकं कुलज्ञानं षड्भिर्मण्डलैः

'षट्चक्रेश्वरता नाथस्योक्ता त्रैशिरसे मते ।' (१।११४)

इत्यादौ निरूपितैस्तत्रत्यैश्चक्रैर्विनिर्मुक्तं निष्प्रपञ्चम्, अत एव सर्वावरणवर्जितमत एव ज्ञानं बहिर्मुखं प्रमाणात्म वेदनम्, ज्ञेयं नीलसुखादि वेद्यं तन्मयम् । तत्स्फारसारमेव इदं सर्वं वेद्यवेदकादि, न तु तदतिरिक्तं किञ्चित्—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये ।
वेदकं वेद्यमेकं तु तत्त्वं नास्त्यशुचिस्ततः ॥' इति ॥ ९ ॥

अतश्च संविन्मात्रसारत्वात् सर्वस्य शुद्ध्यशुद्धी अपि वास्तवे न स्त इति कटाक्षयितुं तद्विभागोऽपि नेह अभिमतः—इत्याह—

अत्र यागे च यद्द्रव्यं निषिद्धं शास्त्रसन्ततौ ।
तदेव योजयेद्धीमान्वामामृतपरिप्लुतम् ॥ १० ॥

तदुक्तम्—

'द्रव्यैश्च लोकविद्विष्टैः शास्त्रार्थाच्च बहिष्कृतैः ।
विजुगुप्स्यैश्च निन्द्यैश्च पूजनीयस्त्वयं क्रमः ॥' इति ॥ १० ॥

और ज्ञानज्ञेयमय कहा गया है ॥ ९ ॥

यहाँ शिवशक्तिसामरस्य रूप कौलज्ञान को छह मण्डलों से—

'त्रिशिरोमत में परमेश्वर की षट्चक्रेश्वरता कही गयी है ।'

इत्यादि में निरूपित्त वहाँ के चक्रों से मुक्त = निष्प्रपञ्च, इसलिये सब आवरण से रहित, इसलिये ज्ञान = बहिर्मुख प्रमाणात्मक वेदन, ज्ञेय = नील सुख आदि, तन्मय । अर्थात् यह सब वेद्यवेदक आदि उसका स्फार ही है उससे भिन्न कुछ नहीं है । वही कहा गया—

'हे प्रिये ! जब तक ये वेदक नहीं होंगे तब तक वेद्य कैसे होंगे । वेद्य और वेदक एक तत्त्व हैं । इस कारण (कुछ भी) अशुद्ध नहीं है ॥ ९ ॥

इसलिये संविन्मात्रसार होने के कारण इसकी शुद्धता अशुद्धता भी वास्तविक नहीं है—यह सङ्केतित करने के लिये उसका विभाग भी यहाँ अभिमत नहीं है—यह कहते हैं—

शास्त्रा प्परा के अनुसार जो द्रव्य निषिद्ध है बुद्धिमान् वाम अमृत (= मद्य) से परिप्लुत (= युक्त) उसी को इस याग में लगाये ॥ १० ॥

वही कहा गया—

'लोकविद्विष्ट, शास्त्रार्थ से बहिष्कृत, घृणास्पद, निन्दनीय द्रव्यों के द्वारा देवता

ननु भवतु नाम अत्र शास्त्रादिबहिष्कृतं द्रव्यम्, मद्यसंस्पर्शनेन पुनरस्य कोऽर्थः ?—इत्याशङ्क्य आह—

श्रीब्रह्मयामलेऽप्युक्तं सुरा शिवरसो बहिः ।
तां विना भुक्तिमुक्ती नो पिष्टक्षौद्रगुडैस्तु सा ॥ ११ ॥
स्त्रीनपुंसकपुंरूपा तु पूर्वापरभोगदा ।
द्राक्षोत्थं तु परं तेजो भैरवं कल्पनोज्झितम् ॥ १२ ॥
एतत्स्वयं रसः शुद्धः प्रकाशानन्दचिन्मयः ।
देवतानां प्रियं नित्यं तस्मादेतत्पिबेत्सदा ॥ १३ ॥

शिवरस इति । तदुक्तम्—

'सुरा च परमा शक्तिर्मद्यं भैरव उच्यते ।
आत्मा कृतो द्रवरूपो भैरवेण महात्मना ॥' इति ।

तां विना नो बहिर्भुक्तिमुक्ती इति । तदुक्तम्—

'नानेन रहितो मोक्षो नानेन रहिता गतिः ।
नानेन रहिता सिद्धिर्विशेषाद्भैरवागमे ॥' इति
'येनाघ्रातं श्रुतं दृष्टं पीतं स्पृष्टं महेश्वरि ।

की पूजा करनी चाहिये यहाँ यही यह क्रम है ॥ १० ॥

प्रश्न—यहाँ शास्त्र आदि से बहिष्कृत द्रव्य (उपयोग के लिये) हो किन्तु मद्य के स्पर्श से यहाँ क्या तात्पर्य है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

श्री ब्रह्मयामल में भी कहा गया है कि सुरा शिव का बाह्यरस (= तत्त्व) है । उसके बिना भोग और मोक्ष नहीं होता । पिष्ट (= जौ आदि) मधु एवं गुड से (बनी हुयी) वह (मदिरा) स्त्री नपुंसक पुरुष रूप होती है और पूर्वापर भोग देने वाली होती है । द्राक्षा से निकली हुयी सुरा कल्पना से रहित परम भैरवीय तेज है । यह स्वयं (उत्पन्न) शुद्ध प्रकाश आनन्द और चिन्मय रस सदा देवताओं का प्रिय है । इस कारण इसे सदा पीना चाहिये ॥ ११-१३ ॥

शिवरस—वही कहा गया—

'सुरा परमा शक्ति और मद्य भैरव कहा जाता है । महात्मा भैरव (= शिव) ने (जो) अपने को द्रव रूप में कर दिया (वही यह मद्य है) ॥'

उसके बिना भोग और मोक्ष नहीं होता । वही कहा गया—

विशेष रूप से भैरवागम में इसके बिना मोक्ष नहीं इसके बिना गति नहीं इसके बिना सिद्धि नहीं ।'

भोगमोक्षप्रदं तस्य.......................... ॥'

इति च । सा च द्विधा कृत्रिमा सहजा च । तत्र कृत्रिमा त्रिविधा पैष्टी क्षौद्री गौडी चेति, सहजस्तु एक एव द्राक्षोत्थो भैरवादिशब्दव्यपदेश्यः परमुत्कर्षभाक्—इत्याह—पिष्टेत्यादि । पुमपेक्षया च स्त्रीनपुंसकयोर्भोग्यत्वमेवेत्युक्तम्—पूर्वापरभोगदेति । कल्पनोज्झितमिति—स्त्रीनपुंसकादिरूपया प्रतिनियतया कल्पनया उज्झितं परप्रमात्रेकरूपम्—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'पैष्टी गौडी तथा माध्वी कृत्रिमा तु सुरा स्मृता ।
स्त्रीपुंनपुंसकतया साधके भोगदायिका ॥' इति

'मार्द्वीकः सहजस्त्वेकस्तत्तेजो भैरवात्मकम् ।
न स्त्री नपुंसकं वापि न पुमान् परमो विभुः ॥' इति

'गौडी माध्वी तथा पैष्टी ऊर्ध्वे आनन्दभैरवः ।' इति

'चतुरस्रस्त्वयं धर्मश्चतुर्युगसमो नयः ।
चतुर्णां चैव मद्यानामानन्दः शान्तितत्परः ॥' इति ।

परतेजस्त्वादेव च एतत् स्वयं पारतीयो रसस्तत्समानमाहात्म्यः—इत्यर्थः । शुद्ध इति—तत्तदुपाधिभूतद्रव्यान्तरासंभिन्नः, तथात्वे हि अस्य नियत एव प्रभावो

'हे महेश्वरी ! जिसने (इस मद्य को) सूँघा देखा पीया या उसका स्पर्श किया उसके लिये (यह) भोगमोक्षप्रद हो जाता है ॥'

वह दो प्रकार की है—बनायी गयी और स्वाभाविक । उसमें कृत्रिम तीन प्रकार की है—पैष्टी (= अनाज सड़ा कर बनायी गयी) मधु से बनी तथा गुड से बनी । सहजा तो एक ही है जो कि अंगूर से बनती है । यह भैरव आदि शब्द से कही जाती है तथा परम उत्कृष्ट होती है—यह कहते हैं—पिष्ट..........। पुरुष की अपेक्षा स्त्री और नपुंसक भोग्य ही होते हैं इसलिये कहा गया—पूर्वापर भोग देने वाली । कल्पना से परे = स्त्री नपुंसक आदि रूप निश्चित कल्पना से रहित केवल परप्रमाता रूप । वही कहा गया—

'पैष्टी गौड़ी और माध्वी सुरा कृत्रिम मानी गयी है । यह स्त्री पुरुष और नपुंसक के रूप में साधक के लिये मोक्षदायिनी है ।' तथा

'अंगूर की सुरा एकमात्र सहज है । वह भैरवात्मक तेज है । वह न स्त्री न पुरुष न नपुंसक है (बल्कि) परम विभु है ।' तथा

'गौडी पैष्टी तथा माध्वी और इनके ऊपर आनन्दभैरव (= अंगूरी मद्य) है ।'

'यह धर्म चार प्रकार का है । नीति चार युगों के समान है । चारों मद्यों में (यह) आनन्द एवं शान्तिदायक वैशिष्ट्य है ।'

पर तेजस् होने के कारण ही यह स्वयं पारतीय रस = उस (= पारद) के

भवेत्—इति भावः । अत एव उक्तं प्रकाशानन्दचिन्मय इति । तदुक्तम्—

'यथा भैरवचक्रेषु नायकः शिवभैरवः ।
देवताचक्रसन्दोहे यथा कालान्तकी परा ॥
तथा सर्वरसेन्द्राणां नायकौ द्वावुदाहृतौ ।
मद्यभैरवनाथस्तु रसेन्द्रः पारतीयकः ॥' इति ।

देवतानां प्रियमिति । यदुक्तम्—

'भैरवस्य प्रियं नित्यं बहु मातृगणस्य च ।' इति ।

तस्मादिति—एवंमाहात्म्यवत्त्वात्, न तु पशुवत् लौल्यादिना । यदुक्तम्—

'अयष्ट्वा भैरवं देवमकृत्वा मन्त्रतर्पणम् ।
पशुपानविधौ पीत्वा वीरोऽपि नरकं व्रजेत् ॥' इति ।

पिबेदिति—विधिः । अत एव अपानात्प्रत्यवायोपि स्यात् । यदुक्तम्—

'कुलाचारसमायुक्तो ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा ।
यदा मद्येन न स्पृष्टः प्रायश्चित्तं तदा चरेत् ॥' इति
'मद्यमांसाधिवासेन मुखं शून्यं यदा भवेत् ।
तदा पशुत्वमायाति प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥' इति च ।

समान महत्ता वाला है । शुद्ध = तत्तत् उपाधिभूत दूसरे द्रव्यों से अमिश्रित । क्योंकि वैसा होने पर उसका प्रभाव सीमित हो जाता । इसीलिये कहा गया—प्रकाशानन्द चिन्मय । वही कहा गया—

'जैसे भैरवचक्र में शिवभैरव नायक है; जैसे देवताचक्रसमूह में यमराज है उसी प्रकार समस्त रसेन्द्रों के दो नायक हैं—मद्य भैरवनाथ और रसेन्द्र पारद ।'

देवताओं का प्रिय—जैसा कि कहा गया—

'यह भैरव का एवं मातृसमूह का नित्य प्रिय है ।'

इस कारण = इस प्रकार माहात्म्य वाला होने से न कि पशु की भाँति लोभ आदि के कारण । जैसा कि कहा गया—

'भैरव देव की बिना पूजा किये और बिना मन्त्रतर्पण किये पशुपान की रीति से पीकर वीराचारी साधक भी नरक में चला जाता है ।'

पीना चाहिये—यह विधि है । इसलिये न पीने पर प्रत्यवाय भी होता है । जैसा कि कहा गया—

'कौलपरम्परा में दीक्षित ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय भी जब मद्य का स्पर्श (= सेवन) न कर सकें तो प्रायश्चित्त करे ।'

'जब (साधक का) मुख मद्य एवं मांस के अधिवास (= गन्ध) से शून्य हो

सदेति—यागावसरे, अन्यथा हि क्षणमपि मद्यपानविरतौ प्रत्यवायः प्रसजेत् । तेन

'दिनमेकं दिनार्धं वा तदर्धं चार्धमेव च ।
निवृत्तेरलिपानस्य प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ॥'

इति यागकालापेक्षयैव योज्यम् । यत् पुनः

'उत्तमं तु सदा पानं भवेत्पर्वसु मध्यमम् ।
अधमं मासमात्रेण मासादूर्ध्वं पशुर्भवेत् ॥'

इत्यादि, तदापद्विषयतया उक्तम् । यत्तु

'मलयेन तु विप्राणां क्षत्त्राणां कुंकुमेन च ।
कर्पूरवारि वैश्यानां शूद्राणामलिना प्रिये ॥' इति
'दीक्षाकाले तु विप्रस्य क्षत्रियस्य रणारुहे ।
वैश्यस्य क्षितिमाङ्गल्ये शूद्रस्यान्त्येष्टिकर्मणि ॥'

इत्याद्युक्तं तददीक्षितविषयम्; किन्तु पूर्वत्र अस्मदुक्तार्चातर्पणश्रद्धालुविषयत्व-मधिकम्, अन्यथा जातिभेदो दुर्वचः स्यात् । दीक्षाकाले इति—सौत्रामण्यादौ । अत एव

जाता है तब वह पशु हो जाता है । तब उसे प्रायश्चित्त करना चाहिये ।'

सदा = याग के समय । अन्यथा एक क्षण भी मद्यपान से रहित होने पर प्रत्यवाय होता है । इससे—

'एक दिन आधा दिन उसका आधा और उसका आधा दिन मद्यपान से रहित होने पर मनुष्य प्रायश्चित्त का भागी होता है ।'

इसको याग काल की अपेक्षा से जोड़ना चाहिये । और जो—

'(मद्य का) सर्वदा पान उत्तम है । केवल पर्व पर पीना मध्यम है । एक महीने के अन्तराल से पीना अधम है । एक महीने से ऊपर (बीतने पर पीने वाला) पशु हो जाता है ।'

इत्यादि (कहा गया) वह आपत्तिकाल के लिये है । जो कि—

'ब्राह्मणों की चन्दन से, क्षत्रियों की कुंकुम से, वैश्यों की कपूर के जल से और शूद्रों की मद्य से (शुद्धि होती है) ।' तथा

'ब्राह्मण के दीक्षाकाल में, क्षत्रिय के युद्ध में जाने पर, वैश्य के क्षितिमाङ्गल्य (= कृषि कार्य के समय) तथा शूद्र के अन्त्येष्टि कर्म में (मद्य-पान विहित है) ।'

इत्यादि (कथन है) वह अदीक्षित के बारे में कहा गया है । किन्तु पहले हमारे द्वारा उक्त अर्चन तर्पण श्रद्धालुविषयक अधिक है । अन्यथा जातिभेद (करना)

'यतः प्रभृति कालाच्च दैत्याचार्येण दूषितम्।
ततः प्रभृति वर्णानां नामभेदः प्रदर्शितः ॥
सौत्रामण्यां ब्राह्मणानां पानार्थं स्मृतमध्वरे ।
महाहवे क्षत्रियाणां वैश्यानां क्षितिकर्मणि ॥
महोत्सवे तु बन्धूनां मित्राणां च समागमे ॥
श्मशानान्ते च शूद्राणां विवाहे पुत्र जन्मनि।
पानभेदमिदं भद्रे जन्तूनां मूढचेतसाम् ।
ये पुनः शाङ्करे तन्त्रे देवीतन्त्रे च दीक्षिताः॥
गुर्वाज्ञानिरता गुप्ता जपपूजापरायणाः ।
ज्ञानविज्ञानकुशला लौल्यात्र महिताशयाः ।
तेषां पुनर्द्विजानां तु न विरुद्धं सदा प्रिये ॥'

इत्यादि उक्तम्, इत्यलमवान्तरेण । एवमियदनेन उपक्षिप्तं यत्—एवं शास्त्रादिबहिष्कृतं द्रव्यजातं सम्भृतमपि विना मद्यं न यागसम्पत्तौ निमित्तम्, मद्यं पुनरेककमेव विनापि एवं द्रव्यजातं तत्र निमित्तमिति, येनोक्तं वामामृतपरिप्लुतं तद्योजयेदिति । यदागमः—

'एकतश्चरवः सर्वे मद्यमेवैकमेकतः ।
चरुहीनोऽपि कुर्वीत मद्यहीनं न जातुचित् ॥' इति

कठिन हो जायगा । दीक्षाकाले = सौत्रामणीयाग आदि में । इसीलिये—

'जब से शुक्राचार्य ने (मद्यपान को) निषिद्ध कर दिया तब से वर्णों का नामभेद दिखलाया गया । ब्राह्मणों का नाम सौत्रामणीयाग में पान के लिये माना गया है । क्षत्रियों का युद्ध में, वैश्यों का कृषि कर्म में, बन्धु गणों का महोत्सव में, मित्रों के आने पर, शूद्रों का श्मशानान्त कर्म के बाद विवाह एवं पुत्रजन्म के अवसर पर, यह पानभेद हे भद्रे ! मूढ चित्त वाले जीवों के लिये है । जो लोग शैवतन्त्र या शाक्ततन्त्र में दीक्षित हैं, गुरुआज्ञापालक, गुप्त, जप पूजा में लगे हुये, ज्ञान-विज्ञान कुशल, लोभरहित, उच्च आशय वाले हैं—हे प्रिये ! ऐसे द्विजों के लिये (पान) सर्वदा अविरुद्ध (= ग्राह्य) है ।'

इत्यादि कहा गया । बस इतना पर्याप्त है । इस प्रकार इससे यह तात्पर्य निकला कि इस प्रकार शास्त्र आदि से बहिष्कृत द्रव्यसमूह इकट्ठा किये जाने पर भी मद्य के अभाव में याग के अनुष्ठान का कारण नहीं बन सकता । और मद्य अकेला ही बिना अन्य द्रव्यसमूह के भी उसमें कारण बन सकता है । इसीलिये कहा गया—वाम अमृत से परिप्लुत (= युक्त) उसे (यज्ञ में) लगाना चाहिये । जैसा कि आगम है—

'एक ओर सब (प्रकार के समस्त) चरु हैं और एक ओर केवल मद्य । चरुहीन (यज्ञ) करे किन्तु मद्यहीन कभी भी न (करे) ।'

'एषामभावे द्रव्याणां नित्यं पूजा विधीयते ।
एकेन मद्यनाथेन विना तेनापि निष्फला ॥' इति
'पुष्पधूपोपहारादि यदि न स्यात्सुलोचने ।
अलिना तर्पयेन्मन्त्रं.................................. ॥' इति
'किमन्यैर्द्रव्यसङ्घातैर्देवि यागोपयोगिभिः ।
वामामृतेन चैकेन कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥' इति
'अर्घ पुष्पं तथा धूपं दीपं नैवेद्यमेव च ।
वीरद्रव्यादि यत्किञ्चित्सर्वं मद्ये प्रतिष्ठितम् ॥' इति
'मद्येनैकतमेनैव शक्तीशं शक्तिभिर्युतम् ।
यजेत्सान्निध्यकामस्तु सर्वदा सर्वथा प्रिये ॥' इति
'अलिना रहितं यस्तु पूजयेत्पादुकाक्रमम् ।
योगिन्यस्तस्य सीदन्ति भक्षयन्ति रसामिषम् ॥' इति
'मद्यरिक्तास्तु ये देवि न ते सिध्यन्ति पश्चिमे ।
थोहकासमते नित्यं कुलभ्रष्टाः स्वयंभुवः ॥' इति च ।

इह मद्याधीनमेव सर्वेषामनुष्ठानमिति अत्र आगमसंवादे भरोऽस्माभिः कृत इति न अस्मभ्यमभ्यसूययितव्यम् ॥ १३ ॥

'इन द्रव्यों के अभाव में केवल मद्यनाथ से नित्यपूजा का विधान है उसके बिना (पूजा) निष्फल है ।'

'हे सुलोचने ! यदि पुष्प धूप उपहार आदि न हो तो केवल मद्य से मन्त्र (= देवताओं) का तर्पण करे ।'

'हे देवि ! यागोपयोगी अन्य द्रव्यों से क्या लाभ? एक वाम अमृत (= मद्य) से (पूजा करे । अन्य द्रव्य (इसकी) सोलहवीं भी कला के बराबर नहीं है ।'

'अर्घ पुष्प धूप दीप नैवेद्य और जो कुछ वीरद्रव्य आदि है वह सब मद्य में प्रतिष्ठित है ।'

'हे प्रिये ! (मेरा) सान्निध्य चाहने वाला सर्वदा और सर्वथा केवल मद्य से शक्तियुक्त शक्तिमान् (मेरी) की पूजा करे ।'

'जो (साधक) पादुकाक्रम की मद्यरहित पूजा करता है, योगिनियाँ उससे रुष्ट हो जाती हैं और उसका रस और मांस खाने लगती हैं ।'

'हे देवि ! जो मद्य से रिक्त होते हैं वे थोहकास (= तन्नामक विद्वान अथवा थोह कास में वर्णव्यत्यय एवं वर्ण की परिवृत्तिनियम के अनुसार शोकहास) के मत में स्वयंभू (= स्वयं बिना गुरु के अनुष्ठान करने वाले वे) नित्य कुलभ्रष्ट होते हैं ।'

सबका अनुष्ठान मद्य के अधीन है इसलिये आगमसंवाद पर हमने जोर दिया है । अतः हमारी निन्दा न कीजिये ॥ १३ ॥

एवमस्य प्राधान्येऽपि अवान्तरवस्त्वपेक्षया शास्त्रान्तरेऽन्यदपि किञ्चित्प्रधान-तयोक्तम्—इत्याह—

श्रीमत्क्रमरहस्ये च न्यरूपि परमेशिना ।
अर्घपात्रं यागधाम दीप इत्युच्यते त्रयम् ॥ १४ ॥
रहस्यं कौलिके यागे तत्रार्घः शक्तिसङ्गमात् ।
भूवस्त्रकायपीठाख्यं धाम चोत्कर्षभाक् क्रमात्॥ १५ ॥
दीपा घृतोत्था गावो हि भूचर्यो देवताः स्मृताः ।
इति ज्ञात्वा त्रयेऽमुष्मिन्यत्नवान्कौलिको भवेत् ॥ १६ ॥

तत्रेति—त्रयनिर्धारणे । अर्घ इति—कुण्डगोलकाख्यो द्रव्यविशेषः । शक्तिसङ्गमादिति—आद्ययागतया वक्ष्यमाणात् । कायपीठं स्वं परकीयं वा शिरः । तदुक्तम्—

'सर्वासां देवतानां तु आधारः शिर इष्यते ।
देवीकोट्टं तु तत्स्थानं नित्यं तत्र प्रपूजयेत् ॥'

इति—क्रमादुत्कर्षभागिति—तथा भुवो वस्त्रं तस्मान्मुण्डमिति । घृतोत्था इति—प्राधान्यात्, तेन तैलोत्था अपि । यदुक्तम्—

इस प्रकार अवान्तर वस्तुओं की अपेक्षा इसकी प्रधानता होने पर भी शास्त्रान्तर में दूसरा भी कुछ प्रधान रूप में कहा गया है—यह कहते हैं—

श्री क्रमरहस्य में परमेश्वर ने कहा है कि कौलिक याग में अर्घपात्र यागधाम और दीपक यह तीन रहस्य कहा जाता है । उनमें अर्घ शक्ति के सङ्गम के कारण होता है । पृथिवी (रक्त) वस्त्र और कायपीठ (= शिर = खोपड़ी) नामक तीन धाम क्रमशः उत्कृष्ट हैं । दीप घी के बने हुये होते हैं । गायें पृथ्वी पर चरने वाली देवतायें हैं । ऐसा जान कर कौलिक इन तीनों (= अर्घपात्र, यागधाम और दीपक) में यत्नवान् हो ॥ १४-१६ ॥

वहाँ = तीन के निर्धारण में । अर्घ = कुण्ड गोलक नामक द्रव्यविशेष (तान्त्रिक परिप्रेक्ष्य में कुण्ड और गोलक ये दो प्रकार के फलविशेष हैं)। शक्तिसङ्गम के कारण—आद्य याग के रूप में वक्ष्यमाण । कायपीठ = अपना या दूसरे का शिर । वही कहा गया—

'शिर सभी देवताओं का आधार माना जाता है । वह स्थान देवीकोट्ट है । इसलिये वहाँ नित्य पूजा करनी चाहिये ।

क्रम से उत्कर्षभागी—जैसे कि पृथ्वी की अपेक्षा वस्त्र उसकी अपेक्षा शिर । घी के बने हुये—प्रधान रूप में होने के कारण । इससे तैल (= तिल का विकार) की भी बनी हुयी वस्तु (विहित है) । जैसा कि कहा गया—

भावः । शक्त्यैवेति—न पुनः प्राग्वदर्घपात्रविप्रुट्प्रोक्षणादिना ॥ २० ॥

ननु अत्र मन्त्रत्रयमुद्दिष्टम्, तस्य पुनः कथं विनियोगः?—इत्याशङ्क्य आह—

परासम्पुटगा यद्वा मातृसम्पुटगाप्यथो ।
केवला मालिनी यद्वा ताः समस्तेषु कर्मसु॥ २१ ॥

समस्तेषु कर्मसु एवंविधा मालिनी अर्थाद्योजनीया मुक्त्यर्थिना मातृसद्भावेन सम्पुटिता तदुभयार्थिना परया । केवलयोरपि परामातृसद्भावयोरेवमेव योजनमिति । तदुक्तम्—

'परासम्पुटमध्यस्थां मालिनीं सर्वकर्मसु ।
योजयेत विधानज्ञः परां वा केवलां प्रिये ॥' इति ।

अत्र ग्रन्थकृता पराशब्देनैव मातृसद्भावोऽपि व्याकृतो यत् पराया एव असौ परतरं रूपमिति ॥ २१ ॥

ननु

'यत्किञ्चिन्मानसाह्लादि यच्च सौभाग्यवर्धनम् ।

के बाद । संशोध्य—याग के उपकरणभूत अर्घ पुष्प आदि के संशोधित न होने पर (उन अर्घ आदि की) यागयोग्यता नहीं होती—यह भाव है । शक्ति के द्वारा ही—न कि पूर्ववत् अर्घपात्र की बूँदों के प्रोक्षण आदि के द्वारा ॥ २० ॥

प्रश्न—यहाँ तीन मन्त्र (= परा सम्पुटगा मालिनी, मातृका सम्पुटगा मालिनी, केवल मालिनी) कहे गये हैं उनका विनियोग कैसे होता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

परासम्पुटगा (मालिनी) अथवा मातृसम्पुटगा (मालिनी) अथवा केवल मालिनी अथवा वे सब समस्त कर्मों में (योजनीय) हैं ॥ २१ ॥

सभी कर्मों में इस प्रकार की मालिनी मुक्ति चाहने वाले के द्वारा मातृसद्भाव से सम्पुटित योजनीय है और उन दोनों (= भोग और मोक्ष) को चाहने वाले के द्वारा परा के द्वारा (सम्पुटित योजनीय) है । केवल परा मन्त्र मातृसद्भाव मन्त्र की भी उसी प्रकार योजना होती है । वही कहा गया—

'हे प्रिये ! विधानज्ञ सब कर्मों में परासम्पुट मध्यस्थ मालिनी को जोड़े अथवा केवल परा को ॥'

यहाँ ग्रन्थकार ने पराशब्द से ही मातृसद्भाव की व्याख्या की कि यह (= मातृसद्भाव) परा का ही परतर रूप है ॥ २१ ॥

प्रश्न—'जो कुछ मन के प्रसन्न करने वाला और जो कुछ सौभाग्यवर्द्धक है,

अत्रेति—द्रव्यवचने ॥ १७ ॥

एवं कुलयागे पीठिकाबन्धं विधाय तत्क्रममेव निरूपयितुमुपक्रमते—

यागौको गन्धधूपाढ्यं प्रविश्य प्रागुदङ्मुखः ।
परया वाऽथ मालिन्या विलोमाच्चानुलोमतः ॥ १८ ॥
दाहाप्यायमयीं शुद्धिं दीप्तसौम्यविभेदतः ।
क्रमेण कुर्यादथवा मातृसद्भावमन्त्रतः ॥ १९ ॥

प्रविश्येति—देहलीमात्रपूजनपूर्वम् । विलोमादिति—संहारक्रमेण पादाभ्यां शिरोन्तम् । अनुलोमत इति—सृष्टिक्रमेण शिरस्तः पादान्तम् । दाहे दीप्ता आप्यायने सौम्या—इत्युक्तम्—क्रमेणेति ॥ १८-१९ ॥

नैमित्तिके पुनर्नित्याद्विशेषोऽस्ति—इत्याह—

दीक्षां चेत्प्रचिकीर्षुस्तच्छोध्याध्वन्यासकल्पनम् ।
ततः संशोध्यवस्तूनि शक्त्यैवामृततां नयेत् ॥ २० ॥

शोध्योऽध्वा भुवनाद्यन्यतमः । तत इति—देहशुद्ध्याद्यनन्तरम् । संशोध्येति—यागोपकरणभूतानामर्घपुष्पाद्यात्मनामसंशोधितत्वे हि यागयोग्यत्वं न भवेत्—इति

का मांस, प्याज, लसुन ये बारह द्रव्य शुभ माने गये हैं ।'

यहाँ = द्रव्यकथन में ॥ १७ ॥

इस प्रकार कुलयाग में पीठिकाबन्ध का वर्णन कर उसके क्रमनिरूपण का प्रारम्भ करते हैं—

गन्ध धूप से युक्त यागगृह में प्रवेश कर पूर्व अथवा उत्तर मुँह बैठकर परा अथवा मालिनी से विलोम अनुलोम क्रमशः दीप्त सौम्य के भेद से तेजस् एवं जलमयी शुद्धि करे अथवा मातृसद्भाव यन्त्र से (शुद्धि करे) ॥ १८-१९ ॥

प्रवेश कर—देहलीमात्रपूजन के बाद । विलोम से = संहार क्रम से अर्थात् पैर से लेकर शिर तक । अनुलोम से = सृष्टिक्रम से अर्थात् शिर से लेकर पैर तक । दाह में दीप्त एवं जल में सौम्य । इसलिये कहा गया-क्रम से ॥ १८-१९ ॥

नैमित्तिक में नित्य की अपेक्षा कुछ विशेष करणीय होता है—यह कहते हैं—

यदि (कोई) दीक्षा करने का इच्छुक है तो उसे शोध्य अध्वा के न्यास की कल्पना फिर संशोध्य वस्तुओं को शक्ति के द्वारा ही अमृतत्व से युक्त करना चाहिये ॥ २० ॥

शोध्य अध्वा = भुवन आदि में से कोई एक । इसके बाद = देहशुद्धि आदि

भाव: । शक्त्यैवेति—न पुन: प्राग्वदर्घपात्रविप्रुट्प्रोक्षणादिना ॥ २० ॥

ननु अत्र मन्त्रत्रयमुद्दिष्टम्, तस्य पुन: कथं विनियोग:?—इत्याशङ्क्य आह—

परासम्पुटगा यद्वा मातृसम्पुटगाप्यथो ।
केवला मालिनी यद्वा ता: समस्तेषु कर्मसु॥ २१ ॥

समस्तेषु कर्मसु एवंविधा मालिनी अर्थाद्योजनीया मुक्त्यर्थिना मातृसद्भावेन सम्पुटिता तदुभयार्थिना परया । केवलयोरपि परामातृसद्भावयोरेवमेव योजनमिति । तदुक्तम्—

'परासम्पुटमध्यस्थां मालिनीं सर्वकर्मसु ।
योजयेत विधानज्ञ: परां वा केवलां प्रिये ॥' इति ।

अत्र ग्रन्थकृता पराशब्देनैव मातृसद्भावोऽपि व्याकृतो यत् पराया एव असौ परतरं रूपमिति ॥ २१ ॥

ननु

'यत्किञ्चिन्मानसाह्लादि यच्च सौभाग्यवर्धनम् ।

के बाद । संशोध्य—याग के उपकरणभूत अर्घ पुष्प आदि के संशोधित न होने पर (उन अर्घ आदि की) यागयोग्यता नहीं होती—यह भाव है । शक्ति के द्वारा ही—न कि पूर्ववत् अर्घपात्र की बूँदों के प्रोक्षण आदि के द्वारा ॥ २० ॥

प्रश्न—यहाँ तीन मन्त्र (= परा सम्पुटगा मालिनी, मातृका सम्पुटगा मालिनी, केवल मालिनी) कहे गये हैं उनका विनियोग कैसे होता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

परासम्पुटगा (मालिनी) अथवा मातृसम्पुटगा (मालिनी) अथवा केवल मालिनी अथवा वे सब समस्त कर्मों में (योजनीय) हैं ॥ २१ ॥

सभी कर्मों में इस प्रकार की मालिनी मुक्ति चाहने वाले के द्वारा मातृसद्भाव से सम्पुटित योजनीय है और उन दोनों (= भोग और मोक्ष) को चाहने वाले के द्वारा परा के द्वारा (सम्पुटित योजनीय) है । केवल परा मन्त्र मातृसद्भाव मन्त्र की भी उसी प्रकार योजना होती है । वही कहा गया—

'हे प्रिये ! विधानज्ञ सब कर्मों में परासम्पुट मध्यस्थ मालिनी को जोड़े अथवा केवल परा को ॥'

यहाँ ग्रन्थकार ने पराशब्द से ही मातृसद्भाव की व्याख्या की कि यह (= मातृसद्भाव) परा का ही परतर रूप है ॥ २१ ॥

प्रश्न—'जो कुछ मन के प्रसन्न करने वाला और जो कुछ सौभाग्यवर्द्धक है,

तेनात्मानमलङ्कृत्य देवमभ्यर्चयेत्सदा ॥'

इत्यादिना यत्किञ्चिदानन्दमयं द्रव्यजातं तत् पूजोपकरणतया योज्यमिति सर्वत्रोक्तमिति । इह पुनस्तज्जुगुप्स्यं कस्मादभिहितम्?—इत्याशङ्क्य आह—

नन्दहेतुफलैर्द्रव्यैरर्घपात्रं प्रपूरयेत् ।

नन्दस्य आनन्दस्य हेतुभिः सुरादिभिः, फलैश्च कुण्डगोलकादिभिः । अत एव उक्तम्—

'यस्य साराः पवित्रत्वे कुर्वन्त्यानन्दमुत्तमम्।
सोऽनुध्यातस्मृतस्तन्त्रे भैरवेण भवच्छिदा ॥' इति ।

यश्च अत्र एतत्पूरणे सम्प्रदायः, स रहस्यत्वात् समयभङ्गभयाच्च न इह अस्माभिः प्रदर्शित इति । एतद्गुरुमुखादेव बोद्धव्यम् । तदुक्तम्—

'चरुकः सम्प्रदायश्च विज्ञानं मेलकं तथा।
पूजाक्रमविधानं च योगिनीनां मुखे स्थितम् ॥' इति ॥

'नन्वदिव्येन देहेन यद्यत्पूजाक्रमं जपम्।
किञ्चित्कुर्यात्तु तत्तस्य सर्वं भवति निष्फलम् ॥'

उससे अपने को अलंकृत कर सदा देवता की पूजा करे ।'

इत्यादि के द्वारा जो कुछ आनन्दमय द्रव्यसमूह है उसी को पूजा के उपकरण के रूप में लगाना चाहिये—ऐसा सर्वत्र कहा गया है फिर यहाँ उस निन्दनीय (वीर्य, मूत्र आदि) को क्यों कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

आनन्द के साधनभूत फलों द्रव्यों से अर्घपात्र को भरना चाहिये ॥ २२- ॥

नन्द = आनन्द के कारणभूत = सुरा आदि के द्वारा, फल = कुण्ड गोलक आदि (नाम वाले विशिष्ट फलों) के द्वारा । इसीलिये कहा गया—

'जिसके तत्त्व पवित्रता में उत्तम आनन्द उत्पन्न करते हैं भवच्छेदक भैरव ने तन्त्र में उसी का ध्यान और स्मरण किया है ।'

और जो इसके प्रपूरण में सम्प्रदाय है वह रहस्य और नियमभङ्ग के कारण हमारे द्वारा यहाँ प्रदर्शित नहीं किया गया । इसे गुरुमुख से ही जानना चाहिये वही कहा गया—

'चरु, सम्प्रदाय, विज्ञान, मेलक और पूजाक्रम का विधान योगिनियों के मुख में रहता है ।'

'प्रश्न है कि अदिव्य देह के द्वारा जो-जो पूजा क्रम जप आदि किया जाता है वह उस (पूजक) के लिये फलदायी नहीं होता ।'

इत्याद्युक्तेरदिव्यवपुषा क्रियमाणं यागादि फलदायि न स्यादित्यत्र साधकेन स्वात्मनि भैरवीभावो भावयितव्यः—इत्याह—

तत्रोक्तमन्त्रतादात्म्याद्भैरवात्मत्वमानयेत्॥ २२ ॥

उक्ता मातृसद्भावादयः । वक्ष्यति हि—

'नाहमस्मि नचान्योऽस्ति केवलाः शक्तयस्त्वहम् ।
इत्येवं वासनां कुर्यात्सर्वदा स्मृतिमात्रतः ॥' (२९।६४)

इति ॥ २२ ॥

इत्थमेवंभावनया च देहादौ

'अमूर्ता मूर्तिमाश्रित्य देव्यः पिण्डान्तरे स्थिताः।
क्रीडन्ति विविधैर्भावैरुत्तमद्रव्यलिप्सया ॥'

इत्याद्युक्त्या पूजालाम्पट्येन सर्वा एव करणेश्वर्याद्या देवताः संनिदधते इति आसाम्

'आगतस्य तु मन्त्रस्य न कुर्यात्तर्पणं यदि ।
हरत्यर्धशरीरं................................ ॥'

इत्याद्युक्त्या तर्पणमवश्यं कार्यम्—इत्याह—

इत्यादि उक्ति के अनुसार अदिव्य शरीर वाले के द्वारा किया गया याग आदि फलदायक नहीं होता इसलिये यहाँ साधक अपने अन्दर भैरवीभाव की भावना करे—यह कहते हैं—

उसमें उक्त मन्त्र के तादात्म्य से (अपने अन्दर) भैरवात्मता ले आनी चाहिये ॥ २२ ॥

उक्त = मातृसद्भाव आदि । आगे कहेंगे—

'नाहमस्मि........................ स्मृतिमात्रतः' ॥ २२ ॥ (तं.आ. २९।६४)

उस प्रकार ऐसी भावना के द्वारा—देह आदि में—

'दूसरे शरीर में स्थित अमूर्त्त देवियाँ उत्तम द्रव्य की लिप्सा से (इस) मूर्त्ति का आश्रयण कर अनेक भावों से खेलती हैं ।'

इत्यादि उक्ति से पूजालाम्पट्य के कारण सभी करणेश्वरी आदि देवतायें सन्निहित हो जाती हैं । इसलिये

'यदि आये हुये मन्त्र (= देवता) का तर्पण न करे तो (वह मन्त्र) आधे शरीर का हरण कर लेता है ।'

इत्यादि उक्ति से तर्पण अवश्य करना चाहिये—यह कहते हैं—

तेन निर्भरमात्मानं बहिश्चक्रानुचक्रगम् ।
विप्रुड्भिरूर्ध्वाधरयोरन्तःपीत्या च तर्पयेत् ॥ २३ ॥

तेनेति—भैरवात्मत्वानयनेन हेतुना । ऊर्ध्वाधरयोरिति—अर्थात्तिर्यगपि । तदुक्तम्—

'अत ऊर्ध्वं तथा तिर्यग्दातव्या विप्रुषः प्रिये।' इति ।

तद्बहिः सर्वतो विप्रुड्भिरन्तश्च पानेन नानादेवताचक्रानुयातमात्मानं तर्पयेत्—इत्यर्थः ॥ २३ ॥

ननु एवमियतैव सिद्धः कुलयागः, किमन्यदवशिष्यते?—इत्याशङ्क्य आह—

तथा पूर्णस्वरश्म्योघः प्रोच्छलद्वृत्तितावशात् ।
बहिस्तादृशमात्मानं दिदृक्षुर्बहिरर्चयेत् ॥ २४ ॥

तथा समनन्तरोक्तक्रमेण पूरितनिजकरणेश्वर्यादिदेवताचक्रः सन् स्वात्ममात्रविश्रान्तोऽपि यदा साधकः

'रासभी वडवा यद्वत्स्वधामानन्दमन्दिरम् ।
विकाससङ्कोचमयं प्रविश्य हृदि हृष्यति ॥' (५।५९)

इत्याद्युक्तभङ्ग्या विकसितेन्द्रियवृत्तिर्बहिरपि पूर्णमेव आत्मानं दिदृक्षुर्बहीरूप-

---

इस कारण (अर्घपात्र की) बूँदों से ऊपर नीचे तथा अन्दर पान करने से निर्भर तथा बहिश्चक्रानुचक्रगामी आत्मा का तर्पण करना चाहिये ॥ २३॥

इस कारण = भैरवात्मता के आनयन के कारण । ऊपर नीचे—अर्थात् तिर्यक् भी । वही कहा गया—

'हे प्रिये ! इस कारण बूँदों को ऊपर तथा तिरछे देना चाहिये ।'

तो बाहर सर्वत्र बूँदों को छिड़कने से तथा भीतर पीने के द्वारा नानादेवताचक्र के अनुगामी अपने को तृप्त करे ॥ २३ ॥

प्रश्न—इतने से ही कुलयाग सिद्ध हो गया । बाकी क्या बचता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस प्रकार पूर्ण आत्मरश्मिसमूह वाला (साधक) प्रोच्छलत् वृत्ति के कारण उस प्रकार के अपने को बाहर देखने की इच्छा वाला होकर बाह्य पूजा करे ॥ २४ ॥

उस [illegible]ार = समनन्तरोक्त क्रम से अपने करणेश्वरी आदि देवताचक्र की पूजा कर चुका [illegible]क स्वात्ममात्र में विश्रान्त हो तो भी जब 'रासभी बडवा.......' इत्यादि उक्त भङ्गी से विकसित इन्द्रियवृत्ति वाला होकर बाहर भी पूर्ण आत्मा को

तयापि बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेन परैव संविदवभासत इत्यनुसन्धत्ते, तदा बहिरर्चयेत् । तत्रापि अर्चाक्रमो न्याय्यः—इत्यर्थः । यदाहुरस्मदादिगुरवः—

'साक्षान्भवन्मये नाथ सर्वस्मिन्भुवनान्तरे ।
किं न भक्तिमतां क्षेत्रे मन्त्रः क्वैषां न सिद्ध्यति ॥' (उ०स्तो०)

इति ॥ २४ ॥

तच्च कुत्र?—इत्याशङ्क्य आह—

अर्कांगुलेऽथ तद्द्वित्रिगुणे रक्तपटे शुभे ।
व्योम्नि सिन्दूरसुभगे राजवर्त्तभृतेऽथवा ॥ २५ ॥
नारिकेलात्मके काद्ये मद्यपूर्णेऽथ भाजने ।
यद्वा समुदिते रूपे मण्डलस्थे च तादृशि ॥ २६ ॥
यागं कुर्वीत मतिमांस्तत्रायं क्रम उच्यते ।

अर्केति—द्वादश । व्योम्नीति—अर्थाद्भूगते । उक्तं च

'राजवर्तेन रजसा व्योमबिम्बं तु कारयेत् ।
लोहितां व्योमरेखां तु दद्यात्सिन्दूरकेण तु ॥
विपर्ययेण वा कार्या शुक्ला वा व्योमरेखिका ।' इति ।

एवं न केवलं व्यस्तमेव भूवस्त्रकायपीठाख्यं धाम भवेत् यावत्समस्तमपि—

देखने का इच्छुक (होता है और) बाह्य रूप में भी बिम्बप्रतिबिम्ब न्याय से परा ही संविद् भासित हो रही है—ऐसा अनुसन्धान करता है, तो बाहरी पूजा करे । अर्थात् वहाँ भी पूजाक्रम न्याय्य है । जैसा कि हमारे आदि गुरु कहते हैं—

'हे नाथ ! समस्त भुवनों के साक्षात् आपमय होने पर भक्तों के लिये कौन सा क्षेत्र (पूजा का) नहीं है । इनका मन्त्र कहाँ सिद्ध नहीं होता' ॥ २४ ॥ (उ.स्तो.)

और वह कहाँ होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

बारह अंगुल या उसके दो तीन गुना (बड़े) सुन्दर लाल वस्त्र पर अथवा लाजवर्त्त के चूर्ण से व्योमाकार में लिपी सिन्दूर के द्वारा सीमाङ्कित भूमि पर, अथवा नारियल रूपी काद्य (= कायपीठ = शिर = खोपड़ी) में अथवा मद्यपूर्ण पात्र में (अलग-अलग) अथवा उस प्रकार के मण्डलस्थ समुदित रूप में बुद्धिमान् याग करे । उसमें यह क्रम कहा जाता है ॥ २५-२७- ॥

अर्क = बारह । व्योम में = पृथ्वी पर । कहा भी है—

'लाजवर्त्त के चूर्ण से आकाश का बिम्ब बनाये । (किनारे-किनारे) सिन्दूर से लालरेखा बनाये । अथवा व्योमरेखा शुक्ल भी करनी चाहिये ।'

इत्याह—यद्वा समुदिते रूपे इति । तेन भूपृष्ठे रक्तवस्त्रं तदुपरि च कायपीठशब्दाभिधेयं काद्यं तदनुकल्पात्मकं विश्वामित्रकपालं वेति । तादृशीति—समुदिते एव किन्तु मण्डलस्थे इति भूमावुह्यमानसन्निवेशं मण्डलं तत्र च क्वचिदपि आधारे रक्तवस्त्रं तदुपरि च काद्यमिति ॥

तमेव क्रममाह—

दिश्युदीच्यां रुद्रकोणाद्वायव्यन्तं गणेश्वरम् ॥ २७ ॥
वटुकं त्रीन् गुरुन्सिद्धान्योगिनीः पीठमर्चयेत् ।
प्राच्यां दिशि गणेशाध आरभ्याभ्यर्चयेत्ततः ॥ २८ ॥
सिद्धचक्रं दिक्चतुष्के गणेशाधस्तनान्तकम् ।

उदीच्यामिति—प्राजापत्यक्रमेण । गणेश्वरमिति—नैर्विघ्न्याय, स च अर्थात् सवल्लभः । एवं वटुकोऽपि । त्रीन् गुरुनिति—गुरुपरमगुरुपरमेष्ठिनः । सिद्धानिति—अनादिसिद्धादीन् । योगिनीरिति—अनादियोगिन्याद्याः । पीठमिति—जालन्धरं यतस्तत्सिद्धयोगिनीक्रमेण अस्य दर्शनस्य अवतारः । तेन मण्डलस्य बहिश्चतुरस्रे ईशानकोणे गणेशमर्चयेत्, ततो वटुकं गुरुत्रयं पीठमनादिसिद्ध-मनादियोगिनीं यावदधोऽधः पङ्क्तिक्रमेण वायव्यकोणान्तं दिव्यौघसिद्धौघमानवौघभेदेन

भूमि, वस्त्र और कायपीठ नामक आधार केवल व्यस्त (= अलग-अलग) ही नहीं बल्कि सामूहिक भी होता है—यह कहते हैं—अथवा समुदित रूप में । इससे भूपृष्ठ पर लाल वस्त्र उसके ऊपर कायपीठ शब्द से कहे जाने वाला काद्य (= शिर) अथवा उसके अनुकल्पस्वरूप नारियल का खोपड़ा । उस प्रकार में = समुदित किन्तु मण्डलस्थ में । इस प्रकार भूमि में उह्यमान सन्निवेश वाला मण्डल और उसमें किसी आधार में रक्तवस्त्र और उसके ऊपर काद्य (रखना चाहिये) ॥

उसी क्रम को कहते हैं—

उत्तर दिशा में रुद्रकोण से वायव्यकोणपर्यन्त गणेश, वटु, तीन गुरु, सिद्धों और योगिनियों की तथा पीठ की पूजा करे । पूर्व दिशा में गणेश के नीचे से आरम्भ कर पूजन करे । फिर चारो दिशाओं में सिद्धचक्र की गणेश के नीचे तक पूजा करे ॥ -२७-२९- ॥

उत्तर में—प्राजापत्य क्रम से । गणेश की पूजा—निर्विघ्नता के लिये । और वह अर्थात् पत्नीयुक्त । ऐसे ही बटुक भी (सपत्नीक) । तीन गुरु = (दीक्षा) गुरु परम गुरु और परमेष्ठी गुरु । सिद्धों को = अनादि सिद्ध आदि को । योगिनियों को = अनादियोगिनी आदि को । पीठ = जालन्धर । जहाँ से उस सिद्धयोगिनी के क्रम से इस दर्शन का अवतरण हुआ । इससे मण्डल के बाहर चौकोर ईशान कोण में गणेश की पूजा करे । फिर वटुक, तीन गुरु, पीठ, अनादि सिद्ध अनादि

त्रिविधमपि गुरुवर्गमिति । तदुक्तम्—

'गणेशं पूजयित्वा तु द्वारि विघ्नप्रशान्तये।
ततः स्वगुरुमारभ्य पूजयेद्गुरुपद्धतिम् ॥' इति ।

तथा

'गणेशं वटुकं सिद्धान् गुरुपङ्क्तिं तथैव च।' इति ।

इदं च प्राङ्मुखं साधकमधिकृत्य उक्तं येन एतत् तस्य वामे पूजितं भवेत्—इति । उदङ्मुखस्य पुनरेतत्स्वापेक्षयैव योज्यं येन तद्वाम एव पूजितं भवेदिति । द्वारे पुनर्गणेशवटुकौ बहिश्चतुरस्र एव प्रथमतो वायव्यनैर्ऋतकोणयोः पूज्याविति अर्थसिद्धं येन यागस्य दक्षवामभागगतौ स्याताम् । यद्गुरवः—

'बाह्ये गणेशवटुकौ श्रुतिपूर्वकोणदक्षेतरद्वयगतौ... ।' इति ।

ततो गुरुपूजानन्तरं पूर्वस्यां दिशि बहिश्चतुरस्रे रुद्रकोणावस्थितस्य गणेशस्य अधस्तनादेकभागानन्तरभाविनो द्वितीयस्मात् चतुरस्रादारभ्य पूर्वादिक्रमेण आवर्तभङ्ग्या सौम्यदिशि गणेशस्य अधस्तनमेव स्थानं यावत्दिक्चतुष्टये अर्थादेतच्चतुरस्रसंलग्नचतुष्किकाचतुष्टये कृतादियुगक्रमावतीर्णं सिद्धचतुष्कमभ्यर्चयेत् = वक्ष्यमाणक्रमेण पूजयेत्—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

योगिनी तक नीचे-नीचे पंक्ति के क्रम से वायव्य कोण तक दिव्यौघ, सिद्धौघ मानवौघ भेद से तीनों प्रकार के गुरुवर्ग की पूजा करे । वही कहा गया—

'द्वार पर विघ्ननाश के लिये गणेश की पूजा करे फिर अपने गुरु से लेकर गुरुपंक्ति की पूजा करे ।' तथा

'गणेश वटुक सिद्ध और उसी प्रकार गुरुपंक्ति की (पूजा करे) ।'

यह पूर्वाभिमुख साधक की दृष्टि से कहा गया जिससे उसके बाँये (गणेश आदि) पूजित होते हैं । उत्तराभिमुख वाले की दृष्टि से यह अपनी अपेक्षा से ही जोड़ना चाहिये जिससे वह बायें ही पूजित हों । द्वार पर गणेश एवं बटुक बाहर चतुरस्र (= चतुष्कोण) पर ही पहले वायव्य एवं नैर्ऋत्य कोणों में पूज्य होते हैं । यह अर्थात् सिद्ध है जिससे (ये दोनों) याग के दायें और बायें भाग में हो । जैसा कि गुरु (कहते हैं)—

'बाहर गणेश और वटुक चतुष्कोण पर दायें और बायें रहते हैं ।'

इसके बाद गुरुपूजा के अनन्तर पूर्व दिशा में बाहर चतुष्कोण पर ईशान कोण में स्थित गणेश के नीचे एक भाग के बाद होने वाले दूसरे चतुष्कोण से आरम्भ कर पूर्व आदि के क्रम से आवर्तभङ्गी के द्वारा सौम्य दिशा (= उत्तर दिशा) में गणेश के नीचे के ही स्थान तक चारों दिशाओं में अर्थात् उस चतुष्कोण से संलग्न चार चतुष्किकाओं में सत्ययुग आदि के क्रम से अवतीर्ण चारों सिद्धों की

'गणेशाधस्ततः सर्वं यजेन्मन्त्रकदम्बकम् ।
तत्पतीनां ततो वर्गं तत्रैव परिपूजयेत् ॥' इति ॥

तदेव आह—

खगेन्द्रः सहविज्जाम्ब इल्लाई अम्बया सह ॥ २९ ॥
वक्तष्टिर्विमलोऽनन्तमेखलाम्बायुतः पुरा ।
शक्त्या मङ्गलया कूर्म इल्लाई अम्बया सह ॥ ३० ॥
जैत्रो याम्ये ह्यविजितस्तथा सानन्दमेखलः ।
काममङ्गलया मेषः कुल्लाई अम्बया सह ॥ ३१ ॥
विन्ध्योऽजितोऽप्यजरया सह मेखलया परे ।
मच्छन्दः कुंकुणाम्बा च षड्युग्मं साधिकारकम् ॥ ३२ ॥

अर्चना करे = वक्ष्यमाण क्रम से पूजा करे ।
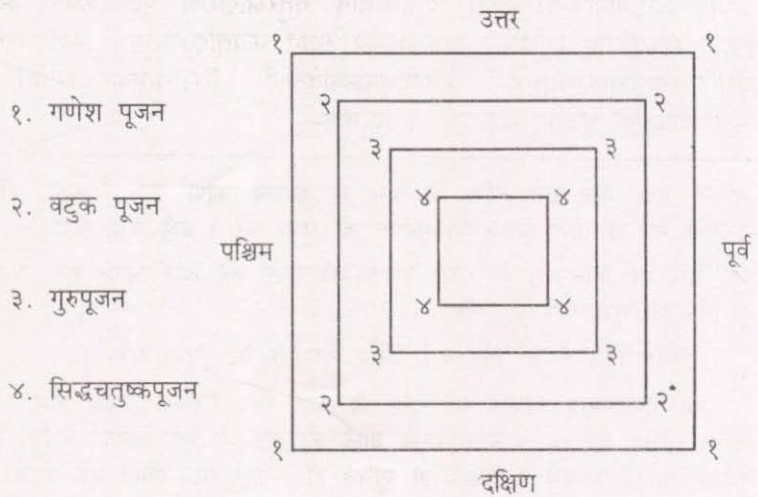
वही कहा गया—

'तत्पश्चात् गणेश के नीचे समस्त मन्त्रसमूह की पूजा करे । इसके बाद वहीं पर उनके पतिवर्ग की पूजा करें' ॥ २८- ॥

उसी को कहते हैं—

पूर्व दिशा में गरुड़, विज्जाम्बा, इल्लाई अम्बा, वक्तष्टि, विमल, अनन्त मेखलाम्बा; दक्षिण में मङ्गला शक्ति, कूर्म, उल्लाई अम्बा और जैत्र; पश्चिम दिशा में अविजित; आनन्दमेखलाम्बा, काममङ्गला, मेष, कुल्लाई अम्बा, विन्ध्य, अजित, अजर मेखला; उत्तर दिशा में मच्छन्द,

सौम्ये मरुत्त ईशान्तं द्वितीया पङ्क्तिरीदृशी ।
अमरवरदेवचित्रालिविन्ध्यगुडिका इति क्रमात्षडमी ॥ ३३ ॥

पुरेति—पूर्वस्याम् । याम्ये इति—दक्षिणे । अजरया सह मेखलयेति—अजरमेखलया सह—इत्यर्थः । परे इति—पश्चिमे । एवं पूर्वादिदिक्त्रये सिद्धस्तत्पत्नी सुतद्वयं चेति क्रमः । उत्तरस्यां पुनरयं विशेषः—इत्याह—षड्युग्ममिति । षण्णां पुत्रतत्पत्नीनां सम्बन्धि युग्मं तद्द्वादशकम्—इत्यर्थः । द्वितीयेति—गुरुपङ्क्त्यपेक्षया । अनेन च दिक्चतुष्केऽपि पङ्क्तिक्रमेणैव पूजा कार्येति सूचितम् ॥

तदेव द्वादशकमाह—

सिल्लाई एरुणया तथा कुमारी च बोधाई ।
समहालच्छी चापरमेखलया शक्तयः षडिमाः॥ ३४ ॥

एरुणया अपरमेखलया च सह—इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

साधिकारत्वमेव एषां व्यनक्ति—

एते हि साधिकाराः पूज्या येषामियं बहुविभेदा।
सन्ततिरनवच्छिन्ना चित्रा शिष्यप्रशिष्यमयी ॥ ३५ ॥

कुङ्कुजाम्बा अधिकारियों के छह जोड़े, (उसी प्रकार) वायव्य से लेकर ईशान पर्यन्त ऐसी ही दूसरी पंक्ति (जिसमें) अमर, वर, देव, चित्रालि, विन्ध्य और गुडिका ये छह (होते हैं पूजित होती हैं) ॥ २९-३३ ॥

पुरा = पूर्व दिशा में । याम्य = दक्षिण दिशा में । अजरा के साथ मेखला अर्थात् अजरमेखला । पर = पश्चिम में । इस प्रकार पूर्व आदि तीन दिशाओं (= पूर्व दक्षिण पश्चिम) में सिद्ध पुरुष उसकी पत्नी और दो पुत्रों (की पूजा करे) यह क्रम है । किन्तु उत्तर दिशा में यह विशेष है—यह कहते हैं—छह जोड़ा = छह पुत्र और उनकी पत्नियों के सम्बन्धी जोड़े = बारह । दूसरी—गुरुपंक्ति की अपेक्षा । इससे चारों दिशाओं में पंक्तिक्रम से ही पूजा करनी चाहिये—यह सूचित है ॥ ३३ ॥

उस बारह (= पुत्र और उनकी पत्नियों) को कहते हैं—

सिल्लाई, एरुणा, कुमारी, बोधाई, महालच्छी और अपर मेखला ये छह शक्तियाँ हैं ॥ ३४ ॥

एरुणा और अपर मेखला के साथ ॥ ३४ ॥

इनके अधिकार को बताते हैं—

ये साधिकार पूज्य हैं जिनकी यह अनेक भेदों वाली अनवच्छिन्न

चित्रत्वमेव अस्या दर्शयति—

आनन्दावलिबोधिप्रभुपादान्ताथ योगिशब्दान्ता ।
एता ओवल्ल्यः स्युर्मुद्राषट्कं क्रमात्त्वेतत् ॥ ३६ ॥
दक्षांगुष्ठादिकनिष्ठिकान्तमथ सा कनीयसी वामात् ।
द्विदशान्तोर्ध्वगकुण्डलिबैन्दवहृन्नाभिकन्दमिति छुम्माः ॥ ३७ ॥
शबराडबिल्लपट्टिल्लाः करबिल्लाम्बिशरबिल्लाः ।
अडबीडोम्बीदक्षिणबिल्लाः कुम्भारिकाक्षराख्या च ॥ ३८ ॥
देवीकोट्टकुलाद्रित्रिपुरीकामाख्यमट्टहासश्च ।
दक्षिणपीठं चैतत्षट्कं घरपल्लिपीठगं क्रमशः ॥ ३९ ॥

ओवल्ल्यः—ज्ञानप्रवाहाः । क्रमादिति—मुद्राछुम्माविषयम् । बिन्दोरिदं बैन्दवं भ्रूमध्यसंज्ञं स्थानम् । शबरेति—पुलिन्दाख्यम् । अम्बीति—अम्बिल्लम् । दक्षिणेति—दक्षिणावर्तम् । कुलाद्रीति—कौलगिरिः । त्रिपुरीति—त्रिपुरोत्तरम् । कामेति—कामरूपम् । तदुक्तं श्रीकुलक्रीडावतारे—

'तेषां मुद्राश्च छुम्माश्च पल्ली ओवल्लयस्था ।
पीठक्रमो घराश्चैव पित्रा विभजता तथा ॥

इत्युपक्रम्य

विचित्र शिष्यप्रशिष्यमयी सन्तति है ॥ ३५ ॥

इस (सन्तति) की विचित्रता दिखलाते हैं—

आनन्द, अवलि, बोधि, प्रभु, पाद शब्दान्तवाली तथा योगिशब्दान्त वाली ये ओवल्लियाँ हैं । दायें अंगूठे से लेकर कनिष्ठिका तक इसके बाद वह बायें हाथ की कनिष्ठा क्रम से ये छह मुद्रायें हैं । ऊर्ध्व द्वादशान्त, कुण्डली, भ्रूमध्य, हृदय, नाभि और कन्द ये छह छुम्मायें हैं । शबरा, अडबिल्ल, पट्टिल्ल, करबिल्ल, अम्बिल्ल, शरबिल्ल (ये छह घर हैं) अडबी, डोम्बी, दक्षिण, बिल्ला, कुम्भारिका और अक्षरा (ये छह पल्ली हैं) देवीकोट्ट, कुलाद्रि, त्रिपुरी, कामाख्या अट्टहास और दक्षिण ये छह पीठ हैं इस प्रकार ये क्रमशः घर पल्ली और पीठ हैं ॥ ३६-३९ ॥

ओवल्लियाँ = ज्ञान के प्रवाह । क्रम से—मुद्राछुम्माविषयक । बिन्दु से सम्बद्ध बैन्दव = भ्रूमध्य का स्थान । शबर = पुलिन्द । अम्बि = अम्बिल्ल । दक्षिण = दक्षिणावर्त्त । कुलाद्रि = कौलगिरि । त्रिपुरी = त्रिपुरोत्तर । काम = कामरूप । वही कुलक्रीडावतार में कहा गया—

'विभाग करने वाले पिता के द्वारा उनकी मुद्रा छुम्मा पल्ली ओवल्ली पीठक्रम और घर (ये छह भेद) किये गये ।'

'बोधिश्चामरपादानां प्रभुश्च वरदेवके ।
चित्रः पादश्च संकप्रोक्तौ ह्यलिरानन्दसंज्ञकः ॥
विन्ध्यपादश्च योगी तु गुडिकावलिरेव च ।' इति ।
दक्षहस्तस्य चांगुष्ठादारभ्य च कनिष्ठिकाम् ।
वामस्य यावन्मुद्रा वै षट्सु विस्तरतः शृणु ॥
अंगुष्ठो ज्येष्ठपुत्रस्य द्वितीयस्य तु तर्जनी ।
मध्यमा वै तृतीयस्य चतुर्थस्याप्यनामिका ॥
पञ्चमस्य कनिष्ठा वै षष्ठस्य च कनिष्ठिका । इति
छुम्मकाः संप्रवक्ष्यामि कुलाम्नाये यथा स्थिताः ।
अतीतं प्रथमस्यापि द्वितीयस्य तु कुण्डली ॥
भ्रूमध्ये वै तृतीयस्य सङ्घट्टश्च चतुर्थके ।
नाभिस्तु पञ्चमस्यैव जन्माधारस्तु षष्ठके ॥ इति
षण्णां वै राजपुत्राणां घरपल्लिक्रमं शृणु ।
अमरस्य तु पट्टिल्लः दक्षिणावर्तपल्लिका ॥
वरदेवे करबिल्लं पल्ली कुम्भारिका भवेत् ।
अम्बिल्लं चैव चित्रस्य बिल्लं पल्ली सुमध्यमे ॥
अलिनाथे पुलिन्देति अडबी पल्लिरुच्यते ।
शरबिल्लं विन्ध्यनाथे पल्ली चाक्षरसंज्ञिता ॥
गुडिकानाथपादानामडबिल्लं घरं प्रिये ।
डोम्बी पल्ली च निर्दिष्टा........................ ॥ इति

ऐसा प्रारम्भ कर

'अमरपाद को बोधि, वरदेव को 'प्रभु', चित्र को पाद, अलि को आनन्द, विन्ध्यपाद को योगी और गुडिका को अवलि (कहा जाता है) ।' तथा

'दायें हाथ के अंगूठे से लेकर बायें हाथ की कनिष्ठा तक छह (अंगुलियों) में मुद्रायें (होती हैं । उन्हें) विस्तार से सुनो—ज्येष्ठ पुत्र का अंगूठा, दूसरे की तर्जनी, तीसरे की मध्यमा, चौथे की अनामिका, पाँचवें की कनिष्ठा और छठें की (बायें हाथ की) कनिष्ठा ।' (ये छह मुद्रायें हैं) और 'कुलाम्नाय में ये जिस प्रकार के स्थान में स्थित हैं उन छुम्मकाओं को कहूँगा—प्रथम की अतीत (= सहस्त्रार के ऊपर का भाग), दूसरे की कुण्डली (= सहस्त्रार) तीसरे की भ्रूमध्य, चौथे की सङ्घट्ट (= हृदय) पाँचवे की नाभि और छठें की मूलाधार है ।' तथा 'छह राजपुत्रों का घरपल्ली क्रम सुनो—अमर की पट्टिल्ल (घर है और) दक्षिणावर्त्त पल्लिका, वरदेव की करबिल्ल घर है और पल्ली कुम्भारिका है । हे सुमध्यमे ! चित्र की अम्बिल्ल घर, बिल्ल पल्ली है । अलिनाथ की पुलिन्द घर है और अडवी पल्ली कही जाती है । विन्ध्यनाथ की शरबिल्ल पल्ली अक्षर कही जाती है । गुडिकानाथ

त्रिपुरोत्तरे निकेतं सिद्धिस्थानं च तद्विदुः ।
अमरस्य वरारोहे वरदेवस्य कामरू ॥
चित्रस्य अट्टहासं वै देवीकोट्टमलेस्तथा ।
दक्षिणं चैव विन्ध्यस्य गुडिका कौलगिर्यता ॥' इति ॥ ३९ ॥

ननु किमेवमोवल्ल्याद्युपदेशेन ?—इत्याशङ्क्य आह—

इति सङ्केताभिज्ञो भ्रमते पीठेषु यदि स सिद्धीप्सुः ।
अचिराल्लभते तत्तत्प्राप्यं यद्योगिनीवदनात् ॥ ४० ॥

एवं मुद्रादिवृत्तं जानानस्य हि साधकस्य तत्तत्सिद्धिकामतया पीठेषु परिभ्राम्यतस्तत्तन्मुद्रादिप्रदर्शनक्रमेण योगिन्यो निजां निजां सन्ततिं ज्ञात्वा क्षिप्रमेव निखिलसिद्धिप्रदा भवन्ति—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'यो यस्याः सन्ततेर्नाथः सा मुद्रा तस्य कीर्तिता।
प्रसार्य हस्तं सन्दर्श्य नामाक्षरसमन्विताः ॥
क्रमेण तेन ज्ञास्यन्ति स्वकीयां कुलसन्ततिम् ।
ऊर्ध्वं प्रदर्शयेद्यस्तु तस्य स्वं तु प्रदर्शयेत् ॥
कौण्डिल्यादिषु सर्वेषु यो यस्य च निदर्शयेत् ।
अनेन सन्ततिज्ञा वै ज्ञास्यन्ति च निजं कुलम् ॥' इति ॥ ४० ॥

पाद का घर अडबिल्ल डोम्बी पल्ली कही गयी है ।' तथा 'अमर का त्रिपुरोत्तर में जो निकेत है. उसे सिद्धिस्थान माना गया है । वरदेव का कामरूप, चित्र का अट्टहास, अलि का देवीकोट्ट, बिन्ध्य का दक्षिण और गुडिकानाथ का कौलगिरि सिद्धिस्थान हैं' ॥ ३९ ॥

प्रश्न—इस प्रकार ओवल्ली आदि के उपदेश से क्या लाभ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस प्रकार के सङ्केत को जानने वाला यदि सिद्धिकामी होकर भ्रमण करता है तो वह जो-जो योगिनी के मुख से प्राप्य होता है उस-उस को शीघ्र प्राप्त कर लेता है ॥ ४० ॥

इस प्रकार मुद्रा आदि वृत्त (= कार्य) को जानने वाले साधक के लिये जो कि तत्तत् सिद्धि की इच्छा से पीठों में भ्रमण करता है, तत्तत् मुद्रा आदि के प्रदर्शन के क्रम से योगिनियाँ (उसे) अपनी-अपनी सन्तति जानकर शीघ्र ही सिद्धिदायिनी होती हैं । जैसा कि कहा गया—

'जो जिस सन्तति का स्वामी है उसकी वह मुद्रा कही गयी है । हाथ को फैलाकर नामाक्षर से युक्त मुद्राओं के दिखाये जाने पर उस क्रम से (योगिनियाँ) अपनी कुलसन्तति को जानती हैं । जो (= साधक) विशिष्ट ऊर्ध्व प्रदर्शन करता है

एवं साधिकारं राजपुत्रषट्कमभिधाय निरधिकारमपि अभिधत्ते—

भट्टेन्द्रवल्कलाहीन्द्रगजेन्द्राः समहीधराः ।
ऊर्ध्वरेतस एते षडधिकारपदोज्झिताः ॥ ४१ ॥

ननु अधिकार एव कः?—इत्याशङ्क्य आह—

अधिकारो हि वीर्यस्य प्रसरः कुलवर्त्मनि ।
तदप्रसरयोगेन ते प्रोक्ता ऊर्ध्वरेतसः ॥ ४२ ॥

अधिकारो हि नाम वीर्यस्य = मन्त्रमुद्रासम्बन्धिनः स्फारस्य, चरमधातोश्च, कुलवर्त्मनि = शैष्ये मध्यनाड्यादौ देहमार्गे शाक्ते च आद्याधारे, प्रसरः = सङ्क्रमणम्, स एव एषां नास्तीति एते ऊर्ध्वरेतसः प्रोक्ताः स्वात्ममात्रविश्रान्तिसतत्त्वा एव—इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

ननु श्रीदेवीपञ्चशतिकादौ—

'निष्क्रियानन्दनाथश्च ज्ञानदीप्त्या सहैकतः ।
विद्यानन्दश्च रक्ता च द्वितीयं कथितं तव ॥
शक्त्यानन्दो महानन्दा तृतीयं सिद्धपूजितम् ।
शिवानन्दस्तथा ज्ञेया समया तच्चतुर्थकम् ॥'

उसको (ये योगिनियाँ) आत्मस्वरूप दिखाती है । कौण्डिल्य आदि सभी के विषय में जो जिसको दिखाता है इससे सन्ततिज्ञानी (योगिनियाँ) अपने कुल को जान लेती हैं' ॥ ४० ॥

छह अधिकारी राजपुत्रों का कथन कर अधिकाररहित (छह राजपुत्रों) को बतलाते हैं—

भट्ट, इन्द्र, वल्कल, अहीन्द्र, गजेन्द्र और महीधर ये छह ऊर्ध्वरेता (राजपुत्र) अधिकारपद से रहित कहे गये हैं ॥ ४१ ॥

प्रश्न—अधिकार क्या है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

कुलमार्ग में वीर्य का प्रसरण अधिकार है । उस (= वीर्य) का प्रसार न होने से वे लोग ऊर्ध्वरेता कहे गये हैं ॥ ४२ ॥

वीर्य का = मन्त्रमुद्रासम्बन्धीस्फुरण और (शरीरस्थ) चरम धातु (= वीर्य) का, कुलमार्ग में = शिष्य के सुषुम्ना आदि देहमार्ग में, एवं शाक्त प्रथम आधार (= योनि) में, प्रसर = सङ्क्रमण, वही इनका नहीं है इसलिये वे ऊर्ध्वरेता कहे गये हैं अर्थात् स्वात्ममात्रविश्रान्तितत्त्व वाले हैं ॥ ४२ ॥

प्रश्न—देवीपञ्चशतिका आदि में—

'ज्ञानदीप्ति नामक स्त्री के साथ निष्क्रियानन्द नाथ एक, विद्यानन्द और रक्ता

इत्याद्युक्त्या अन्येऽपि सपत्नीका गुरव उक्तास्तद्वदिहापि कथं नोच्यन्ते?—इत्याशङ्क्य आह—

अन्याश्च गुरुतत्पत्नयः श्रीमत्कालीकुलोदिताः।
अनात्तदेहाः क्रीडन्ति तैस्तैर्देहैरशङ्किताः ॥ ४३ ॥
प्रबोधिततथेच्छाकैस्तज्जे कौलं प्रकाशते ।
तथारूपतया तत्र गुरुत्वं परिभाषितम् ॥ ४४ ॥
ते विशेषान्न संपूज्याः स्मर्तव्या एव केवलम्।
ततोऽभ्यन्तरतो वायुवह्न्योर्मातृकया सह ॥ ४५ ॥
मालिनी क्रमशः पूज्या ततोऽन्तर्मन्त्रचक्रकम्।

ये च अन्ये शास्त्रान्तरोदिताः सपत्नीका गुरवः प्रतिनियतदेहानुपग्रहादनात्तदेहा अत एव अनन्यसंविदितत्वादशङ्किताः परपुरप्रवेशयुक्त्या प्रबोधितक्रीडाविषयेच्छा-वद्भिस्तैस्तैः स्त्रीपुंससम्बन्धिभिर्देहैः क्रीडन्ति सम्भोगलीलामनुभवन्ति, येन तादृश-मेलकात् जाते सङ्क्रमणक्रमेण गर्भ एव निःसरणकाल एव वा तदुत्तरकालं वा कौलज्ञानं प्रकाशते यत एवंविधमेव एषां गुरुत्वमिति शास्त्रीयः समयोऽयं

नामक पत्नी द्वितीय कहे गये हैं । शक्त्यानन्द और उनकी महानन्दा नामक पत्नी तीसरे हैं जो सिद्धों के द्वारा पूजित हैं । शिवानन्द और समया इन्हें चतुर्थ समझना चाहिये ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार अन्य भी सपत्नीक गुरु कहे गये हैं उसी प्रकार यहाँ भी क्यों नहीं कहे जाते?—यह शङ्का कर कहते हैं—

श्रीमत् कालीकुल में कहे गये अन्य गुरु और उनकी पत्नियाँ शरीर धारण न कर प्रबोधित उस प्रकार की इच्छावाले उन-उन (साधकों के) देहों के साथ निःशङ्क होकर क्रीड़ा करती हैं । उनसे उत्पन्न (सन्तान) में कौलज्ञान प्रकाशित होता है । वहाँ (= शास्त्रों में) उसी रूप से गुरुत्व कहा गया है । वे (गुरु) विशेष रूप से पूजनीय नहीं केवल स्मरणीय होते हैं । उससे भीतर की ओर वायु कोण से प्रारम्भ कर अग्नि कोण तक में क्रमशः मातृका के साथ मालिनी की पूजा करे और उसके भीतर मन्त्रचक्र की ॥ ४३-४६- ॥

जो कि शास्त्रान्तरोक्त अन्य सपत्नीक गुरु हैं वे निश्चित शरीर धारण न करने से अप्राप्तदेह वाले इसलिये अनन्य के द्वारा संविदित न होने से निःशङ्क दूसरे शरीर में प्रवेश की युक्ति से प्रबोधित क्रीडाविषयक इच्छा वाले उन-उन स्त्रीपुरुष-सम्बन्धी शरीरों के माध्यम से क्रीडा करते हैं = सम्भोग की लीला का अनुभव करते हैं जिससे उस प्रकार के मिलने (= सम्भोग) से उत्पन्न जातक में संक्रमण के क्रम से गर्भ में ही अथवा उत्पत्तिकाल में ही अथवा उसके (= उत्पत्ति के) बाद

श्रीरहस्यराजिकायोगिनीभिः स्वभावाद्भगवत्याः प्रसादेन दृष्टं विग्रहाज्ज्ञानं लब्धम्, ताभिः स्वकुले गर्भस्थानां सङ्क्रामितम्, ताभिर्गर्भात् दृष्टम्, जातमात्राभिश्च अन्याभिर्दृष्टम्, अन्याभिः सप्तविंशतेः समानामन्ते दृष्टमिति । तदमूर्तत्वादिह ते केवलं स्मर्तव्या एव, न तु विशेषात् सम्पूज्याः पूर्वगुरुभिस्तथा नोपदिष्टाः— इत्यर्थः । यद्वा विश्वयोन्याद्या व्याख्येयाः । यदुक्तमनेनैव—

'विश्वं जगद्भावमथो प्रजापतिकुलं ततः ।
योनिशब्दान्तकं प्रोक्तं गुरूणां पञ्चकं त्विदम् ॥
वीर्यं क्षोभो बीजं सृष्टिः सर्ग इतीमाः शक्तय उक्ताः ।
अत्युत्साहः शक्तिश्च क्षमसङ्गतिरुच्छला प्रक्लृप्तिः ॥
ता एताः किल शक्तयो निजगुरुस्फारैः समं बाह्यकं
देहं कञ्चिदपि क्वचिज्जगृहिरे नैव स्वतन्त्रोदयः ।
इच्छामात्रबलेन यत्किल यदा द्वन्द्वं समध्यासते
तत्र क्रीडितलालसाः परपदज्ञानं फलं तत्त्वतः ॥' इति ।

तत इति—द्वितीयस्मात् चतुरस्रात् । अभ्यन्तरत इति—व्योम्नि । क्रमश इति—तेन वायुकोणादारभ्य वह्निकोणं यावदुपर्युपरि क्रमेण मातृका पूज्या, मालिनी तु वह्नेर्वाय्वन्तमधोऽधः क्रमेणेति सिद्धम् । तत इति—मातृकामालिनी-

---

कौलज्ञान प्रकाशित होता है । क्योंकि इनका इसी प्रकार का गुरुत्व है । यह शास्त्रीय नियम भगवती की कृपा से रहस्यराजिका योगिनियों के द्वारा स्वभावात् देखा गया = विग्रह के कारण इसका ज्ञान प्राप्त किया गया । और उन (योगिनियों) के द्वारा अपने कुल में (वह ज्ञान) गर्भस्थों में संक्रामित कर दिया गया। उनके द्वारा गर्भ से देखा गया और उत्पन्न हुई अन्य स्त्रियों के द्वारा देखा गया, अन्य स्त्रियों के द्वारा सत्ताईस वर्षों के अन्त में देखा गया (= आकर्षण का केन्द्र बना)। इस कारण अमूर्त्त होने से वे केवल स्मरणीय ही है न कि विशेष रूप से सम्पूज्य । पूर्व गुरुओं के द्वारा उस प्रकार से उपदिष्ट नहीं है । अथवा वे आदि विश्वयोनि के रूप में कही जानी चाहिये । जैसा कि इन्होंने ही कहा—

'विश्व, जगद्भाव, इसके बाद प्रजापति, फिर कुल इसके बाद योनिशब्द तक कहे गये ये पाँच गुरु हैं । वीर्य, क्षोभ, बीज, सृष्टि और सर्ग ये (पाँच) शक्तियाँ कही गयी हैं । अतिउत्साह, शक्ति, क्षमसङ्गति, उच्छलत्ता, प्रक्लृप्ति ये शक्तियाँ अपने गुरुस्फार के साथ बाह्य किसी भी शरीर को कहीं भी पकड़ लेती हैं । इनका स्वतन्त्र उदय नहीं होता । इच्छामात्र के बल से (ये शक्तियाँ) जिस (स्त्री पुरुष) जोड़े को अधिगृहीत करती हैं उसमें क्रीड़ा की इच्छा वाली (ये) तत्त्वतः परमपद का ज्ञानरूप फल (आहित कर देती हैं) ॥'

उससे = दूसरे चतुष्कोण से । भीतर की ओर = आकाश में । क्रमशः— इससे वायुकोण से प्रारम्भ कर अग्निकोण तक ऊपर-ऊपर क्रम से मातृकाओं की

पूजानन्तरम् । अन्तरिति—यागमध्यवर्तिनि कर्णिकास्थानीये त्रिकोणे । तत्र पूर्वदक्षिणवामकोणेषु सभैरवं परादिदेवीत्रयम्, मध्ये च कुलेश्वरमिति । यद्वक्ष्यति—

'सम्पूज्य मध्यमपदे कुलेशयुग्मं त्वरात्रये देवीः।' (१२३) इति ॥

एवं च अत्र अन्वर्थतामभिधास्यन्कुलेश्वर्या मुख्यतया पूजायां विनियोगमाह—

मन्त्रसिद्धप्राणसंवित्करणात्मनि या कुले ॥ ४६ ॥
चक्रात्मके चितिः प्रभ्वी प्रोक्ता सेह कुलेश्वरी ।
सा मध्ये श्रीपरा देवी मातृसद्भावरूपिणी ॥ ४७ ॥
पूज्याऽथ तत्समारोपादपराथ परापरा ।
एकवीरा च सा पूज्या यदि वा सकुलेश्वरा ॥ ४८ ॥

या नाम परादिमन्त्रसिद्धाद्यात्मतया प्राणबुद्धिकरणात्मतया च चक्रात्मके कुले पूज्यसमूहे पूजकशरीरे च विश्रान्तिधामत्वात् प्रभ्वी पूर्णस्फुरत्तामात्रसतत्त्वा चितिः प्रोक्ता, सैव इह कुलेश्वरीत्वात् तच्छब्दव्यपदेश्या—इत्यर्थः । तत्समारोपादिति प्रत्येकमभिसम्बन्धः । तेन पुष्पपाताद्यनुसारं या यस्य आराधयितुमिष्टा, सा तेन

पूजा करे । मालिनी की अग्निकोण से वायु कोण तक नीचे-नीचे क्रम से—यह सिद्ध हुआ । तत्पश्चात् = मातृका और मालिनी की पूजा के बाद । अन्तः = यागमध्यवर्त्ती कर्णिकास्थानीय त्रिकोण में । वहाँ = पूर्व दक्षिण वामकोणों में भैरव के साथ परा आदि तीन देवियों की और मध्य में कुलेश्वर की (पूजा करे) । जैसा कि कहेंगे—

'संपूज्य..................देवीः ।' (मध्यम पद में कुलेश्वर और कुलेश्वरी की पूजा कर तीनों अराओं में परा, परापरा और अपरा इन तीन देवियों की पूजा करनी चाहिये) ॥ ४४-४५- ॥

यहाँ अन्वर्थता का कथन करेंगे उसके पहले कुलेश्वरी का मुख्य रूप से पूजा में विनियोग कहते हैं—

मन्त्रसिद्ध प्राण संवित् एवं करणरूप चक्रात्मक कुल में जो प्रभुतावाली चिति है वह यहाँ कुलेश्वरी कही गयी है । मातृसद्भावरूपिणी उस श्रीपरा देवी की मध्य में पूजा करनी चाहिये । इसके बाद उसके समारोप से अपरा और फिर परापरा (की पूजा करे) । वह एकवीर वाली (= अकेली) अथवा कुलेश्वर से युक्त पूजनीय है ॥ -४६-४८ ॥

जो परादि मन्त्रसिद्ध आदि तथा प्राण बुद्धि करण के रूप में चक्रात्मक कुल में, पूज्यसमूह में और पूजक शरीर में विश्रान्तिधाम होने के कारण प्रभ्वी = पूर्ण स्फुरत्तामात्रतत्त्ववाली, चिति कही गयी है वही यहाँ कुल की स्वामिनी होने के कारण उस (= कुलेश्वरी) शब्द से व्यवहृत होती है । उसके समारोप से—इसका प्रत्येक

तथा पूज्या—इत्यभिप्राय: ॥ ४८ ॥

ननु एकवीरक्रमात् यामलक्रमेण पूजायां को विशेष:?—इत्याशङ्क्य आह—

प्रसरेच्छक्तिरुच्छूना सोल्लासो भैरवः पुनः ।
सङ्घट्टानन्दविश्रान्त्या युग्ममित्थं प्रपूजयेत् ॥ ४९ ॥
महाप्रकाशरूपायाः संविदो विस्फुलिङ्गवत् ।
यो रश्म्योघस्तमेवात्र पूजयेद्देवतागणम् ॥ ५० ॥

यदा हि भैरवोन्मुखी शक्ति: प्रसरेत् भैरवश्च पुन: शक्त्युन्मुख:, तदा इत्थं परस्परौन्मुख्यात् तयो: सङ्घट्टेन समापत्त्या योऽयमानन्द: स्वात्मचमत्कारस्तद्विश्रान्त्या युग्मं प्रपूजयेत् ।

'आनन्देनैव सम्पन्ने ब्रह्मावस्थ: स्वयं स्थित: ।'

इत्याद्युक्त्या चिदानन्दैकघनपरब्रह्मस्वरूपमात्रसतत्त्वं यामलमनुसन्दध्यात्—इत्यर्थ: । तमेवेति—न तु ततोऽतिरिक्तम्—इत्यर्थ: ॥ ५० ॥

तदेव आह—

अन्तर्द्वादशकं पूज्यं ततोऽष्टाष्टकमेव च ।

के साथ सम्बन्ध है । इससे पुष्पपात आदि के अनुसार जो जिसकी आराध्या है वह उसके द्वारा उस प्रकार से पूज्या है—यह अभिप्राय है ॥ ४८ ॥

प्रश्न है—एकवीर क्रम की अपेक्षा यामलक्रम द्वारा पूजा में क्या विशेष है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(जब) उच्छून शक्ति का प्रसार हो और भैरव उल्लासयुक्त हो (तब दोनों के) सङ्घट्ट (जनित) आनन्द की विश्रान्ति होने से इस रूप से दोनों की पूजा करे । महाप्रकाशरूपा संविद् का जो विस्फुलिङ्ग के समान रश्मिसमूह है उसी देवतागण की यहाँ पूजा करनी चाहिये ॥ ४९-५० ॥

जब शक्ति भैरवोन्मुखी होकर प्रसरण करती है और भैरव शक्त्युन्मुख होते हैं तो इस प्रकार परस्पर औन्मुख्य के कारण दोनों के सङ्घट्ट = समापत्ति, से जो यह आनन्द = स्वात्मचमत्कार (होता है) उसकी विश्रान्ति से (उस) जोड़े की पूजा करे ।

'आनन्द के ही द्वारा सम्पन्न होने पर (साधक) स्वयं ब्रह्मावस्थ हो जाता है ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार (साधक) चिदानन्दैकघन परब्रह्मस्वरूपमात्रतत्त्व वाले यामल रूप का अनुसन्धान करे । उसी का—न कि उससे अतिरिक्त का (अनुसन्धान करे) ॥ ५० ॥

उसी को कहते हैं—

चतुष्कं वा यथेच्छं वा का सङ्ख्या किल रश्मिषु ॥ ५१ ॥

द्वादशकमिति—सृष्टिदेव्यादि, एकीकाराह्निके वक्ष्यमाणं वा । चतुष्कमिति—सिद्धादि, जयादि वा । यथेष्टमिति—निजानुष्ठानावस्थितम् ॥ ५१ ॥

ननु रश्मयस्तावदनन्ता इत्युक्तम् । तासां च शास्त्रान्तरेषु बहुप्रकारं निर्देश इति निर्निबन्धनमेव उपेक्षायां सर्वस्य तथाभावप्रसङ्गादनवस्थितमेव तदनुष्ठानं स्यादिति किमेतच्छास्त्राविहितमन्तर्द्वादशकं पूज्यमित्यादि उक्तम् ? सत्यमेवं किन्तु गुर्वन्तराणामयमाशय इत्येवमेतत् सन्दर्शितम् । तस्मात् मुख्यया वृत्त्या स्वकण्ठोक्तमष्टकद्वयमेव यामलक्रमेण सम्पूज्यम्—इत्याह—

माहेशी वैरिञ्ची कौमारी वैष्णवी चतुर्दिक्कम् ।
ऐन्द्री याम्या मुण्डा योगेशीरीशतस्तु कोणेषु ॥ ५२ ॥
पवनान्तमघोरादिकमष्टकमस्मिन्नथाष्टके क्रमशः ।
सङ्घट्टानन्ददृशा सम्पूज्यं यामलीभूतम् ॥ ५३ ॥
अष्टाष्टकेऽपि हि विधौ नानानामप्रपञ्चिते बहुधा ।
विधिरेष एव विहितस्तत्संख्या दीपमाला स्यात् ॥ ५४ ॥

भीतरी बारह की पूजा करे फिर आठ अष्टक (= निष्क्रियानन्दनाथ, विद्यानन्द नाथ, शक्त्यानन्द नाथ और शिवानन्दनाथ) अथवा चतुष्क अथवा इच्छानुसार (का पूजन करे) । रश्मियों की क्या संख्या (कही जाय) ॥ ५१ ॥

द्वादशक = सृष्टिदेवी आदि (द्वादशकाली) अथवा एकीकार आह्निक में वक्ष्यमाण । चतुष्क = सिद्ध आदि अथवा जया आदि । यथेष्ट—अपने अनुष्ठान में स्थित ॥ ५१ ॥

प्रश्न—रश्मियाँ अनन्त हैं—यह कहा गया । उनका दूसरे शास्त्रों में अनेक प्रकार से निर्देश है—यह निर्विवाद है । उपेक्षा होने पर सबकी वही स्थिति आयेगी फलतः उसका अनुष्ठान अनवस्थित ही हो जायगा फिर यह शास्त्राविहित—अन्तर्द्वादशक की पूजा करे—इत्यादि कैसे कहा गया ?—यह सत्य है, किन्तु दूसरे गुरुओं का यह आशय है इसलिये इसे दिखाया गया । इसलिये मुख्य रूप से स्वकण्ठोक्त दो अष्टकों की ही यामलक्रम से पूजा करे—यह कहते हैं—

(साधक) चारों दिशाओं में माहेशी ब्रह्माणी कौमारी और वैष्णवी की, फिर ईशान कोण से लेकर (चारो) कोणों में ऐन्द्री याम्या मुण्डा योगेशी की (पूजा करे) । इस अष्टक में अघोर से लेकर पवन पर्यन्त यामलीभूत आठ की सङ्घट्ट आनन्द की दृष्टि से पूजा करे । इस अष्टाष्टक विधि में भी अनेक प्रकार से अनेक नाम के प्रपञ्चित होने पर यह विधि कही गयी है । दीपमाला भी उतनी संख्या में होनी चाहिये ॥ ५२-५४ ॥

क्रमश इति—त्र्यस्राद्बहिरष्टदले पद्मे पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरेषु दलेषु अघोरादिसहितं माहेश्यादिचतुष्कं तदितरेषु अपि ईशात् वह्न्यन्तं सभौमादिकमैन्द्र्यादिचतुष्कं पूजयेत् । यदुक्तम्—

'पूर्वयाम्यापरादिक्षु माहेश्यादिचतुष्टयम् ।
इन्द्राणीपूर्वकं तद्वदैशादग्निदलान्तगम् ॥' इति,
'ततो वीराष्टकं पश्चाच्छक्त्युक्तविधिना यजेत् ।' इति च ।

अत्र

'क्षेत्रेऽष्टधा विभक्ते मध्ये भागद्वयाद्भद्रमस्यान्तः ।
त्र्यस्रं कुर्यात्तदनु त्रिधा विभक्ते समन्ततो भागे ॥
वसुदलमम्भोजमथो भागेन नभश्चतुष्किकाश्च चतुः ।
वेदास्रे दिक्षु ततो भागाः श्रुतिभावगामिन्यः ॥
पार्श्वाभ्यामेवमिदं कुलक्रमे मण्डलं सचतुरस्रम् ।'

इति मण्डलसंग्रहः । बहुधा नानानामप्रपञ्चिते इति—कुलशास्त्राणामानन्त्यात् तन्नाम्नामपि नानात्वात् । नहि पूर्वाचार्याणामेतदिह पूज्यत्वेन अभिहितं येन परम्परया नैयत्येन तैर्नाम्नामपरिग्रहः स्यात्, किन्तु व्याप्तिमात्रप्रदर्शनाशयेनेति यथारुचि तन्नामानि ग्राह्याणीति । यदुक्तमनेनैव अन्यत्र—

क्रमशः—त्रिकोण के बाहर अष्टदल कमल पर पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर दलों पर अघोर आदि सहित माहेशी आदि चार की, उससे अन्य दलों पर ईशान से अग्निकोण तक भीम आदि के सहित ऐन्द्री आदि चार की पूजा करे । जैसा कि कहा गया—

'पूर्व याम्य और (उनसे) भिन्न = पश्चिम और उत्तर दिशाओं में माहेशी आदि चार की, उसी प्रकार ईशान से अग्निदल तक इन्द्राणीपूर्वक की (पूजा करे) ।' 'इसके बाद (वीराष्टक याग और बाद में शक्ति की पूजा विधिवत् करनी चाहिये अथवा) शक्त्युक्त विधि से वीराष्टक की पूजा करे ।'

यहाँ

'क्षेत्र को आठ भाग में बाँटे जाने पर मध्य में दो भागों के भीतर अच्छा त्रिकोण बनाये । उसके बाद चारो ओर के भाग को तीन भाग में बाँटने पर अष्टदल कमल बनाये । इसके बाद एक भाग से व्योम और चार चतुष्किकायें तत्पश्चात् चतुष्कोण में चारो दिशाओं में वेदभाव को बताने वाले (चार) भाग पार्श्वों में बनाये । इस प्रकार यह कुलक्रम में चौकोर मण्डल होता है ॥'

यह मण्डलसंग्रह है । बहुधा नाना नाम प्रपञ्चित—कुलशास्त्रों के अनन्त होने से उनके नाम भी अनन्त हैं । पूर्वाचार्यों के पूज्य के रूप में इसे यहाँ नहीं कहा गया जिससे परम्परानुसार निश्चितरूप से उनके द्वारा नामों का अपरिग्रह हो किन्तु

'अष्टकसप्तकस्य तु यथारुचीतरकुलशास्त्रेभ्यः ।
नामानीति तत्तत् कुलशास्त्रेभ्यो ग्राह्या नि ॥' इति ।

अत्र च अष्टकसप्तकेत्यभिधानादष्टाष्टकमिह पूज्यतया सम्मतमित्येव संलक्षितम् । एवं हि अष्टकस्य पृथगावरणक्रमेण पूजनीयत्वं न स्यात् यथात्वे च श्रुतिविरोध इत्यलं बहुना । एष एवेति—यामललक्षणः । इह यावत्—

'आवाहिते मन्त्रगणे पुष्पासवनिवेदितैः ।
धूपैश्च तर्पणं कार्यं श्रद्धाभक्तिबलोदितम् ॥
दीप्तानां शक्तिनाथादिमन्त्राणामासवैः पलैः।
रक्तैः प्राक्तर्पणं पश्चात्पुष्पधूपादिविस्तरः ॥'

इत्याद्युक्त्या अवश्यकार्यं कुलक्रमे तर्पणम् । तत्र च महापशुप्रतिनिधित्वात् दीपचरोरेव प्राधान्यमिति प्रथमं तदेव उपहर्तव्यतया अभिधत्ते—तत्संख्या दीपमाला स्यादिति । तत्सङ्ख्येत्यनेन अष्टाष्टव्याप्तेरत्र आसूत्रणं कृतम् । एतच्च अभिषेक-विषयमिति ॥ ५४ ॥

अत्र प्रकारान्तरमाह—

व्याप्तिमात्र के प्रदर्शन के लिये (कहा गया) इसलिये उनके नाम यथारुचि लेने चाहिये । जैसा कि इन्होंने ही अन्यत्र कहा है—

'सात अष्टकों का रुचि के अनुसार अन्य कुलशास्त्रों से नाम (लेना चाहिये) ।'

यहाँ अष्टक सप्तक—इस कथन से आठ अष्टक यहाँ पूज्य माने गये हैं—यह सङ्केतित है । ऐसा होने पर अष्टक पृथक् आवरणीय क्रम से पूजनीय नहीं होंगे और वैसा होने पर श्रुतिविरोध होगा—बस इतना पर्याप्त है । यही (विधि) = यामल लक्षण विधि यहाँ—

'मन्त्रसमूह का आवाहन होने पर पुष्प आसव नैवेद्य धूप से श्रद्धा भक्ति बल के साथ (उन मन्त्ररूप रेखाओं का) तर्पण करे । दीप्त शक्ति एवं नाथ (= शिव) आदि के मन्त्रों का पहले आसव मांस रक्त से और बाद में पुष्प धूप आदि के विस्तार से तर्पण करे ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार कुलक्रम में तर्पण अवश्यकरणीय है । उसमें महापशु (= यज्ञीय पशु) का प्रतिनिधि होने के कारण दीप एवं चरु की ही प्रधानता होती है इसलिये पहले उसी को उपहर्त्तव्य के रूप में कहते हैं—तत्संख्या... । तत्संख्या—इस कथन से अष्टाष्ट व्याप्ति का यहाँ सङ्केत किया गया । यह (= यागक्रम) अभिषेकविषयक है ॥ ५४ ॥

इस विषय में दूसरा प्रकार कहते हैं—

श्रीरत्नमालाशास्त्रे तु वर्णसंख्याः प्रदीपकाः ।
वर्णाश्च मुख्यपूज्याया विद्याया गणयेत्सुधीः ॥ ५५ ॥

तदुक्तं तत्र—

'प्रदोषे विलीने मन्त्री दीपान्दद्याद्वरानने ।
वर्णसङ्ख्यान्वरारोहे चतुर्दिक्षु गतान्न्यसेत् ॥' इति ।
'अथातः संप्रवक्ष्यामि मालिन्या यजनं परम् ।'

इत्युपक्रान्तत्वात् मुख्यपूज्या मालिनीति तद्वर्णसङ्ख्यायाः पञ्चाशद्दीपा उक्ताः । तेन यावदक्षरा मूलविद्या तत्र, तावत्संख्या दीपाः कार्या इति सिद्धम् ॥ ५५ ॥

एवमियता सिद्धपत्नीकुलक्रममभिधाय, अर्चाप्रकारासूत्रणाय अत्र ससंवादं मतान्तरमपि अभिधातुमाह—

पीठक्षेत्रादिभिः साकं कुर्याद्वा कुलपूजनम् ।
यथा श्रीमाधवकुले परमेशेन भाषितम् ॥ ५६ ॥

श्रीमाधवकुले इति—श्रीतन्त्रराजभट्टारकग्रन्थैकदेशभूते—इत्यर्थः । अत्र हि केषाञ्चन गुरूणां श्रीदेव्यायामलश्रीमाधवकुलार्थसम्मेलनया सम्प्रदायः समस्तीति श्रीमाधवकुलोक्तवक्ष्यमाणक्रमेण पीठादियुक्तं वा कुलक्रमपूजनं कार्यमित्युपक्षिप्तम् । तदेव आह—

श्री रत्नमाला शास्त्र में दीपक वर्णों की संख्या के अनुसार (कहे गये हैं) विद्वान् मुख्य पूज्य विद्या (= मालिनी) के वर्णों को गिनें ॥ ५५ ॥

वही वहाँ कहा गया है—

'हे वरानने मन्त्र का साधक प्रदोषकाल के समाप्त होने पर दीपदान करे । हे वरारोहे ! वर्णसंख्या वाले उनको (= दीपकों को) चारो दिशाओं में रखे ।'

'अब मालिनी की परम पूजा का वर्णन करते हैं ।'

ऐसा प्रारम्भ करने से मालिनी मुख्यतया पूज्य है इसलिये उतने वर्णो की संख्या के अनुसार (दान के लिये) पचास दीप कहे गये हैं । इसलिये जितने अक्षरों वाली वहाँ मूलविद्या हो उतनी संख्या वाले दीप जलाने चाहिये ॥ ५५ ॥

इतने से सिद्धपत्नी के कुलक्रम का कथन कर पूजनप्रकार का प्रारम्भ करने के लिये यहाँ संवादयुक्त मतान्तर को बतलाते हैं—

अथवा पीठक्षेत्र आदि के साथ कुलपूजन करे जैसा कि श्री माधवकुल में परमेश्वर ने कहा है ॥ ५६ ॥

श्री माधवकुल में = तन्त्रराजभट्टारक नामक ग्रन्थ के एक अंशभूत में । यहां किन्हीं गुरुओं का सम्प्रदाय = देवीयामल और माधवकुल के अर्थो को मिलाकर

सृष्टिसंस्थितिसंहारानामक्रमचतुष्टयम् ।
पीठश्मशानसहितं पूजयेद्भोगमोक्षयोः ॥ ५७ ॥

भोगमोक्षयोरिति—तन्निमित्तम्—इत्यर्थः । तदुक्तं तत्र—

'सृष्टिक्रमं तु प्रथममवतारं द्वितीयकम् ।
संहारं तु तृतीयं स्यादनाख्येयं चतुर्थकम् ॥'

इति उपक्रम्य

'स कालकुलसम्भूतो भावनां भावयेत्स्फुटम् ।' इति
'पीठक्रमेण चाम्नायं सङ्कर्षण्या त्वधिष्ठितम् ।
तैर्विना न भवेत्सिद्धिस्तत्पदं कथयामि ते ।'

इति च । श्रीदेव्यायामले हि देवीत्रयं श्रीसङ्कर्षणी चेति चतुष्टयम् ॥ ५७ ॥

तत्र देहे पीठानां पदमभिधत्ते—

आत्मनो वाऽथवा शक्तेश्चक्रस्याथ स्मरेदिमम्।
न्यस्यत्वेन विधिं देहे पीठाख्ये पारमेश्वरम् ॥ ५८ ॥

इममिति—वक्ष्यमाणम् ॥ ५८ ॥

होता है, इसलिये (साधक) श्रीमाधवकुलोक्त वक्ष्यमाण क्रम से पीठ आदि से युक्त कुलक्रमपूजन करे—ऐसा सङ्केतित है । वही कहते हैं—

भोग और मोक्ष के लिये पीठ श्मशान के सहित सृष्टि स्थिति संहार और अनाम (= अनाख्या) इन चार क्रमों की पूजा करे ॥ ५७ ॥

भोग मोक्ष के = उसके निमित्त । वही वहाँ कहा गया—

'सृष्टिक्रम प्रथम, अवतार द्वितीय, संहार तृतीय और अनाख्या चतुर्थ है ।'

ऐसा प्रारम्भ कर

'कालीकुल में उत्पन्न वह (= साधक) स्फुट भावना करे ।' और

'सङ्कर्षिणी के द्वारा अधिष्ठित पीठक्रम से आम्नाय का अनुसरण करे । उनके (= पीठों के) बिना सिद्धि नहीं होती । इसलिये तुमसे उनके पद (= स्थान) को कहता हूँ' ।

देवीयामल में तीन (परा आदि) देवियाँ और श्री सङ्कर्षिणी ये चार हैं ॥ ५७॥

(साधक के) देह में पीठों के पद (= स्थान) को कहते हैं—

अपने अथवा शक्ति के अथवा चक्र के पीठ नामक देह में न्यस्य के रूप में इस पारमेश्वर विधि का स्मरण करे ॥ ५८ ॥

तमेव आह—

अट्टहासं शिखास्थाने चरित्रं च करन्ध्रके ।
श्रुत्योः कौलगिरिं नासारन्ध्रयोश्च जयन्तिकाम् ॥ ५९ ॥
भ्रुवोरुज्जयिनीं वक्त्रे प्रयागं हृदये पुनः ।
वाराणसीं स्कन्धयुगे श्रीपीठं विरजं गले ॥ ६० ॥
एडाभीमुदरे हालां नाभौ कन्दे तु गोश्रुतिम् ।
उपस्थे मरुकोशं च नगरं पौण्ड्रवर्धनम् ॥ ६१ ॥
एलापुरं पुरस्तीरं सक्थ्यूर्वोर्दक्षिणादितः ।
कुड्याकेशीं च सोपानं मायापूक्षीरके तथा ॥ ६२ ॥
जानुजङ्घे गुल्फयुग्मे त्वाम्रातनृपसद्मनी ।
पादाधारे तु वैरिञ्चीं कालाग्न्यवधिधारिकाम् ॥ ६३ ॥

अट्टहासमिति—न्यस्यत्वेन स्मरेत्—इति पूर्वेण सम्बन्धः । एवमुत्तरत्रापि । शिखास्थाने इति—प्राणशक्तिविश्रान्त्यवस्थित्यात्मनि द्वादशान्ते—इत्यर्थः । वक्त्रे इति—आस्ये । हालामिति—अलिपुरम् । यदुक्तम्—

'नाभिदेशे त्वलिपुरं कन्दोर्ध्वे परमेश्वरि ।' इति ।

गोश्रुतिमिति—गोकर्णम् । सक्थ्यूर्वोरिति जानुजङ्घे इति गुल्फयुग्मे इति च

इस = आगे कही जाने वाली ॥ ५८ ॥

उसी को कहते हैं—

शिखा स्थान में अट्टहास, ब्रह्मरन्ध्र में चरित्र, कानों में कौलगिरि, नासिकारन्ध्रों में जयन्तिका, भ्रुवों में उज्जयिनी, मुख में प्रयाग, हृदय में वाराणसी, दोनों स्कन्धों में श्रीपीठ, गले में विरजस्क, उदर में एडाभी, नाभि में हाला, कन्द में गोकर्ण, उपस्थ में मरुकोश, दायीं सक्थि में नगर, बायीं में पौण्ड्रवर्धन, दायें ऊरु में एलापुर और बायें ऊरु में पुरस्तीर, दायें जानु में कुड्याकेशी, बायें में सोपान, दायीं जङ्घा में मायापुरी, बायीं में क्षीरक, (दायें बायें) दोनों गुल्फों में (क्रमशः) आम्रातकेश्वर और राजगृह, पादाधार में कालाग्नि अवधिधारिका ब्रह्माणी का (न्यस्य के रूप में स्मरण करे) ॥ ५९-६३ ॥

अट्टहास का—न्यस्य के रूप में स्मरण करे—ऐसा पूर्ववर्णन से जोड़ लेना चाहिये। इसी प्रकार आगे भी । शिखास्थान में = प्राणशक्तिविश्रान्ति की स्थितिरूप द्वादशान्त में । वक्त्र में = मुख में । हाला = अलिपुर । जैसा कि कहा गया—

'हे परमेश्वरी ! कन्द के ऊपर नाभिदेश में अलिपुर है ।'

गोश्रुतम् = गोकर्ण । सक्थि उरु जानु जङ्घा दोनों गुल्फ यहाँ सर्वत्र दायें से

सर्वत्र दक्षिणत इति सम्बन्धनीयम् । तेन दक्षिणे सक्थ्नि नगरं वामे पौण्ड्रवर्धनं दक्षिणे ऊरावेलापुरं वामे पुरस्तीरं दक्षिणे जानुनि कुड्याकेशीं वामे सोपानं दक्षिणजङ्घायां मायापुरीं वामायां तु क्षीरकं दक्षिणे गुल्फे आम्रातकेश्वरं वामे तु राजगृहमिति । तदुक्तं तत्र—

'दक्षिणे सक्थ्नि नगरं वामे स्यात् पौण्ड्रवर्धनम् ।
वामोरौ तु पुरस्तीरमेलापुरं तु दक्षिणे ॥
कुड्याकेशी दक्षजानौ सोपानं चोत्तरे स्मृतम् ।
क्षीरकं वामजङ्घायां वामपुर्यपि दक्षिणे ।
आम्रातकेश्वरं गुल्फे वामे राजगृहं शुभम् ॥' इति ।

वैरिञ्चीमिति—ब्रह्माणीम्, श्रीशैलाख्यं तु तत्पीठम्—इत्यर्थः । तदुक्तं श्रीकुलक्रमोदये—

'श्रीशैले संस्थिता ब्राह्मी..................... ।

इत्यादि उपक्रम्य

पादाधारस्थिता ब्राह्मी.......................... ।' इति ॥ ६३ ॥

न च अत्र तात्स्थ्येन अवस्थातव्यं किन्तु अहमेव पीठस्तदधिष्ठात्र्यः शक्त्यश्चेति अनुसन्धातव्यं येन सिद्धिः स्यात्—इत्याह—

ऐसा सम्बन्ध करना चाहिये । इस प्रकार दायीं सक्थि में नगर, बायीं में पौण्ड्रवर्धन, दायें उरु में एलापुर, बायें में पुरस्तीर, दायीं जानु में कुड्याकेशी, बायें में सोपान, दायीं जङ्घा में मायापुरी, बायीं में क्षीरक, दायें गुल्फ में आम्रातकेश्वर, बाये में राजगृह ऐसा क्रम समझना चाहिये । वही वहाँ कहा गया है—

'दायीं सक्थि में नगर बायीं में पौण्ड्रवर्धन (पद) है । बायें उरु में पुरस्तीर दायें में एलापुर, दक्षिण जानु में कुड्याकेशी बायें में सोपान, वाम जङ्घा में क्षीरक, दायी में मायापुरी, दक्षिण गुल्फ में आम्रातकेश्वर, और बायें में शुभ राजगृह है ।'

वैरिञ्ची = ब्रह्मावाली । उसका पीठ श्रीशैल है । वही कुलक्रमोदय में कहा गया है—

'श्रीशैल पर ब्राह्मी रहती है ।'

इत्यादि प्रारम्भ कर

'पादाधार में ब्राह्मी स्थित है' ॥ ६३ ॥

यहाँ उसमें स्थित होकर नहीं रहना चाहिये किन्तु (साधक) 'मैं ही पीठ और उसकी अधिष्ठात्री शक्तियाँ हूँ'—ऐसा अनुसन्धान करे जिससे सिद्धि होती है—यह कहते हैं—

नाहमस्मि नचान्योऽस्ति केवलाः शक्तयस्त्वहम्।
इत्येवं वासनां कुर्यात्सर्वदा स्मृतिमात्रतः ॥ ६४ ॥

तदुक्तं तत्र—

'नाहमस्मि नचान्योऽस्ति केवलाः शक्तयस्त्विति ।
क्षणमप्यत्र विश्रामं सहजं यदि भावयेत् ।
तदा स खेचरो भूत्वा योगिनीमेलनं लभेत् ॥' इति ॥ ६४॥

ननु देशकालव्रतादिनियन्त्रणया सिद्धिर्भवेदिति सर्वत्र उक्तम् । तत् कथमत्र अनुसन्धिमात्रेणैव एवं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

न तिथिर्न च नक्षत्रं नोपवासो विधीयते ।
ग्राम्यधर्मरतः सिद्ध्येत्सर्वदा स्मरणेन हि ॥ ६५ ॥

ग्राम्यधर्मरतः इति—तद्वृत्तिः—इत्यर्थः । एतच्च प्रथमाह्निके एव उक्तमिति तत एवावधार्यम् ॥ ६५ ॥

ननु किं नाम तच्चक्रं यस्यापि न्यस्यत्वेन पीठाख्योऽयं विधिर्विवक्षितः?—इत्याशङ्क्य आह—

मातङ्गकृष्णसौनिककार्मुकचार्मिकविकोषिधातुविभेदाः ।
मात्स्यिकचाक्रिकदयितास्तेषां पत्न्यो नवात्र नवयागे ॥ ६६ ॥

'मैं नहीं हूँ', 'दूसरा भी नहीं है', मैं केवल शक्तिमात्र हूँ । (साधक) सर्वदा स्मरण करता हुआ इस प्रकार की भावना करे ॥ ६४ ॥

'मैं नहीं हूँ' 'दूसरा भी नहीं है', केवल शक्तियाँ हैं—ऐसी यदि एक क्षण के लिये भी स्वाभाविक विश्राम की भावना करे तो वह खेचर होकर योगिनीमिलाप को प्राप्त करता है' ॥ ६४ ॥

प्रश्न—देश काल व्रत आदि के नियम से सिद्धि होती है—ऐसा सर्वत्र कहा गया है । तो यहाँ केवल अनुसन्धान से सिद्धि कैसे कही गयी?—यह शङ्का कर कहते हैं—

न तिथि न नक्षत्र और न उपवास का विधान है । ग्राम्यधर्म का पालन करता हुआ सर्वदा स्मरण से सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ६५ ॥

ग्राम्यधर्मरत = उसी की वृत्ति (= जीवनचर्या) वाला । यह प्रथम आह्निक में ही कहा गया है इसलिये वहीं से जान लेना चाहिये ॥ ६५ ॥

प्रश्न—वह चक्र क्या है जिसके न्यस्य के रूप में पीठ नामक यह विधि विवक्षित है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

मातङ्ग, कृष्ण, सौनिक, धनुष बनाने वाला, चर्मकार, कलवार,

कृष्णः = कज्जलो = डोम्ब इति यावत् । विकोषी = ध्वजी = कल्यपालः । धातुविभेदः = अस्थिभेत्ता = कापालिकः । तदुक्तं तत्र—

'मातङ्गी कज्जली सौनी कार्मुकी चर्मकारिणी ।
ध्वजिनी चास्थिदलनी धीवरी चक्रिणी प्रिये ॥' इति ।

नवयागे इति—नवानां चक्राणां यजने—इत्यर्थः । तदुक्तं तत्र—

'नवयागरता देव्यः पूजयन्ति यथेश्वरम् ।
तद्वत्पूजा प्रकर्तव्या नवधा नवचक्रगा ॥' इति ॥ ६६ ॥

तद्गृहाण्येव च सङ्केतस्थानतया पीठानि—इत्याह—

सङ्गमवरुणाकुलगिर्यट्टहासजयन्तीचरित्रकाम्रककोट्टम् ।
हैमपुरं नवमं स्यान्मध्ये तासां च चक्रिणी मुख्या ॥ ६७ ॥

यदुक्तं तत्र—

'मातङ्गीवेश्म सुभगे प्रयागं परिकीर्तितम् ।
कज्जली वरुणाख्यं तु सौनी कुलगिरिः प्रिये ।
कार्मुकी चाट्टहासं च जयन्ती चर्मकारिणी ।

कापालिक, मछुवारा, और तेली (ये नव) तथा इनकी नव पत्नियाँ यहाँ नवयाग में (गृहीत) हैं ॥ ६६ ॥

कृष्ण = कज्जल = डोम । विकोषी = ध्वजी = कलवार (= शराब बनाकर बेचने वाला) । धातुविभेद = हड्डी तोड़ने वाला = कापालिक (= हड्डियों को तोड़ कर चूरा बनाकर बेचने वाला) । वही वहाँ कहा गया—

'हे प्रिये ! मातङ्गी (= बहेलिया की पत्नी), कज्जली (= डोमिन), सौनी (= कसाई की पत्नी), कार्मुकी (= धनुष बनाने वाली), चर्मकारिणी, ध्वजिनी (= कलवारिन), कापालिकी, मल्लाहिन और तेलिन (ये कुल यज्ञार्थ ग्राह्य हैं) ॥'

नवयाग में = नव चक्रों के पूजन में । वही वहाँ कहा गया—

'जिस प्रकार नव याग में निरत देवियाँ ईश्वर की पूजा करती हैं उसी प्रकार नव चक्र सम्बन्धी नव प्रकार की पूजा करनी चाहिये' ॥ ६६ ॥

उन (नव) के घर ही सङ्केतस्थान के रूप में पीठ हैं—यह कहते हैं—

प्रयाग, वरुणा, कुलगिरि, अट्टहास, जयन्ती, चरित्रक, आम्रक, देवी-कोट्टक और नवम हैमपुर स्थान है । इनमें से चक्रिणी मुख्य है ॥ ६७ ॥

जैसा कि वहाँ कहा गया-

'हे सुभगे ! शबरी का घर प्रयाग, कज्जली का वरुणा है । हे प्रिये !

चरित्रं ध्वजिनी प्रोक्तमेकाम्रास्थिविदारणी ॥
देवीकोट्टं धीवरी तु हिरण्यपुरमेव च ।
नवमं चक्रिणीपीठं यत्सुरैरपि दुर्लभम् ॥' इति ।

तासामिति—मातङ्ग्यादीनाम् ॥ ६७ ॥

मुख्यत्वमेव अस्या दर्शयति—

बीजं सा पीडयते रसशल्कविभागतोऽत्र कुण्डलिनी।
अध्युष्टपीठनेत्री कन्दस्था विश्वतो भ्रमति ॥ ६८ ॥
इष्ट्वा चक्रोदयं त्वित्थं मध्ये पूज्या कुलेश्वरी ।
सङ्कर्षिणी तदन्तान्ते संहाराप्यायकारिणी ॥ ६९ ॥
एकवीरा चक्रयुक्ता चक्रयामलगापि वा ।

अत्र हि सा कन्दे निखिलजगदुत्पत्तिमूलभूते प्रकाशात्मनि परप्रमातरि आभिमुख्येन वर्तमाना, अत एव गर्भीकृतविश्वत्वात् कुण्डलिनीरूपा पराशक्तिर्यदा स्वस्वातन्त्र्यात् भेदप्रथामवबिभासयिषुरध्युष्टपीठे नेत्री देहादिप्रमातृतामवलम्बमाना विश्वतो भ्रमति—तत्तन्नीलसुखाद्यात्मतया परितः स्फुरति, तदा पुनरपि आत्मन्येव विश्वं विश्रमयितुमुद्यच्छन्ती रसशल्कविभागतो बीजं पीडयते—देहादिप्रमातृ-

---

(का घर) कुलगिरि, कार्मुकी का अट्टहास, चर्मकारिणी का जयन्ती, ध्वजिनी का चरित्र, कापालिकी का एकाम्र, धीवरी का देवीकोट्ट और चक्रिणी (= तेलिन) का घर नवाँ हिरण्यपुर है जो कि देवताओं को भी दुर्लभ है ।'

उनका = मातङ्गी आदि का ॥ ६७ ॥

इस (चक्रिणी) की मुख्यता को बतलाते हैं—

यहाँ कुण्डलिनी बीज को पेर कर रस और शल्क (= खली) को अलग करती है अधिवासित पीठ की नेत्री कन्दस्थान में रहती हुयी सर्वत्र भ्रमण करती है (इसलिये मुख्य है) । इस प्रकार चक्रोदय का पूजन कर मध्य में कुलेश्वरी की पूजा करे । उसके अन्तान्त में सङ्कर्षिणी, जो कि स्थितिसंहारकारिणी है, की एकवीरा चक्रमुक्ता अथवा चक्रयामलगामिनी (के रूप में) पूजा करे ॥ ६८-७०- ॥

वह कन्द = समस्त संसार की उत्पत्ति के मूलभूत प्रकाशरूप परप्रमाता में आभिमुख्येन वर्त्तमान, इसीलिये विश्व को गर्भ में रखने के कारण कुण्डलिनीरूपा परा शक्ति जब अपने स्वातन्त्र्य के कारण भेदविस्तार को आभासित करने की इच्छा से युक्त होती हुयी अधिवासित पीठ में नेत्री = देहादिप्रमातृता, को धारण करने वाली, सर्वत्र भ्रमण करती है = भिन्न-भिन्न नील सुख आदि के रूप में स्फुरित होती है तब पुनः अपने अन्दर ही विश्व को विश्रान्त करने के लिये उद्यम करती

तान्यक्षारक्रमेण परसंविद्रसमुत्कर्षयन्ती विश्वकारणं मायां तिरस्करोति—इत्यर्थः । अन्यच्च सैव कन्दाधारस्था प्राणकुण्डलिनीरूपा बीजम्—पुष्पादिनिमित्त-मुपभुक्तमाहारादि, रसकिट्टादिरूपतया परिणामयति येन देहाधारं प्रेरयन्ती विश्वतो भ्रमति सर्वतो नाडीचक्रादौ प्राणनात्मतया अवतिष्ठते—इत्यर्थः । अथ च बहिः सा चाक्रिकी सार्धत्रिहस्तप्रायपरिमाणं चक्रं प्रेरयन्ती तन्मध्यस्था विश्वतः सर्वतोदिक्कं भ्रमति येन सर्वतोदिक्कं भ्रमणादेव कुण्डलिनी बीजं तिलादि रसशल्कविभागतः पीडयते तैलपिण्याकविभागासादनपर्यन्तं निष्पीडयति—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'नवमी चक्रिणी या सा भ्रमन्ती विश्वमध्यगा।
सर्वं बीजं पीडयन्ती रसशल्कविभागतः ॥
सा च कुण्डलिनी नाम कन्दवेष्टविनिर्गता ।' इति ।

चक्रोदयमिति—उदितं चक्रम्—इत्यर्थः । सङ्कर्षिणी—सप्तदशाक्षरा । यदुक्तं श्रीदेव्यायामले—

'नाशार्णं च नितम्बं च प्राणं शूलार्धयोजितम् ।
नितम्बं प्राणमुद्धृत्य क्षीरवर्णेन संयुतम् ॥
त्रिलोचनं कर्णवर्णं बाहुदक्षिणयोजितम् ॥

हुयी बीज को पीडित कर रस तथा शल्क (= खली) को अलग करती है अर्थात् देहादिप्रमातृता को विलीन कर परसंविद् रस को उत्कृष्ट करती हुयी विश्व की कारणभूता माया को छिपा देती है । और भी वही कन्दरूपी आधार में वर्त्तमान प्राणकुण्डलिनीरूपा होकर बीज = पुष्प आदि के कारणभूत उपयुक्त आहार आदि को रस मल (= विष्टा) आदि के रूप में परिणत करती है जिससे देह रूपी आधार को प्रेरित करती हुयी सर्वत्र भ्रमण करती है = सब ओर नाड़ीचक्र आदि में प्राण के रूप में स्थित रहती है । इसी प्रकार बाह्य जगत् में वह चाक्रिकी (= तेलिन) प्रायः साढ़े तीन हाथ परिमाण वाले चक्र को घुमाती हुई उसके बीच में बैठ कर सब ओर = सभी दिशाओं में भ्रमण करती है (= चक्कर लगाती है) जिस कारण सब दिशा में भ्रमण करने से ही कुण्डलिनी, बीज = तिल आदि को रस एवं शल्क के विभागपूर्वक पेरती है = तेल खली विभाग की प्राप्ति तक पेरती रहती है । वह कहा गया—

'नवीं जो कि चक्रिणी है वह भ्रमण करती हुयी विश्व के मध्य में वर्त्तमान होकर रस एवं शल्क (= खली खोयी या खुज्झा) के विभाग के लिये सब बीज को पीडित करती है । और वही कुण्डलिनी कन्दवेष्टन से निकली हुयी है ।'

चक्रोदय = उदित चक्र । सङ्कर्षिणी = सत्रह अक्षरों वाली । जैसा कि देवीयामल में कहा गया है—

नाशार्ण (= भ), नितम्ब (= त ट म), प्राण (= ध क य ह स), शूलार्ध

दन्तार्णं तृतीयोद्धृत्य दक्षजानुसुसंस्थितम् ।
गुह्यकण्ठे निवेश्येत शूलदण्डं तु जिह्वयोः ॥
शिरोमालार्णद्वितीयं हस्तयोर्योजितं पुनः ।
नेत्रं तथैव परत उत्तमाङ्गं तथैव च ॥
वामपादं कपालस्थं पञ्चधा योजयेत्ततः ।
त्रिदशैरपि सम्पूज्या विद्या सप्तदशाक्षरा ॥
कालसङ्कर्षिणी नाम्ना........................... ।' इति ।

इयमेव च विद्या श्रीमाधवकुलेऽपि

'मोहिनी काल आत्मा च वीरनाथेति योजयेत् ।

इत्यादिना

मदीयभूषणैर्युक्तं पञ्चधारार्धमुद्धरेत् ।'

इत्यन्तेन उक्ता येनायमेव गुर्वाम्नायः । तदन्तान्ते इति—तस्य चक्रस्य अन्तः अराप्रायः, तस्यापि अन्ते पूर्णाहंपरामर्शात्मनि विश्रान्तिधामनि—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'एवं चक्रोदयं ज्ञात्वा मध्ये ज्ञा कालकृन्तनी ।

(= फट्), क्षीरवर्ण (= व), त्रिलोचन (= ए ग च स), कर्णवर्ण (= उ ऋ) आदि। इनको बायीं दायीं ओर जोड़ना चाहिये । बाहु स्कन्ध एवं बायीं दाहिनीं जाँघ में जोड़ना चाहिये । दन्तार्ण (= द) और उसके तृतीय (= न) को दाहिने घुठने गुह्य और कण्ठ में लगाना चाहिये । शूल दण्ड वर्णों को दो चिह्नों (= जिह्वा के ऊपर नीचे), शिरोमाला वर्ण (ल्ल लॄ) को दोनों हाथों में जोड़ना चाहिये । नेत्र (= इ ई) और उत्तमाङ्ग (= शिर) बायाँ पैर और कपाल इनमें पाँच प्रकार से जोड़ना चाहिये ।

यह सत्रह अक्षरों वाली विद्या देवताओं के द्वारा भी पूजित है और नाम से कालसङ्कर्षिणी के रूप में प्रसिद्ध है ।

यही विद्या श्रीमाधवकुल में भी—

'मोहिनी (= इ ऊ ल ए ग) काल (= ह) आत्मा (= अ) वीरनाथ (= य) ऐसी योजना करे ।'

ऐसा प्रारम्भ और

'मेरे भूषणों (= हौं ह्लीम् ह्लौम्) से युक्त पञ्चधारा (= क्लीम्) के अर्ध भाग तक उद्धार करे ।'

यहाँ तक कही गयी है । तदन्तान्त में = उस चक्र का अन्त अरायें उसके भी अन्त में पूर्ण अहंपरामर्शरूप विश्रान्ति धाम में (वर्त्तमान है)। वही कहा गया—

तस्यान्तान्ते तु या आस्ते सा तु सङ्कर्षिणी स्मृता॥' इति ।

चक्रयामलगेति—चक्रे यत् यामलं, तद्गता यामलक्रमेण चक्रयुक्ता—इत्यर्थः॥

अत्र कथं पीठानि साहित्येन पूज्यानि?—इत्याशङ्क्य आह—

ईशेन्द्राग्नियमक्रव्यात्कवायूदक्षु हासतः ॥ ७० ॥
त्रिकं त्रिकं यजेदेतद्भाविस्वत्रिकसंयुतम् ।

एवमीशानकोणे अट्टहासश्चरित्रं कुलगिरिश्चेति त्रयं यजेद्यावदुदीच्यामाम्रातकेश्वरो राजगृहं श्रीपर्वतश्चेति त्रयमिति । न च एतदेकैकं पीठं केवलमेव यजेत्—इत्याह—भाविस्वत्रिकसंयुतमिति, भावीति—वक्ष्यमाणम् ॥

तदेव आह—

हृत्कुण्डली भ्रुवोर्मध्यमेतदेव क्रमात् त्रयम् ॥ ७१ ॥
श्मशानानि क्रमात्क्षेत्रभवं सद्योगिनीगणम् ।

यजेदिति पूर्वेण अत्र सम्बन्धः । क्षेत्रभवमियत्तत्पीठजातम्—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'इस प्रकार चक्रोदय को जान कर मध्य में ज्ञानकालकृन्तनी और उसके अन्तान्त में जो है वह सङ्कर्षिणी मानी गयी है ।'

चक्रयामलगा = चक्र में जो यामल (= स्त्रीपुरुष का युगनद्धरूप), उसमें रहने वाली = यामलक्रम से चक्रयुक्ता ॥

पीठों की साथ-साथ कैसे पूजा करे?—यह शङ्का कर कहते हैं—

ईशान पूर्व अग्नि दक्षिण क्रव्यात् (नैर्ऋत) क (वरुण = पश्चिम) वायु एवं उत्तर दिशाओं में अट्टहास से लेकर इन तीन-तीन की, आगे वर्णनीय अपने त्रिक से युक्त करके पूजा करनी चाहिये ॥ -७०-७१- ॥

इस प्रकार ईशान कोण में अट्टहास चरित्र और कुलगिरि इन तीन की इसी प्रकार उत्तर में आम्रातकेश्वर राजगृह और श्रीशैल इन तीन की पूजा करे । एक-एक पीठ की अकेले पूजा न करे—यह कहते हैं—भावी अपने त्रिक से युक्त । भावी = आगे कहे जाने वाले ॥

उसी को कहते हैं—

हृदय, कुण्डली और आज्ञाचक्र में क्रमशः इन्हीं तीन श्मशानों की क्रमशः क्षेत्र में उत्पन्न सद्योगिनीसमूह (के साथ पूजा करे) ॥-७१-७२-॥

पूजा करे—ऐसा पूर्व के साथ सम्बन्ध है । क्षेत्र में उत्पन्न = यहाँ तक उस पीठ में उत्पन्न । वही कहा गया—

'............................ईशकोणादितः क्रमात् ।
पूर्वदक्षिणवारुण्यः सौम्या याश्च दिशः प्रिये ॥' इति,
'श्मशानं हृत्प्रदेशः स्यात्कल्पवृक्षस्तु कुण्डली ।
भ्रूमध्यं योगिनीक्षेत्रं ज्ञातव्यं योगिनीकुले ॥' इति च ॥

कृतायां पूजायां नैवेद्येनैव अवश्यभाव्यम्—इत्याह—

वस्वंगुलोन्नतानूर्ध्ववर्तुलान् क्षाममध्यकान् ॥ ७२ ॥
रक्तवर्तीञ्श्रुतिदृशो दीपान्कुर्वीत सर्पिषाम् ।

श्रुतिदृश इति—चतुर्विंशतिः । तदुक्तम्—

'चतुर्विंशतिदीपांश्च चतुर्दिक्षु प्रदापयेत् ।
पिष्टात्मकाश्च आधारमध्यक्षामाः सुवर्तुलाः ॥
अष्टांगुलप्रमाणस्थाः शोभनाश्चतुरंगुलाः ।
घृतदीपेन संयुक्ता रक्तवर्त्युपरिस्थिताः ॥' इति ॥

अत्रैव पक्षान्तरमाह—

यत्किञ्चिदथवा मध्ये स्वानुष्ठानं प्रपूजयेत् ॥ ७३ ॥
अद्वैतमेव न द्वैतमित्याज्ञा परमेशितुः ।
सिद्धान्तवैष्णवाद्युक्ता मन्त्रा मलयुतास्ततः ॥ ७४ ॥
तावत्तेजोऽसहिष्णुत्वान्निर्जीवाः स्युरिहाद्वये ।

'हे प्रिये ! ईशान कोण आदि से क्रमशः जो पूर्व दक्षिण पश्चिम और उत्तर दिशायें हैं ।' और

'योगिनीकुल के अनुसार हृदय को श्मशान, कुण्डली को कल्पवृक्ष, भ्रूमध्य को योगिनीक्षेत्र समझना चाहिये' ॥

पूजा सम्पन्न होने पर नैवेद्य अवश्य होना चाहिये—यह कहते हैं—

आठ अंगुल ऊँचे ऊपर की ओर गोल बीच में पतले लालबत्ती वाले घी के चौबीस दीपक जलाने चाहिये ॥ -७२-७३- ॥

श्रुतिदृश = चौबीस । वही कहा गया—

'चारो दिशाओं में चौबीस दीपक जलाने चाहिये । (ये दीप) आँटे के बने हुये, आधार और बीच में पतले, गोल, आठ अंगुल (ऊँचे) प्रमाण वाले, सुन्दर चार अंगुल विस्तार वाले, घी और लालबत्ती वाले होने चाहिये' ॥

इसी में पक्षान्तर कहते हैं—

अथवा बीच में जिस किसी अपने अनुष्ठान की पूजा करे । (यह) अद्वैत ही हो न कि द्वैत—ऐसी परमेश्वर की आज्ञा है । शैव, सिद्धान्त,

यत्किञ्चिदिति—अभीष्टम् । तदुक्तम्—

'यो यस्मिन्मन्त्रयोगेन तन्त्राचारपदे स्थितः ।'

इत्युपक्रम्य

'स्वक्रमं तु यजेन्मध्ये द्वैताचारं तु वर्जयेत् ॥'

इत्युक्त्वा

'सिद्धान्तवैष्णवबौद्धा वेदान्ताः स्मार्तदर्शनाः ।
ते प्रयत्नेन वा वर्ज्या यस्मात्ते पशवः स्मृताः ॥
अद्वैतद्रवसंपर्कात्सन्निधानं त्यजन्ति ते ।
पराङ्मुखत्वमायान्ति निर्जीवा जीववर्जिताः ॥' इति ॥

अतश्च तदुपकरणजातमपहाय इहत्यमेव तदाश्रयणीयं येन विनायासं सिद्धिः स्यात्—इत्याह—

कलशं नेत्रबन्धादि मण्डलं स्रुक्स्रुवानलम् ॥ ७५ ॥
हित्वात्र सिद्धिः सन्मद्ये पात्रे मध्ये कृशां यजेत् ।
अहोरात्रमिमं याग कुर्वतश्चापरेऽहनि ॥ ७६ ॥
वीरभोज्ये कृतेऽवश्यं मन्त्राः सिद्ध्यन्त्ययत्नतः ।
पीठस्तोत्रं पठेदत्र यागे भाग्यावहाह्वये ॥ ७७ ॥

वैष्णव आदि में कहे गये मन्त्र मलयुक्त होते हैं इसलिये उतना तेज न सह सकने के कारण यहाँ अद्रय शास्त्र में वे निर्जीव हो जाते हैं ॥-७३-७५-॥

यत्किञ्चित् = मनोवाञ्छित । वही कहा गया—

'जो (व्यक्ति) मन्त्रयोग के कारण जिस तन्त्राचारपद में स्थित (= दीक्षित) है'

ऐसा प्रारम्भ कर

'मध्य में अपने क्रम के अनुसार पूजन करे । द्वैताचार को छोड़ दे ।'

'शैव सिद्धान्त वैष्णव बौद्ध वेदान्त स्मार्तदर्शन के अनुयायी ये प्रयत्नपूर्वक वर्जनीय है । क्योंकि वे पशु कहे गये हैं । अद्वैत रूपी अमृतद्रव के सम्पर्क से वे (द्वैत) पराङ्मुख हो जाते हैं अर्थात् अद्वैत भाव के कारण जीव रूप में उनकी सत्ता नहीं रहती' ॥

इसलिये उस उपकरणसमूह को छोड़कर यहीं का वह (= उपकरण) अपनाना चाहिये जिससे बिना परिश्रम के सिद्धि हो जाय—यह कहते हैं—

कलश, नेत्र ढँकने का वस्त्र आदि, मण्डल, स्रुक्, स्रुवा, अग्नि को छोड़कर ही यहाँ सिद्धि मिलती है । (इसके द्वारा याग के) मद्य वाले सुन्दर पात्र के मध्य में कृशोदरी (देवी) की पूजा करे । दिन-रात इस याग को

अपरेऽहनीति—प्रभातायां रात्रौ—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'कलशं नेत्रबन्धं च मण्डलादि विवर्जयेत् ।
तैर्विहीने भवेत्सिद्धिरग्निना स्रुक्स्रुवादिभिः ॥
मद्यपूर्णेषु भाण्डेषु पूर्वोक्तेषु गणाम्बिके ।
रसायनमयोक्तेषु मध्ये पूज्या कृशोदरी ॥'

इत्यादि उपक्रम्य

'पूर्वाह्णे वाऽपराह्णे वा अहोरात्रं वियोगतः ।
पीठस्तोत्रं पठेद्रात्रौ जपं कुर्यात्समाहितः ॥
प्रभाते विमले प्रोक्तं वीरभोज्यं तु कारयेत् ।
महाभाग्योदयो जायेद्राज्येऽन्ते खेचरो भवेत् ॥' इति ॥ ७७ ॥

यद्वा मण्डलादिपरिहारेण चक्रमेव पूजयेत्—इत्याह—

मूर्तीरेवाथवा युग्मरूपा वीरस्वरूपिणीः ।
अवधूता निराचाराः पूजयेत्क्रमशो बुधः ॥ ७८ ॥

मूर्तीरेवेति—एवकारेण केवलाः शक्तीः । वीरस्वरूपिणीरिति—केवला एक-

---

करते हुये दूसरे दिन वीरभोज्य के सम्पन्न होने पर मन्त्र बिना प्रयास के सिद्ध हो जाते हैं । यहाँ भाग्यावह नामक इस याग में पीठस्तोत्र पढ़ना चाहिये ॥ -७५-७७ ॥

दूसरे दिन = रात्रि बीतने के बाद प्रभात होने पर । वही कहा गया—

'कलश नेत्रबन्ध और मण्डल आदि का त्याग करे । उन स्रुक् स्रुवा अग्नि आदि से रहित (याग) में सिद्धि हो जाती है । हे गणाम्बिके ! पूर्वोक्त मद्यपूर्ण रसायनमय के मध्य कृशोदरी की पूजा (करणीय होती है) । पात्रों के मध्य में कृशोदरी की पूजा करे ।'

इत्यादि प्रारम्भ कर

'पूर्वाह्ण अथवा अपराह्ण में रात-दिन (याग) कर विशिष्ट योग के साथ पीठस्तोत्र पढ़े । रात्रि में समाहित हो कर जप करे । सुन्दर प्रभात में प्रोक्त वीरभोजन कराये। फलतः राज्य में महाभाग्य का उदय होता है और अन्त में (साधक) खेचर हो जाता है' ॥ ७७ ॥

अथवा मण्डल आदि को छोड़कर चक्र की ही पूजा करे--यह कहते हैं—

अथवा विद्वान् युग्मरूपा वीरस्वरूपिणी अवधूता निराचार मूर्त्तियों की ही क्रमशः पूजा करे ॥ ७८ ॥

मूर्त्तीः एव—यहाँ एवकार से केवल शक्तियों की । वीरस्वरूपिणी = केवल

वीरा: । अवधूता:—निर्विकल्पा: ॥ ७८ ॥

ननु केवलशक्तिपक्षे पूजा कथङ्कारं परिपूर्तिमियात्?—इत्याशङ्क्य आह—

एक एवाथ कौलेश: स्वयं भूत्वापि तावती:।
शक्तीर्यामलयोगेन तर्पयेद्विश्वरूपवत् ॥ ७९ ॥

अथ स्वयमेक एव भूत्वा गुरु: कुलेश्वरैकात्म्यात् कौलेश:, अत एव विश्वरूप इव तावतीर्बह्वीरपि शक्तीर्यामलयोगेन तर्पयेत् सङ्घट्टानन्दसामरस्यमयतया स्वात्मविश्रान्तिमात्रसतत्त्वा: कुर्यात्—इत्यर्थ: ॥ ७९ ॥

ननु इह कस्मात्

'उदगयने शुभवारे स्थिरलग्ने स्थापनाधिवास: स्यात् ।'

इत्यादिवत् प्रतिनियत: काल: कुलयागे नोक्त: ?—इत्याशङ्क्य आह—

क्रमो नाम न कश्चित्स्यात्प्रकाशमयसंविदि ।
चिदभावो हि नास्त्येव तेनाकालं तु तर्पणम् ॥ ८० ॥

इह

'सकृद्विभातोऽयमात्मा ।'

इति न्यायेन महाप्रकाशमयी संविदनिदंप्रथमतया प्रवृत्तां अनुपरतेन रूपेण

वीर । अवधूत = निर्विकल्प ॥ ७८ ॥

प्रश्न—केवल शक्तिपक्ष में पूजा कैसे पूरी होगी?—यह शङ्का कर कहते हैं—

कौलेश्वर स्वयं अकेले ही होकर भी विश्वरूप के समान उतनी शक्तियों को यामल योग के द्वारा तृप्त करे ॥ ७९ ॥

स्वयं एक ही होकर भी कुलेश्वर के साथ ऐकात्म्य होने के कारण गुरु कौलेश्वर हो जाता है, इसलिये विश्वरूप की भाँति उतनी = बहुत भी शक्तियों को यामल-योग से तृप्त करे = सङ्घट्टानन्द सामरस्यमय होने से स्वात्मविश्रान्तिमात्रतत्त्व वाली बनाये ॥ ७९ ॥

प्रश्न—'उत्तरायण शुभ दिन स्थिर लग्न में स्थापना और अधिवास होता है ।'

इत्यादि के समान यहाँ कुलयाग में भी निश्चित काल क्यों नहीं कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रकाशमय संविद् में कोई क्रम नहीं है । और वहाँ चैतन्य का अभाव है ही नहीं । इसलिये बिना समय के तर्पण होता है ॥ ८० ॥

'यह आत्मा एक बार प्रकाशित हुआ तो हुआ'

आभासते, न तु विद्युदुद्द्योतवदन्तरान्तरा विच्छेदेनेति न अत्र क्रमो नाम कश्चिद्विद्यते, भेदाश्रयत्वात्तस्य । अतश्च तदेकजीवित: कालोऽपि अत्र नास्तीति अकालमेव तर्पणमुक्तम् । यो हि यत्र न प्रपतति, स कथं तत्र अवच्छेदकतामियात्—इत्याशय: ॥ ८० ॥

अत एव देशक्रमोऽपि अत्र नास्ति—इत्याह—

अत्र क्रमे भेदतरो: समूलमुन्मूलनादासनपक्षचर्चा ।
पृथङ् न युक्ता परमेश्वरो हि स्वशक्तिधाम्नीव विशंश्रमीति ॥ ८१ ॥

स्वशक्तिधाम्नीति—

'शक्त्योऽस्य जगत्कृत्स्नं.................... ।'

इत्याद्युक्त्या हि सर्वं स एवेति को नाम तदतिरिक्तो देशोऽस्ति योऽपि अस्य आसनतां गच्छेत् ॥

एवमर्चाविधिमभिधाय, तत्सङ्गतमेव जपस्वरूपं निर्णयति—

ततो जप: प्रकर्तव्यस्त्रिलक्षादिविभेदत: ।

इस न्याय से महाप्रकाशमयी संविद् अनिदंप्रथमतया प्रवृत्त हुयी अनवच्छिन्न रूप से भासित हो रही है न कि विद्युत् प्रकाश की भाँति बीच-बीच में रुक-रुक कर । इसलिये यहाँ कोई क्रम नहीं है क्योंकि वह (= क्रम) भेद के अधीन होता है । इसलिये उसके (= भेद के) कारण होने वाला काल भी नहीं है । इसलिये अकालतर्पण कहा गया । जो जहाँ नहीं गिरता वह वहाँ अवच्छेदक कैसे होगा—यह आशय है ॥ ८० ॥

इसीलिये यहाँ देशक्रम भी नहीं है—यह कहते हैं—

इस क्रम में भेदवृक्ष के समूल नष्ट करने से पृथक् आसनपक्ष की चर्चा उचित नहीं है । परमेश्वर मानो अपने शक्तिधाम में ही विश्राम करता है ॥ ८१ ॥

अपने शक्तिधाम में—

'समस्त संसार इसकी शक्तियाँ हैं.................।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार सब वही है फिर इससे भिन्न कौन सा देश है जो कि उसका आसन बने ॥

इस प्रकार पूजाविधि का कथन कर उससे सम्बद्ध जप के स्वरूप को कहते हैं—

उसके बाद तीन लाख आदि के भेद से जप करे और वह विचित्र रूप

उक्तं श्रीयोगसञ्चारे स च चित्रस्वरूपकः ॥ ८२ ॥

त्रिलक्षादिविभेदवत्त्वे अस्य किं प्रमाणम्?—इत्याशङ्क्य उक्तम्—उक्तं श्रीयोगसञ्चारे इति । तदेव पठति—स च चित्रस्वरूपकः ॥ ८२ ॥

चित्रस्वरूपत्वमेव अस्य दर्शयति—

उदये सङ्गमे शान्तौ त्रिलक्षो जप उच्यते ।
आस्ये गमागमे सूत्रे हंसाख्ये शैवयुग्मके ॥ ८३ ॥
पञ्चलक्षा इमे प्रोक्ता दशांशं होममाचरेत् ।
नेत्रे गमागमे वक्त्रे हंसे चैवाक्षसूत्रके ॥ ८४ ॥
शिवशक्तिसमायोगे षड्लक्षो जप उच्यते ।
नेत्रे गमागमे कर्णे हंसे वक्त्रे च भामिनि ॥ ८५ ॥
हस्ते च युग्मके चैव जपः सप्तविधः स्मृतः ।
नेत्रे गमागमे कर्णावास्यं गुह्यं च गुह्यकम् ॥ ८६ ॥
शतारेषु च मध्यस्थं सहस्रारेषु भामिनि ।
जप एष रुद्रलक्षो होमोऽप्यत्र दशांशतः ॥ ८७ ॥
नेत्रे गमागमे कर्णौ मुखं ब्रह्मबिलान्तरम् ।
स्तनौ हस्तौ च पादौ च गुह्यचक्रे द्विरभ्यसेत् ॥ ८८ ॥

वाला होना चाहिये—ऐसा श्रीयोगसञ्चार शास्त्र में कहा गया है ॥ ८२ ॥

तीन लाख आदि भेद वाला होने में क्या प्रमाण है?—यह शङ्का कर कहते हैं—श्री योगसञ्चार में कहा गया है । उसी को पढ़ते हैं—और वह चित्रस्वरूप वाला है ॥

इसकी चित्ररूपता ही दिखलाते हैं—

नाड़ियों का उदयस्थान अर्थात् मूलाधार उनका संगमस्थान (= हृदय) और शान्ति में तीन लाख जप (का विधान) कहा जाता है । मुख प्राण नाडी हृदय और शैवयुग्मक में ये (जप) पाँच लाख कहे गये हैं । इनका दशांश (= पचास हजार) हवन करे । दोनों नेत्र, प्राण, मुख, हृदय, इन्द्रियनाडी और शिवशक्ति के योग में छह लाख जप कहा जाता है । दोनों नेत्र, प्राण, दोनों कान, हृदय मुख दोनों हाथों (तथा शिवयुग्मक) में हे भामिनी ! सात लाख जप कहा गया है । दोनों नेत्र, प्राण, दोनों कान, मुख, गुह्य प्रदेश, गुह्यक, शतार, मध्यस्थ और सहस्त्रार में ग्यारह लाख जप तथा दशांश होम भी (होना चाहिये) । दोनों नेत्र, प्राण, दोनों कान, मुख, ब्रह्मरन्ध्र, दोनों स्तन, दोनों हाथ, दोनों पैर और दो गुह्यचक्रों में (१६ लाख जप) करे । इनका दो बार अभ्यास करना चाहिये ॥८३-८८॥

उदये इति—प्राणशक्त्युदयस्थाने जन्माधारे । सङ्गमे इति—नानानाडिसंभेदभाजि हृदये । शान्ताविति—प्राणनिरोधाय युगपद्गाढावधानात्मके—इत्यर्थः । गमागमे इति—प्राणापानप्रवाहरूपे । सूत्रे इति—अक्षनाडीचक्रसूत्राणां भुवि । हंसाख्ये इति—आत्मावभासके हृदये । युग्मके इति—शिवशक्तिसमायोगात्मनि जन्माधारे, द्वादशान्ते वा । गुह्यं = जन्माधारः । गुह्यकमिति—गुहायां भवं गुह्यं रन्ध्रम्, तेन उपलक्षितं कम् = करन्ध्रम् = ब्रह्मबिलमिति यावत् । शतारेष्विति सहस्रारेष्विति एवमादिकासु असङ्ख्यासु बह्वीषु नाडीषु । मध्यमं स्थानम् = हृदयं नाभिश्च—इत्यर्थः । अत्रापि होम इति—अपिशब्देन सर्वत्र दशांशो होमः कार्य इति आवेदितम् । गुह्यचक्रे इति—योगिनीवक्त्राजवक्त्रापरपर्यायौ जन्माधारद्वादशान्तौ । जप एष षोडशलक्ष इति प्राग्रीत्या कल्पनीयम् । यत एवमादिषु स्थानेषु प्राणो द्विर्भ्रमेत्—इति सर्वशेषः ॥ ८८ ॥

एतत् स्वयमेव व्याचष्टे—

यत्र यत्र गतं चक्षुर्यत्र यत्र गतं मनः ।
हंसस्तत्र द्विरभ्यस्यो विकासाकुञ्चनात्मकः ॥ ८९ ॥

यत्र यत्र वक्त्रादौ स्थाने चक्षुर्मनो वा गतम्, यत्रैव असावनुसन्धत्ते योगी; तत्रैव हंसो हानसमादानधर्मा प्राणो विकासाकुञ्चनात्मकत्वात् द्विरभ्यस्यो निर्गम-

---

उदय में = प्राणशक्ति के उदयस्थान मूलाधार में । सङ्गम में = अनेक नाडी के संभेद वाले हृदय में । शान्ति में—प्राणनिरोध के लिये एक साथ गाढ अवधानस्वरूप । गमागम—प्राणअपान के प्रवाहरूप । सूत्र में = अक्षनाडीचक्रसूत्रों के आधार में । हंस नामक में = अवभासात्मक हृदय में । युग्मक में = शिवशक्ति के सामरस्य वाले मूलाधार या द्वादशान्त में । गुह्य = मूलाधार । गुह्यक = गुहा में होने वाला गुह्य = रन्ध्र, उससे उपलक्षित क = करन्ध्र = ब्रह्मबिल । शतारों एवं सहस्त्रारों में = इस प्रकार की बहुत सी नाड़ियों में । मध्यम स्थान = हृदय और नाभि । यहाँ भी होम = यहाँ 'अपि' शब्द से सर्वत्र दशांश होम करना चाहिये—यह कहा गया । दो गुह्य चक्र = योगिनीवक्त्र अजवक्त्र अपर पर्याय वाले मूलाधार और द्वादशान्त । यह जप सोलह लाख होगा—ऐसी पूर्वरीति के अनुसार कल्पना कर लेनी चाहिये । क्योंकि इस प्रकार के स्थानों में प्राण दो बार भ्रमण करता है—ऐसा सब में जोड़ना चाहिये ॥ ८८ ॥

इसकी स्वयं व्याख्या करते हैं—

जहाँ-जहाँ आँख जाती है और जहाँ-जहाँ मन जाता है, विकास और सङ्कोच रूप प्राण का वहाँ दो बार अभ्यास करे ॥ ८९ ॥

जहाँ-जहाँ वक्त्र आदि में चक्षु या मन जाता है = जहाँ यह योगी (इनका) अनुसन्धान करता है वही हंस = (ह से) हान (और स से) समादान धर्मवाले प्राण

प्रवेशपर एव—इत्यर्थः । तेन अस्य एवमुक्तानामास्यादीनामपमार्गाणां निरोधे अनुसन्धातव्यं येन सर्वतो रुद्धः सन् गत्यन्तराभावान्मध्यधामैव असावनुप्रविशतीति। अत्र हि प्रविष्टस्य ऐकात्म्येन मन्त्रमुच्चारयन्योगी तां तामासादयेत् सिद्धिम्। यदुक्तमन्यत्र—

'जपेत्तु प्राणसाम्येन ततः सिद्ध्यरहो भवेत् ।' इति ।

एतदधिगमायैव च षोडशलक्षो जपः कार्यः इत्येवमादि उक्तम् । यत्तु लक्षाणां यथायथं न्यूनत्वमुक्तं तत्र योगिनामनुसन्धानतारतम्यं निमित्तम् ॥ ८९ ॥

एवमपमार्गनिरोधात् मध्यधामनि एव प्ररोहं प्राप्तः प्राणः संविद्रूपोद्रेकात् विश्वात्मकतामेव यायात् । तदाह—

स आत्मा मातृका देवी शिवो देहव्यवस्थितः ।

स देहव्यवस्थितोऽपि हंसः प्राप्तमन्त्रदेवतैकात्म्यः सन् आत्मा संकुचिताणुरूपः ।

'शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका ।'

इत्याद्युक्त्या मातृका देवी पारमेश्वरी शक्तिः शिवश्च नरशक्तिशिवात्मतया स

का, विकास और सङ्कोचात्मक होने के कारण दो बार अभ्यास करना चाहिये अर्थात् अपान के निर्गम और प्राण के प्रवेश परक । इससे इस कारण पूर्वोक्त मुख आदि अपकृष्ट मार्गों के निरोध के विषय में अनुसन्धान करना चाहिये जिससे सब ओर से अवरुद्ध हुआ दूसरी गति के अभाव के कारण यह (= प्राण) सुषुम्ना में प्रवेश कर जाय । यहाँ प्रविष्ट (प्राण)—ऐकात्म्य के साथ मन्त्र का उच्चारण करने वाला योगी उन-उन सिद्धियों को प्राप्त करता है । जैसा कि अन्यत्र कहा गया है—

'प्राण के साथ एकात्मता से जप करे तो सिद्धि के योग्य होता है ।'

इसी की प्राप्ति के लिये 'सोलह लाख जप करना चाहिये' इत्यादि कहा गया। और जो लाखों की क्रमशः न्यूनता कही गयी है उसमें योगियों के अनुसन्धान का क्रम कारण है ॥ ८९ ॥

इस प्रकार अपकृष्ट मार्गों के निरोध से सुषुम्ना में प्रौढ़ता को प्राप्त प्राण संविद्रूप उद्रेक के कारण विश्वात्मकता को प्राप्त होता है । यह कहते हैं—

वह आत्मा (ऐसा होने पर) देह में स्थित (= रहते हुये भी) मातृका देवी और शिव हो जाता है ॥ ९०- ॥

वह देह में स्थित भी हंस मन्त्र देवता के साथ ऐकात्म्य को प्राप्त होता हुआ आत्मा = संकुचित अणुरूप—

'शक्ति को मातृका समझना चाहिये और वह शिवात्मिका समझी जानी चाहिये।'

एव परिस्फुरेत्—इत्यर्थः ॥

अत एव मन्त्रस्य प्राप्ततदैकात्म्यस्य प्राणस्य आत्मनश्च मन्त्रयितुर्न न कश्चिदपि भेदमनुसन्दध्यात्—इत्याह—

अन्यः सोऽन्योऽहमित्येवं विकल्पं नाचरेद्यतः ॥ ९० ॥
यो विकल्पयते तस्य सिद्धिमुक्ती सुदूरतः ।
अथ षोडशलक्षादिप्राणचारे पुरोक्तवत् ॥ ९१ ॥

'पृथङ्मन्त्रः पृथङ्मन्त्री न सिद्ध्यति कदाचन ।
ज्ञानमूलमिदं सर्वमन्यथा नैव सिद्ध्यति ॥'

इत्यनेनैव अभिप्रायेण सर्वशास्त्रेषु

'..............................एकान्ते जपमारभेत् ।'

इत्यादि उक्तम् ॥ ९१ ॥

मुख्यया वृत्त्या हि विकल्पविगम एव एकान्त उच्यते । तदाह—

शुद्धाशुद्धविकल्पानां त्याग एकान्त उच्यते ।
तत्रस्थः स्वयमेवैष जुहोति च जपत्यपि ॥ ९२ ॥

इत्यादि उक्ति के अनुसार मातृका देवी = पारमेश्वरी शक्ति और शिव (हो जाता है) अर्थात् नर शक्ति और शिव के रूप में वही परिस्फुरित होने लगता है ॥

इसलिये मन्त्र, उससे एकात्म्य को प्राप्त प्राण और मन्त्रयिता आत्मा में कोई भेद नहीं समझना चाहिये—यह कहते हैं—

'वह (मन्त्र) अन्य है, मैं अन्य हूँ'—इस प्रकार की विकल्पना नहीं करनी चाहिये । क्योंकि जो विकल्प करता है सिद्धि और मुक्ति उसके लिये दूर हो जाती हैं । इसलिये सोलह लाख आदि प्राणचार में पूर्वोक्त के समान (आचरण करे) ॥ -९०-९१ ॥

'मन्त्र पृथक् है, मन्त्री पृथक् है (ऐसा सोचने वाला) कभी भी सिद्ध नहीं होता । यह सब (= अभेद भावना) ज्ञानमूलक है । अन्यथा सिद्ध नहीं होता ।'

इस अभिप्राय से सब शास्त्रों में—

'...........जप एकान्त में करना चाहिये ।' इत्यादि कहा गया है ॥ ९१ ॥

मुख्य वृत्ति के द्वारा विकल्पों का हट जाना ही एकान्त कहा जाता है । वही कहते हैं—

शुद्धाशुद्ध विकल्पों का त्याग एकान्त कहा जाता है । उसमें स्थित यह

जपः सञ्जल्पवृत्तिश्च नादामर्शस्वरूपिणी ।
तदामृष्टस्य चिद्वह्नौ लयो होमः प्रकीर्तितः ॥ ९३ ॥
आमर्शश्च पुरा प्रोक्तो देवीद्वादशकात्मकः ।
द्वे अन्त्ये संविदौ तत्र लयरूपाहुतिक्रिया ॥ ९४ ॥
दशान्यास्तदुपायायेत्येवं होमे दशांशताम् ।
श्रीशम्भुनाथ आदिक्षत् त्रिकार्थाम्भोधिचन्द्रमाः ॥ ९५ ॥

'स च द्वादशधा तत्र सर्वमन्तर्भवेद्यतः ।' (४।१२३) इति ।

तत्रेति—द्वादशकमध्यात् । द्वे अन्त्ये संविदाविति—परप्रमातृस्वातन्त्र्यशक्तिरूपे। एते एव च अस्मद्दर्शने 'स्वतन्त्रो बोधः परमार्थः' इत्याद्युक्त्या विश्रान्तिस्थानमित्येवमुक्तं तदुपायायेति, मेयमानादिसोपानक्रमेण परप्रमातरि विश्रान्तेरुक्तत्वात्। एतच्च शाक्तोपायाह्निक एव विभज्य उक्तमिति तत एव अवधार्यम । एवमत्र होमस्य दशांशतायामयमभिप्रायः—इत्यस्मद्गुरवः ॥ ९५ ॥

एवं जपहोमपर्यन्तमर्चाविधिमभिधाय दौतं विधिमभिधातुमुपक्रमते—

साकं बाह्यस्थया शक्त्या यदा त्वेष समर्चयेत् ।
तदायं परमेशोक्तो रहस्यो भण्यते विधिः ॥ ९६ ॥

स्वयं हवन करता है । और जप भी करता है । नाद की आमर्शरूप सञ्जल्पवृत्ति ही जप है । और उस आमृष्ट का चिदग्नि में लय होम कहा गया है । पहले कहा गया आमर्श बारहदेवी का रूप है । उस (= बारह) में अन्तिम दो संविद् हैं । उसमें लय हो जाना आहुतिकर्म है । अन्य दश उस (लय) के उपाय के लिये है । इस प्रकार होम में दशांशता को त्रिकार्थसमुद्र के चन्द्रस्वरूप श्री शम्भुनाथ ने बतलाया है ॥ ९२-९५ ॥

'स च........................ यतः ।' (तं.आ. ४।१२३)

उसमें = बारह में से । दो अन्त्य संविद् = परप्रमाता और स्वातन्त्र्यशक्तिरूप। ये ही दोनों हमारे दर्शन में 'स्वतन्त्र बोध ही परमार्थ है' इत्यादि उक्ति के अनुसार विश्रान्तिस्थान कहे गये हैं । उसके उपाय के लिये—प्रमेय प्रमाण आदि सोपान के क्रम से परप्रमाता में विश्रान्ति के कहे जाने से । इसे शाक्तोपाय (वर्णन वाले) आह्निक में अलग करके कहा गया है—इसलिये वहीं से जान लेना चाहिये । इस प्रकार यहाँ होम की दशांशता में यह अभिप्राय है—ऐसा हमारे गुरु (कहते हैं) ॥ ९५ ॥

जप होम पर्यन्त पूजाविधि का वर्णन कर दूतीविधि को बतलाने के लिये उपक्रम करते हैं—

जब बाह्यस्थ शक्ति (= दूती) के साथ यह (= साधक) पूजा करता है

'नित्योदिता परा शक्तिर्यद्यप्येषा तथापि तु ।
बाह्यचर्याविहीनस्य दुष्प्रापः कौलिको विधिः ॥'

इत्याद्युक्त्या बाह्यचर्यया तावदवश्यभाव्यम् । तत्रापि च दूतीमन्तरेण न काचित्तत्सम्पत्तिः—इत्याह—बाह्यस्थया शक्त्या साकमिति । तदुक्तम्—

'कर्तव्या सर्वतो दूतिर्दूतिहीनो न सिद्धिभाक् ।' इति ।

तथा

'ब्राह्मणस्य यथा पत्नी तया सह यजेन्मखे ।
एवं दूतिः कुलाचार्ये ज्ञेया नित्योदिते कुले ॥' इति ॥ ९६ ॥

ननु सर्वत्र अविशेषेणैव भगवदाराधकस्य

'अदाम्भिको गुरौ भक्तो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
शिवूजापरो मौनी मद्यमांसपराङ्मुखः ॥'

इत्यादि लक्षणमुक्तम् । तत्कथमिह बाह्यस्थया शक्त्या सह समर्चयेदित्युक्तम्?—इत्याशङ्कां परमेश्वरोक्त्यैव निरवकाशयन्नमुष्य विधेः पीठिकाबन्धं करोति—

तो (उस समय करणीय) यह रहस्यविधि जो कि परमेश्वर के द्वारा उक्त है यहाँ कही जा रही है ॥ ९६ ॥

'यद्यपि पराशक्ति नित्य उदित है फिर भी बाह्यचर्या से रहित के लिये कौलिक विधि दुर्लभ है ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार बाह्यचर्या अवश्य होनी चाहिये । उसमें भी दूती के बिना कोई लाभ नहीं होता यह कहते हैं—बाहरी शक्ति के साथ । वही कहा गया—

'सर्वत्र दूती को रखना चाहिये । दूती से रहित (साधक) सिद्धि नहीं प्राप्त करता ।'

तथा—'जैसे ब्राह्मण की पत्नी होती है । (ब्राह्मण को) उसके साथ यज्ञ में पूजा करनी चाहिये । उसी प्रकार नित्योदितकुल में कुलाचार्य के विषय में दूती को समझना चाहिये ।' (अर्थात् कुलाचार्य को दूती के साथ रह कर यज्ञ करना चाहिये) ॥ ९६ ॥

प्रश्न—भगवदाराधक का सर्वत्र समान रूप से—

'दम्भरहित गुरुभक्त ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय शिवपूजा में निरत, मौनी और मद्यमांस से पराङ्मुख हो ।'

इत्यादि लक्षण कहा गया है । तो यहाँ बाह्यस्थ (दूती) के साथ पूजा करे ऐसा

उक्तं श्रीयोगसञ्चारे ब्रह्मचर्ये स्थितिं भजेत् ।

ननु ब्रह्मैव नाम किं यदाचरणेऽपि स्थितिं भजेत्?—इत्याशङ्क्य आह—

आनन्दो ब्रह्म परमं तच्च देहे त्रिधा स्थितम् ॥ ९७ ॥
उपकारि द्वयं तत्र फलमन्यत्तदात्मकम् ।

'आनन्दो ब्रह्मणो रूपं............................ ।' इति ।

परममित्यनेन अस्य अवश्यसेव्यत्वमुक्तम् । तच्च न केवलं परब्रह्मादि-विभेदमात्मनि एव स्थितं यावदनात्मरूपे बाह्यशरीरादावपि—इत्याह—देहे इति । तत्रेति—त्रयाणां मध्यात् । द्वयमिति—मद्यमांसलक्षणम् । अन्यदिति—मैथुनम् । मद्यमांसपानाशनप्रवर्धितधातुर्हि रममाण आनन्दमियादित्युक्तम्—उपकारीति फलमिति च । अत एव तदात्मकमिति सर्वशेषत्वेन उक्तम् । तच्छब्देन च अत्र आनन्दपरामर्शः ॥

एवमेषां ब्रह्ममयत्वादेतदनुष्ठाता ब्रह्मचारीत्युच्यते—इत्याह—

कैसे कहा गया?—इस आशङ्का को परमेश्वर की उक्ति के द्वारा ही निरस्त करते हुये इस विधि का पीठिकाबन्ध (= आधार दृढ) करते हैं—

श्री योगसञ्चार में कहा गया कि ब्रह्मचर्य में स्थित होना चाहिये ॥ ९७- ॥

प्रश्न—ब्रह्म ही क्या है जिसके आचरण में स्थित होना चाहिये?—यह शङ्का कर कहते हैं—

आनन्द ही परम ब्रह्म है और वह शरीर में तीन प्रकार से स्थित है । उनमें से दो उपकारी (= कारण) हैं और तीसरा आनन्दात्मक फल है ॥ -९७-९८- ॥

'आनन्द ब्रह्म का रूप है.............।'

परम—इस कथन से इसका अवश्य सेवन करना चाहिये—यह कहा गया । वह पर ब्रह्म आदि भेद केवल आत्मा में ही स्थित नहीं है बल्कि अनात्म बाह्य शरीर आदि में भी है । उनमें से = तीनों में से । दो = मद्य और मांस लक्षण वाला । अन्य = मैथुन । मद्य एवं मांस के पीने एवं खाने से प्रवर्धित (वीर्य) धातु वाला व्यक्ति रमण करता हुआ आनन्द को प्राप्त करता है—यह कहा गया—उपकारी है और फल है । इसीलिये 'तदात्मक' ऐसा सबके अन्त के रूप में कहा गया । 'तत्' शब्द से यहाँ आनन्द को समझना चाहिये ॥

इनके ब्रह्ममय होने के कारण इनका अनुष्ठान करने वाला ब्रह्मचारी कहा जाता है—यह कहते है—

ओष्ठ्यान्त्यत्रितयासेवी ब्रह्मचारी स उच्यते ॥ ९८ ॥

ओष्ठ्यः = पवर्गः, तस्य अन्त्यो मकारस्तत्त्रितयम्—मद्यमांसमैथुन-लक्षणम् ॥ ९८ ॥

ननु

'न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥' (मनु० ५।५६)

इत्याद्युक्त्या मांसादिनिवृत्तौ शास्त्रं प्रयोजकं न तत्प्रवृत्तौ, तस्याः स्वारसिकत्वात् । नहि मलिनः स्नायात् बुभुक्षितोऽश्नीयादित्यादौ क्वचिच्छास्त्र-मुपयुक्तम् । तत्किमेतदुक्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—

तद्वर्जिता ये पशव आनन्दपरिवर्जिताः ।
आनन्दकृत्रिमाहारास्तद्वर्जं चक्रयाजकाः ॥ ९९ ॥
द्वयेऽपि निरये यान्ति रौरवे भीषणे त्विति ।

इह ये केचन कुलप्रक्रियामनुप्रविष्टा अपि तत्र विहितमपि एतत् लोभेन विचिकित्सया वा चक्रयागादौ स्वस्मै परस्मै वा न ददति, ते पशव एव यतः

ओष्ठ्य (वर्णों) में से अन्तिम वर्ण वाले तीन (= मांस मद्य मैथुन) का सेवन करने वाला ब्रह्मचारी कहा जाता है ॥ ९८ ॥

ओष्ठ्य = पवर्ग । उसका अन्त्य = मकार, उसका तीन (उससे आरम्भ होने वाले तीन नाम वाले) = मद्य मांस मैथुन ॥ ९८ ॥

प्रश्न—'न मांसभक्षण में दोष है न मद्य में और न मैथुन में । यह (= इनके सेवन की) प्राणियों की प्रवृत्ति है । किन्तु निवृत्ति उत्कृष्ट फल देने वाली है ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार शास्त्र मांस आदि (के भक्षण आदि) की निवृत्ति में प्रयोजक है न कि उसकी प्रवृत्ति में क्योंकि वह तो स्वाभाविक है । 'गन्दा व्यक्ति स्नान करे' 'भूखा व्यक्ति भोजन करे' ऐसा वचन शास्त्र में कहीं भी नहीं देखा जाता (क्योंकि वह मनुष्य का स्वभाव है)। तो फिर यह क्यों कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो उससे रहित (इसी प्रकार जो) आनन्द (= इन्द्रियलौल्य) के कारण तीन मकार का सेवन करते हैं किन्तु (संशयवशात्) चक्रपूजा को बिना (तीन मकार) के करते हैं वे पशु हैं क्योंकि वे आनन्द से (रहित हैं) वे दोनों भीषण रौरव नरक में जाते हैं ॥ ९९-१००- ॥

जो लोग कौलप्रक्रिया के अनुयायी होते हुये भी उसमें निहित भी इसको (= मद्य मांस को) लोभ अथवा सन्देह के कारण चक्रयाग आदि में अपने लिये या

परब्रह्मात्मभूतेन तदुद्भूतेन आनन्देन परिवर्जिता देहादावेव गृहीतात्माभिमानाः— इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'कुलाम्नायेषु ये सक्ता एभिर्द्रव्यैर्बहिष्कृताः ।
पशवस्ते समुद्दिष्टा न तैस्तु सह वर्तनम् ॥' इति ।

येऽपि स्वयं गर्धवशादानन्दकृतस्त्रीन् मानाहरन्ति—मकारत्रयमुपभुञ्जते, चक्रं पुनर्लोभादिना तद्वर्जं यजन्ते; तेऽपि पशव एवेति प्राच्येन सम्बन्धः । तदुक्तम्—

'विना गुरुं विना देवं मूढवत्परमेश्वरि ।
मद्यमांसाशिनो नित्यं पशवस्ते न सशयः ॥' इति ।

एवं द्वयेऽपि ते विहितस्य अकरणादविहितस्य च करणाद्भीषणे रौरवे नरके यान्ति तत्र यातनासहस्राणि अनुभवन्ति—इत्यर्थः । एवमेतत् कुलमार्गानुप्रविष्टेन सर्वथा स्वात्मानन्दव्यञ्जकतामात्रपरतया सेव्यं न तु तद्गर्धेन । तथात्वे हि अस्य लौकिकेभ्यः को विशेषः स्यात् । यदाहुः—

'ब्रह्मण्यानन्दाख्यं रूपमतो यत्समाश्रयवशेन ।
लभ्यत एव तदखिलं समाहरेद्विषयगर्धनिर्मुक्तः ॥

दूसरे के लिये नहीं देते वे पशु हैं क्योंकि उन (तीन) से उत्पन्न परब्रह्मस्वरूप आनन्द से रहित वे देह आदि में आत्माभिमान वाले हैं । वही कहा गया—

'जो कुलाम्नाय में आसक्त होते हुये इन द्रव्यों से बहिष्कृत हैं वे पशु कहे गये हैं उनके साथ नहीं रहना चाहिये ।'

इसी प्रकार जो स्वयं लोभवश आनन्द देने वाले तीन मकारादि (पदार्थों) का आहरण करते हैं = तीन मकारादि का उपभोग करते हैं किन्तु लोभ आदि के कारण चक्रपूजा उससे रहित करते हैं—वे भी पशु हैं—ऐसा पहले से सम्बन्ध है । वही कहा गया—

'हे परमेश्वरि ! जो लोग बिना गुरु एवं बिना देवता (को अर्पित किये) मद्य मांस का सेवन करते हैं वे निःसन्देह नित्य पशु हैं ।'

इस प्रकार वे दोनों ही विहित के न करने और अविहित के करने से भीषण रौरव नरक में जाते हैं—अर्थात् वहाँ सहस्त्रों यातनाओं का अनुभव करते हैं । इसलिये कौलमार्ग के अनुयायी के द्वारा इसका सर्वथा स्वात्मानन्दव्यञ्जकता-मात्रपरक के रूप में सेवन करना चाहिये उसके लोभ से नहीं । वैसा होने पर इसका लौकिक जनों से क्या अन्तर रह जायगा । जैसा कि (विद्वानों ने) कहा है—

'ब्रह्म में आनन्द नामक रूप है । इस कारण जिसके आश्रयण से वह मिलता है, विषय के लोभ से मुक्त होकर, उन सबका आनयन करना चाहिये । काम पोह

कामान्मोहाद्विषयाव्यतिरिक्तभावसंरूढात् ।
प्रसरत्यानन्दो यः सोऽपि पशूनामपीह साधारः ॥
चिन्मात्रात्परत्वे संवित्तेर्व्यञ्जको हि यो विषयः ।
योग्यात्मना विभाति च भोक्तुः स्वात्मन्यभेदतः सततम् ।
उक्तः स एव विषयो भिन्नश्चाभेदितां समायातः ।' इति,
'अपरिच्युतस्वरूपैरपृथग्भूतापि विषयसंवित्तिः ।
भुज्यत एव त एते वीरव्रतिनो महाक्रमारूढाः ।
लक्षस्थो जपरूढो नियमरतो ब्रह्मचर्यशान्तमनाः ।
सङ्घट्टेऽपि च रूढो महामनस्वी सुशान्तवपुः ॥
अतिमार्गविनयकथितैः समयाधर्मैश्च संग्रहो यस्य ।
योऽपि महासंबुद्धः संविन्मय एव सर्वदा स्वस्थः ॥
स्वात्मानुभूतिसिद्ध्यै विषयस्पर्शी न लौल्यभावनया ।
पशुभावनाविमुक्तः स ह्यभियुक्तो महामार्गे ॥
यः सावधानवृत्तिः स्वात्मनि मध्येऽपि लोकयात्रायाम् ।
वामाचारविधावपि भवत्यसौ पालने सदास्खलितः ॥
यश्चरमधातुसर्गे समयलवस्यान्तरे स्वसंवृत्त्या ।
सर्वासां वृत्तीनां प्रत्यस्तमनाश्चेतसो झटिति ॥
आनन्दसंविदुदयो रूपं तद्ब्रह्मणः समाख्यातम् ।'

इति च ॥

विषय या किसी अतिरिक्त भाव के संरूढ होने से जो आनन्द फैलता है वह भी पशुओं का साधार (आनन्द) है । (संविद् के) चिन्मात्रात्मपरक होने पर संविद् का व्यञ्जक जो विषय योग्यरूप से भोक्ता की आत्मा में निरन्तर अभिन्नरूप से भासित होता रहता है उक्त वही विषय भिन्न होते हुये अभिन्न हो जाता है ।' तथा

'अपरिच्युतस्वरूप वाले (जिन साधकों) के द्वारा अपृथक्भूत भी विषय संविद् उपभुक्त होती है वे ही वीरव्रती तथा महाक्रम पर आरूढ हैं । लक्ष में स्थित, जप में लगा हुआ, नियम का पालक, ब्रह्मचर्य के कारण शान्त मन वाला, सङ्घट्ट में भी संलग्न, महामनस्वी, सुशान्त शरीर वाला, अति मार्ग विनय में कथित समयाधर्मों के साथ जिसका संग्रह है और जो महासंबुद्ध, संविन्मय, सर्वदा स्वस्थ है, अपनी आत्मा के अनुभव के लिये न कि लौल्यभावना से विषय का भोग करने वाला और पशुभावना से मुक्त है वही इस महामार्ग (= कौलमार्ग) में योग्य है । जो अपने विषय में सावधान वृत्तिवाला, मध्य में भी लोकयात्रा में वामाचार विधि के पालन में सदा अस्खलित रहता है, जो चरम धातु (= वीर्य) के क्षरण के समय एक क्षण के भीतर अपनी संवित् के द्वारा (अन्य) समस्त वृत्तियों से रहित मन वाला है, जिसके चित्त में आनन्दसंवित् का उदय होता है, वही ब्रह्म का रूप कहा गया है ॥

ननु अत्र मद्यमांसासेवनं सुकरमिति आस्तामेतत् । इतरत् तु अमर्त्यानामपि दुष्करं किं पुनर्दौर्भाग्यभाजां मर्त्यानाम् । तस्मात्

'ततस्त्रानयेद्दूतीं मदघूर्णितलोचनाम् ।
बिम्बोष्ठीं चारुदशनां सभ्रूभङ्गाननां शुभाम्॥
त्रस्तबालमृगाभासनयनां चारुहासिनीम् ।
स्फुरद्भ्रमरसङ्घातनिभसत्केशपाशिकाम् ॥
कामकार्मुकसङ्काशभ्रूभङ्गतरलेक्षणाम् ।
द्रवच्चामीकराकारसवर्णां निस्तरङ्गिणीम् ॥
कर्णाभरणसच्चित्रशोभाशतसुशोभनाम् ।
सत्कम्बुनिभसत्कण्ठवरभूषणभूषिताम् ॥
गजकुम्भनिभोद्दामस्तनभारावनामिताम् ।
सुवृत्तोपचिताकारबाहुकन्दलिमण्डिताम् ॥
सत्पञ्चफणसङ्काशकरशाखाविराजिताम् ।
स्फुरद्रत्नशिखाचित्रकोर्मिकांगुलिशोभिताम् ॥
पूर्णेन्दुवरलावण्यवदनां चित्तहारिणीम् ।
हरिहेतिमहासिंहपिपीलवरमध्यगाम् ॥
त्रिवलिश्रेणिसद्बिम्बजघनालसगामिनीम् ।
रम्भाकरिकराकारवरोरुवरजङ्घिकाम् ॥
सत्कामरथचक्राभगुल्फपादसुशोभनाम् ॥
प्रलम्बहेमाभरणहारावलिविराजिताम् ।

प्रश्न—यहाँ मद्य मांस का सेवन तो आसान है वह हो । किन्तु तीसरा (मैथुन) तो देवताओं के लिये भी दुर्लभ है फिर अभागे मनुष्यों की क्या बात । इस कारण—

'इसके बाद वहाँ दूती को लाये जो—मद से घूरती आँखों वाली, बिम्बोष्ठी, सुन्दर दाँतो वाली, टेढे भौंह वाली, शुभ, भीत बाल हरिणी के समान नेत्रों वाली, सुन्दर हँसी वाली, उड़ते हुये भौरों के समान केशसमूह वाली, काम के धनुष की भाँति भ्रूभङ्ग से तरल नेत्र वाली, द्रुत सुवर्ण के समान वर्ण वाली, शान्त, कर्णाभरण आदि विचित्र शोभाशत से सुशोभित, गजकुम्भ के समान उठे स्तनों के भार से नम्र, सुन्दर गोल पुष्ट बाहु से युक्त, पाँच फण वाली हथेली से शोभित, चमकते रत्नशिखा चित्र किरण जैसी उँगलियों वाली, पूर्ण चन्द्र की भाँति सुन्दर मुख वाली, मनोहर, विष्णु के शस्त्र (= धनुष) महासिंह अथवा चींटी की कटि के समान कटि वाली, त्रिवली युक्त (उदर वाली), सुन्दर बिम्ब (= गोल) जघन के कारण अलसगामिनी, केला हाथी के सूँड़ के आकार के समान जघन वाली, कामरथ के चक्र के समान गुल्फ (= टखना) और पैर से सुन्दर, लटकते हुये

स्फुरन्मञ्जीरझाङ्काररशनामुखरस्वनाम् ॥
पारिहार्यभ्रणत्कारवलयध्वानमन्थराम् ।
मत्तनागेन्द्रसङ्काशगतिं गम्भीरनाभिकाम् ॥
हंसगद्गदवाग्वंशसदृशां शुभभाषिणीम् ।
केयूरसूत्रिकामोदिपुष्पस्रग्दामभूषिताम् ॥
महापञ्चफणापीडताम्बूलवरलालसाम् ।
नृत्तगीतससीत्कारलीलाकुट्टमितावृताम् ॥
निस्तरङ्गां सवर्णां च देव्येकार्पितमानसाम् ।
लोभमोहपरिक्षीणचेतसं चित्स्वभाविकाम् ॥
भैरवैकचमत्कारचर्वणैकस्वरूपिणीम् ।
सा दूतिर्मोहनीमुद्रा जगत्यस्मिंश्चराचरे ॥' इति ।

श्रीतन्त्रराजभट्टारके—

'सुभगा सत्यशीला च दैशिकाज्ञानुवर्तिनी ।
प्रियवादिनी सुस्वरूपा सात्त्विका सङ्गवर्जिता ॥
भैरवाचारसम्पन्ना अमृतानां च सस्पृहा ।
सदैवाद्वैतनिरता अभ्यासस्था दृढव्रता ॥
पुत्रवत्पश्यते सर्वान्न जुगुप्सेत्प्रसन्नधी: ।
सदाचारकुलोत्पन्ना अप्रसूता सुकेशिनी ॥
मद्यकामत्तमृद्वङ्गी शुक्राढ्या चारुहासिनी ।
सुस्निग्धा च विनीता च सदातिथ्यसुभाविता ॥

स्वर्णाभरण वाली, हारावली से सुशोभित, हिलते हुये घुँघुरुओं की झनकार से मुखर करधनी वाली, चारो ओर हिलाये जाने वाले झनकार करने वाले कङ्गनों की ध्वनि से मन्थर, मत्त हाथी के समान गतिवाली, गहरी नाभि वाली, हंस के समान गद्गद (= अस्पष्ट) और बाँस के समान सुरीली आवाज वाली, केयूर सूत्र में सुगन्धित पुष्पमाला से विभूषित, महापञ्चफण के आकार वाले हाथों में ताम्बूल वाली, नृत्त गीत सीत्कार लीला कुट्टमित आदि से युक्त, निस्तरङ्ग, सवर्ण, देवी के प्रति अर्पित चित्त वाली, लोभ मोह से रहित चित्त वाली, चित्स्वभावा, भैरव के चमत्कार की चर्वणा स्वरूप, हो । वह दूती इस चराचर जगत् में मोहनी मुद्रा है ।'

तथा श्री तन्त्रराजभट्टारक में—

'(बाह्य शक्ति = दूती को) सुभगा सत्यनिष्ठ, आचार्य की आज्ञापालक, प्रियवादिनी, सूरुप, सात्त्विक, आसक्तिरहित, भैरवाचारयुक्त, अमृत (= मद्य आदि) चाहने वाली, सदा अद्वैत भावनावाली, अभ्यासनिरत, दृढव्रत वाली होना चाहिये । (वह) सब आदमियों को पुत्रवत् देखे, निन्दा न करे, प्रसन्नचित्त वाली, सदाचारी कुल में उत्पन्न, अप्रसूता, सुन्दर केश वाली, मद्य से मत्त कोमलाङ्गी, उज्ज्वल,

मन्त्रार्पितस्वरूपा च निर्मला निरहङ्कृतिः ।
पारम्पर्यक्रमस्था तु लोकाचारानुवर्तिनी ॥
नित्ये नैमित्तिके चैव क्रमपर्वसु वर्तिनी ।
कामतन्त्रक्रियानिष्ठा जानाना देवतर्पणम् ॥
सन्तुष्टा सर्वभावेषु................................ ।'

इति श्रीत्रिशिरोभैरवे च प्रोक्तलक्षणा बाह्या शक्तिरप्राप्यैव । नहि एवंविधाः सर्वे गुणा एकत्र सङ्घटमानाः क्वचित् कदाचित् दृष्टाः । यदाहुः—

'.............क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ।' इति ।

अनेवं विधा च दूतिः परिहरणीया । यदुक्तम्—

'अदूतिको वरं यागो न तु दुर्दूतिदूषितः ।' इति ।

न च अत्र विषभक्षणवाक्यवददूतिकत्वे तात्पर्यम् । तददूतिको यागो न कार्यः, दूतिश्च एवंविधा न प्राप्येत्यशक्त्यानुष्ठानमेतत् ?—इत्याशङ्क्य आह—

शक्तेर्लक्षणमेतावत्तद्वतो ह्यविभेदिता ॥ १०० ॥
तादृशीं तेन तां कुर्यान्नतु वर्णाद्यपेक्षणम् ।

सुहासिनी, सुस्निग्ध, नम्र, आतिथ्यनिरत, मन्त्र के प्रति अर्पितरूप वाली, निर्मल, अहङ्काररहित, पारम्पर्य क्रम में स्थित, लोकाचारपरायण, नित्य नैमित्तिक और क्रमपर्व में सक्रिय, कामतन्त्र की क्रिया में निरत, देवतर्पण को जानने वाली, सब भावों में सन्तुष्ट हो ।

ऐसा श्री त्रिशिरोभैरव में कथित लक्षण वाली बाह्य शक्ति अप्राप्य ही है इस प्रकार के गुण कहीं एकत्र कभी भी सङ्घटित नहीं देखे गये । जैसा कहते हैं—

'................सर्वत्र सब गुण कहाँ (दिखलायी) पड़ते हैं ।'

और इससे भिन्न प्रकार की दूती त्याज्य है । जैसा कि कहा गया—

'दूतीरहित याग ठीक है किन्तु दुष्टदूती से दूषित (याग ठीक) नहीं ।'

इस (उपर्युक्त उद्धरण) में विषभक्षण वाक्य (= विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्थाः—विष भले खा लो लेकिन इस दुष्ट के घर में भोजन मत करना—जैसे उक्त वाक्य में दुष्टगृह भोजन त्याग में तात्पर्य है वैसा यहाँ तात्पर्य नहीं है) के समान दूतीराहित्य में तात्पर्य है ऐसी बात नहीं है । तो बिना दूती के याग नहीं करना चाहिये और इस प्रकार की दूती प्राप्य नहीं हैं फिर यह अनुष्ठान अशक्य हो जायगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

शक्ति (= दूती) का इतना लक्षण है कि उनसे अभिन्न होना । इसलिये वैसी (= उक्त लक्षणों में से कतिपय लक्षण से युक्त भी) उसे बनाना चाहिये न कि वर्ण आदि की अपेक्षा रखनी चाहिये ॥ -१००-१०१- ॥

हीनाया अपि शक्तेरनेका सिद्धिः स्यात् । यदुक्तम्—

'यदि लक्षणहीना स्यात् दूती वै साधकात्मनाम् ।
वीरैकचित्ता निष्कम्पा सर्वकर्मसु गम्यते ॥' इति ।

वर्णाः—मातङ्गाद्याः । आदिशब्दात् वयःप्रभृति लक्षणजातम् । शक्तेर्लक्षण-मेतत्—तद्वदभेदः । ततोऽनपेक्ष्यं वयोजात्यादि । अत एव तत्तादात्म्यमेव अवलम्ब्य अस्याः सर्वत्र तत्तद्भेदभिन्नत्वमुक्तम् ॥

तदाह—

लौकिकालौकिकद्व्यात्मसङ्गात्तादात्म्यतोऽधिकात् ॥ १०१ ॥
कार्यहेतुसहोत्था सा त्रिधोक्ता शासने गुरोः ।
साक्षात्परम्परायोगात्तत्तुल्येति त्रिधा पुनः ॥ १०२ ॥

इह खलु गुरोः शासने अस्मद्दर्शने सा एवंविधा शक्तिर्जन्या जनिका सहजा चेति मुख्यया वृत्त्या त्रिविधा उक्ता यतोऽत्र अस्या लौकिकात् यौनादलौकिकात् ज्ञानीयाच्च सम्बन्धादधिकं तादात्म्यम् । अन्यत्र हि ज्ञानीय एव सङ्ग इति तत्र तथा न तादात्म्यमिति । एवञ्च अस्याः शक्तेः साक्षात् पारम्पर्येण वा द्वैधे षड्विधत्वम् ।

(उक्त लक्षणों से) हीन शक्ति से भी अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । वही कहा गया है—

'यदि साधकों को लक्षणरहित दूती मिले तो केवल वीर चित्तवाली दृढ़ (दूती) सब कार्यों में ग्राह्य है ।'

वर्ण = मातङ्ग आदि । आदि शब्द से अवस्था आदि लक्षणसमूह लेना चाहिये । शक्ति का यह लक्षण है कि उन (उक्त लक्षणों) से अभेद । इसलिये अवस्था जाति आदि अनपेक्ष्य है । इसलिये उनके साथ तादात्म्य मान कर ही इसकी तत्तद् भेद से भिन्नता कही गयी है ॥

वही कहते हैं—

इस प्रकार गुरु के शास्त्र में कार्य कारण और सहोत्थ (= तादात्म्य से उत्पन्न) साक्षात् एवं परम्परा योग से उस (= लौकिक-यौन, एवं अलौकिक ज्ञानीय) सम्बन्ध के तुल्य (दूती भी) कार्य कारण एवं सहोत्थ रूप में तीन प्रकार की होती है ॥ -१००-१०२ ॥

गुरु के शासन = हमारे दर्शन में, वह = इस प्रकार की शक्ति, जन्या जनिका और सहजा इस प्रकार मुख्य वृत्ति से तीन तरह की कही गयी है । क्योंकि यहाँ इसका लौकिक = यौन और अलौकिक = ज्ञानीय सम्बन्ध की अपेक्षा अधिक तादात्म्य है । अन्यत्र ज्ञानीय ही सम्बन्ध है इसलिये वहाँ वैसा तादात्म्य नहीं है ।

तदुक्तम्—

'कार्यहेतुसहोत्थत्वात् त्रैधं साक्षादथान्यथा ।' इति ।

पारम्पर्ययोगो यथा कार्याया अपि कार्या हेतोरपि हेतुः सहोत्थाया अपि कार्या चेति । अत एव अत्र आसां तत्तुल्यत्वमुक्तम् । ननु

'स्वपत्नी भगिनी माता दुहिता वा सुभा सखी ।'

इत्याद्युक्त्या स्वपत्न्यपि अत्र कस्मात् न परिगणिता यत् तत्रापि अस्ति लौकिकालौकिकतया द्व्यात्मसङ्गः । तत् कथमिह अस्याः षड्विधत्वमेव उक्तम् ? सत्यम्, किन्तु अत्र लौकिकवत् रिरंसया न प्रवृत्तिः, अपि तु वक्ष्यमाणदृशा अनवच्छिन्नपरसंवित्स्वरूपावेशसमुत्कतयेत्येवंपरमेतदुक्तम् । स्वपत्न्यां हि रिरंसा-सम्भवनाया अपि अवकाशः स्यात् । यदुक्तम्—

'दूतीं कुर्यात्तु कार्यार्थी न पुनः काममोहितः ।' इति,

इस प्रकार इस शक्ति के साक्षात् एवं परम्परा के द्वारा दो प्रकार होने से छह प्रकार हो गये ।
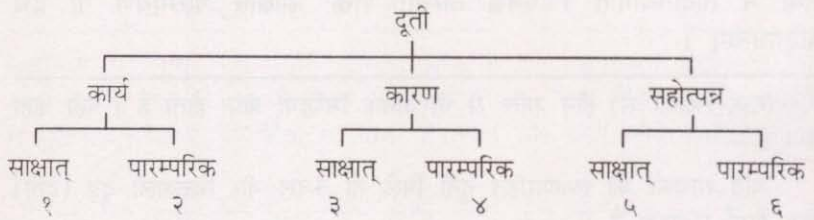
वही कहा गया—

'कार्य हेतु (= कारण) और सहोत्थ होने से फिर साक्षात् एवं अन्यथा (= परम्परा के द्वारा) ।'

पारम्पर्ययोग जैसे—कार्या की कार्या, कारण की भी कारण और सहोत्था की भी कार्या । इसीलिये यहाँ इनकी भी उनकी तुल्यता कही गयी है । प्रश्न—

'अपनी पत्नी बहन माता बेटी अथवा शुभ सखी'

इत्यादि उक्ति के अनुसार अपनी पत्नी भी यहाँ क्यों नहीं गिनी गयी क्योंकि वहाँ भी लौकिक और अलौकिक होने से दो का सम्बन्ध है । फिर यहाँ इसको छह ही प्रकार का कैसे कहा गया? (उत्तर-) सत्य है । किन्तु यहाँ लौकिक के समान रमणेच्छा से प्रवृत्ति नही होती बल्कि वक्ष्यमाण रीति से अनवच्छिन्न परसंवित्स्वरूप के आवेश के लिये उत्सुकता के द्वारा । इसलिये इस उद्देश्य से यह कहा गया । अपनी पत्नी में रमणेच्छा का भी अवकाश हो सकता है । जैसा कि कहा गया—

'कार्य चाहने वाला ही दूती की नियुक्ति करे न कि काममोहित होकर ।' तथा

'स्थित्यर्थं रमयेत्कान्तां न लौल्येन कदाचन ॥' इति.
'शिवशक्त्यात्मकं रूपं भावयेच्च परस्परम् ।
न कुर्यान्मानवीं बुद्धिं रागमोहादिसंयुताम् ॥
ज्ञानभावनया सर्वं कर्तव्यं साधकोत्तमैः ।' इति च ।

अत्रैव शास्त्रान्तरविरोधोऽपि परिहृतः । तत्रापि हि रिरंसापरिहारेण कार्यार्थितया एवमाम्नातम् । यत्स्मृतिः—

'घृतेनाभ्यज्य गात्राणि तैलेनापि घृतेन वा ।
मुखान्मुखं परिहरन् गात्रैर्गात्राण्यसंस्पृशन् ॥
कुले तदवशेषे च सन्तानार्थं न कामतः ।
नियुक्तो गुरुभिर्गच्छेद्भ्रातुर्भार्यां यवीयसः ॥' इति ।

एवञ्च निर्विकल्पवृत्तीनां महात्मनां ज्ञानिनामेव अधिकारो येषां स्ववृत्तिप्रतिक्षेपेण संविदद्वैते एव किमेकाग्रीभूतं चेतो न वेति प्रत्यवेक्षामात्रे एव अनुसन्धानम् । यदभिप्रायेणैव

'न चर्या भोगतः प्रोक्ता ख्याता कामसुरूपिणी।
स्वचित्तप्रत्यवेक्षातः स्थिरं किं वा चलं मनः ॥'

'(कौल मार्ग में) स्थिति के लिये ही स्त्री के साथ रमण करे कभी भी इन्द्रियसुख के कारण नहीं ।' और

'(अपने और दूती में) परस्पर शिवशक्त्यात्मक रूप की भावना करे । राग मोह आदि से युक्त मानवी बुद्धि न करे । साधकोत्तम (पुरुष) ज्ञान भावना से सब कुछ करे ।'

यहीं पर शास्त्रान्तर से विरोध भी दूर कर दिया गया । वहाँ भी रमणेच्छा के परिहार से कार्यार्थी होने के कारण ऐसा कहा गया । जैसी कि स्मृति है—

'बड़ा भाई कुल में उसके शेष होने पर घृत अथवा तैल से शरीर का लेपन कर (भ्रातृजाया = छोटे भाई की पत्नी के) मुख को न देखता हुआ (अपने) शरीर से (उसके) शरीर का स्पर्श न करता हुआ, काम से नहीं बल्कि सन्तान के लिये गुरु की आज्ञा लेकर उसके पास गमन करे ।'

इस प्रकार इसमें निर्विकल्प वृत्तिवाले महात्मा ज्ञानियों का ही अधिकार है जिनका कि, अपनी वृत्ति के प्रतिक्षेप से संविद्अद्वैत में ही क्या चित्त एकाग्र हुआ है या नहीं—ऐसी प्रत्यवेक्षा में ही अनुसन्धान है । जिस अभिप्राय से—

'चर्या भोग के कारण नहीं कही गयी है न ही कामसुरूपिणी कही गयी है । बल्कि अपने चित्त की प्रत्यवेक्षा के कारण कही गयी है कि मेरा मन स्वसंवित् में स्थिर है या (बाह्यवस्तुगामी होने से) चञ्चल ।'

इत्यादि उक्तम् ॥ १०२ ॥

न च एतदस्मदुपज्ञमेव—इत्याह—

श्रीसर्वाचारहृदये तदेतदुपसंहृतम् ।
षडेताः शक्तयः प्रोक्ता भुक्तिमुक्तिफलप्रदाः ॥ १०३ ॥

'वेगवत्यथ संहारी त्रैलोक्यक्षोभणी तथा ।
अर्धवीरासना चैव वक्त्रकौला तु पञ्चमी ॥'

इत्यादि तु अवान्तरभेदप्रायं प्रत्येकं सम्भवदपि आनन्त्यादिह न परिगणितम् ॥ १०३ ॥

ननु एतदास्ताम्, 'बाह्यस्थया शक्त्या साकं समर्चयेत्' इत्येव कस्मादुक्तम् ?—इत्याशंक्य आह—

द्वाभ्यां तु सृष्टिसंहारौ तस्मान्मेलकमुत्तमम् ।

द्वाभ्यां शक्तिशक्तिमद्भ्याम् हेतुभूताभ्यां हि सङ्घट्टवेलायां परस्परौन्मुख्येन मुख्येन स्वस्वरूपविश्रान्त्या सृष्टिसंहारौ । तस्मादुभयमयी स्थितिस्तदुल्लासस्तु तुर्यांशे इति एवं तत्स्वरसत एव यदुदेति तत इदं मेलकमुत्तमं परपदापत्तिदायित्वात् तादात्म्यकरम्—इत्यर्थः ॥

इत्यादि कहा गया है ॥ १०२ ॥

यह (कथन) हमारा उपज्ञ ही नहीं है—यह कहते हैं—

श्री सर्वाचारहृदय में यह उपसंहार रूप में (कहा गया) है कि—ये (= श्लोक सं० १०२ में उक्त) छह शक्तियाँ (= दूतियाँ) भोग मोक्ष रूपी फल को देने वाली कही गयी है ॥ १०३ ॥

'वेगवती, संहारी, त्रैलोक्यक्षोभणी, अर्धवीरासना और वक्त्रकौला-पाँचवीं—'

इत्यादि उक्त छह शक्तियों में से प्रत्येक के अवान्तर भेद सम्भव हैं आनन्त्य दोष के कारण वे यहाँ नहीं गिने गये ॥ १०३ ॥

प्रश्न—यह है तो रहे किन्तु 'बाह्यस्थ शक्ति के साथ पूजा करे' यही क्यों कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

दो के द्वारा सृष्टि एवं संहार होता है । इस कारण मेलक ही उत्तम है (एकत्व नहीं) ॥ १०४- ॥

दो के द्वारा = शक्ति शक्तिमान् कारणों के द्वारा, सङ्घट्टबेला में परस्पर उन्मुखता के कारण मुख्य रूप से स्वस्वरूपविश्रान्ति के कारण सृष्टि संहार होते हैं। इस कारण उभयमयी स्थिति होती है । उसका उल्लास तुर्यांश में होता है । इस

कथं च एतत् कार्यम्—इत्याह—

तामाहृत्य मिथोऽभ्यर्च्य तर्पयित्वा परस्परम् ॥ १०४ ॥
अन्तरङ्गक्रमेणैव मुख्यचक्रस्य पूजनम् ।

अभ्यर्च्येति—अर्थात् शक्तिशक्तिमत्पदे । पूजनमिति—अर्थात् कार्यम् ॥

ननु कोऽसावान्तरः क्रमः, किञ्च तत् मुख्यं चक्रम्?—इत्याशङ्क्य आह—

यदेवानन्दसन्दोहि संविदो ह्यन्तरङ्गकम् ॥ १०५ ॥
तत्प्रधानं भवेच्चक्रमनुचक्रमतोऽपरम् ।

अतोऽपरमिति तथा न आनन्दसन्दोहि—इत्यर्थः ॥

चक्रशब्दस्य च प्रवृत्तौ किं निमित्तम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

विकासात्तृप्तितः पाशोत्कर्तनात्कृतिशक्तितः ॥ १०६ ॥
चक्रं कसेश्चकेः कृत्या करोतेश्च किलोदितम् ॥

कसी विकासे, चक तृप्तौ, कृती च्छेदने, डुकृञ् करणे,—इति

प्रकार वह (उल्लास) चूँकि स्वभावतः उत्पन्न होता है इस कारण यह मेलक उत्तम है = पर पद की प्राप्ति देने वाला होने के कारण तादात्म्यकारी है ॥

इसे कैसे करना चाहिये—यह कहते हैं—

उस (दूती) को लाकर परस्पर पूजन कर फिर परस्पर तर्पण कर अन्तरङ्ग क्रम से ही मुख्यचक्र का पूजन करना चाहिये ॥ -१०४-१०५-॥

पूजन कर—अर्थात् शक्तिशक्तिमान् पद पर (= दूती की पूजा उसको शक्ति समझकर करे तथा दूती भी साधक की पूजा शक्तिमान् समझकर करे) । पूजन करना चाहिये ॥

प्रश्न—यह आन्तर क्रम क्या है और वह मुख्य चक्र क्या है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो भी आनन्दसन्दोह वाला (तथा) संविद् का अन्तरङ्ग है वह प्रधान चक्र है इससे गौण अनुचक्र है ॥ -१०५-१०६- ॥

इससे अपर—उस प्रकार आनन्दसन्दोही न होने वाला ॥

चक्र शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त क्या है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

विकास, तृप्ति, पाशच्छेद और कृति की शक्ति के कारण कस, चक, कृती एवं कृ धातुओं से चक्र शब्द (निष्पन्न) कहा गया है ॥ -१०६-१०७- ॥

धातुचतुष्टयार्थान्वयादत्र चक्रशब्दः । तेन विकसति, चकति, कृन्तति, करोतीति चक्रम् ॥

ननु

'आनन्दजननं पूजायोग्यं हृदयहारि यत्।'

इत्यादिनीत्या पूजोपयोगिनो द्रव्यजातस्य आनन्दसन्दोहित्वं लक्षणं सर्वत्र उक्तम् । इह पुनर्मुख्यचक्रादेः पूज्यस्यैव कथं तदुच्यते?—इत्याशङ्क्य आह—

यागश्च तर्पणं बाह्ये विकासस्तच्च कीर्त्यते ॥ १०७ ॥

बहिरपि यागो नाम तर्पणमुच्यते । तच्च चितो नैराकाङ्क्ष्योत्पादात् विकासः समुच्छलद्रूपत्वम्—इत्यर्थः ॥ १०७ ॥

ननु बहिस्तर्पणमेव कुतः स्याद्यतोऽपि चितो विकासः समुदियात्?—इत्याशङ्क्य आह—

चक्रानुचक्रान्तरगाच्छक्तिमत्परिकल्पितात् ।
प्राणगादप्यथानन्दस्यन्दिनोऽभ्यवहारतः ॥ १०८ ॥
गन्धधूपस्रगादेश्च बाह्यादुच्छलनं चितः ।

कसी विकास, चक तृप्ति, कृती छेदन, डुकृञ् करने अर्थों में वर्त्तमान चार धातुओं के अन्वय से यहाँ 'चक्र' शब्द (निष्पन्न) है । इसलिये (जो) विकास चकन (= तृप्ति) कृन्तन और करण को सम्पन्न करता है (वह) चक्र है ॥

प्रश्न—'जो आनन्दोत्पादक पूजा के योग्य और मनोहर है'

इत्यादि नीति से पूजा के लिये उपयोगी द्रव्यसमूह का आनन्दसन्दोही होना-लक्षण सर्वत्र कहा गया है किन्तु यहाँ मुख्यचक्र आदि पूज्य को ही वह (= आनन्दसन्दोही) कैसे कहा जा रहा है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

बाह्य में भी यह तर्पण याग (कहा जाता है) और वह विकास कहा जाता है ॥ -१०७ ॥

बाहरी भी याग तर्पण कहा जाता है । और वह (= बाह्य याग) चित्त में निराकाङ्क्षा के उत्पादन के कारण विकास = समुच्छलद्रूपता है ॥ १०७ ॥

प्रश्न—बाह्य तर्पण ही क्यों होता है जिससे चित् का विकास उदित होता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

शक्तिमान् के द्वारा परिकल्पित चक्र अनुचक्र (= इन्द्रिय) के अन्तरगामी तथा प्राण में वर्त्तमान आनन्ददायी एवं गन्ध धूप माला आदि बाह्य (पदार्थों) के कारण भी (आनन्ददायी) के अभ्यवहार से चित् का

तेन शक्तिमत्परिकल्पितात्

'तेन निर्भरमात्मानं बहिश्चक्रानुचक्रगम् ।
विप्रुड्भिरूर्ध्वाधरयोरन्त: प्रीत्या च तर्पयेत् ॥'

इत्यादिनीत्या चक्रानुचक्रान्तरगात्पानाद्यात्मन:

'शून्योद्भवो भवेद्वायुर्मेढ्रस्योत्थापनं भवेत् ।
वायुमेढ्रसमायोगात्........................... ॥'

इत्यादिदृशा प्राणगात् तत्प्रेरणात्मनो गन्धधूपस्रगादेर्बाह्यात् च आनन्दस्यन्दि-नोऽभ्यवहारात् चित उच्छलनं विकास: स्यात्—इत्यर्थ: ॥

एवं मुख्यचक्रैकात्म्यमाप्तुमनुचक्रेषु तर्पणं कार्यम्—इत्याह—

इत्थं स्वोचितवस्त्वंशैरनुचक्रेषु तर्पणम् ॥ १०९ ॥
कुर्वीयातामिहान्योन्यं मुखचक्रैकताकृते ।

स्वोचितं वस्तु रूपाद्यन्यतमम्, अनुचक्रेष्विति—चक्षुरादीन्द्रियरूपेषु; अथ च स्वोचितं—वस्तु आलिङ्गनपरिचुम्बनादि ।

उच्छलन होता है ॥ १०८- ॥

उस कारण शक्तिमत् से परिकल्पित—

'इस कारण चक्रानुचक्रगामी निर्भर आत्मा को (मद्य की) बूँदों के द्वारा बाहर ऊपर नीचे तथा भीतर की ओर आनन्द के साथ तृप्त करना चाहिये ।'

इत्यादि नीति के अनुसार चक्र अनुचक्र के अन्दर वर्त्तमान पान आदि रूप—'शून्य से उत्पन्न वायु गतिशील होता है फिर मेढ्र को उठाया जाता है फिर वायु और मेढ्र के संमेलन से जो अनुभूति उत्पन्न होती है उसका सबको अनुभव होता है ।'

इत्यादि नीति से प्राणगामी = उससे प्रेरित, और गन्ध धूप माला आदि बाह्य आनन्ददायी (पदार्थों) के सेवन से चित् का उच्छलन = विकास होता है ॥

मुख्य चक्र के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिय अनुचक्रों (= इन्द्रियों) में तर्पण करना चाहिये—यह कहते हैं—

इस प्रकार (साधक और दूती) अपने उचित वस्तु अंशों के द्वारा, मुख्य चक्र के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिये परस्पर अनुचक्रों में तर्पण करें ॥ -१०९-११०- ॥

स्वोचित वस्तु = रूप (गन्ध शब्द) आदि में से कोई एक । अनुचक्रों में = चक्षु आदि इन्द्रियरूपों में । स्वोचित वस्तु = आलिङ्गन चुम्बन आदि ।

तदुक्तम्—

> 'किं पूज्यं पूजकः कोऽसावाह्वानं कीदृशं भवेत् ।
> किं पुष्पं धूपचरुकं को मन्त्रो जप एव च ॥
> किं कुण्डं भवति ह्यग्निः काष्ठं किं चाज्यमेव वा ।
> कः समाधिः महेशान इति ब्रूहि त्रिलोचन ॥'

इति उपक्रम्य

> 'योषितश्चैव पूज्यन्ते पुरुषश्चैव पूजकः ।
> आह्वानं तु तयोः प्रीतिः पुष्पं च करजक्षतम् ॥
> धूपमालिङ्गनं प्रोक्तं चरु तनुकृतं भवेत् ।
> मन्त्रः प्रियाया वाग्जालं जपश्चाप्यधरामृतम् ॥
> भगं कुण्डं स्रुवं लिङ्गमग्निश्चैव भगांकुरः ।
> आज्यं च भजते बीजमित्युक्तं भैरवागमे ॥
> शब्दःस्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
> उत्क्षेपानन्दकाले तु पञ्चधा वस्तुसन्ततिः ॥
> स समाधिः महेशानि ज्ञात्वा शिवमवाप्नुयात् ।' इति ॥

ननु अनुचक्रतर्पणात् कथं मुख्यचक्रैकात्म्यं स्यात् ?—इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य आगममेव अत्र संवादयति—

उक्तं च त्रिशिरस्तन्त्रे विमलासनगोचरः ॥ ११० ॥

वही कहा गया—

'पूज्य क्या है? पूजक कौन है? आह्वान कैसा होता है? पुष्प धूप और चरु क्या है? मन्त्र और जप क्या है? कुण्ड क्या है? अग्नि काष्ठ और घृत क्या है? समाधि क्या है? हे महेश्वर ! हे त्रिलोचन ! यह बताइये'—

ऐसा उपक्रम कर

'स्त्रियाँ पूजित होती हैं । पुरुष पूजक हैं । उन दोनों का परस्पर प्रेम आह्वान है । नाखून से (स्तन आदि पर) घाव कर देना पुष्प है । आलिङ्गन को धूप कहा गया है । शरीर की क्रियायें ही चरु हैं । प्रिया का वाग्जाल मन्त्र है । अधरदान जप है । भग कुण्ड है लिङ्ग स्रुवा और भगनासा अग्नि है । वीर्य घृत है—ऐसा भैरवागम में कहा गया है । शब्द स्पर्श रूप रस और पाँचवा गन्ध ये उत्क्षेप के आनन्द के समय पाँच प्रकार की वस्तुयें हैं । यह समाधि है । हे महेश्वरी ! ऐसा जानकर (साधक) शिवत्वभाव को प्राप्त होता है' ॥

प्रश्न—अनुचक्र के तर्पण से मुख्य चक्र के साथ एकात्मता कैसे होती है ?—इस आशङ्का को मन से रख कर आगम को ही यहाँ उद्धृत करते हैं—

अक्षषट्कस्य मध्ये तु रुद्रस्थानं समाविशेत् ।

इह अनुचक्रात्मनां निखिलानां चक्राणां मध्ये तत्संक्षोभे यथोचितमर्थजातमाहरन्नपि विमलं तदासङ्गाभावात् वैवश्यकलङ्कोन्मुक्तं यदासनमवस्थानं तन्निष्ठः सन् स्वस्वरूपविश्रान्त्या तत्क्षोभोपसंहारात् रुद्रस्थानं समाविशेत् मुख्यचक्रात्मकपरप्रमातृदशावेशभाग्भवेत्—इत्यर्थः ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

निजनिजभोगाभोगप्रविकासिनिजस्वरूपपरिमर्शे ॥ १११ ॥
क्रमशोऽनुचक्रदेव्यः संविच्चक्रं हि मध्यमं यान्ति।

यत् निजनिजेन रूपाद्यन्यतमालोचनात्मना भोगाभोगेन बहिरुच्छलद्रूपतया प्रविकासनशीलस्य निजस्य प्रमातृरूपस्य स्वरूपस्य परिमर्शे स्वात्मचमत्कारोल्लासे सति यथायथं दृगाद्यनुचक्रदेव्यो मध्यमं सर्वसंविद्विश्रान्तिस्थानतया मुख्यं परमानन्दमयप्रमातृसतत्त्वं संविच्चक्रं यान्ति—तत्रैव विश्रान्तिमासादयन्ति—इत्यर्थः ॥

ननु एवं तत्तदर्थग्रहणकाले सर्वेषामविशेषेणैव मुख्यचक्रैकात्म्यं सेत्स्यतीति

त्रिशिरोभैरव तन्त्र में कहा गया है कि निर्मल आसन पर स्थित होकर छह इन्द्रियों के मध्य में (आनन्द आभोग के प्रसर का अनुभव करते हुए) रुद्रस्थान में समाविष्ट हो जाना चाहिये ॥ -११०-१११- ॥

अनुचक्रात्मक समस्त चक्रों के मध्य में उसका क्षोभ होने पर यथोचित अर्थसमूह को लाने वाला भी विमल = उसमें (= इन्द्रियों में) आसक्ति न होने से विवशता के कलङ्क से रहित, जो आसन = अवस्थान, उसमें स्थित होता हुआ स्वस्वरूप में विश्रान्ति के द्वारा उस क्षोभ का उपसंहार होने के कारण रुद्रस्थान में समावेश करना चाहिये = मुख्य चक्रात्मक परप्रमातृ दशा के आवेश का भागी बनना चाहिये ॥

उसी को विस्तृत करते हैं—

अपने-अपने भोग के विस्तार के कारण प्रविकासी अपने स्वरूप का परामर्श होने पर अनुचक्र देवियाँ क्रमशः मध्यम संवित् चक्र में चली जाती हैं ॥ -१११-११२- ॥

अपने-अपने रूप आदि किसी एक के आलोचनरूप भोग के विस्तार के द्वारा बाहर उच्छलत् रूप होने के कारण प्रविकासन शील अपने प्रमातृरूप स्वरूप का परामर्श होने पर = स्वात्म चमत्कार का उल्लास होने पर, क्रमशः नेत्र आदि अनुचक्र (में रहने वाली) देवियाँ मध्यम = सब संविद् का विश्रान्तिस्थान, होने के कारण मुख्य परमानन्दमय प्रमातृतत्त्व वाले संवित् चक्र को प्राप्त होती हैं = उसी में विश्राम करती हैं ॥

किमेतदुपदेशेन?—इत्याशङ्क्य आह—

स्वस्थतनोरपरस्य तु ता देहाधिष्ठितं विहाय यतः ॥ ११२ ॥
आसत इति तदहंयुर्नो पूर्णो नापि चोच्छलति ।

तदितरस्य पुनः स्वस्थतनोरेवंपरामर्शशून्यतया तटस्थप्रायता दृगाद्यनुचक्रदेव्यो यतो देहाधिष्ठितं विहाय आसते—तत्र उदासीनत्वमालम्बन्ते, ततस्तत्र देहे एव अहंयुः—गृहीताभिमानो नो पूर्णः सर्वाकाङ्क्षासंक्षयादुपरतेन्द्रियवृत्तिः, नापि च उच्छलति साकाङ्क्षत्वेऽपि दृगादीन्द्रियवृत्त्यौदासीन्यात् बहिरुन्मुखो न भवेदुभयभ्रष्ट एव असौ—इत्यर्थः ॥

ननु एवमनुचक्रदेवीनां मुख्यचक्रविश्रान्त्या अनयोः किं स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

अनुचक्रदेवतात्मकमरीचिपरिपूरणाधिगतवीर्यम् ॥ ११३ ॥
तच्छक्तिशक्तिमद्युगमन्योन्यसमुन्मुखं भवति ।

दृगादिदेवीरूपाभिर्मरीचिभिः

प्रश्न—इस प्रकार तत्तत् अर्थ के ज्ञानकाल में समस्त (अनुचक्रों) का समानरूप से मुख्य चक्र के साथ तादात्म्य हो जायगा फिर इस उपदेश से क्या लाभ?—यह शङ्का कर कहते है—

और उससे भिन्न स्वस्थशरीर वाले (व्यक्ति के विषय में) वे (= अनुचक्र देवियाँ) चूँकि देहाधिष्ठान को छोड़कर रहती हैं इसलिये शरीराहङ्कारवान् वह न पूर्ण होता है न उच्छलन करता है ॥ -११२-११३- ॥

उससे भिन्न स्वस्थशरीर वाले = इस प्रकार के परामर्श से शून्य होने के कारण तटस्थप्राय, के लिये नेत्र आदि अनुचक्र देवियाँ चूँकि देहाधिष्ठान को छोड़कर रहती है अर्थात् उसमें उदासीन रहती हैं इस कारण उस शरीर में ही अहंयुः = अभिमान रखने वाला (व्यक्ति), न पूर्ण = समस्त आकांक्षा के संक्षय के कारण उपरत इन्द्रियवृत्ति वाला,' होता है और न उच्छलित होता है = साकाङ्क्ष होने पर भी नेत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति की उदासीनता के कारण बहिरुन्मुख नहीं होता । इस प्रकार उभयतः भ्रष्ट होता है ॥

प्रश्न—इस प्रकार अनुचक्र देवियों की मुख्यचक्र में विश्रान्ति से इन दोनों का क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अनुचक्र देवतात्मक किरणों के परिपूरण के द्वारा प्राप्त वीर्य वाला वह शक्ति शक्तिमान् का जोड़ा परस्पर उन्मुख होता है ॥ -११३-११४- ॥

दृक् आदि देवीरूप किरणों के द्वारा—

'येन येनाक्षमार्गेण यो योऽर्थः प्रतिभासते।
स्वावष्टम्भबलाद्योगी तद्गतस्तन्मयो भवेत् ॥'

इत्यादिनीत्या यत् परिपूरणम्, तेन लब्धनिजावष्टम्भं सत् तदेवमुक्तरूपं शक्तिशक्तिमद्युगलमन्योन्यसंमुखं भवति—सङ्घट्टमासादयेत्—इत्यर्थः ॥

ननु एवमपि अस्य किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

तद्युगलमूर्ध्वधामप्रवेशसंस्पर्शजातसङ्क्षोभम् ॥ ११४ ॥
क्षुभ्नात्यनुचक्राण्यपि तानि तदा तन्मयानि न पृथक्तु।

सङ्घट्टवेलायां हि ऊर्ध्वधामनि परानन्दमये योगिनीवक्त्रात्मनि मुख्यचक्रे समावेशतारतम्यात् जातः सम्यक् देहाद्यभिमानन्यग्भावेन क्षोभः पूर्णतालक्षणः स्वात्मचमत्कारातिशयो यस्य, एवंविधं तत् शक्तिशक्तिमल्लक्षणं युगलमनुचक्राण्यपि क्षुभ्नाति तदेकमयतयैव परामृशेत् ?—इत्यर्थः ॥

ननु देहाद्यभिमानन्यग्भावेन तत्र समाविष्टस्य क इव अनुचक्रार्थः ?—इत्याशङ्क्य उक्तम्—तानि तदा तन्मयानि न पृथक् तु इति । अथ च अत्र परस्पराहननालिङ्गनपरिचुम्बनादिलक्षणः क्षोभः ॥

'जिस-जिस इन्द्रिय मार्ग के द्वारा जो-जो विषय प्रकाशित होता है अपने अवष्टम्भ के बल से योगी तद्गत होकर तन्मय हो जाता है ।'

इत्यादि नीति के अनुसार जो परिपूरण, उसके द्वारा अपने अवष्टम्भ को प्राप्त करने वाला फलतः उक्तस्वरूप शक्तिशक्तिमान्युगल परस्पराभिमुख होता है = अन्योऽन्य के साथ सङ्घट्ट प्राप्त करता है ॥

प्रश्न—ऐसा होने पर भी इसको क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

ऊर्ध्वधामप्रवेश के संस्पर्श से उत्पन्न क्षोभ वाला वह युगल उस समय उन तन्मय को ही क्षुब्ध करता है पृथक् को नहीं ॥ -११४-११५- ॥

सङ्घट्टवेला में ऊर्ध्वधाम में = परानन्दमययोगिनीवक्त्ररूप मुख्य चक्र में, समावेश के क्रम से उत्पन्न हुआ है सम्यक् देहाभिमान के नष्ट होने से क्षोभ = पूर्णतालक्षण स्वात्मचमत्कारातिशय जिसको, ऐसा वह शक्तिशक्तिमत्लक्षण युगल अनुचक्रों को भी क्षुब्ध करता है = तदेकमय के रूप में (उनका) परामर्शन करता है ॥

प्रश्न—देह आदि में आत्माभिमान के हटने से उसमें समाविष्ट (साधक) के लिये अनुचक्र का क्या अर्थ रह जाता है?—यह आशङ्का कर कहा गया—वे (= अनुचक्र) उस समय तन्मय हो जाते हैं = अलग नहीं रहते; साथ ही यहाँ परस्पर आहनन आलिङ्गन चुम्बन आदि लक्षणों वाला क्षोभ भी होता है ।

एवमत्र परस्या एव संविदः समुदयः स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

इत्थं यामलमेतद्गलितभिदासङ्कथं यदेव स्यात् ॥ ११५ ॥
क्रमतारतम्ययोगात्सैव हि संविद्विसर्गसङ्घट्टः ।
तद्ध्रुवधामानुत्तरमुभयात्मकजगदुदारसानन्दम् ॥ ११६ ॥
नो शान्तं नाप्युदितं शान्तोदितसूतिकारणं परं कौलम् ।

विसर्गसङ्घट्ट इति—सङ्घट्टरूपो विसर्गः—इत्यर्थः । उभयात्मकेति—शिवशक्तिसामरस्यमयजगदानन्दरूपम्—इत्यर्थः । शान्तमिति—विश्वोत्तीर्णम् । उदितमिति—विश्वमयम् । परं कौलमिति—शान्तोदितादिशब्दव्यपदेश्यत्वायोगादतीव रहस्यरूपम् —इत्यर्थः । अथ च क्षेपस्य असम्पत्तेर्न शान्तं स्वस्वरूपविश्रान्त्या च न उदितं किन्तु एतदवस्थाद्वयहेतुभूतमनवच्छिन्नसंविन्मात्रसतत्त्वम्—इत्यर्थः ॥

एतदावेशे च अवश्यमवधातव्यम्—इत्याह—

अनवच्छिन्नपदेप्सुस्तां संविदमात्मसात्सदा कुर्यात् ॥ ११७ ॥
अनवच्छिन्नं परमार्थतो हि रूपं चितो देव्याः ।

कथञ्च अत्र आवेशः सिद्ध्येत् ?—इत्याशङ्क्य आह—

फिर यहाँ परसंविद् का ही (कैसे) समुदय होता है?—यह शङ्का कर कहते है—

इस प्रकार जब यह यामल, भेदसङ्कथन (= भेदवासना) से विहीन हो जाता है (तो) वही क्रमतारतम्य के योग से संवित् एवं सङ्घट्टरूप विसर्ग होता है । वह उभयात्मक जगदुदारसानन्द अनुत्तर ध्रुवधाम न शान्त है न उदित बल्कि शान्तोदित की उत्पत्ति का कारण परम कौल है ॥ -११५-११७- ॥

विसर्गसङ्घट्ट = सङ्घट्ट रूप विसर्ग । उभयात्मक = शिवशक्तिसामरस्यमय जगदानन्द रूप । शान्त = विश्वोत्तीर्ण, उदित = विश्वमय । परकौल = शान्त उदित आदि शब्दों से अव्यवहार्य अत्यन्त रहस्यस्वरूप । क्षेप (= संवरण) की सम्पत्ति (= प्राप्ति) न होने से शान्त नहीं और स्वस्वरूप में विश्रान्ति के कारण उदित नहीं किन्तु इन दोनों अवस्थाओं का हेतुभूत संविन्मात्र सतत्त्व (ही परमकौल है) ॥

इसके आवेश के विषय में अवश्य ध्यान देना चाहिये—यह कहते हैं—

अनवच्छिन्न पद को चाहने वाला सदा उस संविद् को आत्मसात् करे क्योंकि चित् देवी का रूप परमार्थतः अनवच्छिन्न है ॥ -११७-११८- ॥

इसमें आवेश कैसे सिद्ध होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

ईदृक्तादृक्प्रायप्रशमोदयभावविलयपरिकथया ॥ ११८ ॥
अनवच्छिन्नं धाम प्रविशेद्वैसर्गिकं सुभगः ।

ईदृक्तादृक्प्राययोः स्वानुभवमात्रैकरूपत्वात् तथा व्यपदेष्टुमशक्ययोः प्रशमोदययोः शान्तोदितयोः रूपयोर्यौ भावविलयावुत्पत्त्यनुत्पत्ती, तत्र

'भावे त्यक्ते निरुद्धा चिन्नैव भावान्तरं व्रजेत्।
तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यतिभावना ॥' (वि०भै० ६२)

इति भङ्ग्या परितः समन्तादामर्शनेन वैसर्गिकमनवच्छिन्नं धाम सुभगः प्रविशेत्—पूर्णपरसंविदात्मसंवित्साक्षात्कारोऽस्य सिद्ध्येत्—इत्यर्थः ॥

ननु भवतु एवम्, शान्तोदितयोस्तु रूपयोरुदय एव कथं भवेत्; किं शक्ति-गतत्वेनैव, किमुत शक्तिमद्गतत्वेनैव?—इत्याशङ्क्य आह—

शान्तोदितात्मकं द्वयमथ युगपदुदेति शक्तिशक्तिमतोः ॥ ११९ ॥

'अथ'शब्दः प्रतिवचने ॥ ११९ ॥

इयान्पुनरत्र विशेषः—इत्याह—

सुभग (साधक) इस प्रकार उस प्रकार भाव वाले शान्ति और उदय के भाव और विलय की कथा के द्वारा विसर्ग वाले अनवच्छिन्न धाम में प्रवेश करे ॥ -११८-११९- ॥

ईदृक्तादृक्प्राय = केवल आत्मानुभवमात्ररूप होने के कारण उस प्रकार के व्यवहार के अयोग्य, प्रशमोदय = शान्त उदित रूपों के जो भाव, विलय = उत्पत्ति अनुत्पत्ति, उसमें—

'भाव का त्याग होने पर निरुद्ध चित् दूसरे भाव को प्राप्त नहीं होती । तब उस मध्यभाव से अतिक्रान्तभावना का विकास होता है ।'

इस नियम से, परितः = चारो ओर, (कथा =) आमर्शन, के द्वारा, वैसर्गिक = अनवच्छिन्न धाम में, सुभग (व्यक्ति) प्रवेश करता है = इसका पूर्ण पर संवित् रूप संवित्साक्षात्कार सिद्ध हो जाता है ॥

प्रश्न—ऐसा हो जाय किन्तु (संविद् के) शान्त और उदित रूपों का उदय ही कैसे होता है?—क्या शक्ति में या शक्तिमान् में?—यह शङ्का कर कहते हैं—

शान्त और उदित ये दोनों रूप शक्ति और शक्तिमान् दोनों में साथ ही प्रकट होते हैं ॥ -११९ ॥

'अथ' शब्द उत्तर अर्थ में प्रयुक्त है ॥ ११९ ॥

इतना यहाँ विशेष है—यह कहते हैं—

रूपमुदितं परस्परधामगतं शान्तमात्मगतमेव ।

उदितं हि रूपं शक्तिशक्तिमतोरन्योन्यमौन्मुख्यानतिवृत्तेः स्वस्वमुख्यचक्राख्य-धामैक्यक्रोडीकरणेन परिस्फुरेत् । शान्तं पुनरात्मगतमेव, तथात्वे हि स्वात्मन्येव परं विश्रान्तिरुदियात् ॥

ननु एवं शक्तिशक्तिमतोरुक्तमैकात्म्यं किं न हीयेत?—इत्याशङ्क्य आह—

उभयमपि वस्तुतः किल यामलमिति तथोदितं शान्तम्॥ १२० ॥

वस्तुतो हि अपरित्यक्तैकात्म्यमपि इदं शक्तिशक्तिमल्लक्षणमुभयं शान्त-तायामात्मनि विश्राम्येत्, न तु परस्परस्य भेदाभिसन्धानेनेति । तथा आत्मगतत्वेन शान्तं रूपमुदितगुक्तम्—इत्यर्थः ॥ १२० ॥

एवमपि अनयोरयं विशेषः—इत्याह—

शक्तिस्तद्वदुचितां सृष्टिं पुष्णाति नो तद्वान् ।
शान्तोदितात्मकोभयरूपपरामर्शसाम्ययोगेऽपि॥ १२१ ॥

शान्तोदितात्मनो रूपद्वयस्य य एवं परामर्शः, तत्र साम्ययोगेऽपि शक्तिरेव पुनस्तद्वदुचितां शक्तिमदानुगुण्येन उल्लसितां सृष्टिं पुष्णाति गर्भं जनयेत्, न

उदित रूप परस्पर सङ्घट्ट के कारण प्रकट होता है और शान्तरूप केवल आत्मा में (स्थित रहता है)॥ १२०·· ॥

उदित रूप शक्ति शक्तिमान् के परस्परौन्मुख्य के अनतिक्रमण के कारण अपने-अपने मुख्यचक्र नामक धाम के ऐक्य को स्वीकार करने के कारण परिस्फुरित होता है और शान्तरूप आत्मगत ही होता है अर्थात् वैसा होने पर अपने में ही विश्रान्ति प्रकट होती है ॥

प्रश्न—ऐसा होने पर शक्ति-शक्तिमान् का कथित ऐकात्म्य क्या नष्ट नहीं होता ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

दोनों ही वस्तुतः यामल हैं फिर भी उदित और शान्त हैं ॥ -१२० ॥

वस्तुतः ऐकात्म्ययुक्त भी यह शक्तिशक्तिमान् लक्षण वाला युगल शान्तता में = अपने में, विश्रान्तिलाभ करता है न कि परस्पर भेदानुसन्धान के साथ । इस प्रकार आत्मगत रूप में शान्तरूप को उदित कहा गया है ॥ १२० ॥

ऐसा होने पर भी इन दोनों में यह अन्तर है—यह कहते हैं—

शान्त और उदित दोनों रूपों के परामर्श का साम्य होने पर भी शक्ति ही अपने योग्य सृष्टि को पुष्ट करती है शक्तिमान् नहीं ॥ १२१ ॥

शान्त और उदित इन दोनों रूपों का जो इस प्रकार का परामर्श उसमें साम्य

शक्तिमान्—इति ततोऽस्या विशेषः—इत्यर्थः ॥ १२१ ॥

ततश्च गर्भधारणादेव अस्याः सर्वत्र शास्त्रे प्रविकस्वरमध्यधामत्वमुक्तम्—इत्याह—

प्रविकस्वरमध्यपदा शक्तिः शास्त्रे ततः कथिता ।

यदभिप्रायेणैव

'तिष्ठेत्संवत्सरं पूर्णं साधको नियतव्रतः ।
सिद्धिर्भवति या तस्य सा दिनैकेन योषिताम् ॥'

इत्यादि अन्यत्र उक्तम् ॥

अतश्च इयमेव ज्ञानसङ्क्रमणे योग्या—इत्याह—

तस्यामेव कुलार्थं सम्यक् सञ्चारयेद्गुरुस्तेन ॥ १२२ ॥
तद्द्वारेण च कथितक्रमेण सञ्चारयेत नृषु ।

तेनेति—प्रविकस्वरमध्यत्वेन हेतुना—इत्यर्थः । तद्द्वारेणेति—शक्तिमुखेन । नृणां हि मध्यपदप्रविकासो नास्ति—इत्याशयः । यदभिप्रायेणैव

होने पर भी शक्ति ही तद्वद् उचित = शक्तिमान् के अनुरूप उल्लसित सृष्टि को पुष्ट करती है = गर्भ धारण करती है, शक्तिमान् नहीं । इस कारण इसकी विशेषता है ॥ १२१ ॥

इसलिये गर्भधारण के कारण ही सब शास्त्रों में इसको (= शक्ति को) प्रविकस्वर मध्यधाम कहा गया है—यह कहते हैं—

इस कारण शास्त्र में शक्ति प्रविकस्वरमध्यपद वाली कही गयी है ॥ १२२- ॥

इसी अभिप्राय से—

'यदि (पुरुष) साधक एक वर्ष तक नियम पूर्वक साधना करे तो उसको जो सिद्धि प्राप्त होती है वह (सिद्धि) स्त्रियों को (उस साधना से) एक दिन में (प्राप्त हो जाती) है ॥'

इत्यादि अन्यत्र कहा गया है ॥

इसलिये ज्ञानसंक्रमण के विषय में यही (= शक्तिरूपा योषित ही) योग्य है—यह कहते हैं—

इस कारण गुरु कौलप्रक्रिया को उसी (योषित्) में भलीभाँति सञ्चारित करे एवं उसके द्वारा उक्त क्रम से पुरुषों में सञ्चारित करे ॥-१२२-१२३-॥

इस कारण = प्रविकस्वरमध्य होने के कारण । उसी के द्वारा = शक्ति के मुख

'स्त्रीमुखे निक्षिपेत्प्राज्ञः स्त्रीमुखाद् ग्राहयेत्प्रिये ।' इति,
'स्त्रीमुखाच्च भवेत्सिद्धिः सुसिद्धं तासु तत्पदम् ।'

इति च उक्तम् ॥

एतच्च गुरुभिरपि उक्तम्—इत्याह—

स्वशरीराधिकसद्भावभावितामिति ततः प्राह ॥ १२३ ॥
श्रीमत्कल्लटनाथः प्रोक्तसमस्तार्थलब्धये वाक्यम् ।

श्रीकल्लटनाथो हि समनन्तरमेव प्रोक्तं शक्तिलक्षणात्प्रभृति समस्तमर्थं संग्रहीतुं स्वशरीरादपि स्वारसिकमध्यधामप्रविकस्वरतया अधिकेन, अत एव सता भावेन भाविताम्—संस्कृतां शक्तिं गुरुः कुर्यादिति वाक्यं प्राह—इति वाक्यार्थः ॥

एवमेतत् प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेव आह—

तन्मुख्यचक्रमुक्तं महेशिना योगिनीवक्त्रम् ॥ १२४ ॥
तत्रैष सम्प्रदायस्तस्मात्संप्राप्यते ज्ञानम् ।

से ही । क्योंकि पुरुषों में मध्य धाम का विकास नहीं होता । जिस अभिप्राय से—

'हे प्रिये ! विद्वान् को स्त्रीमुख में निक्षेप करना चाहिये और स्त्रीमुख से ही ग्रहण कराना चाहिये ।' तथा

'स्त्रीमुख से ही सिद्धि होती है क्योंकि उसमें वह (= मध्य) पद सम्यक् स्थित है ।'

कहा गया है ॥

इसे गुरुओं ने भी कहा है—यह कहते हैं—

इस कारण श्रीमान् कल्लटनाथ ने उपर्युक्त समस्त अर्थ की प्राप्ति के लिये (स्त्री को) 'अपने शरीर से अधिक सद्भाव से भावित' (करना चहिये अर्थात् अपने साथ रखना चाहिये)—इस वाक्य को कहा ॥ -१२३-१२४- ॥

श्री कल्लटनाथ ने—समनन्तरोक्त शक्तिलक्षण से लेकर समस्त अर्थ को संगृहीत करने के लिये गुरु स्वाभाविक रूप से मध्यधाम के प्रविकस्वर होने के कारण अपने शरीर से भी अधिक इसलिये सत् = भाव से भावित = शक्ति को करे—ऐसा वाक्य कहा ॥

प्रसङ्गात् इसका कथन कर प्रस्तुत को कहते हैं—

इसलिये परमेश्वर के द्वारा योगिनीवक्त्र मुख्यचक्र कहा गया । इसमें इस सम्प्रदाय का (अनुष्ठान करना चाहिये) (क्योंकि) इससे ज्ञान प्राप्त

तत् उक्तेन प्रकारेण भगवता महेश्वरेण पिचुवक्त्राद्यपरपर्यायं योगिनीवक्त्रमेव मुख्यचक्रमुक्तम् । तत्रैव एष उक्तो वक्ष्यमाणो वा सम्प्रदायोऽनुष्ठेयो यतस्तस्मात् ज्ञानं संप्राप्यते परसंवित्समावेशोऽस्य जायते—इत्यर्थः ॥

ननु अतः कीदृक् ज्ञानमाप्यते इत्युच्यताम्?—इत्याशङ्क्य आह—

तदिदमलेख्यं भणितं वक्त्राद्वक्त्रस्थमुक्तयुक्त्या च ॥ १२५ ॥
वक्त्रं प्रधानचक्रं स्वां संविल्लिख्यतां च कथम् ।

अलेख्यमिति—विकल्पयितुमशक्यम्—इत्यर्थः ॥

ननु एतत् वक्त्राद्वक्त्रस्थं तत् कथमलेख्यमित्युक्तम् ?—इत्याशङ्क्य आह—उक्तेत्यादि । वक्त्रं च

'वक्त्रं हि नाम तन्मुख्यं चक्रमुक्तं महेशिना ।
योगिनीवक्त्रं.................................... ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या प्रधानचक्रमुच्यते इति तदुभयसङ्घट्टे जायमाना स्वा अनुभूतिमात्रस्वभावा संवित् कथं लिख्यतामिति ॥

होता है ॥ -१२४-१२५- ॥

तो उक्त प्रकार से भगवान् शिव ने पिचुवक्त्र आदि अपर पर्याय वाले योगिनीवक्त्र (= योनि और लिङ्ग) को ही मुख्यचक्र कहा है । उसी में यह = उक्त या वक्ष्यमाण, सम्प्रदाय अनुष्ठित होना चाहिये क्योंकि उससे ज्ञान प्राप्त होता है = इस (साधक) को परसंवित्समावेश का लाभ होता है ॥

इससे किस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है?—यह बताइये?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वह यह (ज्ञान) अलेखनीय कहा गया है और उक्त युक्ति के अनुसार एक मुख से दूसरे मुख में स्थित होता है । वक्त्र (का अर्थ) है—प्रधान चक्र । संवित् अपने स्वरूप का उल्लेख कैसे कर सकती है ॥ -१२५-१२६- ॥

अलेख्य = विकल्पना करने के लिये असम्भव ॥

प्रश्न—यह (ज्ञान) एक वक्त्र से (दूसरे) वक्त्र में स्थित होता है फिर अलेख्य कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहा गया—उक्त.......... । और वक्त्र

'परमेश्वर के द्वारा वह मुख्य चक्र ही वक्त्र कहा गया है । योगिनीवक्त्र ही (मुख्य चक्र है) ।'

इत्यादि उक्त युक्ति के अनुसार प्रधानचक्र वक्त्र कहा जाता है । उन दोनों

कथमेतदुक्तम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

अथ सृष्टे द्वितयेऽस्मिन् शान्तोदितधाम्नि येऽनुसन्दधते ॥ १२६ ॥
प्राच्यां विसर्गसत्तामनवच्छिदि ते पदे रूढाः ।

'अथ'शब्दः प्रतिवचने । तेन शान्तोदितत्वेन द्विप्रकारे अस्मिन् समनन्तरोक्त-सतत्त्वे

'स्वातन्त्र्यान्मुक्तमात्मानं........................ ।' (१।५।१६)

इत्यादिदृष्ट्या सृष्टे स्वसमुल्लासिते धाम्नि ये प्राच्यां

'...........शान्तोदितसूतिकारणं परं कौलम् ।' (११६)

इत्याद्युक्त्या एतदवस्थाद्वयोदयहेतुभूतां तत्सङ्घट्टमयीं विसर्गसत्तामनुसन्दधते—तत्स्फारसारमेवेदं सर्वमित्यामृशन्ति, ते अनवच्छिन्ने पदे रूढाः—पूर्णे पदे विश्रान्ता—इत्यर्थः ॥

एवमेतत् मुमुक्षुविषयमभिधाय, बुभुक्षुविषयमपि आह—

ये सिद्धिमाप्तुकामास्तेऽभ्युदितं रूपमाहरेयुरथो ॥ १२७ ॥

(= वक्त्रों = लिङ्ग और योनि) के सङ्घट्ट से उत्पन्न होने वाली अपनी अनुभूतिमात्र स्वभाव वाली संवित् को कैसे लिखा जाय ॥

यह कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो लोग इस सृष्ट दो प्रकार के शान्तोदित धाम में प्राच्य विसर्गसत्ता का अनुसन्धान करते हैं वे अनवच्छिन्न पद में आरूढ होते हैं ॥ -१२६-१२७- ॥

'अथ' शब्द उत्तर देने (अर्थ) में है । इससे शान्त और उदित रूप से दो प्रकार के इस समनन्तरोक्त—

'स्वातन्त्र्य के कारण मुक्त अपने को.......... ।'

इत्यादि दृष्टि से सृष्ट = स्वसमुल्लसित धाम में जो लोग प्राच्य—

'.............शान्त एवं उदित की उत्पत्ति का कारण पर कौल है ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार इन दोनों अवस्थाओं की कारणभूत उनकी सङ्घट्टमयी विसर्ग सत्ता का अनुसन्धान करते हैं = यह सब इसी का स्फार है—ऐसा आमर्श करते हैं, वे अनवच्छिन्न पद पर आरूढ हो जाते हैं = पूर्ण पद में विश्रान्त हो जाते हैं ॥

मुमुक्षुविषयक इसका (= अनुसन्धान का) कथन कर इसके बुभुक्षुविषयक (रूप) को भी कहते हैं—

तेनैव पूजयेयुः संविन्नैकट्यशुद्धतमवपुषा ।

ये पिण्डस्थैर्यादिरूपां सिद्धिमाप्तुकामाः ते तदभ्युदितं रूपं कुण्डगोलकादि-शब्दव्यपदेश्यमाहरेयुः । अथ तेनैव अभ्युदितेन रूपेण

'आनन्दो ब्रह्मणो रूपं...................... ।'

इति श्रुतेरानन्दमयतया संविन्नैकट्यात्

'तस्माद्यत्संविदो नातिदूरे तच्छुद्धमाहरेत् ।'

इति नीत्या शुद्धतमवपुषा पूजयेयुः—देवीचक्रं तर्पयेयुः—इत्यर्थः ॥

कथञ्च अत्र आहरणादि स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

तदपि च मिथो हि वक्त्रात्प्रधानतो वक्त्रगं यतो भणितम् ॥ १२८॥
अजरामरपददानप्रवणं कुलसंज्ञितं परमम् ।

तदपि च अभ्युदितं रूपं यतः

'स्वदेहावस्थितं द्रव्यं रसायनवरं शुभम् ।'

जो लोग सिद्धि चाहने वाले हैं वे उक्त रूप का आहरण करें और संवित् की निकटता के कारण शुद्धतम शरीर से उसी रूप से पूजन करें ॥ -१२७-१२८- ॥

जो लोग शरीर की स्थिरता आदि सिद्धि को प्राप्त करना चाहते हैं वे उस कुण्ड गोलक आदि शब्दों से व्यवहार्य उक्तरूप = का आहरण करें । फिर उसी पूर्वोक्त रूप से

'आनन्द ब्रह्म का रूप है............ ।'

इस श्रुति से आनन्दमय होने से संवित् की निकटता के कारण—

'इस कारण जो संवित् से अत्यन्त दूर नहीं है उस शुद्ध (शरीर) का आहरण करे ।'

इस नीति के अनुसार शुद्धतम शरीर से पूजा करें = देवीचक्र का तर्पण करें ॥

आहरण आदि यहाँ कैसे होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वह भी (इस प्रकार) क्योंकि परस्पर प्रधानवक्त्र से (अन्य) वक्त्रगामी कहा गया है इसलिये वह कुल नामक परम (तत्त्व) अजरामर पद को देने में प्रवण (कहा गया) है ॥ -१२८-१२९- ॥

वह = उक्त रूप, चूँकि—

इत्यादिदृशा देहे एव अवस्थानात् कुलसंज्ञितमत एव परमम्, अत एव

'शिवः प्रशस्यते नित्यं पूजाख्यं त्रिदशार्चितम् ।
येन प्राशितमात्रेणामरो भवति मानवः ॥
अथवा मिश्रितं देवि भुङ्क्ते यः सततं नरः ।
वलीपलितनिर्मुक्तो योगिनीनां प्रियो भवेत् ॥'

इत्यादिनयेन अजरामरपददानप्रवणं प्रधानतो वक्त्रात् = योगिनीवक्त्रात् मिथः = परस्परस्य, वक्त्रगं भणितम् = सर्वशास्त्रेषु उक्तम्—इत्यर्थः । एतद्धि योगिनीवक्त्रात् स्ववक्त्रे, ततः शक्तिवक्त्रे, ततः स्ववक्त्रे, ततोऽपि अर्घपात्रादौ निक्षिपेत्—इति गुरवः । यदागमोऽपि

'विद्राव्य गोलकं तत्र कुण्डं च तनुमध्यमे ।
तत्स्थं गृह्य महाद्रव्यं मुखेन तनुमध्यमे ॥
तद्वक्त्रगं ततः कृत्वा पुनः कृत्वा स्ववक्त्रगम् ।
पात्रं प्रपूरयेत्तेन महाल्यम्बुविमिश्रितम् ॥
तेनार्घपात्रं कुर्वीत सर्वसिद्धिफलप्रदम् ॥' इति,
'वक्त्राद्वक्त्रप्रयोगेण समाहृत्य महारसम् ।
तेन सन्तर्पयेच्चक्रं देवतावीरसंयुतम् ॥' इति,

'अपने शरीर में स्थित द्रव्य (= वीर्य) शुभ श्रेष्ठ रसायन है ।'

इत्यादि दृष्टि से देह में ही स्थित होने के कारण कुल नाम वाला है इसलिये परम है । इसीलिये—

'शिव नित्य ही प्रशंसा का विषय है । (वह) पूजा नाम वाला, देवताओं द्वारा पूजित है । जिसका केवल प्राशन करने से मनुष्य अमर हो जाता है । अथवा हे देवि ! जो मनुष्य निरन्तर (मद्य से) मिश्रित (उस वीर्य को) खाता है वह वली एवं पलित से रहित होकर योगिनियों का प्रिय हो जाता है ।'

इत्यादि नीति के अनुसार अजरामर पद देने में प्रवण (= कुशल) प्रधानवक्त्र = योगिनी वक्त्र, से मिथः = परस्पर, का वक्त्रगामी कहा गया है = सब शास्त्रों में उक्त है । इसका योगिनीवक्त्र से अपने वक्त्र में, फिर शक्तिवक्त्र में, फिर अपने वक्त्र में फिर अर्घपात्र में निक्षेप करना चाहिये—ऐसा (हमारे) गुरु (कहते हैं) । आगम भी है—

'हे तनुमध्यमे ! कुण्ड और गोलक को विद्रावित कर उसमें स्थित महाद्रव्य (= वीर्य) का अपने मुख से ग्रहण कर उसके मुख में डालकर फिर अपने मुख में रखे । फिर उसे महाल्यम्बु (= उत्कृष्ट शराब) से मिश्रित कर उसके मुख में डाल कर फिर उससे (= शराब मिश्रित वीर्य से) पात्र को पूरा करें। फिर उससे सर्वसिद्धिफलदायी अर्घपात्र बनाये । एक मुख से दूसरे मुख में प्रयोग के द्वारा

'ततो दूतीं क्षोभयित्वा यस्येच्छा संप्रवर्तते ।
तदुत्थं द्रव्यनिचयं प्राशयेच्च परस्परम् ॥' इति,
'उभयोत्थेन वीर्येण मन्त्रविद्यां यजेत्तथा ।' इति ॥

एवमेतत् ज्ञानिविषयमभिधाय, कर्मिविषयमपि आह—

येऽप्यप्राप्तविबोधास्तेऽभ्युदितोत्फुल्लयागसंरूढाः ॥ १२९ ॥
तत्परिकल्पितचक्रस्थदेवताः प्राप्नुवन्ति विज्ञानम् ।

अप्राप्तविबोधा इति—अप्ररूढज्ञानाश्चर्यामार्गनिष्ठाः—इत्यर्थः ॥

तत्रैव चक्रस्थानां देवतानां परिकल्पनां दर्शयति—

ते तत्र शक्तिचक्रे तेनैवानन्दरसमयेन बहिः ॥ १३० ॥
दिक्षु चतसृषु प्रोक्तक्रमेण गणनाथतः प्रभृति सर्वम् ।
संपूज्य मध्यमपदे कुलेशयुग्मं त्वरात्रये देवीः ॥ १३१ ॥
बाह्ये प्रत्यरमथ किल चतुष्कमिति रश्मिचक्रमर्कारम् ।
अष्टकमष्टाष्टकमथ विविधं संपूजयेत्क्रमेण मुनिः ॥ १३२ ॥

महारस (= शराब मिश्रित वीर्य) का समाहरण कर उससे देवतावीर से युक्त चक्र का तर्पण करे ।' तथा—

'इसके बाद दूती को क्षुब्ध करा कर (उसे) जिस वस्तु की इच्छा हो उससे उत्पन्न द्रव्यसमूह का परस्पर प्राशन करे ।' तथा

'दोनों के द्वारा उत्पन्न वीर्य से मन्त्रविद्या का पूजन करे' ॥

ज्ञानीविषयक इसका कथन कर कर्मीविषयक भी इसको कहते हैं—

जो लोग ज्ञान को प्राप्त करने वाले नहीं है वे पूर्वोक्त उत्फुल्ल याग में संरूढ होकर उसमें देवताचक्र की कल्पना करके विज्ञान को प्राप्त करते हैं ॥ -१२९-१३०- ॥

अप्राप्तविबोध = अप्ररूढ ज्ञान वाले केवल चर्या में लगे हुये ॥

उसमें चक्रस्थ देवताओं की परिकल्पना दिखलाते हैं—

वे लोग उस शक्तिचक्र में (जैसे पूजा करते हैं) उसी आनन्दरसमय रूप से बाहर चारो दिशाओं में उक्त क्रम से गणेश से लेकर सबकी पूजा करे । मध्यम पद में कुलेशयुगल (= कुलेश्वर और कुलेश्वरी) की, बाह्य तीनों अराओं में (परा आदि तीन) देवियों की प्रत्येक अरों में पूजा होती है। प्रत्येक अरा में चार रश्मिचक्र (की पूजा की जाती है)। पहला रश्मिचक्र द्वादशार, दूसरा अष्टार, तीसरा अष्टाष्टक (= षोडशार) (और

शक्तिचक्रे इति—शक्तेः संबन्धिनि योगिनीवक्त्रात्मनि मुख्यचक्रे—इत्यर्थः । तेनैवेति—अभ्युदितेन रूपेण । प्रोक्तेति—नित्यार्चाभिधानावसरे । अर्कारमिति—द्वादशारम् ॥ १३२ ॥

न केवलमेतत् शक्तिचक्रे एव पूज्यं यावत्स्वस्मिन्नपि—इत्याह—

निजदेहगते धामनि तथैव पूज्यं समभ्यस्येत् ।

ननु सङ्घट्टाभ्युदितोभयात्मकं विसर्गमनुसन्दधतामनवच्छिदि पदे प्ररोहो विज्ञान-प्राप्तिश्च भवेदित्युक्तम्, शान्तात्मनि विसर्गे पुनः प्ररूढानां का गतिः ?—इत्याशङ्क्य आह—

यत्तच्छान्तं रूपं तेनाभ्यस्तेन हृदयसंवित्त्या ॥ १३३ ॥
शान्तं शिवपदमेति हि गलिततरङ्गार्णवप्रख्यम् ।

एतीति अभ्यस्तशान्तरूपः । शान्तत्वमेव स्फुटीकृतम्—गलिततरङ्गार्णव-प्रख्यमिति ॥

ननु एवं च अस्य किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

चौथा देवीचक्र पूजित होता है) (इस प्रकार) आचार्य क्रम से विविध (चक्रों) की पूजा करे ॥ -१३०-१३२ ॥

शक्तिचक्र में = शक्तिसम्बन्धी योगिनीवक्त्ररूप मुख्य चक्र में, उसी से = उक्तरूप से । प्रोक्त—नित्यपूजा के कथन के अवसर पर । अर्कार = द्वादशार ॥ १३२ ॥

केवल शक्तिचक्र में ही नहीं बल्कि अपने चक्र में भी इसकी पूजा करनी चाहिये—यह कहते हैं—

अपने शरीरस्थ धाम में भी उसी प्रकार पूज्य का अभ्यास करना चाहिये ॥ १३३- ॥

प्रश्न—सङ्घट्ट और अभ्युदित दोनों प्रकार के विसर्गों का अनुसन्धान करने वालों का अनवच्छिन्न पद में प्ररोह और विज्ञान की प्राप्ति होती है—ऐसा कहा गया। शान्त विसर्ग में प्ररूढ लोगों की क्या गति होगी?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो वह शान्त रूप है, हृदय संविद् के द्वारा अभ्यस्त उससे (साधक) शान्त तरङ्गों वाले समुद्र के समान शान्त शिवपद को प्राप्त करता है ॥ -१३३-१३४- ॥

प्राप्त करता है—अभ्यस्त शान्तरूप वाला । शान्ति ही स्पष्ट की गयी—गलित तरङ्गार्णवप्रख्य शब्द के द्वारा ॥

तच्छान्तपदाध्यासाच्चक्रस्थो देवतागणः सर्वः ॥ १३४ ॥
तिष्ठत्युपरतवृत्तिः शून्यालम्बी निरानन्दः ।

उपरतवृत्तिरिति—सर्वभावसंक्षायात्, अत एव उक्तम्—शून्यालम्बीति,

अत एवं

'..........................निरालम्बः परः शिवः ।'

इति दृशा शिवपदविश्रान्त्या निरानन्दः ॥

न केवलं मध्यचक्रस्थ एव देवतागण एवमास्ते, यावदनुचक्रस्थोऽपि—इत्याह—

योऽप्यनुचक्रदृगादिस्वरूपभाक् सोऽपि यत्तदायत्तः ॥ १३५ ॥
तेनानन्दे मग्नस्तिष्ठत्यानन्दसाकाङ्क्षः ।

अनुचक्रदृगादिस्वरूपभागिति—अर्थात् देवतागणः । तदायत्त इति—मुख्यचक्रस्थदेवतागणवशः । तेनेति—तदायत्तत्वेन ॥

ननु एवमनुचक्रदेवतागणोऽपि निरानन्दे एव पदे विश्रान्तोऽस्तु, किमस्य

प्रश्न—ऐसा होने पर इसको क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस शान्त पद के अध्यास से चक्रस्थ समस्त देवतागण उपरतवृत्ति वाला, शून्य का आलम्बन करने वाला और आनन्दरहित होकर स्थित होता है ॥ -१३४-१३५- ॥

उपरतवृत्ति वाला = समस्त भावों के नष्ट होने के कारण । इसीलिये कहा गया—शून्यालम्बी । इसीलिये—

'...................पर शिव निरालम्ब है ।'

इस दृष्टि से शिवपद में विश्रान्ति के कारण निरानन्द (होता) है ॥

केवल मुख्यचक्रस्थ ही नहीं इन्द्रियचक्र में रहने वाले भी देवतागण ऐसे रहते हैं—यह कहते हैं—

जो भी (देवतागण) अनुचक्र = नेत्र आदि स्वरूप का भागी होता है वह भी चूँकि उसके अधीन है इसलिये आनन्दसाकाङ्क्ष वह भी आनन्द में मग्न रहता है ॥ -१३५-१३६- ॥

अनुचक्र दृग् आदि स्वरूप का भागी = देवता गण । उसके अधीन = मुख्यचक्रस्थ देवसमूह के वश में । इससे = उनके अधीन होने से ॥

प्रश्न—इन्द्रिय देवगण भी निरानन्द पद में ही विश्रामलाभ करें इनके आनन्द-

आनन्दसाकाङ्क्षत्वेन?—इत्याशङ्क्य आह—

परतत्स्वरूपसङ्घट्टमन्तरेणैष करणरश्मिगणः ॥ १३६ ॥
आस्ते हि निःस्वरूपः स्वरूपलाभाय चोन्मुखितः ।

एष दृगाद्यात्मा करणदेवतागणो हि परे—स्वानन्दनिर्भरतया सर्वोत्कृष्टे, तस्मिन् समनन्तरोक्तसतत्त्वे प्रमात्रात्मनि संविद्रूपे विश्रान्तिं विना निःस्वरूपो निज-निजार्थाहरणादावक्षमः स्वरूपं लब्धुमुन्मुखितश्च आस्ते आनन्दसाकाङ्क्षो भवेत्—इत्यर्थः ॥

एवंविधश्च अयं करणरश्मिगणः किं कुर्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

रणरणकरसान्निजरसभरितबहिर्भावचर्वणवशेन ॥ १३७ ॥
विश्रान्तिधाम किञ्चिल्लब्ध्वा स्वात्मन्यथार्पयते ।

एष करणरश्मिगणो हि अभिलाषाभिष्वङ्गात् निजरसभरितानां स्वसंविन्मयतयैव बहिरवभासितानां भावानां यत् चर्वणम् = रक्तिः, तद्वशेन स्वावमर्शरूपं किञ्चित् विश्रान्तिधाम लब्ध्वा अनन्तरमर्थात् चर्वितमेव भावजातं स्वात्मनि अर्पयते

'निजनिजभोगाभोगप्रविकासिनिजस्वरूपपरिमर्शे ।
क्रमशोऽनुचक्रदेव्यः संविच्चक्रं हि मध्यमं यान्ति ॥' (११२)

साकाङ्क्ष होने से क्या लाभ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यह इन्द्रियदेवतागण परप्रमातृस्वरूप के सङ्घट्ट के बिना निःस्वरूप और स्वरूपलाभ के लिये उन्मुखित रहता है ॥ -१३६-१३७- ॥

यह नेत्रादिरूप करणदेवतागण पर = स्वानन्द निर्भर होने के कारण सर्वोत्कृष्ट, उस = समनन्तरोक्त प्रमातात्मक संविद्रूप, में विश्रान्ति के बिना निःस्वरूप = अपने-अपने अर्थ के आनयन आदि में अक्षम, और स्वरूप को प्राप्त करने के लिये उन्मुख अर्थात् आनन्दसाकाङ्क्ष रहते हैं ॥

इस प्रकार का यह करण देवगण क्या करता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(यह देवगण) अभिलाषा के कारण अपने रस से पूर्ण बाहरी भावों की चर्वणा के कारण कुछ-कुछ विश्रान्तिधाम को प्राप्त कर फिर (उस पदार्थ को) अपनी आत्मा में अर्पित कर देता है ॥ -१३७-१३८- ॥

यह करणरश्मिसमूह अभिलाष की तीव्रता के कारण अपने रस से भरित स्वसंविन्मय रूप से ही बाहर अवभासित पदार्थों का जो चर्वण = राग, उसके वश से स्वावमर्श रूप कुछ विश्रान्तिधाम को प्राप्त कर बाद में अर्थात् चर्वित पदार्थसमूह को स्वात्मा में अर्पित करता है ।

'निजनिज..................यान्ति ।' (तं.आ. २९।११२)

इत्यादिदृशा प्रमात्रात्मनि मुख्ये संविच्चक्रे विश्रान्तिं भजते—इत्यर्थः ॥

ननु एवं तद्विश्रान्त्या अस्य किं स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

तन्निजविषयार्पणतः पूर्णसमुच्छलितसंविदासारः ॥ १३८ ॥
अनुचक्रदेवतागणपरिपूरणजातवीर्यविक्षोभः ।
चक्रेश्वरोऽपि पूर्वोक्तयुक्तितः प्रोच्छलेद्रभसात् ॥ १३९ ॥

चक्राणां हि विश्रान्तिधामत्वादीश्वरः प्रमातापि निजनिजविषयार्पणवशादनुचक्रदेवतागणेन यत् परिपूरणं तेन जातवीर्यविक्षोभो व्यक्तनिजावष्टम्भः, अत एव पूर्णसमुच्छलितसंविदासारः पूर्वम्

'अनुचक्रदेवतात्मकमरीचिपरिपूरणधिगतवीर्यम् ।
तच्छक्तिशक्तिमद्युगमन्योन्यसमुन्मुखं भवति ॥' (११३)

इत्याद्युक्तयुक्तितो रभसात् प्रोच्छलेत्—सहसैव बहिरुन्मुखः स्यात्—इत्यर्थः ॥ १३९ ॥

प्रकृतमेव उपसंहरति—

त्रिविधो विसर्ग इत्थं सङ्घट्टः प्रोदितस्तथा शान्तः ।

त्रिषु प्रकारेषु विसर्गशब्दस्य प्रवृत्तौ निमित्तं दर्शयति—

इत्यादि दृष्टि से प्रमातारूप मुख्य संवित्चक्र में विश्राम करता है ॥

प्रश्न—उस विश्रान्ति से इसको क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस अपने विषय के अर्पण के कारण पूर्ण समुच्छलित संविद् के आसार वाला तथा अनुचक्र देवगण के (अपने विषयों के) परिपूरणा के कारण उत्पन्न वीर्यक्षोभ वाला चक्रेश्वर भी पूर्वोक्त युक्ति से झट से प्रोच्छलित हो जाता है ॥ -१३८-१३९ ॥

विश्रान्तिधाम होने के कारण चक्रों का ईश्वर = प्रमाता, भी अपने-अपने विषयों के अर्पणवश अनुचक्रदेवतागण के द्वारा जो परिपूरण, उससे उत्पन्न जो वीर्यक्षोभ = व्यक्त अपना अवष्टम्भ, इसलिये पूर्णसमुच्छलित संविद् आसार वाला, पहले—

'अनुचक्र.......................भवति ।' (तं.आ. २९।११३)

इत्यादि उक्त युक्ति के अनुसार झट से प्रोच्छलित होता है = सहसा बाहर उन्मुख होता है ॥ १३९ ॥

प्रस्तुत का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार विसर्ग तीन प्रकार का होता है—सङ्घट्ट, उदित और शान्त ॥ १४०- ॥

विसृजति यतो विचित्रः सर्गो विगतश्च यत्र सर्ग इति॥ १४० ॥

यत इति हेतौ ॥ १४० ॥

न च एतदस्मदुपज्ञमेव—इत्याह—

श्रीतत्त्वरक्षणे श्रीनिगमे त्रिशिरोमते च तत्रोक्तम् ।

तत्र

'तत्त्वरक्षाविधानेऽतो विसर्गत्रैधमुच्यते ।'

इत्यादिना तत्त्वरक्षाविधानस्य प्राक्संवादितत्वात् तद्ग्रन्थमनुक्त्वैव, श्रीगमशास्त्रं संवादयति—

कुण्डं शक्तिः शिवो लिङ्गं मेलकं परमं पदम् ॥ १४१ ॥
द्वाभ्यां सृष्टिः संहृतिस्तद्विसर्गस्त्रिविधो गमे ।

कुण्डम्—भगवच्छक्तिरुदितं रूपम्, शिवः शान्तम्, मेलकम् = सङ्घट्टः । तत्रोदितत्वादेव शक्त्या सृष्टेः, शान्तत्वादेव शिवेन संहारस्य, परमं पदमित्युक्त्या सङ्घट्टेन सर्वावच्छेदविरहादनाख्यस्य च उदय इत्ययं गमशास्त्रे त्रिविधो विसर्गः ॥

तीनों प्रकारों में विसर्ग शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त दिखलाते हैं—

चूँकि यह विचित्र सृष्टि को उत्पन्न करता है और जिसमें सृष्टि विलीन हो जाती है (इस कारण वह विसर्ग है)॥ -१४० ॥

यतः—हेतु अर्थ में है ॥ १४० ॥

यह हमारा उपज्ञ नहीं है—यह कहते हैं—

श्री तत्त्वरक्षाविधान, श्रीगमशास्त्र तथा त्रिशिरोभैरव में यह कहा गया है ॥ १४१- ॥

उनमें से—

'इस कारण तत्त्वरक्षाविधान में तीन प्रकार का विसर्ग कहा जाता है ॥'

इत्यादि के द्वारा तत्त्वरक्षाविधान के पहले ही संवादित हो जाने के कारण उस ग्रन्थ को न कह कर श्रीगम शास्त्र को कहते हैं—

कुण्ड ही शक्ति है, लिङ्ग शिव है और मेलक (जो कि) परम पद है (मे से) दो (= शक्ति और शिव) के द्वारा सृष्टि और संहार होता है । इस प्रकार गम शास्त्र में तीन प्रकार का विसर्ग (कहा गया) है ॥ -१४१-१४२- ॥

कुण्ड = भगवान् की शक्ति (यह परमेश्वर का) उदित रूप है, शिव शान्त

एवं गमशास्त्रं संवादयित्वा श्रीत्रिशिरोभैरवमपि संवादयति—

स्रोतोद्वयस्य निष्ठान्तमूर्ध्वाधश्चक्रबोधनम् ॥ १४२ ॥
विश्रामं च समावेशं सुषीणां मरुतां तथा ।
गतभेदं च यन्त्राणां सन्धीनां मर्मणामपि ॥ १४३ ॥
द्वासप्ततिपदे देहे सहस्रारे च नित्यशः ।
गत्यागत्यन्तरा वित्ती सङ्घट्टयति यच्छिवः ॥ १४४ ॥
तत्प्रयत्नात्सदा तिष्ठेत्सङ्घट्टे भैरवे पदे ।
उभयोस्तन्निराकारभावसंप्राप्तिलक्षणम् ॥ १४५ ॥
मात्राविभागरहितं सुस्फुटार्थप्रकाशकम् ।

इह नित्यमूर्ध्वाधोवर्तिनां चक्राणां सुषीणां यन्त्राणां सन्धीनां मर्मणां मरुतां च गतभेदमत एव दक्षवामवाहात्मनः स्रोतोद्वयस्य निष्ठान्तं मध्यधामविश्रान्तिपर्यन्तं बोधनं विश्रामं समावेशं च विधाय, द्वासप्ततिपदे सहस्रारे देहे

'द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीनां नाभिचक्रके ।'

इत्याद्युक्त्या तावन्नाडिसम्भिन्ने नाभिदेशे प्राणापानत्रोटनेन अन्तरा गृहीत-

---

तथा मेलक सङ्घट्ट है । उनमें से उदित होने के कारण शक्ति के द्वारा सृष्टि का, शान्त होने के कारण शिव के द्वारा संहार का, 'परम पद' इस उक्ति के अनुसार सङ्घट्ट के द्वारा सर्वविच्छेदराहित्य होने के कारण अनाख्य का उदय होता है । इस प्रकार गमशास्त्र में तीन प्रकार का विसर्ग (कहा गया) है ॥

गमशास्त्र को संवादित कर त्रिशिरोभैरव को भी संवादित करते हैं—

सुषियों (= छिद्रों), मरुतों, यन्त्रों, सन्धियों और मर्मों का भेदरहित अत एव दो स्रोतों (= इडा, पिङ्गला) का निष्ठा (= सुषुम्ना) पर्यन्त ऊर्ध्वअधःचक्रबोधन विश्राम और समावेश करके बहत्तर (हजार नाड़ियों या बिन्दुओं) वाले देह और सहस्रार में प्रतिदिन (प्राण अपान के) गमन— आगमन के बीच, शिवावेश वाला (साधक) जो दो ज्ञानों (= शान्त और उदित) को सङ्घटित करता है, को उसमें प्रयत्नपूर्वक सदा सङ्घट्टात्मक भैरवपद में स्थित रहना चाहिये । क्योंकि उन दोनों का वह रूप निराकार भाव की प्राप्ति लक्षण वाला (अत एव) मात्राविभागरहित सुस्फुट अर्थ का प्रकाशक है ॥ -१४२-१४६- ॥

नित्य ऊर्ध्वाधःवर्त्ती चक्रों छिद्रों यन्त्रों सन्धियों मर्मों तथा मरुतों का भेदरहित अत एव दायें बायें प्रवाह वाले दो स्रोतों का निष्ठापर्यन्त = मध्यधामपर्यन्त, बोधन विश्राम और समावेश करके बहत्तर पद वाले सहस्रार देह में—

'नाभिचक्र में बहत्तर हजार नाडियाँ हैं ।'

शिवावेशः शान्तोदितात्मिके वित्ती यत् सङ्घट्टयति तदुभयमेलनादिस्वरूपे प्रोन्मुखो भवेत्, ततः पूर्णसंविद्रूपे सङ्घट्टे पदे सर्वकालं प्रयत्नतस्तिष्ठेत्—तत्रैव सावधानो भवेत्—इत्यर्थः । यतस्तदुभयोः शान्तोदितलक्षणयो रूपयोः प्रतिनियतपदे सकलाकाराद्यवच्छेदशून्यत्वात् निराकारत्वापत्तिसतत्त्वमत एव निरंशत्वात् मात्राविभागरहितमत एव सुस्फुटस्य स्वानुभवमात्रैकरूपस्य अर्थस्य प्रकाशकम् = अभिव्यञ्जकम्—इत्यर्थः ॥

अत्रैव च दार्ढ्यं कार्यम्—इत्याह—

अभ्यस्येद्भावसंवित्तिं सर्वभावनिवर्तनात् ॥ १४६ ॥
सूर्यसोमौ तु संरुध्य लयविक्षेपमार्गतः ।

सर्वेभ्यश्चक्रादिभ्यो भावेभ्यो निवर्त्य दक्षवाममार्गाभ्यां प्राणापानौ निरुध्य मध्यधाम्नि सर्वभावानुस्यूतां तत्सङ्घट्टमयीं प्रमातृरूपां संवित्तिमभ्यस्येत्—तदामर्शपर एव स्यात्—इत्यर्थः । वित्तीरिति पाठे तु शान्तोदितात्मिका एवेति व्याख्येयम् ॥

तदेवमत्र त्रिविधेऽपि विसर्गे समावेशभाजां यः कश्चन स्वारसिकः परामर्शः परिस्फुरति तदेव परं मन्त्रवीर्यम्—इत्याह—

इत्यादि उक्ति के अनुसार उतनी नाडियों से युक्त नाभिदेश में प्राण और अपान को पृथक् करने से बीच में शिवावेश का ग्रहण करने वाला (साधक) शान्त और उदित रूप दो ज्ञानों को जो सङ्घटित करता है = उन दोनों के मेलन आदि रूप में उन्मुख होता है, इससे पूर्णसंविद्रूप सङ्घट्ट वाले पद में सब समय प्रयत्नपूर्वक स्थित होना चाहिये = उसी में सावधान होना चाहिये । क्योंकि वे ही शान्तोदित लक्षण वाले दोनों रूप निश्चित पद में समस्त आकार आदि अवच्छेद से शून्य होने के कारण निराकारत्व की प्राप्ति वाले अत एव निरंकुश होने के कारण मात्राविभाग से रहित अत एव सुस्फुट = स्वानुभवमात्र रूप, अर्थ के प्रकाशक = अभिव्यञ्जक हैं ॥

इसी में दृढ़ता करनी चाहिये—यह कहते हैं—

समस्त भावों को हटाकर सूर्य और सोम को लय और विक्षेप के मार्गों से रोक कर भावसंवित्ति का अभ्यास करे ॥ -१४६-१४७- ॥

समस्त चक्र आदि भावों से हटकर दायें बायें (= पिङ्गला, इडा) मार्ग से प्राण और अपान का निरोध कर मध्यधाम (= सुषुम्ना) में समस्त भावों से अनुस्यूत उनके सङ्घट्ट वाली प्रमातृरूपा संविद् का अभ्यास करे = उसके आमर्शन में लग जाय । 'वित्तीः' ऐसे पाठ का शान्तोदितात्मिका ही' ऐसी व्याख्या करनी चाहिये ॥

तो इस प्रकार तीनों प्रकार के विसर्ग में समावेश वालों का जो कोई

एवं त्रिविधविमर्शावेशसमापत्तिधाम्नि य उदेति ॥ १४७ ॥
संवित्परिमर्शात्मा ध्वनिस्तदेवेह मन्त्रवीर्यं स्यात् ।
तत्रैवोदिततादृशफललाभसमुत्सुकः स्वकं मन्त्रम् ॥ १४८ ॥
अनुसन्धाय सदा चेदास्ते मन्त्रोदयं स वै वेत्ति ।

यः कश्चिदेवंविसर्गावेशशाली सङ्घट्टवेलायामुदितमनुभवमात्रैकगोचरत्वात्तादृशं वक्तुमशक्यं यदानन्दनिर्भरं फलं तल्लाभे समुत्सुकः सन्नभीष्टं मन्त्रं सदा, न तु क्षणमात्रं, तत्रैव संवित्परामर्शात्मनि अहञ्चमत्कारमये ध्वनावनुसन्धाय चेदास्ते, स तत्र मन्त्रोदयं वेत्ति—उदितोऽस्य मन्त्रः स्यात्—इत्यर्थः ॥

भूयो भूयश्च अत्रैव भावनापरेण भाव्यं येन मध्यचक्रे एव ऐकाग्र्यं सिद्ध्येत्—इत्याह—

अत्रैव जपं कुर्यादनुचक्रैकत्वसंविदागमने ॥ १४९ ॥
युगपल्लक्षविभेदप्रपञ्चितं नादवृत्त्यैव ।

'क्रमशोऽनुचक्रदेव्यः संविच्चक्रं हि मध्यमं यान्ति ।' (११२)

इत्यादिदृशा युगपदनुचक्रदेवीनामेकत्वेन मुख्यचक्ररूपायां संविदि यदागमनं

स्वाभाविक परामर्श स्फुरित होता है वही परम मन्त्र वीर्य है—यह कहते हैं—

इस प्रकार त्रिविध विमर्शावेश की प्राप्ति वाले धाम में जो संवित्परामर्श वाली ध्वनि उत्पन्न होती है वही यहाँ मन्त्रवीर्य है । उसी में उदित उस प्रकार के फललाभ के लिये उत्सुक (साधक) यदि अपने मन्त्र का अनुसन्धान कर स्थित रहता है तो वह मन्त्रोदय को जानता है ॥ -१४७-१४९- ॥

जो कोई ऐसा विसर्गावेश वाला सङ्घट्टवेला में प्रकट अनुभवमात्रैकगोचर होने के कारण उस प्रकार का अवर्णनीय जो आनन्दप्रपूर्ण फल, उसके लाभ में उत्सुक होता हुआ अभीष्ट मन्त्र का सदा, न कि क्षणमात्र, उसी में = संवित्परामर्शात्मक अहंचमत्कारमय ध्वनि में, अनुसन्धान करके स्थित रहता है वह उसमें मन्त्रोदय को जानता है = इसको मन्त्र उदित हो जाता है ॥

इसी की बार-बार भावना करनी चाहिये जिससे कि मध्यचक्र में एकाग्रता सिद्ध हो जाय—यह कहते हैं—

अनुचक्र के साथ एकत्वयुक्त संविद् में आगमन के निमित्त नादामर्श के साथ ही इसी (ध्वनि या मन्त्र) में एक साथ लाख के भेद से (= विस्तृत) जप करना चाहिये ॥ -१४९-१५०- ॥

'क्रमशो..................यान्ति ।' (तं.आ. २९।११२)

विश्रान्तिस्तन्निमित्तमत्रैव संवित्परामर्शात्मनि उदीयमाने मन्त्रे नादामर्शमात्रमयतया

'उदये सङ्गमे शान्तौ त्रिलक्षो जप उच्यते ।'

इत्याद्युक्तेन लक्षविभेदेन प्रपञ्चितं जपं कुर्यात्—भूयो भूयोऽनुसन्धानं विदध्यात्—इत्यर्थः ॥

इदमेव च मुद्राणामपि परं वीर्यमिति अन्यत्र उक्तम्—इत्याह—

श्रीयोगसञ्चरेऽपि च मुद्रेयं योगिनीप्रिया परमा ॥ १५० ॥
कोणत्रयान्तराश्रितनित्योन्मुखमण्डलच्छदे कमले ।
सततावियुतं नालं षोडशदलकमलकलितसन्मूलम्॥ १५१ ॥
मध्यस्थनालगुम्फितसरोजयुगघट्टनक्रमादग्नौ ।
मध्यस्थपूर्णसुन्दरशशधरदिनकरकलौघसङ्घट्टात् ॥ १५२ ॥
त्रिदलारुणवीर्यकलासङ्गान्मध्येऽङ्कुरः सृष्टिः ।

कोणत्रयान्तर्वर्ति नित्योन्मुखं सदैव प्रविकस्वरं यत्

'त्रिदलं भगपद्म तु .... ।'

इत्याद्युक्त्या मण्डलच्छदं त्रिदलं पौस्नं स्त्रैणं वा भगकमलं तत्र

इत्यादि दृष्टि से एक साथ अनुचक्र देवियों के एक होने से मुख्यचक्र रूपा संविद् में जो आगमन = विश्रान्ति, उसके लिये इसी में = संवित् परमार्शात्मक उदीयमान मन्त्र में, केवल नादामर्शमय होकर—

'उदय सङ्गम और शान्ति में तीन लाख जप कहा जाता है ।'

इत्यादि उक्त लक्षभेद से प्रपञ्चित जप करे = भूयो भूयः अनुसन्धान करे ॥

यही मुद्राओं का भी परवीर्य है—ऐसा अन्यत्र कहा गया है—यह कहते हैं—

श्री योगसञ्चर में यह (= संघट्ट) मुद्रा अत्यन्त योगिनीप्रिय है । त्रिकोण के भीतर स्थित नित्य उन्मुख मण्डलच्छद वाले कमल में निरन्तर संलग्न तथा षोडशदल कमल से कलितमूल वाला नाल है वह मध्यस्थ नाल से गुम्फित दो कमलों के (परस्पर) सङ्घट्टन के क्रम से उनके मध्य में स्थित पूर्णसुन्दर चन्द्र सूर्य की कला के समूह के सङ्घट्ट से अग्नि में त्रिदल अरुण वीर्य कला के सङ्ग से मध्य में जो अंकुरण है वही सृष्टि है ॥ -१५०-१५३- ॥

त्रिकोण (= तीन कोण वाला पुरुष अथवा स्त्री का भग) के भीतर रहने वाला नित्य उन्मुख = सदैव विकासशील जो

'त्रिदलं भगपद्म.............।'

आप्यायकारितया सतवियुतं

'यद्रेतः स भवेच्चन्द्रः........................ ।'

इत्याद्युक्त्या षोडशदलेन चान्द्रमसेन कमलेन कलितम्, अत एव आनन्दनिर्भरत्वात् सत्, अत एव वक्ष्यमाणरूपायाः सृष्टेर्मूलम् = उत्पत्तिधाम, यत् मध्यनाडीरूपं नालम्,

'अम्बुवाहा भवेद्वामा मध्यमा शुक्रवाहिनी ।
दक्षस्था रक्तवाहा च...................... ॥'

इत्युक्त्या मध्यस्थेन तेन नालेन गुम्फितमुम्भितं यत् स्त्रीपुंससंबन्धि सरोजयुगं तस्य परस्परसङ्घर्षक्रमेण, तन्मध्यस्थयोः पूर्णयोरविकलयोः, अत एव आनन्दमयतया सुन्दरयोरेतोरजोरूपयोः शशधरदिनकरयोः कलानां सङ्घट्टात्

'शुचिर्नामाग्निरुद्भूतः सङ्घट्टात्सूर्यसोमयोः ।'

इत्युक्त्या अग्नौ प्रमात्रेकरूपे समुल्लसिते त्रिदलस्य कमलस्य मध्ये रजोरेतःकलानां सङ्गात् यश्चित्प्रसरात्मा विश्वगर्भीकारसहिष्णुरंकुरः, सा सृष्टिर्बहिरपि तथावभासते—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

इत्यादि उक्ति के अनुसार मण्डलच्छद (कन्दमण्डल को ढँकने वाला) त्रिदल पुरुष या स्त्री का भगकमल, उसमें आपूरणकारी होने से निरन्तर वियुक्त (= विशेषरूप से संयुक्त)

'जो रेतस् है वह चन्द्र है.........।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार षोडशदल वाले चान्द्र कमल से रचित, इसलिये आनन्दपूर्ण होने से सत्, इसलिये वक्ष्यमाणरूपा सृष्टि का मूल = उत्पत्तिस्थान जो सुषुम्नारूपी नाल

'बायी (= इड़ा) अम्बुवाहिनी, मध्यमा (सुषुम्ना) शुक्रवाहिनी, और दायीं (= पिङ्गला) रक्तवाहिनी.......... ।'

इस उक्ति के अनुसर मध्यस्थ उस नाल से गुम्फित = बँधा हुआ जो स्त्रीपुरुष सम्बन्धी दो कमल (= योनि और लिङ्ग) उसके परस्पर सङ्घर्ष क्रम से, उन दोनों के मध्यस्थ पूर्ण = अविकल, इसलिये आनन्दमय होने के कारण सुन्दर रेतस् एवं रजस् रूप चन्द्र सूर्य की कलाओं के सङ्घट्ट से

'सूर्य एवं चन्द्र के सङ्घट्ट से शुचि नामक अग्नि उत्पन्न हुआ है ।'

इस उक्ति के अनुसार अग्नि के = प्रमातारूप के उल्लसित होने पर त्रिदल कमल के मध्य में रजस् एवं रेतस् की कलाओं के सङ्गम के कारण जो चित् का प्रसर स्वरूप, विश्व को गर्भ में रखने की क्षमता वाला अंकुर वह सृष्टि के बाहर भी उसी प्रकार अवभासित होता है । वही कहा गया—

'भगे लिङ्गे स्थितो वह्निरन्तरे भास्करः स्थितः ।
ऊर्ध्वे विप्रः स्थितः सोमः सङ्घट्टात्रिष्क्रमेद्रसः ॥' इति,
'तत्पीठं शाकिनीचक्रे सा सृष्टिः सचराचरे ।
तत्क्षेत्रं बीजराजस्य ऋतुकालोद्भवस्य तु ॥
रजःपुष्पोपभोगस्य कुलस्यैवाकुलस्य च ।
कर्णिकामध्यवर्तिनं हाटकं हाटकेश्वरम् ॥
शक्तिपद्मान्तरे लीनमद्वैतं परमं शिवम् ।' इति च ॥

ननु एवं मुद्रया बद्धया अस्य किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

इति शशधरवासरपतिचित्रगुसङ्घट्टमुद्रया झटिति ॥ १५३ ॥
सृष्ट्यादिक्रममन्तः कुर्वंस्तुर्ये स्थितिं लभते ।

सङ्घट्टेत्यनेन अस्याः षडरसंनिवेशभाक्त्वमुक्तम् ॥

एवं मन्त्रवीर्यातिदेशद्वारकं मुद्रास्वरूपमभिधाय, परस्परस्य लोलीभावं दर्शयितुं पुनस्तद्वीर्यमपि मन्त्रेषु अतिदेष्टुमाह—

'भग में (तथा) लिङ्ग में अग्नि स्थित है । (योनि के) भीतर भास्कर (= सूर्य = रजस्) स्थित है । ऊपर (पुरुष के मेढ़ प्रदेश में) विप्र (= शुभ्रवर्ण) चन्द्रमा (= वीर्य) स्थित है । दोनों (भग लिङ्ग या चन्द्र सूर्य) के सङ्घर्षण से रस (= आनन्द) प्रकट होता है ।' और

'वह शाकिनीचक्र में पीठ के रूप में स्थित है वही सचराचर में सृष्टि है । वह (= योनि) बीजराज का, ऋतुकाल में उत्पन्न रजःपुष्पोपभोग का, कुल एवं अकुल का क्षेत्र है । (इस योनि की) कर्णिका के मध्य में वर्त्तमान हाटक एवं हाटकेश्वर रहते हैं । शक्तिकमल के अन्दर अद्वैत परमशिव लीन रहते हैं ॥

प्रश्न—इस प्रकार बद्धमुद्रा से इसको क्या लाभ होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस प्रकार (साधक) चन्द्र सूर्य एवं चित्रगु (= अग्नि) के सङ्घर्ष (अथवा चन्द्र एवं सूर्य की विचित्र रश्मियों के सङ्घर्ष) की मुद्रा से झट से सृष्टि आदि क्रम को आत्मसात् करता हुआ चतुर्थ (अवस्था) में स्थिति प्राप्त करता है ॥ -१५३-१५४- ॥

'सङ्घट्ट' इस (पद के कथन) से इस (स्थिति) को छह अरों वाली (खेचरीमुद्रा के) संनिवेश का भागी होना कहा गया है । पुरुषत्रिकोण अर्थात् लिङ्ग और स्त्रीत्रिकोण अर्थात् भग या योनि के परस्पर संघट्ट में षडर (= षट्कोण) बनता है ॥

इस प्रकार मन्त्रवीर्य के अतिदेश के द्वार वाले मुद्रास्वरूप का कथन कर

एतत्खेचरमुद्रावेशेऽन्योन्यस्य शक्तिशक्तिमतोः ॥ १५४ ॥
पानोपभोगलीलाहासादिषु यो भवेद्विमर्शमयः ।
अव्यक्तध्वनिरावस्फोटश्रुतिनादनादान्तैः ॥ १५५ ॥
अव्युच्छिन्नानाहतरूपैस्तन्मन्त्रवीर्यं स्यात् ।

एतस्यां षडरमुद्रालक्षणायां खेचरीमुद्रायामावेशे शक्तिशक्तिमतोरन्योन्यस्य पानोपभोगादौ यो विमर्शात्मा अनुभवः समुदियात्, तदव्यक्ताद्यष्टभेदभिन्नपरनादामर्शस्वभावं मान्त्रं वीर्यं स्यात् ॥

अत्रैव पौनःपुन्येन भावनातस्तल्लाभो भवेत्—इत्याह—

इति चक्राष्टकरूढः सहजं जपमाचरन् परे धाम्नि॥ १५६ ॥
यद्भैरवाष्टकपदं तल्लभतेऽष्टककलाभिन्नम् ।

अष्टककलेति—अष्टभिरर्धचन्द्रादिभिरुन्मनान्ताभिः कलाभिर्भिन्नम् = भेदितम्—इत्यर्थः ॥

ननु किं नाम चक्राष्टकं यदारूढोऽपि जपमाचरेत्?—इत्याशङ्क्य आह—

परस्पर के लोलीभाव को दिखलाने के लिये फिर उसके वीर्य को भी मन्त्रों में अतिदिष्ट करने के लिये कहते हैं—

इस खेचरीमुद्रा का आवेश होने पर शक्तिशक्तिमान् का परस्पर (अधर-) पान (शरीर का आलिङ्गन आदि) उपभोग लीला हास आदि में जो विमर्शमय (अनुभव) होता है वह अव्यक्त, ध्वनि, राव, स्फोट, श्रुति, नाद, नादान्त एवं अनवच्छिन्न अनाहत रूपों के द्वारा (अभिव्यक्त) मन्त्रवीर्य होता है ॥ -१५४-१५६- ॥

इस षडरमुद्रालक्षण वाली खेचरी मुद्रा में आवेश होने पर शक्तिशक्तिमान् के परस्पर अधर पान उपभोग (= सम्भोग) आदि में जो विमर्शात्मक अनुभव उदित होता है वह अव्यक्त आदि आठ भेद से भिन्न परनादामर्शस्वभाव वाला मन्त्रवीर्य होता है ॥

इसमें बार-बार भावना करने से उसका लाभ होता है—यह कहते हैं—

इन आठ चक्रों में रूढि को प्राप्त (साधक) सहज जप करता हुआ परधाम में जो अष्टक कला से भिन्न भैरवाष्टक पद है, उसे प्राप्त करता है ॥ -१५६-१५७- ॥

अष्टक कला... = आठ अर्धचन्द्र से लेकर (रोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना) उन्मनापर्यन्त कलाओं से भिन्न = भेदन किये गये ॥

प्रश्न—वह आठ चक्र क्या है जिस पर आरूढ होकर जप करना चाहिये ?—

गमनागमनेऽवसितौ कर्णे नयने द्विलिङ्गसंपर्के ॥ १५७ ॥
तत्संमेलयोगे देहान्ताख्ये च यामले चक्रे ।

गमनागमने प्राणसहिते अपाने—इत्यर्थः । अवसितावध्यवसाये बुद्धाविति यावत् । संपर्कः—स्पर्शमात्रम् । तत्संमेलनयोगे इति तयोर्द्वयोर्लिङ्गयोः संमेलनयोगे सङ्घट्टावसरे—इत्यर्थः । देहान्ताख्ये इति—द्वादशान्ते । यामले चक्रे इति—सर्वशेषः ॥

ननु अत्र किं नाम भैरवाष्टकस्य पदं यदपि अर्धचन्द्रादिभिरष्टाभिः कलाभिर्भिन्नं स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

कुचमध्यहृदयदेशादोष्ठान्तं कण्ठगं यदव्यक्तम् ॥ १५८ ॥
तच्चक्रद्वयमध्यगमाकर्ण्य क्षोभविगमसमये यत् ।
निर्वान्ति तत्र चैवं योऽष्टविधो नादभैरवः परमः ॥ १५९ ॥
ज्योतिर्ध्वनिसमीरकृतः सा मान्त्री व्याप्तिरुच्यते परमा ।

कुचमध्यहृदयदेशादारभ्य ओष्ठपुटपर्यन्तं शक्तेः कण्ठान्तः

यह शङ्का कर कहते हैं—

गमन, आगमन, बुद्धि, कान, नेत्र, दोनो लिङ्गो का स्पर्श, उन दोनों लिङ्गों का संघर्षण, द्वादशान्त (इन आठ) यामलचक्रों में (जप करना चाहिये) ॥ -१५७-१५८- ॥

गमनागमन—प्राण एवं अपान में, अवसित = अध्यवसाय = बुद्धि में । सम्पर्क = स्पर्श । उनके सम्मेलनयोग में = उन दोनों लिङ्गों के सम्मेलन योग में = सङ्घर्षण के अवसर पर । देहान्तारव्य में = द्वादशान्त में । **यामले** चक्रे—इसे सबके साथ जोड़ना चाहिये (अर्थात् गमनागमनयामले चक्रे, **कर्ण**यामलचक्रे इत्यादि) ॥

प्रश्न—वह भैरवाष्टक का पद क्या है जो अर्धचन्द्र आदि आठ कलाओं से भेदित होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

स्तनों के मध्य में स्थित हृदयप्रदेश से ओष्ठपर्यन्त कण्ठगामी जो अव्यक्त (ध्वनि होती है) उसे दो चक्रों के मध्य में सुनकर क्षोभ के हट जांने पर जो (सब लोग) विश्राम करने लगते हैं उसमें ऐसा जो आठ प्रकार का परमनाद भैरव जो कि ध्वनि समीर से उत्पन्न ज्योति है वह परम मान्त्रीव्याप्ति कही जाती है ॥ -१५८-१६०- ॥

कुचों के मध्य वर्त्तमान हृदयदेश से लेकर ओष्ठपुटपर्यन्त शक्ति का कण्ठ के भीतर—

'यत्तदक्षरमक्षोभ्यं प्रियाकण्ठोदितं परम् ।
सहजं नाद इत्युक्तं तत्त्वं नित्योदितं जपः ॥' इति
'नित्यानन्दरसास्वादाद्धा हेति गलकोटरे ।
स्वयंभूः सुखदोच्चारः कामतत्त्वस्य वेदकः ॥'

इत्यादिनिरूपितस्वरूपं यदव्यक्तप्रायं हाहेत्यक्षरद्वयमुदेति, तत् परस्पर-सङ्घट्टात्मनः क्षोभस्य विगमसमये योगिनीवक्त्रात्ममुख्यचक्रान्तर्विश्रान्तं परामृश्य यत् सर्वे निर्वान्ति विश्रान्तिं भजन्ते, तत्रैव निर्वाणात्मनि पदे य एवमव्यक्तादिरूपतया अष्टविधः, अत एव अर्धचन्द्रादिकलाष्टकोल्लसितः, अत एव परमो नादभैरवः; सा परमा मान्त्री व्याप्तिः सर्वत्र उच्यते—इति वाक्यार्थः । ज्योतिः = अर्धचन्द्रः, ध्वनिः = नादः, समीरः = स्पर्शात्मा शक्तिः, अधस्तु चन्द्रेणैव व्याप्तमिति अर्थसिद्धम् ॥

अत्र च किं तत् भैरवाष्टकं का च मान्त्री व्याप्तिः?—इत्याशङ्क्य आह—

सकलाकलेशशून्यं कलाढ्यखमले तथा क्षपणकं च ॥ १६० ॥
अन्तःस्थं कण्ठ्योष्ठ्यं चन्द्राढ्यव्याप्तिस्तथोन्मनान्तेयम् ।

'(सम्भोग की परिनिष्पत्ति के तुरन्त बाद) जो वह अक्षर अक्षोभ्य तथा प्रिया के कण्ठ में उत्पन्न परम सहज नाद ऐसा तत्त्व कहा गया है (वही) नित्योदित जप है।' तथा—

'(भगलिङ्गसंघर्षण से जन्य) नित्यानन्द रस के आस्वाद के कारण (प्रिया के) गलकोटर में 'हा' 'हा' ऐसा स्वयंभू सुखद उच्चार होता है वह कामतत्त्व का आवेदक होता है ॥'

इत्यादि के द्वारा निरूपितस्वरूप वाला जो अव्यक्तप्राय हा हा यह दो अक्षर उत्पन्न होता है उस, परस्पर सङ्घट्टात्मक क्षोभ के हटने के समय योगिनीवक्त्र रूप मुख्य चक्र के भीतर विश्रान्ति वाले (आनन्द) का परामर्श कर जो सब लोग निर्वात हो जाते हैं = विश्राम करने लगते हैं, उसी निर्वाणात्मक पद में जो ऐसा = अव्यक्त आदि रूप से आठ प्रकार का, इसलिये अर्धचन्द्र आदि आठ कलाओं से उल्लसित, इसीलिये परम आनन्द भैरव है, वह सर्वत्र परममान्त्रीव्याप्ति कही जाती है—यह वाक्यार्थ है । ज्योति = अर्धचन्द्र । ध्वनि = नाद । समीर = स्पर्शात्मा शक्ति । नीचे चन्द्र से ही व्याप्त है—यह अर्थात् सिद्ध है ॥

यहाँ वह भैरवाष्टक क्या है और मान्त्रीव्याप्ति क्या है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

१. सकल अकल और ईश से शून्य—अ + इ = ए को अ से मिलकर ऐं ।

एषां च शक्तिशक्तिमत्सामरस्यवेलायामुदयात् तदन्यतरव्यपदेशायोगात् नपुंसकत्वमेव उचितमिति तल्लिङ्गेन निर्देशः ॥

एवंव्याप्तिभावनादस्य सर्वत्रैव परभैरवीभावो भवेत्—इत्याह—

एवं कर्मणि कर्मणि यत्र क्वापि स्मरन् व्याप्तिम्॥ १६१ ॥
सततमलेपो जीवन्मुक्तः परभैरवीभवति ।

एवंविधे च मेलकावसरे गृहीतजन्मा परमुत्कृष्टः—इत्याह—

तादृङ्मेलककलिकाकलिततनुः कोऽपि यो भवेद्गर्भे ॥ १६२ ॥
उक्तः स योगिनीभूः स्वयमेव ज्ञानभाजनं रुद्रः ।
श्रीवीरावलिशास्त्रे बालोऽपि च गर्भगो हि शिवरूपः ॥ १६३ ॥

ननु

'इत्येवं देवदेवेशि आदियागस्तवोदितः ।'

---

२. कलाढ्य—क + र + औं = क्रौं । तथा खमल = ह्रीं

३. क्षपणक = क्ष ।

४. अन्तःस्थ = यं रं लं वं ।

५. कण्ठ्यौष्ठ = सौः । ये आठ भैरवाष्टक अर्धचन्द्र से लेकर उन्मना तक के सभी चक्रों में व्याप्त है ॥ -१६०-१६१- ॥

शक्तिशक्तिमान् के सामरस्य की वेला में इनके उदय से उसके बाद व्यपदेश न होने से नपुंसक लिङ्ग होना उचित है, इसलिये उस लिङ्ग से निर्देश हुआ है ॥

इस प्रकार की व्याप्तिभावना से इसका सर्वत्र परभैरवीभाव होता है—यह कहते हैं—

इस प्रकार प्रत्येक कर्म में जहाँ कहीं भी (अर्थात् सर्वत्र) व्याप्ति का स्मरण करने वाला निरन्तर आसक्तिरहित (साधक) जीवन्मुक्त और परभैरव हो जाता है ॥ -१६१-१६२- ॥

और इस प्रकार के मैथुन के समय जन्म लेने वाला (व्यक्ति) परम उत्कृष्ट होता है—यह कहते हैं—

उस प्रकार के मैथुनकलिका से रचित शरीर वाला जो कोई भी गर्भ में होता है वह योगिनीभूः कहा गया है । (वह) स्वयं ही ज्ञानी रुद्र (हो जाता) है । श्री वीरावलि शास्त्र में (कहा गया है कि) ऐसा गर्भगत बाल भी शिवरूप होता है ॥ १६२-१६३ ॥

प्रश्न—'हे देवेशि ! इस प्रकार तुमसे आदियाग कहा गया ।'

इतिदृशा आदियागशब्दस्य अत्र प्रवृत्तौ किं निमित्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—

आदीयते यतः सारं तस्य मुख्यस्य चैष यत् ।
मुख्यश्च यागस्तेनायमादियाग इति स्मृतः ॥ १६४ ॥
तत्र तत्र च शास्त्रेऽस्य स्वरूपं स्तुतवान् विभुः ।
श्रीवीरावलिहार्देशखमतार्णववर्तिषु ॥ १६५ ॥
श्रीसिद्धोत्फुल्लमर्यादाहीनचर्याकुलादिषु ।

सारमिति—संवित्तत्त्वात्मकममृतलक्षणं च । तेन आदिश्च असौ याग इति,

आदेर्मुख्यचक्रस्य याग इति च । अत एव अस्य सर्वागमेषु परमुत्कर्षः—इत्याह—तत्रेत्यादि । हार्देशः = हृदयभट्टारकः, खेमतम् = खेचरीमतम्, अर्णवः = योन्यर्णवः, तद्वर्तिषु—अर्थात् ग्रन्थैकदेशेषु । उत्फुल्लेति—उत्फुल्लकमतम् । मर्यादाहीनम् = निर्मर्यादशास्त्रम् । यथोक्तम्—

'एष ते कौलिको यागः सद्यो योगविभूतिदः ।
आख्यातः परमो गुह्यो द्वैतिनां मोहनः परम् ॥
वीराणां दुःखसुखदं लीलया भुक्तिमुक्तिदम् ।
योगसन्धाप्रयोगेण पूजाह्नि हवनं स्मृतम् ॥

इस दृष्टि से आदियाग शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त क्या है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जिससे तत्त्व का ग्रहण हो (वह आदियाग है) अथवा उस (= आदि) का = मुख्य का जो यह (= याग वह आदियाग है अथवा आदिश्च =) मुख्यश्च (असौ) यागः (यह विग्रह है) इस कारण यह आदियाग कहा गया है । उन-उन शास्त्रों में परमेश्वर ने इसके स्वरूप की प्रशंसा की है । (जैसे) श्री वीरावलि, हार्देश, खमत, अर्णव में रहने वाले (अंशों) में, श्री सिद्धातन्त्र, उत्फुल्ल मर्यादाहीन, चर्याकुल आदि में ॥ -१६४-१६६ ॥

सार = संवित्तत्त्वात्मक अमृतस्वरूप । इससे आदिश्च असौ यागः तथा आदि का = मुख्य चक्र का, याग (यह व्याख्या है) । इसीलिये इसका समस्त आगमों में परम उत्कर्ष है—यह कहते हैं—

वहाँ वहाँ.......... । हार्देश = हृदयभट्टारक । खमत = खेचरीमत । अर्णव = योन्यर्णव । तद्वर्त्ती = ग्रन्थ के एक भाग में । उत्फुल्ल = उत्फुल्लकमत । मर्यादाहीन = निर्मर्यादशास्त्र । जैसा कि कहा गया—

'हे देवि ! तुमको यह कौलिकयाग बतलाया गया जो कि सद्यः विभूति देने वाला, परम गुह्य, द्वैतियों के लिये परम मोहन, वीरों के लिये दुःखदायी (दुखों का नाश करने वाला—'दो' अवखण्डने) एवं सुखदायी (सुख देने वाला—डुदाञ् दाने)

पशुमार्गस्थितानां तु मूढानां पापकर्मणाम् ।
अप्रकाश्यं सदा देवि यथा किञ्चिन्महाधनम् ॥
न चात्र परमो यागः स्वभावस्थो महोदयः ।
न कुण्डं नाग्नियजनं नाहुत्याचारमण्डलम् ॥
आवाहनं न चैवात्र न चैवात्र विसर्जनम् ।
न मूर्तियागकरणं नान्यदासनमेव च ॥
व्रतचर्याविनिर्मुक्तं बहिर्द्रव्यविवर्जितम् ।
स्वानन्दामृतसंपूर्णं महदानन्दसिद्धिदम् ॥
केवलं चात्मसत्तायां सर्वशक्तिमयं शिवम् ।
सर्वाकारं निराकारमात्मयोनिं परापरम् ॥
भावयेत्तन्महायोगी पूजयेच्चक्रनायकम् ।
एतद्रहस्यं परमं गुह्यं चोत्तमयोजितम् ॥
संस्फुरत्कौलिकाम्नायं त्वत्स्नेहादद्य योजितम्।
सुगुप्तं कारयेन्नित्यं न देयं वीरवत्सले ॥
द्वैतिनां स्वल्पबुद्धीनां लोभोपहतचेतसाम् ।
मायिनां क्रूरसत्त्वानां जिज्ञासूनां न चैव हि ॥
पृथिवीमपि यो दत्त्वा मूकवत्क्ष्मातले वसेत् ।
तदा सिद्ध्यति मन्त्रज्ञः सिद्धमेलापकं लभेत ॥
सर्वामयविनिर्मुक्तो देहेनानेन सिद्ध्यति ।
अनेन योगमार्गेण नानृतं प्रवदाम्यहम् ॥' इति ॥

अनायास भोग मोक्ष **देने वाला है** । **योग एवं सन्धा** के प्रयोग (= सङ्घट्ट एवं मिलन) के **साथ पूजा के दिन हवन करना कहा गया है** । पशुमार्ग में स्थित मूढ पापियों के लिये **(उसी प्रकार) थोड़ा भी अप्रकाश्य है** जैसे महाधन (अप्रकाश्य होता है)। **यहाँ परम याग नहीं है । (यह) स्वभाव में** स्थित महान् उदय (देने) वाला है । **यहाँ न कुण्ड, न अग्निपूजा, न आहुति आचार** आदि, न आवाहन, और न विसर्जन न **मूर्त्तियागकरण न आसन है । (यह)** व्रतचर्या से रहित, बाह्य द्रव्य से वर्जित, **स्वानन्द अमृत से परिपूर्ण, महानन्द** रूपी सिद्धि को देने वाला है। योगी केवल आत्मसत्ता में **सर्वशक्तिमय सर्वाकार** निराकार आत्मयोनि परापर शिव की भावना करे एवं चक्रनायक **की पूजा करे** । यह स्फुरित होने वाला कौलिक आम्नाय परम रहस्य और परम **गुह्य है** । उत्तम (लोगों के लिये) रचित है । तुम्हारे स्नेह के कारण आज (मैंने) बताया (= प्रकट किया) । हे वीरवत्सले ! इसे नित्य गुप्त रखना चाहिये तथा द्वैतवादी स्वल्पबुद्धि वाले लोभी मायावी क्रूर और केवल जिज्ञासु लोगों को नहीं देना चाहिये । जो (सम्पूर्ण) पृथ्वी का दान करके भी पृथ्वीतल पर मूकवत् रहता है तभी वह मन्त्रज्ञ सिद्ध होता है और सिद्धमेलापक को प्राप्त करता है । समस्त रोगों से निर्मुक्त इस योगमार्ग को अपनाने से (साधक) इसी देह से

इह विद्यामन्त्रमुद्रामण्डलात्मतया चतुष्पीठं तावच्छास्त्रम् । तत्र मन्त्रमुद्रात्मनः पीठद्वयस्य संप्रदाय उक्तः । इदानीमत्रैव अवशिष्टस्य विद्यामण्डलात्मनोऽपि अस्य संप्रदायं निरूपयति—

युग्मस्यास्य प्रसादेन व्रतयोगविवर्जितः ॥ १६६ ॥
सर्वदा स्मरणं कृत्वा आदियागैकतत्परः ।
शक्तिदेहे निजे न्यस्येद्विद्यां कूटमनुक्रमात् ॥ १६७ ॥
ध्यात्वा चन्द्रनिभं पद्ममात्मानं भास्करद्युतिम् ।
विद्यामन्त्रात्मकं पीठद्वयमत्रैव मेलयेत् ॥ १६८ ॥

अस्य उक्तस्य मन्त्रमुद्रात्मनः पीठयुग्मस्य प्रसादादनुसन्धानमात्रेणैव व्रत-योगादिनिरपेक्षः सर्वकालमादियागपरायणो गुरुः शाक्तं पद्ममानन्दनिर्भरत्वात् चन्द्रनिभमात्मानं विकासाधायकतया भास्करद्युतिमनुध्याय शाक्ते निजे देहे क्रमादभीप्सितां शक्तिप्रधानां विद्यां, शिवप्रधानं कूटं मन्त्रं च न्यस्येत् येन अत्रैव समनन्तरोक्तयुक्त्यनुसन्धानतारतम्यात् विद्यामन्त्रात्मकमपि पीठद्वयं मीलितं स्यात् ॥ १६८ ॥

एतच्च अस्माभिरतिरहस्यत्वात् निर्भज्य नोक्तमिति स्वयमेव अवधार्यम्— इत्याह—

सिद्ध हो जाता है । मैं, असत्य नहीं कह रहा हूँ' ॥

विद्या मन्त्र मुद्रा और मण्डल रूप से (यह) शास्त्र चार पीठों वाला है । उनमें से मन्त्र मुद्रा रूप दो पीठों का सम्प्रदाय कहा गया । अब इसी में अवशिष्ट इसके विद्या एवं मण्डल वाले भी सम्प्रदाय का निरूपण करते हैं—

इन दोनों की प्रसन्नता से व्रत एवं योग से रहित (गुरु) (पूर्वोक्त दो पीठों का) सर्वदा स्मरण कर आदियाग में तत्पर होकर अपने शाक्त देह में चन्द्र के समान (शाक्त) पद्म का और भास्कर के समान द्युति वाले आत्मा का ध्यान कर विद्या एवं कूट का न्यास करे तथा फलस्वरूप यहीं पर विद्यामन्त्रात्मक पीठद्वय का मेलन करे ॥ -१६६-१६८ ॥

इस पूर्वोक्त मन्त्र मुद्रा स्वरूप दो पीठों की कृपा से केवल अनुसन्धान से ही व्रतयोग आदि से निरपेक्ष होकर सब समय आदियाग से लगा हुआ गुरु शाक्त पद्म जो कि आनन्दपूर्ण होने से चन्द्र के समान है, आत्मा को जो कि विकास का आधायक होने से भास्करकान्ति है, का ध्यान कर अपने शाक्त देह में क्रमशः वाञ्छित शक्तिप्रधाना विद्या एवं शिव प्रधान कूटमन्त्र का न्यास करे जिससे यहीं पर पूर्वोक्त युक्ति के अनुसन्धान के तारतम्य से विद्यामन्त्रात्मक दो पीठ मीलित हो जाय ॥ १६८ ॥

अतिरहस्य होने के कारण हमने इसे निर्विभक्त करके (स्पष्ट रूप से) नहीं कहा

न पठ्यते रहस्यत्वात्स्पष्टैः शब्दैर्मया पुनः ।
कुतूहली तूक्तशास्त्रसंपाठादेव लक्षयेत् ॥ १६९ ॥

अत्रैव मण्डलात्मतामपि अभिधातुमाह—

यद्भजन्ते सदा सर्वे यद्वान् देवश्च देवता ।
तच्चक्रं परमं देवीयागादौ संनिधापकम् ॥ १७० ॥
देह एव परं लिङ्गं सर्वतत्त्वात्मकं शिवम् ।
देवताचक्रसञ्जुष्टं पूजाधाम तदुत्तमम् ॥ १७१ ॥
तदेव मण्डलं मुख्यं त्रित्रिशूलाब्जचक्रखम् ।
अत्रैव देवताचक्रं बहिरन्तः सदा यजेत् ॥ १७२ ॥
स्वस्वमन्त्रपरामर्शपूर्वं तज्जन्मभी रसैः ।
आनन्दबहुलैः सृष्टिसंहारविधिना स्पृशेत् ॥ १७३ ॥

यद्वानिति—आद्याधारवान् । देवता चेति—अर्थात् तद्वती । चक्रमिति—मुख्यं चक्रम् । अत एव उक्तम्—परममिति त्रित्रिशूलाब्जचक्रखमिति

इसलिये स्वयं समझ लेना चाहिये—यह कहते हैं—

रहस्य होने के कारण मेरे द्वारा स्पष्ट शब्दों से नहीं पढ़ा जा रहा । कुतूहली (व्यक्ति) उक्त शास्त्र के पाठ से ही समझ जाये ॥ १६९ ॥

इसी में मण्डलात्मता को भी बतलाते हैं—

जिसको सब लोग भजते हैं । देवता और देवी जिससे युक्त होते हैं वह परमचक्र हैं, देवीयाग आदि में सन्निधि देने वाला है । देह ही पर लिङ्ग है; सब तत्त्वों वाला शिव है; देवताचक्र से संयुक्त वह उत्तम पूजाधाम है । वही मुख्य मण्डल है । तीन त्रिशूलकमलचक्र[1] और शून्य वाला है । उसी (शरीर) में बाहर भीतर सदा देवताचक्र की पूजा करे । अपने-अपने मन्त्र के परामर्श के साथ ठससे (शरीर को जन्म देने वाले अङ्गों अर्थात् लिङ्ग और योनि से) उत्पन्न आनन्दबहुल रसों के द्वारा सृष्टिसंहारविधि से (उसका) स्पर्श करे ॥ १७०-१७३ ॥

यद्वान् = आदि आधार वाला । और देवता—अर्थात् उस देवता वाली । चक्र = मुख्यचक्र । इसीलिये कहा गया—परम, त्रित्रिशूल अब्ज चक्र ख वाला—

---

१. तीन कमल (क) परा परापरा और अपरा देवियों का वासस्थान यह प्रथम त्रिकोण है । (ख) दोनों स्तन और नाभि । ये क ख ग रूप त्रिकोण बनते हैं । (ग) तीसरा त्रिकोण पुरुष एवं स्त्री की जननेन्द्रिय है । उपर्युक्त यही तीन त्रिशूलाब्ज चक्र हैं ।

'त्रित्रिशूलेऽत्र सप्तारे श्लिष्टमात्रेण मध्यतः ।
पद्मानामथ चक्राणां व्योम्नां वा सप्तकं भवेत् ॥' (३१।२८)

इति वक्ष्यमाणनीत्या तद्रूपम्—इत्यर्थः । स्वस्वेति—अभीप्सितस्य । तज्जन्मभिरिति—मुख्यचक्रोद्गतैः कुण्डगोलकादिभिः । सृष्टिसंहारविधिनेति—शान्तोदितक्रमेण—इत्यर्थः ॥ १७३ ॥

एवञ्च अस्य किं स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

तत्स्पर्शरभसोद्बुद्धसंविच्चक्रं तदीश्वरः ।
लभते परमं धाम तर्पिताशेषदैवतः ॥ १७४ ॥
अनुयागोक्तविधिना द्रव्यैर्हृदयहारिभिः ।
तथैव स्वस्वकामर्शयोगादन्तः प्रतर्पयेत् ॥ १७५ ॥

अनुयागोक्तविधिनेति—यदुक्तं प्राक्—

'यद्यदेवास्य मनसि विकासित्वं प्रयच्छति ।
तेनैव कुर्यात् पूजां स इति शम्भोर्विनिश्चयः॥' (२६।५५)

इत्यादि उपक्रम्य

'शिवाभेदभराद्भाववर्गश्च्योतति यं रसम् ।

'इस तीन त्रिशूल सात अरों वाले (कमल मे) मध्य श्लेष के द्वारा पद्म चक्र और व्योम सात होते हैं ।'

इस वक्ष्यमाण नीति के अनुसार उस रूप वाला । अपने-अपने—अभीष्ट का । उससे उत्पन्न = मुख्यचक्र से निकले हुये कुण्ड गोलक आदि । सृष्टिसंहारविधि से = शान्त उदित क्रम से ॥ १७३ ॥

इस प्रकार इसका क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस (आद्य आधार) का ईश्वर (= साधक) समस्त देवताओं को तृप्त करने वाला होकर उसके (= आद्य आधार के) स्पर्श के कारण हठात् उद्बुद्ध संवित्चक्र वाले परमधाम को प्राप्त करता है । (साधक) अनुयाग में कथित विधि के द्वारा हृदयहारी द्रव्यों से अपने-अपने (इष्ट मन्त्रों) का आमर्श करता हुआ उसी प्रकार भीतर तर्पण करे ॥ १७४-१७५ ॥

अनुयागोक्तविधि से—जैसा कि पहले

'यद्यदेवास्य......................विनिश्चयः ।' (तं.आ. २६।५५)

इत्यादि प्रारम्भ कर

'शिवाभेद...................बुधः ।' (तं.आ. २६।६१)

तमेव परमे धाम्नि पूजनायार्पयेद् बुधः ॥' (२६।६१)

इति ॥ १७५ ॥

एतच्च आदरातिशयमवद्योतयितुं प्राक्संवादितेनापि निजस्तोत्रैकदेशेन संवादयति—

कृत्वाधारधरां चमत्कृतिरसप्रोक्षाःक्षणक्षालिता-
मात्तैर्मानसतः स्वभावकुसुमैः स्वामोदसन्दोहिभिः ।
आनन्दामृतनिर्भरस्वहृदयानर्घार्घपात्रक्रमात्
त्वां देव्या सह देहदेवसदने देवार्चयेऽहर्निशम् ॥ १७६ ॥

न च एवमस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तम्—इत्याह—

श्रीवीरावल्यमर्यादप्रभृतौ शास्त्रसञ्चये ।
स एष परमो यागः स्तुतः शीतांशुमौलिना ॥ १७७ ॥

एष इति देहविषयः, यदभिप्रायेणैव

'स्वदेह एवायतनं नान्यदायतनं व्रजेत् ।'

इत्यादि अन्यत्र उक्तम् ॥ १७७ ॥

एतच्च देहे इव प्राणेऽपि कार्यम्—इत्याह—

यहाँ तक कहा गया ॥ १७५ ॥

इस अतिशय आदर को दिखलाने के लिये पूर्वोक्त अपने स्तोत्र के एक अंश को पुनः कहते हैं—

हे देव ! (अपने इस शरीर को) आधाररूपी पृथ्वी बनाकर चमत्कार रूपी रस के प्रोक्षण बिन्दु से (इसको) धोकर, आनन्दामृत परिपूर्ण अपने हृदय के अमूल्य अर्घपात्र को मन से प्राप्त स्वामोदपूर्ण स्वभाव-कुसुमों से भरकर इस देवसदनदेह में देवी के साथ तुम्हारी रात-दिन पूजा करता हूँ ॥ १७६ ॥

यह हमारे द्वारा स्वोपज्ञ नहीं कहा गया—यह कहते हैं—

श्री वीरावलि, निर्मर्याद आदि शास्त्रों में परमेश्वर के द्वारा यह परम याग कहा गया है ॥ १७७ ॥

यह = देहविषयक, जिस अभिप्राय से—

'अपनी देह ही आयतन है । दूसरे में नहीं जाना चाहिये ।'

इत्यादि अन्यत्र कहा गया है ॥ १७७ ॥

अथवा प्राणवृत्तिस्थं समस्तं देवतागणम् ।
पश्येत्पूर्वोक्तयुक्त्यैव तत्रैवाभ्यर्चयेद्गुरुः ॥ १७८ ॥

कथं च अत्र पूजनं कार्यम्—इत्याह—

प्राणाश्रितानां देवीनां ब्रह्मनासादिभेदिभिः ।
करन्ध्रैर्विशतापानचान्द्रचक्रेण तर्पणम् ॥ १७९ ॥

ब्रह्मेति—ब्रह्मरन्ध्रम् ॥ १७९ ॥

एवञ्च अस्य किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

एवं प्राणक्रमेणैव तर्पयेद्देवतागणम् ।
अचिरात्तत्प्रसादेन ज्ञानसिद्धीरथाश्नुते ॥ १८० ॥

यद्वा किमनात्मरूपैर्देहादिभिः, संविन्निष्ठतयैव देवीचक्रं तर्पयेत्—इत्याह—

संविन्मात्रस्थितं देवीचक्रं वा संविदर्पणात् ।
विश्वाभोगप्रयोगेण तर्पणीयं विपश्चिता ॥ १८१ ॥

संविदर्पणादिति व्याख्यातं विश्वाभोगप्रयोगेणेति, अत एव विपश्चितेति

देह के समान प्राण में भी इस याग को करना चाहिये—यह कहते हैं—

अथवा गुरु प्राणवृत्ति में रहने वाले समस्त देवतागण को पूर्वोक्त युक्ति से देखे और वहीं (= प्राणमार्ग में ही) पूजा करे ॥ १७८ ॥

यहाँ कैसे पूजा करे—यह कहते हैं—

प्राण में आश्रित देवियों का ब्रह्मरन्ध्र नासिका आदि भेदवाले करन्ध्रों (= शरीर के छिद्रों) से प्रवेश करने वाले चान्द्र चक्र से तर्पण (करना चाहिये) ॥ १७९ ॥

ब्रह्म = ब्रह्मरन्ध्र ॥ १७९ ॥

इस प्रकार इसका (= साधक का) क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस प्रकार प्राणक्रम से देवताचक्र का तर्पण करे । उस (= देवता चक्र) की कृपा से (साधक) शीघ्र ही ज्ञान और सिद्धियाँ प्राप्त करता है ॥ १८० ॥

अथवा अनात्मरूप देह आदि से क्या, संविद्निष्ठ होकर ही (संविद् देवी) को तृप्त करे—यह कहते हैं—

अथवा विद्वान् संविन्मात्र में स्थित देवीचक्र का संविद् के अर्पण से (अर्थात्) विश्वाभोगप्रयोग के द्वारा तर्पण करे ॥ १८१ ॥

उक्तम् ॥ १८१ ॥

ननु विपश्चितोऽपि सति देहादौ संविन्मात्रस्थितं देवीचक्रं कथं तर्पणीयम्—इत्याह—

यत्र सर्वे लयं यान्ति दह्यन्ते तत्त्वसञ्चयाः ।
तां चितिं पश्य कायस्थां कालानलसमप्रभाम् ॥ १८२ ॥

यत्र सर्वे सकलाद्याः प्रमातारो भूतभावाद्यात्मकानि प्रमेयाणि च तदेकसाद्भावं यान्ति तामशेषविश्वसंहारकारित्वात् कालानलसमप्रभां कायस्थां चितिं पश्य, सत्यपि देहादौ चिदेव एका सर्वतः परिस्फुरति—इत्यर्थः ॥ १८२ ॥

एतदेव स्फुटयति—

शून्यरूपे श्मशानेऽस्मिन् योगिनीसिद्धसेविते ।
क्रीडास्थाने महारौद्रे सर्वास्तमितविग्रहे ॥ १८३ ॥
स्वरश्मिमण्डलाकीर्णे ध्वंसितध्वान्तसन्ततौ ।
सर्वैर्विकल्पैर्निर्मुक्ते आनन्दपदकेवले ॥ १८४ ॥
असंख्यचितिसंपूर्णे श्मशाने चितिभीषणे ।
समस्तदेवताधारे प्रविष्टः को न सिद्ध्यति ॥ १८५ ॥

संविद् के अर्पण से—इसी की व्याख्या है—विश्वाभोगप्रयोग के द्वारा । इसीलिये 'विद्वान् के द्वारा'—यह कहा गया ॥ १८१ ॥

प्रश्न—विद्वान् भी देह आदि के रहते हुये संविन्मात्रस्थित देवीचक्र का तर्पण क्यों करे ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जिसमें सब लीन हो जाते हैं तथा तत्त्वसमूह दग्ध हो जाते हैं, कालानल के समान प्रभावाली उस चिति को देखो ॥ १८२ ॥

समस्त सकल आदि प्रमाता और भूत भाव आदि प्रमेय जिसमें एकरूप हो जाते हैं उस, समस्त विश्व की संहारकारिणी होने के कारण कालानल के समान कान्ति वाली शरीरस्थ संविद् को देखो । देह आदि के रहने पर भी केवल चित् ही सर्वत्र परिस्फुरण कर रही है (ऐसा समझना चाहिए) ॥ १८२ ॥

इसी को स्पष्ट करते हैं—

असंख्य चिति (= वेदनाओं, अनुभवों) से पूर्ण, प्रमातृरूपा चिति के कारण भीषण इस श्मशान में प्रविष्ट हुआ कौन व्यक्ति सिद्ध नहीं होता । यह (= शरीर) श्मशान शून्यरूप, योगिनी एवं सिद्धों से सेवित, क्रीडास्थल, महारौद्र, समस्त शरीर का लयस्थान, अपनी रश्मि के मण्डल से व्याप्त, नष्ट किये गये अन्धकारसमूह वाला, समस्त विकल्पों से रहित,

अस्मिन्नसङ्ख्याभिः सुखदुःखाद्यात्मिकाभिश्चितिभिः संपूर्णे, अत एव संसार-यातनादायितया महारौद्रे, अत एव परिहरणीयत्वादिना श्मशानप्राये शरीरे प्रविष्टः = अन्तर्मुखीभूतः को न सिद्ध्यति—इति संबन्धः । कीदृशे च अस्मिन् ? अन्तर्मुखी भावादेव तत्र अहन्ताविगलनात् शून्यरूपे, अत एव सर्वेषां सकला-दीनामस्तमितविग्रहे, अत एव ध्वंसितध्वान्तसन्ततौ प्रध्वस्तभेदान्धकारे, अत एव सर्वैर्विकल्पैर्निर्मुक्ते, अत एव स्वस्मिन्नेव, न तु बाह्ये, रश्मिमण्डलेन चक्षुरादीन्द्रियदेवतावर्गेण आकीर्णे, अत एव योगिनीसिद्धसेविते समस्तदेवताधारे, अत एव

'क्रीडन्ति विविधैर्भावैर्देव्यः पिण्डान्तरस्थिताः ।'

इति आसामेव क्रीडास्थाने, अत एव सर्वदेवतासङ्केतस्थानतया श्मशाने, अत एव सर्वसंहारकारिण्या प्रमात्रेकरूपया चित्या भीषणे, अत एव आनन्दपदकेवले स्वात्ममात्रविश्रान्ते—इत्यर्थः ॥ १८५ ॥

न च एतदस्मदुपज्ञमेव—इत्याह—

श्रीमद्वीरावलीशास्त्रे इत्थं प्रोवाच भैरवी ।

अत्र संवित्क्रमश्चर्यामयः कटाक्षितोऽपि अतिरहस्यत्वात् निर्भज्य भेदेन नोक्त

आनन्द स्थान एवं समस्त देवताओं का आधार है ॥ १८३-१८५ ॥

असंख्य सुखदुःख आदिवाली वेदनाओं से सम्पूर्ण इसलिये सांसारिक कष्ट को देने वाला होने के कारण महारौद्र, अत एव परित्याज्य होने के कारण श्मशानप्राय इस शरीर में प्रविष्ट = अन्तर्मुखीभूत कौन (व्यक्ति) सिद्ध नहीं होता । किस प्रकार के इस (शरीर) में—अन्तर्मुखीभाव के कारण ही उसमें अहन्ता के दूर हो जाने से शून्यरूप, इसलिये सब सकल आदि के शरीर का अस्तस्थल, इसलिये ध्वंसित ध्वान्तपरम्परा वाले = नष्टभेदान्धकार वाले, इसलिये समस्त विकल्पों से मुक्त, इसलिये अपने में ही न कि बाहर रश्मिमण्डल = चक्षुरादि इन्द्रियों के देवतावर्ग से व्याप्त, इसलिये योगिनीसिद्धसेवित समस्त देवता का आधार इसलिये—

'पिण्ड के भीतर स्थित देवियाँ अनेक भावों से क्रीडा करती हैं ।'

इसके अनुसार इनके क्रीड़ास्थान, इसलिये समस्त देवता का सङ्केतस्थान होने के कारण श्मशान, इसलिये सर्वसंहारकारिणी केवल प्रमातृरूपा चिति के कारण भीषण, इसलिये आनन्दपदकेवल = स्वात्ममात्रविश्रान्त (इस शरीर में प्रविष्ट व्यक्ति सिद्ध हो जाता है) ॥ १८५ ॥

यह हमारा उपज्ञ ही नहीं है—यह कहते हैं—

भैरवी ने श्री वीरावलि शास्त्र में ऐसा कहा है ॥ १८६- ॥

यहाँ चर्यामय संवित्क्रम सङ्केतित होने पर भी अतिरहस्य होने के कारण

इति न विद्वद्भिरस्मभ्यमभ्यसूयितव्यम् ॥

एवं दौतविध्यनुषक्तं रहस्योपनिषत्क्रममुपसंहरन् दीक्षाविधिमवतारयति—

इत्थं यागं विधायादौ तादृशौचित्यभागिनम् ॥ १८६ ॥
लक्षैकीयं स्वशिष्यं तं दीक्षयेत्तादृशि क्रमे ।

लक्षैकीयमिति बहुशः परीक्षौचित्यलब्धम्, अत एवोक्तं स्वशिष्यमिति, तादृशौचित्यभागिनमिति । तादृशीति एवंनिरूपितस्वरूपे ॥

तदेव आह—

रुद्रशक्त्या तु तं प्रोक्ष्य देवाभ्याशे निवेशयेत् ॥ १८७ ॥
भुजौ तस्य समालोक्य रुद्रशक्त्या प्रदीपयेत् ।
तयैवास्यार्पयेत्पुष्पं करयोर्गन्धदिग्धयोः ॥ १८८ ॥
निरालम्बौ तु तौ तस्य स्थापयित्वा विचिन्तयेत् ।
रुद्रशक्त्याकृष्यमाणौ दीप्तयांकुशरूपया ॥ १८९ ॥
ततः स स्वयमादाय वस्त्रं बद्धदृशिर्भवेत् ।
स्वयं च पातयेत्पुष्पं तत्पाताल्लक्षयेत्कुलम् ॥ १९० ॥

अलग-अलग भेदवर्णन पूर्वक नहीं कहा गया । इसलिये विद्वान् हमारी निन्दा न करें ॥

दौत्यविधि से सम्बद्ध रहस्योपनिषत्क्रम का उपसंहार करते हुये दीक्षाविधि का प्रारम्भ करते हैं—

इस प्रकार आदियाग को सम्पन्न कर उस प्रकार के औचित्य के भागी एक लक्ष्य वाले अपने उस शिष्य की उस प्रकार के क्रम में दीक्षा करे ॥ -१८६-१८७- ॥

लक्षैकीय = अनेक बार उचित परीक्षण के द्वारा प्राप्त (एक मात्र कौललक्ष्यवाला) । इसीलिये कहा गया—अपने शिष्य को और उस प्रकार के औचित्य के भागी को । उस प्रकार के = इस प्रकार निरूपितस्वरूप वाले ॥

उसी को कहते हैं—

रुद्रशक्ति से उसका प्रोक्षण कर देवालय में उसे प्रविष्ट कराये । उसकी दोनों भुजाओं को देख कर रुद्रशक्ति से प्रदीप्त करे । गन्ध से उपलिप्त (उसके) दोनों हाथों में उसी (= रुद्रशक्ति) से पुष्प अर्पित करे । उसके उन दोनों (हाथों) को निरालम्ब स्थापित कर दीप्त एवं अंकुश रूप रुद्रशक्ति के द्वारा आकृष्यमाण होता हुआ चिन्तन करे । इसके बाद वह (= शिष्य) स्वयं वस्त्र लेकर अपनी आँखें बन्द करे और स्वयं पुष्प

ततोऽस्य मुखमुद्घाट्य पादयोः प्रणिपातयेत् ।
हस्तयोर्मूर्ध्नि चाप्यस्य देवीचक्रं समर्चयेत् ॥ १९१ ॥

रुद्रशक्तिः परया मातृसद्भावेन वा संपुटिता मालिनी । प्रदीपयेदिति—हृद्गतशक्तिपुञ्जस्य अंगुलिद्वारनिःसृतस्य आकर्षणक्रमेण उत्तेजयेत्—इत्यर्थः । तयैवेति—रुद्रशक्त्या । निरालम्बाविति—विगलितसांसारिककृत्रिमनिजशक्तिकत्वात् निर्जीवप्रायौ—इत्यर्थः । अंकुशरूपयेति—आकर्षणौचित्यात् । तत इति—भुजयोः रुद्रशक्त्याकृष्यमाणत्वेन चिन्तनात् हेतोः । लक्षयेदिति—एवं हि अस्य स्वकुलमनायासेन सिद्ध्येदिति । प्रणिपातयेदिति—शक्तिरेव ॥ १९१ ॥

देवीचक्रं च अत्र कथमर्चयेत् ?—इत्याशङ्क्य आह—

आकर्ष्याकर्षकत्वेन प्रेर्यप्रेरकभावतः ।

हस्तयोर्हि प्रेर्यत्वेन देवीचक्रमभ्यर्चयेत् मूर्ध्नि च प्रेरकत्वेन । यतस्तदाकर्षणीयं तच्च आकर्षकम् । एवं हि मूर्ध्नि पूजितस्य देवीचक्रस्य सामर्थ्येन आकृष्टं हस्तद्वयम् । तत्रैव पाततः शिवहस्ततां यायादिति । यदुक्तम्—

'ततोऽस्य मस्तके चक्रं हस्तयोश्चार्च्य योगवित् ।

गिराये । उस (= पुष्प) के पतन से कुल को समझे । फिर उसके मुख को खोल कर (अपने) पैरों पर उसे गिराये और इसके शिर तथा हाथों पर देवीचक्र की पूजा करे ॥ -१८७-१९१ ॥

रुद्रशक्ति = परा अथवा मातृसद्भाव से संपुटित मालिनी । प्रदीपित् को = हृदय में वर्त्तमान शक्तिपुञ्ज, जो कि अंगुलि के द्वारा निःसृत है, को आकर्षण के क्रम से उत्तेजित करे । उसी से = रुद्रशक्ति से ही । निरालम्ब = सांसारिक अपनी शक्ति के नष्ट हो जाने से निर्जीवप्राय । अंकुशरूपा—आकर्षण के औचित्य गे । उसके कारण = भुजाओं के रुद्रशक्ति के द्वारा आकृष्यमाणरूप से चिन्तन करने के कारण । लक्षित करे—इस प्रकार इसका अपना कुल अनायास सिद्ध होता है । प्राणिपातित करे = (अपनी) शक्ति (को) ही ॥ १९१ ॥

यहाँ देवीचक्र की पूजा किस प्रकार करे?—यह शङ्का कर कहते हैं—

आकर्ष्य आकर्षक भाव से अथवा प्रेर्यप्रेरक भाव से (= पूजा करे) ॥ १९२- ॥

देवीचक्र की दोनों हाथों में प्रेर्य के रूप में तथा शिर में प्रेरक के रूप में पूजा करनी चाहिये । क्योंकि वह (= हस्तद्वयगत देवीचक्र) आकर्षणीय है और वह (= मूर्धागतदेवी चक्र) आकर्षक । इस प्रकार शिर में पूजित देवीचक्र के सामर्थ्य से दोनों हाथ आकृष्ट होते हैं उसी में (शक्ति)-पात के कारण वह शिवहस्त हो जाता है । जैसा कि कहा गया—

तद्धस्तौ प्रेरयेच्छक्त्या यावन्मूर्धान्तमागतौ ॥
शिवहस्तविधिः प्रोक्तः सद्यःप्रत्ययकारकः ।' इति ॥

यदा पुनरेवं शिवहस्तविधिर्न सिद्ध्येत्, तदा शास्त्रान्तरीयं क्रममनुतिष्ठेत्—इत्याह—

उक्तं श्रीरत्नमालायां नाभिं दण्डेन संपुटम् ॥ १९२ ॥
वामभूषणजङ्घाभ्यां नितम्बेनाप्यलङ्कृतम् ।
शिष्यहस्ते पुष्पभृते चोदनास्त्रं तु योजयेत् ॥ १९३ ॥
यावत्स स्तोभमायातः स्वयं पतति मूर्धनि ।
शिवहस्तः स्वयं सोऽयं सद्यः प्रत्ययकारकः॥ १९४ ॥
अनेनैव प्रयोगेण चरुकं ग्राहयेद्गुरुः ।
शिष्येण दन्तकाष्ठं च तत्पातः प्राग्वदेव तु ॥ १९५ ॥

नाभिः = क्षः । दण्ड = रेफः, तेन संपुटमूर्ध्वाधः संभिन्नम्—इत्यर्थः । वामभूषणम् = ऊ । वामजङ्घा = औ । नितम्बं = म् । स च अर्थाद्बिन्दुरूपः । तेन क्ष्र्रौं । स इति—शिवहस्तः । तदुक्तं तत्र—

'मूलदण्डं समुद्धृत्य नाभिस्थं वर्णमुद्धरेत् ।
शूलदण्डासनस्थं तु वामभूषणसंयुतम् ॥
वामजङ्घासमायुक्तं नितम्बालंकृतं प्रिये ।

'इसके बाद योगवेत्ता इसके मस्तक और हाथों में चक्र की पूजा कर उन दोनों हाथों को शक्ति से प्रेरित करे जब तक कि वे मूर्धापर्यन्त न आ जाए । यह शिवहस्त विधि कही गयी है जो सद्यः ज्ञान देने वाली है ।'

जब इस प्रकार शिवहस्तविधि सिद्ध न हो तो दूसरे शास्त्र के क्रम का अनुसरण करे—यह कहते हैं—

श्री रत्नमाला में कहा गया है—दण्ड से सम्पुटित नाभि जो कि वाम भूषण वाम जङ्घा एवं नितम्ब से अलंकृत हो ऐसे चोदनास्त्र को पुष्पयुक्त शिष्यहस्त में तब तक युक्त करे जब तक कि कम्पन को प्राप्त वह हाथ स्वयं शिर पर न चला जाय । यह शिवहस्त है जो स्वयं सद्यः ज्ञानदायी है। इसी प्रयोग से गुरु (शिष्य को) चरु दे । शिष्य के द्वारा दन्तकाष्ठ और उस (= दन्तकाष्ठ) का पतन पूर्ववत् है ॥ -१९२-१९५ ॥

नाभिः = क्ष । दण्ड = रकार उससे सम्पुट = ऊपर नीचे युक्त । वामभूवण = ऊ । वामजङ्घा = औ, नितम्ब = म् वह अर्थात् बिन्दुरूप । इससे (जो स्वरूप बना वह है—) क्ष्रौं । वह = शिवहस्त । वही वहाँ कहा गया—

'मूलदण्ड को उद्धृत कर नाभिस्थ वर्ण का उद्धार करे । वह शूलदण्ड के

दिव्यास्त्रमेतत्परमं नापुण्यो लभते स्फुटम् ॥'

इति उपक्रम्य

'शिवहस्ते महेशानि इदं कूटं तु योजयेत् ।
यावत् स्तुभ्यत्यसौ देवि स्वयमेव चलत्यसौ॥' इति ।

सद्यः प्रत्ययकारक इति—यत्रैव शरीरचक्रे झटिति हस्तः पतति, तत्रैव अभ्यासपरो भवेत्—इति गुरवः । अनेनैवेति—आकर्ष्याकर्षकभावलक्षणेन । चरुकमिति—अर्थात् देवीभ्योऽग्रे दापयित्वा । शिष्येणेति—प्रयोज्यकर्तरि तृतीया । प्राग्वदेवेति—पञ्चदशाह्निकोक्तवत् ॥ १९५ ॥

ननु एकेनैव नेत्रपटग्रहाद्यात्मना करस्तोभेन अस्य शक्त्यावेशो लक्षित इति किं पुनस्तद्वचनेन ?—इत्याशङ्क्य आह—

करस्तोभो नेत्रपटग्रहात् प्रभृति यः किल ।
दन्तकाष्ठसमादानपर्यन्तस्तत्र लक्षयेत् ॥ १९६ ॥
तीव्रमन्दादिभेदेन शक्तिपातं तथाविधम् ।

तत्रेति—एवंविधे करस्तोभे । तथाविधमिति—तीव्रमन्दादिभेदम् । अयमत्र आशयः—यदा हि यत्रैव चक्रे पुष्पपातो वृत्तस्तत्रैव प्रणामः, तत्रैव चरुदानम्,

---

आसन पर स्थित वामभूषण वामजङ्घा से युक्त नितम्ब से अलंकृत हो । यह परम दिव्यास्त्र है जिसे पुण्यरहित (व्यक्ति) प्राप्त नहीं करता ।' ऐसी भूमिका कर—

'हे महेशानि ! इस कूट (= वर्णसमूह) को शिवहस्त में (तब तक) प्रेरित करते रहना चाहिये जब तक कि, हे देवि ! यह (= हाथ) कम्पित होने लगे और चलने लगे ।' यहाँ तक (कहा गया है) ।

सद्यःप्रत्ययकारक—जिस शरीरचक्र में झट से हाथ गिर पड़े उसी में अभ्यास करना चाहिये—ऐसा (मेरे) गुरु (कहते हैं) । इसीसे = आकर्ष्यआकर्षक भाव लक्षण के द्वारा । चरुक = अर्थात् देवियों के आगे अर्पित कराकर । शिष्य के द्वारा—यहाँ प्रयोज्य कर्त्ता में तृतीया है (और प्रयोजककर्त्ता गुरु है) । पहले की भाँति = पन्द्रहवें आह्निक में कहे गये की भाँति ॥ १९५ ॥

प्रश्न—एक ही नेत्रपटग्रहणआदिरूप करस्तोभ से इसका शक्त्यावेश लक्षित हो जाता है फिर दुबारा उसके कथन से क्या लाभ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

नेत्रपटग्रहण से लेकर दन्तकाष्ठ के आदानपर्यन्त जो करकम्पन होता है उससे तीव्र मन्द आदि भेद से शक्तिपात को वैसा ही (= तीव्र मन्द आदि) समझना चाहिये ॥ १९६-१९७- ॥

उसमें = इस प्रकार के करकम्पन में । उस प्रकार का = तीव्र मन्द आदि भेद

तत एव तद्ग्रहणमित्यादि; तदा तीव्रः शक्तिपातो लक्षणीयः, अन्यथा तु मन्दः इति । तदुक्तम्—

'एतेषां चलनान्मन्त्री शक्तिपातं परीक्षयेत् ।
मन्दतीव्रादिभेदेन मन्दतीव्रादिकं बुधः ॥' इति ॥

एवमियता अस्मद्दर्शने समयिदीक्षोक्ता—इत्याह—

इत्येष समयी प्रोक्तः श्रीपूर्वे करकम्पतः ॥ १९७ ॥

न च एतदिह अपूर्वतया उक्तम्—इत्याह—

समयी तु करस्तोभादिति श्रीभोगहस्तके ।

यच्छ्रीपञ्चाशिका

'समयी तु करस्तोभान्मुद्रया पुत्रको भवेत् ।' इत्यादि ॥

अत्रैव प्रक्रियान्तरमाह—

चर्वेव वा गुरुर्दद्याद्वामामृतपरिप्लुतम् ॥ १९८ ॥
निःशङ्कं ग्रहणाच्छक्तिगोत्रो मायोज्झितो भवेत् ।

वाला । यहाँ यह तात्पर्य है—जब जिस चक्र में पुष्पपात हो उसी में प्रणाम उसी में चरुदान हो और वहीं से उसका ग्रहण इत्यादि हो तब तीव्र शक्तिपात समझना चाहियें अन्यथा मन्द । वही कहा गया—

'बुद्धिमान् मन्त्री इनके चलने से मन्द तीव्र आदि भेद से मन्द तीव्र आदि शक्तिपात को समझे' ॥

इतने से हमारे दर्शन में समयी दीक्षा कही गयी—यह कहते हैं—

श्रीपूर्वशास्त्र में इस प्रकार करकम्प से यह समयी (= **शिष्य**) कहा गया है ॥ -१९७ ॥

यह अपूर्व नहीं कहा गया—यह कहते हैं—

श्रीभोगहस्तक में (कहा गया है कि) समयी (= शिष्य) करकम्पन से होता है ॥ १९८- ॥

जैसा कि श्रीपञ्चाशिका (मे कहा गया)—

'करकम्प से समयी और मुद्रा से पुत्रक होता है ।' इत्यादि ॥

इसी में दूसरी प्रक्रिया भी कहते हैं—

अथवा गुरु वामअमृत से परिप्लुत चरु दे । शक्तिगोत्र (शिष्य उसके) निःशङ्क ग्रहण से मायारहित हो जाता है । सशङ्क ग्रहण करने वाला वाचन

सकम्पस्त्वाददानः स्यात् समयी वाचनादिषु ॥ १९९ ॥
कालान्तरेऽध्वसंशुद्ध्या पालनात्समयस्थितेः ।
सिद्धिपात्रमिति श्रीमदानन्देश्वर उच्यते ॥ २०० ॥

चर्विति—रत्नपञ्चाद्यात्मकम् । यदुक्तम्—

'देहस्थं तु चरुं वक्ष्ये यत्सुरैरपि दुर्लभम् ।
शिवाम्बु रेतो रक्तं च नालाज्यं विश्वनिर्गमः ॥
अतो विधानपूर्वं तु देहस्थं ग्राहयेच्चरुम् ।' इति ।

शक्तिगोत्र इति—ब्राह्म्याद्यंशकरूपः—इत्यर्थः । अत एव निःशङ्कं ग्रहणात् मायोज्झितः साक्षात्कृताविकल्पनिरुपायसंवित्तत्त्वो भवेत्—इत्यर्थः । अत एव चरुभोजनादेरनुपायपरिकरत्वं प्राक् संवादितम् । सशङ्कः पुनरेतदाददानो वाचन-श्रवणादौ समयी योग्यः स्याद्येन उत्तरकालं तत्तच्छास्त्रीयसमयपरिपालनसूचित-तीव्रशक्तिपातः षड्विधस्य अध्वनः सम्यक् पुत्रकदीक्षा क्रमेण शुद्ध्या मोक्षलक्ष्मी-लक्षणायाः सिद्धेर्भाजनं भवेत् । न च एतत् स्वोपज्ञमेव उक्तम्—इत्याह—श्रीमदानन्देश्वर उच्यते इति ॥ २०० ॥

एवं समयिदीक्षामभिधाय, पुत्रकदीक्षां वक्तुमुपक्रमते—

आदि कार्यों के लिये समयी होता है । कालान्तर में अध्वा की सम्यक् शुद्धि के द्वारा समयस्थिति का पालन करने से सिद्धि का अधिकारी होता है—ऐसा श्रीमत् आनन्देश्वर शास्त्र में कहा जाता है ॥ -१९८-२०० ॥

चरु—पञ्चरत्नरूप । जैसा कि कहा गया—

'देहस्थ चरु को कहूँगा जो कि देवताओं के द्वारा दुर्लभ है । मूत्र, वीर्य, रक्त, नालाज्य (= थूक) और विश्वनिर्गम (= मल, विष्ठा) । इसलिये देहस्थ चरु का विधानपूर्वक ग्रहण कराना चाहिये ।

शक्ति गोत्र = ब्राह्मी आदि अंश रूप । इसलिये निःशङ्क होकर ग्रहण करने से मायारहित हुआ निर्विकल्प निरुपाय संवित्तत्त्व का साक्षात्कार करने वाला हो जाता है । इसीलिये चरुभोजन आदि का अनुपायपरिकर (= अनुपाय का सहवर्त्ती) होना पहले कहा गया । और सशङ्क होकर इसका ग्रहण करने वाला वाचन श्रवण आदि के विषय में समयी = योग्य होता है जिससे बाद में तत्तत् शास्त्रीय नियम के परिपालन के द्वारा सूचित तीव्र शक्तिपात वाला (वह) छह प्रकार के अध्वा का सम्यक् = पुत्रक दीक्षा के क्रम से शुद्धि के द्वारा मोक्षलक्ष्मीलक्षण वाली, सिद्धि का पात्र हो जाता है । यह स्वोपज्ञ नहीं कहा गया—यह कहते हैं—श्रीमत् आनन्देश्वर में कहा जाता है ॥ २०० ॥

समयी दीक्षा का कथन कर पुत्रक दीक्षा बतलाने के लिये उपक्रम करते हैं—

यदा तु पुत्रकं कुर्यात्तदा दीक्षां समाचरेत् ।

इह तावत्

'वेधदीक्षां विना दीक्षां यो यस्य कुरुते प्रिये ।
द्वावेतौ नरकं यात इति शाक्तस्य निश्चयः ॥'

इत्याद्युक्त्या विना आवेशं शिष्यस्य दीक्षा न कार्येति प्रथममावेश एव उत्पादनीयो येन अस्य दीक्षायोग्यत्वे ज्ञाते गुरुस्तत्प्रक्रियामनुतिष्ठेत्, अन्यथा पुनर्दीक्षार्हत्वाभावात् स त्याज्य एव । यद्वक्ष्यते—

'यस्य त्वेवमपि स्यान्न तमत्रोपलवत्त्यजेत् ।' (२९।२११) इति ॥

समावेशः सर्वशास्त्रेषु अविगानेन उक्त इति दर्शयितुं श्रीरत्नमालायामुक्तं तल्लक्षणं तावदर्थगत्या अभिधत्ते—

उक्तं श्रीरत्नमालायां नादिफान्तां ज्वलत्प्रभाम् ॥ २०१ ॥
न्यस्येच्छिखान्तं पतति तेनात्रेदृक् क्रमो भवेत् ।

तेनेति—एवंविधेन न्यासेन हेतुना । पततीति—देहाद्यात्मग्रहपरिहारेण रुद्रशक्तिमेव आविशति—इत्यर्थः । तदुक्तं तत्र—

जब पुत्रक (समावेश) करे तो दीक्षा करे ॥ २०१- ॥

'हे प्रिये ! जो (गुरु) वेद्यदीक्षा के बिना जिस (शिष्य) की दीक्षा करता है तो वे दोनों नरक में जाते हैं—ऐसा शाक्त निश्चय है ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार आवेश के बिना शिष्य की दीक्षा नहीं करनी चाहिये। इसलिये पहले (शिष्य के अन्दर) आवेश उत्पन्न करना चाहिये जिसके इसके अन्दर दीक्षा की योग्यता होने पर गुरु उस प्रक्रिया का अनुष्ठान करे । अन्यथा दीक्षा की योग्यता के अभाव के कारण वह त्याज्य होता है । जैसा कि कहेंगे—

'जिसको ऐसा न हो उसे पत्थर के समान त्याग देना चाहिये' ॥ (तं.आ. २९।२११)

समावेश सब शास्त्रों में एकमत से कहा गया—यह बतलाने के लिये उक्त उसके लक्षण को अगत्या कहते हैं—

श्री रत्नमाला में कहा गया है—'न' से लेकर 'फ' तक ज्वलत्प्रभावाली (मालिनी) का (पैर से लेकर) शिखा पर्यन्त न्यास करे । (इससे शिष्य में आवेश का) पतन होता है । इसलिये यहाँ ऐसा क्रम होता है ॥ -२०१-२०२- ॥

इससे = इस प्रकार के न्यास के कारण । गिरता है = देह आदि में

'ततो न्यस्येत्तु शिष्यस्य मालिनीं जगदम्बिकाम् ।
ज्वलज्ज्वलनसङ्काशां पादाद्यावच्छिखान्तकम् ॥
नादिफान्तसमुच्चारात् पातयेद्विह्वलेन्द्रियम् ।
एषा दीक्षा महादेवी मालिनीविजये प्रिये ॥' इति ।

तेनेति—काकाक्षिवद्योज्यम्, तत् तेनेति—पातेन हेतुना । अत्रेति पुत्रकदीक्षायाम् । ईदृक्—वक्ष्यमाणः ॥

तमेव आह—

प्रोक्षितस्य शिशोर्न्यस्तप्रोक्तशोध्याध्वपद्धतेः ॥ २०२ ॥
ऋजुदेहजुषः शक्तिं पादान्मूर्धान्तमागताम् ।
पाशान्दहन्तीं संदीप्तां चिन्तयेत्तन्मयो गुरुः ॥ २०३ ॥
उपविश्य ततस्तस्य मूलशोध्यात् प्रभृत्यलम् ।
अन्तशोध्यावसानान्तां दहन्तीं चिन्तयेत्क्रमात् ॥ २०४ ॥
एवं सर्वाणि शोध्यानि तत्त्वादीनि पुरोक्तवत् ।
दग्ध्वा लीनां शिवे ध्यायेन्निष्कले सकलेऽथवा ॥ २०५ ॥
योगिना योजिता मार्गे सजातीयस्य पोषणम् ।
कुरुते निर्दहत्यन्यद्भिन्नजातिकदम्बकम् ॥ २०६ ॥

आत्मबुद्धि के परिहार के साथ रुद्रशक्ति से आविष्ट होता है । वही वहाँ कहा गया—

'इसके बाद शिष्य के (शरीर के) अन्दर जलती हुयी अग्नि के समान जगदम्बिका मालिनी का पैर से लेकर शिखा पर्यन्त न्यास करे । 'न' से लेकर 'फ' पर्यन्त उच्चार के द्वारा विह्वलइन्द्रिय वाले (शिष्य) के ऊपर शक्तिपात करे । हे प्रिये ! मालिनी विजयतन्त्र में यह महादेवी दीक्षा कही गयी है ।'

श्लोकस्थ 'तेन' (= इससे)—इस पद को काकाक्षि के समान 'पतति' और 'अत्र' जोड़ना चाहिये । इससे = पात के कारण । यहाँ = पुत्रक दीक्षा में । ऐसा = वक्ष्यमाण ॥ २०१॥

उसी को कहते हैं—

तन्मय गुरु प्रोक्षित, उक्त शोध्य अध्वपद्धति के न्यास वाले ऋजुदेहयुक्त शिशु के पैर से लेकर शिर पर्यन्त वर्त्तमान, पाश का दाह करने वाली, सन्दीप्त शक्ति का ध्यान करे । फिर बैठकर मूलशोध्य से लेकर अन्त्यशोध्य पर्यन्त वाली उस शक्ति का क्रम से दाह करती हुयी चिन्तन करे । इस प्रकार समस्त शोध्य तत्त्व आदि को पूर्वोक्त रीति से जला कर (वह शक्ति), शिव में लीन हो गयी—ऐसा चिन्तन करे । योगी

तन्मय इति—दीप्तशक्तिमयः । तत इति—उत्थानानन्तरम् । मूलशोध्यमादि-शोध्यं यथा कलाध्वनि निवृत्तिः, अन्तशोध्यं यथा अत्रैव शान्त्यतीता । एवमिति—मूलशोध्यादारभ्य अन्तशोध्यावसानम् । पुरेति—तत्त्वदीक्षाप्रकरणे । निष्कले इति—पुत्रकाद्यपेक्षया । सकले इति—साधकोद्देशेन । मार्गे इति—मध्यधाम्नि । सजातीयम्—चैतन्यम् । भिन्नजातीयाः—मलाद्याः ॥ २०६ ॥

ननु एवमस्य किं फलम्?—इत्याशङ्क्य आह—

अनया शोध्यमानस्य शिशोस्तीव्रादिभेदतः ।
शक्तिपाताच्चितिव्योमप्राणनान्तर्बहिस्तनूः ॥ २०७ ॥
आविशन्ती रुद्रशक्तिः क्रमात्सूते फलं त्विदम् ।
आनन्दमुद्भवं कम्पं निद्रां घूर्णिं च देहगाम् ॥ २०८ ॥

एवमस्य दग्धपाशस्य शिष्यस्य तीव्रतीव्रात् शक्तिपातात् चितिं साक्षादात्मान-माविशन्ती रुद्रशक्तिरानन्दं सूते यावत् मन्दमन्दात् शक्तिपातात् देहमाविशन्ती घूर्णिम् । यतः चितावानन्दरूपत्वादानन्दस्य औचित्यम्, शून्यात्मनि व्योम्नि अवकाशवत्त्वादुद्भवस्य, प्राणात्मनि वायौ तत्कारित्वात् कम्पस्य,

---

के द्वारा सकल अथवा निष्कल मार्ग में योजित (यह शक्ति) सजातीय का पोषण और भिन्न जातिसमूह का दाह करती है ॥ -२०२-२०६ ॥

तन्मय = दीप्तशक्तिमय । उसके बाद = उत्थान के बाद । मूल शोध्य = आदि शोध्य जैसे कि कला अध्वा में निवृत्ति । अन्तशोध्य = जैसे इसी (कलाध्वा) में शान्त्यतीता । इस प्रकार = मूल शोध्य से लेकर अन्त्यशोध्य तक । पहले = तत्त्वदीक्षाप्रकरण में । निष्कल = पुत्रक आदि की अपेक्षा । सकल = साधक के उद्देश्य से । मार्ग में = सुषुम्ना में । सजातीय = चैतन्यम् । भिन्नजातीय = मल आदि ॥ २०६ ॥

प्रश्न—इस प्रकार इसका फल क्या है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसके द्वारा शोध्यमान शिशु के तीव्र आदि भेद से शक्तिपात के कारण चैतन्य शून्य प्राण अन्तःशरीर बाह्य शरीर में आविष्ट होने वाली रुद्र शक्ति क्रमशः उस-आनन्द, उद्भव, कम्प, निद्रा और घूर्णि रूप फल को उत्पन्न करती है ॥ २०७-२०८ ॥

इस प्रकार दग्धपाश वाले शिष्य का तीव्र-तीव्र शक्तिपात से चिति = साक्षात् आत्मा, में प्रविष्ट होती हुयी रुद्रशक्ति, आनन्द को उत्पन्न करती है । इसी प्रकार मन्द-मन्द शक्तिपात के कारण शरीर में आविष्ट होती हुयी घूर्णि को । क्योंकि आनन्दरूप होने के कारण चिति में आनन्द का, शून्यरूप व्योम में अवकाशवान् होने के कारण उद्भव का, प्राणात्मक वायु में तत्कारी (= प्राणनकारी) होने से

अन्तस्तनौ बुद्धिपुर्यष्टके तत्तन्मायीयवृत्तिनिरोधात् निद्रायाः, बहिस्तनावहन्तावष्टम्भ-भङ्गात् घूर्णिरिति । एवं हि साक्षादस्य दीक्षा वृत्तेति गुरोराश्वासो भवेत्—इति भावः ॥ २०८ ॥

एवमस्य स्तोभितपाशतया शिवे एव योजनिका जातेति तदैव देहपातः प्रसजेत् ?—इत्याशङ्क्य आह—

एवं स्तोभितपाशस्य योजितस्यात्मनः शिवे ।
शेषभोगाय कुर्वीत सृष्टिं संशुद्धतत्त्वगाम् ॥ २०९ ॥

शेषस्य—एतद्देहारम्भकस्य कर्मणः । सृष्टिमिति—अर्थादेतद्देह-गतामेव ॥ २०९ ॥

एवमपि यदि एतच्चिह्नानुदयात् मन्दशक्तिपातवतः कस्यचित् न अयमेवमावेशो जायते, तदा एवमस्य संस्कारान्तरं कुर्यात्—इत्याह—

अथवा कस्यचिन्नैवमावेशस्तद्दहेदिमम् ।
बहिरन्तश्चोक्तशक्त्या पतेदित्थं स भूतले ॥ २१० ॥
यस्य त्वेवमपि स्यान्न तमत्रोपलवत्त्यजेत् ।

युगपदेव ऊर्ध्वाधो वमदग्निपुञ्जस्य ऊर्ध्वमुखस्य त्रिकोणस्य अन्तरुपवेशितं

कम्प का, अन्तःशरीर = बुद्धिपुर्यष्टक में तत्तन्मायीय वृत्ति के निरोध से निद्रा का, बाह्यशरीर में अहन्ताभाव के नष्ट होने से घूर्णि का औचित्य है । इस प्रकार इसकी साक्षात् दीक्षा हो गयी—ऐसा गुरु को विश्वास हो जाता है ॥ २०८ ॥

पाश के नष्ट हो जाने से शिव में ही योजनिका (दीक्षा) हो गयी इसलिये उसी समय शरीरान्त होने लगेगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस प्रकार नष्टपाश वाले आत्मा, जो कि शिव में योजित है, के शेष भोग के लिये (गुरु) शुद्धतत्त्वगामी सृष्टि करे ॥ २०९ ॥

शेष का = इस शरीर के आरम्भक कर्म के (शेष का) । सृष्टि अर्थात् इस शरीर में ही ॥ २०९ ॥

यदि इन चिह्नों के न प्रकट होने से मन्द शक्तिपात वाले किसी (शिष्य) को यह आवेश न उत्पन्न हो तो इस (शिष्य) का इस प्रकार दूसरा संस्कार करना चाहिये—यह कहते हैं—

अथवा यदि किसी को ऐसा आवेश न हो तो उक्त रुद्रशक्ति के द्वारा इस (शरीर) को बाहर और अन्दर जलाये । इस प्रकार वह (शिष्य) पृथ्वी पर गिर पड़ता है । और जिसको ऐसा न हो उसे पत्थर के समान छोड़ देना चाहिये ॥ २१०-२११- ॥

सर्वतो रेफवलितं ज्वालाकलापमय्या शक्त्या बहिरन्तश्च दहेत्—इति गुरवः । स्यान्नेति—आवेशः । उपलवदिति—अनायातशक्तिपातत्वात् निबिडजडिमानम्—इत्यर्थः ॥

एवं परित्यक्तो हि शिष्यः संसारे एव मज्जनोन्मज्जनानि कुरुते इति तदनुजिघृक्षापरतया गुरुतः शास्त्रतश्च सिद्धमप्रतिहतं दीक्षान्तरं वक्तुमाह—

अथ सप्रत्ययां दीक्षां वक्ष्ये तुष्टेन धीमता ॥ २११ ॥
शंभुनाथेनोपदिष्टां दृष्टां सद्भावशासने ।

सद्भावशासने इति—श्रीतन्त्रसद्भावे ॥

तामेव आह—

सुधाग्निमरुतो मन्दपरकालाग्निवायवः ॥ २१२ ॥
वह्निसौधासुकूटाग्निवायुः सर्वे सषष्ठकाः ।
एतत्पिण्डत्रयं स्तोभकारि प्रत्येकमुच्यते ॥ २१३ ॥

सुधा = सः, अग्निः = रः, मरुत् = यः, एवंस्र्यूं; मन्दः = डकारः, तत्परः फणभृच्छब्दवाच्यः = ढकारः, (कालः =) प्राणशमनोऽन्तकः = मः,

---

एक ही साथ ऊपर नीचे अग्निपुञ्ज का वमन करने वाले ऊर्ध्वमुख त्रिकोण के भीतर उपवेशित सर्वतः रेफयुक्त (शिष्य) को ज्वालासमूह वाली शक्ति के द्वारा बाहर भीतर जलाये—ऐसा (हमारे) गुरु (कहते हैं) । न हो—आवेश । उपलवत्—शक्तिपात के न होने से अत्यधिक जड ॥

इस प्रकार परित्यक्त शिष्य संसार में डूबता उतराता रहता है इसलिये उसको अनुगृहीत करने की इच्छायुक्त होने के कारण गुरु और शास्त्र से सिद्ध अप्रतिहत दूसरी दीक्षा को बतलाते हैं—

अब प्रसन्न धीमान् शम्भुनाथ के द्वारा उपदिष्ट तथा तन्त्रसद्भाव में दृष्ट सप्रत्यय दीक्षा को कहता हूँ ॥ -२११-२१२- ॥

सद्भावशासन में—श्रीतन्त्रसद्भाव ग्रन्थ में ॥

उसी को कहते है—

सुधा, अग्नि, मरुत्, मन्द, पर, काल, अग्नि, वायु, अग्नि, सुधा, प्राण, कूट, अग्नि, वायु, ये सब षष्ठ से युक्त होते हैं ॥ -२१२-२१३- ॥

ये तीन पिण्ड हैं और (= इनमें से) प्रत्येक स्तोभकारी कहा जाता है ॥ -२१३ ॥

सुधा = स, अग्नि = र, मरुत् = य इस प्रकार (तीनों को मिलाकर षष्ठ

अग्निः = रः, वायुः = यः, एवं ड्ढ्म्र्यूं; वह्निः = रः, (सौधः =) सोमः = सः, असुः = प्राण हः, कूटम् = क्षः, अग्निः = रः, वायुः = यः, एवं स्र्ह्क्ष्यूं । अत्र समाहारे द्वन्द्वः । सर्वे इति = त्रयोऽपि पिण्डाः । सषष्ठका इति—ऊकारासनस्था अर्थात् बिन्द्वादिलाञ्छिताश्च । प्रत्येकमिति—व्यस्तम्—इत्यर्थः । तदुक्तं तत्र—

'अथैवमपि यस्य स्यान्नावेशः कश्मलात्मनः ।
तं पिण्डत्रितयादेकेनोद्बोधपदवीं नयेत् ॥
सोमानलानिलैरेकं पिण्डमादौ समुद्धरेत् ।
फणभृत्प्राणशमनशिखिवायुयुतं परम् ॥
शिखिसोमासुकूटाग्निसमीरैश्च तृतीयकम् ।
षष्ठासनानि सर्वाणि तिलकाङ्कानि सुन्दरि ॥
त्रिभिरेभिर्भवेद्व्यस्तैः शक्त्यावेशः शरीरगः ।' इति ॥ २१३ ॥

अत्रैव इतिकर्तव्यतामाह—

शक्तिबीजं स्मृतं यच्च न्यस्येत्सार्वाङ्गिकं तु तत् ।
हृच्चक्रे न्यस्यते मन्त्रो द्वादशस्वरभूषितः ॥ २१४ ॥
जपाकुसुमसङ्काशं चैतन्यं तस्य मध्यतः ।

(= स्वर = ऊ) युक्त करने पर) स्त्र्यूँ (रूप बनता है) । मन्द = डकार (उसके) पर (= बाद वाला) फणभृत् शब्द से वाच्य ढकार, प्राणशमन अन्तक (काल) = म, अग्नि = र, वायु = य, इस प्रकार ड्ढ्म्र्यूँ; वह्नि = र, सोम = स, असु = प्राण = ह, कूट = क्ष, अग्नि = र, वायु = य इस प्रकार स्र्ह्क्ष्यूँ बनता है । यहाँ समाहार में द्वन्द्व है ।

सब = तीनों पिण्ड । सषष्ठक = ऊकार आसन पर स्थित, और बिन्दु आदि (= अर्धचन्द्र) से लाञ्छित । प्रत्येक = अलग-अलग । वही वहाँ कहा गया—

'यदि ऐसा होने पर भी पत्थर जैसी आत्मा वाले जिस (= व्यक्ति) के अन्दर आवेश न हो उसे तीन पिण्डों में से एक पिण्ड के द्वारा उद्बुद्ध करे । पहले चन्द्र अग्नि वायु के द्वारा एक पिण्ड का उद्धार करे । फणभृत् प्राण काल अग्नि वायु से युक्त दूसरा (पिण्ड) है । अग्नि सोम प्राण कूट अग्नि और वायु से (मिश्रित) तीसरा (पिण्ड) है । हे सुन्दरी ! सब (पिण्ड) छठें वर्ण (—ऊ) के आसन वाले और तिलक अङ्क (= ँ) वाले हैं । अलग-अलग इन तीनों से शरीर में शक्ति का आवेश होता है' ॥ २१३ ॥

इसी में इतिकर्त्तव्यता को कहते हैं—

जो शक्तिबीज कहा गया है उसका (दीक्ष्य के) सब अङ्गों में न्यास करे। हृदयचक्र में द्वादशस्वर से युक्त मन्त्र का न्यास करे । उसके बीच

वायुना प्रेरितं चक्रं वह्निना परिदीपितम् ॥ २१५ ॥
तद्ध्यायेच्च जपेन्मन्त्रं नामान्तरितयोगतः ।
निमेषार्धात्तु शिष्यस्य भवेत्स्तोभो न संशयः ॥ २१६ ॥

शक्तिबीजं श्लिष्टतया त्रिकोणबीजमीकारो डम्बरशब्दवाच्या माया च । सार्वाङ्गिकं न्यस्येदिति—एतद्बीजद्वयमध्ये दीक्ष्यं चिन्तयेत्—इत्यर्थः । मन्त्र इति-सर्वमन्त्र सामान्यात्मा हकारः । तस्येति—षण्ठवर्जं स्वरद्वादशकसंभिन्नत्वात् चक्राकारतया अवस्थितस्य मन्त्रस्य । तच्चक्रमिति—दीक्ष्यस्य बहिरन्तश्च चिन्तितं वाग्भवादिनिखिलमन्त्रकदम्बकम्—इत्यर्थः । तेन एतत् वायुना यकारेण, वह्निना रेफेण च बहिः सर्वतो वेष्टितं ध्यायेत् येन एवमुद्दीपितं सत् स्तोभाविर्भावन-प्रागल्भ्यमियात् । मन्त्रमिति—पिण्डत्रयमध्यादेकतमम् । नामान्तरितयोगतः इति तेन आदौ मन्त्रः, ततो दीक्ष्यनाम, पुनर्मन्त्र इति । तदुक्तं तत्र—

'त्रिकोणकं डम्बरं च न्यस्येत्सर्वाङ्गसङ्गतम् ।
द्वादशस्वरसंभिन्नं हृच्चक्रे मन्त्रनायकम् ॥
उदयादित्यसङ्काशं जीवं तेन च चालयेत् ।
दीपयेदनलेनैव वायुनापि प्रबोधयेत् ॥
मन्त्रेणान्तरितं नाम जपेच्छिष्यस्य भामिनि ।
आवेशमायाति ततस्तत्क्षणादेव तत्परः ॥' इति ॥ २१६ ॥

जपाकुसुम के समान चैतन्य चक्र (का ध्यान करे) । वायु से प्रेरित और अग्नि से दीपित उस चक्र का ध्यान करे । बीच में नाम को सम्पुटित कर मन्त्र को जपे । (ऐसा करने से) एक क्षण मे शिष्य का स्तोभ हो जाता है । (इसमें) संशय नहीं है ॥ २१४-२१६ ॥

शक्तिबीज = श्लिष्ट होने से त्रिकोणबीज ईकार तथा डम्बरशब्दवाच्य माया । सार्वाङ्गिक न्यास करे—इन दोनों बीजों के बीच दीक्ष्य का ध्यान करे । मन्त्र = सब मन्त्रों में समान रूप से रहने वाला हकार । उसका = षण्ठ (= ऋ ॠ ऌ ॡ) से रहित बारह स्वरों से सम्भिन्न होने के कारण चक्र के आकार के रूप में स्थित मन्त्र का । वह चक्र—दीक्ष्य के बाहर और अन्दर ध्यान किया गया वाग्भव आदि समस्त मन्त्रसमूह । इससे यह वायु = यकार और अग्नि = रेफ के द्वारा बाहर सब ओर से वेष्टित ध्यान करे जिससे इस प्रकार उद्दीपित होता हुआ यह स्तोभ को प्रकट करने की प्रगल्भता को प्राप्त हो जाय । मन्त्र = तीन पिण्डों में से कोई एक । नामान्तरित योग से—इस प्रकार पहले मन्त्र फिर दीक्ष्य का नाम फिर मन्त्र । वही वहाँ कहा गया—

'त्रिकोण और डम्बर का न्यास करे । सर्वाङ्गसङ्गत द्वादशस्वर से सम्भिन्न उदीयमान आदित्य के समान मन्त्रनायक का हृदयचक्र में ध्यान करे और जीव को उससे सञ्चालित करे । अग्नि से दीपित और वायु से प्रबोधित करे । हे भामिनि !

एवञ्च अस्य कीदृगनुभवः—इत्याह—

आत्मानं प्रेक्षते देवि तत्त्वे तत्त्वे नियोजितः ।
यावत्प्राप्तः परं तत्त्वं तदा त्वेष न पश्यति ॥ २१७ ॥
अनेन क्रमयोगेन सर्वाध्वानं स पश्यति ।

प्रेक्षते इति—अर्थात् यथायथं शुद्धम् । न पश्यतीति—द्रष्ट्रेकस्वभाव एव भवेत्—इत्यर्थः ॥

न केवलमस्य स्वात्मनि एव प्रत्ययनिमित्तमेवमनुभवो जायते, यावत् स्वपरयोरपि—इत्याह—

अथवा सर्वशास्त्राण्यप्युद्ग्राहयति तत्क्षणात् ॥ २१८ ॥

सर्वशास्त्राणीति—अर्थाददृष्टश्रुतानि ॥ २१८ ॥

यदि नाम च प्रतिनियतभोगेच्छुः कोऽपि स्यात्, तदा अस्य तादृशीमेव दीक्षां कुर्यात्—इत्याह—

पृथक्तत्त्वविधौ दीक्षां योग्यतावशवर्तिनः ।
तत्त्वाभ्यासविधानेन सिद्धयोगी समाचरेत् ॥ २१९ ॥

मन्त्र से सम्पुटित शिष्य का नाम जपे इससे तत्क्षण ही (शिष्य) तत्पर होकर आवेश को प्राप्त होता है' ॥ २१६ ॥

इस प्रकार इसको कैसा अनुभव होता है—यह कहते हैं—

हे देवि ! (वह) अपने को प्रत्येक तत्त्व में नियोजित देखता है । और जब पर तत्त्व को प्राप्त हो जाता है तब ऐसा नहीं देखता । इस क्रमयोग से वह समस्त अध्वा को देखता है ॥ २१७-२१८- ॥

देखता है—अर्थात् क्रमशः शुद्ध । नहीं देखता—तब केवल द्रष्टृस्वभाव वाला हो जाता है ॥

केवल अपने विषय में ही नहीं बल्कि अपने और दूसरे के विषय में भी ज्ञान-निमित्तक ऐसा अनुभव होता है—यह कहते हैं—

अथवा उसी क्षण समस्त शास्त्रों का ज्ञान कर लेता है ॥ -२१८ ॥

सब शास्त्र = अदृष्ट और अश्रुत ॥ २१८ ॥

यदि कोई निश्चित भोग चाहने वाला हो तो इसकी वैसी ही दीक्षा करे—यह कहते हैं—

सिद्धयोगी पृथक् तत्त्व की विधि में योग्यतावशवर्त्ती (शिष्य) की तत्त्वाभ्यास के विधान से दीक्षा करे । इस प्रकार दीक्षित इस मुमुक्षु की

इति संदीक्षितस्यास्य मुमुक्षोः शेषवर्तने ।
कुलक्रमेष्टिरादेश्या पञ्चावस्थासमन्विता ॥ २२० ॥

योग्यता कस्यचित् पृथ्वीतत्त्वे एव भुवनेशत्वे वाञ्छा, कस्यचित् तु सदाशिवत्वे । तत्त्वाभ्यासविधानेनेति—तत्तद्धारणाद्यात्मना—इत्यर्थः । शेषवर्तने इति—शेषवृत्तिनिमित्तम्—इत्यर्थः ॥ २२० ॥

पञ्चावस्थासमन्वितमेव व्याचष्टे—

जाग्रदादिषु संवित्तिर्यथा स्यादनपायिनी ।
कुलयागस्तथादेश्यो योगिनीमुखसंस्थितः ॥ २२१ ॥

अनपायिनीति—

'..................न सावस्था न या शिवः ।' (स्प० का० ३।२)

इति भङ्ग्या प्रवृत्ता अविरतरूपा—इत्यर्थः ॥ २२१ ॥

तदेव आह—

सर्वं जाग्रति कर्तव्यं स्वप्ने प्रत्येकमन्त्रगम् ।
निवार्य सुप्ते मूलाख्यः स्वशक्तिपरिबृंहितः ॥ २२२ ॥
तुर्ये त्वेकैव दूत्याख्या तदतीते कुलेशिता ।

शेषवृत्ति के लिये पाँच अवस्थाओं से युक्त कुलयाग करे ॥ २१९-२२० ॥

योग्यता—किसी की पृथ्वीतत्त्व में भुवनेश्वर बनने की किसी, की सदाशिव होने की इच्छा । तत्त्वाभ्यास के विधान से—तत्तत् धारणा ध्यान आदि रूप । शेषवर्त्तन में = शेषवृत्तिविषयक ॥ २२० ॥

'पञ्चावस्थासमन्वित' की व्याख्या करते हैं—

जिस प्रकार जाग्रत् आदि में अनपायिनी (जाग्रत आदि पाँचो अवस्थाओं में एकरूपा) संवित् हो उसी प्रकार का योगिनीमुख स्थित कुलयाग का आदेश करे ॥ २२१ ॥

अनपायिनी—

'...............ऐसी वह कोई भी अवस्था नहीं है जो शिव न हो ।'

इस रीति से प्रवृत्त अविरतरूपा ॥ २२१ ॥

उसी को कहते हैं—

जाग्रत् अवस्था में सबका (पूजन) करे । स्वप्न में (भी सबका किन्तु) प्रत्येक मन्त्र को अलग-अलग करके । सुषुप्ति में अपनी शक्ति से

स्वशक्तिपरिपूर्णानामित्थं पूजा प्रवर्तते ॥ २२३ ॥

इह खलु जाग्रदाद्यवस्थासु यथायथं भेदस्य हानिरभेदस्य च उदय इति जाग्रदवस्थायां निखिलमेव मन्त्रजातं पूजनीयतया योज्यम्; स्वप्नावस्थायामपि एवम्, किन्तु प्रत्येकमाराराधयिषितमेकमेव परादिमन्त्रमधिकृत्य—इत्यर्थः । सुषुप्तावस्थायां तु सर्वं परिवारभूतं मन्त्रजातमपास्य परादिशक्तित्रययोगिभैरवत्रयं कुलेश्वरौ च इत्येव पूज्यम्, एवं तुर्येऽपि एकैव कुलेश्वरी, तुर्यातीते च कुलेश्वर एवेति ॥ २२२-२२३ ॥

एतदेव अन्यत्रापि अतिदिशति—

पिण्डस्थादि च पूर्वोक्तं सर्वातीतावसानकम् ।
अवस्थापञ्चकं प्रोक्तभेदं तस्मै निरूपयेत् ॥ २२४ ॥

पूर्वेति—दशमाह्निके । प्रोक्तभेदमिति—योगिज्ञानिविषयतया । तस्मायिति—एवं संदीक्षिताय मुमुक्षवे ॥ २२४ ॥

इदानीं दीक्षानन्तरोद्दिष्टं साधकाचार्ययोरभिषेकमपि आह—

साधकस्य बुभुक्षोस्तु सम्यग्योगाभिषेचनम् ।

परिवृंहित मूल स्वरूप का । तुरीयावस्था में केवल दूती और तुर्यातीत में कुलेश्वर की (पूजा करे) । अपनी शक्ति से परिपूर्ण (मन्त्रों) की इस प्रकार पूजा होती है ॥ २२२-२२३ ॥

जाग्रत् आदि अवस्थाओं में क्रमशः भेद का नाश और अभेद का उदय होता है इसलिये जाग्रत् अवस्था में समस्त मन्त्रसमूह को पूजनीय मानना चाहिये । स्वप्नावस्था में भी ऐसा ही है किन्तु प्रत्येक आराधना का इष्ट एक ही है वह भी पर आदि मन्त्र के आधार पर । सुषुप्ति में परिवारभूत समस्त मन्त्रसमूह को छोड़कर परा आदि तीन शक्तियों से युक्त तीन भैरव और दो कुलेश्वर पूज्य हैं । इसी प्रकार तुर्य में एक कुलेश्वरी और तुर्यातीत में (मात्र) कुलेश्वर ही (पूज्य है) ॥ २२२-२२३ ॥

इसी का अन्यत्र भी अतिदेश करते हैं—

पूर्वोक्त सर्वातीतावसान वाली जिसका भेद पहले कहा जा चुका है, ऐसी पिण्डस्थ आदि पाँच अवस्थायें (गुरु) उसे (शिष्य को) बताये ॥ २२४ ॥

पूर्व = दशम आह्निक में । प्रोक्तभेद वाला = योगी ज्ञानी विषय की दृष्टि से । उसको = दीक्षित मोक्षेच्छु को ॥ २२४ ॥

अब दीक्षा के बाद कथित साधक और आचार्य के अभिषेक को कहते हैं—

तत्रेष्ट्वा विभवैर्देवं हेमादिमयमव्रणम् ॥ २२५ ॥
दीपाष्टकं रक्तवर्तिसर्पिषापूर्य बोधयेत् ।
कुलाष्टकेन तत्पूज्यं शङ्खे चापि कुलेश्वरौ ॥ २२६ ॥
आनन्दामृतसंपूर्णे शिवहस्तोक्तवर्त्मना ।
तेनाभिषिञ्चेत्तं पश्चात् स कुर्यान्मन्त्रसाधनम् ॥ २२७ ॥
आचार्यस्याभिषेकोऽयमधिकारान्वितः स तु ।
कुर्यात्पिष्टादिभिश्चास्य चतुष्षष्टिं प्रदीपकान् ॥ २२८ ॥
अष्टाष्टकेन पूज्यास्ते मध्ये प्राग्वत् कुलेश्वरौ ।
शिवहस्तोक्तयुक्त्यैव गुरुमप्यभिषेचयेत् ॥ २२९ ॥

योगेति—तत्प्रधानम्—इत्यर्थः । तत्रेति—योगाभिषेचने । शङ्खे इति—महाशङ्खे । शिवहस्तोक्तवर्त्मनेति—शक्त्याकर्षणात्मना क्रमेण । तेनेति—शङ्खेन । स इति—बुभुक्षुः साधकः । पिष्टादिभिरिति—आदिशब्दात् वल्मीकमृदादि । प्राग्वदिति—शङ्खगतत्वेन ॥ २२९ ॥

एवमभिषेकेण अनयोः किं स्यात्?—इत्याशङ्कां निराचिकीर्षुरागममेव पठति—

अभिषिक्ताविमावेवं सर्वयोगिगणेन तु ।

भोगेच्छु साधक का सम्यक् योगाभिषेक होता है । उसमें वैभव के साथ देवता की पूजा कर स्वर्ण आदि से बने अच्छिद्र आठ दीपकों को लाल बत्ती और घी से भर कर जलाये । कुलाष्टक से उसकी (= दीपाष्टक की) पूजा करे । आनन्दामृत (= सम्भवतः मद्य) से भरे हुये शङ्ख (= नरकपाल) में शिवहस्तोक्त विधि से कुलेश्वर और कुलेश्वरी की भी (पूजा करे) । उस (शङ्ख) से उसका (= आचार्य का) अभिषेक करे । बाद में वह (= साधक) मन्त्र की सिद्धि करे । यह आचार्य का अभिषेक है । अधिकारयुक्त वह (आचार्य) आँटे आदि से इसके लिये चौंसठ दीपक बनाये । उनकी शिवहस्त विधि में उक्त रीति से अष्टाष्टक के द्वारा पूजा करे । मध्य में पूर्व की भाँति कुलेश्वरों की (पूजा करे) । गुरु का भी अभिषेक कराये ॥ २२५-२२९ ॥

योग = योगप्रधान । उसमें = योगाभिषेक में । शङ्ख में = महाशङ्ख (= नरकपाल) में । शिवहस्तोक्त रीति से = शक्त्याकर्षण वाले क्रम से । उससे = शङ्ख से । वह = बुभुक्षु साधक । पिष्टादि से—आदि शब्द से बल्मीक की मिट्टी आदि (का ग्रहण समझे) । पूर्ववत् = शङ्ख में वर्त्तमान ॥ २२९ ॥

इस प्रकार के अभिषेक से इन दोनों (= आचार्य और शिष्य) का क्या होगा?—इस शङ्का का निराकरण करने की इच्छा से आगम को पढ़ते हैं—

विदितौ भवतस्तत्र गुरुर्मोक्षप्रदो भवेत् ॥ २३० ॥

अत्रैव तुर्यपादस्य तात्पर्यतोऽर्थं व्याख्यातुमाह—

तात्पर्यमस्य पादस्य स सिद्धीः संप्रयच्छति ।
गुरुर्यः साधकः प्राक्स्यादन्यो मोक्षं ददात्यलम्॥ २३१ ॥
अनयोः कथयेज्ज्ञानं त्रिविधं सर्वमप्यलम् ।
स्वकीयाज्ञां च वितरेत् स्वक्रियाकरणं प्रति ॥ २३२ ॥

इदमत्र तात्पर्यं यत्—अनयोर्मध्यात् यः पूर्वं साधकः सन् गुरुः, स परेभ्यः सिद्धीरेव ददाति; अन्यः प्रथममेव यो गुरुः, सोऽत्यर्थं प्रकर्षेण सिद्धिदानपुरःसरीकारेण मोक्षमपि—इत्यर्थः । यद्यपि सबीजदीक्षादीक्षितस्य मुमुक्षोरेव आचार्यत्वमाम्नातं, तथापि तत् कर्मिविषयम्; इदं तु ज्ञानिविषयमिति न कश्चिद्विरोधः । त्रिविधम्—आणवशाक्तशांभवरूपम् । स्वक्रिया—दीक्षादिका ॥

एतदेव आन्तरेण क्रमेणापि अभिधत्ते—

षट्कं कारणसंज्ञं यत्तथा यः परमः शिवः ।
साकं भैरवनाथेन तदष्टकमुदाहृतम् ॥ २३३ ॥
प्रत्येकं तस्य सार्वात्म्यं पश्यंस्तां वृत्तिमात्मगाम् ।

इस प्रकार समस्त योगीसमूह के द्वारा अभिषिक्त ये दोनों ज्ञानी हो जाते हैं । उनमें से गुरु मोक्षप्रद भी होता है ॥ २३० ॥

इसी में चतुर्थपाद का तात्पर्यार्थ कहते है—

इस (= चतुर्थ) पाद का तात्पर्य (यह है कि—) जो पहले साधक और (बाद में) गुरु होता है वह सिद्धियों को देता है और दूसरा मोक्ष देता है । इन दोनों को तीनों प्रकार का ज्ञान बतलाये तथा अपने कार्य करने के लिये अपनी आज्ञा भी दे ॥ २३१-२३२ ॥

यहाँ यह तात्पर्य है—इन दोनों में से जो पहले साधक होते हुये गुरु होता है वह दूसरों को केवल सिद्धियाँ ही देता है । अन्य = जो पहले से ही गुरु है वह । यद्यपि सबीजदीक्षादीक्षित मुमुक्षु ही आचार्य होता है—ऐसा आकरग्रन्थ में कहा गया है तो भी वह कथन कर्मी (= आचार्य) विषयक है और यह ज्ञानी (= आचार्य) विषयक है । इसलिये कोई विरोध नहीं है । तीन प्रकार का = आणव शाक्त और शांभव । अपनी क्रिया = दीक्षा आदि ॥

इसी को आन्तर क्रम से भी कहते हैं—

कारण नामवाले छह तथा (सातवाँ) परमशिव तथा भैरवनाथ—ये अष्टक कहे गये हैं । उसमें से प्रत्येक को सर्वमय देखता हुआ गुरु (शिष्य

चक्षुरादौ संक्रमयेद्यत्र यत्रेन्द्रिये गुरुः ॥ २३४ ॥
स एव पूर्णैः कलशैरभिषेकः परः स्मृतः ।
विना बाह्यैरपीत्युक्तं श्रीवीरावलिभैरवे ॥ २३५ ॥

(षट्कं =) ब्रह्मा विष्णुः रुद्र ईश्वरः सदाशिवोऽनाश्रिशिवश्चेति । परमशिव इति—षट्त्रिशः । भैरवनाथः सप्तत्रिंशादिशब्दव्यवहार्यं पूर्णं रूपम् । तत् यदेतस्य अष्टकस्य प्रत्येकं सार्वात्म्येन चतुष्षष्टिका वृत्तिरवभासते, तामात्मगां विधाय यत्र यत्र चक्षुरादाविन्द्रिये स्वेन्द्रियप्रणालिकया अभिषेच्यस्य गुरुः संक्रमयेत्—तदैक्या पत्तिं कुर्यात्; स एव विना बाह्यं संविद्रसापूरितत्वात् पूर्णैरान्तरैः कलशैर्बाह्य-वैलक्षण्यात् परोऽभिषेकोऽस्मद्गुरुभिः स्मृतः—अनुष्ठेयतया अभिसंहितः—इत्यर्थः ॥

एवमभिषेकविधिमभिधाय, तत् पुरोद्दिष्टं वेधस्वरूपं निर्णेतुकामस्तद्दीक्षां वक्तुमुपक्रमते—

सद्य एव तु भोगेप्सोर्योगात्सिद्धतमो गुरुः ।
कुर्यात्सद्यस्तथाभीष्टफलदं वेधदीक्षणम् ॥ २३६ ॥

योगात्सिद्धतम इति—स्वभ्यस्तयोगोऽत्र अधिकृतः—इत्यर्थः । यद्वक्ष्यति—

'सा चाभ्यासवता कार्या................ ।' (२९।२३७) इति ।

की) जिस-जिस चक्षु आदि इन्द्रिय में अपनी वृत्ति को संक्रामित करता है वही बिना बाह्य पूर्णकलश के परम अभिषेक माना गया है—ऐसा श्री वीरावलिभैरव में कहा गया है ॥ २३३-२३५ ॥

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, अनाश्रित शिव (ये छह कारण हैं) छत्तीसवाँ परमशिव और सैंतीसवें आदि शब्द से व्यवहार्य पूर्णरूप भैरवनाथ । इस अष्टक की प्रत्येक को शेष सात की विशेषताओं से युक्त मानने पर (८ × ८) चौंसठ वृत्तियाँ होती हैं । उस वृत्ति को आत्मसात् करके अभिषेच्य की जिस-जिस चक्षु आदि इन्द्रिय में गुरु अपनी इन्द्रिय प्रणाली से वृत्ति को संक्रामित करता है, वह बाह्य के बिना भी संविद्रस से आपूरित होने से बाह्यविलक्षण होने के कारण हमारे गुरु के द्वारा पूर्ण आन्तर कलशों से परअभिषेक कहा गया है = अनुष्ठेय माना गया है ॥ २३३-२३५ ॥

अभिषेकविधि का कथन कर पूर्वोक्त उस वेध के स्वरूप को निश्चित करने की इच्छा से उसकी दीक्षा को कहने का उपक्रम करते हैं—

योग के कारण सिद्धतम गुरु तत्काल भोगेच्छु को सद्यः उस प्रकार का अभीष्ट फल देने वाली वेधदीक्षा करे ॥ २३६ ॥

योग से सिद्धतम = सुअभ्यस्त योग वाला, ही इस विषय में अधिकृत है । जैसा कि कहेंगे—

वेधेति—मध्यमप्राणशक्त्या ऊर्ध्वोर्ध्वक्रमणेन चक्राधारादीनां भेदनम् । यद्वक्ष्यति—

..........................येनोर्ध्वोर्ध्वप्रवेशतः ।
शिष्यस्य चक्रसंभेदप्रत्ययो जायते ध्रुवः ॥' (२९।२३७) इति ।

यदभिप्रायेणैव—

'आत्मानं मणिमाश्रित्य शक्तिं न्यस्येत्तु हेरुकम् ।
पाशविश्लेषकरणं वेध इत्यभिसंज्ञितम् ॥'

इत्यादि उक्तम् ॥ २३६ ॥

तदेव आह—

वेधदीक्षा च बहुधा तत्र तत्र निरूपिता ।
सा चाभ्यासवता कार्या येनोर्ध्वोर्ध्वप्रवेशतः ॥ २३७ ॥
शिष्यस्य चक्रसंभेदप्रत्ययो जायते ध्रुवः ।

येनेति—अभ्यासवत्त्वेन ॥

एवंविधेन अस्य किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

'वह (= वेधदीक्षा) भलीभाँति अभ्यास किये हुए गुरु के ही द्वारा की जानी चाहिये ।' (तं.आ. २।२३७)

वेध—मध्यम प्राणशक्ति के द्वारा ऊर्ध्व-ऊर्ध्व क्रम से चक्र आधार आदि का भेदन । जैसा कि कहेंगे—

'..........जिससे ऊर्ध्व-ऊर्ध्व प्रवेश के कारण शिष्य का निश्चित चक्रभेदज्ञान होता है ।' (तं.आ. २।२३७) जिस अभिप्राय से—

'आत्मारूप मणि का आश्रयण कर भेदकशक्ति का न्यास करे । यह पाश को शिथिल करने वाला वेध (नामक दीक्षा) है ।'

इत्यादि कहा गया है ॥ २३६ ॥

उसी को कहते हैं—

वेधदीक्षा जगह-जगह बहुत प्रकार की कही गयी है । वह अभ्यासवाले (योगी) के द्वारा करणीय है । जिससे ऊर्ध्व-ऊर्ध्व प्रवेश के द्वारा शिष्य का निश्चित चक्रसंभेदप्रत्यय होता है ॥ २३७-२३८- ॥

जिस कारण = अभ्यास के कारण ॥

इस प्रकार (की वेधदीक्षा) से इस (= शिष्य) का क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

येनाणिमादिका सिद्धिः ....

अन्यथा पुनरूर्ध्वोर्ध्वप्रवेशाभावे विघ्नादिभाजनत्वं भवेत्—यदागमः—इत्याह—

...........श्रीमालायां च चोदिता ॥ २३८ ॥
ऊर्ध्वचक्रदशाऽलाभे पिशाचावेश एव सा ।

यदुक्तं तत्र—

'अधोऽवस्था यदा ऊर्ध्वं सङ्क्रमन्ति वरानने ।
सैव मोक्षपदावस्था सैव ज्ञानस्य भाजनम् ॥
ऊर्ध्वचक्रगतावस्था यदाधः संभवन्ति च ।
तदा पैशाच आवेशः स वै विघ्नस्य कारणम् ॥' इति ॥

बहुधेत्युक्तं निरूपयति—

मन्त्रनादबिन्दुशक्तिभुजङ्गमपरात्मिका ॥ २३९ ॥
षोढा श्रीगह्वरे वेधदीक्षोक्ता परमेशिना ।

तदुक्तं तत्र—

'मन्त्रवेधं तु नादाख्यं बिन्दुवेधमतः परम् ।
शाक्तं भुजङ्गवेधं तु परं षष्ठमुदाहृतम् ॥' इति ।

जिससे अणिमा आदि सिद्धियाँ (मिलती हैं) ॥ २३८- ॥

अन्यथा पुनः ऊर्ध्व-ऊर्ध्व प्रवेश के अभाव में (साधक) विघ्न आदि का पात्र होता है । जैसा कि आगम है—यह कहते हैं—

श्रीमाला में कही गयी है कि ऊर्ध्व चक्रदशा का लाभ न होने पर वह पिशाच का आवेश होती है ॥ -२३८-२३९- ॥

जैसा कि वहाँ कहा गया है—

'हे वरानने ! जब अधः अवस्थायें ऊर्ध्व की ओर संक्रमण करती हैं तो वही मोक्ष की अवस्था है और वही ज्ञान का पात्र है । ऊर्ध्वचक्रगत अवस्थायें जब नीचे आती हैं तब पैशाच आवेश होता है और वह विघ्न का कारण होता है' ॥

'बहुधा'—इस कथन का निरूपण करते हैं—

मन्त्र, नाद, बिन्दु, शक्ति, भुजङ्गभ और परा नामक छह प्रकार की वेधदीक्षा श्री गह्वर शास्त्र में परमेश्वर के द्वारा कही गयी है ॥ -२३९-२४०- ॥

वही वहाँ कहा गया—

'मन्त्रवेध, नाद, बिन्दुवेध, शाक्त, भुजङ्गवेध और छठाँ परवेध कहा गया है ।'

षोढात्वे च अत्र अध्वशुद्धिगर्भीकारः कारणम् । यदुक्तम्—

'षोढा वे वेधबोधेन अध्वानं शोधयेत्प्रिये ।' इति ॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थमर्थतः शब्दतश्च पठति—

ज्वालाकुलं स्वशास्त्रोक्तं चक्रमष्टारकादिकम् ॥ २४० ॥
ध्यात्वा तेनास्य हृच्चक्रवेधनान्मन्त्रवेधनम् ।

स्वेति—अनुष्ठेयतया । तेनेति—अष्टारकादिना । हृच्चक्रेति—तात्स्थ्यात् चेत्यसङ्कोचित आत्मा लक्ष्यते । यदुक्तम्—

'ज्वालाकुलं ततो ध्यात्वा अष्टारं चक्रमुत्तमम् ।
द्वादशारमथो वापि स्वशास्त्रविधियोगतः ॥
परचित्तं वेधनीयं मन्त्रवेध उदाहृतः ।' इति ॥

एतदेव क्रमान्तरेणापि आह—

आकारं नवधा देहे न्यस्य संक्रमयेत्ततः ॥ २४१ ॥
न्यासयोगेन शिष्याय दीप्यमानं महार्चिषम् ।
पाशस्तोभात्ततस्तस्य परतत्त्वे तु योजनम् ॥ २४२ ॥

यहाँ छह प्रकार होने में (छह प्रकार की) अध्वशुद्धि का आन्तरिक होना कारण है । जैसा कि कहा गया—

'हे प्रिये ! छह प्रकार के वेधबोध से (छह प्रकार के) अध्वा का शोधन करना चाहिये' ॥

वहीं के ग्रन्थ को अर्थतः और शब्दतः पढ़ते हैं—

अपने शास्त्र में उक्त ज्वालाकुल आठ अरों वाले चक्र का ध्यान कर उससे इस (साधक) के हृदयचक्र का वेधन होने से मन्त्रवेधन (होता) है ॥ -२४०-२४१- ॥

अपना—अनुष्ठेय होने के कारण । उससे = अष्टारक आदि से । हृच्चक्र—(इससे) उसमें स्थित होने के कारण चेत्यसङ्कोचित आत्मा समझी जाती है । जैसा कि कहा गया—

'इसके बाद ज्वालाकुल उत्तम अष्टार अथवा द्वादशार चक्र का ध्यान कर अपने शास्त्र की विधि के अनुसार परचित्त का वेधन करना चाहिये । यह मन्त्रवेध कहा गया है' ॥

इसी को दूसरे क्रम से भी कहते हैं—

आकार (= दीर्घ अकार) का नव प्रकार से शरीर में न्यास कर फिर दीप्यमान महातेजस्वी (उस 'आ' को) शिष्य में संक्रान्त करे । पाश नष्ट

इति दीक्षोत्तरे दृष्टो विधिर्मे शंभुनोदितः ।
नादोच्चारेण नादाख्यः सृष्टिक्रमनियोगतः ॥ २४३ ॥
नादेन वेधयेच्चित्तं नादवेध उदीरितः ।
बिन्दुस्थानगतं चित्तं भ्रूमध्यपथसंस्थितम् ॥ २४४ ॥
हृल्लक्ष्ये वा महेशानि बिन्दुं ज्वालाकुलप्रभम् ।
तेन संबोधयेत्साध्यं बिन्द्वाख्योऽयं प्रकीर्तितः ॥ २४५ ॥
शाक्तं शक्तिमदुच्चारान्मत्तगन्धोच्चारेण सुन्दरि ।
श्रृङ्गाटकासनस्थं तु कुटिलं कुण्डलाकृतिम् ॥ २४६ ॥
अनुच्चारेण चोच्चार्य वेधयेन्निखिलं जगत् ।
एवं भ्रमरवेधेन शाक्तवेध उदाहृतः ॥ २४७ ॥

नवधेति—रन्ध्रभेदात् । देहे इति—अर्थात् स्वकीये । न्यासयोगेन त्यक्तात् नवधैव दीप्यमानम् । महार्चिषमित्यनेन अस्य पाशस्तोभने सामर्थ्यं दर्शितम । नादोच्चारेणेति—नादशब्देन दीर्घात्मनादबीजम् । सृष्टीति—नादिफान्तलक्षणा । नादेनेति—अनच्ककलात्मना स्वयमुच्चरद्रूपेण । तदुक्तम्—

'नादं दीर्घं समुच्चार्य नादं नादे समाक्रमेत् ।

होने से फिर उस शिष्य को परतत्त्व से जोड़े । दीक्षोत्तरतन्त्र में दृष्ट यह विधि शम्भुनाथ के द्वारा मुझको बतलायी गयी । नाद के उच्चार से नाद नामक वेध सृष्टिक्रम के नियोग से (होता है) । नाद से चित्त को विद्ध करना चाहिये । यह नादवेध कहा गया है । हे महेशानि ! बिन्दुस्थान में वर्त्तमान (शिष्य के) चित्त की अर्थात् भ्रुवों के मध्य में स्थित अथवा हृल्लक्ष्य में ज्वालाकुल के समान स्थित बिन्दु की भावना करे फिर उससे शिष्य को संबोधित करे । यह बिन्दु नामक (वेध) कहा गया है । हे सुन्दरी ! शक्तिमत् के उच्चार के कारण शाक्तवेध (कहा गया) है । मत्तगन्ध के उच्चार से मूलश्रृङ्गाट रूपी आसन पर स्थित टेढ़े-मेढ़े कुण्डलरूप वाले का अनुच्चार (= अस्पष्ट-भ्रमर के स्वर की भाँति उच्चारण) के द्वारा उच्चारण कर समस्त संसार का वेध करे । इस प्रकार भ्रमरवेध के कारण यह शाक्त वेध कहा गया है ॥ -२४१-२४७ ॥

नव प्रकार से—शारीर छिद्रभेद के कारण (= मनुष्य शरीर में आँख, कान, नाक में दो-दो तथा मुख एवं मलमूत्रत्याग के स्थान—ये ९ छिद्र हैं) । देह में-अर्थात् अपने न्यास के कारण त्यक्त होने से नव प्रकार से दीप्यमान । महार्चिषम्—इससे पाशनाश में (इसका) सामर्थ्य दिखलाया गया । नादोच्चार के द्वारा इसमें नादशब्द से दीर्घनाद का बीज । सृष्टि = न से लेकर फ तक लक्षणवाली । नाद से—स्वररहित कला रूप में स्वयं उच्चरित होने वाले से । वही कहा गया—

नादिफान्तं समुच्चार्य वर्णाध्वानं विशोधयेत् ॥
नादेन वेधयेद्देवि नादवेध उदाहृतः ।' इति ।

बिन्दुस्थानगतत्वमेव भ्रूमध्येत्यादिना व्याख्यातम् । चित्तमिति—शिष्यस्य संबन्धि, तच्च अर्थात् बिन्द्वाविष्टम् । बिन्दुमिति—अर्थात् भावयित्वा । तदुक्तम्—

'भ्रूमध्ये हृदये वाथ कन्दे वा बिन्दुभावनात् ।
आविश्य शिष्यचित्तं तु बिन्दुभेदेन वेधयेत् ॥' इति ।

यच्च 'गुरुर्मत्तगन्धसङ्कोचनादुत्प्लवतेऽतिभीमः' ?—इत्यादिदृशा गन्धस्य मत्तगन्धस्य निष्पीडनादियुक्तिबलोपनतेन ऊर्ध्वं चारेण मध्यशक्तेर्द्वादशान्तावस्थिते शिवात्मनि शक्तिमति उच्चैश्चरणसामरस्यमासाद्य जन्माधारे सततोदितत्वात् शृङ्गाटकासनस्थं प्राणशक्त्यभेदितया कुण्डलाकृतिं कुटिलमनच्कमनुच्चारेण उच्चार्य स्वयमुच्चरद्रूपत्वादुच्चारप्रयत्ननिरपेक्षतया स्वपरयोः स्वारसिके एव उच्चारेऽवधाय निखिलमपि जगद्वेधयेत्, असौ तत्तत्स्थानगत्या भ्रमं दधानः शाक्तो वेधः उक्तः ॥ २४७ ॥

अथ एतदनुषक्तं भुजङ्गवेधमभिधातुमाह—

'नाद को दीर्घरूप में उच्चारित कर फिर नाद को नाद में संक्रान्त कराये । 'न' से लेकर 'फ' तक उच्चारण कर वर्णाध्वा का शोधन करे । हे देवि ! नाद से वेधन करे । यह नादवेध कहा गया है ।'

विन्दुस्थानगतत्व का ही व्याख्यान है—भ्रूमध्य... । चित्त को = शिष्यसम्बन्धी (चित्त) को । और वह अर्थात् बिन्दु से आविष्ट है । बिन्दु को—भावित कर । वही कहा गया—

'भ्रूमध्य हृदय या कन्द में बिन्दु की भावना के द्वारा शिष्य के चित्त को आविष्ट कर फिर बिन्दुभेद से (उसका) वेधन करे ।'

और जो कि 'मत्तगन्ध के सङ्कोच के कारण अतिभीम गुरु उत्प्लवन करता है ।' इत्यादि रीति से गन्ध = मत्तगन्ध के निष्पीडन आदि युक्ति के बल से प्राप्त ऊर्ध्वचार के द्वारा मध्यशक्ति से द्वादशान्त पर्यन्त स्थित शिवात्मक शक्तिमत् में उच्चारणसामरस्य को प्राप्त कर मूलाधार में निरन्तर उदित होने के कारण शृङ्गाटकरूपी आसन पर स्थित प्राणशक्ति आदि भेद के कारण कुण्डल के आकार वाली कुटिल को स्वररहित अनुच्चार से उच्चारित कर स्वयं उच्चरित रूप होने के कारण उच्चारणार्थ प्रयत्ननिरपेक्ष होने से अपने एवं पर के स्वाभाविक उच्चारण में रख कर समस्त संसार का वेध करे । (कहा गया) यह तत्तत् स्थान में गति के द्वारा भ्रम को धारण करने वाला शाक्त वेध कहा गया है ॥ २४७ ॥

अब इससे सम्बद्ध भुजङ्गवेध को कहते हैं—

सा चैव परमा शक्तिरानन्दप्रविकासिनी ।
जन्मस्थानात्परं याति फणपञ्चकभूषिता ॥ २४८ ॥

परमिति—द्वादशान्तावस्थितं शक्तिमन्तम् । तदुक्तम्—

'एवं पञ्चफणा देवी निर्गताधरमण्डलात् ।'

इत्युपक्रम्य

'गता सा परमाकाशं परं निवार्णमण्डलम् ॥' इति ॥ २४८ ॥

फणपञ्चकभूषितत्वमेव प्रपञ्चयति—

कलास्तत्त्वानि नन्दाद्या व्योमानि च कुलानि च ।
ब्रह्मादिकारणान्यक्षाण्येव सा पञ्चकात्मिका ॥ २४९ ॥
एवं पञ्चप्रकारा सा ब्रह्मस्थानविनिर्गता ।
ब्रह्मस्थाने विशन्ती तु तडिल्लीना विराजते ॥ २५० ॥
प्रविष्टा वेधयेत्कायमात्मानं प्रतिभेदयेत् ।
एवं भुजङ्गवेधस्तु कथितो भैरवागमे ॥ २५१ ॥
तावद्भावयते चित्तं यावच्चित्तं क्षयं गतम् ।
क्षीणे चित्ते सुरेशानि परानन्द उदाहृतः ॥ २५२ ॥

कलाः—शान्त्यतीताद्याः पञ्च । तत्त्वानि—पृथिव्यादीनि । नन्दाद्याः—तिथयः ।

और वही परमा शक्ति जो कि आनन्द की विकासिनी है, पाँच फणों से भूषित होकर जन्मस्थान से परमाकाश को जाती है ॥ २४८ ॥

पर को = द्वादशान्त में स्थित शक्तिमान् को । वही कहा गया—

'इस प्रकार पाँच फणों वाली देवी अधरमण्डल (= मूलाधार) से निकल कर' ऐसा प्रारम्भ कर

'वह परमाकाश, जो कि परम निर्वाणमण्डल है, में जाती है' ॥ २४८ ॥

पाँच फणों से भूषितता की व्याख्या करते हैं—

कला, तत्त्व, नन्दा आदि (= तिथियाँ), व्योम, कुल, ब्रह्मा आदि कारण, इन्द्रियाँ ही वह (फण) पञ्चक है । इस तरह पाँच प्रकार वाली वह ब्रह्मस्थान (= मूलाधार) से निकल कर ब्रह्मस्थान (= द्वादशान्त) में प्रविष्ट होती हुयी विद्युत् में लीन विराजमान है । इसके प्रविष्ट होने पर (चक्राधार आदि रूप) शरीर का भेदन करे फिर अपना प्रतिभेदन करे । इस प्रकार भैरवागम में भुजङ्ग वेध कहा गया है । चित्त की तब तक भावना करनी चाहिये जब तक कि चित्तक्षय न हो जाय । चित्त के क्षीण होने पर हे सुरेश्वरी ! परानन्द कहा गया है ॥ २४९-२५२ ॥

व्योमानि—जन्मनाभिहृद्बिन्दुस्थानानि । कुलानि—महाकौलकौलाकुलकुलाकुला-ख्यानि । ब्रह्मादिकारणानि—सदाशिवान्तानि । अक्षाणि—बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रि-याणि च । ब्रह्मस्थानेति—जन्माधारात्, ब्रह्मस्थाने इति—द्वादशान्ते, एतदुभयमपि हि अस्य मुख्यमधिष्ठानम्—इत्यभिप्रायः । कायमिति—चक्राधारादिरूपम् । ननु कायवेधेन आत्मनः किं स्यात् ?—इत्युक्तम्—आत्मानं प्रतिभेदयेदिति । उक्तं च—

'भुजङ्गकुटिलाकारा अधो नाभेर्व्यवस्थिता ।
प्रबुद्धा फणिवद्गच्छेत् फणापञ्चकभूषिता ॥
पञ्चकात् पञ्चकं यावद्वेधं भुजङ्गसंज्ञितम् । इति ।

क्षीणे इति विकल्परूपतापरित्यागात् । परानन्द इति निर्विकल्पक-चमत्कारात्मा ॥ २५२ ॥

अत एव अस्य सर्वतो भेदविगलनम्—इत्याह—

नेन्द्रियाणि न वै प्राणा नान्तःकरणगोचरः ।
न मनो नापि मन्तव्यं न मन्ता न मनिक्रिया ॥ २५३ ॥
सर्वभावपरिक्षीणः परवेध उदाहृतः ।

कला = शान्त्यतीता आदि पाँच । तत्त्व = पृथिवी आदि । नन्दा आदि = तिथियाँ (= नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता, पूर्णा) । व्योम = जन्मस्थान, नाभि, हृदय, भ्रूमध्य, (और सहस्त्रार) । कुल = महाकौल, कौल, कुल, अकुल और कुलाकुल नामक । ब्रह्मा आदि कारण—सदाशिव पर्यन्त (= ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, और सदाशिव) । अक्ष = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ । ब्रह्मस्थान—मूलाधार से, ब्रह्मस्थान में = द्वादशान्त में । ये दोनों इस (= भुजङ्ग) के मुख्य अधिष्ठान हैं—यह अभिप्राय है । काय = चक्राधार आदि रूप (चक्र भी पाँच हैं—नाडी चक्र, माया चक्र, योगी चक्र, दीप्ति चक्र और शान्त चक्र)। प्रश्न है कि कायवेध से आत्मा का क्या होगा ?—उत्तर है कि—अपना भी प्रतिभेदन करे । कहा भीं है—

'सर्प के समान कुटिल आकार वाली, नाभि के नीचे स्थित (कुण्डलिनी) प्रबुद्ध होकर पञ्चफणों से भूषित सर्प के समान (ऊपर) जाती है । एक पञ्चक से दूसरे पञ्चक तक भुजङ्ग नामक वेध होता है ।'

क्षीण होने पर—विकल्परूपता के त्याग के कारण । परानन्द = निर्विकल्पक चमत्कार रूप ॥ २५२ ॥

इसीलिये इसका सब प्रकार से भेद नष्ट हो जाता है—यह कहते है—

न इन्द्रियाँ, न प्राण, न अन्तःकरण का विषय, न मन, न मननीय वस्तु, न मननकर्त्ता, न मनन क्रिया । (इस प्रकार) समस्त भावों से रहित

प्रकारान्तरेणापि अस्य बहुधात्वं दर्शयति—

मनुशक्तिभुवनरूपज्ञापिण्डस्थाननाडिपरभेदात् ॥ २५४ ॥
नवधा कलयन्त्यन्ये वेदं गुरवो रहस्यविदः ।

एतदेव क्रमेण लक्षयति—

मायागर्भाग्निवर्णौघयुक्ते त्र्यश्रिणि मण्डले ॥ २५५ ॥
ध्यात्वा ज्वालाकरालेन तेन ग्रन्थीन् विभेदयेत् ।
पुष्पैर्हन्याद्योजयेच्च परे मन्त्राभिधो विधिः ॥ २५६ ॥
नाड्याविश्यान्यतरया चैतन्यं कन्दधामनि ।
पिण्डीकृत्य परिभ्रम्य पञ्चाष्टशिखया हठात् ॥ २५७ ॥
शक्तिशूलाग्रगमितं क्वापि चक्रे नियोजयेत् ।
शक्त्येति शाक्तो वेधोऽयं सद्यः प्रत्ययकारकः ॥ २५८ ॥
आधारान्निर्गतया शिखया ज्योत्स्नावदातया रभसात् ।
अंगुष्ठमूलपीठक्रमेण शिष्यस्य लीनया व्योम्नि ॥ २५९ ॥
देहं स्वच्छीकृत्य क्षादीनान्तान् स्मरन्पुरोक्तपुर्योघान्।
निजमण्डलनिध्यानात्प्रतिबिम्बयते भुवनवेधः ॥ २६० ॥

परभेद कहा गया है ॥ २५३-२५४- ॥

अन्य प्रकार से भी इसके बहुधात्व का प्रतिपादन करते हैं—

अन्य रहस्यवेत्ता गुरु लोग मनु (= मन्त्र) शक्ति, भुवन, रूप, ज्ञा (= विज्ञान) पिण्ड, स्थान, नाड़ी एवं पर के भेद से (भेदन) को नव प्रकार का मानते हैं ॥ -२५४-२५५- ॥

इसी को क्रम से बतलाते हैं—

माया = (ई) गर्भ (= ह) एवं अग्निवर्ण (= र) के समूह से युक्त (= ह्रीं) ऊर्ध्वमुख त्रिकोण उसके अन्दर बैठे शिष्य का ध्यान कर ज्वाला से भयङ्कर उस (ह्रीं मन्त्र) के द्वारा ग्रन्थियों का भेदन करे । पुष्पों से (उस शिष्य का) ताडन करे तथा परतत्त्व से जोड़े । यह मन्त्रवेधविधि है । किसी एक नाड़ी में प्रविष्ट होकर चैतन्य को कन्दधाम में पिण्ड रूप में बनाकर पञ्चाष्ट शिखा (= ५ × ८ = ४० अथवा ५ + ८ = १३ बिन्दु रूप शिखाओं) से हठात् मण्डलीकरण कर शक्तिशूल के अग्रभाग से प्रेषित (शिष्य) को शक्ति के द्वारा किसी एक चक्र में नियोजित करे । यह सद्यः आवेशदायी शाक्तवेध है । आधार से निकली ज्योत्स्नावदात (पैर के) अंगूठे मूलाधार पीठ के क्रम से शिष्य के (ऊर्ध्व) द्वादशान्त में लीन शिखा के द्वारा शरीर को स्वच्छ कर क्ष से लेकर न पर्यन्त पूर्वोक्त

भ्रूमध्योदितबैन्दवधामान्तः काञ्चिदाकृतिं रुचिराम्।
तादात्म्येन ध्यायेच्छिष्यं पश्चाच्च तन्मयीकुर्यात् ॥ २६१ ॥
इति रूपवेध उक्तः सा चेहाकृतिरुपैति दृश्यत्वम् ।
अन्ते तत्सायुज्यं शिष्यश्चायाति तन्मयीभूतः ॥ २६२ ॥
विज्ञानमष्टधा यद् घ्राणादिकबुद्धिसंज्ञकरणान्तः ।
तत् स्वस्वनाडिसूत्रक्रमेण सञ्चारयेच्छिष्ये ॥ २६३ ॥
अभिमानदार्ढ्यबन्धक्रमेण विज्ञानसंज्ञको वेधः ।
हृदयव्योमनि सद्यो दिव्यज्ञानार्कसमुदयं धत्ते ॥ २६४ ॥
पिण्डः परः कलात्मा सूक्ष्मः पुर्यष्टको बहिः स्थूलः।
छायात्मा स पराङ्मुख आदर्शादौ च संमुखो ज्ञेयः ॥ २६५ ॥
इति यः पिण्डविभेदस्तं रभसादुत्तरोत्तरे शमयेत् ।
तत्तद्गलने क्रमशः परमपदं पिण्डवेधेन ॥ २६६ ॥
यद्यद्देहे चक्रं तत्र शिशोरेत्य विश्रमं क्रमशः ।
उज्ज्वलयेत्तच्चक्रं स्थ ाख्स्तत्फलप्रदो वेधः ॥ २६७ ॥
नाड्यः प्रधानभूतास्तिस्तोऽन्यास्तद्गतास्त्वसंख्येयाः ।
एकीकारस्ताभिर्नाडीवेधोऽत्र तत्फलकृत् ॥ २६८ ॥

पुरसमूहों का अपने शरीर के ध्यान से प्रतिबिम्बित करना भुवनवेध है । भ्रूमध्य में उदित बैन्दव धाम के भीतर किसी सुन्दर आकृति का तादात्म्येन ध्यान करे और बाद में शिष्य को तन्मय करे यह रूपवेध कहा गया है । वह आकृति यहाँ दृश्य हो जाती है और अन्त में तन्मयीभूत शिष्य उससे सायुज्य लाभ करता है ।

विज्ञान आठ प्रकार का है—नासिका आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और (मन बुद्धि अहङ्कार) तीन अन्तःकरण । उस (विज्ञान) को अपनी-अपनी नाड़ीरूपी सूत्र के क्रम से शिष्य में सञ्चारित करे अभिमानदार्ढ्यबन्ध के क्रम से यह विज्ञान नामक वेध हृदयाकाश में तत्काल दिव्य ज्ञानरूपी सूर्य का उदय कराता है । पिण्ड (= शरीर) पर, कलावाला सूक्ष्म पुर्यष्टक तथा बाह्य स्थूलशरीरछाया के रूप में पराङ्मुख दर्पण आदि में सामने देखा (समझा) जाता है । यह जो पिण्ड का अनेक प्रकार है उसे झटिति उत्तरोत्तर में लीन करना चाहिये (= स्थूल को सूक्ष्म और सूक्ष्मा को पर में लीन करना चहिये)। उस (= अधोऽधोवर्त्ती) के क्रमशः लीन होने पर पिण्डवेध के द्वारा परमपद (मिलता) है । देह में जो-जो चक्र है वहाँ पहुँच कर क्रमशः विश्राम कर शिशु के उस चक्र को दीप्त करे । उस (दीप्ति रूप) फल को देने वाला वह स्थानवेध (कहा जाता) है । प्रधानभूत तीन

अभिलषितनाडिवाहो मुख्याभिश्चक्षुरादिनिष्ठाभिः ।
तद्बोधप्राप्तिः स्यान्नाडीवेधे विचित्रबहुरूपा ॥ २६९ ॥
लांगूलाकृतिबलवत् स्वनाडिसंवेष्टितामपरनाडीम् ।
आस्फोट्य सिद्धमपि भुवि पातयति हठान्महायोगी ॥ २७० ॥
परवेधं समस्तेषु चक्रेष्वद्वैतमामृशन् ।
परं शिवं प्रकुर्वीत शिवतापत्तिदो गुरुः ॥ २७१ ॥

माया = मायाबीजम् । अग्निवर्णाः = रेफाः त्र्यश्रिणीति—अर्थादूर्ध्वमुखे । ध्यात्वेति—अर्थात् तदन्तरुपविष्टं शिष्यम् । तेनेति—त्र्यश्रेण मण्डलेन । अन्यतरयेति—सुषुम्णादिनाडित्रयमध्यादेकया । पिण्डीकृत्येति—सर्वत उपसंहृत्य । परिभ्रम्येति—तत्रैव दक्षिणावर्तक्रमेण महता वेगेन । पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, अष्टौ बुद्धीन्द्रियपञ्चकमन्तः करणत्रयं च । शक्तीति—शक्तिव्यापिनीसमनालक्षणम् । क्वापीति—यथाभीष्टे । प्रत्ययः—आवेशलक्षणः । शिखयेति—तद्रूपया शक्त्या । ज्योत्स्नावदातयेत्यनेन अस्याः प्रकाशकत्वं नैर्मल्यं च आवेदितम् । एतदौचित्यादेव च देहं स्वच्छीकृत्येति उक्तम् । व्योम्नीति—द्वादशान्ते । तच्च लीनत्वमंगुष्ठामूलपीठाद्वा अनुसन्धातव्यम् । अंगुष्ठमूलक्रमेणेति—क्षादीनान्तानिति

नाड़ियाँ (इडा पिंगला और सुषुम्ना) और उनसे सम्बद्ध असंख्य अन्य नाडियाँ उनके साथ एक हो जाना नाडीवेध है । जो कि वह (= एकीकार रूप) फल देने वाला है । नाडीवेध होने पर चक्षु आदि में रहने वाली मुख्य नाड़ियों के साथ प्रवाहित होना, उनके ज्ञान की प्राप्ति आदि अनेक विचित्र लाभ होता है । महायोगी पूँछ की आकृति के समान बल वाली अपनी नाड़ी से संवेष्टित दूसरे की नाड़ी को फोड़कर सिद्ध (पुरुष) को भी भूमि पर गिरा देता है । शिवता प्रदान करने वाला गुरु समस्त चक्रों में अद्वैत का आमर्श करता हुआ दूसरे को भी शिव बना देता है । यह परवेध है ॥ -२५५-२७१ ॥

माया = माया बीज (= ई)। अग्निवर्ण = रेफ । तीन अश्रों (= किनारों या कोणों) वाले अर्थात् ऊर्ध्वमुख वाले में । ध्यान कर अर्थात् उसके बीच बैठे शिष्य का उससे = त्र्यश्र मण्डल के द्वारा । अन्यतर के द्वारा = सुषुम्ना आदि तीन नाडियों में से एक के द्वारा । पिण्ड बनाकर = सब ओरसे समेट कर । घुमाकर—वही परदक्षिणावर्त्त क्रम से अत्यन्त वेग के साथ । पाँच = कर्मेन्द्रियाँ। आठ = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा तीन अन्तःकरण । शक्ति = शक्ति व्यापिनी और समना । कहीं भी = यथेष्ट । प्रत्यय = आवेश । शिखा के द्वारा = तद्रूपा शक्ति के द्वारा । ज्योत्स्नावदात—इससे इस (शक्ति) की प्रकाशकता और निर्मलता सङ्केतित है । इसी के औचित्य से 'देह को स्वच्छ कर'—ऐसा कहा गया है । व्योम में = द्वादशान्त में । वह लीनता अंगुष्ठ अथवा मूल पीठ से समझी जानी

संहारक्रमेण । पुरेति—अष्टमाह्निकादौ । निजमण्डलम्—स्वशरीरम् । प्रतिबिम्बयते इति—शिष्यमपि तथाविधमेव कुर्यात्—इत्यर्थः । काञ्चिदिति—यथेष्टदेवतारूपाम् । किञ्च अत्र फलम्?—इत्याशङ्क्य आह—सा चेत्यादि । अष्टधात्वमेव स्फुटयति —घ्राणेत्यादिना । अन्तरिति—अन्तःकरणत्रयम् । हृदयेति—सर्वनाडीनामभिव्यक्ति-स्थानत्वात् । पिण्डः = शरीरम् । कलेति—कञ्चुकपञ्चकोपलक्षणम् । य इति—त्रिविधोद्दिष्टः । उत्तरोत्तरे इति—स्थूलः सूक्ष्मे, सूक्ष्मश्च परे इति । क्रमश इति—यथायथं दार्ढ्येन—इत्यर्थः । अत्र च अन्तरा परिकल्पितं

'छायात्मा स पराङ्मुख आदर्शादौ च संमुखो ज्ञेयः ।'

इति अर्धमसङ्गतत्वादन्तर्गडुप्रायमिति उपेक्ष्यम् । यथास्थितव्याख्यानहेवाकिना-मेतत्तु सङ्गतिं यदि उपेयात् तदास्ताम्; अस्माकं पुनरियती नास्ति दृष्टिः । चक्रमिति—आधारादीनामुपलक्षणम् क्रमशः इति—नाडीचक्रादेरारभ्य । उज्ज्वलये-दिति—संविदुन्मुखतया दीप्तीकुर्यात्—इत्यर्थः । तत्फलेति—उज्ज्वलीकरणात्मा । तद्गता इति—तच्छायाप्रायत्वात् । ताभिरिति—अन्याभिरसङ्ख्येयाभिर्नाडीभिः । तत्फलम्—एकीकारलक्षणम् । किमत इति—न मन्तव्यमिइत्याह अभिलषिते-त्यादि । लांगूलाकृतीत्यनेन यथा कश्चिन्महाप्राणी स्वपुच्छास्फोटनेन तर्वादि पातयति, तथा अयमपि । परमिति—कटाक्षितम् । महायोगीति—शिवतापत्तिदो

चाहिये । अंगुष्ठमूल क्रम से क्षादिङनान्त—संहारक्रम से । पहले = अष्टम आह्निक आदि में । निजमण्डल = अपना शरीर । प्रतिबिम्बित करता है = शिष्य को भी वैसा ही करे । किसी = यथेष्टदेवतारूप । यहाँ क्या फल है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—और वह...। घ्राण इत्यादि के द्वारा आठ प्रकार को ही स्पष्ट करते हैं । अन्तः = तीन अन्तःकरण । हृदय—समस्त नाडियों की अभिव्यक्ति का स्थान होने से । पिण्ड = शरीर । कला = यह पाँच कञ्चुकों का ज्ञापक है । जो = तीन प्रकार से उद्दिष्ट । उत्तरोत्तर में = स्थूल का सूक्ष्म और सूक्ष्म का पर में । क्रमशः = क्रमिक रूप से दृढता के द्वारा । यहाँ बीच में परिकल्पित—

'छायारूप उसको पराङ्मुख दर्पण आदि में सम्मुख समझना चाहिये ।'

—इस अर्ध (कथन) के असङ्गत होने के कारण अन्दर की गाँठ के समान है अतः उपेक्षणीय है । और यदि यथास्थित व्याख्यान मानने वालों के लिये यह सङ्गत है तो रहे, हमारी ऐसी दृष्टि नहीं है । चक्र—यह आधार आदि का ज्ञापक है । क्रमशः—नाडीचक्र आदि से आरम्भ कर । उज्ज्वलित करे—संविद् की ओर उन्मुख बनाकर दीप्त करे । उस फल को—उज्ज्वलीकरण रूप । तद्गता = उसकी छाया जैसी होने से । उनके साथ = अन्य असंख्य नाड़ियों के साथ । उस फल को—एकीकारलक्षण वाले । इससे क्या (होता है) ऐसा नहीं समझना चाहिये—इसलिये कहते हैं—अभिलषित इत्यादि । लांगूल आकृति—इस (कथन) से जैसे कोई (= हनूमान् जी जैसा) महाप्राणी अपनी पूँछ को पटक कर वृक्ष आदि को

गुरुरिति च सर्वशेषत्वेन ज्ञेयम् ॥ २७१ ॥

एतच्च आगमेऽपि एवमुक्तम्—इत्याह—

श्रीमद्वीरावलिकुले तथा चेत्थं निरूपितम् ।

तदेव आह—

अभेद्यं सर्वथा ज्ञेयं मध्यं ज्ञात्वा न लिप्यते ॥ २७२ ॥
तद्विभागक्रमे सिद्धः स गुरुर्मोचयेत् पशून् ।

इह अयोगिभिः भेत्तुमशक्यम्, अत एव योगाभ्यासादिक्रमेण अवश्यज्ञातव्यं मध्यम्—मध्यप्राणशक्तिम्, ज्ञात्वा—तत्तच्चक्रादिभेदनेन निरर्गलं प्रवहन्तीमनुभूय, यो न लिप्यते—प्राणापानोभयवाहनिमग्नो न भवेत्, अत एव तत्र मध्यशक्तावनन्तरोक्ते मन्त्राद्यात्मनि विभागक्रमे दार्ढ्येन लब्धानुभवः; स तात्त्विकार्थोपदेष्टा पशून् मोचयेत्—तत्तच्चक्राधारादिभ्य उन्मज्जयेत्—इत्यर्थः ॥

कथञ्च एतत् गुरुः कुर्यात्—इत्याह—

गुरोरग्रे विशेच्छिष्यो वक्त्रं वक्त्रे तु वेधयेत् ॥ २७३ ॥
रूपं रूपे तु विषयैर्यावत्समरसीभवेत् ।

गिरा देता है वैसे यह भी । पर = कटाक्षित । महायोगी = शिवत्वभाव को देने वाला और गुरु इनको सब (वेधों) के अन्त में जोड़ना चाहिये ॥ २७१ ॥

आगम में भी ऐसा कहा गया है—यह कहते हैं—

श्रीमत् वीरावलिकुल में ऐसा कहा गया है ॥ २७२- ॥

उसी को बतलाते हैं—

जो अभेद्य और सर्वथा ज्ञेय मध्यप्राण शक्ति को जानकर लिप्त नहीं होता, उस विभागक्रम में सिद्ध वह गुरु पशुओं को मुक्त करा देता है ॥ -२७२-२७३- ॥

अयोगियों के द्वारा भेदन करने में अशक्य, इसलिये योगाभ्यास आदि के क्रम से अवश्य ज्ञातव्य मध्य को = मध्यम प्राणशक्ति को, जानकर = तत्तत् चक्र आदि के भेदन के द्वारा निर्बाध प्रवहमान का अनुभव कर, जो लिप्त नहीं होता = प्राण-अपान युगल के प्रवाह में निमग्न नहीं होता, इसलिये वहाँ = मध्यशक्ति में, पूर्वोक्त मन्त्र आदिरूप विभागक्रम में दृढ़ता के साथ अनुभव प्राप्त करने वाला, वह = तात्त्विक अर्थोपदेष्टा, पशुओं को मुक्त कराता है = शिष्य को तत्तत् चक्र आधार आदि से बाहर कर देता है ॥

गुरु इसे कैसे करे—यह कहते हैं—

स्वाग्रोपविष्टस्य हि शिष्यस्य गुरुर्वक्त्रे

'........................शैवी मुखमिहोच्यते ।' (वि०भै०श्लो० २०)

इत्याद्युक्त्या तन्मध्यशक्तौ स्वां मध्यशक्तिं तदीयरूपे तद्ग्राहके चक्षुरिन्द्रिये स्वं चक्षुरिन्द्रियरूपमेतदुपलक्षितेषु तत्तदिन्द्रियान्तरेष्वपि स्वेन्द्रियान्तराणि वेधयेत् तन्निमित्तं प्रयुञ्जीत, यावद्विषयीक्रियमाणैरेभिः समरसीभवेत्—तदैकात्म्यमासादयेत्—इत्यर्थः ॥

ननु एवमपि किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

चित्ते समरसीभूते द्वयोरौन्मनसी स्थितिः ॥ २७४ ॥
उभयोश्चोन्मनोगत्या तत्काले दीक्षितो भवेत् ।
शशिभास्करसंयोगे जीवस्तन्मयतां व्रजेत् ॥ २७५ ॥

दीक्षित इति—अर्थात् शिष्यः । यतस्तदात्मा शशिभास्करयोः प्राणापानयोः मध्यशक्तौ सम्यक् स्वस्वरूपत्रोटनेन सामरस्यात्मनि योगे सति तन्मयतां व्रजेत्—तदैकमध्यमासादयेत्—इत्यर्थः ॥ २७५ ॥

शिष्य गुरु के सामने बैठे । (तत्पश्चात् गुरु शिष्य के) मुख में (अपने) मुख को विद्ध करे । इसी प्रकार रूप में रूप को (विद्ध करे) जब तक कि (शिष्य) विषयों से समरस न हो जाय ॥ -२७३-२७४- ॥

गुरु अपने आगे बैठे हुये शिष्य के मुख में—

'शिष्य शक्ति अवस्था में प्रवेश कर अभेद अद्वय भावना एवं शाक्तअस्तित्व के कारण शिवरूप हो जाता है । यही यहाँ (= शैवागम में) शैवी मुख कहा जाता है ।' (वि.भै. श्लो. २०)

इत्यादि उक्ति के अनुसार उसकी मध्यशक्ति में अपनी मध्यशक्ति को उसके रूप में = रूपग्राहक चक्षुरिन्द्रिय में अपने चक्षुरिन्द्रिय गर्तरूप को और इससे उपलक्षित तत्तत् अन्य इन्द्रियों में भी अपनी इन्द्रियों को विद्ध करे = उसके लिये प्रयोग करे (तब तक) जब तक कि विषय बनाये जाने वाले इनके द्वारा (शिष्य) समरस हो जाय = उससे तादात्म्य प्राप्त कर ले (अर्थात् गुरु और शिष्य का मुख इन्द्रिय आदि सब कुछ अभिन्न हो जाय)॥

प्रश्न—ऐसा होने पर भी क्या होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चित्त के समरस होने पर दोनों की उन्मना स्थिति हो जाती है । दोनों की उन्मना गति के कारण (शिष्य) तत्काल दीक्षित हो जाता है । चन्द्रमा और सूर्य का संयोग होने पर जीव तन्मय हो जाता है ॥ -२७४-२७५ ॥

दीक्षित = शिष्य । जिससे वह जीवात्मा, शशिसूर्य = प्राणअपान, का मध्यशक्ति में सम्यक् अपने पृथक् स्वरूप को हटा देने से फलतः सामरस्यात्मक

एतच्च कारणानामपि आशंसास्पदम्—इत्याह—

अत्र ब्रह्मादयो देवा मुक्तये मोक्षकाङ्क्षिणः ।

ननु एवं कस्मात्?—इत्याशङ्क्य आह—

निरुध्य रश्मिचक्रं स्वभोगमोक्षावुभावपि ॥ २७६ ॥
ग्रसते यदि तद्दीक्षा शार्वीयं परिकीर्तिता ।

यदि नाम अयमेवंविधो गुर्वादिः स्वं मनःप्रभृति रश्मिचक्रं निरुध्य उभौ परस्परव्यावृत्तौ भोगमोक्षावपि ग्रसते भोगेऽपि मुक्तस्तदियं पारमेश्वरी दीक्षा परिकीर्तिता जीवन्मुक्तिप्रदत्वेन प्रख्याता—इत्यर्थः ॥

अत एव आह—

स एष मोक्षः कथितो निःस्पन्दः सर्वजन्तुषु ॥ २७७ ॥
अग्नीषोमकलाघातसङ्घातात् स्पन्दनं हरेत् ।

निःस्पन्द इति—सर्वदशास्वपि अविचलद्रूपः—इत्यर्थः । एवं दीक्षितो हि प्रमाणप्रमेयमयप्राणापानात्मनोरग्नीषोमयोः कलानां पौनःपुन्येन आघातात्स्वरूपा-

---

योग होने पर, तन्मयता को प्राप्त हो जाता है = उससे एक रूपता प्राप्त कर लेता है ॥ २७५ ॥

और यह (पञ्च) कारणों की भी इच्छा का विषय होता है—यह कहते हैं—

ब्रह्मा आदि देवता भी मोक्षेच्छु होकर इस विषय में मुक्ति के लिये (प्रयास करते हैं) ॥ २७६- ॥

प्रश्न—ऐसा किस कारण होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यदि (गुरु) अपने इन्द्रियचक्र का निरोध कर भोग एवं मोक्ष दोनों को ग्रसित करता है तो वह यहं दीक्षा पारमेश्वरी कही गयी है ॥ -२७६-२७७- ॥

यदि इस प्रकार का यह गुरु आदि अपने मन आदि इन्द्रियचक्र का निरोध करने के बाद परस्परविरोधी भोग और मोक्ष दोनों को ग्रसित करता है = भोग में भी मुक्त रहता है तो यह पारमेश्वरी दीक्षा कही गयी है = जीवन्मुक्ति देनें वाली कही गयी हैं ॥

इसलिये कहते हैं—

यह मोक्ष समस्त प्राणियों में निःस्पन्द कहा गया है । (यह) अग्नि सोम की कला के घात-सङ्घात के द्वारा स्पन्द को नष्ट कर देता है ॥ -२७७-२७८- ॥

निःस्पन्द = सब दशाओं में अविचल । इस प्रकार दीक्षित (शिष्य) प्रमाण

पोहनेन प्रमातृरूपे एव विश्रान्त्या स्पन्दनं हरेत्—बहिर्मुखतां शमयेत्—इत्यर्थः ॥

एवञ्च अस्य कथं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

बाह्यं प्राणं बाह्यगतं तिमिराकारयोगतः ॥ २७८ ॥
निर्यातं रोमकूपैस्तु भ्रमन्तं सर्वकारणैः ।
मध्यं निर्लक्ष्यमास्थाय भ्रमयेद्विसृजेत्ततः ॥ २७९ ॥
सङ्घट्टोत्पाटयोगेन वेधयेद् ग्रन्थिपञ्चकम् ।
सङ्घट्टवृत्तियुगलं मध्यधाम विचिन्तयेत् ॥ २८० ॥
नात्मव्योमबहिर्मन्त्रदेहसंधानमाचरेत् ।
दीक्षेयं सर्वजन्तूनां शिवतापत्तिदायिका ॥ २८१ ॥

इह बहिः प्रसरणशीलमपि प्रमेयात्मकत्वात् बाह्यमपानं प्राणं च तद्विश्रान्त्युन्मुखत्वात् मध्यम्, अत एव रोमकूपात्मनाडिद्वारैः सर्वतः प्रसरद्रूपम्

'नहि भेदात्परं दुःखं तमो नाद्वयसंवृतेः ।'

इत्याद्युक्त्या तिमिराकारं प्रमातृरूपमवलम्ब्य ब्रह्मादिभिः कारणैरधिष्ठितेषु

प्रमेय मय प्राणअपानात्मक अग्नि एवं सोम की कलाओं के बार-बार के आघात से = स्वरूपगोपन के द्वारा प्रमातारूप में ही विश्राम के द्वारा, स्पन्दन को नष्ट कर देता है = बहिर्मुखता को शान्त कर देता है ॥

ऐसा इसको कैसे हो जाता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

बाह्य प्राण जो कि तिमिराकार होने के कारण बाह्यगामी, रोमकूपों से निकलने वाला, समस्त कारणों से (अधिष्ठित न होने से) बाहर भ्रमणशील है, मध्य और निर्लक्ष्य है (उसे वहीं) भ्रमण कराये । फिर उसका विसर्जन करे । जिसे सङ्घर्षण और उत्पाटन के द्वारा पाँच ग्रन्थियों (ब्रह्म, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव नामक पाँच ग्रन्थि) का भेदन करे। सङ्घट्टस्थ दोनों का सुषुम्ना में चिन्तन करे । आत्मा, व्योम, बाह्यविषय, मन्त्र, देह का सन्धान न करे । यह दीक्षा समस्त प्राणियों के लिये शिवत्वभाव देने वाली है ॥ -२७८-२८१ ॥

प्रमेयात्मक होने से बाहर प्रसरणशील भी बाह्य प्राण और अपान, मध्यधाम में विश्रान्ति की ओर उन्मुख होने के कारण मध्य, इसलिये रोमकूपरूप नाडी के द्वारा सर्वत्र फैलने वाला—

'भेद से बढ़कर दुःख और अद्वयसंवरण से बढ़कर अन्धकार (= अज्ञान) नहीं है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा तिमिराकार, प्रमातृरूपता को प्राप्त कर ब्रह्मा आदि

स्थानेषु उर्ध्वं गतिरोधात् भ्रमन्तमपि ध्येयान्तरपरित्यागाश्रयणेन यत्रैव भ्रमयेत्; तथा भ्रमणानन्तरं च विसृजेत् येन प्राणापानयोः सङ्घट्टस्य ऊर्ध्वगतयोगेन तत्तत्कारणाधिष्ठितं ग्रन्थिपञ्चकं वेधयेत् यथा समरसीभूतप्राणापानयुग्मं मध्यधाम विचिन्तयेत् —तत्रैव बद्धावधानो भवेत् येन परिमितात्मनो व्योम्नः—शून्यस्य बहिः—बाह्यस्य नीलादेः प्रतिबिम्बधारणात् गुप्तभाषिण्या बुद्धेर्देहस्य च सन्धानं न आचरेदात्मन्येव साक्षात्कारमनुभवेत् येन अस्या दीक्षायाः शिवतापत्तिदायित्वमुक्तम् ॥ २८१ ॥

एवं बहुविधां वेधदीक्षामभिधाय तदितिकर्तव्यताशेषमपि आह—

दीक्षान्ते दीपकान् पक्त्वा समस्तैः साधकैः सह ।
चरुः प्राश्यः कुलाचार्यैर्महापातकनाशनः ॥ २८२ ॥
इति श्रीरत्नमालायामूनाधिकविधिस्तु यः ।
स एव पातकं तस्य प्रशमोऽयं प्रकीर्तितः ॥ २८३ ॥

न च एतत् स्वमनीषिकया अभिहितम्—इत्युक्तम्—इति श्रीरत्नमालायाम्—इति । तदुक्तं तत्र—

'दीक्षान्ते दीपकाः कार्याः पचित्वा साधकैः सह ।
चरुः प्राश्यः कुलाचार्यैर्महापातकनाशनः ॥' इति ।

कारणों से अधिष्ठित स्थानों में ऊर्ध्वगति न होने के कारण भ्रमण करते हुये भी अन्य ध्येय के न होने से उसी (स्थान) में परिभ्रमित कराये । तथा भ्रमण के बाद छोड़ दे जिससे प्राण और अपान के सङ्घट्ट के ऊर्ध्वगमन के द्वारा तत्तत् कारणों से अधिष्ठित पाँच ग्रन्थियों का भेदन करे जिससे कि समरस हुये प्राणअपानयुगल वाले मध्यधाम का, चिन्तन करे = उसी में ध्यानबद्ध हो जाय जिससे परिमितरूप व्योम = शून्य, बाह्य नील आदि का प्रतिबिम्ब धारण करने से गुप्तभाषिणी बुद्धि और देह का सन्धान करे अर्थात् आत्मसाक्षात्कार का ही अनुभव करे । इस कारण इस दीक्षा को शिवतापत्तिदायी कहा गया है ॥ २८१ ॥

अनेक प्रकार की वेधदीक्षा को बतलाकर उसके इतिकर्त्तव्यताशेष को भी कहते हैं—

दीक्षा के अन्त में दीपक जलाकर आचार्य समस्त साधकों के साथ महापातकनाशक चरु का भक्षण करे—ऐसा श्रीरत्नमाला में (कहा गया है)। जो कम या अधिक विधिं है वही पातक है । उसी की यह शान्ति कही गयी है ॥ २८२-२८३ ॥

उसे अपने मन से नहीं कहा गया—यह कहा गया कि—

श्रीरत्नमाला में । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'दीक्षा के अन्त में दीपक जलाये और कुलाचार्यलोग साधकों के साथ महापाप

ननु

'यावन्न सर्वे तत्त्वज्ञास्तावद्दीपं न दर्शयेत् ।'

इत्युक्तनयेन अतत्त्वविदां तावदेवं चरुप्राशन निषिद्धम्, तत्त्वविदां च पापस्पर्शाशङ्कापि नास्ति; तत् किमभिप्रेत्य अत्र महापातकनाशन इति उक्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—ऊनेत्यादि ॥ २८३ ॥

अत्रैव पूर्णतानिमित्तमितिकर्तव्यतान्तरमपि आह—

परेऽहनि गुरोः कार्यो यागस्तेन विना यतः ।
न विधिः पूर्णतां याति कुर्याद्यत्नेन तं ततः ॥ २८४ ॥
येन येन गुरुस्तुष्येत्तत्तदस्मै निवेदयेत् ।

न विधिः पूर्णतां यातीत्यनेन अस्य यागाङ्गत्वमुक्तम्, न तु तत्तुष्टिकारित्वम् ॥

कश्च अत्र विधिर्विवक्षितो यस्य अनेन पूर्णता स्यात्—इत्याह—

चक्रचर्यान्तरालेऽस्या विधिः सञ्चार उच्यते ॥ २८५ ॥
अलिपात्रं सुसंपूर्णं वीरेन्द्रकरसंस्थितम् ।
अवलोक्य परं ब्रह्म तत्पिबेदाज्ञया गुरोः ॥ २८६ ॥
तर्पयित्वा तु भूतानि गुरवे विनिवेदयेत् ।

का नाशक चरु पका कर खायें ।' प्रश्न है कि—

'जब तक सब (शिष्य) तत्त्वज्ञानी न हो जायें तब तक दीपक न दिखाये'

इस नियम के अनुसार अतत्त्वज्ञ के लिये चरुभक्षण निषिद्ध है और तत्त्वज्ञों के लिये पाप के स्पर्श की शङ्का भी नहीं है फिर क्या समझ कर 'महापातकनाशन कहा गया?—उत्तर है कि न्यूनाधिक......... ॥ २८३ ॥

इसी में पूर्णता बनाने वाली दूसरी इतिकर्त्तव्यता को कहते हैं—

दूसरे दिन गुरु का यज्ञ (= पूजन) करे क्योंकि उसके बिना विधि पूर्ण नहीं होती इसलिये प्रयत्नपूर्वक उसे करना चाहिये । जिस-जिस वस्तु आदि के द्वारा गुरु सन्तुष्ट हों वह-वह गुरु को निवेदित करे ॥ २८४-२८५- ॥

'विधि पूर्ण नहीं होती' इस कथन से इसकी यागाङ्गता कही गयी न कि यह उस (गुरु) की तुष्टि करने वाला है—यह कहा गया ॥

यहाँ कौन सी विधि विवक्षित है जिसकी इससे पूर्णता होती है—यह कहते हैं—

चक्रचर्या के बीच में इसकी (= मुख्य क्रिया की) विधि को सञ्चार कहा जाता है । मद्यपात्र को पूरा भर कर आचार्य के हाथ में

अस्या इति—दीक्षायाः । वीरेन्द्रः—आचार्यः ॥ एतदेव अत्र शिक्षयति—

कृत्वा भुवि गुरुं नत्वादाय संतर्प्य खेचरीः ॥ २८७ ॥
स्वं मन्त्रं तच्च वन्दित्वा दूतीं गणपतिं गुरुन् ।
क्षेत्रपं वीरसङ्घातं गुर्वादिक्रमशस्ततः ॥ २८८ ॥
वीरस्पृष्टं स्वयं द्रव्यं पिवेन्नैवान्यथा क्वचित् ।

कृत्वा भुवीति—अर्थादात्मानम्, तेन भुवि पतित्वा गुरोः प्रणामः कार्यः—इत्यर्थः । तच्च अलिपात्रं वन्दित्वा आदायेति योज्यम् । वीरस्पृष्टमिति—गुर्वादिक्रमेण सर्वेषां पीतशेषम्—इत्यर्थः ॥

एतच्च तत्त्वज्ञैरेव सामयिकैः सह कार्यं, न अन्यैः—इत्याह—

परब्रह्मण्यवेत्तारोऽगमागमविवर्जिताः ॥ २८९ ॥
लोभमोहमदक्रोधरागमायाजुषश्च ये ।
तैःसाकं न च कर्तव्यमेतच्छ्रेयोर्थिनात्मनि ॥ २९० ॥

कदा च एतत्कार्यम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

स्थित उसको परब्रह्म (की भावना से) देख कर गुरु की आज्ञा से उसका पान करे ॥ -२८५-२८७- ॥

इसकी = दीक्षा की । वीरेन्द्र = आचार्य ॥

(अपने को) भूमि पर (दण्डवत्) कर गुरु को प्रणाम कर (मद्य को) लेकर (उससे) खेचरियों का तर्पण कर अपने मन्त्र और उस (अलिपात्र) को फिर दूती गणेश गुरु क्षेत्रपाल वीरसङ्घात को प्रणाम कर गुरु आदि के क्रम से वीराचारी के द्वारा पीत शेषद्रव्य को स्वयं पीये अन्यथा कभी नहीं ॥ -२८७-२८९- ॥

भूमिपर करके अर्थात् अपने को । इसका अर्थ है कि भूमि पर गिरकर गुरु को प्रणाम करे । और उस अलिपात्र को प्रणाम कर लेकर—ऐसा अन्वय करना चाहिये । वीरस्पृष्ट = गुरु आदि के क्रम से सबके पीने के बाद अवशिष्ट ॥

इसे तत्त्वज्ञ समयी लोगों के साथ ही करना चाहिये अन्य के साथ नहीं—यह कहते हैं—

जो परब्रह्म को नहीं जानते, अगम्य आगम (के ज्ञान) से रहित हैं तथा लोभ मोह मद क्रोध राग माया से युक्त हैं, अपने विषय में मोक्ष चाहने वाले के द्वारा उनके साथ इसे नहीं किया जाना चाहिये ॥ -२८९-२९० ॥

इसे कब करना चाहिये?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यागादौ यागमध्ये च यागान्ते गुरुपूजने ।
नैमित्तिकेषु प्रोक्तेषु शिष्यः कुर्यादिमं विधिम् ॥ २९१ ॥

प्रोक्तेष्विति—अष्टाविंशाह्निके ॥ २९१ ॥

आह्निकार्थमेव श्लोकार्धेन उपसंहरति—

इति रहस्यविधिः परिचर्चितो गुरुमुखानुभवैः सुपरिस्फुटः ।

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके रहस्यविधिप्रकाशनं नाम एकोनत्रिंशमाह्निकम् ॥ २९ ॥

इति शिवम् ॥

श्रीमद्गुरुपदेशप्रक्रमसङ्क्रान्तकौलिकानुभवः ।
एकान्नत्रिंशमिदं जयरथनामाह्निकं व्यवृणोत् ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते रहस्यविधिप्रकाशनं नाम एकोनत्रिंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ २९ ॥
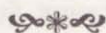
याग के आदि मध्य अन्त में गुरुपूजा में उक्त नैमित्तिक पर्वों पर शिष्य इस विधि को करे ॥ २९१ ॥

प्रोक्त = अट्ठाईसवें आह्निक में ॥ २९१ ॥

इस आह्निक के विषय को श्लोकार्ध से उपसंहृत करते हैं—

इस प्रकार गुरुमुख के अनुभवों से सुपरिस्फुट रहस्यविधि कही गयी ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के एकोनत्रिंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २९ ॥

श्रीमद् गुरु के उपदेश क्रम से लौकिक अनुभव को संक्रान्त करने वाले जयरथ नामक (विद्वान्) ने उन्तीसवें आह्निक की व्याख्या की ॥

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के एकोनत्रिंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २९ ॥

त्रिंशमाह्निकम्
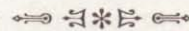
* विवेकः *

सहजपरामर्शात्मकमहावीर्यसौधधौततनुम् ।
अभिमतसाधकसाधकमनोऽनुगं तं मनोऽनुगं नौमि ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन मन्त्रान् निरूपयितुमाह—

अथ यथोचितमन्त्रकदम्बकं त्रिककुलक्रमयोगि निरूप्यते ।

ननु किमनेन निरूपितेन?—इत्याशङ्क्य आह—

तावद्विमर्शानारूढधियां तत्सिद्धये क्रमात् ॥ १ ॥

तावान्—पूर्णः । तत्सिद्धये इति—पूर्णाहंविमर्शारोहसंपत्त्यर्थम्—इत्यर्थः ॥१॥

---

* ज्ञानवती *

स्वाभाविक परामर्शात्मक महाबल रूपी चूना से धुली शरीर वाले, अभिमत को सिद्ध करने वाले तथा साधकों के मनोऽनुकूल तथा मनोऽनुगामी इस (= आत्मतत्त्व) को प्रणाम करता हूँ ।

अब द्वितीयार्ध के द्वारा मन्त्रों का निरूपण करने के लिये कहते हैं—

अब त्रिक कुल एवं क्रम से सम्बद्ध यथोचित मन्त्रसमूह का निरूपण किया जाता है ॥ १- ॥

प्रश्न—इस निरूपण से क्या लाभ है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उतने विमर्श पर अनारुढ बुद्धि वालों के लिये क्रमशः उसकी सिद्धि के लिये (निरूपण किया जा रहा है) ॥ -१ ॥

तावान् = पूर्ण । उसकी सिद्धि के लिये = पूर्ण अहंविमर्श के आरोह की प्राप्ति के लिये ॥ १ ॥

ननु कथमनेन तत् स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

प्रतिबुद्धा हि ते मन्त्रा विमर्शैकस्वभावकाः ।

ननु विमर्शस्वभावत्वं नाम कर्तुरेव संभवतीत्युक्तं प्राक् बहुशः, मन्त्राश्च करणरूपा इति कथमेषामेवं न्याय्यम्?—इत्याशङ्क्य आह—

स्वतन्त्रस्यैव चिद्धाम्नः स्वातन्त्र्यात् कर्तृतामयाः ॥ २ ॥

ननु यदि एवं तत् कथमाचार्यस्य दीक्षानुग्रहादौ कर्तृत्वं घटते?—इत्याशङ्क्य आह—

यमाविशन्ति चाचार्यं तं तादात्म्यनिरूढितः ।
स्वतन्त्रीकुर्वते यान्ति करणान्यपि कर्तृताम् ॥ ३ ॥

ननु यदि एवं, तत् करणमन्तरेण एषां कर्तृत्वमेव कथं घटते?—इत्याशङ्क्य उक्तम्—यान्ति करणान्यपि कर्तृतामिति । मन्त्रा हि कर्तृतां यान्त्यपि करणानि अजहत्कर्तृभावां करणतामधिशेरते—इत्यर्थः ॥ ३ ॥

इदानी मन्त्राणामेव स्वरूपं निरूपयति—

आधारशक्तौ ह्रीं पृथ्वीप्रभृतौ तु चतुष्टये ।

प्रश्न—इससे वह (= पूर्ण अहं विमर्श के आरोह की प्राप्ति) कैसे होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

क्योंकि प्रबुद्ध वे मन्त्र विमर्शमात्रस्वभाव वाले हो जाते हैं ॥ २- ॥

प्रश्न—विमर्शस्वभाव कर्त्ता के लिये ही सम्भव है—ऐसा पहले कई बार कहा जा चुका है, और मन्त्र करणरूप हैं फिर इनके बारे में वह (= विमर्श स्वभावता) कैसे न्याय्य है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

स्वतन्त्र चिद्धाम के स्वातन्त्र्य के कारण वे कर्त्ता हो जाते हैं ॥ -२ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो दीक्षा अनुग्रह आदि में आचार्य को कर्त्ता कैसे माना जाता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जिस आचार्य में (इनका) आवेश होता है, तादात्म्यप्रौढ़ि के कारण उस (आचार्य) को (ये मन्त्र) स्वतन्त्र कर देते हैं । इसलिये कर्त्ता होते हुये भी वे (= मन्त्र) करण हो जाते हैं ॥ ३ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो करण के बिना ये कर्त्ता कैसे होते हैं?—यह शङ्का कर कहा गया—करण भी कर्त्ता हो जाते हैं । मन्त्र कर्त्ता होते हुये भी करण होते है अर्थात् कर्त्तृभाव के साथ करणभाव को भी प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

अब मन्त्रों का स्वरूप बतलाते हैं—

क्ष्लां क्ष्वीं वं क्षमिति प्राहुः क्रमाद्वर्णचतुष्टयम् ॥ ४ ॥
हं नाले यं तथा रं लं वं धर्मादिचतुष्टये ।
ऋं ॠं लृं ॡं चतुष्के च विपरीतक्रमाद्भवेत् ॥ ५ ॥
ओं औं हस्त्रयमित्येतद्विद्यामायाकलात्रये ।
अनुस्वारविसर्गौं च विद्येशेश्वरतत्त्वयोः ॥ ६ ॥
कादिभान्ताः केसरेषु प्राणोऽष्टस्वरसंयुतः ।
सबिन्दुको दलेष्वष्टस्वथ स्वं नाम दीपितम् ॥ ७ ॥
शक्तीनां नवकस्य स्याच्छषसा मण्डलत्रये ।
सबिन्दुकाः क्ष्मं प्रेते जूं शूलशृङ्गेषु कल्पयेत् ॥ ८ ॥
पृथगासनपूजायां क्रमान्मन्त्रा इमे स्मृताः ।
संक्षेपपूजने तु प्रागाद्यमन्त्यं च बीजकम् ॥ ९ ॥
आदायाधारशक्त्यादिशूलशृङ्गान्तमर्चयेत् ।
अग्निमारुतपृथ्व्यम्बुसषष्ठस्वरबिन्दुकम् ॥ १० ॥
रतिशेखरमन्त्रोऽस्य वक्त्राङ्गं ह्रस्वदीर्घकैः ।
अग्निप्राणाग्निसंहारकालेन्द्राम्बुसमीरणाः ॥ ११ ॥
सषष्ठस्वरबिन्द्वर्धचन्द्राद्याः स्युर्नवात्मनः ।

आधारशक्ति में ह्रीं पृथिवी आदि चार में क्रम से क्ष्लां क्ष्वीं, वं क्षं ये चार वर्ण (मन्त्र) हैं । नाल में हं तथा धर्म आदि (= अर्थ काम और मोक्ष) चार में यं रं लं वं हैं । इसी प्रकार विपरीत क्रम से (अधर्म अनर्थ निषिद्ध काम और भोग) में ऋं ॠं लृं ॡ हैं । विद्या माया और कला (इन) तीनो में ओं औं और हः, विद्येश और ईश्वर तत्त्व में अनुस्वार और विसर्ग हैं । केशरों में क से लेकर भ तक (२४ अक्षर) आठ दलों में बिन्दु और आठ स्वरों से युक्त प्राण (= हकार इस प्रकार हं हां हिं हीं हुं हूं हें और हैं रूप होंगे) । इसके बाद अपना दीपित नाम और नव शक्तियाँ (= उक्त आठ स्वर तथा हकार) होंगी । तीनों मण्डलों में बिन्दु युक्त श ष स (= शं षं सं) होते हैं। प्रेत में क्ष्मं और शूलशृङ्गो में ज्रं की कल्पना करे । पृथक् आसन और (पृथक्) पूजा में क्रम से ये मन्त्र कहे गये हैं । संक्षेप पूजन में पहले आद्य और अन्त्य बीज को लेकर आधारशक्ति से शूलशृङ्ग तक पूजा करे । अग्नि मरुत् पृथिवी जल (= र् य् ल् व्) छठें स्वर (= ऊ) एवं बिन्दु से युक्त (इस प्रकार रूं यूं लूं वूं) वह रतिशेखर मन्त्र हैं । ह्रस्व और दीर्घ स्वरों से इसका वक्त्राङ्ग होता है । अग्नि प्राण अग्नि संहार काल इन्द्र जल वायु ये षष्ठ स्वर बिन्दु एवं अर्धचन्द्र आदि से युक्त होकर नवात्मा (र् ह् र् क्ष् म् ल् व् य् ऊ अक्षर) होते हैं ॥ ४-१२- ॥

पृथ्वीप्रभृताविति—धरायां सुरोदे पोते कन्दे च । तेन आधारशक्तौ मायाबीजम्, अन्यत्र तु नाभिर्वामस्तनक्षीराभ्यां कण्ठनासाभ्यां युक्ता केवला च, पोते तु कण्ठः तेजश्च सर्वत्रेति । नाले इति—दण्डे, तेन अत्र सौजाः प्राणः । विपरीते इति—अधर्मादौ, तेन अत्र ओजःसंभिन्नमन्तःस्थानां चतुष्टयं नपुंसकानां च । विद्येति—चतुष्किकारूपमसूरकमयी, मायेति—अधश्छादनरूपा, कलेति—ऊर्ध्वच्छादनरूपा । विद्याया एव ईश्वरतत्त्वं सन्निकृष्टोपरितनभूमिका, तेन अत्र जङ्घाद्वयं सविसर्गः प्राणश्चेति । विद्येशेति—विद्येश्वराधिष्ठानस्थानं पद्माकारमीश्वर-तत्त्वम्, ईश्वरेति—सदाशिवः; कर्णिकायां हि शुद्धावरणादिरूपा व्याप्तिः—इति भावः । कादिभान्ता इति—चतुर्विंशतिः, तेन प्रतिकेसरमेकैको वर्णः । प्राणः = हकारः । अआ इई उऊ एऐ इत्यष्टौ स्वराः । अथेति नवकस्येति च उक्तेरिदमापतितं यत् कर्णिकायामपि प्राण एव नवमस्वरभिन्न इति । तदुक्तम्—

'केसरेषु भकारान्ता हं हां हिं हीं च हुं तथा।
हूं हें हैं हों दलेष्वेवं स्वसंज्ञाभिश्च शक्तयः ॥' इति ।

मण्डलत्रये इति—अर्थादधिष्ठातृसहिते, तेन आग्नेये मण्डले गुह्यं सौरे उदरं चान्द्रे जीव इति । प्रेते च ओजःसंभिन्ने नाभिकटी । शूलशृङ्गेषु च सबिन्दुदण्डं शूलम् । आद्यमिति आधारशक्तिवाचकं मायाबीजम् । अन्त्यमिति—शूलारवाचकं

पृथिवी आदि में = पृथ्वी सुरोद (= जल) पोत (= वायु) और कन्द (= विश्व का मूल) में । इससे आधारशक्ति में मायाबीज और अन्यत्र वामस्तन एवं क्षीर तथा कण्ठ एवं नासिका से युक्त तथा अयुक्त नाभि । पोत में कण्ठ और तेज सर्वत्र (कल्पित होता है) । नाल में = दण्ड में इससे यहाँ ओजयुक्त प्राण ज्ञातव्य है । विपरीत में = अधर्म आदि में । इसलिये इसमें ओजः से युक्त अन्तःस्थ तथा नपुंसक वर्णो (की कल्पना है) । विद्या—चतुष्किका रूप मसूरकमयी (= मसूर के दाने के समान) माया—अधःछादन रूपा । कला—ऊर्ध्वछादनरूपा । ईश्वरतत्त्व विद्या की ही सन्निकृष्ट उपरिवर्त्ती भूमिका है । इसलिये यहाँ दोनों जङ्घाये और विसर्गयुक्त प्राण (समझना चाहिये) । विद्येश—विद्येश्वर का अधिष्ठान पद्माकार ईश्वर तत्त्व । ईश्वर = सदाशिव । कर्णिका में शुद्ध आवरणरूपा व्याप्ति है—यह भाव है। क से भ तक—चौबीस अक्षर । इससे प्रति केशर एक-एक वर्ण हैं । प्राण = हकार । अ आ इ ई उ ऊ ए और ऐ—ये आठ स्वर हैं । 'अथ' और 'नव का'—इस उक्ति से यह अर्थ निकला कि कर्णिका में भी नवम स्वर (= ओ) से भिन्न प्राण ही हैं । वही कहा गया—

'केशरों में (क से) भपर्यन्त (वर्ण) तथा दलों में हं हां हिं हीं हुं हूं हें हैं हो इसी प्रकार अपनी संज्ञाओं से युक्त शक्तियाँ हैं । तीनों मण्डलों में—अर्थात् अधिष्ठातृसहित (तीनों मण्डलों में) इससे आग्नेय मण्डल में गुह्य, सूर्य (मण्डल) में उदर और चन्द्र में जीव है । ओजःसम्भिन्न प्रेत में नाभि एवं कटि हैं ।

जूङ्कारं, तेन ह्रीं जूं आसनपक्षाय नमः—इत्यूहः । अग्निः = रेफः, मारुतः = य, पृथ्वी = ल, अम्बु = व, षष्ठः स्वरः = ऊकारः । अ इ उ ए ओ इति पञ्च ह्रस्वाः । आ ई ऊ ऐ औ अः इति षट् दीर्घाः । एवमापाते एव वचनादन्यत्रापि अङ्गवक्त्राणामियमेव वार्त्ता—इति आवेदितम् । अग्निः = रेफः, प्राणः = ह, अग्निः = रेफः, संहारः = क्ष, कालो म, इन्द्रः = ल, अम्बुः = व, समीरणो = य, षष्ठः स्वर ऊकारः ॥

बिन्द्वादीनां च अन्यत्र अन्यथा व्यपदेशः—इत्याह—

बिन्दुनादादिका व्याप्तिः श्रीमत्त्रैशिरसे मते॥ १२ ॥
क्षेपाक्रान्तिचिदुद्बोधदीपनस्थापनान्यथ ।
तत्संवित्तिस्तदापत्तिरिति संज्ञाभिशब्दिता ॥ १३ ॥
एतावती महाव्याप्तिर्मूर्तित्वेनात्र कीर्तिता ।

बिन्दोरेव च अर्धचन्द्रनिरोधिकान्ता व्याप्तिरिति अत्र तदनन्तरमेव नादस्य वचनम् । एवं बिन्दोः

'......................बिन्दुश्चैवेश्वरः स्वयम् ।' (स्व० ४।२६४)

इत्युक्तेरीश्वरतायां

शूलशृङ्गों में—बिन्दु एवं दण्ड के सहित शूल हैं । आद्य = आधारशक्तिवाचक माया बीज । अन्त्य = शूलार वाचक जूं । इससे 'ह्रीं जूं आसनपक्षाय नमः'—ऐसा समझना चाहिये । अग्नि = रेफ, मारुत = य, पृथ्वी = ल, अम्बु = व, छठां स्वर = ऊकार । अ इ उ ए ओ—ये पाँच ह्रस्व स्वर है । आ ई ऊ ऐ औ और अः ये छह दीर्घ स्वर हैं । प्रारम्भ में ही ऐसा कथन होने से अन्यत्र भी अङ्गवक्त्रों की यही स्थिति होती है—ऐसा कहा गया । अग्नि = र, प्राण = ह, अग्नि = र, संहार = क्ष, काल = म, इन्द्र = ल, अम्बु = व, समीरण = य, षष्ठस्वर = ऊकार' ॥

बिन्दु आदि का अन्यत्र अन्य प्रकार से व्यवहार है—यह कहते हैं—

श्री त्रिशिरोभैरव मत में क्षेप आक्रान्ति चिदुद्बोध, दीपन, स्थापन, तत्संवित्ति, तदापत्ति इन संज्ञाओं से कही जाने वाली बिन्दु नाद आदि वाली व्याप्ति है । इतनी महाव्याप्ति मूर्त्ति रूप से वहाँ कही गयी है ॥ -१२-१४- ॥

बिन्दु से अर्धचन्द्र निरोधिका पर्यन्त व्याप्ति है । इसलिये यहाँ उसके बाद ही नाद का कथन है (= अन्यथा क्रम तो है—बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी तब जाकर नाद का क्रम आता है)। इसी प्रकार बिन्दु की—

'स्वयं ईश्वर ही बिन्दु है ।'

'ईश्वरो बहिरुन्मेषो.........................।' (ई० प्र० ३।१।३)

इत्युक्त्या बहिरुल्लसनमेव सतत्त्वमिति क्षेप इति उक्तम् । नादस्य च—

'..................नादे वाच्यः सदाशिवः ।' (स्व० ४।२६५) इति

'...................निमेषोऽन्तः सदाशिवः ।' (ई०प्र० ३।१।३)

इति च उक्त्या बहिरुल्लसितस्य विश्वस्य अन्तराक्रमणमेव रूपमिति आक्रान्तिरिति । एवमपि इदन्तानिमज्जनादहन्तोन्मज्जनात्मनि नादान्ते प्रमातृ-रूपायाः संविद एव प्रबोध इति चिदुद्बोध इति । एवं बुद्धायाः संविदः शक्ति-दशायामुद्रेकः, व्यापिन्यां कथञ्चिदुद्रेकेऽपि तथैव अवस्थानम्, यावद्योगिनां समना-पदे तत्साक्षात्कारः, उन्मनाभूमौ च तदैकात्म्यमित्येवमुक्तम् । एतावतीति—उन्मनैकात्म्यापत्तिपर्यन्ता । यदुक्तं तत्र—

'क्षेपमाक्रमणं चैव चिदुद्बोधं च दीपनम् ।
स्थापनं चैव संवित्तिस्तदापत्तिस्तथैव च ॥
कारणक्रमयोगेन शास्त्रेऽस्मिन् सुरसुन्दरि ।
आधाराधेयभावेन मूर्तिः सप्तविधा स्मृता ॥'

इति उपक्रम्य

इस कथन से, ईश्वरता होने पर

'(परमतत्त्व का) बाहरी उन्मेष ही ईश्वर है ।'

इस उक्ति के अनुसार बाहर उल्लसन ही तत्त्व है, इसलिये क्षेप कहा गया । और नाद का

'नाद में सदाशिव वाच्य है ।' तथा

'(परमेश्वर का) अन्तर्निमेष सदाशिव है ।'

इस उक्ति के अनुसार बाहर उल्लसित विश्व का भीतर ले जाना ही रूप है अतः आक्रान्ति कहा गया है । ऐसा होने पर इदन्ता के निमज्जन के कारण अहन्ता के उद्भावन रूप नादान्त में प्रमातृरूपा संविद् का प्रबोध ही चिदुद्बोध है । फिर प्रबुद्ध संविद् का शक्तिदशा में उद्रेक और व्यापिनी में कथञ्चित् उद्रेक होने पर भी उसी प्रकार अवस्थान होता है । फिर योगियों को समना स्तर पर साक्षात्कार होता है और उन्मना भूमि में उसका (परमतत्त्व के साथ) तादात्म्य हो जाता है—यह कहा गया । इतनी = उन्मना के साथ तादात्म्य प्राप्ति तक । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'हे सुरसुन्दरी क्षेप, आक्रमण, चिदुद्बोध, दीपन, स्थापन, संवित्ति और तदापत्ति इस प्रकार इस शास्त्र में कारण के क्रम के योग से आधारअधेय भाव को ध्यान में रखते हुए मूर्त्ति सात प्रकार की कही गयी है ।'

'क्षेपस्तु कथितो बिन्दुराक्रान्तिर्नाद उच्यते ।
चिदुद्बोधः परावस्था दीपनं शक्तिरुच्यते ॥
स्थापनं व्यापिनी प्रोक्ता संवित्तिः समना स्मृता ।
उन्मना च तदापत्तिरित्येषा मूर्तिरुच्यते ॥' इति ॥

न केवलमियं मूर्तेरेव एतावती व्याप्तिः, यावत् मन्त्रदीपकतया अभिमतस्य नमस्कारस्य अपि—इत्याह—

परिणामस्तल्लयश्च नमस्कारः स उच्यते ॥ १४ ॥
एष त्र्यर्णोज्झितोऽधस्ताद्दीर्घैः षड्भिः स्वरैर्युतः ।
षडङ्गानि हृदादीनि वक्त्राण्यस्य च कल्पयेत् ॥ १५ ॥
क्षयरवलबीजैस्तु दीप्तैर्बिन्दुविभूषितैः ।
झकारसंहृतिप्राणाः सषष्ठस्वरबिन्दुकाः ॥ १६ ॥
एष भैरवसद्भावश्चन्द्रार्धादिविभूषितः ।
मातृकामालिनीमन्त्रौ प्रागेव समुदाहृतौ ॥ १७ ॥
ओङ्कारोऽथ चतुर्थ्यन्ता संज्ञा नतिरिति क्रमात् ।
गणेशादिषु मन्त्रः स्याद्बीजं येषु न चोदितम् ॥ १८ ॥
नामाद्यक्षरमाकारबिन्दुचन्द्रादिदीपितम् ।

ऐसा प्रारम्भ कर

'क्षेप को बिन्दु, आक्रान्ति को नाद, चिदुद्बोध को परावस्था, दीपन को शक्ति, स्थापन को व्यापिनी कहा गया है । संवित्ति को समना तथा तादात्म्यलाभ को उन्मना कहा गया है' ॥

केवल मूर्त्ति की ही यहाँ तक व्याप्ति नहीं है बल्कि मन्त्रों के दीपक के रूप में अभिमत नमस्कार की भी (व्याप्ति) है—यह कहते हैं—

उसमें (= मूर्त्ति में) लय होना परिणाम है । वह नमस्कार कहा जाता है । यह तीन वर्णों से रहित और नीचे छह दीर्घ स्वरों से युक्त है । इसके हृदय आदि छह अङ्गों और मुखों की कल्पना करनी चाहिये । दीप्त एवं बिन्दु से युक्त क्ष य र व ल बीजों एवं झकार संहार (= क्ष) प्राण (= ह) यें जब छठें स्वर और बिन्दु से युक्त हों तो यह भैरवसद्भाव है जो कि अर्द्धचन्द्र आदि से युक्त है । मातृका एवं मालिनी मन्त्र पहले ही कहे जा चुके हैं । ॐकार फिर चतुर्थ्यन्तनाम फिर नमः यह क्रम गणेश आदि के विषय में मन्त्र होता हैं जिनमें कि बीज नहीं कहे गये हैं (इस प्रकार 'ॐ गणेशाय नमः'—यह पहला मन्त्रस्वरूप है) ॥ -१४-१८ ॥

(देवता के) नाम का पहला अक्षर जो कि बिन्दु अर्धचन्द्र आदि से

सर्वेषामेव बीजानां तच्चतुर्दशषष्ठयुक् ॥ १९ ॥
आमन्त्रितान्यघोर्यादित्रितयस्य क्रमोदितैः ।
बीजैर्विसर्गिणी माया हुं हकारो विसर्गवान् ॥ २० ॥
पुनर्देवीत्रयस्यापि क्रमादामन्त्रणत्रयम् ।
द्वितीयस्मिन्पदेऽकार एकारस्येह च स्मृतः ॥ २१ ॥
ततः शक्तिद्वयामन्त्रो लुप्तं तत्रान्त्यमक्षरम् ।
हेऽग्निवर्णाविभौ पञ्चस्वरयुक्तौ परो पृथक् ॥ २२ ॥
अकारयुक्तावस्त्रं हुं ह विसर्गो पुनः शरः ।
तारेण सह वस्वग्निवर्णार्धार्णद्वयाधिका ॥ २३ ॥
एषा परापरादेव्या विद्या श्रीत्रिकशासने ।
पञ्चषट्पञ्चवेदाक्षिवह्निनेत्राक्षरं पदम् ॥ २४ ॥
अघोर्यादौ सप्तके स्यात् पिबन्याः परिशिष्टकम् ।
प्रत्येकवर्णगोऽप्युक्तः सिद्धयोगीश्वरीमते ॥ २५ ॥
देवताचक्रविन्यासः स बहुत्वात्र लिप्यते ।
माया विसर्गिणी हुं फट् चेति मन्त्रोऽपरात्मकः॥ २६ ॥
परायास्तूक्तसव्याप्तिर्जीवः सहचतुर्दशः ।

युक्त हो । (ॐ गं गणेशाय नमः—यह दूसरा स्वरूप हुआ) । समस्त बीजों को चौदहवें (= औ) और छठें (ऊ) स्वर से युक्त करे । (गौं गणेशाय नमः—यह तीसरा रूप है) । अघोरी आदि तीन का आमन्त्रित (= सम्बोधन का रूप, जैसे अघोरे इत्यादि) क्रम से कथित बीजों से युक्त विसर्गिणी माया (= ह्रीं) हुं और विसर्ग युक्त हकार = हः यह तीन रूप हुये । फिर तीन देवियों का क्रम से तीन आमन्त्रण और दूसरे पद में एकार को अकार (= भीमे को भीम) कहा गया । फिर दो शक्तियों (= वमनी पिबनी) का आमन्त्रण जहाँ कि अन्त्य अक्षर (= नी) लुप्त हो जायगा । (वम, पिब—यह एक रूप है) । हे दो अग्निवर्ण (= रेफ द्वय) दोनों अलग-अलग पञ्चम स्वर (उ) से युक्त फिर (दोनों रेफ) अकार से युक्त, अस्त्र (= फट्—यह एक रूप हुआ) । हुं विसर्ग युक्त ह फिर अस्त्र = (फट्) (यह एक रूप) । इस प्रकार ॐकार के साथ वसु अग्नि (अड़तीस और दो आधे वर्णों वाली यह परापरा देवी त्रिक शासन में उक्त है । अघोरी आदि सात में पाँच छह पाँच चार दो तीन दो अक्षरों (२७ अक्षरों) वाला पद है । पिबनी का परिशिष्ट है । सिद्धयोगीश्वरी मत में उक्त प्रत्येक वर्णगामी भी देवता-चक्र-विन्यास ग्रन्थविस्तार भय से नहीं लिखा जा रहा है । विसर्गिणी माया (ह्रीः) और हुं फट् यह अपरात्मक मन्त्र है । और परा का (मन्त्र) उक्त सद् व्याप्ति वाला जीव (= सः) जो कि चतुर्दश

सानेकभेदा त्रिशिरःशास्त्रे प्रोक्ता महेशिना ॥ २७ ॥
स्वरूपतो विभिन्नापि रचनानेकसंकुला ।

इयमेतावती व्याप्तिरेव जातितया सर्वत्र प्रसिद्धो नमस्कार उच्यते यदसौ नमस्कर्तुर्देहादिप्रमातृताहारात् चित्प्रमातृतादानेन तात्कर्म्यात् परिणाम इव परिणामः। एवमपि अस्य तत्त्वादप्रच्यावो न संभाव्यः—इत्याह—तल्लयश्चेति । त्र्यर्णोज्झित इति—व य ऊ इत्येभिर्हीनः । बीजैरिति—ह्रस्वपञ्चकसंभिन्नैराकाश-वायुवह्निजलपृथ्वीरूपैः । दीप्तैरिति—ओकारादीनामकारादीनां ह्रस्वानामाग्नेय-स्वभावत्वात् तेजोमयैरिति प्राच्याः, सरेफैरिति श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तपादाः । यदागमः—

'षड्‌विंशकं परं बीजं रेफयुक्तं सबिन्दुकम्।
पूर्ववक्त्रं महेशस्य देवीनां चैव पार्वति ।
मान्तान्तं तु सबिन्दुश्च सरेफं भैरवाकृति ।
दक्षिणं तद्भवेदास्यं देवदेवीगणस्य तु ॥
पुनरैन्द्रं महाबीजमष्टाविंशतिमं शुभम् ।
सरेफं बिन्दुसंयुक्तं पश्चिमं वदनं शुभम् ॥
वारुणं च परं बीजमग्निबीजेन भेदितम् ।
बिन्दुमस्तकसंभिन्नं वदनं चोत्तरं शुभम् ।' इति ॥

वर्ण (= औ) के साथ हैं (इस प्रकार इसका रूप 'सौः' बनता है) त्रिशिरोभैरव शास्त्र में वह परमेश्वर के द्वारा अनेक भेद वाली कही गयी है। स्वरूपतः अभिन्न होते हुये भी वह अनेक रचना से युक्त है ॥ १९-२८-॥

यह इतनी व्याप्ति ही सर्वत्र जाति के रूप में प्रसिद्ध नमस्कार कहा जाता है । क्योंकि यह नमस्कर्त्ता के देह आदि के विषय में प्रमातृता के हटाने एवं चित्प्रमातृता के देने से तात्कर्म्य के कारण परिणाम के समान परिणाम है । इतने पर भी यह तत्त्व से च्युत नहीं होता है—यह कहते हैं—और उसका लय । तीन वर्णो से त्यक्त = व य ऊ इनसे हीन । बीजों से = पाँच ह्रस्वों से युक्त आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी रूपों से । दीप्त = ओकार आदि तथा अकार आदि ह्रस्व (वर्णो) के आग्नेयस्वभाव होने से तेजोमय—ऐसा प्राचीन लोग (कहते हैं) । रेफ से युक्त (होने से दीप्त है) ऐसा लक्ष्मण गुप्त (कहते हैं) । जैसा कि आगम है—

'हे पार्वती ! रेफ और बिन्दु से युक्त छब्बीसवाँ (वर्ण = ग्रं) परबीज ईश्वर और देवियों का पूर्व मुख है । हे भैरवाकृति! मान्तान्त (= ब) तथा रेफ और बिन्दु से युक्त (= ब्रं) देवदेवी समूह का दक्षिण मुख है । पुनः अट्ठाईसवाँ ऐन्द्र महाबीज (= ल) जो कि बिन्दु और रेफ से युक्त हैं (= ल्रं) सुन्दर पश्चिम मुख है । अग्निबीज से वेधित वारुण बीज (= व्रँ) जो कि बिन्दु और मस्तक से सम्भिन्न है शुभ उत्तर मुख है ।'

झकारो दक्षिणांगुलितया अभिमतः, संहृतिः = क्ष, प्राणः = ह । षष्ठ स्वरः = ऊकारः । प्रागिति—पञ्चदशाह्निके । न चोदितमिति—श्रीपूर्वशास्त्रे, तेन ओं गणेशाय नम इत्यादिः प्रयोगः । नामाद्यक्षरमिति—गणेशस्य गेति वागीश्वर्या वेति, तेन ओं गं गणेशाय नमः, ओं, वां वागीश्वर्यै नम इत्यादिः प्रयोगः । तदिति—नामाद्यक्षरम् । चतुर्दशः = औकारः, षष्ठः स्वरः = ऊकारः, तेन गूं (गणेशाय नमः) इति । अघोरे घोररूपे इति । क्रमोदितैर्बीजैरिति—अर्थादन्ते उपलक्षितानि । विसर्गिणीत्युक्तेर्माया अत्र बिन्दुरहिता । तेन अघोरे ह्रीः परमघोरे कवचबीजं घोररूपे हः इति । पुनरामन्त्रणत्रयमिति घोरमुखि भीमे भीषणे इति, किन्तु अत्र द्वितीयस्मिन्नामन्त्रणपदे एकारस्थाने अकारः कार्यो येन अस्य भीमेति रूपं स्यात् । शक्तिद्वयामन्त्र इति वमनि पिवनि इति । अन्त्यमिति—नीत्यक्षरम्, तेन वम पिव इति । ततोऽपि दक्षजानुयुतः प्राणः, अग्निवर्णाविति—रेफद्वयम् । पञ्चमःस्वर उकारः । पराविति—अग्निवर्णाविव, अस्त्रमिति—फट्, ततः कवच-बीजं, सविसर्गः प्राणश्च पुनःशर इति द्वितीयमस्त्रम् । तारेणेति—प्रथममवस्थितेन प्रणवेन । वस्वग्नीति = अष्टत्रिंशत् । अर्धार्णेति—अनच्कष्टकारः । तदुक्तं त्रिशिरोभैरवे—

> 'एवं परापरा देवी पदाष्टकविभूषिता ।
> अष्टत्रिंशाक्षरा सैषा प्रोद्धृता परमेश्वरी ॥

झकार—दक्षिण अंगुलि के रूप में माना गया । संहार = क्ष । प्राण = ह । षष्ठस्वर = ऊकार । पहले = पन्द्रहवें आह्निक में । नहीं कहा गया—श्री पूर्वशास्त्र में । इस प्रकार ॐ गणेशाय नमः—इत्यादि प्रयोग बनता है । नाम का पहला अक्षर—गणेश का 'ग' वागीश्वरी का 'वा' इससे 'ॐ गं गणेशाय नमः', 'ॐ वां वागीश्वर्यै नमः'—इत्यादि प्रयोग होता है । वह—नाम का पहला अक्षर । चौदहवाँ = औकार । षष्ठ स्वर = ऊकार । इससे 'गूँ' बनता है । अघोरी आदि तीन का आमन्त्रित—इससे अघोरे, परमघोरे, घोररूपे समझना चाहिये । क्रम से कथित बीज से—अर्थात् अन्त में उपलक्षित । विसर्गिणी-ऐसा कहने से यहाँ बिन्दुरहित माया ज्ञातव्य है । इसलिये अघोर के साथ ह्रीं, परमघोरे के साथ कवच बीज (= हुम्) और घोरेरूप में हः (जोड़ना चाहिये) । फिर तीन आमन्त्रण = घोरमुखि, भीमे और भीषणे को कहे । किन्तु यहाँ दूसरे आमन्त्रण पद में एकार के स्थान में अकार कहना चाहिये । इससे इसका रूप होता है—भीम । दो शक्तियों का आमन्त्रण—वमनि पिबनि । अन्त्य—'नि' इस अक्षर को, इससे वम पिब (रूप बनता है)। इससे भी दक्षजानुयुत प्राण । दो अग्निवर्ण = दो रेफ । पञ्चम स्वर = उकार । पर = दो अग्निवर्ण । अस्त्र = फट् । इसके बाद कवचबीज (= हुम्) और विसर्गयुक्तप्राण (= हः) । फिर शर = दूसरा अस्त्र । तार = प्रथम प्रणव । वसु अग्नि = अँड़तीस । अर्धार्ण = स्वररहित रकार । वही त्रिशिरोभैरव में कहा गया—

'इस प्रकार परापरा देवी आठ पदों से अलंकृत है । यह परमेश्वरी अँड़तीस

अर्धाक्षरद्वयं चास्या ज्ञातव्यं तत्त्ववेदिभिः ।' इति ॥

पञ्चेति—यथा ओं अघोरे ह्रीः इति अघोर्याः । वेदेति = चत्वारः । अक्षीति = द्वयम् । वह्नीति = त्रयम् । नेत्रेति = द्वयम् । परिशिष्टकमिति = सार्धार्णद्वयमेकादशाक्षरं पदम् । यदुक्तम्—

'परापराङ्गसंभूता योगिन्योऽष्टौ महाबलाः ।
पञ्च षट् पञ्च चत्वारि द्वित्रिद्व्यर्णाः क्रमेण तु ॥
ज्ञेयाः सप्तैकादशार्णा एकार्धार्णद्वयान्विता ।'
(मा.वि. ३।६०) इति ।

देवताचक्रेति—चत्वारिंशत्संख्याकस्य । यदुक्तं तत्र—

'प्रणवे भैरवो देवः कर्णिकायां व्यवस्थितः ।
अकारे उत्फुल्लनयना घोकारे पीनपयोधरा ॥
रेकारे त्वष्टृरूपा तु ह्रीःकारे व्याघ्ररूपिका ।
पकारे सिंहरूपा तु रकारे पाननिरता ॥
ततश्चैव क्रमायाता मकारे राक्षसी तथा ।
घोकारे मांसभक्षी तु रेकारे तु रणाशिनी ॥
रेतोवहा च हुङ्कारे घोकारे निर्भया स्मृता ।
रकारे घोरदशना रूकारे तु अरुन्धती ॥

अक्षरों वाली कही गयी है । तत्त्ववेत्ता लोगों को इसके दो अर्ध-अक्षरों को जानना चाहिये ।'

पञ्च—जैसे ओं अघोरे ह्रीः—यह अघोरी का (मन्त्र है) । वेद = चार । अक्षि = दो । वह्नि = तीन । नेत्र = दो । परिशिष्ट = आधे दो वर्णों के साथ ग्यारह अक्षर वाला पद । जैसा कि कहा गया—

'परापरा के अङ्ग से उत्पन्न अत्यन्त बलशाली आठ योगिनियाँ है । उनमें से सात क्रम से पाँच, छह, पाँच, चार, दो, तीन, दो वर्ण वाली (और आठवीं) एक के आधे-आधे (दो अर्ध) वर्णों से युक्त ग्यारह वर्णों वाली (जाननी चाहिये) ।'

देवताचक्र—चौवालिस संख्या वाले । जैसा कि वहाँ कहा गया—

(अब 'ॐ अघोरे ह्रीः परमघोरे हुं घोररूपे हः घोरमुखि भीमभीषणे बम पिब हे रु रु र र फट् हुं हः फट्'—इस परापरा देवी के बीज मन्त्र के एक-एक वर्ण में किस-किस देवता का निवास है—यह बतलाते हैं—)

'प्रणव में भैरव देव कर्णिका में (स्थित हैं), अकार में उत्फुल्लनयना, घोकार में पीनपयोधरा, रेकार में त्वष्टृरूपा, ह्रीःकार में व्याघ्ररूपिका, पकार में सिंहरूपा, रकार में पाननिरता, उसी क्रम से मकार में राक्षसी, घोकार में मांसभक्षी, रेकार में

क्रमेणैतास्तु विन्यस्य पेकारे प्रियवादिनी ।
हःकारे उग्ररूपा तु घोकारे नग्नरूपिणी ॥
रकारे रक्तनेत्री तु मुकारे चण्डरूपिणी ।
खिकारे पक्षिरूपा तु भीकारे भरणोज्ज्वला ॥
मकारे मारणी प्रोक्ता भीकारे च शिवा स्मृता ।
विन्यस्यैताः क्रमायाताः षकारे शाकिनी स्मृता॥
णेकारे यन्त्रलेहा तु वकारे वशकारिका ।
मकारे कालदमना पिकारे पिङ्गली स्मृता ॥
वकारे वर्धनी चैव हेकारे हिमशीतला ।
रुक्मिणी च रुकारेण रुकारेण हलायुधा ॥
वह्निरूपा रकारेण तेजोरूपा रकारजा ।
फकारे योनिरूपा तु टकारे पररूपिणी ॥
हुङ्कारे हुतवहाख्या हःकारे वरदायिका ।
फकारेण महारौद्रा टकारे पाशदायिका ॥' इति ।

बहुत्वादिति—ग्रन्थविस्तरभयात्, प्रक्रान्ते श्रीपूर्वशास्त्रे हि एतत्पूजनं न आम्नातम्—इत्याशयः । अपरात्मक इति = अपरासंबन्धी—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'अघोरान्तं न्यसेदादौ प्राणं बिन्दुयुतं पुनः ।

रणाशिनी, हुङ्कार में रेतोवहा, घोकार में निर्भया कही गयी है । रकार में घोरदशना, रूकार में अरुन्धती । इनका क्रम से विन्यास कर पेकार में प्रियवादिनी, हःकार में उग्ररूपा, घोकार में नग्नरूपिणी, रकार में रक्तनेत्री, मुकार में चण्डरूपिणी, खिकार में पक्षिरूपा, भीकार में भरणोज्ज्वला, मकार में मारणी कही गयी है । भीकार में शिवा कही गयी है । क्रम से आयी हुयी इनका न्यास कर षकार में शाकिनी, णेकार में यन्त्रलेहा, वकार में वशकारिका, मकार में कालदमना, पिकार में पिङ्गली, वकार में वर्द्धनी, हेकार में हिमशीतला, रुकार से रुक्मिणी, रुकार से हलायुधा, रकार से वह्निरूपा, रकार से उत्पन्न तेजोरूपा, फकार में योनिरूपा, टकार में पररूपिणी, हुङ्कार में हुतवहा, हःकार में वरदायिका, फटकार से महारौद्रा और टकार में पाशदायिका (जानना चाहिये) ।'

(इस प्रकार मन्त्र का स्वरूप होगा—ॐ अघोरे ह्रीः, परमघोरे हुम्, घोररूपे हः, घोरमुखि भीमभीषणे बम पिब, हे रु रु र ऱ फट्, हुं हः फट् ।)

बहुत होने से = ग्रन्थविस्तार के भय से । प्रकान्त में—श्रीपूर्वशास्त्र में यह पूजन नहीं कहा है—यह आशय है । अपरात्मक = अपरा सम्बन्धी । जैसा कि कहा गया—

'पहले अघोरान्त न्यास करे फिर बिन्दुयुक्त प्राण को वाममुद्रा से युक्त न्यास

वाममुद्रान्वितं न्यस्य पाद्यं काद्येन पूर्ववत् ॥'

(मा०वि० ३।५१) इति ।

उक्तेति—पूर्वम् । जीवः = स । चतुर्दशः = औ । स्वरूपाविभेदेऽपि अनेकप्रकारताप्रवचने रचनानेकसंकुलेति विशेषणद्वारेण हेतुः ॥

एतदेव शब्दान्तरद्वारेण पठति—

जीवः प्राणस्थ एवात्र प्राणो वा जीवसंस्थितः ॥ २८ ॥

जीव इति अर्थात् सचतुर्दशः । प्राणाः = ह ह । तदुक्तं तत्र—

'पराशक्तिस्तु सावित्र्या इच्छया च नियोजितः ।
जीवः प्राणस्थ एवात्र प्राणो वा जीवसंस्थितः ॥' इति ॥

तेन स्हौः ह्सौः वेति ॥

अनयोश्च आधाराधेयभावविपर्ययस्य अभिप्रायं प्रकटयन् विशेषणमेव प्रकाशयति—

आधाराधेयभावेन अविनाभावयोगतः ।
हंसं चामृतमध्यस्थं कालरुद्रविभेदितम् ॥ २९ ॥
भुवनेशशिरोयुक्तमनङ्गद्वययोजितम् ।

कर पूर्ववत् क आदि के द्वारा प आदि (का न्यास करे) ।

उक्त—पले । जीव = स । चतुर्दश = ओ । स्वरूप से अभिन्न होने पर भी अनेकप्रकारता के कथन में 'रचनानेकसंकुला' यह विशेषण के द्वारा हेतु है ॥

इसी का शब्दान्तर के द्वारा पाठ करते हैं—

यहाँ जीव ही प्राणस्थ है या प्राण ही जीवस्थ है ॥ -२८ ॥

जीव (= स्) अर्थात् चतुर्दश (स्वर) के साथ (= सौ) । प्राण = ह । वही वहाँ कहा गया—

'(प्रणव से लेकर 'फट्' तक के ४० अक्षरों वाला देवता चक्र ही) पराशक्ति है । और (विश्व की) सावित्री (= औ) और इच्छा (= विसर्ग) से युक्त जीव (= स) ही यहाँ प्राणस्थ है या प्राण (= ह) ही जीवस्थ है ।'

इससे—स्हौः या ह्सौः रूप बनेगा ॥

इन दोनों के आधाराधेय भाव के विपर्यय का अभिप्राय प्रकट करते हुये विशेषण को प्रकाशित करते हैं—

आधाराधेय भाव एवं अविनाभाव के कारण दो अमृत वर्णों (= स) के बीच स्थित हंस (= ह) जो कि कालरुद्र (= ऊ) से भेदित होकर (स्हसू)

दीप्ताद्दीप्ततरं ज्ञेयं षट्चक्रक्रमयोजितम् ॥ ३० ॥
प्राणं दण्डासनस्थं तु गुह्यशक्तीच्छया युतम् ।
परेयं वाचिकोद्दिष्टा महाज्ञानस्वरूपतः ॥ ३१ ॥
स्फुटं भैरवहज्ज्ञानमिदं त्वेकाक्षरं परम् ।
अमृतं केवलं खस्थं यद्वा सावित्रिकायुतम् ॥ ३२ ॥
शून्यद्वयसमोपेतं पराया हृदयं परम् ।
युग्मयोगे प्रसिद्धं तु कर्तव्यं तत्त्ववेदिभिः ॥ ३३ ॥
अन्येऽप्येकाक्षरा ये तु एकवीरविधानतः ।
गुप्ता गुप्ततरास्ते तु अङ्गाभिजनवर्जिताः ॥ ३४ ॥
यष्टव्याः साधकेन्द्रैस्तु कुलस्थाः सिद्धिदायकाः ।
कुलक्रमविधानेन सूक्ष्मविज्ञानयोगतः ॥ ३५ ॥
अनुष्ठेयाः सदा देवि स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।
सकारो दीर्घषट्केन युक्तोऽङ्गान्याननानि तु ॥ ३६ ॥
स्यात् स एव परं ह्रस्वपञ्चस्वरखसंयुतः ।
ओङ्कारैः पञ्चभिर्मन्त्रो विद्याङ्गहृदयं भवेत् ॥ ३७ ॥
प्रणवश्चामृते तेजोमालिनी स्वाहया सह ।

बनेगा तथा भुवनेशशिर (= औ) से युक्त एवं दो अनङ्ग (:) से भूषित होने पर स् ह् सूौः रूप बनेगा, षट्चक्र (रूप वर्ण = स्, ह्, स्, ऊ, औ तथा : को) क्रम से योजित करने पर उसको दीप्त से भी दीप्ततर जानना चाहिये । दण्ड (= र) आसन पर स्थित प्राण (= ह) जो कि गुह्यशक्ति (= ई) इच्छा से युक्त है (= ह्री) यह महाज्ञानस्वरूप के कारण परावाचिका कही गयी है । केवल आकाश (= ह) में स्थित अमृतवर्ण (= स) यह परम ज्ञान एकाक्षर (स्हः) स्फुटरूप से भैरव का हृदय है ।

अथवा दो शून्यों (= :) से युक्त सावित्रिका (= औ) से मिश्रित (अमृतवर्ण = स) (= सौः) परा देवी का परम हृदय है । इस प्रसिद्ध (मन्त्र) को तत्त्ववेत्ता लोग यामलयाग में करें । अन्य भी जो एकाक्षर (मन्त्र) हैं तथा केवल वीर विधान के कारण गुप्त एवं गुप्ततर है उत्तम साधकों के द्वारा अङ्ग एवं मुखों से रहित उनका पूजन किया जाना चाहिये । हे देवि ! स्त्री अथवा पुरुष के द्वारा कुलक्रमविधान से सूक्ष्मविज्ञान के साथ (उनका) सदा अनुष्ठान करना चाहिये । दीर्घ छह (स्वरों) से युक्त सकार (= सां, सीं, सूं, सैं, सौं और सः) अङ्ग और मुख हैं और वही मन्त्र पाँच ह्रस्व स्वरों एवं बिन्दु से युक्त होकर पाँच ओंकारों से मिलकर

एकादशाक्षरं ब्रह्मशिरस्तन्मालिनीमते ॥ ३८ ॥
वेदवेदनि हूं फट् च प्रणवादियुता शिखा ।
वज्रिणे वज्रधराय स्वाहेत्योङ्कारपूर्वकम् ॥ ३९ ॥
एकादशाक्षरं वर्म पुरुष्टुतमिति स्मृतम् ।
तारो द्विजिह्वः खशरस्वरयुग्जीव एव च ॥ ४० ॥
नेत्रमेतत्प्रकाशात्म सर्वसाधारणं स्मृतम् ।
तारः श्लीं पशु हुं फट् च तदस्त्रं रसवर्णकम् ॥ ४१ ॥
लरटक्षवयैर्दीर्घैः समयुक्तैः सबिन्दुकैः ।
इन्द्रादयस्तदस्त्राणि ह्रस्वैर्विष्णुप्रजापती ॥ ४२ ॥
स्मृतौ तुर्यद्वितीयाभ्यां ह्रस्वाभ्यां पद्मचक्रके ।
नमः स्वाहा तथा वौषट् हुं वषट् फट् च जातयः ॥ ४३ ॥
अङ्गेषु क्रमशः षट्सु कर्मस्वथ तदात्मिकाः ।
जपे होमे तथाप्याये समुच्चाटेऽथ शान्तिके ॥ ४४ ॥
अभिचारे च मन्त्राणां नमस्कारादिजातयः ।
अक्षिषण्मुनिवर्गेभ्यो द्वितीयाः सह बिन्दुना ॥ ४५ ॥

(= सं, सिं, सुं, सें, सों,) विद्याङ्ग हृदय होता है । ॐकार अमृते तेजो मालिनी इसे स्वाहा के साथ जोड़ने पर ('ॐ अमृते तेजो मालिनी स्वाहा'—यह मन्त्र) ग्यारह अक्षरों वाला यह मालिनी के मत में ब्रह्मशिरः है । हुं फट् एवं प्रणव आदि से युक्त वेदवेदनि (= 'ॐ वेदवेदनि अमृते तेजो मालिनी स्वाहा हुंफट्) यह शिखा है । 'वज्रिणे वज्रधराय स्वाहा', इसके पहले ॐकार जोड़ने पर यह ग्यारह अक्षरों वाला वर्म होता है जो पुरुष्टुत कहा गया है । तार (= ओऽम्) द्विजिह्व (= ज) बिन्दु एवं शरस्वर (= उ) से युक्त जीव (= स ≡ ॐ जुं सः) यह सर्वसाधारण प्रकाशरूप नेत्र कहा गया है । प्रणव श्लीं पशु हुं फट् यह छह वर्णों वाला (= ॐ श्लीं पशु हुं फट्) अस्त्र है । बिन्दु सहित स एवं म से युक्त दीर्घ स्वरयुक्त ल र ट क्ष व य (वर्णों) से इन्द्र आदि और ह्रस्व स्वरयुक्त (उन्हीं) से उनके अस्त्र (होते हैं) । चतुर्थ (= ई) और द्वितीय (= आ) के ह्रस्वों (= इ और अ) से युक्त पद्मचक्र में विष्णु और प्रजापति कहे गये हैं ॥ २९-४३- ॥

नमः स्वाहा वौषट् हुम् वषट् और फट् ये जातियाँ है—जो क्रमशः छह अङ्गों (= हृदय, शिर, शिखा, दोनो भुजा, तीननेत्र और सम्पूर्ण शरीर) में (प्रयुक्त होती हैं) । अब छह कर्मों में तदात्मिका (= क्रमरूपा, जातियाँ कही जा रही हैं—) जप होम तर्पण उच्चाटन शान्ति और अभिचार वाले

योन्यर्णेन च मातृणां सद्भावः कालकर्षिणी ।
आद्योज्झितो वाप्यन्तेन वर्जितो वाथ संमतः ॥ ४६ ॥
जीवः प्राणपुटान्तःस्थः कालानलसमद्युतिः ।
अतिदीप्तस्तु वामांघ्रिर्भूषितो मूर्ध्नि बिन्दुना ॥ ४७ ॥
दक्षजानुगतश्चायं सर्वमातृगणार्चितः ।
अनेन प्राणिताः सर्वे ददते वाञ्छितं फलम् ॥ ४८ ॥
सद्भावः परमो ह्येष मातृणां भैरवस्य च ।
तस्मादेनं जपेन्मन्त्री य इच्छेत्सिद्धिमुत्तमाम् ॥ ४९ ॥
रुद्रशक्तिसमावेशो नित्यमत्र प्रतिष्ठितः ।
यस्मादेषा परा शक्तिर्भेदेनान्येन कीर्तिता ॥ ५० ॥
यावत्यः सिद्धयस्तन्त्रे ताः सर्वाः कुरुते त्वियम्।
अङ्गवक्त्राणि चाप्यस्याः प्राग्वत्स्वरनियोगतः ॥ ५१ ॥
दण्डो जीवस्त्रिशूलं च दक्षांगुल्यपरस्तनौ ।
नाभिकण्ठौ मरुद्रुद्रौ विसर्गः सत्रिशूलकः ॥ ५२ ॥
सर्वयोगिनिचक्राणामधिपोऽयमुदाहृतः ।
अस्याप्युच्चारणादेव संवित्तिः स्यात्पुरोदिता ॥ ५३ ॥

कर्मों में मन्त्रों की नमस्कार आदि जातियाँ हैं । दूसरे छठें और सातवें वर्गों (= क वर्ग प वर्ग और य वर्ग) से दूसरे अक्षर (= ख फ र) को बिन्दु और योनिवर्ण (= एकार) के साथ (जोड़ने पर) माताओं का सद्भाव यह (= ख्फ्रें) कालकर्षिणी है । इसे प्रथम अथवा अन्तिम से रहित अथवा युक्त (करे) (फिर जो रूप बनेंगे वे हैं—फ्रें अथवा फें) । जीव (= स) को प्राणपुट (= ह) के भीतर (= ह् स् ह्) रखकर कालानल (= र) के समान द्युतियुक्त अतिदीप्त (= नीचे रेफ युक्त) और वामाङ्घ्रि (= फ) से अलंकृत शिर पर बिन्दु से युक्त एवं दक्षिण जानु (= ए) से अनुगत यह (= ह् स् ह् र् फ्रें) स्वरूप समस्त मातृगणों से पूजित है । इससे प्राणित होकर सब (देवियाँ) वाञ्छित फल देती हैं । यह माताओं एवं भैरव का सद्भाव है । इसलिये जो मन्त्री उत्तम सिद्धि चाहता है वह इसे जपे । इसमें रुद्रशक्ति का समावेश नित्य प्रतिष्ठित है । चूँकि यह पराशक्ति अन्यभेद से कही गयी है इसलिये तन्त्र में जितनी सिद्धियाँ हैं यह उन सबको देती है । इसके अङ्गवक्त्र भी पहले की भाँति स्वर के नियोग से होते हैं ॥ -४३-५१ ॥

दण्ड, जीव, त्रिशूल, दायीं अंगुलि, अपर (= वाम) स्तन, नाभि, कण्ठ, मरुत्, रुद्र और त्रिशूलयुक्त विसर्ग (ये वर्ण हैं—र् स् ज् भ् ल् क्ष्

महाचण्डेति तु योगेश्वऋ इत्यष्टवर्णकम् ।
नवार्णेयं गुप्ततरा सद्भावः कालकर्षिणी ॥ ५४ ॥
श्रीडामरे महायागे परात्परतरोदिता ।
सुधाच्छेदकषण्ठाद्यैर्बीजं छेदकमस्वरम् ॥ ५५ ॥
अध्यर्धार्णा कालरात्रिः क्षुरिका मालिनीमते ।
शतावर्तनया ह्यस्या जायते मूर्ध्नि वेदना ॥ ५६ ॥
एवं प्रत्ययमालोच्य मृत्युजिद् ध्यानमाश्रयेत् ।
नैनां समुच्चरेद्देवि य इच्छेद्दीर्घजीवितम् ॥ ५७ ॥
द्विर्दण्डाग्नी शूलनभःप्राणाश्छेत्रनलौ तथा ।
कूटाग्नी सविसर्गाश्च पञ्चाप्येतेऽथ पञ्चसु ॥ ५८ ॥
व्योमस्विति शिवेनोक्तं तन्त्रसद्भावशासने ।
छेदिनी क्षुरिकेयं स्याद्यया योजयते परे ॥ ५९ ॥
बिन्द्विन्द्वनलकूटाग्निमरुष्ठस्वरैर्युतम् ।
आपादतलमूर्धान्तं स्मरेदस्त्रमिदं ज्वलत् ॥ ६० ॥

व् य् ऊ औः, ह्रस्व दीर्घस्वर नियोग होने पर इनका रूप बनेगा—रु रू, सु सू, जु जू, भु भू, लु लू, क्षु क्षू, वु वू, यु यू...) महाचण्ड योगेश्वऋ ये आठ वर्ण हैं । (एक वर्ण ऊपर वालों में से लेने पर) नव वर्णों वाली यह गुप्ततरा कालकर्षिणी सद्भाव श्रीडामर महातन्त्र में परात् परतरा कही गयी है ॥ ५२-५५- ॥

सुधा छेदक एवं नपुंसकों का आदि वर्ण (= स क ऋ) से युक्त स्वररहित छेदक बीज (= क्) अध्यर्ध वर्ण (= डेढ़ वर्ण) वाली अर्थात् 'स्कृक्' कालरात्रि मालिनीमत में क्षुरिका कही गयी है । इसका एक सौ बार जप करने से शिर में वेदना उत्पन्न होती है । मृत्यु को जीतने वाला इस बात को समझकर ध्यान करे । हे देवि ! जो दीर्घ जीवन चाहता है इसका उच्चारण न करे ॥ -५५-५७ ॥

दण्ड (= र) और अग्नि (= र) दो बार (= र्, र्), शूल (= ज) नभः (= क्ष) प्राण (= ह)। छेतृ (= क) अनल (= र इनको मिलाकर ज्क्ष्ह क्रः बनता है), कूट (= क्ष) अग्नि (= 'र' इनको मिलाकर क्ष्रः), ये पाँच (= र्ः, र्ः, ज्क्ष्हः, क्रः और क्ष्रः) विसर्गयुक्त होकर पाँच व्योम में युक्त होते हैं अर्थात् व्योम के प्रतीक हैं । यह तन्त्रसद्भाव नामक शास्त्र में शिव के द्वारा कहा गया । यह छेदिनी छुरिका है जिसके द्वारा (जीव) पर तत्त्व में योजित किया जाता है ॥ ५८-५९ ॥

बिन्दु (= ०) इन्दु (= स) अग्नि (= र) कूट (= क्ष) अग्नि (= र)

कुञ्चनं चांगुलीनां तु कर्तव्यं चोदनं ततः ।
जान्वादिपरचक्रान्तं चक्राच्चक्रं तु कुञ्चयेत् ॥ ६१ ॥
कथितं सरहस्यं तु सद्योनिर्वाणकं परम् ।
अथोच्यते ब्रह्मविद्या सद्यः प्रत्ययदायिनी ॥ ६२ ॥
शिवः श्रीभूतिराजो यामस्मभ्यं प्रत्यपादयत् ।
सर्वेषामेव भूतानां मरणे समुपस्थिते ॥ ६३ ॥
यया पठितयोत्क्रम्य जीवो याति निरञ्जनम् ।

अविनाभावेति—शक्तिशुद्धात्मनोरैकात्म्यात् । यदुक्तं तत्र—

'अविनाभावतो देवि शक्तेः शुद्धात्मना सह ।
शिवं शक्तिं विजानीयात्प्राणः शुद्धात्मसंज्ञकः ॥
एकरूपतया ज्ञेयावाधाराधेययोगतः ।' इति ॥

अन्त्यस्य च अस्य बीजस्य

'हृदयार्णं नितम्बार्णं दक्षजानुगतं प्रिये ।
सा देवी स शिवस्तच्च विश्वं तस्यान्यविस्तरः ।
ग्रन्थकोटिसहस्राणामेतत् सारं विचिन्तयेत् ॥

मरुत् (= य) एवं षष्ठ स्वर (= ऊ) से युक्त इस अस्त्र को पैर से लेकर शिर तक जलता हुआ स्मरण करे । अंगुलियों की मुट्ठी बनाये उसके बाद (इस मन्त्र को) पढ़े । फिर जानु से लेकर पर चक्र तक एक चक्र से दूसरे चक्र को आकुञ्चित करे । रहस्य के साथ कथित यह सद्यः निर्वाण देने वाला परम (मन्त्र) है ॥ ६०-६२- ॥

अब सद्यः ज्ञानदायिनी (उस) विद्या को कहते हैं जिसे शिव-स्वरूप भूतिराज ने हमें बतलाया । समस्त प्राणियों के मरण के उपस्थित होने पर जिसके पढ़ने से जीव उत्क्रमण कर निरञ्जन को प्राप्त हो जाता है ॥ -६२-६४- ॥

अविना भाव—शक्ति (= प्राण) और शुद्धात्मा (= शिव) के एक होने से । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'हे देवि ! शक्ति का शुद्धात्मा के साथ अविनाभाव के कारण शिव को शक्ति और प्राण (= शक्ति) को शुद्धात्मा (= शिव) समझना चाहिये । आधाराधेय के योग से इन दोनों को एक रूप जानना चाहिये ।'

अन्त्य इस बीज का माहात्म्य—

'हृदय वर्ण (ग, न, य, इनमे से कोई एक) नितम्बवर्ण (= त्) एवं दक्षजानु (= ए) । (ये तीनों मिलने पर) वही देवी वही शिव और वही विश्व है । अन्य

प्रभावोऽस्या न शक्येत वक्तुं कल्पशतैरपि ।'

इत्यादिना श्रीदेवीपञ्चशतिके माहात्म्यमुक्तम् । अत्र च श्रीमदोजराजस्य पाठव्यत्ययात् मतान्तरमिति तद्गुरव एव प्रमाणम् । हंसः = ह, अमृतं = स, कालरुद्रः ऊ, भुवनेशः = औ, अनङ्गद्वयम् = विसर्गः, स्हसौः । षट्चक्रेति—षडवयवत्वात् । प्राणः = ह, दण्डः = रेफः, गुह्यशक्तिः = ई इच्छा = अः, एवं ह्रीः । अमृतं = स, खेति आकाशबीजम् = ह, एवं स्ह । बिन्दुरत्र अविनाभावित्वादाक्षेप्यः । यद्वेति पक्षान्तरे । सावित्रिका = औ, तेन शून्यद्वयं विसर्गः, एवं सौः । युग्मयागो यामलम् । यद्यपि च एतत्

'..........................जीवः सहचतुर्दशः ।' (२७ श्लो०)

इत्यादिना समनन्तरमेव उद्धृतं तथापि पुनः श्रीत्रिशिरोभैरवग्रन्थशय्यानुगुण्यादुक्तम्—इति न कश्चिद्दोषः । अन्ये इति—

'जीवः प्राणस्थ.............................. ।' (श्लो० २८)

इत्यादिना उक्ताः । अभिजनेति—वक्त्रैः । स एवेति—सकारः । खेति—बिन्दुः । तदुक्तम्—

'जीवो दीर्घस्वरैः षड्भिः पृथग्जातिसमन्वितः ।

विस्तार उसी का है । इसे करोड़ों ग्रन्थों का सार समझना चाहिये इसका प्रभाव सैकड़ों कल्पों में भी नहीं कहा जा सकता ।'

इत्यादि के द्वारा देवीपञ्चशतिक में कहा गया है । पाठपरिवर्तन के कारण इसमें श्रीमत् ओजराज का दूसरा मत हैं । तो हमारे गुरु ही इसमें प्रमाण हैं । हंस = ह । अमृत = स । कालरुद्र = ऊ । भुवनेश = औ । दो अनङ्ग = विसर्ग । (इनको जोड़ने पर) स् ह् सौः (रूप बनेगा) । छह चक्र—छह अवयव होने से । प्राण = ह, दण्ड = रेफ, गुह्यशक्ति = ई, इच्छा = अः, इस प्रकार—ह्रीः बना । अमृत = स, ख = आकाशबीज = ह, इस प्रकार स्ह बनेगा । यहाँ बिन्दु अविनाभावी होने से सबके साथ आक्षिप्त होता है । (इस प्रकार पूर्णरूप) (स्हं) । अथवा—यह पक्षान्तर में है । सावित्रिका = औ, दो शून्य = विसर्ग । इस प्रकार = सौः । युग्म-याग = यामलयाग । यद्यपि यह

'.......................जीवः सहचतुर्दश ।' (तं.आ. ३०।२७)

(श्लोक के द्वारा) अभी पहले कहा गया तथापि पुनः श्री त्रिशिरोभैरव ग्रन्थ में भी कथित होने से कहा गया—इसलिये कोई दोष नहीं हैं । अन्य लोग—

'जीवः प्राणस्थ...................... ।' (तं.आ. ३०।२८)

इत्यादि के द्वारा कहे गये लोग । अभिजन—वक्त्रों के द्वारा । वही—सकार । बिन्दु । वही कहा गया—

विद्यात्रयस्य गात्राणि ह्रस्वैर्वक्त्राणि पञ्चभिः ॥'

(मा०वि० ३।६१) इति ॥

अत्र च शिखायां कवचबीजमिति श्रीत्रिशिरोभैरवानुयायिनः, चतुष्कलमिति श्रीदेव्यायामलोपजीविनः, अस्मद्गुरवस्तु द्वितीयमेव पक्षमामनन्ति यदिह श्रीपूर्वशास्त्रानुदितस्यापि नेत्रमन्त्रस्य श्रीत्रिशिरोभैरवीयं मतमपहाय श्रीदेव्यायामलप्रक्रमेणाभिधानात् तदर्थ एव विवक्षित इति । तथाच त्रिशिरोभैरवः--

गायत्रीं पञ्चधा कृत्वा शुक्रया तु समन्विताम् ।
हृदयायेति मन्त्रोऽयं सर्वज्ञो हृदयं परम् ॥
वागीशीं केवलां गृह्य नितम्बं तु समालिखेत् ।
निवृत्तिस्थं तु तं कृत्वा तारा तु तदनन्तरम् ॥
द्विधायोज्य ज्ञानशक्त्या युक्ता शूलं समुद्धरेत् ।
दण्डेन रहितं कृत्वा गायत्र्या तु समन्वितम् ॥
महाकाली पयोयुक्ता मायाशक्त्या तु पूतना ।
नादिनी जिह्वया युक्ता परमा कण्ठसंयुता ॥
पयोन्वितां तु तां कृत्वा अम्बिका पयसा युता ।
शिरस्त्रिशिरनाथस्य तृप्तियुक्तमुदाहृतम् ॥

'दीर्घ छह स्वरों से युक्त एवं पृथक् जाति से युक्त जीव तीनों विद्याओं (= परा आदि) का शरीर होता है और पाँच ह्रस्वस्वरों से युक्त मुख ।'

यहाँ शिखा में कवच बीज (= हुम्) है-ऐसा त्रिशिरोभैरवमतानुयायी कहते हैं । चतुष्कल है—ऐसा देवीयामल को मानने वाले कहते हैं । हमारे गुरु द्वितीय पक्ष को ही मानते हैं क्योंकि यहाँ श्रीपूर्वशास्त्र में अनुक्त भी नेत्र मन्त्र का, त्रिशिरोभैरव मत को छोड़कर देवीयामलक्रम से कथन करने के कारण वही अर्थ विवक्षित है । त्रिशिरोभैरव के अनुसार—

'गायत्री मन्त्र को (ॐकार के द्वारा) पाँच भाग कर शुक्रबीज (= अं) से समन्वित कर—हृदयाय नमः—जोड़ने पर यह सर्वज्ञ मन्त्र होता है । यह अत्यन्त रहस्य है' ॥

वागीशी (= ह्रीं) लिखकर नितम्बवर्ण (= त्) इसके बाद उसे निवृत्ति (= ऋ) से जोड़कर पुनः तारा (= त) को दो बार जोड़कर फिर ज्ञान (= ज) शक्ति (= ए) से शूल (= बिन्दु) युक्त करे । दण्ड (= र) से रहित कर गायत्री से जोड़ना चाहिये । (उस प्रकार अब तक का स्वरूप ह्रीं तृं तेजो बना) । फिर महाकाली (= म्) को पय (= आ) से युक्त करे । फिर माया शक्ति (= इ) को पूतना (= ल्) से युक्त करे । नादिनी (= न) को जिह्वा (= इ) से मिलाये । फिर परमा को कण्ठ (= आ) से जोड़े । फिर पय (= आ) से जोड़कर अम्बिका (= ह) को पय (= आ) से जोड़े । (इस प्रकार पूरा मन्त्र हुआ—ह्रीं तृं तेजोमालिनी स्वाहा) । यह

ज्ञानशक्तिस्तु कण्ठस्था दहनीं केवलां न्यसेत् ।
द्विधायोज्य समालिख्य नादिनी तदनन्तरम् ॥
मायया तु समायुक्ता मोहिनी अम्बिकायुता ।
शुक्रादेव्या समायुक्ता फेङ्कारी तदनन्तरम् ॥
कपालं चैव तस्यान्ते स्वरार्धेन विवर्जितम् ।
अनादिबोधसंज्ञा तु शिखा प्रोक्ता सुरेश्वरि ॥
शिखिनीं केवलां दद्याज्जयन्ती दण्डसंयुता ।
जिह्वायुक्ता तु संयोज्या दृग्युक्ता च जनार्दनी ॥
शिखिनी केवलोद्धार्या त्रिशूलं दण्डसंयुतम् ।
प्रियदर्शन्यतो दण्डः पयसा तु समन्वितः ॥
वायुवेगा तु परमा शिखिनी पयसा युता ।
अम्बिका पयसा युक्ता अभेद्यं कवचं विदुः ॥
चामुण्डा परमा शक्तिरम्बिका च ततोद्धरेत् ।
सावित्र्या सहिताः सर्वा बिन्दुना समलंकृताः ॥
नेत्रत्रयं तु देवस्य आख्यातं तव सुव्रते ।
कुसुमा पूतना चैव गुह्यशक्तिसमन्विता ॥

त्रिशिरोभैरव को तृप्ति देने वाला कहा गया है ।

ज्ञानशक्ति (= ए) को कण्ठ (= व) से जोड़े । फिर दहनी (= द) को रखे । (इस प्रकार वेद बनता है) । इसको दो बाद (= वेद-वेद) लिखकर बाद में नादिनी (= न) को माया (= इ) से युक्त करे । फिर मोहिनी (= उ) को अम्बिका (= ह) से जोड़े । उसे शुक्रा देवी (= अनुस्वार = ं) से मिलाये । इसके बाद फेंकारी वर्ण (= फ) को मिलाये । उसके अन्त में कपाल (= ट्) को जोड़े जो स्वरार्द्ध से रहित हो । (= इस प्रकार मन्त्र बना—'वेदवेदनि हुं फट्') । हे सुरेश्वरी यह अनादिबोध संयुक्त शिखा मन्त्र है ।

शिखिनी (= व) को दण्ड (= र्) से युक्त जयन्ती (= ज्र) एवं जिह्वा (= इ) से जोड़ना चाहिये । फिर जनार्दनी (= ण) को नेत्र (= इ) से जोड़े । (इस प्रकार 'वज्रिणी' बना) पुनः केवल शिखिनी (= व) को दण्ड (= र) से संयुक्त त्रिशूल (= ज्र) जोड़ने पर 'वज्र' पद का उद्धार हो जाता है । इसके पश्चात् प्रियदर्शिनी (= ध) फिर दण्ड (= र) के साथ पय (= आ) को जोड़े । फिर वायुवेगा (= य) को जोड़ने पर (पद बनता है—'वज्रधराय') । इसके बाद परमा (= स) और शिखिनी (= व) को पय (= आ) से जोड़े । इसके बाद अम्बिका वर्ण 'ह' में पय (= आ) को जोड़ने पर 'स्वाहा' बनता है । (इस प्रकार मन्त्र बना 'वज्रिणि वज्रधराय स्वाहा) । यह अभेद्य कवच है । चामुण्डा (= च) परमाशक्ति (= स) अम्बिकाशक्ति (= ह) सावित्री (= औ) को जोड़ने से बिन्दु लगाने पर (चौं सौं हौं) बनेगा । हे सुव्रते ! यह शिव का तीन नेत्र कहा गया है ।

शुक्रया मस्तकोपेता हृदयं केवलं ददेत् ।
गुह्यं मोहनयाभेद्य अम्बिका बिन्दुसंयुता ॥
प्रज्ञाशक्तिसमारूढा फेङ्कारी तु कपालिनीम् ।
भिन्नां तु योजयेच्चाशु अस्त्रं भानुसमप्रभम् ॥
महापाशुपतं ख्यातं सर्वासिद्धिविनाशनम् ।' इति ॥

श्रीदेव्यायामलमपि—

'पञ्चधा हृदयं चास्य आदिवर्णं तु यत्स्मृतम् ।
वागर्णं च नितम्बं च शिरोमालाद्यसंस्थितम् ॥
ऊरुं दक्षिणजानुस्थं द्विधा कृत्वा समन्ततः ।
परतस्तूद्धरेद्वर्णं शूलमोकारदीपितम् ॥
नितम्बं क्षीरयुक्तं तु शिरोमालातृतीयकम् ।
नि स्वाहा शिर आख्यातं प्रणवादिविभूषितम् ॥
प्रणवं कण्ठवर्णं च दक्षजानुनियोजितम् ।
द्विधा कृत्वा ततः पश्चात् सव्यपादं च मध्यतः ॥
सव्यपादं ततोद्धृत्य जिह्वार्णेन शिखा युता ।

कुसुमा (= श) पूतना (= ल) को गुह्यशक्ति (= ई) से जोड़कर मस्तक पर शुक्रा (अनुस्वार = ं) को लगाने पर 'श्लीं' बनेगा । इसके बाद हृदय (= मालिनी क्रम में 'प') देना चाहिये । गुह्य 'श', मोहिनी शक्ति (= उ) को बिन्दु से जोड़े । (इस प्रकार 'पशु' बनता है) ।

फिर अम्बिका (= ह) को बिन्दु (ं) से जोड़कर प्रज्ञा शक्ति (= ए) से युक्त करे । फिर फेंकारी (= फ) को कपालिनी (= ञ्) से जोड़े । इसके साथ सूर्य के समान कान्तिवाले अस्त्र (= फट्) को जोड़ने पर (मन्त्र बनता है—'श्लीं हंफेञ् फट्') । यह महापाशुपत और समस्त असिद्धियों का नाशक मन्त्र है ।

श्री देव्यायामल भी कहता है—

इस (= मन्त्र) का हृदय (= म) को पाँच बार जोड़ कर आदि वर्ण (= ओ) को जोड़े । वाग्वर्ण को नितम्ब (= ए) (= त) से एवं शिरोमाला के चारो वर्णो का आदि वर्ण (= ऋ) को जोड़ें तब 'तृ' बनेगा । फिर उस उरु (= त) को दक्षिण जानु से जोड़े तो (= ते) बनेगा । इसको दो बार कहने पर बाद में 'शूल' (= ज) को 'आ' से जोड़े नितम्ब (= म) को क्षीर (= आ) से जोड़े । फिर शिरोमाला का तीसरा (= ऌ) में नि स्वाहा जोड़े तो वह मन्त्र बनेगा (= ओं ओं ओं ओं ओं तृं तेजो मालिनी स्वाहा) । यह शिरो मन्त्र कहा गया है ।

प्रणव (= ओं) कण्ठवर्ण (= व) दक्षजानु (ए) से संयुक्त कर सव्य (= बायें) पैर = 'द' को लगाने पर और दो बार कहने पर 'वेद-वेद' बनता है । जिह्वा वर्ण (= इ) को शिखा (= न) से जोड़ने पर 'वेद वेदनि' । अपरा मन्त्र का अन्तिम दो

अपरान्त्यद्वयं योज्य शिखा वज्रिण उद्धरेत् ।
कण्ठार्णं च त्रिशूलं च नेत्रे परत उद्धरेत् ।
क्षीरार्णे शूलदण्डं च स्वाहान्ते कवचोऽग्रतः ॥
प्रणवं शूलवर्णं तु कर्णपूरेण भूषितम् ।
दक्षिणेन नितम्बाढ्यमात्मा योज्यो विसर्गवान् ॥
नेत्रं देव्या भवेदेतन्मृत्युञ्जयकरं परम् ।
श्लीं पशुं प्रणवाद्यं च प्राणं परत एव च ॥
युक्तं च सर्वतः कुर्याद्वामश्रवणभूषणे ।
शिखान्ताद्योजयेद्वर्णमस्त्रं परमदारुणम् ॥ इति ॥

तारः = प्रणवः, द्विजिह्वो = ज, ख = बिन्दुः, शरस्वरः = उ, जीवः सविसर्गः = स । रसेति—षट्, टकारो हि अनचकत्वादिह न गणितः । दीर्घैरिति—प्रागुक्तदीर्घषट्कयुक्तैः, कुबेरेशानयोस्तु षष्ठेन द्वितीयेन च दीर्घेण संभिन्नो सकारमकाराविति उक्तं सूमायुक्तैरिति । ह्रस्वैरिति—दीर्घानुगुणैः । यदुक्तम्—

'पूतना शूलदण्डस्तु कपालं नाभिरेव च ।

पद (= हुं फट्) जोड़ने से (ॐ वेद वेदनि हुंफट्) बना । यह शिखा मन्त्र है ।

'वज्रिणे' लिख कर कण्ठ वर्ण (= व) फिर त्रिशूल (= ज्र) जोड़े । फिर नेत्र (= ध) और शूल दण्ड (= र) को फिर क्षीर वर्ण (= आ और य) को जोड़े । अन्त में 'स्वाहा' जोड़े । (इस प्रकार मन्त्र बना—(वज्रिणे वज्रधराय स्वाहा) । यह इन्द्र कवच मन्त्र है ।

प्रणव (= ओम्) शूलवर्ण (= ज) को कर्णपूर (ऊ) से जोड़कर नितम्ब (= म्) से मिलाये । फिर आत्मा (= स) को विसर्ग से मिलाये । (इस प्रकार पूरा मन्त्र ओं जूं सः बनता हैं) । यह देवी का नेत्र मन्त्र है । इसे मृत्युञ्जयकर (लघु मृत्युञ्जय) मन्त्र कहते है ।

'श्लीं' पशु (= यजमान का नाम) सबके पहले प्रणव उसके बाद प्राण (= ह) फिर वामकर्ण (= उ) के साथ बिन्दु (ं) जोड़े । फिर अस्त्र (= फट्) जोड़ने पर पूरा मन्त्र (ओ३म् श्लीं 'देवदत्त' फट्) बनता है यह परम दारुण मन्त्र कहा जाता है ।

तार = प्रणव, द्विजिह्व = ज, ख = बिन्दु, शरस्वर = उ, विसर्गयुक्तजीव = सः । रस = छह, टकार स्वररहित होने से यहाँ नहीं गिना गया । दीर्घों के द्वारा = पूर्वोक्त छह दीर्घों से युक्त के द्वारा । कुबेर और ईशान के (बोधक) सकार और मकार छठें और द्वितीय दीर्घ से संभिन्न हैं इसलिये कहा गया—सूमा से युक्त । ह्रस्वों के द्वारा—दीर्घ के अनुसार । जैसा कि कहा गया—

शिखिनी वायुवेगा च परमा च नितम्बकः ॥
विज्ञेयाश्च महादेवि दीर्घयुक्ताः सबिन्दुकाः ।
मन्त्रास्तु लोकपालानां तदस्त्रा दीर्घवर्जिताः ॥' इति ॥

तुर्यद्वितीयाभ्यामिति—ईकाराकाराभ्याम् । ह्रस्वाभ्यामिति—इकाराकाराभ्यां

'तद्वन्नासापयोभ्यां तु कल्प्यौ विष्णुप्रजापती ।
स्वरावाद्यतृतीयौ तु वाचकौ पद्मचक्रयोः ॥' इति ।

षट्स्विति काकाक्षिन्यायेन योज्यम् । कर्मणामपि हि षड्विधत्वमेव विवक्षितम् । तदात्मिका इति—क्रमरूपा—इत्यर्थः । तदात्मकत्वमेव दर्शयति—जपे इत्यादिना । अक्षीति—द्वितीयः कवर्गः । द्वितीया इति—खफराः । योन्यर्णेन = एकारेण । एव पञ्चपिण्डनाथः । यदुक्तम्—

'दन्तपङ्क्त्या द्वितीयं तु वामपादं तथैव च ।
अधो दण्डनियुक्तं तु दक्षजानुसमायुतम् ॥
तिलकेन समाक्रान्तं सर्वसिद्धिप्रदायकम् ।' इति ॥

आद्येति—खकारेण, तेन फ्रें इति । अन्त्येनापीति—न केवलमाद्येन

'पूतना (= ल) शूलदण्ड (= र), कपाल (= ट) नाभि (= क्ष), शिखिनी (= व) और वायुवेगा (= य), परमा (= स) और नितम्ब (= म) हे महादेवी दीर्घयुक्त एवं बिन्दुओं के साथ ये मन्त्र लोकपालों के हैं तथा अस्त्र अर्थ में दीर्घरहित प्रयुक्त होते हैं ।' (मा.वि.तं. ३।६५-६६)

चतुर्थ और दूसरे के द्वारा = ईकार और आकार के द्वारा । ह्रस्वों से = इकार अकार से ।

'इसी प्रकार नासा (= अं) और पय (= ओ) के द्वारा विष्णु और प्रजापति की कल्पना करे । पहला और तीसरा स्वर (अ और इ) पद्म एवं चक्र के वाचक हैं ।' (मा.वि.तं. ३।६७)

छह में—इसे काकाक्षिगोलक न्याय से (दोनों ओर जाति एवं कर्म के साथ) जोड़ना चाहिये क्योंकि कर्मों की भी छह ही प्रकार की विवक्षा की गयी है । तदात्मिका = क्रमरूपा । 'जपे'...........इत्यादि के द्वारा तदात्मकता को ही दिखाते हैं । अक्षि = द्वितीय = क वर्ग । षट् = छठाँ = पवर्ग । मुनि = सातवाँ = यवर्ग । द्वितीय—ख फ र । योनिवर्ण से = एकार से । इस प्रकार पञ्चपिण्डनाथ (बनता) है । जैसा कि कहा गया—

'दन्तपङ्क्ति (= स्) के द्वारा द्वितीय वाम पाद (= फ्) को नीचे से दण्ड (= र्) से युक्त एवं दक्ष जानु (= ए) से मिलाकर तिलक (ं) से समाक्रान्त करने पर (जो रूप - स्फ्रें - बनता है वह) सर्वसिद्धिदायक है ।'

आद्य = ख कार से (रहित)। इससे फ्रें बनेगा । अन्त्य से भी—न केवल

खकारेण यावदन्त्येन रेफेणापि—इत्यर्थः, तेन फें इति । जीवः = स । प्राणयोः हकारयोः पुटम् । कालानलः = र । वामाङ्घ्रिः = फ । अतिदीप्तोऽधोवर्तिना रेफेण । दक्षजानुः = ए । स्वरेति ह्रस्वदीर्घभेदेन । दण्डः = र । जीवः = स । त्रिशूलम् = ज । दक्षांगुलिः = भ । अपरो दक्षापेक्षया वामः स्तनः = ल । नाभिः = क्ष । कण्ठः = व । मरुत् = य । रुद्रः = ऊ । विसर्गः = अः । त्रिशूलम् = औ । अष्टमश्च अत्र वर्णः शपठाद्य इति सहितया आवेदितम् । तदुक्तम्—

'कालं सर्वगतं चैव दारणाक्रान्तमस्तकम् ।
तृतीयाद्यं तरङ्गं च डाकिनीमर्मसंयुतम् ॥
पवनं नवमे युक्तं तस्मात्सप्तममेयुतम् ।
लक्ष्मीबीजं ततोद्धृत्य उदधीशसमन्वितम् ॥
सोमात्सप्तममुद्धृत्य नववर्णा कुलेश्वरी ।' इति ॥

कालः = म । सर्वगतः = ह । दारणा = आ । तृतीयाद्यम् = च । तरङ्गं = ण, डाकिनीमर्म = ड । पवनः = य । नवमः = ओ । तस्मादिति एकारात् सप्तमो ग, ए = एकारः । लक्ष्मीबीजं श, उदधीशः = व । सोमात् (= अवर्णात्) सप्तमः = ऋ । नववर्णेयमिति ।

आद्य ख कार से बल्कि अन्त्य रेफ से भी (रहित) इससे फें बनेगा । जीव = स । दो प्राणों = हकारों का पुट । कालानल = र । वामपाद = फ । अतिदीप्त = अधोवर्त्ती रेफ । दक्षजानु = ए । स्वर—ह्रस्वदीर्घभेद से । दण्ड = र । जीव = स । त्रिशूल = ज । दक्षांगुलि = भ । अपर-दाहिने की अपेक्षा वाम स्तन = ल । नाभि = क्ष । कण्ठ = व । मरुत् = य । रुद्र = ऊ । विसर्ग = : । त्रिशूल = औ । यहाँ आठवाँ वर्ण शण्ठाद्य (= ऋ) है यह संहिता के द्वारा बतलाया गया । वही कहा गया—

'काल और सर्वगत जो कि दारणा से आक्रान्त मस्तक वाला है, तृतीय का प्रथम वर्ण, तरङ्ग जो कि डाकिनीमर्म से युक्त है, वायु जो कि न वम से युक्त है, उससे सप्तम वर्ण (ग) जो मि ए से युक्त हो । उसके बाद लक्ष्मीबीज को लेकर जो कि उदधीश से युक्त हो, फिर सोम से सप्तम का ग्रहण करे । यह नव वर्ण वाली कुलेश्वरी है ।'

(वे नव वर्ण हैं—(म ह) + आ, च ण् ड य + ए ओ, ग + ए, (श व) + ऋ = मां हां चं णं डं यों गें श्रं वृं यह रूप हुआ) ॥

काल = म । सर्वगत = ह । दारणा = आ । तृतीयवर्ग का प्रथम = च । तरङ्ग = ण् । डाकिनीमर्म = ड (इस प्रकार महाचण्ड शब्द बनता है) । पवन = य । नवम = ओ । उस = एकार से सप्तम = ग । ए = एकार । लक्ष्मीबीज = श । उदधीश = व । सोम (= अ) से सप्तम = ऋ । यह (कालकर्षिणी या

'.......................सद्भावः कालकर्षिणी ।' (श्लो० ४६)

इत्युक्त्या सद्भावादिभ्य एकतमेन सह—इत्यर्थः । इयता च अनयोः पिण्डयोः पिण्डनाथेन समव्याप्तिकत्वमावेदितम् । परात्परतरेति—यदुक्तं तत्र—

'या सा सङ्कर्षिणी देवी परातीता व्यवस्थिता ।' इति ॥

सुधा = स, छेदकम् = क, शण्ठाद्यम् = ऋ, छेदकमस्वरमिति अनच्क-ककारमेवं स्कृक् । तदुक्तम्—

'जीवमादिद्विजारूढं शिरोमालादिसंयुतम् ।
कृत्वा ततोऽग्रे कुर्वीत द्विजमाद्यमजीवकम् ॥
इत्येषा कथिता कालरात्रिर्मर्मनिकृन्तनी ।
नैनां समुच्चरेद्देवि य इच्छेद्दीर्घजीवितम् ॥
शतार्धोच्चारयोगेन जायते मूर्ध्नि वेदना ।
एवं प्रत्ययमालोच्य मृत्युजिद् ध्यानमाश्रयेत् ॥'
(मा० वि० १७।३१) इति ॥

दण्डः = र, अग्निः = र, तौ च द्विः; तेन र्ः र्ः । प्राणः = ह, नभः = क्ष, शूलम् = ज, एवं ह्क्ष्जः । छेत्ता = क, अनलः = र एवं क्रः । कूटम् = क्ष, अग्निः = र, एवं क्ष्रः । बिन्दुः, इन्दुः = स, अनलः =

कुलेश्वरी) नववर्णों वाली है ।

'सद्भावः कालकर्षिणी' (तं.आ. ३०।४६)

इस उक्ति के अनुसार सद्भाव आदि में से किसी एक के साथ (यह रहती है)। इतने (वर्णन) से इन दोनों पिण्डों का पिण्डनाथ के साथ समव्याप्तिक होना कहा गया । परात् परतरा—। जैसा कि वहाँ कहा गया—

'जो सङ्कर्षिणी देवी है वह परातीत मानी गयी है ।'

सुधा = स । छेदक = क । शण्ठाद्य = ऋ । स्वररहित छेदक = स्वररहित ककार । इससे स्कृक् (रूप बना) । वही कहा गया—

'जीव (= स) को आदि द्विज (= क) पर आरूढ एवं शिरोमाला (= ऋ) से युक्त कर उसके बाद आद्यद्विज को बिना जीव का जोड़े । यह मर्मनिकृन्तनी कालरात्रि कही गयी है । हे देवि ! जो दीर्घ जीवन चाहता है वह इसका उच्चारण न करे । (इसका) पचास बार उच्चारण करने से शिर में दर्द उत्पन्न हो जाता है । मृत्युञ्जयी को ऐसा विचार कर ध्यान करना चाहिये ।' (मा.वि.तं. १७।३१)

दण्ड = र, अग्नि = र, वे दोनों दो बार । इससे र्ः र्ः (रूप होगा) । प्राण = ह, नभः = क्ष, शूल = ज, इस प्रकार ह् क्ष् जः । छेत्ता = क, अग्नि = र, इस प्रकार क्रः । कूट = क्ष, अग्नि = र इस प्रकार क्ष्रः । बिन्दु = ं, इन्दु = स,

र, कूटम् क्ष, अग्निः = र, मरुत् = य, षष्ठः स्वरः = ऊ, एवं स्त्र्क्ष्र्यूँ ॥

सद्यः प्रत्ययदायित्वमेव अस्या दर्शयति—

या ज्ञानिनोऽपि संपूर्णकृत्यस्यापि श्रुता सती ॥ ६४ ॥
प्राणादिच्छेदजां मृत्युव्यथां सद्यो व्यपोहति ।
यामाकर्ण्य महामोहविवशोऽपि क्रमाद्गतः ॥ ६५ ॥
प्रबोधं वक्तृसांमुख्यमभ्येति रभसात्स्वयम् ।
परमपदात्त्वमिहागाः सनातनस्त्वं जहीहि देहान्तम् ॥ ६६ ॥
पादांगुष्ठादि विभो निबन्धनं बन्धनं ह्युग्रम् ।
आर्यावाक्यमिदं पूर्वं भुवनाख्यैः पदैर्भवेत् ॥ ६७ ॥
गुल्फान्ते जानुगतं जत्रुस्थं बन्धनं तथा मेढ्रे ।
जहिहि पुरमग्र्यमध्यं हृत्पद्मात्त्वं समुत्तिष्ठ ॥ ६८ ॥
एतावद्भिः पदैरेतदार्यावाक्यं द्वितीयकम् ।
हंस हयग्रीव विभो सदाशिवस्त्वं परोऽसि जीवाख्यः ॥ ६९ ॥
रविसोमवह्निसङ्घदृग्बिन्दुदेहो हहह समुत्क्राम ।
तृतीयमार्यावाक्यं प्राक्संख्यैरेकाधिकैः पदैः ॥ ७० ॥
हंसमहामन्त्रमयः सनातनस्त्वं शुभाशुभापेक्षी ।

अनल = र, कूट = क्ष, अग्नि = र, मरुत् = य, षष्ठस्वर = ऊ इस प्रकार स्त्र् क्ष्र् यूँ (मन्त्र बनता है) ॥

इसका सद्यप्रत्ययदायित्व दिखलाते हैं—

जो श्रुत होने पर सम्पूर्ण कृत्य वाले ज्ञानी के भी प्राण आदि के नष्ट होने से उत्पन्न मृत्युव्यथा को तत्काल नष्ट कर देती है, जिसको सुन कर महामोह में विवश भी (जीव) क्रमशः प्रबोध को प्राप्त होता हुआ स्वयं शीघ्र ही वक्ता के समक्ष आ जाता है । (वक्ता उस से कहता है)—तुम परमपद से यहाँ आये हो; तुम सनातन हो, पादांगुष्ठ से लेकर देहपर्यन्त उग्रबन्धन वाले निबन्धन को छोड़ो । यह आर्या वाक्य चौदह पदों से रचित प्रथम वाक्य है ॥ -६४-६७ ॥

गुल्फान्त में, जानु जत्रु एवं मेढ्र में अग्रमध्य पुर नामक बन्धन एवं शरीर को छोड़ दो । तुम हृदय कमल से उठो । इतने पदों से यह दूसरा आर्या वाक्य है । हे हंस हयग्रीव विभो ! तुम सदाशिव एवं जीव नामक परतत्त्व हो । सूर्य (= प्रमाण) चन्द्र (= प्रमेय) अग्नि (= प्रमाता) समूह नेत्र एवं बिन्दु देह वाले (तुम) अ ह ह उत्क्रमण करो । यह पूर्व संख्या (= चौदह) वाले तथा एक अधिक पद वाले (= पन्द्रह पदों) से युक्त

मण्डलमध्यनिविष्टः शक्तिमहासेतुकारणमहार्थः ॥ ७१ ॥
कमलोभयविनिविष्टः प्रबोधमायाहि देवतादेह ।
आर्यावाक्यमिदं सार्धं रुद्रसंख्यपदेरितम् ॥ ७२ ॥
निःश्वासे त्वपशब्दस्य स्थानेऽस्त्युप इति ध्वनिः ।
अज्ञानात्त्वं बद्धः प्रबोधितोत्तिष्ठ देवादे! ॥ ७३ ॥
एतत्पञ्चममार्यार्धवाक्यं स्यात्सप्तभिः पदैः ।
व्रज तालुसाह्वयान्तं ह्यौडम्बरघट्टितं महाद्वारम् ॥ ७४ ॥
प्राप्य प्रयाहि हंहो हंहो वा वामदेवपदम् ।
आर्य्यावाक्यमिदं षष्ठं स्याच्चतुर्दशभिः पदैः ॥ ७५ ॥
ग्रन्थीश्वर परमात्मन् शान्त महातालुरन्ध्रमासाद्य ।
उत्क्रम हे देहेश्वर! निरञ्जनं शिवपदं प्रयाह्याशु ॥ ७६ ॥
आर्यावाक्यं सप्तमं स्यात्तच्चतुर्दशभिः पदैः ।
प्रभञ्जनस्त्वमित्येवं पाठो निःश्वासशासने ॥ ७७ ॥
आक्रम्य मध्यमार्गं प्राणापानौ समाहृत्य ।
धर्माधर्मौ त्यक्त्वा नारायण याहि शान्तान्तम् ॥ ७८ ॥
आर्यावाक्यमिदं प्रोक्तमष्टमं नवभिः पदैः ।
हे ब्रह्मन्! हे विष्णो! हे रुद्र! शिवोऽसि वासुदेवस्त्वम् ॥ ७९ ॥

तीसरा आर्या वाक्य है । तुम हंस महामन्त्रमय, सनातन, शुभ अशुभ की अपेक्षा (= उपेक्षा) वाले, मण्डलमध्य में निविष्ट, शक्तिमहासेतु के कारण महाअर्थ (= शिवाद्वैतभाव) वाले, दो कमलों (= मूलाधार और सहस्त्रार) में विनिविष्ट हो । हे देवता शरीर वाले ! प्रबोध को प्राप्त करो । यह ग्यारह पदों से युक्त आर्या वाक्य है ॥ ६८-७२ ॥

निःश्वासशासन में 'अप' शब्द के स्थान में 'उप' शब्द है (= शुभाशुभोपेक्षी पाठ हैं) हे देवादि ! अज्ञान के कारण तुम बद्ध हो । प्रबोधित होने पर उठो । सात पदों से युक्त यह पञ्चम आर्यार्धवाक्य है । तालु (से लेकर) साह्वय (= ब्रह्मरन्ध्र) पर्यन्त औडम्बर (= ताँबे अथवा गूलर के रंग वाली धातु) से घट्टित महाद्वार को प्राप्त कर धीरे-धीरे वामदेव पद को प्राप्त करो । चौदह पदों से युक्त यह छठाँ आर्यावाक्य है । हे ग्रन्थीश्वर, परमात्मन्, शान्त ! महातालुरन्ध्र को प्राप्त कर हे देहेश्वर ! उत्क्रमण करो और शीघ्र निरञ्जन शिवपद को प्राप्त करो । चौदह पदों से युक्त यह सातवाँ आर्या वाक्य है । निःश्वासशासन में (निरञ्जनः के स्थान पर) प्रभञ्जनस्त्वम्—ऐसा पाठ है । सुषुम्ना में पहुँच कर प्राण और अपान का समाहरण कर धर्माधर्म का परित्याग कर हे नारायण ! शान्त अन्तपद को

अग्नीषोमसनातनमृत्पिण्डं जहिहि हे महाकाश! ।
एतद्भुवनसंख्यातैरार्य्यावाक्यं प्रकीर्तितम् ॥ ८० ॥
सनात्म त्रिपिण्डमिति महाकोशमिति स्थितम् ।
पदत्रयं तु निःश्वासमुकुटोत्तरकादिषु ॥ ८१ ॥
अंगुष्ठमात्रममलमावरणं जहिहि हे महासूक्ष्म! ।
आर्य्यावाक्यमिदं षड्भिः पदैर्दशममुच्यते ॥ ८२ ॥
अलं द्विरिति सूक्ष्मं चेत्येवं श्रीमुकुटोत्तरे ।
पुरुषस्त्वं प्रकृतिमयैर्बद्धोऽहङ्कारतन्तुना बन्धैः ॥ ८३ ॥
अभवाभव! नित्योदित! परमात्मंस्त्यज सरागमध्वानम्।
एतत्त्रयोदशपदं स्यादार्यावाक्यमुत्तमम् ॥ ८४ ॥
ह्लींहूंमन्त्रशरीरमविलम्बमाशु त्वमेहि देहान्तम् ।
आर्यार्धवाक्यमेतत्स्याद् द्वादशं षट्पदं परम् ॥ ८५ ॥
तदिदं गुणभूतमयं त्यज स्व षाट्कोशिकं पिण्डम्।
स्यात् त्रयोदशमार्यार्धं पदैः सप्तभिरीदृशम् ॥ ८६ ॥
मा देहं भूतमयं प्रगृह्यतां शाश्वतं महादेहम् ।
आर्यार्धवाक्यं तावद्भिः पदैरेतच्चतुर्दशम् ॥ ८७ ॥

प्राप्त करो—यह आठवाँ आर्यावाक्य नव पदों वाला है । हे ब्रह्मन् ! हे विष्णो ! हे रुद्र ! तुम शिव हो वासुदेव हो । हे महाकाश ! इस अग्नीषोमसनातनमृत्पिण्ड को छोड़ो—यह चौदह पदों की संख्या वाला आर्यावाक्य कहा गया है ॥ ७३-८० ॥

(सनातन मृत्पिण्ड महाकाश के स्थान पर) सनात्म त्रिपिण्ड महाकोश ये तीन पद निःश्वास तन्त्र मुकुटोत्तर आदि में हैं । हे महासूक्ष्म ! अंगुष्ठमात्र निर्मल आवरण को छोड़ो । छह पदों से युक्त यह दशम आर्यावाक्य है । (अमल के स्थान पर) अलमलम् एवं (सूक्ष्म के स्थान पर) सूक्ष्मं पाठ मुकुटोत्तर तन्त्र में हैं । तुम पुरुष हो, प्रकृतिमय बन्धन अहङ्कार तन्तु से बद्ध हो । हे अभवाभव नित्योदित परमात्मन् ! रागमय अध्वा को छोड़ो । यह तेरह पदों वाला उत्तम आर्यावाक्य है । ह्रीं हूं मन्त्रों के शरीर वाले देहान्त को तुम बिना विलम्ब के शीघ्र प्राप्त करो । छह पदों वाला यह बारहवाँ आर्या अर्धवाक्य है । तो इस गुणों भूतों वाले अपने इस षाट्कोशिक पिण्ड को छोड़ो । सात पदों से यह तेरहवाँ आर्यार्धवाक्य है ॥ ८१-८६ ॥

भूतमय शरीर का ग्रहण मत करो । शाश्वत महादेह का ग्रहण करो । उतने (= सात) ही पदों से यह चौदहवाँ आर्यावाक्य है । तीन प्रकार (=

मण्डलममलमनन्तं त्रिधा स्थितं गच्छ भित्त्वैतत् ।
आर्यार्धवाक्यमष्टाभिः पदैः पञ्चदशं त्विदम् ॥ ८८ ॥
सकलेयं ब्रह्मविद्या स्यात्पञ्चदशभिः स्फुटैः ।
वाक्यैः पञ्चाक्षरैस्त्वस्या निष्कला परिकीर्त्यते ॥ ८९ ॥
प्रतिवाक्यं ययाद्यन्तयोजिता परिपठ्यते ।

भुवनाख्यैरिति—चतुर्दशभिः । एतावद्भिरिति—चतुर्दशभिरेव । प्राक्संख्यैरेकाधिकैरिति—पञ्चदशभिः । रुद्रसंख्यैरिति—एकादशभिः । उपइतीति—तेन अत्र शुभाशुभोपेक्षीति पाठः । निःश्वासशासने इति—तत्र हि उत्क्रम हे देहेश प्रभञ्जनस्त्वं प्रयाह्याशु—इति पाठः, पदप्रविभागस्तु अविशिष्ट एव । नवभिरिति—समाहृत्येत्यस्य एकत्वेन इष्टेः । भुवनसंख्यातैरिति—चतुर्दशभिः । अग्नीषोमसनातनमृत्पिण्डेति एकमेव पदम् । आर्य्यावाक्यमिति—अर्थात् नवमम् । पदत्रयमिति—निःश्वासादौ हि अग्नीषोमसनात्म त्रिपिण्डञ्जहिहि हे महाकोशमिति पाठः, तेन अत्र पञ्चदश पदानि—इति सिद्धम् । आर्यावाक्यमिति—अर्थादर्धम् । द्विरिति—द्वौ वारौ, तेन अत्र अंगुष्ठमात्रमलमलमावरणं जहिहि हे महासूक्ष्ममिति पाठः । आर्यावाक्यमिति—अर्थादेकादशम् । तावद्भिरिति—सप्तभिः । पञ्चदशभिर्वाक्यैरिति, आर्याभिस्तु द्वादशभिः सार्धाभिः ॥

निष्कलामेव ब्रह्मविद्यां निर्दिशति—

सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल एवं अग्निमण्डल) से स्थित इस मण्डल का भेदन कर निर्मल अनन्त को जाओ । आठ पदों से युक्त यह पन्द्रहवाँ आर्यार्धवाक्य है । यह समस्त ब्रह्मविद्या पन्द्रह स्फुट वाक्यों वाली है । पाँच अक्षरों से इसे निष्कल कहा जाता है जिसके साथ आदि अन्त में जोड़ी गयी यह पढ़ी जाती है ॥ ८७-९०- ॥

भुवन संख्या वाले = चौदह । इतने से ही = चौदह से ही । एक अधिक पूर्वसंख्या वाले = पन्द्रह । रुद्र संख्या वाले = ग्यारह । 'उप' ऐसा इससे यहाँ शुभाशुभोपेक्षी—ऐसा पाठ होगा । निःश्वासतन्त्र में—वहाँ उत्क्रमण करो हे देहेश तुम प्रभञ्जन हो शीघ्र जाओ—ऐसा पाठ है । पद का विभाग समान है । नव से—'समाहृत्य' इसको एक मान लेने से । भुवन संख्या वाले = चौदह । अग्नीषोमसनातनमृत्पिण्ड—यह एक ही पद है । आर्यावाक्य—नवम । तीन पद—निःश्वासतन्त्र आदि में अग्नीषोम समाप्त त्रिपिण्डं जहिहि पाठ है, हे महाकोश—ऐसा पाठ है । इससे यहाँ पन्द्रह पद हैं—यह सिद्ध हुआ । आर्यावाक्य—अर्थात् आधा । द्विः = दो बार । इससे यहाँ अंगुष्ठमात्रमलमलमावरणं जहिहि हे महासूक्ष्म—ऐसा पाठ है । आर्यावाक्य—अर्थात् ग्यारहवाँ । उतने से = सात से । पन्द्रह वाक्यों से—साढ़े बारह आर्यापद्यों से ॥

तारो माया वेदकलो मातृतारो नवात्मकः ॥ ९० ॥
इति पञ्चाक्षराणि स्युःप्रोक्तव्याप्त्यनुसारतः ।
बिन्दुप्राणामृतजलं मरुत्षष्ठस्वरान्वितम् ॥ ९१ ॥
एतेन शक्त्युच्चारस्थबीजेनालभ्यते पशुः ।
कृतदीक्षाविधिः पूर्वं ब्रह्मघ्नोऽपि विशुद्ध्यति ॥ ९२ ॥
लघुत्वेन तुलाशुद्धिः सद्यः प्रत्ययकारिणी ।
तारः शमरयैः पिण्डो नतिश्च चतुरर्णकम् ॥ ९३ ॥
शाकिनीस्तोभनं मर्म हृदयं जीवितं त्विदम् ।
षष्ठप्राणत्रिकूटोर्ध्वबाहुशूलाख्यबिन्दुभिः ॥ ९४ ॥
अनच्कनासाधोवक्त्रचन्द्रखण्डैश्च मण्डितम् ।
हृदयं भैरवाख्यं तु सर्वसंहारकारकम् ॥ ९५ ॥

वेदकलः—चतुष्कलः । मातृतारः—फ्रेङ्कारः । नवात्मा—बिन्दुप्राणदण्डनाभिनितम्बवामस्तनकण्ठवामस्कन्धवामकर्णाभरणाक्षरारब्धः । एतच्च सार्धमार्याद्वादशकमवमृष्टप्रागुक्तार्थसतत्त्वस्य स्वयमवगन्तुं शक्यत्वात् ग्रन्थविस्तरभयाच्च न प्रातिपद्येन व्याख्यातमिति न विद्वद्भिरस्मभ्यमसूयितव्यम् । बिन्दुः = शून्यम्, प्राणः = ह, अमृतम् = स, जलम् = व, मरुत् = य, षष्ठस्वरः = ऊ; प्राणः = ह,

---

निष्कला ब्रह्मविद्या को निर्दिष्ट करते हैं—

तार (= ओऽम्) माया (= ह्रीं) वेदकल (= चतुष्कल = हूँ) मातृतार (= स्फ्रें) और नवात्मक एक उक्त व्याप्ति के अनुसार ये पाँच अक्षर हैं । बिन्दु (ं) प्राण (= ह) अमृत (= स) जल (= व) वायु (= य) एवं छठाँ स्वर (= ऊ) इस शक्त्युच्चारस्थ बीज मन्त्र के द्वारा पशु का आलभन किया जाता है । पहले ब्रह्मघात करने वाला भी (इससे) दीक्षा प्राप्त करने पर शुद्ध हो जाता है । लघु होने से सद्यःज्ञानदायिनी तुलाशुद्धि होती है । ॐकार तथा श, म, र, य से (निर्मित) पिण्ड और नमः ये चारवर्ण (= ॐ श्यम्र्यूं नमः) यह शाकिनीस्तोभन मर्म हृदय और जीवित कहा गया है । षष्ठ वर्ण प्राण त्रिकूट ऊर्ध्वबाहु शूल एवं बिन्दु से तथा अनच्क नासा अधोवक्त्र चन्द्रखण्ड से अलंकृत भैरव नामक हृदय सर्वसंहारक है ॥ -९०-९५ ॥

वेदकल = चारकला वाला (= हूं), मातृतार = फ्रैंकार । नवात्मा = बिन्दु प्राण दण्ड नाभि नितम्ब वामस्तन कण्ठ वामस्कन्ध वामकर्णाभरण के अक्षरों से आरब्ध । साढ़े बारह आर्यापद्य की, पूर्वोक्त अर्थतत्त्व के ज्ञाता के द्वारा स्वयं ज्ञात हो सकने के कारण और ग्रन्थविस्तार के भय से, प्रतिपद व्याख्या नहीं की गयी । इसलिये विद्वान् लोग हमारी निन्दा न करें । बिन्दु = शून्य, प्राण = ह, अमृत =

त्रिकूटः = क्ष, ऊर्ध्वबाहुः = झ, शूलम् = औ, बिन्दुः शून्यम्, अनच्कौ नादः, नासा शक्तिरधोवक्त्रश्चन्द्रखण्डः = अर्धचन्द्रः; एवं हूक्ष्झ्रौं ॥ ९५ ॥

सर्वसंहारकत्वमेव अस्य दर्शयति—

अग्निमण्डलमध्यस्थभैरवानलतापिताः ।
वशमायान्ति शाकिन्यः स्थानमेतेन चेद्दहेत् ॥ ९६ ॥
विसर्जयेत्ताः प्रथममन्यथा च्छिद्रयन्ति ताः ।
ह्रीं क्लीं व्लें क्लें एभिर्वर्णैर्द्वादशस्वरभूषितैः ॥ ९७ ॥
प्रियमेलापनं नाम हृदयं सम्पुटं जपेत् ।
प्रत्येकमथवा द्वाभ्यां सर्वैर्वा विधिरुत्तमः ॥ ९८ ॥

वशमायान्तीति—हठेन मेलापं कुर्वति—इत्यर्थः । प्रथममितिमेलापसामनन्तर्येण—इत्यर्थः । एभिर्वर्णैरिति—मायाबीजकामराजाभ्यां वामस्तनदक्षजानुबिन्दुसंभिन्नाभ्यां कण्ठादिदन्ताभ्यां चेत्येवंरूपैः । प्रत्येकमिति—यथा क्लं व्लं क्लं ह्रीं क्लं व्लं क्लं इति । द्वाभ्यामिति—यथा व्लां क्लां ह्रीं क्लीं व्लां क्लां इति, ह्रिं क्लिं व्लिं क्लिं ह्रीं क्लीं व्लें क्लें क्लिं व्लिं क्लिं ह्रिं इति । एवं स्वरान्तरभूषितत्वेऽपि ज्ञेयम् ॥ ९८ ॥

स, जल = व, मरुत् = य, षष्ठस्वर = ऊ, इस प्रकार ह्स्व्यूं (रूप होता) है। शमरय = इससे गुह्य नितम्ब दण्ड वामस्कन्ध समझना चाहिये—इससे ॐ श्म्र्यूं नमः (रूप बनेगा) । षष्ठ = ऊ, प्राण = ह, त्रिकूट = क्ष, ऊर्ध्वबाहु = म्म, शूल = औ, बिन्दु = शून्य, अनच्क = नाद, नासा शक्ति और अधोवक्त्र, चन्द्रखण्ड = अर्धचन्द्र; इससे हूक्ष्म्म्रौं (रूप बनता) है ॥ ९५ ॥

इसके सर्वसंहारकत्व का ही प्रदर्शन करते हैं—

यदि इस (मन्त्र) के द्वारा स्थान का दाह किया जाय तो अग्निमण्डल के मध्य में स्थित भैरवानल से तपित शाकिनियाँ वश में हो जाती है । पहले उनका विसर्जन करना चाहिये अन्यथा वे छिद्र (= दोष, उपद्रव, विघ्न) उत्पन्न करती हैं । बारह स्वरों से भूषित ह्रीं क्लीं व्लें क्लें इन प्रत्येक दो-दो या सभी वर्णों से प्रिय मेलापन नाम हृदय सम्पुट का जप करे । यह उत्तम विधि है ॥ ९६-९८ ॥

वश में आती है—हठ पूर्वक मिलाप करती हैं । पहले = मिलाप के तुरन्त बाद । इन वर्णों से = माया बीज (= ह्रीं) कामराज (= क्लीं) से तथा वामस्तन (= ल) दक्ष जानु (= ए) एवं बिन्दु से युक्त कण्ठादि (= क्ल) एवं दन्त (= स) वर्णों से । प्रत्येक = क्लं व्लं क्लं ह्री क्लं व्लं क्लम् । दो से = ब्लां क्लां ह्री क्लीं व्लां क्लां । (सब से) = ह्रिं क्लिं व्लिं ह्रीं क्ली व्ले क्लें क्लिं व्लिं क्लिं ह्रिं । इसी प्रकार स्वरान्तर से युक्त होने पर भी समझना चाहिये ॥ ९८ ॥

अत्रैव गुर्वागमौ दर्शयति—

तुलामेलकयोगः श्रीतन्त्रसद्भावशासने ।
य उक्तः शम्भुनाथेन स मया दर्शितः क्रमात् ॥ ९९ ॥
अथ वित्तविहीनानां प्रपन्नानां च तत्त्वतः ।
देशकालादिदोषेण न तथाध्यवसायिनाम् ॥ १०० ॥
प्रकर्तव्या यथा दीक्षा श्रीसन्तत्यागमोदिता ।
कथ्यते हाटकेशानपातालाधिपचोदिता ॥ १०१ ॥

तदेव आह—

श्रीनाथ आर्य भगवन्नेतत्त्रितयं हि कन्द आधारे ।
वरुणो मच्छन्दो भगदत्त इति त्रयमिदं हृदये ॥ १०२ ॥
धर्मादिवर्गसंज्ञाश्चत्वारः कण्ठदेशगाः पूज्याः ।
ह्रींश्रींपूर्वाः सर्वे सम्बोधजुषश्च पादशब्दान्ताः ॥ १०३ ॥
मूर्धतले विद्यात्रयमुक्तं भाव्यथ मनोऽभियोगेन ।
कुसुमैरानन्दैर्वा भावनया वापि केवलया ॥ १०४ ॥
गुरुणा तत्त्वविदा किल शिष्यो यदि मोक्षमात्रकृतहृदयः ।
मोक्षैकदानचतुरा दीक्षा सेयं परोपनिषदुक्ता ॥ १०५ ॥

इसी में गुरु एवं आगम को दिखलाते हैं—

जो तुलामेलनात्मक योग श्री तन्त्रसद्भावशासन में, तथा श्री शम्भु नाथ के द्वारा कहा गया वह क्रम से मेरे द्वारा दिखलाया गया । अब जो सचमुच धनरहित एवं शरणागत हैं तथा देश काल आदि दोष के कारण वैसा नहीं कर सकते उनकी जिस प्रकार दीक्षा करनी चाहिये, सन्तत्यागम में कथित एवं हाटकेश्वर तथा पातालाधिप के द्वारा निर्दिष्ट (उसे) कहा जाता है ॥ ९९-१०१ ॥

उसी को कहते हैं—

श्रीनाथ आर्य भगवन् इन तीन की कन्द आधार में, वरुण मच्छन्द भगदत्त इन तीन की हृदय में (प्रतिष्ठा एवं पूजा करनी चाहिये) । धर्म आदि संज्ञा वाले चार वर्ग की (उनके) पहले ह्रीं श्रीं जोड़कर सबको संबोधनयुक्त और पादशब्दान्त बनाकर, कण्ठदेश में पूजा करनी चाहिये । अथवा वक्ष्यमाण तीन विद्याओं की मूर्धा में मनोयोग से पुष्प या मदिरा आदि या केवल भावना के द्वारा (पूजा करे) । यदि शिष्य मोक्षमात्र के प्रति समर्पित हृदय वाला है तो तत्त्ववेत्ता गुरु के द्वारा मोक्षदान में चतुर यह दीक्षा (दी जानी चाहिये) । यह परा उपनिषत् कही गयी है । इस

एतद्दीक्षादीक्षित एतद्विद्यात्रयं स्मरन् हृदये ।
बाह्यार्चादि विनैव हि व्रजति परं धाम देहान्ते ॥ १०६ ॥

धर्मादिवर्गेति—धर्मार्थकाममोक्षलक्षणचतुर्वर्गः, तेन धर्मनाथः, अर्थनाथः, कामनाथः, मोक्षनाथ इति; सम्बोधः = आमन्त्रणम्, तेन ह्रीं श्रीं श्रीनाथ-पादेत्यादिः क्रमः । उक्तमिति—परापराद्यात्मकम् । भावीति—वक्ष्यमाणम् । अथेति—विकल्पे । मनोऽभियोगेनेति—अनुसन्धानदार्ढ्येन—इत्यर्थः । आनन्दैरिति—तत्कारिभिः सुरादिभिः । परं धामेत्यनेन अस्या मुमुक्षुविषयत्वमेव निर्वाहितम् ॥

एतदेव विद्यात्रयं निर्दिशति—

प्रणवो माया बिन्दुर्वर्णत्रयमादितः कुर्यात् ।
पदपञ्चकस्य संबोधनयुक्तस्याग्निदयितान्ते ॥ १०७ ॥

प्रणवः = ओं, माया = ह्रीम्, बिन्दुश्चतुष्कलतया हूँ । अग्निदयिता = स्वाहा ॥ १०७ ॥

पदपञ्चकमेव निर्दिशति—

सिद्धसाधनि तत्पूर्वं शब्दब्रह्मस्वरूपिणि ।
समस्तबन्धशब्देन सहितं च निकृन्तनि ॥ १०८ ॥

दीक्षा से दीक्षित और इन तीनों विद्याओं का हृदय में स्मरण करने वाला (शिष्य) बाह्यपूजा आदि के बिना ही देहान्त होने पर परम धाम को प्राप्त हो जाता है ॥ १०२-१०६ ॥

धर्म आदि वर्ग = धर्म अर्थ काम मोक्ष अथवा धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य नामक चार वर्ग । इससे धर्मनाथ अर्थनाथ कामनाथ मोक्षनाथ ऐसा (नाम) होता है । सम्बोध = आमन्त्रण । इससे ह्रीं श्रीं श्रीनाथपाद ! ऐसा क्रम होगा । उक्त = परापरादि रूप । भावी = वक्ष्यमाण । अथ—यह विकल्प अर्थ में प्रयुक्त हैं । मनोऽभियोग से = दृढ अनुसन्धान के साथ । आनन्द = उसको उत्पन्न करने वाला सुरा आदि । पर धाम—इस (कथन) से इस (दीक्षा) का विषय मोक्ष है—यह बताया गया ॥ १०६ ॥

इन्हीं तीन विद्याओं का निर्देश करते हैं—

प्रणव माया और बिन्दु-इन तीनों वर्णों को पहले रखे । फिर सम्बोधन युक्त पाँच पदों के अन्त में 'अग्निदयिता' को रखे ॥ १०७ ॥

प्रणव = ओ३म् । माया = ह्रीं । बिन्दु = चार कला वाला होने के कारण हूँ । अग्निदयिता = स्वाहा ॥ १०७ ॥

पाँच पदों का निर्देश करते हैं—

बोधनि शिवसद्भावजनन्यामन्त्रितं च तत् ।
पञ्चाष्टरन्ध्रत्र्यष्टार्णक्रमेण पदपञ्चकम् ॥ १०९ ॥
खपञ्चार्णा परब्रह्मविद्येयं मोक्षदा शिवा ।
अनुत्तरेच्छे घान्तश्च सत्रयोदशसुस्वरः ॥ ११० ॥
अस्य वर्णत्रयस्यान्ते त्वन्तःस्थानां चतुष्टयम् ।
वर्गाद्यश्वौ त्र्यस्त्रबिन्दुयुक् पान्तोऽर्णत्रयादतः ॥ १११ ॥
महाहाटकशब्दाद्यमीश्वरीत्यर्णसप्तकम् ।
आमन्त्रितं क्षमस्वेति त्र्यर्णं पापान्तकारिणि ॥ ११२ ॥
षडर्णं पापशब्दादिविमोहनिपदं ततः ।
पापं हन धुन द्विर्द्विर्दशार्णं पदमीदृशम् ॥ ११३ ॥
पञ्चम्यन्तं षडर्णं स्याद्रुद्रशक्तिवशादिति ।
तत एकाक्षरं यत्तद्विसर्गब्रह्म कीर्तितम् ॥ ११४ ॥
तदनच्कतकारेण सहैकीभावतः पठेत् ।
रन्ध्राब्धिवर्णा विद्येयं दीक्षाविद्येति कीर्तिता ॥ ११५ ॥

उनमें पहला (पद) १. सिद्धसाधनि, २. शब्दब्रह्मस्वरूपिणि, ३. समस्तबन्ध शब्द के साथ निकृन्तनि (= समस्तबन्धनिकृन्तनि) ४. बोधनि और ५. शिवसद्भावजननि । यह आमन्त्रित पञ्चपद क्रम से पाँच आठ नव तीन और आठ अक्षरों वाला है । ख पञ्च (= पचास) वर्णों वाली यह परब्रह्मविद्या मोक्षदायिनी शिवा है (इसका स्वरूप होगा—ॐ ह्रीं हूं सिद्धसाधनि ॐ ह्रीं हूं शब्दब्रह्म स्वरूपिणि ॐ ह्रीं हूं समस्तबन्ध निकृन्तनि ॐ ह्रीं हूं बोधनि ॐ ह्रीं हूं शिवसद्भावजननि स्वाहा)। अनुत्तर (= अ), इच्छा (= इ) त्रयोदश स्वर के सहित घान्त (= ङ) इन तीनों वर्णों के अन्त में चार अन्तःस्थ, वर्ग का आदि (= अ), अश्व (= ण) त्र्यस्त्र (= ए) एवं बिन्दु से युक्त पान्त (= फें) इन तीनों वर्णों (= अ ण फें) के बाद महाहाटक शब्द के बाद ईश्वरी यह सात वर्ण (= महाहाटकेश्वरी) इसको सम्बोधन बना कर तीन वर्ण वाला 'क्षमस्व' जोड़े । 'पापान्तकारिणि' (यह) छह वर्ण वाला (पद) फिर 'पापविमोहनि' पद उसके बाद 'पापं' फिर दो-दो बार 'हन' और 'धुन' यह दशवर्ण वाला पद (जोड़े) । छह वर्णों वाला पञ्चम्यन्त-रुद्रशक्तिवशात् यह (पद) उसके बाद जो एकाक्षर वह विसर्ग ब्रह्म कहा गया है । उसे स्वररहित तकार के साथ मिलाकर (= सत्) पढ़े । रन्ध्राब्धि (= ४९) वर्णों वाली यह विद्या दीक्षाविद्या कही गयी है । (उसका स्वरूप है—अ इ ङो य र ल व अ ण फें महाहाटकेश्वरि क्षमस्व पापान्तकारिणि पापविमोहनि पापं हन हन धुन धुन रुद्रशक्तिवसात्सत्) ॥ १०८-११५ ॥

मायार्णश्च परे ब्रह्मे चतुर्विद्ये पदत्रयम् ।
अष्टार्णमथ पञ्चार्णं योगधारिणिसंज्ञितम् ॥ ११६ ॥
आत्मान्तरात्मपरमात्मरूपं च पदत्रयम् ।
एकारान्तं बोधनस्थं दशार्णं परिकीर्तितम् ॥ ११७ ॥
रुद्रशक्तीति वेदार्णं स्याद्रुद्रदयितेऽथ मे ।
पापं दहदहेत्येषा द्वादशार्णा चतुष्पदी ॥ ११८ ॥
सौम्ये सदाशिवे युग्मं षट्कं बिन्द्विषुसावहा ।
सार्धवर्णचतुष्कं तदित्येषा समयापहा ॥ ११९ ॥
विद्या सार्धार्णखशरसंख्या सा पारमेश्वरी ।

पदपञ्चकस्यैव वर्णविभागमपि आह—पञ्चेत्यादि । रन्ध्रेति = नव । खपञ्चार्णेति = पञ्चाशद्वर्णाः, एवं ओं ह्रीं हूँ बोधनि ओं ह्रीं हूँ शिवसद्भावजननि स्वाहा । अनुत्तरः = अ, इच्छा = इ । घान्तः = ङ । त्रयोदशः स्वरः = ओ । अन्तःस्था = यरलवाः । वर्गाद्यः = अ । अश्वः = ण । त्र्यस्रम् = ए बिन्दुयुक् पान्तः = फं, एवं फें । विसर्गब्रह्म = स, रन्ध्राब्धीति = एकान्नपञ्चाशत् । एवं अइङोयरलवअणफें महाहाटकेश्वरि क्षमस्व पापान्तकारिणि पापविमोहनि पापं हन हन धुन धुन रुद्रशक्तिवशात् सत् । मायार्णम् = ह्रीम् ह्रीं । एकारान्तं बोधनस्थमिति तेन आत्मे अन्तरात्मे परमात्मे इति । चतुष्पदीति—दह दहेति एकमेव हि पदम् । युग्मम्—पदयोः । षट्कम्—

मायावर्ण (= ह्रीं) 'परे ब्रह्मे चतुर्विद्ये' यह आठ वर्णों वाला तीन पद फिर 'योगधारिणि' नामक पाँच वर्ण वाला पद फिर 'आत्मा अन्तरात्मा परमात्मा' रूप तीन पद इनको एकारान्त सम्बोधनयुक्त दश वर्णों वाला पद कहा गया है । 'रुद्रशक्ति' यह चार वर्णों वाला पद फिर 'रुद्रदयिते' फ़िर 'मे पापं दह दह' यह बारह वर्णों वाली चतुष्पदी (विद्या है) । 'सौम्ये सदाशिवे' ये छह वर्णों वाले दो पद बिन्दु (= हूँ) इषु (= फट्) और सावहा (स्वाहायुक्त) यह साढे चार वर्णों वाली समयापहा विद्या है । यह साढे पचास वर्णों वाली पारमेश्वरी विद्या है ॥ ११६-१२०- ॥

पाँच पदों का वर्णविभाग भी कहते हैं—पाँच इत्यादि । रन्ध्र = नव । खपञ्चार्ण = पचास वर्ण । इस प्रकार (रूप होगा) ओं ह्रीं हूं बोधनि ओं ह्रीं हूं शिवसद्भावजननि स्वाहा । अनुत्तर = अ । इच्छा = इ । घान्त = ङ । त्रयोदश स्वर = ओ । अन्तःस्थ = य र ल व । वर्गाद्य = अ । अश्व = ण । त्र्यस्र = ए । बिन्दुयुक् पान्त = फं इस प्रकार = फें । विसर्गब्रह्म = स । रन्ध्रअब्धि = उन्चास । इस प्रकार रूप बना (= अ इ यर..........सत्) । मायार्ण = ह्रीं । एकारान्त बोधनस्थ—इससे आत्मे अन्तरात्मे परमात्मे (रूप हुआ) । चतुष्पदी = 'दह दह' यह एक ही पद है । युग्म = दो पदों का । छह—वर्णों का । बिन्दु =

वर्णानाम् । बिन्दुः = हूँ । इषुः = फट् । सावहा = स्वाहा । खशरेति = पञ्चाशत् । सार्धार्णं = ट् । एवं ह्रीं परे ब्रह्मे चतुर्विद्ये योगधारिणि आत्मे अन्तरात्मे परमात्मे रुद्रशक्तिरुद्रदयिते मे पापं दह दह सौम्ये सदाशिवे हूँ फट् स्वाहा—

एतच्च अस्माकं गुरुभिरुपदिष्टम्—इत्याह—

एतद्विद्यात्रयं श्रीमद्भूतिराजो न्यरूपयत् ॥ १२० ॥
यः साक्षादभजच्छ्रीमाञ्श्रीकण्ठो मानुषीं तनुम् ।

ननु इह मन्त्राणां स्वरूपं दर्शितम्, वीर्यं पुनः कस्मात् न उक्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—

अत्र वीर्यं पुरैवोक्तं सर्वत्रानुसरेद्गुरुः ॥ १२१ ॥
अर्थबीजप्रवेशान्तरुच्चाराद्यनुसारतः ।
नहि तत्किञ्चनाप्यस्ति यत्पुरा न निरूपितम् ॥ १२२ ॥
निष्फला पुनरुक्तिस्तु नास्मभ्यं जातु रोचते ।

ननु अनेकप्रकारं हि तद्वीर्यं तत् केन प्रकारेण एतद्?—इत्याशङ्क्य आह—अर्थेत्यादि ॥

एतदेव अर्धेन उपसंहरति—

हूँ । इषु = फट् । सावहा = स्वाहा । इस प्रकार (रूप बनेगा—) ह्रीं परे......... ....फट् स्वाहा ॥

यह हमारे गुरु के द्वारा उपदिष्ट है—यह कहते हैं—

इन तीनो विद्याओं का निरूपण श्रीमान् भूतिराज ने किया जो कि स्वयं श्रीकण्ठनाथ ने मनुष्य (= भूतिराज) का शरीर धारण किये थे ॥ -१२०-१२१- ॥

प्रश्न—यहाँ मन्त्रों का स्वरूप दिखाया गया लेकिन (उनका) वीर्य क्यों नहीं कहा गया?'—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसमें वीर्य पहले ही कह दिया गया । गुरु (मन्त्रों के) अर्थ उनका बीज उनमे प्रवेश की विधि अन्तःउच्चार आदि के अनुसार सर्वत्र अनुसरण करे । ऐसा कुछ नहीं है जिसका पहले निरूपण न किया गया हो निष्फल पुनरुक्ति हमें कभी भी अच्छी नहीं लगती ॥ १२१-१२३- ॥

प्रश्न—वह वीर्य अनेक प्रकार का है तो किस प्रकार से इसका (अनुसरण करे)?—यह शङ्का कर कहते हैं—अर्थ............. ॥ १२२- ॥

इत्येवं मन्त्रविद्यादिस्वरूपमुपवर्णितम् ॥ १२३ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके मन्त्रादिप्रकाशनं नाम त्रिंशमाह्निकम् ॥ ३० ॥

इति शिवम् ॥

श्रीमद्गुरूपदेशासादितमान्त्रस्वरूपपरितृप्तः ।
एतज्जयरथनामा निरणैषीदाह्निकं त्रिंशम् ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते मन्त्रादिप्रकाशनं नाम त्रिंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ ३० ॥
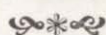
इसी का श्लोकार्ध के द्वारा उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार मन्त्रविद्या आदि का स्वरूप वर्णित हुआ ॥ १२३ ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के त्रिंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३० ॥

गुरु के उपदेश से प्राप्त मन्त्र के स्वरूप से परितृप्त जयरथ ने तीसवें आह्निक की व्याख्या की ।

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के त्रिंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३० ॥
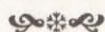
एकत्रिंशमाह्निकम्

◆ ✻ ◆

* विवेकः *

विद्यामायाप्रकृतित्रिप्रकृतिकमध्वसप्तकारमिदम् ।
विश्वत्रिशूलमभितो विकासयञ्जयति कौशिकः शंभुः ॥

इदानीं तात्पर्यतो मण्डलस्वरूपं वक्तुमुपक्रमते—

अथ मण्डलसद्भावः संक्षेपेणाभिधीयते ।

तत्र तावत् चतुरस्रसिद्धिमाह—

साधयित्वा दिशं पूर्वां सूत्रमास्फालयेत्समम् ॥ १ ॥
तदर्धयित्वा मध्यप्राक्प्रतीचीष्वङ्कयेत्पुनः ।
ततोऽप्यर्धतदर्धार्धमानतः पूर्वपश्चिमौ ॥ २ ॥
अङ्कयेत्तावता दद्यात् सूत्रेण भ्रमयुग्मकम् ।

---

* ज्ञानवती *

विद्या माया और प्रकृति रूप तीन मूल कारण और (छह) अध्वा इन सात अरों वाले इस विश्व त्रिशूल को सब ओर से विकसित करने वाले कौशिक (गोत्रवाला) शम्भु सर्वोत्कृष्ट हैं ॥

अब तात्पर्य के अनुसार मण्डलस्वरूप को कहने का उपक्रम करते हैं—

अब संक्षेप में मण्डलसद्भाव कहा जाता है ॥ १- ॥

उसमें चतुरस्र मण्डल की सिद्धि को कहते हैं—

पूर्व दिशा का निश्चय करके (मण्डल के) बराबर सूत्र फटकारना चाहिये । फिर उसका आधा कर मध्य पूर्व और पश्चिम (दिशाओं) में चिह्न बनाना चाहिये । फिर उसका आधा फिर उस आधे का आधा परिमाण से

मत्स्यसन्धिद्वयं त्वेवं दक्षिणोत्तरयोर्भवेत् ॥ ३ ॥
तन्मध्ये पातयेत्सूत्रं दक्षिणोत्तरसिद्धये ।
यदि वा प्राक्पराक्तुल्यसूत्रेणोत्तरदक्षिणे ॥ ४ ॥
अङ्कयेदपरादङ्कात् पूर्वादपि तथैव ते ।
मत्स्यमध्ये क्षिपेत्सूत्रमायतं दक्षिणोत्तरे ॥ ५ ॥
मतक्षेत्रार्धमानेन मध्याद्दिक्ष्वङ्कयेत्ततः ।
सूत्राभ्यां दिग्द्वयोत्थाभ्यां मत्स्यः स्यात्प्रतिकोणगः॥ ६ ॥
मत्स्येषु वेदाः सूत्राणीत्येवं स्याच्चतुरस्रकम् ।

विषुवच्छङ्कुच्छायादिना पूर्वामर्थात् पश्चिमां च दिशं सायं प्रातश्च साधयित्वा जिघृक्षितचतुर्हस्तादिक्षेत्रसाम्येन पूर्वपश्चिमदिगायतं सूत्रं दद्यात् । तच्च सममर्धयित्वा मध्ये पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि अङ्कयेत्—रेखात्रयेण चिह्नयेत्—इत्यर्थः । तदनन्तरमपि सकलसूत्रापेक्षया चतुर्भागात्मनोऽर्धस्य अष्टभागात्मनस्तदर्धस्य षोडश-भागात्मनस्तदर्धस्य च मानमवलम्ब्य पूर्वपश्चिमावङ्कयेत्—दिग्द्वये बहिर्गत्या तत्र तत्र रेखाषट्कं दद्यात्—इत्यर्थः । ततोऽपि तावता पूर्वपश्चिमदिग्द्वयीयतत्तदर्धद्वयमानेन सूत्रेण तत्र तत्र अङ्कस्थाने वामं दक्षिणं च परिस्थाप्य क्रमेण दक्षिणस्यामुत्तरस्यां

पूर्व और पश्चिम को अङ्कित करे । फिर सूत्र से दो चक्कर दे । इस प्रकार दक्षिण और उत्तर में दो मत्स्य सन्धियाँ होंगी । दक्षिण और उत्तर की सिद्धि के लिये उसके बीच में सूत्र गिराये । अथवा पूर्व और पश्चिम के समान (माप वाले) सूत्र से उत्तर और दक्षिण दिशाओं को अङ्कित करे । उसी प्रकार पश्चिम और पूर्व चिह्न से भी उन दोनों (= उत्तर दक्षिण) को चिह्नित करे । दक्षिण और उत्तर की ओर फैले हुये सूत्र को मत्स्य के मध्य में फेंके । मत क्षेत्र के अर्धमान से मध्य से (चारो) दिशाओं को अङ्कित करे । इससे दोनों दिशाओं से उठे हुये सूत्रों से प्रत्येक कोण में मत्स्य बन जायगा मत्स्यों में चार सूत्रों को रखे । इस प्रकार चतुरस्र (= चतुर्भुज) बन जाता है ॥ -१-७- ॥

विषुवत् शंकु की छाया आदि के द्वारा पूर्व अर्थात् पश्चिम दिशा को भी सायं प्रातः निश्चित करके मनोऽनुकूल ग्रहणीय चार हाथ आदि क्षेत्र की समता से पूर्व पश्चिम दिशा में सूत्र को फैलाये । उस (सूत्र) को बराबर आधा कर मध्य में पूर्व और पश्चिम दिशा में चिह्न करे = तीन रेखाओं से निशान बनाये । उसके बाद पूरे सूत्र के चौथाई भागरूप के आधे का = आठवें भागरूप के आधे का = सोलहवाँ भागरूप आधा परिमाण से पूर्व और पश्चिम को चिह्नित करे = दोनों दिशाओं में बाहर की ओर (तीन+तीन =) छह रेखायें बनाये । तत्पश्चात् उतने से = पूर्व पश्चिम दोनों दिशाओं वाले तत् अर्धद्वय मान वाले सूत्र से, उस उस अङ्कस्थान में बाँयीं और दाँयीं ओर (स्थान) निश्चित कर क्रम से दक्षिण और उत्तर दिशा में दो

च दिशि भ्रमयुग्मं दद्यात् येन तत्र काकपक्षाकृति मत्स्यसन्धिद्वयं स्यात् । तस्य मत्स्यसन्धिद्वयस्य मध्ये च पातितेन दक्षिणोत्तरायतेन सूत्रेण तद्दिग्द्वयसिद्धिः । यदि वेति—अत्रैव पक्षान्तरोपक्रमः । प्राक्परात्कुल्येति—सकलेन—इत्यर्थः । अपरादङ्कात् पूर्वादपीति—अनेन अङ्केन सर्वशेषत्वेन शिक्षाया वचनम् । तथैवेति —अनन्तरोक्तवत् । एवञ्च मध्यमधिकृत्य दिक्चतुष्टयसिद्धिनिमित्तभूतं सूत्रद्वयं चतुर्हस्तादिरूपतया अभिमतस्य क्षेत्रस्य अर्धमानेन दिक्षु अङ्कयेत्—सर्वतः साम्यमुत्पादयितुं तत्र रेखाचतुष्टयं कुर्यात्—इत्यर्थः । ततो दिक्चतुष्टयगतेभ्यो-ऽङ्केभ्यश्च दिग्द्वयोत्थाभ्यां सूत्राभ्यां प्रतिकोणगो मत्स्यः स्यात् यथा पूर्वदक्षिणा-भ्यामाग्नेये, पूर्वोत्तराभ्यामैशाने, पश्चिमदक्षिणाभ्यां नैर्ऋते, पश्चिमोत्तराभ्यां वायव्ये चेति । तेषु च प्रतिकोणगेषु चतुर्षु मत्स्येषु वेदाश्चत्वारि सूत्राणि दद्यात्—इति चतुरस्रसिद्धिः ॥

ननु प्रतिशास्त्रमनेकानि मण्डलानि सन्ति, इह पुनः केषां सद्भावोऽभिधीयते? —इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य स्वशास्त्राधिकारेण एषामानैक्येऽपि प्रधानभूतप्रतिनियत-मण्डलाश्रयेण बहुप्रकारमुक्तानां शूलवर्तनानां कारणभूतं

'प्रधाने हि कृतो यत्नः फलवान् भवति ।'

इत्याशयेन श्रीत्रिकसद्भावदर्शितं त्रित्रिशूलं मण्डलं प्रथमं वक्तुं प्रतिजानीते—

वृत्त खींचे जिससे उस स्थान में कौवे के पङ्ख के समान दो मत्स्य सन्धियाँ बन जाँय । उन दोनों मत्स्यसन्धियों के बीच में दक्षिण-उत्तर की ओर फैले सूत्र को गिराने से उन दोनों दिशाओं का निश्चय होता है । अथवा—इससे इसी (विधि) में पक्षान्तर का सङ्केत करते हैं । प्राक् पराक् तुल्य = सम्पूर्ण के द्वारा । अपर अङ्क से पूर्व से भी—इस अङ्क से सर्वशेष रूप से शिक्षा का कथन है । उसी प्रकार = पूर्वोक्त की भाँति । इस प्रकार मध्य को आधार मान कर चार दिशाओं की सिद्धि का निमित्तभूत दो सूत्र चातुर्हस्त आदि रूप से अभिमत क्षेत्र के आधे के मान से दिशाओं में चिह्न करने चाहिये = सब ओर से समानता उत्पन्न करने के लिये उसमें चार रेखायें करे । उसके बाद चारो दिशाओं में वर्त्तमान चिह्नों से दोनों दिशाओं से उठे हुये सूत्रों से प्रत्येक कोण में मत्स्य बनेगा । जैसे—पूर्व और दक्षिण से आग्नेय (कोण) में पूर्व और उत्तर से ऐशान कोण में, पश्चिम दक्षिण से नैर्ऋत में और पश्चिम उत्तर से वायव्य में । उन प्रतिकोण में वर्त्तमान चार मत्स्यों में वेद = चार, सूत्रों को देना चाहिये । इस प्रकार चतुरस्र बनता है ॥ ६- ॥

प्रश्न—प्रत्येक शास्त्र में अनेक मण्डल है यहाँ किसका सद्भाव कहा जा रहा है?—इस शङ्का को मन में रखकर अपने शास्त्र के **अनुसार** इनके अनेक होने पर भी प्रधानभूत निश्चित मण्डल के आधार पर अनेक **प्रकार** से कहे गये शूलवर्तनों का कारणभूत—

'प्रधान में किया गया यत्न फलवान् होता है ।'

एकस्मात्प्रभृति प्रोक्तं शतान्तं मण्डलं यतः ॥ ७ ॥
सिद्धातन्त्रे मण्डलानां शतं तत्पीठ उच्यते ।
यत्तन्मध्यगतं मुख्यं मण्डलानां त्रयं स्मृतम् ॥ ८ ॥
मध्यशूलं त्रित्रिशूलं नवशूलमिति स्फुटम् ।
तत्र शूलविधानं यदुक्तम् भेदैरनन्तकैः ॥ ९ ॥
तद्योनि मण्डलं ब्रूमः सद्भावक्रमदर्शितम् ।

तत्पीठ इति—मण्डलपीठे । तन्मध्येति—तच्छब्देन मण्डलशतपरामर्शः । उक्तमिति—अर्थात् सिद्धातन्त्रे एव । यदुक्तम्—

'अधुना मण्डलं पीठं कथ्यमानं शृणु प्रिये ।
मण्डलानां शतं प्रोक्तं सिद्धातन्त्रे वरानने ॥
तेषां नामानि वक्ष्यामि शृणुष्वैकाग्रमानसा ।
मण्डलानां वरोरोहे शतं यावदनुक्रमात् ॥'

इति उपक्रम्य

'हाहारावं घनं रुद्धं सामयं चित्रकण्टकम् ।' इत्यादि
'मध्यशूलं त्रित्रिशूलं नवशूलं तथैव च ॥'

इस आशय से श्रीत्रिकसद्भाव में बतलाये गये त्रित्रिशूलमण्डल को पहले कहने की प्रतिज्ञा करते हैं—

चूँकि एक से लेकर एक सौ तक मण्डल कहा गया है । इसलिये सिद्धातन्त्र में उस एक पीठ में एक सौ मण्डल कहा जाता है । उस (एक सौ मण्डल) के मध्य में वर्त्तमान जो तीन मुख्य मण्डल कहे गये हैं वे मध्यशूल त्रित्रिशूल और नवशूल करके स्फुट हैं । उसमें अनन्त भेदों से जो शूलविधान कहा गया है, सद्भावक्रम में दर्शित उस योनिमण्डल को (हम) कह रहे हैं ॥ -७-१०- ॥

उस पीठ में = मण्डलपीठ में । तन्मध्य—इसमें 'तत्' शब्द से सौ मण्डल को समझना चाहिये । कहा गया—अर्थात् सिद्धातन्त्र में ही । जैसा कि (वहाँ) उक्त है—

'हे प्रिये ! अब वर्ण्यमान मण्डलपीठ को सुनो । हे वरानने ! सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र में एक सौ मण्डल कहा गया है । उनका नाम कहूँगा एकाग्रचित्त होकर सुनो। हे वरारोहे ! सौ मण्डलों का अनुक्रम (यह है—)'

ऐसा प्रारम्भ कर

'हाहाराव घन रुद्ध सामय चित्रकण्टक...........' इत्यादि है ।

'मध्यशूल त्रित्रिशूल और उसी प्रकार नवशूल'

इति मध्यम्

'अध्वमेधसमायुक्तं मण्डलानां शतं मतम् ।'

इत्यन्तम् ॥

तदेव आह—

वेदाश्रिते चतुर्हस्ते त्रिभागं सर्वतस्त्यजेत् ॥ १० ॥
भागैः षोडशभिः सर्वं तत्तत्क्षेत्रं विभाजयेत्।

चतुर्हस्ते इति—षण्णवत्यंगुलात्मनि । त्रिभागमिति—द्वात्रिंशदंगुलानि । सर्वत इति—चतुर्दिक्कम्, तेन प्रतिदिक्कं षोडश षोडश अंगुलानि त्यजेत्—द्वाराद्यर्थ-मवस्थापयेत्—इत्यर्थः । तत् तस्मात् त्रिभागस्य त्यागात् हेतोस्तदवशिष्टं वक्ष्यमाणत्रित्रिशूलवर्तनोपयोगि सर्वं क्षेत्रं षोडशभिर्भागैर्विभजेत् चतुरंगुलानि षट्पञ्चाशदधिकं शतद्वयं (= २५६) कोष्ठकानि कार्याणि—इत्यर्थः । समस्ते हि क्षेत्रे चतुर्विंशतिधा विभक्ते षट्सप्तत्यधिकं शतपञ्चकं (= ५७६) कोष्ठकानि भवन्ति यतः प्रतिदिक्कं द्वाराद्यर्थं भागचतुष्टयस्य त्यागात् विंशत्यधिकं शतत्रयं (= ३२०) कोष्ठकानि अवशिष्यन्ते—इति तात्पर्यार्थः ॥

तत्र त्रिशूलवर्तनामेव कर्तुमुपक्रमते—

यह मध्य में (कहा गया) है ।

'अश्वमेध से युक्त एक सौ मण्डल माना गया है ।'

यहाँ तक (वर्णन है ।) ॥ ७- ॥

उसी को कहते हैं—

चार हाथ परिमाण वाले चतुरस्र (भूमिभाग) में चारो ओर से एक तिहाई भाग छोड़ देना चाहिये । (अवशिष्ट) समस्त उस क्षेत्र को सोलह भागों में बाँट दे ॥ -१०-११- ॥

चार हाथ वाले = ९६ अंगुल वाले । तिहाई भाग = बत्तीस अंगुल । सर्वतः = चारो दिशाओं में । इस प्रकार हर एक दिशा में सोलह-सोलह अंगुल, छोड़ दे = द्वार आदि के लिये सुरक्षित करे । उस तिहाई भाग के त्याग के कारण उससे बचे हुये वक्ष्यमाण त्रित्रिशूल वर्तन के लिये उपयोगी सम्पूर्ण क्षेत्र को सोलह भागों में विभक्त करे अर्थात् (१६ × १६) = दो सौ छप्पन कोष्ठक बनाये । समस्त क्षेत्र को चौबीस बार बाँटने पर (२४ × २४) = पाँच सौ छानबे कोष्ठक होंगे । जिसमें से प्रत्येक दिशा में द्वार आदि के लिये चतुर्थभाग के त्याग से ३२० कोष्ठक बचेंगे—यह तात्पर्य है ॥

उससे त्रिशूलवर्तना करने का उपक्रम करते हैं—

ब्रह्मसूत्रद्वयस्याथ मध्यं ब्रह्मपदं स्फुटम् ॥ ११ ॥
कृत्वावधिं ततो लक्ष्यं चतुर्थं सूत्रमादितः ।
ततस्तिर्यग्व्रजेत् सूत्रं चतुर्थं तदनन्तरे ॥ १२ ॥
कोष्ठे चेन्दुद्वयं कुर्याद् बहिर्भागार्धभागतः ।
तयोर्लग्नं ब्रह्मसूत्रात्तृतीये मर्मणि स्थितम् ॥ १३ ॥
कोष्ठकार्धेऽपरं चेति युग्ममन्तर्मुखं भवेत् ।
ब्रह्मसूत्राद् द्वितीयस्मिन् हस्ते मर्मणि निश्चलम् ॥ १४ ॥
कृत्वा पूर्णेन्दुयुगलं वर्तयेत विचक्षणः ।
ब्रह्मसूत्रगतात् षष्ठात् तिर्यग्भागात्तृतीयके ॥ १५ ॥
कृत्वार्धकोष्ठके सूत्रं पूर्णचन्द्राग्रलम्बितम् ।
भ्रमयेदुन्मुखं खण्डचन्द्रयुग्वह्निभागगम् ॥ १६ ॥
तिर्यग्भागद्वयं त्यक्त्वा खण्डेन्दोः पश्चिमात्ततः ।
कोणं यावत्तथा स्याच्च कुर्यात् खण्डं भ्रमद्वयम् ॥ १७ ॥
सुतीक्ष्णकुटिलाग्रं तदेकं शृङ्गं प्रजायते ।
द्वितीयस्मिन्नपि प्रोक्तः शृङ्ग एष विधिः स्फुटः ॥ १८ ॥
मध्यशृङ्गेऽथ कर्तव्ये तृतीये ऊर्ध्वकोष्ठके ।
चतुर्थार्धे च चन्द्रार्धद्वयमन्तर्मुखं भवेत् ॥ १९ ॥
तच्च पूर्णेन्दुमेकं प्राग्वर्तितं प्राप्नुयाद्यथा ।
अन्योन्यग्रन्थियोगेन बद्धारत्वं प्रजायते ॥ २० ॥

दो ब्रह्मसूत्रों (= यज्ञोपवीतों) का मध्य स्फुट ब्रह्मपद है । उसको अवधि मानकर उससे पहले से चतुर्थ सूत्र को लक्षित करे । फिर चतुर्थ सूत्र को तिर्यक् ले जाये । उसके समीपस्थ बाहरी भाग के अर्धभाग में कोष्ठ में दो चन्द्रमा बनाये उन दोनों (चन्द्रों) से संलग्न, ब्रह्मसूत्र से तीसरे मर्म में स्थित, कोष्ठकार्ध में एक दूसरा अन्तर्मुख (चन्द्र-) युग्म होगा । ब्रह्मसूत्र से दूसरे हाथ वाले मर्म में विद्वान् निश्चल पूर्ण दो चन्द्र बनाये । ब्रह्मसूत्रगत छठें तिर्यक् भाग के तृतीय अर्ध कोष्ठक में पूर्ण चन्द्र के अग्रभाग से लम्बित सूत्र को ऊपर की ओर घुमाये । खण्डचन्द्र से युक्त वह्निभाग वाले दो तिर्यक् भागों को छोड़कर खण्डचन्द्र के पश्चिम से कोण पर्यन्त दो खण्डवृत्त करे । यह एक सुतीक्ष्ण कुटिल अग्रभाग वाला एक शृङ्ग होगा । दूसरे शृङ्ग में भी स्पष्टतया यही विधि कही गयी है ॥ ११-१८ ॥

मध्यशृङ्ग को बनाने के लिये तृतीय ऊर्ध्व कोष्ठक और चतुर्थ (कोष्ठक) के अर्धभाग में अन्तर्मुख दो अर्धचन्द्र बनाये जिससे कि वह

एवं द्वितीयपार्श्वेऽस्य खण्डेन्दुद्वयवर्तनात् ।
मध्याभ्यां गण्डिका श्लिष्टा पराभ्यामग्रतो नयेत् ॥ २१ ॥
सूत्रं पार्श्वद्वये येन तीक्ष्णं स्यान्मध्यशृङ्गगम् ।
पार्श्वद्वयाधरे पश्चाद्ब्रह्मसूत्रं द्वितीयकम् ॥ २२ ॥
अवधानेन संग्राह्यमाचार्येणोहवेदिना ।
भवेत्पश्चान्मुखो मन्त्री तस्मिंश्च ब्रह्मसूत्रके ॥ २३ ॥
मध्यशृङ्गं वर्जयित्वा सर्वः पूर्वोदितो विधिः ।

तत इति—अवधितया कृतात् ब्रह्मपदादारभ्य—इत्यर्थः । सूत्रमिति—न तु कोष्ठकम् । आदित इति—ऊर्ध्वक्रमेण । तत इति—लक्ष्यीकृतात् चतुर्थात् सूत्रात् । तिर्यगिति पार्श्वगत्या । तदनन्तरे इति—तत्समीपवर्तिनि—इत्यर्थः, तेन चतुर्थसूत्रात्मनि मर्मस्थाने वामहस्तं निवेश्य ब्रह्मसूत्रापेक्षया चतुर्थस्य तन्मर्मोपरिवर्तिनः कोष्ठकस्य अर्धादारभ्य तदधस्तनकोष्ठकं यावत् बहिः, न तु अन्तर्भागार्धभागमानमवलम्ब्य इन्दुद्वयं भ्रमगत्या कुर्यात् । ब्रह्मसूत्रात् तृतीये मर्मणि स्थितमिति—तदाश्रित्य स्थितम्—इत्यर्थः, तेन तृतीये मर्मणि दक्षिणं हस्तं निवेश्य कोष्ठके तदर्धे च वामेन हस्तेन भ्रमणादन्तर्मुखम्, न तु बहिर्मुखम्, तयोः समनन्तरवर्तितयोश्चन्द्रयोः संश्लिष्टमन्यच्च चन्द्रद्वयं कुर्यात् । ब्रह्मसूत्रापेक्षयैव

पूर्ववर्तित एक पूर्णेन्दु बन जाय । अन्योऽन्य ग्रन्थियोग के द्वारा बद्धारत्व हो जाता है । उस प्रकार इसके दूसरे पार्श्व में दो खण्डचन्द्र के बनाने से दो मध्यों से गण्डिका जुड़ जाती है । अन्य दो के द्वारा उसे (क्षेत्र पर्यन्त) आगे ले जाय जिससे दोनों पार्श्वों में मध्यशृङ्गगामी तीक्ष्णसूत्र हो जाय । दो पार्श्वों के नीचे बाद में दूसरा ब्रह्मसूत्र ध्यानपूर्वक ऊहवेदी आचार्य के द्वारा संगृहीत किया जाना चाहिये । उस ब्रह्मसूत्र के विषय में मन्त्रसाधक पश्चिमाभिमुख रहे । मध्य शृङ्ग को छोड़ कर सब विधि पूर्वोक्त है ॥ १९-२४- ॥

वहाँ से = अवधि के रूप में स्वीकृत ब्रह्मपद से आरम्भ कर । सूत्र को—न कि कोष्ठक को । आदि से = ऊपर के क्रम से । उससे = लक्ष्य बनाये गये चतुर्थ सूत्र से । तिर्यक्—बगल में जाने से । तदनन्तर = तत्समीपवर्त्ती में । इस प्रकार चतुर्थसूत्र वाले मर्मस्थान में बायें हाथ को डाल कर ब्रह्मसूत्र की अपेक्षा उसके मर्म के ऊपर नीचे वाले कोष्ठक तक बाहरी भाग है न कि अन्तर्भाग के अर्धभागमान को आधार मान कर भ्रम की गति के द्वारा दो चन्द्रमा बनाये । ब्रह्मसूत्र से तृतीयमर्म में स्थित—अर्थात् उसके आधार पर स्थित । इस प्रकार तीसरे मर्म में दाँयें हाथ को निविष्ट कर कोष्ठक और उसके आधे भाग में बाँयें हाथ से भ्रमण करने से अन्तर्मुख न कि बहिर्मुख । उन दोनों = समनन्तरवर्त्तित दो चन्द्रों से संश्लिष्ट अन्य दो अतिरिक्त चन्द्र बनाये । ब्रह्मसूत्र की अपेक्षा से ही दूसरे मर्म

च द्वितीयस्मिन् मर्मणि वामहस्तं दृढं निधाय अर्थादाद्येन्दुद्वयसंलग्नमन्यदपि पूर्णम्, न तु अनन्तरवर्तितेन्दुवदर्धमिन्दुयुगलम्, वर्तनीयम् । तेन ब्रह्मसूत्रादूर्ध्व-गत्या द्वितीयभागान्तं नयेत् येन अत्र वक्ष्यमाणक्रमेण गण्डिकासंश्लेषः स्यात् । अत एव विचक्षण इति उक्तम् । ब्रह्मसूत्रगतादिति—ब्रह्मपदमवधिं कृत्वा स्थितात्—इत्यर्थः । षष्ठात् भागादिति, सूत्रात् पुनः सप्तमात् । तृतीयके इति—ऊर्ध्वगत्या । पूर्णेति—पाश्चात्यद्वितीयचन्द्रापेक्षया । यद् वक्ष्यति—खण्डेन्दोः पश्चिमादिति, तेन द्वितीयार्धककोष्ठकसूत्रपृष्ठे दक्षिणं हस्तं निवेश्य अन्तःस्थपूर्ण-चन्द्राग्रादारभ्य उन्मुखम् = ऊर्ध्वमुखं वह्न्युप (ल) क्षितत्रित्वविशिष्टभागपर्यन्तं सूत्रं भ्रमयेत् । कथम्—इत्याह—खण्डचन्द्रयुगिति; खण्डचन्द्रेण युज्यते सोऽत्रास्ति तदाकारमिति यावत् । ततोऽपि तृतीयादर्धकोष्ठकात् तिर्यग्भागद्वयं त्यक्त्वा अर्थात् तद्द्वितीयभागसूत्रार्धपृष्ठे दक्षिणं हस्तं निवेश्य पश्चिमात् पुनः खण्डेन्दोरारभ्य तत्सूत्रसमनन्तरवर्तितखण्डेन्दुप्रान्तकोटिरूपं कोणं यावच्च भ्रमयेत् येन भ्रमणं तथा खण्डचन्द्रयुक् स्यादित्येवं खण्डम्, न तु पूर्णम्, भ्रमद्वयं कुर्यात् येन सुतीक्ष्णकुटिलाग्रं शृङ्गं स्यात् । तत इति आद्यादिति च पाठे तु ततः पश्चिमात् खण्डेन्दोरारभ्य आद्यात् प्रथमवर्तितात् खण्डचन्द्रात् ग्रामात्पूर्वमितिवत् कोणं यावत् —इति व्याख्येयम्, न तु पूर्ववाक्ये चन्द्रयुगिति, चन्द्रयुग्ममुत्तरत्र च पश्चिमादा-

---

में बाँये हाथ को भली-भाँति रखकर अर्थात् प्रथम दो चन्द्रों से संलग्न दूसरा भी पूर्ण चन्द्र, न कि अनन्तरवर्त्तित चन्द्र की भाँति दो अर्धचन्द्र, को बनाना चाहिये । इस प्रकार ब्रह्मसूत्र से ऊर्ध्वगति के द्वारा (उसे) द्वितीयभाग तक ले जाना चाहिये जिससे यहाँ वक्ष्यमाण क्रम से गण्डिकाश्लेष्ट हो जाय । इसीलिये 'विचक्षण'—कहा गया है । ब्रह्मसूत्रगत = ब्रह्मपद को अवधि मान कर स्थित । षष्ठभाग से—यदि सूत्र है तो सप्तम से । तीसरे में—ऊर्ध्वगति से । पूर्ण—पाश्चात्त्य द्वितीय चन्द्र की अपेक्षा । जैसा कि कहेंगे—खण्डचन्द्र से पश्चिम से । इससे द्वितीय अर्ध वाले कोष्ठक सूत्र के पीछे दाँये हाथ को लगाकर अन्तःस्थ पूर्ण चन्द्र के अग्रभाग से आरम्भ कर उन्मुख = ऊर्ध्वमुख, वह्निउपलक्षित त्रित्वविशिष्ट भाग पर्यन्त सूत्र को घुमाना चाहिये । कैसे?—इसका उत्तर देते हुये कहते हैं—खण्डचन्द्रयुक् अर्थात् खण्डचन्द्र से युक्त होता है अर्थात् वह (= खण्डचन्द्र) इसमें है अर्थात् उसके आकार वाला । उससे—तृतीय अर्धकोष्ठक से भी तिर्यक् दो भागों को छोड़ कर अर्थात् उस द्वितीय भाग के सूत्रार्ध पृष्ठ में दाँयें हाथ को निविष्ट कर फिर पश्चिम खण्डचन्द्र से प्रारम्भ कर उस सूत्र के समनन्तर वर्त्तित खण्डचन्द्र के प्रान्तकोटिरूप कोण तक घुमाना चाहिये जिससे कि भ्रमण खण्डचन्द्रयुक् हो जाय । इस प्रकार खण्ड न कि पूर्ण दो भ्रम बनाये जिससे सुतीक्ष्ण कुटिलाग्रशृङ्ग बन जाय ।

ततः और आद्यात्—ऐसा पाठ होने पर ततः = पश्चिम खण्डचन्द्र से प्रारम्भ कर, आद्यात् = प्रथम वर्त्तित खण्डचन्द्र से कोणपर्यन्त, जैसे कि ग्राम से पूर्व (व्याख्या की जाती है वैसी) व्याख्या की जानी चाहिये न कि पूर्व वाक्य में

द्याच्च खण्डेन्दोः खण्डं भ्रमद्वयं कुर्यादित्यादिना इन्दुद्वयस्यैव वर्तनीयतया प्रक्रान्तत्वादाद्यशब्दस्य परामर्शनीयत्वाभावादानर्थक्यात् च । एतदेव शृङ्गान्तरेऽपि अतिदिशति द्वितीयस्मिन्नित्यादिना, अत्र तु पाणिविनिवेश एव अन्यथा—इति विशेषः । एवं पार्श्वशृङ्गद्वयवर्तनामभिधाय मध्यशृङ्गवर्तनामपि आह—मध्येत्यादि । तृतीयेति—ब्रह्मसूत्रापेक्षया । ऊर्ध्वेति—न तु तिर्यक् । अन्तर्मुखमिति—न तु बहिर्मुखम् । तदिति—अर्धचन्द्रद्वयम् । एकमिति—एकमेकं, तेन पूर्णेन्दुद्वयमपि —इत्यर्थः । अत्रैव प्रयोजनमाह—यथेत्यादि । एतदेव पार्श्वान्तरेऽपि अतिदिशति एवमित्यादिना । अस्येति—मध्यशृङ्गस्य । श्लिष्टेति—ऊर्ध्वाधरमेलनया । नयेदिति —क्षेत्रान्तम् । एवं पूर्वक्षेत्रे वर्तनामभिधाय परत्रापि वक्तुमुपक्रमते पार्श्वेत्यादिना । द्वितीयकमिति—अपरार्धगतत्वात् ऊहवेदिनेति—अतिदेशाद्यर्थावधारणनैपुण्यात् । एवञ्च अनेन किं कार्यम्—इत्याह—भवेदित्यादि । मध्यशृङ्गं वर्जयित्वेति, तत्स्थाने दण्डस्य वर्तयिष्यमाणत्वात् ॥

इदानीं दक्षिणोत्तरपार्श्वयोः शृङ्गवर्तनामाह—

ततो यदुन्मुखं खण्डचन्द्रयुग्मं पुरोदितम् ॥ २४ ॥
ततो द्वयेन कर्तव्या गण्डिकान्तः सुसङ्गता ।

चन्द्रयुक् = दो चन्द्रमा और आगे पश्चिम और आद्य खण्डचन्द्र का खण्ड दो भ्रम (= वृत्त) बनाये—इत्यादि के द्वारा दो चन्द्र के वर्तनीय होने के कारण प्रकरण में आ जाने से तथा आद्य शब्द के अपरामर्शनीय तथा निरर्थक होने से । इसी का 'द्वितीयस्मिन्' इत्यादि के द्वारा दूसरे शृङ्ग में भी अतिदेश करते हैं । यहाँ तो पाणि का विनिवेश ही दूसरे प्रकार का है—यह विशेष है ।

इस प्रकार पार्श्ववर्त्ती दो शृङ्गों की वर्तना का कथन कर मध्यशृङ्गवर्तना को भी कहते हैं—मध्य इत्यादि । तृतीय—ब्रह्मसूत्र की अपेक्षा से । ऊर्ध्व—न कि तिर्यक् । अन्तर्मुख—न कि बहिर्मुख । वह = दो अर्धचन्द्र । एक—एक-एक । इस प्रकार दो पूर्ण चन्द्र भी—यह अर्थ है । यहीं पर प्रयोजन भी कहते हैं—जिस प्रकार । इसी का दूसरे पार्श्व में भी 'एवम्' इत्यादि के द्वारा 'अतिदेश' करते हैं । इसका = मध्यशृङ्ग का । श्लिष्ट—ऊपर-नीचे मिलाने से । ले जाये—क्षेत्र के अन्त तक । इस प्रकार पूर्वक्षेत्र में वर्तना का कथन कर पर (क्षेत्र) में भी कहने का उपक्रम करते हैं—पार्श्व इत्यादि के द्वारा । द्वितीय को—परार्धगत न होने के कारण । ऊहवेदी के द्वारा—अतिदेश आदि के अर्थ को समझने में निपुण होने के कारण । इस प्रकार इसे क्या करना चाहिये—यह कहते हैं—भवेत्............ । मध्यशृङ्ग को छोड़ कर—उसके स्थान में दण्ड की वर्तना के होने से ॥

अब दक्षिण उत्तर पार्श्वों में शृङ्गवर्तना को कहते हैं—

इसके बाद जो उन्मुख दो चन्द्रखण्ड पहले कहा गया उससे दो के

द्वयेनाग्रगसूत्राभ्यां मध्यशृङ्गद्वयं भवेत् ॥ २५ ॥

पुरेति—पूर्वशूलवर्तनावसरे । सुसङ्गतेति—पार्श्वशृङ्गयोः ॥ २५ ॥

एवमत्र त्रिशूलत्रयं वर्तयित्वा तदधोवर्ति पद्माद्यपि वर्तयितुमाह

अधो भागविवृद्ध्यास्य पद्मं वृत्तचतुष्टयम् ।
ततश्चक्रं षोडशारं द्वादशारं द्विधाथ तत् ॥ २६ ॥
मध्ये कुलेश्वरीस्थानं व्योम वा तिलकं च वा ।
पद्मं वाथ षडरं वा वियद्द्वादशकं च वा ॥ २७ ॥
त्रित्रिशूलेऽत्र सप्तारे श्लिष्टमात्रेण मध्यतः ।
पद्मानामथ चक्राणां व्योम्नां वा सप्तकं भवेत् ॥ २८ ॥
मिश्रितं वाथ सङ्कीर्णं समासव्यासभेदतः ।

अधोऽस्येति—शूलस्य, दण्डस्य तु उपरिष्टात् ; तस्य हि अध एव अवस्थानमुचितम् । अत एव एषां शूलेन अन्तराच्छादनम्, एभिस्तु दण्डस्येति । अत एव उक्तम्—

'...............पञ्च तद्भागाः पद्मपीठतिरोहिताः ।' इति ।

द्वारा (पार्श्वशृङ्गों में) सुसङ्गत गण्डिका बनानी चाहिये । दो के द्वारा दो अग्रग सूत्रों से दो मध्यशृङ्ग होता है ॥ -२४-२५ ॥

पहले = पूर्वसूत्र की वर्तना के अवसर पर । सुसङ्गता—दो पार्श्वशृङ्गों में ॥ २५ ॥

इस प्रकार यहाँ तीन त्रिशूलों की वर्तना कर उनके नीचे रहने वाले पद्म आदि को भी वर्तना के लिये कहते हैं—

इस (शूल) के अधोभाग के बढ़ने से चार वृत्तों वाला पद्म, फिर सोलह अरों वाला चक्र, फिर द्वादशार चक्र, फिर दो बार (अर्थात् चौबीस अरों वाला) वह (= चक्र बनाये) । (चक्र अथवा पद्म के) मध्य में कुलेश्वरी का स्थान, शून्य अथवा तिलक अथवा पद्म छह अरों वाला शून्य अथवा द्वादश अरों वाला (बनाये) । इस सात अरों वाले तीन त्रिशूल में मध्य से श्लिष्ट करने पर समास एवं व्यास के भेद से सात पद्म चक्र अथवा शून्य होते हैं ॥ २६-२९- ॥

इसके = शूल के, नीचे और दण्ड के ऊपर । उस (= दण्ड) का नीचे ही रहना उचित है । इसलिये इनका शूल के द्वारा बीच में आच्छादन होता है । और इनके द्वारा दण्ड का (आच्छादन होता है) । इसीलिये कहा गया—

'...........उसके पाँच भाग पद्मपीठ में तिरोहित होते हैं ।'

भागवृद्ध्येति—एकद्व्यादिक्रमेण । द्विधा तदिति—चतुर्विंशत्यरम्, तेन आदौ द्वादशारं ततः षोडशारं चतुर्विंशत्यरं चेति । तिलकमिति—बिन्दुमात्रकम् । शिलष्टमात्रेणेति—न तु आच्छादकत्वेन । वाशब्दो विकल्पे । सङ्करोऽत्र समस्तत्वे पद्मचक्रव्योम्नां व्यस्तत्वे वा पद्मचक्रयोः पद्मव्योम्नोश्चक्रव्योम्नोर्वा एकस्मिन्नरे । स्थितिमिश्रत्वं तु पृथगरेषु अवस्थानम् । तेन एकस्मादारभ्य षड्यावत् द्विकेषु परत्र तदेककेषु षट् प्रकाराः । एवं त्रिकाणामेककैः सह षडेव । एवं द्विकानामपि त्रिकैः सह षट् । त्रयाणां मिश्रतायामेकस्य पञ्चधा स्थितावेकत्र त्रिकं एकत्र द्विकं पञ्चसु एककानि—इति एकः, एकत्र एककमेकत्र त्रिकं पञ्चसु द्विकानि—इति द्वितीयः, एकत्र एककं एकत्र द्विकं पञ्चसु त्रिकाणीति तृतीयः—इति त्रयः । चतुर्धा स्थितौ तु एकत्र त्रिकं द्वयोर्द्विके चतुर्षु एककानि—इति एकः, एकत्र द्विकं द्वयोर्द्विके चतुर्षु एककानीति एकः, एकत्र द्विकं द्वयोस्त्रिके चतुर्षु एककानि —इति द्वितीयः, एकत्र एककं द्वयोर्द्विके चतुर्षु त्रिकाणि—इति तृतीयः, एकत्र एककं द्वयोस्त्रिकं चतुर्षु द्विकानि—इति चतुर्थः, एकत्र त्रिकं द्वयोरेकके चतुर्षु द्विकानीति पञ्चमः, एकत्र द्विकं द्वयोरेकके चतुर्षु त्रिकाणि—इति षष्ठ इति षट् । त्रिधा स्थितौ तु द्वयोर्द्विके द्वयोस्त्रिके त्रिषु एककानि—इति एकः, द्वयोर्द्विके द्वयोरेकके त्रिषु त्रिकाणि—इति द्वितीयः, द्वयोस्त्रिके द्वयोरेकके त्रिषु द्विकानि—इति

भाग की वृद्धि के द्वारा—एक दो आदि के क्रम से । वह दो प्रकार का = चौबीस अरों वाला । इस प्रकार पहले बारह अरों वाला फिर सोलह अरों और चौबीस अरों वाला । तिलक = बिन्दु मात्र । जोड़ने मात्र से—न कि आच्छादकत्व से । 'वा' शब्द विकल्प अर्थ में है । यहाँ सङ्कीर्णता पद्म चक्र और व्योम के समस्त होने के कारण है अथवा एक अर में पद्मचक्र, पद्मव्योम अथवा चक्रव्योम के व्यस्त होने के कारण है । स्थितिमिश्रत्व = अलग-अलग अरों में रहना । इससे एक से लेकर छह तक दो में, बाद में उसके एक-एक में छह प्रकार होते हैं । इसी प्रकार त्रिकों का एक-एक (द्विक) के साथ छह ही (प्रकार होते) हैं । इसी प्रकार द्विकों का भी त्रिकों के साथ छह भेद हैं । तीन की मिश्रता होने पर एक की पाँच बार स्थिति होने पर एकत्र त्रिक एकत्र द्विक और पाँच में एक-एक यह एक (रूप हुआ) । एकत्र एक-एक, एकत्र त्रिक और पाँच में द्विक यह दूसरा (रूप) है । एकत्र एक, एकत्र दो और पाँच में त्रिक यह तीसरा (रूप) हैं । इस प्रकार तीन (रूप) है । चार प्रकार की स्थिति होने पर तो एकत्र त्रिक दो में दो-दो चार में एक-एक—यह एक रूप है । एकत्र दो दो में तीन-तीन यह तीसरा, एकत्र एक, दो में तीन, चार में दो-दो यह चौथा, एकत्र त्रिक, दो में एक-एक और चार में दो-दो—यह पाँचवाँ, एकत्र दो में एक-एक, चार में तीन-तीन यह छठाँ—इस प्रकार छह रूप होते हैं । तीन प्रकार से स्थिति होने पर दो में दो-दो, दो में तीन-तीन और तीन में एक-एक—यह एक रूप है । दो में दो-दो, दो में एक-एक और तीन में तीन-तीन—यह दूसरा है । दो में तीन-तीन दो में एक-एक और तीन

तृतीयः—इति त्रयः । द्वयोस्त्रिधा स्थितौ तु एकत्र एककं त्रिषु द्विकानि त्रिषु त्रिकाणि—इति एकः, एकत्र द्विकं त्रिषु एककानि त्रिषु त्रिकाणि—इति द्वितीयः, एकत्र त्रिकं त्रिषु द्विकानि त्रिषु एककानि—इति तृतीयः इति त्रय एवेत्येवं त्रयस्त्रिंशत् । आदौ पद्मं, तदनु चक्रम्, आदौ वा चक्रं, तदनु पद्ममित्यादिरूपेण क्रमव्यत्ययादिना सङ्करादौ द्विकान्येव अरासप्तके मिश्रीक्रियन्ते इति विशेषाभिधानेऽनेकप्रकारप्रसङ्गादेकः प्रकारः । एवं त्रिकाणामपि क्रमव्यत्ययेन सङ्कीर्णतायामेक इति पञ्चत्रिंशत् । एषामेव अरासप्तके स्थितिनैयत्येन सप्तभिर्गुणने पञ्चचत्वारिंशदधिकं शतद्वयं भवति । केवलानि पद्मानि चक्राणि व्योमानि वा सर्वत्रेति त्रयः प्रकाराः, त्रयमपि सर्वत्र चेत्येकः, द्विकान्यपि सर्वत्रेति प्रकारोऽपि विशेषाभिधानेऽनेकप्रकारप्रसङ्गात् द्विकत्वसामान्यादेक एवेत्यमिश्रभेदा अरासप्तकेऽपि एकरूपत्वात् विशेषाभावात् पञ्चेति सार्धं शतद्वयम् । एषु च प्रकारेषु त्रिकादीनां क्रमव्यत्ययादिना सङ्करे त्रिकद्विकैकानां च मिश्रतायामनेकप्रकारोदयादानन्त्यमिति न तत्परिगणनम् ॥

इदानीं सर्वतोऽवस्थापितं त्रिभागरूपं क्षेत्रं ग्रहीतुमाह—

में दो-दो—यह तीसरा रूप है । इस प्रकार तीन (रूप होते) हैं । दो की तीन प्रकार से स्थिति होने पर—एकत्र एक-एक तीन में दो-दो, तीन में तीन-तीन—यह एक प्रकार है । एकत्र दो, तीन में एक-एक, तीन में तीन-तीन—यह एक प्रकार है । एकत्र दो, तीन में एक-एक, तीन में तीन-तीन—यह दूसरा रूप है एकत्र तीन, तीन में दो और तीन में एक-एक—यह तीसरा प्रकार है । इस प्रकार तीन होते हैं। इस प्रकार पद्म चक्र एवं व्योम के अनेक प्रकार के मिश्रण से (कुल मिलाकर) ३३ प्रकार होते हैं । पहले पद्म फिर चक्र या पहले चक्र फिर पद्म इत्यादि रूप से क्रम को उलट-पलट करने से सङ्कर आदि में दो ही सात अरों में मिलायें जाते हैं—इस प्रकार विशेष कथन होने पर अनेक प्रकार का प्रसङ्ग होने के कारण एक प्रकार होता है । इसी प्रकार त्रिकों का भी क्रमव्यत्यय १. चक्र पद्म व्योम, २. व्योम पद्म चक्र, इत्यादि रूप के द्वारा साङ्कर्य होने पर एक—इस प्रकार ३५ प्रकार होते हैं । इन्हीं की सात अरों में स्थिति की निश्चितता होने से सात से गुणा करने पर (३५ × ७) २४५ प्रकार होते हैं । सर्वत्र केवल पद्म व्योम पर चक्र ही अलग-अलग रहे तो तीन प्रकार होते हें । तीनों मिल कर सर्वत्र रहे तो एक प्रकार। दो भी सर्वत्र रहें यह प्रकार होने पर भी विशेषकथन होने पर अनेक प्रकारों का प्रसङ्ग होने के कारण द्विकत्व—सामान्य के कारण एक ही होता है यह अभिन्न भेद है । सात अरों में भी एकरूपता होने से विशेष न होने के कारण पाँच (भेद) होते हैं । इस प्रकार २५० भेद हुये । और इन प्रकारों में त्रिक आदि के क्रमव्यत्यय आदि के द्वारा साङ्कर्य होने पर त्रिक द्विक और एक की मिश्रता होने पर अनेक प्रकार की उत्पत्ति होने से अनन्त प्रकार होते हैं—इसलिये उनकी गणना नहीं की गयी ॥ २८- ॥

ततः क्षेत्रार्धमानेन क्षेत्रं तत्राधिकं क्षिपेत् ॥ २९ ॥

ततस्त्रिशूलपद्मचक्रादिवर्तनानन्तरं तत्र षोडशभागविभक्ते चतु:षष्ट्यंगुलात्मनि परिगृहीते क्षेत्रे अधिकं क्षेत्रं क्षिपेत्—चिकीर्षितदण्डद्वारादिवर्तनार्थं गृह्णीयात्—इत्यर्थ: । ननु अधिकं नाम अत्र किं प्राक् सर्वतस्त्यक्तक्षेत्राभिप्रायेणैव विवक्षितमुत अन्यथापि ?—इत्याशङ्क्य आह—क्षेत्रार्धमानेनेति—त्रिशूलादिवर्तनार्थं परिगृहीतस्य क्षेत्रस्य द्वात्रिंशदंगुलात्मकं भागाष्टकरूपं यदर्धं तन्मानेन—इत्यर्थ: । तेन प्रतिदिक्कं षोडशांगुलाश्चत्वारो भागाश्च भवन्ति—इति भाव: ॥ २९ ॥

एवमधिके क्षेत्रे क्षिप्ते किं कार्यम्—इत्याह—

तत्र दण्डः स्मृतो भागः षडरामलसारकः ।
सुतीक्ष्णाग्रः सुरक्ताभः क्षणादावेशकारकः ॥ ३० ॥
या सा कुण्डलिनी देवी तरङ्गाख्या महोर्मिणी ।
सा षडश्रेण कन्दाख्ये स्थिता षड्देवतात्मिका ॥ ३१ ॥
अष्टभागैश्च विस्तीर्णो दीर्घश्चापि तदर्धतः ।
ततो द्वाराणि कार्याणि चित्रवर्तनया क्रमात् ॥ ३२ ॥

अब सब ओर से अवस्थापित विभागरूप क्षेत्र का ग्रहण करने के लिये कहते हैं—

इसके बाद क्षेत्र के अर्धमान से वहाँ अधिक क्षेत्र का क्षेपण करना चाहिये ॥ २९ ॥

उसके बाद = त्रिशूल पद्म चक्र आदि वर्तन के बाद, वहाँ = सोलह भागों में विभक्त चौसठ अंगुल वाले परिगृहीत क्षेत्र में, अधिक क्षेत्र का, क्षेप करे = चिकीर्षित दण्ड द्वार आदि के वर्तन के लिये ग्रहण करना चाहिये ।

प्रश्न—यहाँ अधिक का क्या (तात्पर्य है? क्या) पहले सर्वत: त्यक्तक्षेत्र के अभिप्राय से ही विवक्षित है अथवा अन्यथा भी?—यह शङ्का कर कहते हैं—क्षेत्रार्धमानेन = त्रिशूल आदि के वर्तन के लिये परिगृहीत क्षेत्र का ३२ अंगुल वाला भागाष्टक रूप जो आधा भाग, उस परिमाण से । इससे प्रत्येक दिशा में १६ अंगुल और चार भाग होते हैं ॥ २९ ॥

इस प्रकार अधिक क्षेत्र का ग्रहण होने पर क्या करना चाहिये?—यह कहते हैं—

उसमें दण्डभाग छह अरों और अमलसारों (= गाँठों) वाला है । (यह) सुतीक्ष्णअग्रभाग वाला, सुरक्त और एकक्षण में (शैव) आवेश करने वाला होता है । जो तरङ्ग नामक महा उर्मिवाली कुण्डलिनी देवी है वह छह देवताओं वाली होकर छह अरों के साथ कन्द में स्थित है । यह

भाग इति—आयामात् दण्डामलसारयोरित्येव व्याप्तिमाह—या सेत्यादि । षडश्रेणेति—उपलक्षिते । षड्देवतात्मिकेति—यदुक्तम्—

'हाहारावा महारावा घोरघोषा भयङ्करी ।
फेङ्कारिणी महाज्वाला कन्दे षड्रसलम्पटाः ॥' इति ।

अष्टभागैरिति—भागशब्दोऽंगुलवचनः, तेन द्वाभ्यां भागाभ्याम्—इत्यर्थः । विस्तीर्ण इति—अर्थादमलसारकः । तदर्धत इति—चतुर्भिरंगुलैः । तत इति—दण्डवर्तनानन्तरम् ॥ ३२ ॥

चित्रामेव वर्तनां दर्शयति—

वेदाश्रायतरूपाणि यदि वा वृत्तमात्रतः ।

दण्डद्वारवर्तना च अग्रत एव भविष्यतीति न इह विभज्य व्याख्यातम् ॥

इदानीं शृङ्गवर्तनामेव भेदमुखेन निर्दिशति—

स्पष्टशृङ्गमथो कुर्याद्यदि वा वैपरीत्यतः ॥ ३३ ॥
उन्मुखं चन्द्रयुग्मं वा भङ्क्त्वा कुर्याच्चतुष्टयम् ।

(दण्ड) आठ भागों में फैला हुआ (चौड़ा) और उसके आधे भाग से लम्बा होता है । इसके बाद क्रमशः चित्रवर्तना के द्वारा द्वारों को बनाना चाहिये ॥ ३०-३२ ॥

भाग = चौड़ाई की ओर से । दण्ड एवं अमलसार की ही व्याप्ति कहते हैं—या सा........... । छह अरों से—उपलक्षित में छह देवताओं वाली—जैसा कि कहा गया—

'हाहारावा महारावा घोरघोषा भयङ्करी फेङ्कारिणी और महाज्वाला (ये छह) रसलम्पट (देवियाँ) कन्द में (रहती हैं) ।'

आठ भागों से—(यहाँ) भाग शब्द अंगुल वाची है । इससे दो भागों से—यह अर्थ हुआ । विस्तीर्ण—अर्थात् अमलसारक । उसके आधे से = चार अंगुलों से । उसके बाद = दण्डवर्तना के बाद ॥ ३२ ॥

चित्रवर्तना को दिखलाते हैं—

चार कोण विस्तार वाले अथवा वृत्त (विस्तार वाले) ॥ ३३- ॥

दण्डद्वारवर्तना आगे (वर्णित) होगी इसलिये यहाँ अलग करके व्याख्या नहीं की गयी ॥

अब शृङ्गवर्तना को ही भेद के साथ बतलाते हैं—

या तो स्पष्टशृङ्ग (= तीनशृङ्ग = दायें बायें और मध्य में) बनाये

कुटिलो मध्यतः स्पष्टोऽधोमुखः पार्श्वगः स्थितः ॥ ३४ ॥
उत्तानोऽर्धोऽसमः पूर्णः श्लिष्टो ग्रन्थिगतस्तथा ।
चन्द्रस्येत्थं द्वादशधा वर्तना भ्रमभेदिनी ॥ ३५ ॥
अन्तर्बहिर्मुखत्वेन सा पुनर्द्विविधा मता ।

स्पष्टशृङ्गमिति—मध्यशृङ्गवत् पूर्वदिगाभिमुख्येन भागत्रयेण वर्तितम् । वैपरीत्यत इति—प्रागिव अस्पष्टम् । उन्मुखं चन्द्रयुग्ममिति—चतुर्थमर्मसंलग्नतया वर्तितम् । भङ्क्त्वेति—द्विधा विधाय । चतुष्टयमिति—अर्थात् चन्द्राणाम् । मध्यतः कुटिल इति—अन्तरपि अर्धचन्द्राकारः । मध्यतः स्पष्ट इति—प्राग्वर्तिताकार एव । मध्यत इति—काकाक्षिवत् । अधोमुख इति—बहिः कथञ्चिल्लम्बमानार्धचन्द्राग्र—इत्यर्थः । पार्श्वग इति—स्पष्टशृङ्गवत् दक्षिणोत्तराभिमुख्येन वर्तितः । उत्तान इति—ऊर्ध्वमुखः । अर्धोऽसम इति—अर्धेन असम एकचन्द्रात्मा रेखाप्रायः । पूर्ण इति—वैलक्षण्यात् । श्लिष्ट इति—मूलात्प्रभृति अन्योन्यासङ्गेन वर्तितः । ग्रन्थिगत इति—अर्धचन्द्रप्रान्तकोटिसंश्लेषेणैव वर्तितः । सेति—द्वादशधा वर्तना ॥

एषामपि भेदानां यदि भेदः क्रियते, तत् मण्डलानामनन्तो भेदोदयः—इत्याह—

अथवा विपरीत रूप से (= एक दो कम) बनाये । अथवा उन्मुख दो चन्द्रों को तोड़कर चार (टुकड़े) बनाये जो कि मध्य से स्पष्ट अधोमुख और पार्श्वगामी होता है । (फिर वह) उत्तान, अर्धसम अर्धअसम, पूर्ण, श्लिष्ट और ग्रन्थिगत होता है । चन्द्र की यह बारह प्रकार की भ्रमभेदिनी (= भ्रम को दूर करने वाली) अन्तर्मुख और बहिर्मुख भेद से दो प्रकार की मानी गयी है ॥ -३३-३६- ॥

स्पष्टशृङ्ग = मध्य शृङ्ग के समान पूर्व दिशा की ओर से तीन भाग में वर्त्तित। विपरीत क्रम से = पहले की भाँति अस्पष्ट । उन्मुख दो चन्द्र = चतुर्थ मर्म से संलग्न होकर वर्त्तित । तोड़कर = दो भाग में विभक्त कर । चार—चन्द्रों का । मध्य से टेढ़ा = भीतर भी अर्धचन्द्राकार । मध्य से स्पष्ट = पहले वर्तित आकार वाला । मध्यतः इसको काक की आँख के समान (दोनों ओर जोड़ना चाहिये) । अधोमुख = बाहर किसी प्रकार लम्बमान अर्धचन्द्र के अग्रभाग वाला । पार्श्वग = स्पष्टशृङ्ग के समान दक्षिण और उत्तर की ओर मुड़ा हुआ । उत्तान = ऊर्ध्वमुख । अर्ध असम = अर्ध भाग से असम = एक चन्द्ररूप रेखा जैसा । पूर्ण—विलक्षण होने से । श्लिष्ट = मूल से लेकर एक को दूसरे से मिलाकर मोड़ा गया । ग्रन्थिगत = अर्धचन्द्र की अन्तिम कोटि से जोड़कर मोड़ा गया । वह = बारह प्रकार की वर्तना ॥

इन भेदों का भी यदि भेद किया जाय तो मण्डलों का अनन्त भेद उत्पन्न

तद्भेदान्मण्डलानां स्यादसङ्ख्यो भेदविस्तरः ॥ ३६ ॥
पीठवीथीबहिर्भूमिकण्ठकर्णकपोलतः ।
शोभोपशोभासंभेदाद्गुणरेखाविकल्पतः ॥ ३७ ॥
स्वस्तिकद्वितयाद्यष्टतयापर्यन्तभेदतः ।
भावाभावविकल्पेन मण्डलानामनन्तता ॥ ३८ ॥
ततो रजांसि देयानि यथाशोभानुसारतः ।
सिन्दूरं राजवर्तं च खटिका च सितोत्तमा ॥ ३९ ॥
उत्तमानि रजांसीह देवतात्रययोगतः ।
परा चन्द्रसमप्रख्या रक्ता देवी परापरा ॥ ४० ॥
अपरा सा परा काली भीषणा चण्डयोगिनी ।

तथाहि प्राग्व्याकृति प्रथमप्रकारषट्के एव सरूपाणामेव द्विकानां सरूपैरेव एककैर्मिश्रणे पद्मचक्रयोरेकस्मादरादारभ्य षट् यावत् परत्र पद्मेन चक्रेण व्योम्ना वा सह स्थितावष्टादश । एवं पद्मव्योम्नोरष्टादश, चक्रव्योम्नोश्च अष्टादशेति चतुष्पञ्चाशत् प्रकाराः । एषामरासप्तकनैयत्येन सप्तभिर्गुणने अष्टसप्तत्यधिकं शतत्रयं जायते । तेषामपि द्वारभेदात् द्वाभ्यां गुणने षट्पञ्चाशदधिकानि सप्त शतानि जायन्ते । तेषामपि चन्द्रभेदात् चतुर्विंशत्या गुणेन चतुश्चत्वारिंशदधिक-

---

होता है—यह कहते हैं—

उनका भेद होने पर मण्डलों का असंख्य भेदविस्तार हो जायगा । पीठ, वीथी, बाह्यभूमि, कण्ठ, कर्ण, कपोल, शोभा, उपशोभा के भेद से, गुण, रेखा के विकल्प से, दो स्वास्तिक से लेकर आठ स्वस्तिक पर्यन्तभेद से, फिर भाव अभाव के विकल्प से मण्डल अनन्त हो जाते हैं। इसके बाद सौन्दर्य को ध्यान में रख कर उनपर धूल (= चूर्ण) डालनी चाहिये । (यह धूल) सिन्दूर लाजवर्त्त और उत्तम सफेद खटिका (= खड़िया मिट्टी) की होती है । तीन देवताओं के अनुसार यहाँ उत्तम रज (तीन प्रकार की होती है) । परा चन्द्रमा के समान, परापरा लाल रङ्ग की और अपरा भीषणा चण्डयोगिनी काले रङ्ग की होती हैं ॥ -३६-४१- ॥

इस प्रकार पहले व्याख्या किये गये प्रथम छह प्रकारों में ही समान रूप वाले ही दो का समान रूप वाले ही एक-एक के साथ मिश्रण करने पर, पद्म और चक्र में से एक से लेकर छह पर्यन्त, फिर अन्यत्र पद्म चक्र अथवा शून्य के साथ स्थिति होने पर अठारह होते हैं । इसी प्रकार पद्मव्योम में भी अठारह और चक्रव्योम में भी अठारह, इस प्रकार चौवन भेद हुये । इनका सात निश्चित अराओं के निश्चित होने से सात से गुणा करने पर (५४ × ७) = ३७८ भेद होते हैं । उनका भी द्वारा भेद होने के कारण दो से गुणा करने पर ७५६ प्रकार होते हैं ।

शतोपेतानि अष्टादश सहस्राणि । तेषामपि पीठभावाभावाभ्यामष्टाशीत्यधिकशत-द्वयोपेतानि षट्त्रिंशत् सहस्राणि । तेषामपि वीथीभावाभावाभ्यां षट्सप्तत्यधिक-शतपञ्चकोपेतानि द्वासप्ततिः सहस्राणि—इत्येवं विकल्पान्तरैस्तिस्रः कोटय एकसप्ततिर्लक्षाणि अष्टपञ्चाशत् सहस्राणि द्वादशाधिकानि नव शतानि च जायन्ते। अत्रैव च एकत्र पद्मचक्रे, एकत्र पद्मव्योमनी, एकत्र चक्रव्योमनी, एकत्र पद्मम्, एकत्र चक्रम्, परत्र व्योमेत्यादिना समस्तव्यस्तविरूपद्विकैकमिश्रणेन उत्पन्नभेदानामरानैयत्यादिना समनन्तरोक्तवत् सप्तादिभिर्गुणने कियती संख्येति कष्टश्रीधर एव प्रष्टव्यः । तत इति—द्वारवर्तनानन्तरम् । कालीति—कृष्णापि ॥

अत एव अस्य इयत् माहात्म्यम्—इत्याह—

दृष्ट्वैतन्मण्डलं देव्यः सर्वा नृत्यन्ति सर्वदा ॥ ४१ ॥
अनर्चितेऽप्यदीक्षेण दृष्टे दीक्ष्येत मातृभिः ।

एवं मण्डलानन्ततामुपपाद्य प्रसङ्गात् रजोदानादि निरूप्य अनन्तभेदत्वेऽपि त्रिशूलस्यैव इह प्राधान्यात् तदाश्रयेण मुख्यान् भेदान् संक्षेपतः परिगणयति—

किं वातिबहुनोक्तेन त्रित्रिशूलारसप्तकाः ॥ ४२ ॥
शूलयागाः षट् सहस्राण्येवं सार्धशतद्वयम् ।

उनका भी चन्द्रभेद होने के कारण २४ से गुणा करने पर १८१४४ भेद होंगे । उनका भी वीथी के भाव-अभाव के भेद से ३६२८८ भेद होंगे । उनका भी पीठ के भाव एवं अभाव से ७२५७६ भेद होते हैं । इस प्रकार अन्य विकल्पों से ३७१५८९१२ भेद होते हैं । और इसी में एकत्र पद्म-चक्र, दूसरी जगह पद्म-शून्य तीसरी जगह चक्र-शून्य, एकत्रपद्म, एकत्रचक्र अन्यत्र व्योम इत्यादि समस्त व्यस्त विरूप दो एक के मिश्रण से उत्पन्न भेदों के अरों के अनियत होने इत्यादि के कारण फिर पूर्वोक्त सात आदि से गुणा करने पर अनेक प्रकार उत्पन्न होते हैं । अन्य प्रभेदों का भी उसी प्रकार गुणन करने पर कितनी संख्या होगी—इसके बार में (गणितज्ञ) 'कष्टश्रीधर' महोदय से पूछा जाय । उसके बाद = द्वारवर्तना के बाद । काली = कृष्णा ॥ ४०- ॥

इसीलिये इसका इतना माहात्म्य है—यह कहते हैं—

इस मण्डल को देखकर सभी देवियाँ सर्वदा नाचने लगती हैं । (इस मण्डल की) पूजा न होने पर भी दीक्षारहित के द्वारा (इस मण्डल के) देखे जाने पर (वह) माताओं (= देवियों) के द्वारा दीक्षित कर दिया जाता है ॥ -४१-४२- ॥

इस प्रकार मण्डल की अनन्तता को बतलाकर प्रसङ्गवश रजोदान आदि का निरूपण कर अनन्त भेद होने पर भी यहाँ त्रिशूल की ही प्रधानता होने के कारण उसके आधार पर मुख्य भेदों की संक्षेप में गणना करते हैं—

यद्वा किमनेन मण्डलानन्त्यप्रतिपादनेन

'त्रित्रिशूलेऽत्र सप्तारे.......................... ।' (३१।२८)

इत्यादिना उपक्षिप्तं प्रकाराणां सार्धं शतद्वयमेवमुक्तदिशा अर्धसप्तकावलम्बनेन चन्द्रभेदात् चतुर्विंशत्या संगुण्य षट् सहस्राणि शूलयागाः—इति वाक्यार्थः ।

'शूलानि स्युः षट् सहस्राण्यूनं सार्धशतद्वयात्।' इति ।

ऊनमिति—ऊना इति वा अपपाठ एव, अनन्वितत्वात्, तृतीयास्थाने पञ्चम्यनुपपत्तेः । किञ्च अत्र सार्धं शतद्वयं गुण्यम्, अरासप्तकावलम्बनलब्धाश्चन्द्र-भेदाश्चतुर्विंशतिर्गुणकाः, गुणितराशिश्च षट् सहस्राणि । तदेतदूनपदपाठे गुण्या-कथनात् निर्मूलतामियात् । नहि अत्र गुण्यं किञ्चित् प्रागपि उक्तमस्तीति आस्तामेतत् । प्रायश्च अयं श्लोकः

'ततो रजांसि देयानि.......................... ।' (३९ श्लो०)

इत्यतः पूर्वं न्याय्यो येन सर्वं सङ्गतं स्यात् ॥

ननु एवं माहात्म्यमस्य कुतस्त्यम्?—इत्याशङ्क्य आह—

अथवा अत्यधिक कथन से क्या लाभ?—तीन त्रिशूल और सात अरों वाले शूल याग ६२५० ही हैं ॥ -४२-४३- ॥

अथवा मण्डल की इस अनन्तता के प्रतिपादन से क्या लाभ—

'तीन त्रिशूल और सात अरों वाले इस............ ।' (तं.आ. ३१।२८)

इत्यादि के द्वारा उपक्षिप्त प्रकार २५० ही हैं । इस प्रकार उक्त रीति से अर्ध शतक (= ५०) के साथ चन्द्रभेद (= २ अर्थात् २५०) २४ का गुणा करने पर ६ हजार शूलयाग होते हैं—यह वाक्यार्थ है ।

'शूलों (की संख्या) छह हजार है । तथा अधिक २५० = ६२५० है ।'

यहाँ 'ऊनम्' या 'ऊना' पाठ दुष्ट है क्योंकि अन्वय नहीं बैठता । क्योंकि तृतीया विभक्ति के स्थान में पञ्चमी विभक्ति ठीक नहीं होती इसके अतिरिक्त २५० भेद मुख्य हैं, सात अरों के अवलम्बन से प्राप्त २४ चन्द्रभेद गुणक हैं और गुणनफल छह हजार है । वह यह 'ऊन' पद का पाठ होने पर गुण्य का कथन न होने से निर्मूल हो जायगा । यहाँ पहले भी कोई गुण्य नहीं कहा गया है । (इसलिये यहाँ ''षट्सहस्त्रान्यूनं'' पाठ होना चाहिये जिसका अर्थ होगा छह हजार से अधिक, और फिर ६२५० संख्या की सङ्गति बैठ जायगी)

बस यहीं इतना ही । प्रायः यह श्लोक होता है—

'इसके बाद धूल देनी चाहिये................. ।' (तं.आ. ३१।३९)

इसलिये पहले वाला पाठ ठीक है जिससे सब सङ्गत हो जाता है ॥ ४२· ॥

या सा देवी परा शक्तिः प्राणवाहा व्यवस्थिता ॥ ४३ ॥
विश्वान्तः कुण्डलाकारा सा साक्षादत्र वर्तिता ।
तत्त्वानि तत्त्वदेव्यश्च विश्वमस्मिन्प्रतिष्ठितम् ॥ ४४ ॥

एतदेव अंशतो दर्शयति—

अत्रोर्ध्वे तन्तुमात्रेण तिस्रः शूलरगाः स्थिताः ।
आसनत्वेन चेच्छाद्या भोगमोक्षप्रसाधिकाः ॥ ४५ ॥
तास्तु मोक्षैककामस्य शूलाराविद्धमध्यकाः ।
तस्मादेनं महायागं महाविभवविस्तरैः ॥ ४६ ॥
पूजयेद्भूतिकामो वा मोक्षकामोऽपि वा बुधः ।
अस्य दर्शनमात्रेण भूतवेतालगुह्यकाः ॥ ४७ ॥
पलायन्ते दश दिशः शिवः साक्षात्प्रसीदति ।
मन्दशक्तिबलाविद्धोऽप्येतन्मण्डलपूजनात् ॥ ४८ ॥
सततं मासषट्केन त्रिकज्ञानं समश्नुते ।
यत्प्राप्य हेयोपादेयं स्वयमेव विचार्य सः ॥ ४९ ॥
देहान्ते स्याद्भैरवात्मा सिद्धिकामोऽथ सिद्ध्यति ।

तन्तुमात्रेणेति—विकस्वरेण रूपेण—इत्यर्थः । तुरवधारणे, तेन ता एव

प्रश्न—इसका ऐसा माहात्म्य किस कारण से है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो वह देवी पराशक्ति प्राणवाहिनी विश्व के अन्दर कुण्डलाकार (होकर) व्यवस्थित है वह यहाँ साक्षात् वर्तित है । इसमें समस्त तत्त्व, तत्त्वदेवियाँ और समस्त विश्व प्रतिष्ठित है ॥ -४३-४४ ॥

इसी को थोड़ा सा दिखलाते हैं—

यहाँ ऊर्ध्व (भाग) में विकस्वर रूप से त्रिशूल के अरों में रहने वाली तीन (देवियाँ) स्थित रहती हैं । आसन के रूप में इच्छा आदि (= ज्ञान, क्रिया) तीन देवियाँ भोग और मोक्ष को देने वाली होती हैं । मोक्ष चाहने वाले के लिये वे शूल एवं अरों से आविद्धमध्यवाली हो जाती हैं । इस कारण भूति चाहने वाला अथवा मोक्ष चाहने वाला भी विद्वान् इस याग का महाविभव एवं विस्तार से पूजन करे । इसके दर्शनमात्र से (भयभीत) भूत वेताल गुह्यक दशों दिशाओं में भाग जाते हैं और शिव साक्षात् प्रसन्न हो जाते हैं । मन्दशक्ति के बल से युक्त भी (साधक) इस मण्डल के निरन्तर पूजन से छह महीने के अन्दर त्रिक ज्ञान प्राप्त होता है जिसको प्राप्त कर हेयोपादेय का स्वयं विचार कर वह (साधक) शरीरान्त में भैरवरूप हो जाता है और सिद्धि चाहने वाला सिद्ध हो जाता है ॥ ४५-५०- ॥

इच्छाद्याः—इत्यर्थः । शूलाराविद्धमध्यका इति—औन्मनसपद्मत्रयरूपा इति यावत् । तदुक्तं प्राक्—

'एता एव तु गलिते भेदप्रसरे क्रमशो विकासमायान्त्यः ।
अन्योन्यासङ्कीर्णास्त्वरात्रयं गलितभेदिकास्तु ततः ॥
पद्मत्रय्यौन्मनसी तदिदं स्यादासनत्वेन ।'
(१५।३४१) इति ।

तस्मादिति—परशक्त्यधिष्ठानादेर्हेतोः ॥

न केवलमस्य एवं माहात्म्यं यावदेतदभिज्ञस्यापि—इत्याह—

मण्डलस्यास्य यो व्याप्तिं देवतान्यासमेव च ॥ ५० ॥
वर्तनां च विजानाति स गुरुस्त्रिकशासने ।
तस्य पादरजो मूर्ध्नि धार्यं शिवसमीहिना ॥ ५१ ॥
अत्र सृष्टिस्थितिध्वंसान् क्रमात् त्रीनपि पूजयेत् ।
तुर्यं तु मध्यतो यद्वा सर्वेषु परिपूरकम् ॥ ५२ ॥

अत्रेति—त्रिशूलत्रये । मध्यत इति—कुलेश्वरीस्थाने । सर्वेष्विति—त्रिष्वपि क्रमेषु ॥ ५२ ॥

एतदतिदेशद्वारकमेव यागान्तरमाह—

तन्तु मात्र से = विकस्वर रूपसे । 'तु' निश्चय अर्थ में है, इससे 'वे ही इच्छा आदि'—यह अर्थ हुआ । शूल और अरों से आविद्ध मध्यवाली = औन्मनस तीन कमलों वाली । वही पहले कहा गया है—

'एता एव.................. स्यादासनत्वेन ।' (तं० आ० १५।३४१)

इस कारण = परशक्ति के अधिष्ठान आदि के कारण ॥

केवल इसका (= मण्डलानुष्ठानी का) ही ऐसा माहात्म्य नहीं है बल्कि इसको जानने वाले का भी है—यह कहते हैं—

जो इस मण्डल की व्याप्ति, देवतान्यास और वर्तना को जानता है वह त्रिकशास्त्र में गुरु है । शिवत्व चाहने वाला उसके पैर की धूल शिर पर रखे । इसमें क्रम से सृष्टि स्थिति ध्वंस तीनों की पूजा करे । चौथे (= अनाख्य दशा) की मध्य में अथवा (सृष्टि आदि) सब में परिपूरक रूप से (पूजा करे) ॥ ५०-५२ ॥

इसमें = तीन त्रिशूल में । मध्य में = कुलेश्वरीस्थान में । सब में = तीनों क्रमों में ॥ ५२ ॥

इस अतिदेश के आधार पर दूसरे याग को कहते हैं—

चतुस्त्रिशूलं वा गुप्तदण्डं यागं समाचरेत् ।
तत्र तत् पूजयेत्सम्यक् स्फुटं क्रमचतुष्टयम् ॥ ५३ ॥

गुप्तदण्डमिति—तत्स्थाने हि अस्य मध्यशृङ्गं भवेत्—इति भावः । अस्य च इयानेव पूर्वस्मात् विशेषः ॥ ५३ ॥

एतच्च अस्मत्कथितमागमान्तरेष्वपि उक्तम्—इत्याह—

इत्येतत्कथितं गुप्ते षडर्धहृदये परे ।
षट्के प्रोक्तं सूचितं श्रीसिद्धयोगीश्वरीमते ॥ ५४ ॥
अग्रतः सूत्रयित्वा तु मण्डलं सर्वकामदम् ।
महाशूलसमोपेतं पद्मचक्रादिभूषितम् ॥ ५५ ॥
द्वारे द्वारे लिखेच्छूलं वर्जयित्वा तु पश्चिमम् ।
कोणेष्वपि च वा कार्यं महाशूलं द्रुमान्वितम्॥ ५६ ॥
अमृताम्भोभवारीणां शूलाग्रे तु त्रिकं त्रिकम् ।
शूल इत्थं प्रकर्तव्यमष्टधा तत् त्रिधापि वा ॥ ५७ ॥
एवं संसूचितं दिव्यं खेचरीणां पुरं त्विति ।

गुप्ते = रहस्यरूपे शास्त्रे । षडर्धहृदये इति = त्रिकहृदये । सूचितमिति = न तु साक्षादुक्तम् । तत्रत्यमेव ग्रन्थमाह—अग्रत इत्यादि । पश्चिमं वर्जयित्वेति—

अथवा चार त्रिशूल वाले गुप्तदण्ड वाले याग को करे । इसमें उन चारो क्रमों की भली भाँति स्फुट (= अलग-अलग) पूजा करे ॥ ५३ ॥

गुप्तदण्ड—उस स्थान में इसका मध्यशृङ्ग होता है—

यह भाव है । पहले से इसका यही अन्तर है ॥ ५३ ॥

हमारा यह कथन दूसरे आगमों में भी उक्त है—यह कहते हैं—

यह अत्यन्त गुप्त, त्रिकहृदय, में कहा गया है । षट्क में कहा गया और सिद्धयोगीश्वरी मत में सङ्केतित है ॥ ५४ ॥

पहले महाशूल से युक्त पद्मचक्र आदि से अलंकृत सर्वकामप्रद मण्डल को बनाकर (उसके) (केवल) पश्चिम (द्वार) को छोड़कर द्वार-द्वार पर शूल लिखे । कोणों में भी द्रुम = कल्पवृक्ष, से युक्त महाशूल बनाये । शूल के अग्र भाग में तीन-तीन चन्द्रपद्म लिखे । इस प्रकार इसे शूल में आठ प्रकार या तीन प्रकार से लिखे । इस प्रकार खेचरियों का दिव्यपुर (अन्य आगमों में) सङ्केतित है ॥ ५५-५८- ॥

गुप्त में = रहस्य रूप शास्त्र में । षडर्धहृदय में = त्रिकहृदय में । सूचित है—न कि साक्षात् कहा गया है । वहीं के ग्रन्थ को कहते हैं—पहले.............. ।

पूजाधिकरणतया यदस्ति

'पश्चिमं विवृतं कार्यम्........................ ।' इति ।

अमृताम्भोभवारीणामिति अमृताम्भोभवश्चन्द्रः, तस्य अरीणां पद्मानाम्—इत्यर्थः । अष्टधेति त्रिधेति—चतुरेकशूलाभिप्रायेण ॥

न केवलमेतदत्रैव उक्तं यावदन्यत्रापि—इत्याह—

स्थानान्तरेऽपि कथितं श्रीसिद्धातन्त्रशासने ॥ ५८ ॥

एतदेव आह—

कजं मध्ये तदर्धेन शूलशृङ्गाणि तानि तु ।
शूलाङ्कं मण्डलं कल्प्यं कमलाङ्कं च पूरणे ॥ ५९ ॥

एवं श्रीत्रिकसद्भावोक्तं शूलाब्जविन्यासमभिधाय, शास्त्रान्तरनिरूपितमपि अभिधातुमुपक्रमते—

अथ शूलाब्जविन्यासः श्रीपूर्वे त्रिशिरोमते ।
सिद्धातन्त्रे त्रिककुले देव्यायामलमालयोः ॥ ६० ॥
यथोक्तः सारशास्त्रे च तन्त्रसद्भावगुह्ययोः ।
तथा प्रदर्श्यते स्पष्टं यद्यप्युक्तक्रमाद्गतः ॥ ६१ ॥

पश्चिम द्वार को छोड़कर—जो कि पूजा के आधार के रूप में है । (कहा भी है)

'पश्चिम को खुला रखना चाहिये ....।'

अमृताम्भोभवारियों का = अमृताम्भोभव = चन्द्र, उसके अरियों = कमलों का। आठ प्रकार या तीनप्रकार—चार और एक शूल के अभिप्राय से ॥

यह केवल यहीं नहीं अन्यत्र भी कहा गया है—यह कहते हैं—

दूसरे स्थान में भी अर्थात् श्री सिद्धातन्त्रशास्त्र में कहा गया है ॥-५८॥

उसी को कहते हैं—

मध्य में कज (= कमल) और उसके (= मध्य के) आधे (भाग में स्थित बिन्दुपर) वे शूलशृङ्ग (बनाने चाहिये) । (मण्डल को सर्वदृष्ट्या) पूरण के लिये शूलाङ्क मण्डल और कमलाङ्क को बनाना चाहिये ॥ ५९ ॥

इस प्रकार त्रिकसद्भाव में कहे गये शूलाब्जविन्यास का कथन कर दूसरे शास्त्रों में उक्त (शूलाब्ज विन्यास) को भी कहते हैं—

यद्यपि (हमारा प्रतिपाद्य) उक्त क्रम से गतार्थ है तथापि श्रीपूर्वशास्त्र (= मालिनीविजय) त्रिशिरोभैरव, सिद्धातन्त्र, त्रिकशास्त्र, कुलशास्त्र, देवीयामल, यामलमाल शास्त्र, सारशास्त्र, तन्त्रसद्भाव एवं गुह्य (=

यद्यपि उक्तगत्यैव गतार्थः शूलविन्यासः, तथापि सांप्रतं श्रीपूर्वशास्त्रादौ यथा किञ्चिद्विशेषकप्रयोजकीकारेण उक्तः, तथा = तेनैव प्रकारेण, स्पष्टं प्रदर्श्यते = हृदयङ्गमतया अभिधीयते—इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

तत्र प्राधान्यात् प्रथमं श्रीपूर्वशास्त्रोक्तमेव दर्शयति—

वेदाश्रिते त्रिहस्ते प्राक् पूर्वमर्धं विभाजयेत् ।
हस्तार्धं सर्वतस्त्यक्त्वा पूर्वोदग्याम्यदिग्गतम् ॥ ६२ ॥
त्र्यंगुलैः कोष्ठकैरूर्ध्वैस्तिर्यक् चाष्टद्विधात्मकैः ।
द्वौ द्वौ भागौ परित्यज्य पुनर्दक्षिणसौम्यगौ ॥ ६३ ॥

प्राक् त्रिहस्ते—इति अनन्तरं हि द्वारार्थं हस्तस्य प्रक्षेपात् चतुर्हस्ता भविष्यतीति अभिप्रायः, तेन एतत् त्र्यंगुलैः कोष्ठकैरिति वक्ष्यमाणत्वात् द्वात्रिंशद्धा विभजेदिति सिद्धम् । एवमतोपि पूर्वादिदिक्त्रयात् द्वादश द्वादश अंगुलानि त्यक्त्वा पूर्वमर्धमूर्ध्वगत्या अष्टभिस्त्र्यंगुलैः कोष्ठकैः पार्श्वगत्या च षोडशभिर्विभजेत् । एवं विभक्तात् पूर्वस्मादर्धात् पुनरपि दक्षिणोत्तरपार्श्वयोः पङ्क्तिक्रमेण अन्तर्गतौ द्वौ द्वौ भागौ त्यजेत् येन पार्श्वगत्या द्वादश कोष्ठकानि अवशिष्यन्ते

रहस्यशास्त्र) में जैसा शूलाब्जविन्यास कहा गया वैसा यहाँ स्पष्ट बतलाया जायगा ॥ ६०-६१ ॥

यद्यपि शूलविन्यास उक्त गति से ही गतार्थ है तो भी इस समय जैसा कि किसी विशेष प्रयोजन से कहा गया वैसा = उसी प्रकार से, स्पष्ट दिखाया जायगा = हृदययङ्गम हो जाय वैसा कहा जायगा ॥ ६१ ॥

उनमें से प्राधान्यात् पहले श्रीपूर्वशास्त्रोक्त को ही दिखाते हैं—

चार अश्रों वाले पहले तीन हाथ परिमाण वाले (आधार) को पूर्व की ओर आधा विभक्त करे । फिर चारों ओर से आधा हाथ (= १ बालिस्त या १२ अंगुल) छोड़कर पूर्व उत्तर और दक्षिण तक ३ अंगुल ऊर्ध्वकोष्ठक, जो कि तिर्यक् होते हैं को १६ भागों में विभक्त करे फिर दक्षिण एवं उत्तर वर्त्ती दो-दो भागों को छोड़ कर (बनाये) ॥ ६२-६३ ॥

पहले तीन हाथ वाले—बाद में द्वार के लिये एक हाथ (भूमि) का प्रक्षेप होने से (वह भूमि) चार हाथ परिमित हो जायगी—यह अभिप्राय है । इससे वक्ष्यमाण होने के कारण इसे तीन अंगुल के कोष्ठकों से बत्तीस प्रकार से विभक्त करे—यह सिद्ध हुआ । इसमें भी पूर्व आदि तीन दिशाओं से बारह-बारह अंगुल छोड़कर पूर्वार्द्ध को ऊपर की ओर तीन अंगुल वाले आठ कोष्ठकों से और दायें-बायें सोलह कोष्ठकों से विभक्त करे । इस प्रकार विभक्त पूर्वार्द्ध से फिर दक्षिण उत्तर पार्श्वों में पंक्ति के क्रम से अन्तिम दो-दो भागों को छोड़ दे जिससे बगल में बारह

यदेतावतैव शूलं सिद्ध्येत् ॥ ६३ ॥

प्रथमतः पार्श्ववर्तनामाह—

ब्रह्मणः पार्श्वयोर्जीवाच्चतुर्थात् पूर्वतस्तथा ।
भागार्धभागमानं तु खण्डचन्द्रद्वयं द्वयम् ॥ ६४ ॥

इह ब्रह्मसूत्रवर्जं जीवशब्दवाच्यानि सूत्राणीत्युभयोरपि पार्श्वयोर्ब्रह्मसूत्रादारभ्य यत् चतुर्थं जीवसूत्रं ततः पूर्वतः—पूर्वस्यां दिशि तथा यत् चतुर्थमेव जीवसूत्रं, ततो भागमानेन भागार्धमानेन च सूत्रेण अर्धचन्द्रद्वयं स्यात् । पार्श्वद्वयाभिप्रायेण तु द्वयं द्वयमिति वीप्सया निर्देशः ॥ ६४ ॥

कथम्?—इत्याह—

तयोरन्तस्तृतीये तु दक्षिणोत्तरपार्श्वयोः ।
जीवे खण्डेन्दुयुगलं कुर्यादन्तर्भ्रमाद्बुधः ॥ ६५ ॥
तयोरपरमर्मस्थं खण्डेन्दुद्वयकोटिगम् ।
बहिर्मुखं भ्रमं कुर्यात् खण्डचन्द्रद्वयं द्वयम् ॥ ६६ ॥
तद्वद् ब्रह्मणि कुर्वीत भागभागार्धसंमितम् ।

यतः पार्श्वगत्या चतुर्थात् जीवादारभ्यते, यत्र च भागमानत्वात् द्वितीये जीवे

कोष्ठक बच जाते हैं । इसी से शूल बन जायेगा ॥ ६३ ॥

प्रथमतः पार्श्ववर्तना को कहते हैं—

दोनों पार्श्वों में ब्रह्म सूत्र से चतुर्थ जीव सूत्र तक और उसी प्रकार से पूर्व की ओर भाग मान और भागार्धमान वाले सूत्र से दो-दो खण्डचन्द्र बनते हैं ॥ ६४ ॥

ब्रह्मसूत्र को छोड़कर जीवशब्दवाच्य एक भिन्न (= अलग) सूत्र होता है । इस प्रकार दोनों ही पार्श्वों में ब्रह्मसूत्र से लेकर जो चतुर्थ जीवसूत्र, उससे पूर्व = पूर्व दिशा में, उसी प्रकार जो चतुर्थ जीव सूत्र उसके भागमान और भागार्धमान सूत्र से दो अर्धचन्द्र बनते हैं । दो पार्श्वों के अभिप्राय से द्वयं-द्वयं यह दो बार निर्देश है ॥ ६४ ॥

कैसे?—यह कहते हैं—

उन दोनों **दक्षिण** उत्तर पार्श्वों के बीच में तीसरे जीव में **विद्वान्** अन्तर्भ्रम से **दो खण्डचन्द्र** बनाये । उन दोनों (पार्श्वों) के अपर **मर्म में** वर्तमान दो **खण्डचन्द्र** की कोटि से लगा हुआ बाहर की ओर **भ्रम करे** (= चाप लगाये) (इस प्रकार) दो-दो खण्डचन्द्र होंगे । उसी **प्रकार ब्रह्मसूत्र में** भी भागमान और भागार्धमान से (दो-दो खण्डचन्द्र) **बनाये** ॥ ६५-६७-॥

विश्राम्यति; तयोर्जीवयोरन्तः = मध्ये यस्तृतीयो जीवोऽर्थात् पूर्वतश्चतुर्थ एव, तत्र औचित्यात् वामं दक्षिणं वा हस्तं निवेश्य उभयोरपि पार्श्वयोरन्तः, न तु बहिर्भ्रमात्, बुधस्तद्वर्तनाभिज्ञः खण्डचक्रद्वयं कुर्यात् । किन्तु अर्धमानस्य खण्ड-चन्द्रस्य वक्ष्यमाणदृष्ट्या अयं विशेषः—यत् चतुर्थभागादारभ्य वर्तना—इति । तयोरुभयोरपि पार्श्वयोरपरस्मिन्नन्तःप्रवेशगत्या चतुर्थापेक्षया तृतीये मर्मणि एकं करं निवेश्य समनन्तरवर्तितखण्डेन्दुद्वयाग्रकोटिसंलग्नत्वेन बहिर्मुखं न तु अन्तर्मुखं भ्रममर्थात् द्विः कुर्यात् येन उभयत्र खण्डचन्द्रयोर्द्वयं द्वयं वर्तितं स्यात् । तद्वदिति—उभयोरपि पार्श्वयोरपरस्मिन्नेव तृतीयापेक्षया द्वितीये मर्मणि एकं करं निवेश्य खण्डेन्दुद्वयकोटिगं दक्षिणोत्तरायतसूत्रसंलग्नतया अत एव अन्तर्मुखं भ्रमद्वयं कुर्यात् येन भागमानभागार्धमानं च खण्डचन्द्रयोर्द्वयं द्वयं स्यात् ॥

एवं पार्श्ववर्तनानन्तरं शृङ्गवर्तनामाह—

ततो द्वितीयभागान्ते ब्रह्मणः पार्श्वयोर्द्वयोः ॥ ६७ ॥
द्वे रेखे पूर्वगे नेये भागत्र्यंशशमे बुधैः ।
एकार्धेन्दूर्ध्वकोटिस्थं ब्रह्मसूत्राग्रसङ्गतम् ॥ ६८ ॥
सूत्रद्वयं प्रकुर्वीत मध्यशृङ्गप्रसिद्धये ।

चूँकि पार्श्वगति के कारण चतुर्थ जीव से प्रारम्भ किया जाता है और जहाँ भागमान होने से द्वितीय जीव में विश्रान्त होता है उन दोनों जीवों के अन्तः = मध्य में जो तृतीय जीव अर्थात् पूर्व से चतुर्थ ही है, उसमें औचित्य के अनुसार बाँया अथवा दाँया हाथ प्रविष्ट करा कर दोनों पार्श्वों के भीतर न कि बाहर भ्रम से, बुधः = उस वर्तन का ज्ञाता, दो खण्डचक्र बनाये । किन्तु आधे मान वाले खण्डचक्र का वक्ष्यमाण दृष्टि से यह विशेष है कि 'यहाँ वर्तना चतुर्थ भाग से प्रारम्भ होती है । उन दोनों ही पार्श्वों में से दूसरे में अन्तःप्रवेश के द्वारा चतुर्थ की अपेक्षा तृतीय मर्म में एक हाथ को प्रविष्ट कर समनन्तर वर्त्तित दो खण्डचन्द्र के अग्र भाग में संलग्न होने के कारण बहिर्मुख, न कि अन्तर्मुख वृत्त को, अर्थात् दो बार बनाये जिससे दोनों जगह दो खण्डचन्द्रों की दो-दो वर्तना हो जाय । उसी प्रकार—दोनों ही पार्श्वों में दूसरे में ही = तृतीय की अपेक्षा दूसरे मर्म में, एक हाथ को प्रविष्ट कर दक्षिण उत्तर की ओर फैले सूत्र से संलग्न होने से दो खण्डचन्द्र की कोटि में लगे इसीलिये दो भ्रम अन्दर की ओर करे जिससे खण्डचन्द्र का दो-दो भागमान और भागार्धमान हो जाय ॥

इस प्रकार पार्श्ववर्तना के बाद शृङ्गवर्तना के करणीय होने पर प्रधान होने के कारण मध्यशृङ्गवर्तना को कहते हैं—

इसके बाद द्वितीय भाग के अन्त में विद्वान् लोग ब्रह्मा के दोनों पार्श्वों में पूर्व की ओर जाने वाली दो रेखायें खींचें जो कि भाग के तीन अंश में

ततोऽपि ब्रह्मसूत्रस्य द्वयोः पार्श्वयोरूर्ध्वक्रमेण यौ द्वितीयौ भागौ पूर्वगे इत्युक्ते तन्मूलात् तदन्तं यावत् बुधत्वादेव भागमानचन्द्रार्धकोटिसंश्लेषेण द्वे रेखे नेतव्ये यथा विस्तारात् भागत्र्यंशेन शाम्यतः । तेन अंगुलेन विस्तीर्णा अंगुलत्रयेण च दीर्घा गण्डिका स्यात् । अन्यस्य गण्डिकया संश्लिष्टत्वादेकस्य अर्धभागमानस्य इन्दोरूर्ध्वकोटित आरभ्य ब्रह्मसूत्रस्य अग्रे लग्नं सूत्रद्वयं विदधीत येन मध्यशृङ्गं सिद्ध्येत् ॥

इदानीं पार्श्वशृङ्गवर्तनामभिधत्ते—

तदग्रपार्श्वयोर्जीवात् सूत्रमेकान्तरे धृतम् ॥ ६९ ॥
आदिद्वितीयखण्डेन्दुकोणात् कोणान्तमानयेत् ।
तयोरेवापराज्जीवात् प्रथमार्धेन्दुकोणतः ॥ ७० ॥
तद्वदेव नयेत्सूत्रं शृङ्गद्वितयसिद्धये ।

तस्य मध्यशृङ्गस्य ये अग्रभूते मण्डलगते पार्श्वे तयोरर्थात् यश्चतुर्थो जीवस्तमवलम्ब्य आदौ कृत आन्तरापेक्षया द्वितीयो बाह्यो भागमानो यः खण्डेन्दुस्तस्य अग्रकोटेरारभ्य आग्नेयस्य ऐशस्य च कोणस्य षष्ठभागात्मकमन्तं यावत् सूत्रं

जाकर समाप्त हो जाँय । फिर मध्यशृङ्ग की सिद्धि के लिये एक अर्धचन्द्र की दो कोटियों में स्थित तथा ब्रह्मसूत्र के अग्रभाग से जुड़ा हुआ दो सूत्र बनाये ॥ -६७-६९- ॥

उसके बाद ब्रह्मसूत्र के दोनों पार्श्वों में ऊर्ध्वक्रम से जो द्वितीय दो भाग पूर्वगामी कहे गये हैं उनके मूल से उनके अन्त तक बुध = (उसका ज्ञाता) होने के कारण भागमान अर्धचन्द्र की दोनों कोटियों को मिलाते हुये दो रेखायें खीचें जो कि विस्तार में तीन अंश तक समाप्त हो जाँय । इससे एक अंगुल चौड़ी और तीन अंगुल लम्बी गण्डिका बन जायेगी । अन्य एक अर्धभागमान के, गण्डिका से संश्लिष्ट होने के कारण, चन्द्र की ऊर्ध्वकोटि से आरम्भ कर ब्रह्मसूत्र के अग्र में संलग्न दो सूत्र बनाये जिससे मध्यशृङ्ग बन जायेगा ॥

अब पार्श्वशृङ्गवर्तना को कहते हैं—

उसके अग्रपार्श्वों के जीव से एक से अन्तरित (देश) में गृहीत सूत्र को आदि द्वितीय चन्द्रखण्ड के कोण से कोण के अन्त भाग तक ले आये । उन्हीं दोनों के अपर जीव से प्रथम अर्धचन्द्र कोण से उसी प्रकार दो शृङ्गों की सिद्धि के लिये सूत्र को ले जाय ॥ -६९-७१- ॥

उस मध्य शृङ्ग के जो दो अग्रभूत मण्डलगत पार्श्व, उन दोनों से अर्थात् जो चतुर्थ जीव, उसको आधार मान कर पहले बनाया गया जो आन्तर की अपेक्षा द्वितीय बाह्य भागमान वाला खण्डचन्द्र, उसकी अग्रकोटि से आरम्भ कर आग्नेय

नयेत् यतस्तदेकेन भागेन अन्तरिते देशे धृतं

'...............................वह्निभागगम् ।' (१६ श्लो०)

इति दृशा भागत्रयसंमिते स्थाने स्थितम्—इत्यर्थः । तयोरेव अग्रपार्श्वयोर-परात् चतुर्थापेक्षया तृतीयात् जीवात् प्रोक्तगत्या पूर्वतश्चतुर्थभागार्धात् तु प्रथमस्य आन्तरतया वर्तितस्य अर्धभागमानस्य इन्दोः कोणतस्तद्वदेव पूर्वोक्तगत्या षष्ठभागान्तमेव सूत्रं नयेत् येन पार्श्वशृङ्गसिद्धिः ॥

एवं पूर्वस्मिन् क्षेत्रार्धे त्रिशूलं वर्तयित्वा, अपरस्मिन्नपि दण्डादि वर्तयितुमाह—

क्षेत्रार्धे चापरे दण्डो द्विकरश्छन्नपञ्चकः ॥ ७१ ॥
षड्विस्तृतं चतुर्दीर्घं तदधोऽमलसारकम् ।
वेदांगुलं च तदधो मूलं तीक्ष्णाग्रमिष्यते ॥ ७२ ॥
आदिक्षेत्रस्य कुर्वीत दिक्षु द्वारचतुष्टयम् ।
हस्तायामं तदर्धं वा विस्तारादपि तत्समम् ॥ ७३ ॥
द्विगुणं बाह्यतः कुर्यात्ततः पद्मं यथा शृणु ।
एकैकभागमानानि कुर्याद् वृत्तानि वेदवत् ॥ ७४ ॥

और ईशान कोण के छठें भागरूप अन्त तक सूत्र को ले जाय क्योंकि वह एक भाग से अन्तरित स्थान में स्थित है अर्थात्

'......................वह्नि (= तीन) भागगामी ।' (तं.आ. ३१।१६)

इस नियम के अनुसार तीन भागों से युक्त स्थान में स्थित है । उन्हीं दोनों अग्रपार्श्वों से भिन्न अर्थात् चतुर्थ की अपेक्षा तृतीय जीव से उक्त रीति से पूर्व से चतुर्थ भाग के अर्ध से आन्तर रूप में वर्त्तित प्रथम अर्धभागमान चन्द्र के कोण से उसी प्रकार पूर्वोक्त रीति से सूत्र को षष्ठ भाग पर्यन्त ले जाय जिससे पार्श्वशृङ्ग बन जाता है ॥

इस प्रकार पूर्वक्षेत्रार्ध में त्रिशूल का वर्तन कर दूसरे (क्षेत्रार्ध) में भी दण्ड आदि की वर्तना के लिये कहते हैं—

क्षेत्र के दूसरे अर्धभाग में दूसरा दण्ड होता है जो दो करों (= हाथों) और पाँच छन्नपञ्चकों वाला होता है । उसके नीचे छह (अंगुल) लम्बा और चार अंगुल चौड़ा अमलसारक (गाँठ) होता है । उसके नीचे चार अंगुल लम्बा तीक्ष्ण अग्रसार वाला मूल होता है । आदि क्षेत्र की दिशाओं में चार द्वार बनाने चाहिये । जो कि एक हाथ या उसका आधा लम्बा चौड़ा हो । उससे बाहर की ओर जिस प्रकार दो गुना पद्म बनाये (उसे) सुनो— एक-एक भागमान वाले चार वृत्त बनाये । दिशाओं में आठ और फिर

दिक्ष्वष्टौ पुनरप्यष्टौ जीवसूत्राणि षोडश ।
द्वयोर्द्वयोः पुनर्मध्ये तत्संख्यातानि पातयेत् ॥ ७५ ॥
एषां तृतीयवृत्तस्थं पार्श्वजीवसमं भ्रमम् ।
एतदन्तं प्रकुर्वीत ततो जीवाग्रमानयेत् ॥ ७६ ॥
यत्रैव कुत्रचित्सङ्गस्तत्संबन्धे स्थिरीकृते ।
तत्र कृत्वा नयेन्मन्त्री पत्राग्राणां प्रसिद्धये ॥ ७७ ॥
एकैकस्मिन्दले कुर्यात्केसराणां त्रयं त्रयम् ।
द्विगुणाष्टांगुलं कार्यं तद्वच्छृङ्गकजत्रयम् ॥ ७८ ॥

द्विकर इति—वक्ष्यमाणद्वारक्षेत्रेण सह । छत्रपञ्चक इति—अस्य हि भाग-चतुष्टयं छत्रपीठेन च एक इति । यदुक्तम्—

'द्विकरं पञ्च तद्भागाः पञ्चपीठतिरोहिताः ।
शेषमन्यद्भवेद् दृश्यं पृथुत्वाद्भागसंमितम् ॥' इति ।

वेदांगुलमिति—अंगुलोक्तौ षडंगुलानि विस्तृतं चत्वारि अंगुलानि आयतमामलसारकम् । तीक्ष्णाग्रमिति—एकाराकृति । आदिक्षेत्रस्येति—त्रिहस्तस्य । हस्तायाममिति—मध्यसूत्राणां प्रतिपार्श्वं भागचतुष्टयग्रहेण तदर्धं हस्तार्धं द्वारस्य

आठ (इस प्रकार) सोलह जीवसूत्रों (को बनाये) । फिर दो-दो के मध्य में उतनी (= सोलह) ही संख्या वाले (वृत्त) बनाये । इनका तृतीय वृत्त में स्थित तथा पार्श्वजीव के समान भ्रम (= वृत्त) इसके अन्त तक करे (= बनाये)। इसके बाद जीवाग्र को ले आये । जिस किसी (कमल) पर सङ्ग (= सम्बन्ध) बनाये । और उस सम्बन्ध को (मन से) स्थिर करने पर वहाँ (= सङ्गस्थल में) मन्त्रसाधक पत्राग्रों की सिद्धि के लिये (हाथ को) स्थिर कर वृत्त खींचे । एक-एक दल में तीन-तीन केसर बनाये । उसी प्रकार शृंङ्गकजत्रय = शूल के अग्रभाग पर तीन कमल को बनाये किन्तु वह द्विगुण अष्टांगुल (= १६ अंगुलमान) हो ॥ -७१-७८ ॥

द्विकर—वक्ष्यमाण द्वार क्षेत्र के साथ । छत्रपञ्चक—इसका चारभाग और छत्रपीठ को मिलाकर एक (इस प्रकार पाँच) । जैसा कि कहा गया—

'द्विकर (= चार हाथ के मण्डल का दो हाथ वाला भाग) । उसके पाँच भाग पाँच पीठों से तिरोहित हैं । शेष अन्य एक भाग पृथु होने के कारण दृश्य होता है ।'

वेदांगुल—अंगुल के कथन में छह अंगुल लम्बा और चार अंगुल चौड़ा आमलसारक । तीक्ष्ण अग्रवाला = 'ए'कार के समान आकृति वाला । आदि क्षेत्र का = तीन हाथ वाले का । एक हाथ चौड़ा—मध्य सूत्रों के प्रतिपार्श्व चार भाग लेने से, उसका आधा = एक हाथ का आधा, द्वार के चार भाग से विस्तृत होने

भागचतुष्टयेनैव विस्तृतत्वात् । बाह्यतो द्विगुणमिति—प्रतिपार्श्वमधिकस्य भाग-चतुष्टयस्य प्रक्षेपात् । तत्सममिति—कण्ठवत् कपोलस्यापि भागद्वयेनैव विस्तृत-त्वात् । इदानीं अण्डक्षेत्रगतभागचतुष्टयस्थितस्य पद्मस्य वर्तनामाह—तत इत्यादि । वेदवत्—चत्वारि । मध्य इति—समोभयपार्श्वे । तत्संख्यातानीति—षोडश । एषामिति—पुनर्दत्तानां षोडशानाम् । तृतीयेति—अर्थात् तृतीयवृत्तस्थपुनर्दत्तषोडश-सूत्रान्यतममध्ये हस्तं निवेश्य तद्बहिः पार्श्वस्थजीवसूत्रसाम्येन तृतीयभागाग्रस्थात् तत एव आरभ्य एतस्य पुनर्दत्तषोडशसूत्रान्यतमस्यैव अन्तं यावत् भ्रमं कृत्वा तदन्तः पार्श्वस्थजीवसूत्रसंनिकर्षं नयेत्—इति षोडश दलार्धानि उत्पादयेत् । अत्रैव कुत्रचित् पद्मे इत्यनेन अनवक्लृप्तिपरेण इदमावेदितं यथा दलार्धसिद्ध्यर्थं तृतीयवृत्तस्थपुनर्दत्तषोडशसूत्रान्यतममध्ये हस्तं कृत्वा भ्रमं कुर्यादित्युक्तम्, तथैव अत्रापि, किन्तु व्यत्ययेनेति । स्थिरीकृते इति—मनसा । तत्रेति—सङ्गस्थाने । कृत्वेति—अर्थात् करम् । नयेदिति—अर्थात् भ्रमम् । त्रयं त्रयमिति—तत्रस्थ-सूत्रत्रयाश्रयणेन । तद्वदिति—यथोक्तवर्तनया, किन्तु द्विगुणाष्टांगुलम् । तत् हि चतुर्विंशत्यंगुलम् । एवं पूर्वत्रापि भागचतुष्टयेनैव पद्मचक्रव्योमानि कार्याणि—इति ज्ञेयम् ॥ ७८ ॥

अत्रैव रजोनियममाह—

के कारण । बाहर से दो गुना—प्रत्येक पार्श्व में अधिक चार भागों के प्रक्षेप के कारण । उसके समान = कपोल के भी दो भाग से विस्तृत होने के कारण कण्ठ के समान । अब दण्डक्षेत्र में वर्त्तमान चार भागों में स्थित पद्म की वर्तना को कहते हैं—उसके बाद । वेदवत् = चार । मध्य में = सम उभय पार्श्वों में । उतनी संख्या वाले = सोलह । इनका = पुनर्दत्तसोलह का । तृतीय = तृतीय वृत्तस्थ पुनर्दत्तसोलह सूत्रों में से किसी एक के मध्य में हाथ डाल कर उसके बाहर पार्श्वस्थ जीवसूत्रसाम्य के द्वारा तृतीय भागाग्रस्थ वहीं से प्रारम्भ कर इसके पुनः दत्तसोलह सूत्र में से अन्यतम के अन्त तक वृत्त बनाकर उसके भीतर पार्श्वस्थ जीवसूत्र के सन्निकर्ष को ले जाय अर्थात् सोलहदलार्ध को उत्पन्न करे । जिस किसी कमल पर—इस अनिश्चयपरक (कथन) के द्वारा यह बतलाया गया—जैसे दलार्ध को बनाने के लिये तृतीय वृत्त में स्थित पुनः दत्तसोलह सूत्रों में से किसी एक के मध्य में हाथ डाल वृत्त बनाये—यह कहा गया उसी प्रकार यहाँ भी बनाना चाहिये, किन्तु उल्टे क्रम से । स्थिर करने पर—मन से । वहाँ = सङ्गस्थान में । कर के—अर्थात् हाथ को । ले जाय अर्थात् चाप को खींचे । तीन तीन = उसमें वर्त्तमान तीन सूत्रों के आश्रय से । उसी प्रकार = यथोक्त वर्तना के द्वारा किन्तु द्विगुणाष्टांगुल । वह चौबीस अंगुल होगा । इसी प्रकार पहले भी चार भाग से पद्मचक्रव्योम को बनाना चाहिये—यह जानना चाहिये ॥ ७८ ॥

यहीं पर रजोनियम (= कोष्ठकों में चूर्ण भरने का नियम) को कहते हैं—

कर्णिका पीतवर्णेन मूलमध्याग्रभेदतः ।
सितं रक्तं तथा पीतं कार्यं केसरजालकम् ॥ ७९ ॥
दलानि शुक्लवर्णानि प्रतिवारणया सह ।
पीठं तद्वच्चतुष्कोणं कर्णिकार्धसमं बहिः ॥ ८० ॥
सितरक्तपीतकृष्णैस्तत्पादान् वह्नितः क्रमात् ।
चतुर्भिरपि शृङ्गाणि त्रिभिर्मण्डलमिष्यते ॥ ८१ ॥
दण्डः स्यान्नीलरक्तेन पीतमामलसारकम् ।
रक्तं शूलं प्रकुर्वीत यत्तत्पूर्वं प्रकल्पितम् ॥ ८२ ॥
पश्चाद् द्वारस्य पूर्वेण त्यक्त्वाङ्गुलचतुष्टयम् ।
द्वारं वेदाश्रि वृत्तं वा सङ्कीर्णं वा विचित्रितम् ॥ ८३ ॥
एकद्वित्रिपुरं तुल्यं सामु(द्र)मथवोभयम् ।
कपोलकण्ठशोभोपशोभादिबहुचित्रितम् ॥ ८४ ॥
विचित्राकारसंस्थानं वल्लीसूक्ष्मगृहान्वितम् ।

प्रतिवारणा—दलाग्रवर्तिनी वृत्तरेखा । तद्वदिति—शुक्लम् । कर्णिकार्धमेको भागः । तत्पादानिति—पीठपादकान् । त्रिभिरिति—रक्तरजोवर्जितैः । त्यक्त्वांगुलचतुष्टयमिति—द्विकरत्वस्य अपवादः । द्वारस्यापि एतच्छेषभूतं शास्त्रान्तरोक्तं

कर्णिका को पीतवर्ण से और केसरजाल को मूल मध्य और अग्र भाग के भेद से श्वेत रक्त तथा पीत बनाना चाहिये । प्रत्येक बल की रेखा के साथ दलों को शुक्ल वर्ण (का बनाना चाहिये) । पीठ को उसी प्रकार चतुष्कोण और कर्णिका के अर्धभाग के बराबर कमल से बाहर (= नीचे) बनाना चाहिये । अग्निकोण से लेकर क्रमशः उसके चार पाद श्वेत रक्त पीत और कृष्ण (बनाये) । चारो (रंगों) से शृङ्गों को और तीन (रंगों) से मण्डल को (बनाये) । दण्ड को नील रक्त से बनाये और आमलसारक (= नीचे की गाँठ) को पीतवर्ण का, शूल को, जो कि पहले से प्रकल्पित है, रक्त वर्ण का बनाये । बाद में द्वार को पूर्व से चार अंगुल छोड़ कर (बनाये) । (वह) द्वार चौकोर वृत्ताकार सङ्कीर्ण अथवा विचित्रित हो । (यह द्वार) एक दो तीन पुरों वाला, समान, सामुद्र (= नीले रंग का हो । 'सामुद्ग' पाठ माने जाने पर मूँग के रंग का या मूँग से भरकर बनाना चाहिये—यह अर्थ होगा) अथवा दोनों प्रकार का, कपोल कण्ठ शोभा उपशोभा आदि से अनेक प्रकार चित्रित, विचित्र आकारसंस्थान वाला तथा वल्ली एवं सूक्ष्म गृह से युक्त हो ॥ ७९-८५- ॥

प्रतिवारणा = दलाग्र में स्थित वृत्तरेखा । उस प्रकार = शुक्ल । कर्णिकार्ध = एक भाग । उसके पाद = पीठ के पाद । तीन से = रक्त रज से रहित । चार

वैचित्र्यं दर्शयति—द्वारमित्यादिना ॥

यद्यपि उद्दिष्टानां सर्वेषां शास्त्राणां शूलाब्जविन्यास उक्तस्तथापि य एव कश्चन विशेषोऽस्ति, स एव इह प्रदर्श्यत इति क्रमव्यतिक्रमेणापि श्रीदेव्यायामलोक्तं तद्विन्यासमुपन्यस्यति—

श्रीदेव्यायामले तूक्तं क्षेत्रे वेदाश्रिते सति ॥ ८५ ॥
अर्धं द्वादशधा कृत्वा तिर्यगूर्ध्वं च तिर्यजम् ।
भागमेकं स्वपार्श्वोर्ध्वं गुरुः समवतारयेत् ॥ ८६ ॥
मध्यस्थं तं त्रिभागं च तदन्ते भ्रमयेदुभौ ।
भागमेकं परित्यज्य तन्मध्ये भ्रमयेत्पुनः ॥ ८७ ॥
तृतीयांशोर्ध्वतो भ्राम्यमूर्ध्वांशं यावदन्ततः ।
चतुर्थांशात्तदूर्ध्वं तु ऊर्ध्वाधो योजयेत्पुनः ॥ ८८ ॥
तन्मानादूर्ध्वमाभ्राम्य चतुर्थेन नियोजयेत् ।

अर्धं द्वादशधा कृत्वेत्युक्त्या समस्तं क्षेत्रं चतुर्विंशतिधा विधेयम्—इति सिद्धम् । तिर्यगूर्ध्वमिति—सर्वत इति—तेन चतुर्दिक्कं षट् षट् भागान् त्यक्त्वा मध्ये द्वादशभागमानं क्षेत्रं ग्राह्यम्, अत एव तदेकपार्श्ववर्तितया तिर्यग्गमेकं भागं

अंगुल छोड़ कर—यह द्विकरत्व का अपवाद है । द्वार का भी—इसका अङ्गभूत शास्त्रान्तर में कथित वैचित्र्य को द्वारम्—इत्यादि के द्वारा दिखलाते हैं ।

यद्यपि नामित सभी शास्त्रों का शूलाब्जविन्यास कहा गया तथापि जो कुछ विशेष है वही यहाँ दिखलाया जाता है । इस लिये क्रम व्यतिक्रम से भी देवीयामल में वर्णित उस विन्यास को प्रस्तुत करते हैं—

श्रीदेवीयामल में कहा गया है कि क्षेत्र के चतुष्कोण होने पर गुरु आधे को ऊपर नीचे बारह भागों में बाँट कर एक तिर्यक् भाग को जो कि अपने पार्श्व में ऊर्ध्व की ओर हो (भ्रम के लिये) गृहीत करे और मध्यस्थ उस दो त्रिभाग (अर्थात् छह भाग) को उसके अन्त में घुमाये । एक भाग को छोड़कर उसके बीच में पुनः घुमाये । तृतीय अंश के ऊपर से ऊर्ध्व अंश पर्यन्त अन्ततः चतुर्थ अंश तक भ्रमि कराये । उसके बाद फिर ऊपर नीचे योजना करे । उसी परिमाण से ऊपर भ्रमण कर चतुर्थ (दो खण्डचन्द्र) से जोड़े ॥ -८५-८९- ॥

'आधे को बारह भागों में बाँट कर', इस उक्ति से (यह अर्थ निकला कि) समस्त क्षेत्र का चौबीस भाग करे । तिर्यक् और ऊपर—ऐसा सब दिशाओं में करे। इस प्रकार चारों दिशाओं में छह-छह भागों को छोड़कर मध्य में बारह भागों वाले क्षेत्र का ग्रहण करना चाहिये । उसमें क्षेत्र की अपेक्षा मध्यस्थ (भाग) ब्रह्मपद

गुरुः स्वेन तद्भागसंबन्धिनैव पार्श्वेन ऊर्ध्वादिक्रमेण ऊर्ध्वं समवतारयेत्—तथा भ्रमयितुमनुसंदध्याद्—इत्यर्थः । तेन ब्रह्मपदापेक्षया द्वितीये मर्मणि एकं हस्तं निवेश्य तं समस्तं भागमर्थात् तदीयमेव त्रिभागं न तु प्राग्वत् तदर्धमिति । एतदुभयं तस्य ब्रह्मसूत्रस्य अन्ते तत्संनिकर्षादारभ्य भ्रमयेत् येन खण्डचन्द्रद्वयं सिद्ध्येत् । पुनश्च पार्श्वगत्या द्वितीयभागस्य उपरि स्थितमेकं भागं परित्यज्य अर्थात् तृतीये मर्मणि एकं हस्तं कृत्वा तस्य त्यक्तस्यैव भागस्य अन्तः पूर्ववदेव भ्रमयेत् येन खण्डचन्द्रद्वयं सिद्ध्येत् । तत् समनन्तरवर्तितं खण्डचन्द्रद्वयं चतुर्थांशादारभ्य अर्थात् तिर्यक् क्रमेण ऊर्ध्वं क्षेत्रकोणं यावत् ऊर्ध्वाधोगत्या योजयेत्—इति शृङ्गसिद्धिः । एतदेव पार्श्वान्तरेऽपि अतिदिशति— पुनरित्यादिना । पुनश्च तदेव अनन्तरोक्तं मानमवलम्ब्य यथायथमूर्ध्वं खण्डचन्द्रयुग्मत्रयमा समन्तात् परस्परसंश्लेषेण भ्रमयित्वा तद्द्वारेण वर्तयित्वा चतुर्थेन शृङ्गारम्भकेणापि खण्डचन्द्रयुग्मेन नियोजयेत्—तद्युक्तं कुर्यात्—इत्यर्थः ॥

एवं पार्श्वारावर्तनामभिधाय, मध्यारामपि वर्तयितुमाह—

ऊर्ध्वाद्योजयते सूत्रं ब्रह्मसूत्रावधि क्रमात् ॥ ८९ ॥
क्रमाद्वैपुल्यतः कृत्वा अंशं वै ह्रासयेत् पुनः ।
अर्धभागप्रमाणस्तु दण्डो द्विगुण इष्यते ॥ ९० ॥

के सन्निकृष्ट होता है इसलिये उसके एकपार्श्ववर्त्ती होने से तिर्यक् वर्त्तमान एक भाग को गुरु अपने उस भाग से सम्बद्ध ही पार्श्व के द्वारा ऊर्ध्व आदि के क्रम से ऊपर की ओर ले जाय । अर्थात् वैसी भ्रमि के लिये विचार करे । इससे ब्रह्मपद की अपेक्षा द्वितीय मर्म में एक हाथ रखकर उस समस्त भाग को अर्थात् उसी के तीन भाग को, न कि पहले की भाँति उसके आधे की योजना करे । इन दोनों की, उस ब्रह्मसूत्र के अन्त में उस सन्निकर्ष से प्रारब्ध कर भ्रमि करनी चाहिये । जिससे कि दो खण्डचन्द्र बन जाँय । फिर पार्श्वगति से द्वितीय भाग के ऊपर स्थित एक भाग को छोड़ कर अर्थात् तृतीय मर्म में एक हाथ रखकर उस व्यक्त भाग के ही भीतर पूर्ववत् भ्रमि कराये जिससे दो खण्डचन्द्र बने । उस = अभी-अभी बनाया गया, दो खण्डचन्द्र को चतुर्थ अंश से लेकर अर्थात् तिर्यक् क्रम से ऊर्ध्व क्षेत्र कोण तक ऊपर नीचे की ओर जोड़े—इस प्रकार शृङ्ग बनता है । इसी को दूसरे पार्श्व में भी 'पुनः........ इत्यादि के द्वारा कहते हैं । फिर उसी = पूर्वोक्त मान के आधार पर क्रमशः ऊपर की ओर खण्डचन्द्र के तीन जोड़े को आ = चारों ओर, परस्पर जोड़ कर भ्रमि करा कर = उसके द्वारा वर्तना कर चतुर्थ शृङ्गारम्भक दो खण्डचन्द्र के साथ नियुक्त करे अर्थात् उससे जोड़े ॥

इस प्रकार पार्श्वअरावर्तना का कथन कर मध्यअरावर्तना को कहते हैं—

(गुरु) ऊर्ध्व से लेकर ब्रह्मसूत्र पर्यन्त सूत्र को क्रम से बढ़े हुये एक-एक अंश के हिसाब से कम करते हुए जोड़े । अर्ध भाग के प्रमाण

पुनरपि प्रथमवर्तितत्रिभागवर्तमानखण्डचन्द्रोर्ध्वादारभ्य ब्रह्मसूत्रावधि सूत्रं कृत्वा क्रमेण क्रमेण वैपुल्यादंशमंशमेव ह्रासयित्वा योजयेत्—तत्रैव संबद्धं कुर्यात् येन अस्य तीक्ष्णाग्रत्वं स्यात्—इति मध्यशृङ्गसिद्धिः । एवं च अत्र मध्यशृङ्गे पार्श्वद्वयादूनं भवेदित्यपि पूर्वस्मात् विशेषः । अर्धेति—भागद्वयसंबन्धिभ्यामर्धाभ्यां भागप्रमाणश्चतुरंगुलः इत्यर्थः । द्विगुण इति—गृहीतक्षेत्रार्धशिष्टभागषट्कोपरि क्षेत्रार्धस्य प्रक्षेपात् द्वादशभागप्रमाणः—द्विहस्त इति यावत् ॥ ९० ॥

अत्रैव आमलकसारकं वर्तयति—

भागं भागं गृहीत्वा तु उभयोरथ गोचरात् ।
भ्राम्यं पिप्पलवत् पत्रं वर्तनैषा त्वधो भवेत्॥ ९१ ॥
षोडशांशे लिखेत्पद्मं द्वादशांगुललोपनात् ।

भागशब्दोऽत्र अंगुलवचनः, तेन उभयोः पार्श्वयोर्विषयादंगुलमंगुलं गृहीत्वा अश्वत्थपत्राकारतया भ्रमोदय इति । एषा दण्डस्य अधोवर्तना येन षडंगुल-विस्तृतस्य अमलसारकस्य अधश्चतुरंगुलं तीक्ष्णाग्रं मूलं स्यात् । षोडशांशे इति —षोडशभिः सूत्रैर्विभक्ते क्षेत्रे । द्वादशांगुललोपनादिति—प्रतिदिक्कं येन हास्तिकं

वाला दण्ड दो गुना इष्ट होता है ॥ -८९-९० ॥

पुनः प्रथम वर्त्तित तीन भाग वाले वर्त्तमान खण्डचन्द्र के ऊपर से प्रारम्भ कर ब्रह्मसूत्र तक सूत्र को फैला कर क्रम-क्रम से बढ़े हुये अंश में से एक-एक अंश को कम कर के जोड़े अर्थात् उसी से सम्बद्ध करे जिससे इसका अग्र भाग तीक्ष्ण हो जाय । इस प्रकार मध्यशृङ्ग की सिद्धि होती है । इस मध्यशृङ्ग में दो पार्श्व कम होता है—यह भी पहले (शृङ्ग) से अन्तर है । अर्ध = दो भागों से सम्बद्ध दो अर्धों से एक भाग प्रमाण वाला = चार अंगुल । दो गुना = गृहीत क्षेत्र के अर्धशिष्ट छह भाग के ऊपर आधे क्षेत्र के प्रक्षेप के कारण बारह भाग प्रमाण वाला अर्थात् दो हाथ वाला ॥ ९० ॥

यहीं पर आमलकसार (= ग्रन्थि) की वर्तना बतलाते हैं—

दोनों पार्श्वों से एक-एक भाग (= अंगुल) लेकर पीपल के पत्ते की भाँति भ्रमि करानी चाहिये । यह अधोवर्तना होती है । फिर बारह अंगुल का लोप कर षोडशांश कमल लिखे ॥ ९१-९२- ॥

यहाँ भाग शब्द अंगुलवाची है । इससे दोना पार्श्वों के विषय से एक-एक अंगुल लेकर पीपल के पत्ते के आकार वाली भ्रमि बनती है । यह दण्ड की अधोवर्तना है जिससे छह अंगुल विस्तृत अमलसारक के नीचे चार अंगुल तीक्ष्ण अग्रवाला मूल होता है । षोडशांश = सोलह सूत्रों के द्वारा विभक्त क्षेत्र में । बारह अंगुल के लोप से—यह लोप प्रत्येक दिशा में होता है जिससे हास्तिक (चार हाथ

पद्मं स्यात् ॥

तच्च कुत्र लिखेत्—इत्याह—

तदूर्ध्वं मध्यभागे तु वारिजन्म समालिखेत् ॥ ९२ ॥
मध्यशृङ्गावसाने तु तृतीयं विलिखेत्ततः ।

तदूर्ध्वम्—दण्डोपरि । मध्यभागे इति—मण्डलापेक्षया । न केवलमत्रैव पद्मं लिखेत्, यावदरोपर्यपि—इत्याह—मध्येत्यादि । तृतीयशब्दार्थमेव घटयति—मध्येत्यादिना ॥

सव्यासव्ये तथैवेह कटिस्थाब्जे समालिखेत् ॥ ९३ ॥
कर्णिका पीतला रक्तपीतशुक्लं च केसरम् ।
दलानि पद्मबाह्यस्था शुक्ला च प्रतिवारणी ॥ ९४ ॥
शूलं कृष्णेन रजसा ब्रह्मरेखा सिता पुनः ।
शूलाग्रं ज्वालया युक्तं शूलदण्डस्तु पीतलः ॥ ९५ ॥
शूलमध्ये च यत्पद्मं तत्रेशं पूजयेत्सदा ।
अस्योर्ध्वे तु परां दक्षेऽन्यां वामे चापरां बुधः ॥ ९६ ॥

तथैवेति—द्वादशांगुललोपनेनैव—इत्यर्थः । दलानीति—अर्थात् शुक्लानि ।

के मण्डल में डेढ़-डेढ़ हाथ अगल-बगल छोड़ कर बनाया गया) पद्म बने ॥

और उसे कहाँ लिखे—यह कहते हैं—

उसके ऊपर मध्य भाग में कमल लिखे फिर मध्यशृङ्ग के अन्त में तीसरा (कमल) लिखे ॥ -९२-९३- ॥

उसके ऊर्ध्व = दण्ड के ऊपर । मध्य भाग में—मण्डल की अपेक्षा । केवल यहीं कमल न लिखे बल्कि अरा के ऊपर भी—यह कहते हैं—मध्य............ । तृतीय शब्द के अर्थ को घटाते हैं—मध्य इत्यादि के द्वारा ॥

उसी प्रकार बायें और दायें कटिस्थ कमल (= दण्ड के कटि प्रदेश में कमल) लिखे । कर्णिका पीली तथा केसर पीतशुक्ल लिखे । दलों और पद्म के बाहर स्थित प्रतिवारणी (= कमल के पत्तों को अलग दिखाने वाली रेखा) को शुक्ल लिखे । शूल को कृष्ण रजस् से (लिखे) और ब्रह्मरेखा को श्वेत से । शूलाग्र को ज्वाला से युक्त तथा शूलदण्ड को पीला लिखे । शूल के मध्य में जो कमल है उसमें सदाशिव की पूजा करे । विद्वान् इसके ऊपर परा, दायीं ओर परापरा, एवं बायीं ओर अपरा की (पूजा करे) ॥ -९३-९६ ॥

उसी प्रकार = बारह अंगुल के लोप के साथ । दल अर्थात् शुक्ल । ब्रह्मरेखा

ब्रह्मरेखेति—अरामध्यभागः । ज्वालया युक्तमिति—रक्तरजःपातात् । ईशमिति—प्रेतरूपं सदाशिवम् । ऊर्ध्व इति—मध्यशृङ्गस्य । अन्यामिति—परापराम् ॥९६॥

ननु इह पराया अपि परा मातृसद्भावादिशब्दव्यपदेश्या कालसङ्कर्षिणी भगवती उक्ता, सा कुत्र पूज्या?—इत्याशङ्क्य आह—

या सा कालान्तका देवी परातीता व्यवस्थिता ।
ग्रसते शूलचक्रं सा त्विच्छामात्रेण सर्वदा ॥ ९७ ॥

यदुक्तं तत्रैव—

'तन्मध्ये तु परा देवी दक्षिणे च परापरा ।
अपरा वामशृङ्गे तु मध्यशृङ्गोर्ध्वतः शृणु ॥
या सा सङ्कर्षिणी देवी परातीता व्यवस्थिता।' इति ।

ग्रसते इति—स्वात्मसात्करोति—इत्यर्थः, तेन तन्मयमेव इदं सर्वम्—इति अभिप्रायः ॥ ९७ ॥

आसामेव प्रपञ्चतो व्याप्तिमाह—

शान्तिरूपा कला ह्येषा विद्यारूपा परा भवेत् ।
अपरा तु प्रतिष्ठा स्यान्निवृत्तिस्तु परापरा ॥ ९८ ॥

= अरा का मध्य भाग । ज्वाला से युक्त—लाल रजस् के गिरने के कारण । ईश को = प्रेत रूप सदाशिव को । ऊपर—मध्यश्रृङ्ग के । अन्य = परापरा को ॥९६॥

प्रश्न—मातृसद्भाव आदि शब्दों से व्यवहार्य भगवती कालसङ्कर्षिणी परा से भी परा कही गयी है । उसकी पूजा कहाँ की जाय ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो वह कालान्तका देवी परातीत मानी गयी है वह सर्वदा इच्छा मात्र से शूल चन्द्र को ग्रसित करती है ॥ ९७ ॥

जैसा कि वहीं (= देव्यायामलशास्त्र में) कहा गया है—

'उसके बीच में परा देवी, दक्षिण में परापरा और बायें अपरा (रहती है) । मध्य श्रृङ्ग के ऊपर सुनो । जो वह परातीता सङ्कर्षिणी देवी है, (मध्यश्रृङ्ग के ऊपर) रहती है ॥'

ग्रसती है = आत्मसात् करती है । इससे यह सब तन्मय ही है—यह अभिप्राय है ॥ ९७ ॥

इन्हीं की विस्तार से व्याप्ति कहते हैं—

यह (= कालसंकर्षिणी) शान्तारूपा कला होती है । परा विद्यारूपा कला, अपरा प्रतिष्ठारूपा कला, परापरा निवृत्तिरूपा कला होती है ॥९८॥

ननु सदाशिवस्य शान्त्याद्याः कलाः शक्तित्वेन उक्ताः । कथमासामियती व्याप्तिः?—इत्याशङ्क्य आह—

भैरवं दण्ड ऊर्ध्वस्थं रूपं सादाशिवात्मकम् ।
चतस्रः शक्तयस्त्वस्य स्थूलाः सूक्ष्मास्त्वनेकधा ॥ ९९ ॥

यत् नाम हि दण्डोपलक्षितस्य शूलस्य 'उपरि स्थितं भैरवं पूर्णं रूपं तदेव सादाशिवात्मकमिति, तस्यैव स्थूलतायां शान्त्याद्या बह्व्यः शक्तयोऽन्यथा तु एताः—इति तात्पर्यार्थः ॥ ९९ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेव उपसंहरति—

एष यागः समाख्यातो डामराख्यस्त्रिशक्तिकः ।

इदानीं त्रिशिरोभैरवीयमपि शूलाब्जविन्यासं वक्तुमुपक्रमते—

अथ त्रैशिरसे शूलाब्जविधिदृष्टोऽभिलिख्यते ॥ १०० ॥

तमेव आह—

वामामृतादिभिर्मुख्यैः पवित्रैः सुमनोरमैः ।
भूमिं रजांसि करणीं खटिकां मूलतोऽर्चयेत् ॥ १०१ ॥

प्रश्न—शान्ता आदि कलायें सदाशिव की शक्तिरूपा कही गयी हैं । फिर इनकी इतनी ही व्याप्ति कैसे होती है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

दण्ड में ऊर्ध्वस्थ (जो) भैरवरूप है (वह) सदाशिवरूप है । इसकी चार मुख्य शक्तियाँ हैं और सूक्ष्म (शक्तियाँ) तो अनेक हैं ॥ ९९ ॥

दण्डोपलक्षित शूल के ऊपर स्थित भैरव का जो पूर्णरूप है वही सदाशिव का रूप है । उसी के स्थूल होने पर शान्ति आदि अनेक शक्तियाँ होती हैं अन्यथा तो ये (चार ही) हैं—यह तात्पर्य है ॥ ९९ ॥

प्रसङ्गवश इसका कथन कर प्रस्तुत का उपसंहार करते हैं—

यह तीन शक्तियों वाला डामरयाग कहा गया है ॥ १००- ॥

अब त्रिशिरोभैरव वाले शूलाब्जविन्यास को कहते हैं—

अब त्रिशिरोभैरव में दृष्ट शूलाब्जविधि का उल्लेख किया जाता है ॥ -१०० ॥

उसी को कहते हैं—

वामअमृत (= मद्य) आदि मुख्य, पवित्र और मनोरम (वस्तुओं) से भूमि, रजो (= रङ्ग) करणी एवं खटिका की मूलमन्त्र के द्वारा पूजा करनी

चतुरश्रे चतुर्हस्ते मध्ये शूलं करत्रयम् ।
दण्डो द्विहस्त ऊर्ध्वाधःपीठयुग्विपुलस्त्वसौ ॥ १०२ ॥
वस्वंगुलः प्रकर्तव्यः सूत्रत्रयसमन्वितः ।
द्वादशांगुलमानेन दण्डमूले तु पीठिका ॥ १०३ ॥
दैर्ध्यात्तूच्छ्रायतो वेदांगुला दैर्ध्याद्दशांगुला ॥ १०४ ॥
शूलमूलगतं पीठीमध्यं खाब्धिसमांगुलम् ।

मूलत इति—मूलमन्त्रेण । चतुर्हस्ते इति—वक्ष्यमाणगत्या चतुर्विंशतिधा विभक्तेऽपि । करत्रयस्यैव विभागो दण्डो द्विहस्त इति । वस्वंगुलो विपुल इति—वैपुल्यादष्टांगुलः । यदुक्तं—तत्र—

'अष्टांगुलं तु वैपुल्यम्........................ ।' इति ।

विमल इति—अनागमिकत्वादपपाठः । एवमन्यत्रापि अनागमिकत्वादेव अपपाठा निरस्ताः, निरसिष्यन्ते चेति न अन्यथा मन्तव्यम् । खाब्धीति = चत्वारिंशत् । यत्र विद्यापद्मेन अष्टांगुलमाच्छादनं व्योमरेखया च अंगुलमिति एकत्रिंशदंगुलानि अस्य दृश्यत्वम् ॥

चाहिये । चार कोण वाले समतल चार हाथ विस्तार वाले (आसन) पर मध्य में तीन हाथ विस्तार वाला शूल (होना चाहिये) । दो हाथ का दण्ड ऊपर नीचे पीठयुक्त और आठ अंगुल विपुल (= चौड़ा) होना चाहिये । यह अंगुल दण्ड तीन सूत्रों से युक्त होना चाहिये । दण्डमूल में पीठिका १२ अंगुल प्रमाण की (बनानी चाहिये) । लम्बाई और ऊँचाई से ऊपर में चार अंगुल मान होना चाहिये । ऊपर भी ऊँचाई चार अंगुल और लम्बाई दश अंगुल होनी चाहिये । शूल के मूल में स्थित पीठमध्य चालिस अंगुल का होना चाहिये ॥ १०१-१०५- ॥

मूल से = मूलमन्त्र से । चार हाथों वाले वक्ष्यमाण रूप से चौबीस भागों में विभक्त होने पर भी । करत्रय का ही विभाग है—दो हाथ का दण्ड (उसके साथ एक हाथ का शूल मिला कर करत्रय बनता है) । आठ अंगुल विपुल = विपुल होने से आठ अंगुल । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'वैपुल्य (= चौड़ाई) आठ अंगुल का होता है ।'

(विपुल की जगह) 'विमल' अपपाठ है क्योंकि अनागमिक है । इसी प्रकार अन्यत्र भी अनागमिक होने के कारण ही अपपाठ निरस्त कर दिये गये हैं और निरस्त किये जायेंगे । इसलिये अन्यथा नहीं सोचना चाहिये । खाब्धि = चालिस । जहाँ विद्यापद्म से आठ अंगुल का आच्छादन और व्योमरेखा से एक अंगुल तो इस प्रकार इसका दृश्यत्व एकतीस अंगुल हो जाता है ॥

एतदुपसंहरन् त्रिशूलवर्तनामुपक्रममाणस्तदुपयोगि क्षेत्रं तावदाह—

कृत्वा दण्डं त्रिशूलं तु त्रिभिर्भागैः समन्ततः ॥ १०५ ॥
अष्टांगुलप्रमाणैः स्याद्धस्तमात्रं समन्ततः ।

त्रिभिर्भागैरिति—ऊर्ध्वोर्ध्वम् । हस्तमात्रं समन्तत इति—समचतुरस्त्रम् ॥

एतदेव भागत्रयं शूलावयावाश्रयतया विभजति—

शूलाग्रं शूलमध्यं तच्छूलमूलं तु तद्भवेत् ॥ १०६ ॥
वेदी मध्ये प्रकर्तव्या उभयोश्च षडंगुलम् ।
द्वादशांगुलदीर्घा तु उभयोः पार्श्वयोस्तथा ॥ १०७ ॥
चतुरंगुलमुच्छ्रायान्मूले वेदीं प्रकल्पयेत् ।
उभयोः पार्श्वयोश्चैवमर्धचन्द्राकृतिं तथा ॥ १०८ ॥
भ्रामयेत् खटिकासूत्रं कटिं कुर्याद् द्विरंगुलाम् ।
वैपुल्याद्दैर्ध्यतो देवि चतुरंगुलमानतः ॥ १०९ ॥
यादृशं दक्षिणे भागे वामे तद्वत्प्रकल्पयेत् ।
मध्ये शूलाग्रवैपुल्यादंगुलश्च अधोर्ध्वतः ॥ ११० ॥
चतुरङ्गुलमानेन वैपुल्यात्तु षडंगुला ।

इसका उपसंहार एवं त्रिशूलवर्तना का उपक्रम करते हुये उसके उपयोगी क्षेत्र को बतलाते हैं—

दण्ड को बनाकर चारो ओर तीन भागों से त्रिशूल को आठ अंगुल प्रमाणों से सम चौकोर बनाये ॥ -१०५-१०६- ॥

तीन भागों से—ऊपर-ऊपर । चारों ओर एक हाथ = चारों ओर एक हाथ समतल ॥

इसी तीन भाग का शूलावयव के आधार पर विभाग करते हैं—

वह (= भाग) शूलाग्र शूलमध्य और शूलमूल होगा । मध्य में वेदी बनानी चाहिये । यह दोनों ओर से छह अंगुल होगी । इस प्रकार दोनों पार्श्वों में बारह अंगुल दीर्घ तथा मूल में चार अंगुल ऊँची वेदी बनानी चाहिये । इस प्रकार दोनों पार्श्वों में अर्ध चन्द्र आकृति होगी । खटिका (= खड़िया मिट्टी) सूत्र को घुमाना चाहिये और दो अंगुल चौड़ाई की कटि बनाये । (यह कटि) वैपुल्य (= चौड़ाई) से चार अंगुल परिमाण से दीर्घ होगी । जैसा दायें वैसा ही बायें बनाना चाहिये । मध्य में शूलाग्रवैपुल्य (दो अंगुल) और नीचे तथा ऊपर एक-एक अंगुल (परिमाण वाला) होना चाहिये । फिर ऊपर चार अंगुल परिमाण से वैपुल्य के कारण

उच्छ्रायात्तु ततः कार्या गण्डिका तु स्वरूपतः ॥ १११ ॥
पीठोर्ध्वे तु प्रकर्तव्यं शूलमूलं तु सुव्रते ।
शूलाग्रमंगुलं कार्यं सुतीक्ष्णं तु षडंगुलम् ॥ ११२ ॥
अरामध्यं प्रकर्तव्यमराधस्तु षडंगुलम् ।

वेदीत्यादि—अत्र अंगुलमध्यभागे ब्रह्मसूत्रापेक्षया उभयोः पार्श्वयोरुभयोरपि अन्तयोः षडंगुलसंमतं क्षेत्रमर्थात् संश्रित्य तथा षडंगुलप्रकारेण दैर्ध्यात् द्वादशांगुला वेदी वेद्याकारस्तत्र मध्यः संनिवेशः कार्यः—पार्श्वद्वयेऽपि अन्तर्मुखं खण्डेन्दुद्वयं वर्तनीयम्—इत्यर्थः । एवं मूलेऽपि अर्थात् वक्ष्यमाणगण्डिकोपयोगिब्रह्मसंनिकर्षात् भागार्धं त्यक्त्वा पार्श्वगत्या सार्धभागे द्वयोः पार्श्वयोरुच्छ्रायात् चतुरंगुलामुत्तानार्धचन्द्राकृतिं वेदीं कुर्यात् । ततोऽपि अर्थात् ब्रह्मसूत्रनिकटकोटौ हस्तं निवेश्य द्वितीयकोटेरारभ्य मध्यभागवर्तितखण्डेन्दुकोटिं यावत् सूत्रं भ्रामयेत् येन दैर्ध्यात् चतुरंगुलमानः कट्याकारः संनिवेशः पार्श्वद्वयेऽपि सिद्ध्येत् । तत्र च द्व्यंगुलं वैपुल्यम् । द्व्यंगुलत्वमेव मध्यभागेऽपि अतिदिशति—मध्ये शूलाग्रवैपुल्यादिति । न च अविशेषेणैव सर्वत्र द्व्यंगुलं वैपुल्यम्—इत्याह—अंगुलश्चाध इति । तेन कट्यन्तादर्धचन्द्रस्य यथायथमंगुलान्ते ह्रासः कार्य इति । इदानीं

छह अंगुल वाली (वेदी बनाये) । (उसी) ऊँचाई से (उसी) स्वरूप के अनुसार गण्डिका बनाये । हे सुव्रते ! पीठ के ऊर्ध्व भाग में शूल का मूल बनाये । शूलाग्र को एक अंगुल तीक्ष्ण बनाये । अरा का मध्य छह अंगुल तीक्ष्ण बनाये । तथा अरा के नीचे छह अंगुल तीक्ष्ण बनाना चाहिये ॥ -१०६-११३- ॥

वेदी........ । यहाँ अंगुल के मध्य भाग में ब्रह्मसूत्र की अपेक्षा दोनों पार्श्वों और दोनों अन्तों में छह अंगुल परिमाण वाले क्षेत्र को आधार बनाकर तथा छह अंगुल दीर्घ (इस प्रकार) बारह अंगुल वाली वेदी = वेदी के आकार वाला, वहाँ मध्यसन्निवेश बनाना चाहिये अर्थात् दोनों पार्श्वों में भीतर की ओर दो खण्डचन्द्र बनाना चाहिये । इसी प्रकार मूल में भी । अर्थात् वक्ष्यमाण गण्डिका के लिये उपयोगी ब्रह्मसन्निकर्ष से आधा भाग छोड़ कर बगल वाले डेढ़ भाग में दोनों पार्श्वों की ऊँचाई के बराबर चार अंगुल वाली उत्तान अर्धचन्द्र की आकृतिवाली वेदी बनाये । उससे भी अर्थात् ब्रह्मसूत्र के, निकट में स्थित कोटि में हाथ डाल कर द्वितीय कोटि से लेकर मध्य भाग में निर्मित खण्डचन्द्र की कोटि तक सूत्र को घुमाना चाहिये जिससे लम्बाई में चार अंगुल परिमाण वाला कटि के आकार का सनिवेश दोनों पार्श्वों में बन जाय । वहाँ दो अंगुल का वैपुल्य (= चौड़ाई = विस्तार) होता है । दो अंगुल को ही मध्य भाग में बतलाते हैं—मध्य में शूलाग्रवैपुल्य से । समान रूप से सर्वत्र दो अंगुल का वैपुल्य नहीं होता—यह कहते हैं—नीचे एक अंगुल का (वैपुल्य होता है)। इससे कटि के अन्त से अर्ध

शूलाग्रं वर्तयति—ऊर्ध्वत इत्यादिना । तदनन्तरं पुनरूर्ध्वभागे वैपुल्यात् चतुरंगुला वक्ष्यमाणद्वादशांगुलपद्मत्रयस्थितेः सर्वतो हस्तमात्रक्षेत्रग्रहणस्य च अन्यथा अनुपपत्त्या शूलक्षेत्रपार्श्वान्तं यावदुच्छ्रायात् षडंगुलसार्धभागप्रमाणा अर्थात् वेदी कटिररा वा पार्श्वद्वयेऽपि कार्या—इत्यर्थः । एवं पार्श्वशृङ्गमपि वर्तयति—गण्डीत्यादिना । प्रथममरात्रयग्रथकं पीठोर्ध्वे भागद्वयसंमितोत्सेधगण्डिकात्मकं शूलमूलं कार्यम्, अनन्तरमग्रे वैपुल्यादंगुलम्, अत एव सुतीक्ष्णं तृतीयभागोर्ध्वां-गुलद्वयत्यागात् षडंगुलं मध्येऽधश्च तावन्मानम्, इत्येवमर्धेन्दुद्वयकोटी यावत् दैर्घ्यादष्टादशांगुलं मध्यशृङ्गं स्यात् ॥

अत्रैव वैपुल्यमाह—

चतुरंगुलनिम्नं तु मध्यं तु परिकल्पयेत् ॥ ११३ ॥
पूर्वापरं तदेवेह मध्ये शूलं तु तद्बहिः ।
कारयेत त्रिभिः सूत्रैरेकैकं वर्तयेत च ॥ ११४ ॥
कजत्रयं तु शूलाग्रं वेदांशैर्द्वादशांगुलम् ।
क्रमाद्दक्षान्यमध्येषु त्र्यष्टद्वादशपत्रकम् ॥ ११५ ॥

चन्द्र तक क्रमशः एक अंगुल तक ह्रास करे । अब शूलाग्रवर्तना बतलाते हैं—ऊर्ध्व भाग में.........। इसके बाद पुनः ऊर्ध्व भाग में चार अंगुल वैपुल्य वाली वक्ष्यमाण बारह अंगुल तीन कमलों की स्थिति से सर्वतः एक हाथ परिमित क्षेत्रग्रहण की अन्यथा उपपत्ति (= सिद्धि) न होने से शूलक्षेत्र के पास तक साढ़े छह अंगुल ऊँची वेदी कटि अथवा अरा दोनों ओर बनानी चाहिये ।

इस प्रकार दोनों ओर दो शृङ्गवर्तनाओं का कथन कर गण्डी इत्यादि के द्वारा मध्य शृङ्गवर्तना को बतलाते हैं—

पहले तीन अराओं को जोड़ने वाला पीठ के ऊपरी दोनों भाग की ऊँचाई के बराबर ऊँची गण्डिका वाला शूलमूल बनाना चाहिये । बाद में आगे की ओर एक अंगुल वैपुल्य वाला इसलिये सुतीक्ष्ण तृतीय भाग के ऊपर दो अंगुल छोड़ कर छह अंगुल वाला, मध्य में और नीचे भी उतने ही परिमाण वाला (मूलपीठ बनाये)। इस प्रकार अर्धचन्द्र की दो कोटियों तक अठारह अंगुल लम्बा मध्यशृङ्ग होगा ॥

यहाँ वैपुल्य को बतलाते हैं—

चार अंगुल निम्न मध्य भाग को बनाना चाहिये । पूर्वापर भी वही होना चाहिये । यहाँ उसके बाहर मध्य में शूल बनाये । तीन सूत्रों से एक-एक वर्तना करे । शूल का अग्रभाग तीन कमलों वाला (होना चाहिये)। वह चार-चार अंशों से बारह अंगुल का (होना चाहिये) । (वह कमल) दायें-बायें एवं मध्य में क्रमशः तीन आठ और बारह पत्रों (=

चक्रत्रयं वातपुरं पद्ममष्टांगुलारकम् ।
विद्याभिख्यं शूलमूले रजः पश्चात्प्रपातयेत् ॥ ११६ ॥
त्रिशूलं दण्डपर्यन्तं राजवर्तेन पूरयेत् ।
सूत्रत्रयस्य पृष्ठे तु शुक्लं चारात्रयं भवेत् ॥ ११७ ॥
शुक्लेन रजसा शूलमूले विद्याम्बुजं भवेत् ।
रक्तं रक्तासितं शुक्लं क्रमादूर्ध्वाम्बुजत्रयम् ॥ ११८ ॥
शुक्लेन व्योमरेखा स्यात् सा स्थौल्यादंगुलं बहिः ।
तां त्यक्त्वा वेदिका कार्या हस्तमात्रं प्रमाणतः ॥ ११९ ॥
वैपुल्यत्रिगुणं दैर्ध्यात् प्राकारं चतुरश्रकम् ।
समन्ततोऽथ दिक्षु स्युर्द्वाराणि करमात्रतः ॥ १२० ॥
त्रिधा विभज्य क्रमशो द्वादशांगुलमानतः ।
कण्ठं कपोलं शोभां तु उपशोभां तदन्ततः ॥ १२१ ॥
प्राकारं चतुरश्रं तु सभूरेखासमन्वितम् ।
सितरक्तपीतकृष्णौ रजोभिः कारयेत्ततः ॥ १२२ ॥
रक्तै रजोभिर्मध्यं तु यथाशोभं तु पूरयेत् ।
अस्या व्याप्तौ पुरा चोक्तं तत्रैवानुसरेच्च तत् ॥ १२३ ॥

तदेवं मध्यशूलमधिकृत्य चतुर्भ्योऽंगुलेभ्यो यथायथं निम्नं मध्यभागं पूर्वापरं

पंखुड़ियों) वाला हो । तीन चक्र, वातपुर और कमल आठ अंगुल अरों वाला हो (ये कमल) विद्यानामक शूल कहे जाते हैं । बाद में शूलमूल में धूल गिरानी चाहिये । त्रिशूल को दण्डपर्यन्त लाजवर्त्त (के चूर्ण) से भरना चाहिये । तीन सूत्रों के पृष्ठ में तीन शुक्ल अरायें होनी चाहिये । शूल के मूल में शुक्ल रज से विद्याकमल लिखे । ऊपर तीन कमल क्रमशः रक्त कपिल एवं शुक्ल होगा । व्योम रेखा शुक्ल (रज) से लिखित होगी और वह स्थूलता के कारण एक अंगुल बारह रहेगी । उसको छोड़कर एक हाथ प्रमाण वाली वेदी बनानी चाहिये चारो ओर उसका तीन गुना वैपुल्य वाला चौकोर प्राकार होगा और दिशाओं में एक हाथ चौड़े द्वार होंगे । क्रमशः तीन भागों में बाँट कर बारह अंगुल परिमाण वाले कण्ठ कपोल और शोभा बनाये । उसके अन्त में उपशोभा बनाये । श्वेत रक्तपीत एवं कृष्ण धूलों (= चूर्णों) से सभूरेखा (= भूरेखासहित) से युक्त चौकोर प्राकार (= लकड़ी का घेरा) बनाये । फिर रक्त रजों से मध्य को शोभा के अनुसार पूरित करे । इसकी व्याप्ति के विषय में पहले कहा जा चुका है । वहाँ उसी का अनुसरण करे ॥ -११३-१२३ ॥

तो इस प्रकार मध्यशूल के आधार पर चार अंगुलों से क्रमशः नीचा मध्य पूर्व

परिकल्पयेत्—इति संबन्धः । अयमत्र अर्थः—अर्धेन्दुद्वयकोट्युपरि यावत् गण्डिकाक्रोडीकारस्तावत् चतुरंगुलवैपुल्यम्, मध्यभागारम्भात्प्रभृति चतुर्णामंगुलानां यथायथमंगुलावशेषो ह्रास इति । अरोपरि पद्मत्रयवर्तनामाह—तद्बहिरित्यादि । तद्बहिरित्यधिकक्षेत्रसंग्रहेणापि शूलाग्रेषु त्रिभिर्भ्रमैः पद्मत्रयं कुर्यात्, एकैकं च द्वादशांगुलं चतुर्भिश्चतुर्भिर्वर्तयेत्—इति वाक्यार्थः । अष्टांगुलारकमिति—अष्टांगुलं अष्टदलं च अरात्रयमिति दण्डसंबन्धि । रक्तासितमिति—कृष्णपिङ्गलम् । क्रमादिति—प्रागुक्तेषु दक्षवाममध्येषु । व्योमरेखेति—विद्यापद्मसंबन्धिनी । क्रमशस्त्रिधा विभज्येति—प्रतिभागम् । पुरेति—त्रित्रिशूलाभिधानावसरे । तदनुसृतिमेव किञ्चिद् व्यनक्ति ॥ १२३ ॥

तदेव आह—

अरात्रयविभागस्तु प्रवेशो निर्गमो भ्रमः ।
अनाहतपदव्याप्तिः कुण्डल्या उदयः परः ॥ १२४ ॥
हृदि स्थाने गता देव्यस्त्रिशूलस्य सुमध्यमे ।
नाभिस्थः शूलदण्डस्तु शूलमूलं हृदि स्थितम् ॥ १२५ ॥
शक्तिस्थानगतं प्रान्तं प्रान्ते चक्रत्रयं स्मरेत् ।

अनाहतेति—प्रवेशनिर्गमभ्रमात्मनोऽरासंनिवेशस्य एतदाकारत्वात् । ईदृगेव

एवं पर भाग बनाये—यह अन्वय है । यहाँ यह अर्थ है—अर्धचन्द्र के दोनों छोरों पर जहाँ तक गणिका का—घेरा है वहाँ तक चार अंगुल वैपुल्य (= विस्तार) वाला । मध्य भाग के आरम्भ से लेकर चार अंगुलों का क्रमशः ह्रास जो एक अंगुल तक रहेगा । अरों के ऊपर तीन कमलों की वर्तना बतलाते हैं—उसके बाहर...... । उसके बाहर—इसका अर्थ है कि अधिक क्षेत्र के संग्रह से भी शूलाग्रों में तीन भ्रमों के द्वारा तीन कमल बनाने चाहिये । और एक-एक द्वादशांगुल की चार-चार वर्तना करनी चाहिये । आठ अंगुल अरों वाला—आठ अंगुल और आठ दलों वाले दण्ड से सम्बन्धी तीन अरायें । रक्तासित—कालापिङ्गल । क्रम से—पूर्वोक्त दायें-बायें और मध्य में । व्योमरेखा—विद्याकमल-सम्बन्धिनी । क्रमशः तीन भागों में बाँट कर—एक-एक भाग को । पहले—तीन त्रिशूल के कथन के अवसर पर । उसके अनुसरण को ही कुछ स्पष्ट करते हैं ॥ १२३ ॥

वही कहते हैं—

तीन अराओं का विभाग तो प्रवेश, निर्गम, भ्रम, अनाहतपदव्याप्ति (और) अन्तिम है—कुण्डली का उद्बोध । हे सुमध्यमे ! त्रिशूल के हृदयस्थल में देवियाँ रहती है । शूल दण्ड (त्रिशूल की) नाभि में स्थित है एवं शूलमूल हृदय में स्थित है । द्वादशान्त शक्तिस्थान में है और तीन चक्रों को द्वादशान्त में जानना चाहिये ॥ १२४-१२६- ॥

कुण्डलिनीरूपायाः शक्तेः प्रबोधः इति उक्तम्—कुण्डल्या उदयः पर इति । हृदि स्थाने गता इति—इच्छादीनामराररूपतया उल्लासात् । नाभिस्थ इति—तत एव प्राणशक्तेर्दण्डाकारतया उदयात् । हृदीति

'हृदयं शक्तिसूत्रं तु........................।'

इत्याद्युक्त्या शक्त्युदयस्थाने जन्माधारे । अत एव आह—शक्तिस्थानगतं प्रान्तमिति । प्रान्ते इति—द्वादशान्ते ॥

जन्माधारात् द्वादशान्तं यावदुदये युक्तिमाह—

उत्क्षिप्योत्क्षिप्य कलया देहमध्यस्वरूपतः ॥ १२६ ॥
शूलदण्डान्तमध्यस्थशूलमध्यान्तगोचरम् ।
प्रविशेन्मूलमध्यान्तं प्रान्तान्ते शक्तिवेश्मनि ॥ १२७ ॥

एतदपि कथम्?—इत्याशङ्क्य आह—

अस्पन्दकरणं कृत्वा एकदा स्पन्दवर्तनम् ।
मूलमानन्दमापीड्य शक्तित्रयपदं विशेत् ॥ १२८ ॥

अनाहत—प्रवेश निर्गम भ्रम रूप अरासन्निवेश के इस आकार का होने के कारण अनाहत पद की व्याप्ति होती है । कुण्डली रूप शक्ति का प्रबोध भी ऐसा ही है, इसलिये कहा गया—कुण्डलीरूप शक्ति का प्रबोध भी ऐसा ही है, इसलिये कहा गया—कुण्डली का उदय अन्तिम है । हृदय स्थान में स्थित—इच्छा आदि का अरारूप से उल्लास होने के कारण । नाभि में स्थित—क्योंकि वहीं से प्राणशक्ति दण्ड के आकार में उठती है । हृदय में—

'हृदय शक्तिसूत्र तो...............।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार शक्ति के उदयस्थान जन्म के आधार (= मूलाधार) में । इसलिये कहते हैं—प्रान्त शक्ति स्थान में है । प्रान्त में = द्वादशान्त में ॥

मूलाधार से द्वादशान्त तक (प्राण के) उदय में युक्ति बतलाते हैं—

कलाक्रम के द्वारा प्राणरूपी शूलदण्ड को ऊपर-ऊपर उठाकर देहमध्य (= सुषुम्ना और मेरुदण्ड) स्वरूप से दण्डान्त (= ब्रह्मरन्ध्र) मध्यस्थशूल मध्यान्त तक जाने वाला, मूल मध्य एवं अन्त तक, शक्तिवेश्म = द्वादशान्त में प्रवेश कराये ॥ -१२६-१२७ ॥

यह भी कैसे होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अस्पन्दकरण कर (= स्थिर होकर) एक बार स्पन्दन करे । गुदप्रदेश जो कि आनन्द रूप है, को थोड़ा पीड़ित कर शक्तित्रय वाले स्थान में

तत्र पूज्यं प्रयत्नेन जायन्ते सर्वसिद्धयः ।
समस्ताध्वसमायोगात् षोढाध्वव्याप्तिभावतः ॥ १२९ ॥
समस्तमन्त्रचक्राद्यैरेवमादिप्रयत्नतः ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वरचितं त्रिशूलं परिभावयेत् ॥ १३० ॥
विषुवत्स्थेन विन्यासो मन्त्राणां मण्डलोत्तमे ।
कार्योऽस्मिन् पूजिते यत्र सर्वेश्वरपदं भजेत्॥ १३१ ॥

मूलमिति—मत्तगन्धात्मकम् । विषुवत्स्थेनेति—प्राणसाम्येन—इत्यर्थः ॥१३१॥

एवं शूलाब्जभेदमभिधाय व्योमेशस्वस्तिकं निरूपयति—

स्वस्तिकेनाथ कर्तव्यं युक्तं तस्योच्यते विधिः ।

कर्तव्यमिति—

'अथ मण्डलसद्भावः संक्षेपेणाभिधीयते ।' (१)

इत्युक्तिसामर्थ्यात् मण्डलम् । स्वस्तिकेन युक्तमिति—स्वस्तिकयोगात् तत्संज्ञम्—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'भगवन् मातृचक्रेश उन्मनाश्रयदायक ।

प्रवेश करे । वहाँ प्रयत्नपूर्वक पूजन करे । इससे समस्त सिद्धियाँ मिलती हैं । समस्त अध्वा के समायोग से षडध्व की व्याप्ति की भावना के साथ समस्त मन्त्र चक्र आदि के द्वारा इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक छत्तीस तत्त्वों से रचित त्रिशूल की भावना करनी चाहिये । विषुवत् स्थित (प्राणसाम्य) के द्वारा मन्त्रों के उत्तम मण्डल में न्यास करे । इस (= मन्त्रमण्डल) की पूजा होने पर सर्वेश्वर पद मिलता है ॥ १२८-१३१ ॥

मूल = मत्तगन्ध रूप । विषुवत् में स्थित—प्राणसाम्य के कारण ॥ १३१ ॥

इस प्रकार शूलाब्जभेद का कथन कर व्योमेश स्वस्तिक का निरूपण करते हैं—

इसके बाद स्वस्तिक से युक्त स्वस्तिक नामक मण्डल बनाये । उसका विधि कही जाती है ॥ १३२- ॥

करना चाहिये—

'अब संक्षेप के मण्डलसद्भाव कहा जाता है ।'

इस उक्ति के सामर्थ्य से उक्तश्लोकार्द्ध में 'मण्डल' कर्म है । स्वस्तिक से युक्त = स्वस्तिक का योग होने से उस नाम वाला । जैसा कि कहा गया—

'हे भगवन् ! मातृचक्रेश ! उन्मना में आश्रय देने वाले परमेश्वर ! आपने

शान्तिपुष्टिकरं धन्यं स्वस्तिकं सर्वकामदम् ॥
सूचितं सर्वतन्त्रेषु न चोक्तं परमेश्वर।
तस्य सूत्राणि लोपाच्च भ्रमपङ्कजकल्पनाम् ॥
वद विघ्नौघशमनमाप्यायनकरं महत्।' इति ॥

व्योमेशस्वस्तिकतायां तु

'महाव्योमेशलिङ्गस्य देहधूपं समर्पयेत् ॥'

इत्याद्युक्त्या अन्वर्थव्योमेशशब्दव्यपदेश्येन नवात्मभट्टारकेण अधिष्ठेयत्वं निरूपयितुं तद्विधिमेव आह—

नाडिकाः स्थापयेत्पूर्वं मुहूर्तं परिमाणतः ॥ १३२ ॥
शक्रवारुणदिक्स्थाश्च याम्यसौम्यगतास्तथा।

नाडिकाः—सूत्राणि । मुहूर्तेति—त्रिंशत् । शक्रेति—पूर्वापरायताः । याम्येति—दक्षिणोत्तरायताः ॥

एवञ्च किं स्यात्?—इत्याह—

एकोनत्रिंशद्वंशाः स्युर्ऋजुतिर्यग्गतास्तथा ॥ १३३ ॥

वंशाः = भागाः । ऋज्विति—पूर्वापरगताः, तिर्यगिति—दक्षिणोत्तर-

शान्ति पुष्टिकर सर्वकामद समस्त तन्त्रों में सूचित धन्य स्वस्तिक की चर्चा नहीं की। उसके लोप के कारण सूत्र भ्रमपङ्कज की कल्पना को बतलाइये जो कि विघ्नसमूह की नाशक और अत्यन्त पुष्टिकर है' ॥

व्योमेशस्वस्तिकता में तो—

'महाव्योमेश लिङ्ग को देहरूपी धूप समर्पित करे।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार अन्वर्थ व्योमेश शब्द से व्यवहार्य नवात्म भट्टारक की अधिष्ठेयता का निरूपण करने के लिये उसकी विधि को ही बतलाते हैं—

पहले मुहूर्त्त (= तीस संख्या) परिमाण की नाडिकायें (= धागे) (पटल पर) स्थापित करे जो कि पूर्व पश्चिम तथा दक्षिण उत्तर दिशाओं में स्थित हों (धागों के रखने से ३० रेखायें बनेगी) ॥ -१३२-१३३- ॥

नाडिकायें = सूत्र । मुहूर्त्त = तीस । शक्र......... पूर्व से पश्चिम की ओर फैली । याम्य........ दक्षिण से उत्तर की ओर फैली ॥

ऐसा होने पर क्या होगा?—यह कहते हैं—

इस प्रकार (पटल पर) खड़े-खड़े और तिरछे-तिरछे उन्तीस भाग होंगे ॥ -१३३ ॥

गता: ॥ १३३ ॥

एतदेव हृदयङ्गमीकरणाय सङ्कलयति—

अष्टौ मर्मशतान्येकचत्वारिंशच्च जायते ।

मर्मेति—भागा: । एवं हि एकोनत्रिंशतेरेकोनत्रिंशत्यैव गुणने भवेत् ॥

एतदेव विभजति—

वंशैर्विषयसंख्यैश्च पद्मं युग्मेन्दुमण्डलम् ॥ १३४ ॥
रससंख्यैर्भवेत्पीठं स्वस्तिकं सर्वकामदम् ।
वसुसंख्यैर्द्वारवीथावेवं भागपरिक्रमः ॥ १३५ ॥

विषयेति—पञ्च । एतच्च सर्वत:, येन प्रतिपार्श्वं सार्धं भागद्वयं स्यात् । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । पद्मस्यैव विशेषणं युग्मेन्दुमण्डलमिति स्वस्तिकमिति । तद्योगादत्रैव प्राधान्यमभिव्यक्तुं सर्वकामदमिति उक्तम् । तेन पञ्चभिर्भागै: पद्मम्, द्वाभ्यामिन्दुमण्डलम्, षड्भि: पीठम्, अष्टभिर्वीथी, अष्टभिश्च द्वारमिति एकोनत्रिंशत् भागा इति उक्तम्—एवं भागपरिक्रम इति ॥ १३५ ॥

वंश = भाग । ऋजु = पूर्व पश्चिम पड़े हुये । तिर्यक् = दक्षिण उत्तर पड़े हुये ॥ १३३ ॥

इसी को हृदयंगम करने के लिये संकलित करते हैं—

(इस प्रकार २९ × २९ = ८४१) आठ सौ इकतालिस भाग होंगे ॥ १३४- ॥

मर्म = भाग । ऐसा उन्तीस का उन्तीस से ही गुणा करने पर होगा ॥

इसी का विभाग करते हैं—

विषय (= पाँच) संख्या वाले भागों के द्वारा कमल, दो के द्वारा चन्द्रमण्डल बनेगा । छह संख्या वाले से पीठ जो कि सर्वकामप्रद है स्वस्तिक बनेगा । आठ संख्या वाले के द्वारा वीथी एवं (आठ भागों के ही द्वारा) द्वार । इस प्रकार भाग का परिक्रम (= विभजन) है ॥ -१३४-१३५ ॥

विषय = पाँच (= गन्ध रस रूप स्पर्श और शब्द) । यह चारो ओर से बनेगा जिससे हर एक पार्श्व में ढाई भाग रहेगा । ऐसा ही आगे भी समझना चाहिये । युग्मेन्दुमण्डल एवं स्वस्तिक यह पद्म का ही विशेषण है । उससे इसी की प्रधानता को व्यक्त करने के लिये, सर्वकामदम्' कहा गया । इससे पाँच भागों के द्वारा पद्म, दो से चन्द्रमण्डल, छह से पीठ, आठ से वीथी और आठ से द्वार । इस प्रकार (५+२+६+८+८ =) उन्तीस भाग हैं यह कहा गया—ऐसा भाग का

तत्र द्वारं तावत् वर्तयति—

रन्ध्रविप्रशराग्नींश्च लुप्येद्बाह्यान्तरं क्रमात् ।
मर्माणि च चतुर्दिक्षु मध्याद् द्वारेषु सुन्दरि ॥ १३६ ॥
वह्निभूतमुनिव्योमबाह्यगर्भे पुरीषु च ।
लोपयेच्चैव मर्माणि अन्तर्नाडिविवर्जितान् ॥ १३७ ॥

रन्ध्राणि = नव, विप्राः = ऋषयः सप्त, शराः = पञ्च, अग्नयः = त्रयः । अत्र मध्यमधिकृत्य चतुर्षु अपि द्वारेषु बाह्यादारभ्य अन्तर्यावत् क्रमेण रन्ध्रादिसंख्याका भागा लोप्याः, येन अत्र मेर्वाख्यप्रासादविशेषतलच्छन्दाकार-संनिवेशः स्यात् । भूतानि = पञ्च, व्योमेति शून्याकारतया रन्ध्राणि लक्षयति, तेन उभयोरपि द्वारपार्श्वयोर्बाह्यादारभ्य अभ्यन्तरं यावत् वह्न्यादिभागजातं लोपयेत्, येन द्वारप्राय एव अन्तर्मुखः पुर्याकारः संनिवेशः स्यात् ॥

एवं दिक्चतुष्टये वर्तनामभिधाय कोणेषु अपि आह—

द्वारप्राकारकोणेषु नेत्रानलशरानृतून् ।

नेत्रे = द्वे, ऋतवः = षट् । एवं द्वारकोणेषु एकैकभागपरिहारेण द्वित्रिपञ्च-

---

क्रम है ॥ १३५ ॥

उनमें से द्वारवर्तना कहते हैं—

हे सुन्दरी ! बाहर से लेकर भीतर तक क्रमशः नव सात पाँच और तीन भागों का लोप करें । (यह लोप) मध्य से लेकर चारो दिशाओं के द्वारों में होगा । फिर बाह्य गर्भ और पुरियों में (क्रम से) तीन पाँच सात और नव भाग का लोप करे ॥ १३६-१३७ ॥

रन्ध्र = नव, विप्र = ऋषि = सात, शर = पाँच, अग्नि = तीन । यहाँ मध्य से लेकर चारो द्वारों में बाहर से लेकर भीतर तक क्रम से नव आदि संख्या वाले भागों का लोप होना चाहिये जिससे यहाँ मेरु नामक प्रासादविशेष के तलच्छन्द वाले आकार का सन्निवेश (= रचना) हो । भूत = पाँच । व्योम—इससे शून्य आकार होने के कारण रन्ध्र (= नव संख्या) को सङ्केतित करते हैं । इससे दोनों ही द्वारपार्श्वों में बाहर से लेकर भीतर तक तीन आदि भागों का लोप करे जिससे द्वार के समान ही अन्तर्मुख पुरी के आकार वाला सन्निवेश हो ॥

चारो दिशाओं में वर्तना का कथन कर कोणों में भी (उसे) कहते हैं—

भीतर की नाडिकाओं को छोड़कर द्वाराप्राकार कोणों में दो तीन पाँच और छह (भागों का लोप करे) ॥ १३८- ॥

नेत्र = दो, ऋतु = छह । इस प्रकार द्वारकोणों में एक-एक भाग को छोड़ते

संख्याकान् भागानन्तरारभ्य लोपयेत्, ऋतुसंख्याकांस्तु पृथगुपादानादेव निरवशेषान् यदुभयदिगुद्भूतशोभाद्वयसंभेदात् कोणेषु गोमूत्रिकाबन्धप्राय: संनिवेश उदियात्—इति द्वारसन्धि: ॥

इदानीं वीथीं वर्तयितुमाह—

नाडयो ब्रह्मवंशस्य लोप्या नेत्राद्रसस्थिता: ॥ १३८ ॥
वह्नेर्नेत्रानलौ लोप्यौ वेदान्नेत्रयुगं रसात् ।
नेत्रं सौम्यगतं लोप्यं पूर्वाद्विदानलौ रसात् ॥ १३९ ॥

तत्र द्वारे लग्नस्य ब्रह्मवंशस्य दक्षिणपार्श्वे यत् नेत्रं द्वितीयो भाग:, तत आरभ्य रसस्थिता: षड्भागा लोप्या:, तदुपरि वह्नेस्तृतीयादारभ्य नेत्रानलौ पञ्च भागा:—इत्यर्थ:; तदुपर्यपि वेदात् चतुर्थादारभ्य नेत्रं च युगं च नेत्रयोर्युगं वेति चत्वार:, तदुपर्यपि रसात् षष्ठादारभ्य नेत्रं भागद्वयं लोप्यम्—इत्यर्थ: । एतदेव वामपार्श्वेऽपि अतिदिशति **सौम्येत्यादिना** । एवं सौम्यगतमपि पूर्वात्—प्रथमं निर्दिष्टात् नेत्रात्—द्वितीयभागात् **'पाठक्रमादर्थक्रमो** बलीयान्' इति नीत्या अनलात्—तृतीयात् वेदात्—चतुर्थात् रसात्— षष्ठात् च आरभ्य भागजातं

हुये दो तीन पाँच संख्या वाले भागों का भीतर से लेकर बाहर तक लोप करे । 'ऋतून्' ऐसा पृथक् पाठ करने से (समझना चाहिये कि) निरवशेष (= सभी भागों का) । दोनों दिशाओं में उद्भूत दो शोभाओं के संभेद से कोणों में गोमूत्रिका बन्ध जैसा सन्निवेश बनेगा । यह द्वारसन्धि है ॥

अब वीथीवर्तना कहते हैं—

(दक्षिण पार्श्व में) ब्रह्मवंश की दो से लेकर छह तक की नाडिकाओं का लोप करे । (इसके बाद) तीसरे (भाग) से लेकर पाँच (नाडिकायें) लोपनीय हैं । चौथे (भाग) से चार और छठें से दो (नाड़िकाओं का लोप करे) । इसी प्रकार उत्तर की ओर भी पूर्वक्रम से दो चार तीन छह से (आरम्भ कर) भागों का लोप करे ॥ -१३८-१३९ ॥

द्वार में लग्न ब्रह्मवंश के दक्षिणपार्श्व में जो नेत्र = द्वितीय भाग, वहाँ से लेकर रस स्थित = छह भाग, लोप्य हैं । उसके ऊपर वह्नि = तृतीय, से आरम्भ कर, नेत्र अनल (२+३) = पाँच भाग लोप्य हैं । उसके भी ऊपर वेद = चतुर्थ से आरम्भ कर के नेत्र और युग अथवा नेत्रों का युग = चार, उसके ऊपर भी रस = छठें से आरम्भ कर नेत्र = दो भाग का लोप करे । इसी को 'सौम्य' इत्यादि (कथन) से बायें पार्श्व में भी अतिदिष्ट करते हैं—

इस प्रकार सौम्य (= उत्तर) की ओर भी पूर्व = पहले निर्दिष्ट, नेत्र = द्वितीय भाग से । 'पाठक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम बलवान् होता है' इस नीति से अनल = तृतीय, वेद = चतुर्थ, रस = छठें से आरम्भ कर भागसमूह लोप्य हैं । वक्ष्यमाण

लोप्यम्—इत्यर्थः । वक्ष्यमाणसकलवीथीक्षेत्रसंमार्जनानुसरणात् तदन्तरपि लोप-सिद्धिः ॥ १३९ ॥

एवं पुरीसंनिवेशं वर्तयित्वा स्वस्तिकवर्तनामपि आह—

लोकस्था नाडिका हित्वा नेत्राद्वेदाग्नयः क्रमात्।
शरैर्वह्निगतं चैव युगं नेत्राग्नयो रसात् ॥ १४० ॥
नेत्रात् पूर्वगताच्चैव.......................... ।

ब्रह्मवंशादारभ्य लोकस्थान् सप्त भागान् परित्यज्य यत् नेत्रं नवमो भागस्तमाश्रित्य वेदाश्च तत्संनिकृष्टं त्रयं चेति चत्वारो भागा वक्ष्यमाणलोपदृष्ट्या स्वस्तिकैकाङ्गतया शोभाकारा लोप्याः । तदनन्तरं नेत्रशब्दव्यपदिष्टात् नवमात् भागादारभ्य शरैरित्युक्तेन प्रत्यावृत्त्या द्वितीयपङ्क्तिगतेन पञ्चमेन भागेन सह अग्नयः = त्रयो भागा लोप्याः ।

सैष दाशरथी रामः .... ।'

इतिवत् वेदाग्नय इत्यत्र सन्धिः । शरशब्दव्यपदिष्टादपि यत् युग्मं द्वितीयो भागस्तं वह्नियुतं भागत्रयेण सह लोपयेत्—इत्यर्थः । क्रमात् ततोऽपि पूर्वात्

समस्त वीथीक्षेत्र के सम्मार्जन का अनुसरण करने से उसके बाद भी लोप की सिद्धि होती है ॥ १३९ ॥

इस प्रकार पुरीसंनिवेश की वर्तना को बतला कर स्वस्तिकवर्तना को कहते हैं—

लोकस्थ (= सात) नाडियों का लोप करने के बाद (उससे) नेत्र (= दो = नवम भाग) तथा क्रमशः वेद (= चार) और अग्नि (= तीन) नाड़िकाओं को छोड़कर उससे पहले शर (= पाँच) वह्नि (= तीन) युग (= चार) नेत्र (= दो) अग्नि (= तीन) और रस (= छह) (भागों का लोप करे) ॥ १४०-१४१- ॥

ब्रह्मवंश से प्रारम्भ कर लोकस्थ = सात भागों को छोड़कर जो नेत्र (= सात के बाद दूसरा =) नवम भाग, उसको आधार बना कर वेद (= चार) और उससे सन्निकृष्ट तीन (इस प्रकार सात, नव, चार, तीन इन) चार भागों का जो कि वक्ष्यमाण लोप की दृष्टि से स्वस्तिक एकांग के रूप में शोभाधायक हैं, का लोप करे । उसके बाद नेत्रशब्द से उक्त नवम भाग से आरम्भ कर शरैः = इस वचन के अनुसार विपरीत क्रम से द्वितीय पंक्तिगत पञ्चम भाग के साथ अग्नि = तीन भाग, लोप्य हैं ।

'सैष दाशदथी रामः' की भाँति 'वेदाग्नयः' यहाँ सन्धि है (जैसे 'सः' 'एष' यहाँ 'सः' के विसर्ग का लोप होकर फिर वृद्धिसन्धि की गयी है उसी प्रकार 'वेदाः'

युगशब्दव्यपदिष्टात् नेत्रादवशिष्टात् नेत्रं द्वितीयो भागोऽग्नयस्त्रयो भागाश्च लोप्या इति स्वस्तिकसिद्धिः । एवं दिगन्तरेष्वपि ज्ञेयम् । अत्र पीठे च पूर्वतः स्वस्तिकद्वयं वर्तयित्वा पश्चिमतो वर्तनीयं येन सर्वतः संनिवेशस्य सादृश्यं स्यात् ॥

एतच्च उभयमपि संनिवेशं प्रदर्शयन्नुपसंहरति—

...........................सुमेरुर्द्वार संज्ञितः ।
स्वस्तिका च पुरी रम्या चतुर्दिक्षु स्थितावुभौ ॥ १४१ ॥

उभाविति—स्वस्तिकापुरीसुमेरू ॥ १४१ ॥

ननु कियति भागजाते वीथीलोपना भवेत्?—इत्याशङ्क्य आह—

मर्मणां च शते द्वे च ऋषिभिर्गुणिता दिशः ।
नेत्रादिकांश्च संमार्ज्य मार्गमध्यात् सुशोभने ॥ १४२ ॥

दिश इति—दश, ऋषिभिः सप्तभिर्गुणिताः सप्ततिर्जायन्ते । नेत्रे = द्वे । तेन द्वासप्तत्यधिकशतद्वयात्मनि वीथीक्षेत्रे लोपनां कृत्वा गुरुः स्वस्तिकापुर्याख्यां वीथीं वर्तयेत्—इति शेषः ॥ १४२ ॥

'अग्नयः' यहाँ पर भी 'वेदाः' के विसर्ग का लोप कर सन्धि हुई है)। व्यवहृत शर शब्द से जो युग्म = दूसरा भाग, उसका वह्नियुत = तीन भाग, के साथ लोप करे। क्रमशः उससे भी पूर्व युग शब्द से व्यपदिष्ट, नेत्र से अवशिष्ट, नेत्र = द्वितीय भाग और अग्नि = तीन भाग, का लोप करे । इस प्रकार स्वस्तिक की सिद्धि होती है । इसी प्रकार दूसरी दिशाओं के बारे में भी जानना चाहिये । इस पीठ में पूर्व की दिशा में दो स्वस्तिक बनाकर पश्चिम से भी बनाना चाहिये जिससे सब ओर समान सन्निवेश हो जाय ॥

इन दोनों सन्निवेशों को प्रदर्शित करते हुये उपसंहार करते हैं—

सुमेरु को द्वार कहते हैं । (यह द्वार) तथा रम्य स्वस्तिकापुरी, दोनों चारो दिशाओं में स्थित होते हैं ॥ -१४१ ॥

दोनों—स्वस्तिकापुरी और सुमेरु ॥ १४१ ॥

प्रश्न—कितने भागसमूह में वीथीलोपना होती है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

हे सुशोभने ! मार्ग के मध्य से मर्मो का दो सौ और दिशाओं (= दश) का ऋषि (= सात) से गुणा करने पर (१०×७ = सत्तर) तथा नेत्र (= दो, इस प्रकार २७२) का लोपकर (गुरुवीथी बनाये) ॥ १४२ ॥

दिशायें = दश । ऋषि के द्वारा = सात से । गुणित होने पर सत्तर होते हैं । नेत्र = दो । इस प्रकार बहत्तर अधिक दो सौ वाले वीथीक्षेत्र में लोप कर गुरु स्वस्तिकापुरी नामक वीथी बनाये ॥ १४२ ॥

इदानीं पद्मं वर्तयति—

ऋषित्रयकृते मध्ये विषयैः कर्णिका भवेत् ।

ऋषित्रयकृते इति एकविंशतिधा विभक्ते—इत्यर्थः ॥

एतदेव विभजति—

नेत्रीकृतान्वसून् पत्रं नेत्रं सकृद्विभाजितम् ॥ १४३ ॥
वह्निं वसुगतं कृत्वा शशाङ्कस्थांश्च लोपयेत् ।

नेत्रीकृतानिति—द्विगुणीकृतान् । सर्वतो हि कर्णिकार्थं परिकल्पितात् भागपञ्चकादवशिष्टाः षोडशैव भागाः पत्रवर्तनार्थं भवन्ति—इति भावः । प्रतिदिक्कं हि सप्तभागान्तं दलाग्रस्य वर्तयिष्यमाणत्वात् सव्योमरेखमष्टभिरेव भागैः पत्रं स्यात् । कथम् ?—इत्याह—नेत्रमित्यादि । नेत्रमिति—द्वितीयं भागम् । सकृद्विभाजितमिति—एकेनैव सूत्रेण द्विधाकृतम्—इत्यर्थः । एवं वह्निम्—तृतीयं भागम् । तदेतद्भागद्वयं वसुगतं सकलक्षेत्रपर्यन्तं द्विधा विधाय शशाङ्कस्थान् लोपयेत्—केसरदलसन्धिदलाग्रसंपत्तये शशाङ्काकारं भ्रमत्रयं दद्यात्—इत्यर्थः ॥

अब पद्मवर्तना कहते हैं—

मध्य के ऋषित्रयकृत (ऋषि = ७ का त्रय = × ३ = २१) होने पर ॥ १४३- ॥

ऋषित्रयकृत होने पर = इक्कीस भाग करने पर ॥

इसी का विभाग करते हैं—

विषयों (= पाँच, भागों) से कर्णिका बनती है । वसुओं (= आठ) को नेत्रीकृत (= दो गुना) होने पर (= सोलह) पत्र (बनता है) । नेत्र (= द्वितीय भाग) को एक बार विभक्त कर वह्नि (= तृतीय भाग) को वसुगत (= सम्पूर्ण क्षेत्र तक पहुँचा) कर शशाङ्कस्थ का लोप करे ॥ -१४३-१४४- ॥

नेत्रीकृत = दो गुना कर । सब ओर से कर्णिका के लिये परिकल्पित पाँच भागों से अवशिष्ट सोलह ही भाग पत्र बनाने के लिये होते हैं । प्रत्येक दिशा में सात भाग तक दलाग्र की वर्तना करने से व्योमरेखा (= सीधी रेखा) के सहित आठ भागों से पत्र बनेगा । कैसे?—यह कहते हैं—नेत्रम्.. ...... । नेत्रम् = द्वितीय भाग । सकृद् विभाजित = एक ही सूत्र से दो भाग किया गया । इस प्रकार वह्नि = तृतीय भाग । तो इन दोनों भागों को वसुगत = सकल क्षेत्र पर्यन्त, दो भागों में बाँट कर शशाङ्कस्थ का लोप करे = केशरदल सन्धिदल के अग्र भाग को बनाने के लिये चन्द्रमा के आकार का तीन वृत्त खींचे ॥

कथम्—इत्याह—

वह्नीषुऋषिमध्याच्च लोप्यं पीठेन्दुकावधि ॥ १४४ ॥

त्रिभिः पञ्चभिः सप्तभिर्भागैरवच्छिन्नात् मध्यात् कर्णिकादेशादारभ्य पीठसंलग्न-चन्द्रमण्डलपर्यन्तं यावदेतत् लोपनीयम्—इत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्—तृतीयवृत्ते द्वितीयभागान्तःपातितसूत्रादारभ्य ब्रह्मवंशमध्यं यावत् ' भ्रमं दद्यादिति षोडश दलार्धानि उत्पादयेत्, एवमेव दलाग्राण्यपि, किन्तु प्रागुक्तवत् व्यत्ययेनेति ॥ १४४ ॥

एवं पद्मस्य वर्तनामभिधाय पीठस्यापि आह—

ब्रह्मणो नेत्रविषयान्नेत्राद्वेदानलौ हरेत् ।
सागरे नेत्रकं लोप्यं नाडयः पूर्वदिग्गताः॥ १४५ ॥

ब्रह्मणो ब्रह्मपदात् यत् नेत्रम् द्वितीयो भागस्तत आरभ्य विषयाः पञ्च ब्रह्मण आरभ्य षष्ठो भागस्तद्गतान् वक्ष्यमाणरेखानुगुण्यात् पङ्क्तिस्थान् वर्तयिष्यमाण-स्वस्तिकदेशातिरिक्तदेशे अन्यलोपनानुक्तेश्च पञ्च भागान् नेत्रात्पार्श्वद्वयात् लोपयेत् ।

किस प्रकार ?—यह कहते हैं—

वह्नि (= तीन) इषु (= पाँच) और ऋषि (= सात) से युक्त मध्य से, पीठ से संलग्न चन्द्र तक लोप करे ॥ -१४४ ॥

तीन पाँच और सात भागों से अवच्छिन्न मध्य से = कर्णिकाप्रदेश से, आरम्भ कर पीठसंलग्न चन्द्रमण्डल तक इसका लोप करे । यहाँ यह तात्पर्य है—तृतीय वृत्त में, द्वितीय भाग के भीतर गिराये गये सूत्र से लेकर ब्रह्मवंश के मध्यपर्यन्त वृत्त खींचे । इस प्रकार सोलह दलों को बनाये । इसी प्रकार दलाग्रों की भी (रचना करे) किन्तु पूर्वोक्त की भाँति व्यत्यय (= विपरीत रूप) से ॥ १४४ ॥

पद्म की वर्तना को कहकर पीठ की भी (वर्तना) कहते हैं—

ब्रह्मपद से (जो) नेत्र (= दो) उससे विषय (= पाँच) भागों का, नेत्र (दोनों पार्श्वों) से लोप करे । (इसी प्रकार ब्रह्म से ही) वेद (= चार +) अनल (= तीन = सात) का लोप करे । सागर (= चार) में नेत्रक (= द्वितीय भाग) का लोप करे । (इससे) पूर्व दिशा में नाड़ियाँ बनती हैं ॥ १४५ ॥

ब्रह्मणः = ब्रह्म पद से, जो नेत्र = द्वितीय भाग, वहाँ से लेकर विषय = पाँच, ब्रह्म से लेकर छठाँ भाग उसमें रहने वाले, वक्ष्यमाण रेखा के आनुगुण्य के कारण पङ्क्तिस्थ, और भविष्य में रचे जाने वाले स्वस्तिक देश से भिन्न देश में अन्य के लोप का कथन न होने से, पाँच भागों का नेत्र से = दोनों पार्श्वों से,

एवं ब्रह्मणो वेदानलौ सप्तभागस्थानपि उभयतः पञ्चैव हरेत् । तत एव सागरे- चतुर्थे भागे नेत्रकंद्वितीयो भागो ब्रह्मणः पञ्चमस्तद्गतानपि उभयतः पञ्चैव लोपयेत् येन पूर्वदिशि

'पीठं रेखात्रयोपेतं सितलोहितपीतलम् ।' (३१।१४८)

इतिवक्ष्यमाणदृशा तिस्रः पट्टिकारूपा नाडिका भवन्ति—इत्यर्थः । पूर्वस्या उपलक्षणत्वादन्यदिक्षु अपि अयमेव विधिः ॥ १४५ ॥

एवं दिक्षु वर्तनामभिधाय कोणेष्वपि आह—

भूतनेत्रगतान्मूर्ध्ना नेत्राद् द्विवह्निदृक्त्रिकात् ।
सौम्यगात् पीठकोणेषु लोपयेत चतुर्ष्वपि ॥ १४६ ॥

ब्रह्मकोणगत्या पार्श्वगत्या वा भूतं पञ्चमो भागस्तस्य मूर्ध्ना उपरितनेन देशेन न तु पार्श्वादिना द्वितीयस्था ये त्रयो भागास्तान् लोपयेत् । नेत्राद्द्विवह्नीति— द्विशब्दमहिम्ना भूतपदकथितादपि यो द्वितीयो भागोऽर्थात् तेन सह तत्संलग्नं भागत्रयं लोपयित्वा तद्द्वितीयमपि भागत्रयेण सह लोपयेत्, एवं दृक्त्रिकमित्यनेन ततोऽपि द्वितीयस्त्रिकोणेन सह लोप्यः—इति स्वस्तिकसिद्धिः । एवं सौम्यगात्

लोप करे । इसी प्रकार ब्रह्मपद से वेदानल (= वेद - ४ + अनल - ३) = सात भाग में स्थित में से भी दोनों ओर से पाँच का ही लोप करे । उसी (ब्रह्मपद) से ही सागर = चतुर्थ भाग में नेत्रक = द्वितीय भाग जो कि ब्रह्म से पञ्चम होगा, उसमें स्थित में से भी दोनों ओर से पाँच का ही लोप करे । जिससे पूर्व दिशा में

'पीठ तीन रेखाओं से युक्त श्वेत रक्त और पीत होना चाहिये ।'

ऐसी वक्ष्यमाण दृष्टि से तीन पट्टी रूप नाड़िकायें होंगी । पूर्व दिशा के उपलक्षण होने के कारण अन्य दिशाओं में भी यही विधि अवधेय है ॥ १४५ ॥

दिशाओं में वर्तना का कथन कर कोणों में भी कहते हैं—

भूत (= पाँच) नेत्र (= दो) भागों का ऊपर से (लोप करे) । नेत्र से दूसरे और तीसरे का दृक् (= दो) और त्रिक से (लोप करे) । (उसी प्रकार) उत्तर दिशा से चारो पीठकोणों में लोप करे ॥ १४६ ॥

ब्रह्म कोणगति या पार्श्वगति से जो भूत = पञ्चम भाग, उसका मूर्धा से = ऊपरी भाग से, न कि पार्श्व आदि से, द्वितीयस्थ जो तीनभाग उनका लोप कर । नेत्र से दो वह्नि—इसमें 'द्वि' शब्द की महिमा से भूतपद कथित से भी जो द्वितीय भाग अर्थात् उसके साथ संलग्न तीन भागों का लोप करे; उससे द्वितीय का भी तीन भागों के साथ लोप करे । इसी प्रकार दृक्त्रिक—इससे उससे भी द्वितीय का त्रिकोण के साथ लोप करे । इस प्रकार स्वस्तिक बनता है । इस प्रकार सौम्यगामी

स्वोत्तरदिक्स्थत्वेन आग्नेयकोणगात् स्वस्तिकादारभ्य चतुर्षु अपि पीठकोणेषु गुरुर्लोपयेत्—इत्यर्थः ॥ १४६ ॥

अत्रैव रजःपातं निरूपयति—

दलानि कार्याणि सितैः केसरं रक्तपीतलैः ।
कर्णिका कनकप्रख्या पल्लवान्ताश्च लोहिताः ॥ १४७ ॥
व्योमरेखा तु सुमिता वर्तुलाब्जान्तनीलभाः ।
पीठं रेखात्रयोपेतं सितलोहितपीतलम् ॥ १४८ ॥
स्वस्तिकाश्च चतुर्वर्णा अग्नेरीशानगोचराः ।
वीथी विद्रुमसङ्काशा स्वदिक्ष्वस्त्राणि बाह्यतः ॥ १४९ ॥
इन्द्रनीलनिभं वज्रं शक्तिं पद्ममणिप्रभाम् ।
दण्डं हाटकसङ्काशं वक्त्रं तस्यातिलोहितम् ॥ १५० ॥
नीलद्युतिसमं खड्गं पाशं वत्सकसप्रभम् ।
ध्वजं पुष्पफलोपेतं पञ्चरङ्गैश्च शोभितम् ॥ १५१ ॥
गदा हेमनिभात्युग्रा नानारत्नविभूषिता ।
शूलं नीलाम्बुजसमं ज्वलद्वह्न्युग्रशेखरम् ॥ १५२ ॥
तस्योपरि सितं पद्ममीषत्पीतारुणप्रभम् ।

= अपने से उत्तर दिशा में स्थित, होने के कारण, आग्नेयकोणगामी स्वस्तिक से लेकर चारो पीठकोणों में गुरु लोप करे ॥ १४६ ॥

यहीं पर रजःपात का निरूपण करते हैं—

दलों को श्वेत, केशरों को लाल और पीले, कर्णिका को स्वर्णिम, पल्लवान्तों को लोहित (रजों) से बनाना चाहिये । व्योमरेखा श्वेत, गोल कमल का अन्तिम भाग नील कान्तिवाला, तीन रेखाओं से युक्त पीठ को श्वेत रक्त और पीत (बनाये) । अग्निकोण से लेकर ईशान तक स्वस्तिकाओं को चार रंगों की, वीथी को मूंगा के समान तथा बाहर की ओर अपनी-अपनी दिशाओं में अस्त्रों को (बनाना चाहिये) । वज्र को इन्द्रनील के समान, शक्ति को पद्ममणि की प्रभावाली, दण्ड को स्वर्ण सृदश, उसके मुख को गहरा लाल, खड्ग को नीला, पाश को वत्सक (= कुटज) के रंग का, पुष्प और फल से युक्त ध्वज को पाँच रंगों से शोभित, गदा स्वर्ण के समान अत्यन्त डरावनी तथा नाना रत्नों से अलंकृत (होनी चाहिये) । शूल नील कमल के समान जिसका ऊपरी भाग जलती हुयी अग्नि के समान हो, उसके ऊपर श्वेत कमल जो कि थोड़ा पीला थोड़ा लाल हो, चक्र को स्वर्ण की भाँति चमकदार, अराओं को

चक्रं हेमनिभं दीप्तमरा वैडूर्यसंनिभाः ॥ १५३ ॥
अरामध्यं सुपीतं च बाह्यं ज्वालारुणं भवेत् ।
मन्दिरं देवदेवस्य सर्वकामफलप्रदम् ॥ १५४ ॥

स्वस्तिका इति—पीठगता वीथीगताश्च । विद्रुमसङ्काशेति—स्वस्तिकवर्जम् । बाह्यादिति—द्वारादपि ॥ १५४ ॥

एवं श्रीत्रिशिरोभैरवोक्तिप्रसङ्गात् व्योमेशस्वस्तिकमभिधाय श्रीसिद्धातन्त्रोक्तमपि शूलाब्जमभिधत्ते—

श्रीसिद्धायां शूलविधिः प्राक् क्षेत्रे चतुरश्रिते ।

शूलविधिरिति—अर्थादुक्तः ॥

तमेव विधिमाह—

हस्तमात्रं त्रिधा सूर्यान्नवखण्डं यथा भवेत् ॥ १५५ ॥
मध्ये शूलं च तत्रेत्थं मध्यभागं त्रिधा भजेत् ।

चतुरश्रिते क्षेत्रे—सर्वतः, सूर्यादिति—अंगुलद्वादशकं वर्जयित्वा त्रिधा हस्तपरिमाणं त्रिहस्तं क्षेत्रं गृह्णीयात् यथा एतत् त्रिर्विभजनादेव हास्तिकनवभागात्मकं

वैदूर्य के समान, अराओं का मध्य पीत और बाहरी भाग ज्वाला के समान लाल होना चाहिये । (इस प्रकार का बना हुआ) देवाधिदेव का मन्दिर सर्वकामफलप्रद होता है ॥ १४७-१५४ ॥

स्वस्तिकायें—पीठ एवं वीथी में स्थित । विद्रुमसदृश—स्वस्तिक को छोड़कर । बाह्य आदि—द्वार से भी ॥ १५४ ॥

श्रीत्रिशिरोभैरव के कथन के प्रसङ्ग से व्योमेशस्वस्तिक का वर्णन कर अब श्रीसिद्धातन्त्र में कथित शूलाब्ज को कहते हैं—

श्री सिद्धातन्त्र में शूलविधि (इस प्रकार उक्त है) ॥ १५५- ॥

हिन्दी करना है.......

उसी विधि को कहते हैं—

पहले चौकोर क्षेत्र में बारह अंगुल छोड़कर तीन हाथ (परिमित) क्षेत्र का (ग्रहण करे) जिससे नव खण्ड हो जाय । इस प्रकार वहाँ मध्य में शूल होगा ॥ -१५५-१५६- ॥

चतुरश्रित क्षेत्र में—सब ओर से । सूर्य से = बारह अंगुल छोड़कर । तीन बार हस्त परिमाण वाले = तीन हाथ वाले, क्षेत्र का ग्रहण करे जिससे कि यह तीन भागों में बाँटने से एक-एक हाथ का नव भाग हो जाय। उसमें इस प्रकार =

स्यात् । तत्र च इत्थं वक्ष्यमाणगत्या मध्ये त्रिशूलं कुर्यात्—इति शेषः ॥

मध्यमेव विभजति—

नवभिः कोष्ठकैर्युक्तं ततोऽयं विधिरुच्यते ॥ १५६ ॥
मध्यभागत्रयं त्यक्त्वा मध्ये भागद्वयस्य तु ।
अधस्ताद् भ्रामयेत्सूत्रं शशाङ्कशकलाकृति ॥ १५७ ॥
उभयतो भ्रामयेत्तत्र यथाग्रे हाकृतिर्भवेत् ।
कोट्यां तत्र कृतं सूत्रं नयेद्रेखां तु पूर्विकाम् ॥ १५८ ॥
अपरद्वारपूर्वेण त्यक्त्वांगुलचतुष्टयम् ।
रेखां विनाशयेत्प्राज्ञो यथा शूलाकृतिर्भवेत् ॥ १५९ ॥
शूलाग्रे त्वर्धहस्तेन त्यक्त्वा पद्मानि कारयेत् ।
अधः शृङ्गत्रयं हस्तमध्ये पद्मं सकर्णिकम् ॥ १६० ॥

तमेकहस्तपरिमाणमध्यभागं नवभिः कोष्ठकैर्युक्तं त्रिधा विभक्तं सन्तं द्विधा भजेत् सर्वतः षोढा विभजेत्—चतुरंगुलैः षट्त्रिंशता कोष्ठकैर्युक्तं कुर्यात्—इत्यर्थः । अयमिति वक्ष्यमाणः । तमेव आह—मध्येत्यादि । तत्र मध्यादधस्तनं भागत्रयं त्यक्त्वा ब्रह्मपदमवलम्ब्य उभयोरपि पार्श्वयोर्भागद्वयस्य मध्ये तु द्वितीये मर्मणि हस्तं निवेश्य अधस्तादर्धचन्द्राकारं सूत्रमर्थात् प्रागुक्तवत् द्विर्भ्रामयेत् ।

वक्ष्यमाण रीति से मध्य में त्रिशूल बनाये ॥

मध्य का ही विभाग करते हैं—

नव कोष्ठकों से युक्त मध्यभाग का तीन भाग करे । इसलिये यह विधि कही जा रही है । मध्य के तीन भाग को छोड़ कर मध्य में दो भागों के नीचे चन्द्रखण्ड की आकृति वाला सूत्र घुमाये । वहाँ दोनों ओर से सूत्र घुमाये ताकि आगे 'ह' की आकृति बन जाय । उस (= ह आकृति) में किनारे पर सूत्र रख कर पूर्व की ओर रेखा बनाये । विद्वान् चार अंगुल छोड़कर रेखा को मिटा दे । जिससे शूल की आकृति बने । आधा हाथ छोड़कर शूल के अग्रभाग में कमल बनाये । उसके नीचे तीन शृङ्ग और हाथ के मध्य में कर्णिकायुक्त कमल बनाये ॥ -१५६-१६० ॥

उस एक हाथ परिमाण वाले मध्य भाग को, जो कि नव कोष्ठकों से युक्त है, तीन भागों में बाँटते हुये दो भागों में बाँटे अर्थात् सब ओर से छह भाग करे । अर्थात् चार अंगुल वाले ३६ कोष्ठकों से युक्त करे । यह = वक्ष्यमाण । उसी को कहते हैं—मध्य........ । उनमें से मध्य से नीचे की ओर तीन भाग छोड़कर ब्रह्मपद पर दोनों पार्श्वों में दो भागों के मध्य में दूसरे भाग में हाथ डाल कर नीचे की ओर अर्धचन्द्राकार सूत्र को पूर्वोक्त की भाँति अर्थात् दो बार घुमाये । उसमें भी

तत्रापि अग्रे मध्यसूत्रात् पूर्वतस्तृतीये मर्मणि हस्तं निवेश्य शशाङ्कश-कलाकृति अन्तर्मुखमूर्ध्वगत्या भागद्वयस्य मध्ये भ्रामयेत् यथा द्विकुब्जाकारः संनिवेशः स्यात्। तत्र च पार्श्वद्वयवर्तिन्यां हाकृतौ कोट्यामाद्यन्तरूपासु कोटिषु कृतेभ्यः संश्लेषितेभ्यः सूत्रेभ्यः पार्श्वद्वयसूत्रे पूर्विकां प्राङ्नवखण्डीकरणकाल-कल्पितां रेखां मध्यशृङ्गसूत्रे तु पश्चिमद्वाराभिमुख्येन वक्ष्यमाणदृशा उपरि-तननवभागस्य अर्धहस्तं यावत् नयेत् । कथम् ?—इत्याह—त्यक्त्वेत्यादि । अन्तर्वर्तितशशाङ्कशकलाग्रकोटिसमुत्थां रेखां मूलादंगुलचतुष्टयं त्यक्त्वा विनाशयेत्—यथायथं स्वप्रज्ञाबलेन ह्रासयेत्, येन शृङ्गाणां तीक्ष्णाग्रता जायेत—इति शृङ्गत्रयसिद्धिः । ततश्च अर्धहस्तेन वर्तिते शूलाग्रे अर्थादुपरितनमर्धहस्तमेव त्यक्त्वा अर्थात् प्राग्वत् द्वादशांगुलं पद्मत्रयं कुर्यात् शृङ्गत्रयस्य अधः पुनर्हास्तिकं पद्मं भवेत् ॥ १६० ॥

एवं त्रिशूलस्य वर्तनामभिधाय दण्डस्य अपि आह—

मुखाग्रे धारयेत्सूत्रं त्रिभिर्हस्तैस्तु पातयेत् ।

मध्यशृङ्गमुखाग्रे सूत्रं परिस्थाप्य त्रिभिर्हस्तैः पातयेत्—परिवर्जितबाह्यद्वादशां-गुलान्तं यावत् मध्यतो नयेत् ॥

आगे मध्य सूत्र से पूर्व तृतीय भाग में हाथ डालकर चन्द्रखण्ड की आकृति वाला भीतर की ओर ऊपर की ओर दो भागों के मध्य में वृत्त खींचे जिससे कि दो कुब्ज के आकार का सन्निवेश बने । उसमें = दोनों पार्श्वों में रहने वाली 'ह' आकृति में। कोटि में = आद्यन्तरूप कोटियों में । बनाये गये = संश्लेषित सूत्रों से । दोनों पार्श्वों में पूर्विका = पहले नवखण्डीकरणकाल में बनी, रेखा का मध्यशृङ्गसूत्र में पश्चिमद्वार के अभिमुख वक्ष्यमाण रीति से उपरितन नव भाग के आधे हाथ तक ले जाय । कैसे?—यह कहते हैं—त्यक्त्वा..... । भीतर की ओर बनायी गयी चन्द्रखण्ड के अग्रकोटि से चलने वाली रेखा को मूल से चार अंगुल छोड़कर, मिटा दे = क्रमशः अपनी बुद्धि के अनुसार कम करता जाय जिससे शृङ्ग नुकीला हो जाय । इस प्रकार तीन शृङ्गों की सिद्धि होती है । इसके बाद अर्धहस्त से वर्त्तित शूलाग्र में अर्थात् ऊपर वाले अर्धहस्त को छोड़कर अर्थात् पूर्ववत् बारह अंगुल का तीन कमल बनाये । तीन शृङ्ग के नीचे हास्तिक पद्म होगा ॥ १६० ॥

त्रिशूल की वर्तना का कथन कर दण्ड की भी (वर्तना) कहते हैं—

मुख के अग्रभाग में सूत्र को स्थापित कर तीन हाथों तक (उसे) गिराना चाहिये ॥ १६१- ॥

मध्य शृङ्गमुख के अग्र (भाग) में सूत्र को स्थापित कर, तीन हाथों से गिराना चाहिये = मध्य से परिवर्जित बाह्य द्वादश अंगुल के अन्त तक ले जाना चाहिये ॥

एवं दैर्घ्यमभिधाय वैपुल्यमाह—

मध्ये चोर्ध्वं ततः कुर्यादधस्तादंगुलद्वयम् ॥ १६१ ॥
रेखाद्वयं पातयेत यथा शूलं भवत्यपि ।
अधोभागादिभिश्चोर्ध्वं तत्र रेखा प्रपद्यते ॥ १६२ ॥
समीकृत्य ततः सूत्रे ऊर्ध्वे द्वे एवमेव तु ।

एवं स्थानत्रये अंगुलद्वयान्तरालं द्वयोः पार्श्वयोः रेखाद्वयं कुर्यात् येन सर्वतः साम्येन अधोमध्यभागाभ्यां सह ऊर्ध्वं समीकृत्य रेखा प्रपद्यते, ततस्तथैव द्वे ऊर्ध्वे सूत्रे पातयेत यथा सदण्डं शूलं संपद्यते ॥

न च एवं मध्यपद्मस्य दण्डेन आच्छादनं कार्यम्—इत्याह—

मध्यं पद्मं प्रतिष्ठाप्यं शूलाधस्ताद्यशस्विनि ॥ १६३ ॥

अत्र च चतुर्विंशतिधा विभक्ते क्षेत्रे प्रागुक्तवत् सर्वं द्वारादि वर्तनीयम्, भगवता पुनरर्धचन्द्रोपयोगिनि एव मध्यहस्ते प्राधान्यात् भागपरिकल्पना कृतेत्यास्ताम् ॥ १६३ ॥

आह्निकार्थमर्धेन उपसंहरति—

दीर्घता का कथन कर वैपुल्य (= चौड़ाई) को कहते हैं—

इसके बाद मध्य और ऊर्ध्व में फिर नीचे दो अंगुल (का अन्तराल) करे । फिर दो रेखायें करे जिससे शूल बने । अधोभाग आदि से ऊपर की ओर समान रेखा बनती है । इसके बाद दो ऊर्ध्व सूत्र (गिराये) ॥१६२-॥

तीन स्थानों में दो अंगुल के अन्तराल से दोनों पार्श्वों में रेखा करे जिससे सर्वतः समान रूप से अधो मध्य भाग के साथ ऊपर की ओर समान रूप से रेखा बने । इसके बाद उसी प्रकार दो ऊर्ध्वसूत्र गिराये जिससे दण्ड के सहित शूल बनता है ॥ १६२- ॥

इस प्रकार मध्यपद्म का दण्ड से आच्छादन नहीं करना चाहिये—यह कहते हैं—

हे यशस्विनि ! शूल के नीचे मध्यपद्म की स्थापना करनी चाहिये ॥ १६३ ॥

चौबीस भागों में बँटे इस क्षेत्र में पूर्वोक्त (रीति) से द्वार आदि सब कुछ बनाये । भगवान् (अभिनवगुप्त) ने अर्धचन्द्रोंपयोगी ही मध्यहस्त में प्रधान रूप से भाग की कल्पना की है ॥ १६३ ॥

आधे श्लोक से आह्निक के विषय का उपसंहार करते हैं—

इत्येष मण्डलविधिः कथितः संक्षेपयोगतो महागुरुभिः ।

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके मण्डलप्रकाशनं नाम एकत्रिंशमाह्निकम् ॥ ३१ ॥

इति शिवम् ॥

स्वस्तिकशूलाब्जनयदुर्गमशिवशास्त्रनिर्वचनचञ्चुः ।
आह्निकमेकत्रिंशं व्यवृणोदेतज्जयरथाख्यः ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते मण्डलप्रकाशनं नाम एकत्रिंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ ३१ ॥
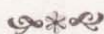
इस प्रकार महागुरुओं के द्वारा संक्षेपयोग से मण्डलविधि कही गयी ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के एकत्रिंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३१ ॥

स्वस्तिक शूल कमल सिद्धान्त के कारण दुर्गम शिवशास्त्र के निर्वचन में निपुण जयरथ ने इस इकतीसवें आह्निक की व्याख्या की ।

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के एकत्रिंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३१ ॥
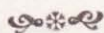
द्वात्रिंशमाह्निकम्
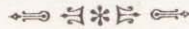
* विवेकः *

शुद्धाशुद्धाध्वभिदा द्विगह्वरं मुद्रयत्यशेषजगत् ।
संविद्रूपतया यः कलयतु स किल्विषं सतां कालः ॥

इदानीं मुद्राविधिमभिधातुमुपक्रमते—

अथ कथये मुद्राणां गुर्वागमगीतमत्र विधिम् ।

तमेव आह—

मुद्रा च प्रतिबिम्बात्मा श्रीमद्देव्याख्ययामले ।
उक्ता बिम्बोदयश्रुत्या वाच्यद्वयविवेचनात् ॥ १ ॥

तत्र श्रीदेव्यायामले

'प्रतिबिम्बोदयो मुद्रा..............................।'

---

* ज्ञानवती *

जो शुद्ध अशुद्ध भेद से दो गुफा वाले संसार को (संविद् के द्वारा) मुद्रित करते हैं वह कालरूपी (शिव) सज्जनों के पाप को संविद्रूप से कल्पित करें ।

अब यहाँ गुरु और आगम के द्वारा उक्त मुद्राओं की विधि को कहता हूँ ॥ १- ॥

उसी को कहते हैं—

श्री देवीयामल में बिम्बोदय श्रुति के दो वाच्यों का विवेचन करने से मुद्रा को प्रतिबिम्ब रूपा कहा गया है ॥ -१ ॥

इत्येवंरूपाया बिम्बोदयश्रुतेः पञ्चमीषष्ठ्यर्थबहुव्रीहिद्वारस्य वाच्यद्वयस्य विवेकमाश्रित्य परसंविदाकृतिरूपत्वात् प्रतिबिम्बात्मा मुद्रा उक्ता—इति वाक्यार्थः । इदं च अत्र वाच्यद्वयम्—प्रतिराभिमुख्ये, तेन बिम्बसंनिधिं निमित्तीकृत्य बिम्बैकनियत उदयो यस्येति बिम्बस्य प्रतिबिम्बोत्पत्तिनिमित्तत्वमुक्तम्,

बिम्बस्य अभिव्यक्तिलक्षण उदयः प्रतिगतः प्राप्तो यस्मादिति प्रतिबिम्बस्य ज्ञप्त्युपायत्वमिति । यद्वा

'मुद्रा बिम्बोदयो नाम्ना......................।'

इतिबिम्बोदयश्रुतेः प्रतिशब्दार्थमपहायैव व्याख्येयम् ॥ १ ॥

तदेव तात्पर्यद्वारेण आह—

बिम्बात्समुदयो यस्या इत्युक्ता प्रतिबिम्बता ।
बिम्बस्य यस्या उदय इत्युक्ता तदुपायता ॥ २ ॥

समुदय इति = उत्पत्तिः । यस्या इति—प्रतिबिम्बरूपाया मुद्रायाः—इति षष्ठ्यर्थः, यस्याश्च सकाशात्—इति पञ्चम्यर्थः । उदय इति ज्ञप्तिस्तदुपायतेति

वहाँ = श्रीदेवीयामल में—

'प्रतिबिम्ब का उदय ही मुद्रा है'

इस प्रकार की बिम्बोदयश्रुति के पञ्चमी और षष्ठी अर्थ वाले दो बहुव्रीहि वाले दो वाच्यों (= अर्थों) के भेद के आधार पर परसंविद् के आकृति जैसी होने के कारण मुद्रा प्रतिबिम्ब रूप कही गयी है—यह वाक्यार्थ है । यहाँ दो अर्थ ये हैं—'प्रति' उपसर्ग का प्रयोग 'सामने' अर्थ में हुआ है । इससे बिम्बसन्निधि के कारण केवल बिम्ब के अधीन उदय है जिसका इस प्रकार बिम्ब को प्रतिबिम्ब का निमित्त कहा गया । बिम्ब का अभिव्यक्तिलक्षण उदय (प्रति =) प्रतिगत = प्राप्त है जिससे । इस प्रकार प्रतिबिम्ब ज्ञान का उपाय है । अथवा—

'बिम्ब का उदय है (जो) मुद्रा नाम से (जाना जाता है) ।'

इस बिम्बोदयश्रुति की (दृष्टि से) प्रतिशब्द को छोड़कर व्याख्या करनी चाहिये ॥ १ ॥

उसी को तात्पर्य के द्वारा कहते हैं—

बिम्ब से जिसका उदय होता है—**इस कारण प्रतिबिम्बता कही गयी ।** जिससे बिम्ब का उदय होता है—**इस कारण** वह (प्रतिबिम्ब) उसका (= बिम्ब = ज्ञान का) उपाय है । **यह कहा गया** [illegible] ॥

समुदय = उत्पत्ति । यस्याः = प्रतिबिम्ब रूपा मुद्रा का—यह षष्ठी विभक्ति का अर्थ है । जिसके पास से यह पञ्चमी का अर्थ है । उदय = ज्ञान । उसका

ज्ञप्तिद्वारिका बिम्बोपायतेत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं मुद्राशब्दस्य रूढिमुपदर्श्य योगमपि दर्शयति—

मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम् ।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता ॥ ३ ॥

यद्यपि च अत्र

'इत्याशयेन मुद्रा मोचयते पाशजालतोऽशेषात् ।
कायीयान्पुर्यष्टकसंस्कारान्द्रावयेत्तथा मन्त्रम् ॥
योगं क्रियां च चर्यां मुद्रयति तदेकरूपतया ।'

इत्यादिदृष्ट्या बहुधा योगः सम्भवति, तथापि परानन्दनिर्भरस्वरूपताधायितया अयमेव मुख्य इति एतावदेव उक्तम् ॥ ३ ॥

आसामेव गुणप्रधानभावं तावत् दर्शयति—

तत्र प्रधानभूता श्रीखेचरी देवतात्मिका ।
निष्कलत्वेन विख्याता साकल्येन त्रिशूलिनी ॥ ४ ॥
करङ्किणी क्रोधना च भैरवी लेलिहानिका ।
महाप्रेता योगमुद्रा ज्वालिनी क्षोभिणी ध्रुवा ॥ ५ ॥
इत्येवं बहुभेदेयं श्रीखेचर्येव गीयते ।

उपाय अर्थात् ज्ञान के द्वारा बिम्बोपायता ॥ २ ॥

मुद्राशब्द की रूढि को दिखा कर योग को भी दिखाते है—

जिस कारण आत्मा को शरीर के माध्यम से स्वरूपलाभ नामक मुद (= आनन्द) को राति = अर्पित करती है, इस कारण शास्त्रों में (इसे) मुद्रा कहा गया है ॥ ३ ॥

यद्यपि यहाँ—

'समस्त पाशजाल से जो मुक्त कराती है, कायीय पुर्यष्टक संस्कारों को द्रावित (= नष्ट) करती है, तथा मन्त्र योग क्रिया एवं चर्या रूप (= मुद्रात्मक रूप) से मुद्रित करती है, इस आशय से मुद्रा (कही जाती) है ।'

इत्यादि दृष्टि से अनेक प्रकार का विग्रह सम्भव है तथापि परानन्दनिर्भरस्वरूपता का आधायी होने से यही (यौगिक अर्थ) मुख्य है इसलिये यही कहा गया ॥ ३ ॥

इन्हीं का गुणप्रधानभाव दिखलाते हैं–

उसमें श्री खेचरी (मुद्रा) जो कि देवतारूपा है निष्कल कही गयी है । सकल रूप से त्रिशूलिनी करङ्किणी क्रोधना भैरवी लेलिहानिका महाप्रेता

ध्रुवेति खेचरीविशेषणम्, तस्या हि त्रिशूलिन्यादिसकलरूपोपग्रहेऽपि न निष्कलाद्रूपात्प्रच्यावः—इति अभिप्रायः । उक्तं हि—

'इयं सा खेचरी मुद्रा निष्कला परिकीर्तिता ।
सकलं रूपमेतस्या भेदैस्तैस्तैरवस्थितम् ॥' इति ॥

ननु त्रिशूलिन्यादिवदन्या अपि एतदङ्गभूता मुद्राः सम्भवन्तीति कथमिह ता अपि न उक्ताः ?—इत्याशङ्क्य आह—

अन्यास्तदङ्गभूतास्तु पद्माद्या मालिनीमते ॥ ६ ॥
तासां बहुत्वामुख्यत्वयोगाभ्यां नेह वर्णनम् ।

ननु श्रीमालिनीमते पद्ममुद्रादिसाहचर्येणैव श्रीखेचरी अपि निर्दिष्टा, तत् सैव प्रधानेति तु कुतस्त्यम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

श्रीखेचरीसमाविष्टो यद्यत्स्थानं समाश्रयेत् ॥ ७ ॥
देवीसंनिधये तत्स्यादलं किं डम्बरैर्वृथा ।

अलमिति—पर्याप्तम् ॥

योगमुद्रा ज्वालिनी क्षोभिणी इस प्रकार यह ध्रुवा खेचरी ही अनेक भेदों वाली कही जाती है ॥ ४-६- ॥

'ध्रुवा' यह खेचरी का ही विशेषण है । त्रिशूलिनी आदि समस्त (सकल) रूप को धारण करने पर भी इसका (अपने) निष्कल रूप से पतन नहीं होता—यह अभिप्राय है । कहा भी है—

'यह खेचरी मुद्रा निष्कल कही गयी है । इसका सकल रूप उन-उन भेदों के कारण है ॥'

प्रश्न—त्रिशूलिनी आदि के समान इसकी अङ्गभूत अन्य भी मुद्रायें सम्भव हैं फिर यहाँ उनका भी कथन क्यों नहीं हुआ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र के मत में उस (खेचरी) की अङ्गभूत पद्मा आदि अन्य (मुद्रायें) हैं । उन मुद्रा भेदों के बहुत और अमुख्य होने के कारण (उन भेदों का) यहाँ वर्णन नहीं है ॥ -६-७- ॥

प्रश्न—मालिनी मत में पद्म मुद्रा आदि के साहचर्य से ही खेचरी भी निर्दिष्ट है तो वही प्रधान हो गयी ऐसा कहाँ से (कहा गया)?—यह शङ्का कर कहते हैं—

श्रीखेचरी मुद्रा से समाविष्ट व्यक्ति जिस-जिस स्थान को पहुँचता है वह (स्थान) देवीसन्निधि के लिये पर्याप्त हो जाता है फिर व्यर्थ के आडम्बर से क्या ? ॥ -७-८- ॥

अलम् = पर्याप्त ॥

ननु आसामपि

'याभिः संरक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात् ।'

इत्याद्युक्त्या साधकविषयं मुख्यत्वमस्तीति कथमेवमुक्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—

काम्ये कर्मणि ताश्च स्युर्मुख्याः कस्यापि जातुचित् ॥ ८ ॥

कस्यापीति—साधकस्यैव, नतु पुत्रकादेः । जातुचिदिति—नतु नित्यवत् सर्वकालम् ॥ ८ ॥

इह पुनर्मोक्षाख्यमुख्यार्थप्रतिपादनपरत्वादस्य ग्रन्थस्य काम्यमेव कर्म न उक्तमिति तदुपयोगिना अपि मुद्रावर्णनेन कोऽर्थः ?—इत्याह—

तच्च नास्माभिरुदितं तत्किं तदुपयोगिना ।

आसां च भेदनिर्देशद्वारेण स्वरूपमभिधातुमाह—

मुद्रा चतुर्विधा कायकरवाक्चित्तभेदतः ॥ ९ ॥
तत्र पूर्णेन रूपेण खेचरीमेव वर्णये ।

वागिति—मन्त्रविलापनरूपा । यदुक्तम्—

प्रश्न—इनका भी—

'जिनके द्वारा संरक्षित मन्त्री मन्त्रसिद्धि को प्राप्त करता है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा मुख्यता साधक की होती है फिर ऐसा कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

काम्य कर्म में ये किसी के लिये कदाचित् मुख्य होती हैं ॥ ८ ॥

किसी के लिये = साधक के लिये ही न कि पुत्रक आदि के लिये । कदाचित्—न कि नित्य कर्मों की भाँति सब समय ॥ ८ ॥

यहाँ मोक्ष नामक मुख्य अर्थ (= विषय) का प्रतिपादक होने वाले इस ग्रन्थ का काम्य कर्म कहा ही नहीं गया फिर उसके उपयोगी मुद्रावर्णन से क्या लाभ?—यह कहते हैं—

और वह हमारे द्वारा नहीं कहा गया फिर उसके उपयोगी (मुद्रा वर्णन) से क्या (लाभ)? ॥ ९- ॥

भेदनिर्देशपूर्वक इनका स्वरूप कहते हैं—

मुद्रा शरीर हाथ वाक् और चित्त भेद से चार प्रकार की होती है । उनमें से पूर्णरूप से खेचरी का ही वर्णन करता हूँ ॥ -९-१०- ॥

वाक्—मन्त्रविलापनरूपा । जैसा कि कहा गया—

'करकायविलापान्तःकरणानुप्रवेशतः ।
मुद्रा चतुर्विधा ज्ञेया........................ ॥'

इत्युपक्रम्य

'अंगुलीन्यासभेदेन करजा बहुमार्गगा ।
सर्वावस्थास्वेकरूपा वृत्तिर्मुद्रा च कायिकी ॥
पञ्चमुद्राधरं चैतद् व्रतं सिद्धनिषेवितम् ।
मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलापाख्या प्रकीर्तिता ॥
ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी परिकीर्तिता ।' इति ॥

पूर्णेनेति—चतुर्विधेनापि—इत्यर्थः ॥

तत्रापि प्राधान्येन श्रीपूर्वशास्त्रोक्तमेव तावदस्या रूपमाह—

बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं क्षिपेत् ॥ १० ॥
दण्डाकारं तु तं तावन्नयेद्यावत्कखत्रयम् ।
निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ॥ ११ ॥
एतां बद्ध्वा खे गतिः स्यादिति श्रीपूर्वशासने।

स्थिरसुखासनस्थो हि योगी जन्माधारादुदेत्य नाभिदेशे मनो निवेश्य—तत्रैव बहुशः परिभ्राम्य मध्यप्राणशक्त्येकीकारेण दण्डाकारतया मूर्धन्यं बिन्दुनादब्रह्मरन्ध्र-

---

'कर काय विलाप एवं अन्तःकरणानुप्रवेश भेद से मुद्रा चार प्रकार की जाननी चाहिये.......... ।'

ऐसा प्रारम्भ कर

'हाथ की मुद्रा अङ्गुलीन्यास के भेद से अनेक प्रकार की है । सब अवस्थाओं में एकरूपा वृत्ति कायिकी मुद्रा है । पाँच मुद्रा वाला यह व्रत सिद्धों के द्वारा सेवित होता है । मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलाप नाम से कही गयी है । ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी कही गयी है ।'

पूर्णता के साथ = चार प्रकारों के साथ ॥

उसमें भी प्रधानरूप से भी मालिनीविजय में उक्त इसका स्वरूप बतलाते हैं—

योगी पद्मासन लगाकर नाभिप्रदेश में मन को स्थिर करे । फिर दण्ड के आकार के रूप में उसको वहाँ तक ले जाय जहाँ क तीन और ख तीन हैं । वहाँ उसको रोक कर शीघ्र ही तीन ख के द्वारा (आगे) बढ़ाये । इसका बन्धन करने पर आकाश में गति हो जाती है—ऐसा मालिनीविजयतन्त्र में (कहा गया है) ॥ -१०-१२- ॥

स्थिरसुख वाले आसन पर बैठा योगी मूलाधार से उठकर नाभिदेश में मन को

लक्षणं खत्रयं यावत् नीत्वा तत्रैव कुम्भकानुवृत्त्या निरुध्य शक्तिव्यापिनीसमनात्मना खत्रयेण तूर्णमुद्घातगत्या प्रेरयेदुन्मनापदाक्रमणेन परमशिवाभिमुख्यं नयेत् येन अस्य एतदवष्टम्भेन परबोधगगनचारित्वं स्यात् ॥

अस्या एव अवान्तरभेदसहितायाः श्रीयोगसञ्चारोक्तं रूपं निर्दिशति—

ध्वनिज्योतिर्मरुद्युक्तं चित्तं विश्रम्य चोपरि ॥ १२ ॥
अनेनाभ्यासयोगेन शिवं भित्त्वा परं व्रजेत् ।

ध्वनिः = नादः, ज्योतिः = बिन्दुः, मरुत् = शक्तिः, तेन तद्द्वादशान्तं ब्रह्मरन्ध्रम् । एवं जन्माधारात्प्रभृति एतद् व्योमत्रययोगि चित्तं विधाय तत्रैव निविडध्यानेनैव क्रमेण उपरितनं शक्त्यात्मकमपि खत्रयं भित्त्वा योगी परं शिवं व्रजेत्—इति वाक्यार्थः ॥

एतदनुवेधेन त्रिशूलिन्या अपि रूपमाह—

जत्र्वधस्तात्करौ कृत्वा वामपादं च दक्षिणे ॥ १३ ॥
विदार्यास्यं कनिष्ठाभ्यां मध्यमाभ्यां तु नासिकाम्।

लगा कर वहीं पर कई बार भ्रमण कराकर सुषुम्ना शक्ति से एकाकार होने के कारण दण्ड के आकार के रूप में मूर्धा में स्थित, बिन्दु, नाद, ब्रह्मरन्ध्र लक्षण वाले तीन क तक ले जाकर वहीं कुम्भक के रूप में (उसे) रोक कर शक्ति, व्यापिनी, समना रूप तीन ख के द्वारा शीघ्र ही उपर की ओर प्रेरित करे अर्थात् उन्मना पद पर पहुँच कर परमशिव की ओर ले जाँय जिससे इसको यहाँ स्तम्भन करने से परबोधरूप गगन में विचरण करने की शक्ति मिलती है ॥

अवान्तरभेदसहित इसी का श्रीयोगसञ्चार में कथित रूप का निर्देश करते हैं—

(योगी) ध्वनि ज्योति और वायु से युक्त चित्त को विश्रान्त कर उसी अभ्यास के द्वारा ऊपर की ओर भेदन कर परम शिव को प्राप्त करता है ॥ -१२-१३- ॥

ध्वनि = नाद, ज्योति = बिन्दु, मरुत् = शक्ति । इससे इसका द्वादशान्त = ब्रह्मरन्ध्र । इस चित्त को इस प्रकार मूलाधार से लेकर इस (उपर्युक्त) तीन व्योम से युक्त करके वहीं पर गहन ध्यान के द्वारा क्रमशः उपरिवर्त्ती शक्त्यात्मक तीन शून्य (= शक्ति व्यापिनी समना) का भेदन कर योगी परमशिव को प्राप्त करता है—यह वाक्यार्थ है ॥

इसके अनुवेध से त्रिशूलिनी का भी रूप कहते हैं—

दोनों हाथों को कण्ठ के नीचे और बायें पैर को दायें पैर के ऊपर रख कर दोनों कनिष्ठाओं से मुख को फैला कर तथा दोनों मध्यमाओं से

अनामे कुञ्चयेत्प्राज्ञो भ्रूभङ्गं तर्जनीद्वयम् ॥ १४ ॥
जिह्वां च चालयेन्मन्त्री हाहाकारं च कारयेत् ।
त्रिशूलेन प्रयोगेण ब्रह्मरन्ध्रमुपस्थितः ॥ १५ ॥
पदं सन्त्यज्य तन्मात्रं सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।

जत्रुशब्देन अत्र कण्ठो लक्ष्यते, तेन तदधः—इत्यर्थः । नासिकामिति—तद्रन्ध्रद्वयम्, चालयेदिति—भ्रूभङ्गादौ त्रयेऽपि योज्यम् । तन्मात्रमिति—स्थितम् । मेदिनीं त्यजतीति—देहाद्यहन्तापहस्तनेन परबोधाकाशचारी भवेत्—इत्यर्थः ॥

त्रिशूलप्रयोगमेव शिक्षयति—

शून्याशून्यलये कृत्वा एकदण्डेऽनिलानलौ ॥ १६ ॥
शक्तित्रितयसम्बद्धे अधिष्ठातृत्रिदैवते ।
त्रिशूलं तद्विजानीयाद्येन व्योमोत्पतेद् बुधः ॥ १७ ॥

एवंविधोऽयमनिलानलौ प्राणापानावर्थात् मध्यप्राणे समरसितौ कृत्वा अत एव एकस्मिन्मूलाधारात्प्रभृति ऊर्ध्वं प्रसरणात् दण्डाकारे च तस्मिन् जाते सति तदेवं प्रयुज्यमानं त्रिशूलं विजानीयात् येन अस्य व्योमोत्पतनं स्यात् । एकदण्डाकारं

नासिका (के दोनों छिद्रों) को फैलाकर प्राज्ञ मन्त्री अनामिकाओं को आकुञ्चित करे (= फैलाये)। भ्रूभङ्ग दोनों तर्जनी और जिह्वा को चलाये तथा हा हा करे । इस त्रिशूल प्रयोग से (योगी) ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाता है । फिर तन्मात्रपद को छोड़कर तत्काल पृथ्वी को छोड़ देता है ॥ -१३-१६- ॥

'जत्रु' शब्द से यहाँ कण्ठ (= हँसुली) लक्षित है । इससे यह अर्थ (निकला कि) उससे (= कण्ठ से) नीचे । नासिका को = उसके दोनों छिद्रों को । सञ्चालित करे—इसे भ्रूभङ्ग आदि तीनों के साथ जोड़ना चाहिये । तन्मात्र = स्थित । धरती को छोड़ देता है = देह आदि में आत्मभाव को हटाकर परबोधरूपी आकाश में विचरण करता है—यह अर्थ है ॥

त्रिशूलप्रयोग को ही बतलाते हैं—

अनिल (= प्राण) और अनल (= अपान) को एक दण्ड (=सुषुम्ना) में कर के उन दोनों को तीन शक्तियों से सम्बद्ध तथा तीन अधिष्ठातृदेवों से संयुक्त कर शून्याशून्य का लय कर दे । तो इसे त्रिशूल समझना चाहिये जिसके द्वारा विद्वान् चिदाकाश में विचरण करता है ॥ -१६-१७ ॥

इस प्रकार का यह (विद्वान्) अनिल और अनल = प्राण और अपान को मध्यप्राण (= सुषुम्ना) में एक रस बनाकर इसलिये मूलाधार से लेकर ऊपर की ओर प्रसरण करने से उसके दण्डाकार होने पर इस प्रकार प्रयुज्यमान उसको त्रिशूल

मध्यप्राणमेव विशिनष्टि—अधिष्ठातृत्रिदैवते इति = भ्रूमध्याद्यवस्थितेश्वरसदाशिवानाश्रिताख्यकारणत्रयाधिष्ठिते—इत्यर्थः। तथा शक्तिव्यापिनीसमनासम्बद्धे तत्संयोगमाप्ते, अत एव परपदप्राप्त्या शून्याशून्यलये विगलितसदसदादिशब्दव्यवहारे इत्यर्थः ॥ १७ ॥

नच एतावतैव अयं व्योम उत्पतेत्—इत्याह—

आकाशभावं सन्त्यज्य सत्तामात्रमुपस्थितः।
शूलं समरसं कृत्वा रसे रस इव स्थितः ॥ १८ ॥
एकदण्डं स विज्ञाय त्रिशूलं खचरं प्रिये।
बद्ध्वा तु खेचरीं मुद्रां ध्यात्वात्मानं च भैरवम् ॥ १९ ॥
खेचरीचक्रसञ्जुष्टं सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।

एवं खचरमेकदण्डं त्रिशूलं विज्ञाय तत्तदवच्छेदाधायि सत्तामात्रमपि परित्यज्य खेचरीमुद्राबन्धमाविश्य स बुधः पराकाशरूपतामुपस्थितः सन् स्थितस्तत्रैव रसे इव रसं शूलमपि समरसीकृत्य खेचरीचक्रसञ्जुष्टमात्मानं भैरवं ध्यात्वा च सद्य एव मेदिनीं त्यजति—इति सम्बन्धः ॥

ननु एवमस्य किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

समझे जिसके द्वारा इसका (चिद्) व्योम में उत्पतन होता है । एकदण्डाकार मध्यप्राण का ही विशेषण बताते हैं—अधिष्ठातृत्रिदैवते = भ्रूमध्य में स्थित ईश्वर सदाशिव और अनाश्रित नामक तीन कारणों से अधिष्ठित । तथा शक्ति व्यापिनी समना से सम्बद्ध = उसके संयोग को प्राप्त । इसलिये परपदप्राप्ति के द्वारा शून्य अशून्य लय होने पर सत् असत् आदि शब्दव्यवहार के लुप्त हो जाने पर—यह अर्थ है ॥ १७ ॥

इतने से ही वह आकाश में उत्पतन नहीं करता-यह कहते हैं—

(योगी) सत्ता मात्र को छोड़कर आकाशभाव में उपस्थित होता है । फिर त्रिशूल को रस में रस के समान समरस कर स्थित होता है । हे प्रिये ! वह एकदण्ड खचर त्रिशूल को जानकर, खेचरी का धारण कर खेचरीचक्र से संयुक्त आत्मा का भैरवरूप में ध्यान कर सद्यः पृथ्वी को छोड़ देता है ॥ १८-२०- ॥

इस प्रकार खचर एकदण्ड त्रिशूल को जानकर तत्तद् अवच्छेद की आधायक सत्ता को भी छोड़ कर खेचरीमुद्राबन्ध से आविष्ट होकर वह विद्वान् पराकाशरूपता को प्राप्त होकर स्थित हुआ रस में रस की भाँति शूल को भी समरस कर तथा खेचरीचक्र से युक्त आत्मा भैरव का ध्यान कर सद्यः ही पृथ्वी को छोड़ देता है—यह सम्बन्ध है ॥

त्यक्तांशको निराचारो निःशङ्को लोकवर्जितः ॥ २० ॥
अवधूतो निराचारो नाहमस्मीति भावयन् ।
मन्त्रैकनिष्ठः संपश्यन् देहस्थाः सर्वदेवताः ॥ २१ ॥
ह्लादोद्वेगास्मिताक्रुष्टनिद्रामैथुनमत्सरे ।
रूपादौ वा कर्तृकर्मकरणेषु च सर्वशः ॥ २२ ॥
नाहमस्मीति मन्वान एकीभूतं विचिन्तयन् ।
कर्णाक्षिमुखनासादिचक्रस्थं देवतागणम् ॥ २३ ॥
ग्रहीतारं सदा पश्यन् खेचर्या सिद्ध्यति स्फुटम् ।

त्यक्तांशक इति—निरंशतामापन्नः—इत्यर्थः । निराचार इति—निष्क्रान्ता आचारा यस्मादाचारेभ्यश्च निष्क्रान्त इति योज्यम् । देहस्थाः सर्वदेवताः संपश्यन्निति सर्वदेवतामयमात्मानं जानानः—इत्यर्थः । ह्लादेत्यादिना चित्तवृत्तिविशेषा आसूत्रिताः । रूपादाविति—विषयपञ्चके । ग्रहीतारमिति परप्रमात्रेकरूपम्—इत्यर्थः ॥

एतदेव व्यतिरेकद्वारेण द्रढयति—

विद्याशङ्की मलाशङ्की शास्त्रशङ्की न सिद्ध्यति ॥ २४ ॥

प्रश्न—इस प्रकार इसका क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(साधक) आशङ्कारहित, आचारशून्य, निःशङ्क, लोकवर्जित, अवधूत, आचार से बाहर, 'मैं नहीं हूँ'—ऐसी भावना करता हुआ, मन्त्रैकनिष्ठ, समस्त देवताओं को शरीरस्थ देखता हुआ (स्थित रहता है) । ह्लाद, उद्वेग, अस्मिता, आक्रोश, निद्रा, मैथुन, मत्सर में अथवा रूप आदि में तथा कर्त्ता कर्म करण में सब प्रकार से 'मैं नहीं हूँ' ऐसा मानते हुये कान आँख मुख नासिका आदि चक्र में स्थित देवतागण को एकीभूत जानता हुआ (अपने को) सदा ग्रहीता समझता हुआ स्पष्टरूप से खेचरी से सिद्ध होता है ॥ -२०-२४- ॥

त्यक्तांशक = निरंशता को प्राप्त । निराचार—जिसमें से आचार निकल चुके हैं और आचारों से निष्क्रान्त = परे, ऐसी योजना करनी चाहिये । देहस्थ सब देवताओं को देखता हुआ = अपने को सर्वदेवतामय जानता हुआ । ह्लाद (उद्वेग....) इत्यादि के द्वारा चित्तवृत्ति के विशेष सङ्केतित हैं । रूप आदि के विषय में = (रूप रस गन्ध आदि) पाँच विषयों के सन्दर्भ में । ग्रहीता = परप्रमाता रूप ॥

इसी को व्यतिरेक के द्वारा दृढ़ करते हैं—

विद्याशङ्की, मलाशङ्की (= आणव आदि मल के विषय में शंकालु) और शास्त्रशङ्की (= शैवशास्त्र के विषय में नाना प्रकार की उचितानुचित

विद्येति—शुभकरी वेदविद्या ॥ २४ ॥

ननु एवमयं कस्मात् न सिद्ध्येत्?—इत्याशङ्क्य आह—

शिवो रविः शिवो वह्निः पक्तृत्वात्स पुरोहितः ।
तत्रस्था देवताः सर्वा द्योतयन्त्योऽखिलं जगत् ॥ २५ ॥

रविः = प्रमाणम्, वह्निः = प्रमाता, अत एव पुरोहितो यष्टा—इत्यर्थः । पक्तृत्वादिति—सर्वस्य स्वात्मसात्काररूपत्वात् द्योतयन्त्यः स्थिताः—इति शेषः । एवं हि शिव एव सर्वमिति किमाशङ्कास्पदमित्याशयः ॥ २५ ॥

एवं त्रिशूलिन्याः स्वरूपमभिधाय करङ्किण्या अपि आह—

कनिष्ठया विदार्यास्यं तर्जनीभ्यां भ्रुवौ तथा ।
अनामे मध्यमे वक्त्रे जिह्वया तालुकं स्पृशेत्॥ २६ ॥
एषा करङ्किणी देवी ज्वालिनीं शृणु सांप्रतम् ।
हनुर्ललाटगौ हस्तौ प्रसार्याङ्गुलितः स्फुटौ ॥ २७ ॥
चालयेद्वायुवेगेन कृत्वान्तर्भ्रुकुटीं बुधः ।

शंका करने वाला) को सिद्धि नहीं मिलती ॥ -२४ ॥

विद्या = शुभकरी वेदविद्या ॥ २४ ॥

प्रश्न—इस प्रकार का यह (= साधक) क्यों सिद्धि प्राप्त नहीं करता?—यह शङ्का कर कहते हैं—

शिव ही रवि शिव ही अग्नि और पाचक होने के कारण वही (= शिव ही) पुरोहित है । समस्त संसार को चमत्कृत करती हुयी सब देवतायें भी उसी में हैं ॥ २५ ॥

रवि = प्रमाण, वह्नि = प्रमाता, इसीलिये पुरोहित = यष्टा ॥ पक्ता होने से = सबको आत्मसात् करने वाला होने से, द्योतित करती हुयी स्थित हैं । इस प्रकार शिव ही सब कुछ हैं फिर आशङ्का का स्थान कहाँ? ॥ २५ ॥

त्रिशूलिनी के रूप का कथन कर करङ्किणी के भी (रूप का कथन) करते हैं—

कनिष्ठा के द्वारा मुँह को तथा दोनों तर्जनी से भ्रुवों को फैलाकर अनामिका और मध्यमा को मुख में (डालकर) जिह्वा से तालु का स्पर्श करे । यह करङ्किणी देवी (मुद्रा) है । अब ज्वलिनी (मुद्रा) को सुनो । हनु से लेकर ललाट तक फैली अंगुलियों वाले दोनों हाथों को स्पष्ट फैलाकर विद्वान् भ्रुकुटी को (हाथों के) भीतर कर वायु वेग से चलाये और जिह्वा के

विदार्यास्यं सजिह्वं च हाहाकारं तु कारयेत् ॥ २८ ॥
एषा ज्वालिन्यग्निचक्रे तया चाष्टोत्तरं शतम् ।
जपेद्यदि ततः सिद्ध्येत् त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २९ ॥

कनिष्ठयेति—उभयकरसम्बन्धिन्या । वक्त्रे इति—अर्थात् कृत्वा । प्राकरणिकश्च अत्र खेचरीमुद्राबन्धानुवेधोऽनुसन्धातव्य एव—इति गुरवः । हनुरिति—ऐशः पाठः, तेन हनुतः प्रभृति ललाटान्तं स्थितौ कार्यौ—इत्यर्थः । प्रसार्यांगुलित इति—प्रसृतांगुलीकौ—इत्यर्थः । अन्तरिति—हस्तयोः । अग्निचक्रे इति—ऊर्ध्वमुखे त्र्यश्रे अन्तरात्मानं भावयित्वा ॥ २९ ॥

सिद्धिमेव दर्शयति—

परदेहेषु चात्मानं परं चात्मशरीरतः ।
पश्येच्चरन्तं हानादाद्गमागमपदस्थितम् ॥ ३० ॥
नवच्छिद्रगतं चैकं नदन्तं व्यापकं ध्रुवम् ।
अनया हि खचारी श्रीयोगसञ्चार उच्यते ॥ ३१ ॥

हानादेति—हाकारस्य नादेन उच्चारेण—इत्यर्थः । गमागमेति—स्वदेहात् परदेहे, परदेहाद्वा स्वदेहे । खचारीत्यनेनापि खेचरीमुद्राबन्धानुवेधो दर्शितः ॥३१॥

सहित मुँह को फैला कर हाहाकार करे । यह ज्वालिनी (मुद्रा) है । अग्निचक्र में उसके साथ यदि एक सौ आठ बार (मन्त्र) जपे तो सचराचर त्रैलोक्य वश में हो ॥ २६-२९ ॥

कनिष्ठा के द्वारा—दोनों हाथों से सम्बद्ध (कनिष्ठा) । वक्त्र में—अर्थात् करके। यहाँ प्रासङ्गिक खेचरीमुद्राबन्ध के अनुवेध का अनुसन्धान अवश्य करना चाहिये—ऐसा हमारे गुरु कहते हैं । 'हनुः' यह ऐश (= ईश्वरीय) पाठ है । इससे (यह अर्थ होता है कि) हनु से लेकर ललाट तक (दोनों हाथों को) स्थित करे । अंगुली फैलाकर = जिसमें अंगुलियाँ फैली हों । भीतर—दोनों हाथों के । अग्निचक्र में = ऊर्ध्वमुख त्रिकोण में भीतर आत्मा का ध्यान कर ॥ २९ ॥

सिद्धि को ही दिखलाते हैं—

(साधक) दूसरे के शरीर में अपने को और अपने शरीर में दूसरे को 'स्वा' और 'हा' के उच्चारण के द्वारा गमनागमन पद में स्थित, नव छिद्रों (= दो आँख, दो कान, दो नाक, मुँह, मलद्वार, और लिङ्ग या योनि) में रहने वाले, एक, शब्द करने वाले, व्यापक, ध्रुव आत्मा को देखता है । इस (मुद्रा) के द्वारा (साधक) (चिद्-) आकाश में विचरण करता है—ऐसा श्री योगसञ्चार में वर्णित है ॥ ३०-३१ ॥

हा नाद से = हा के नाद = उच्चारण से । गमागम = अपने देह से पर देह

इदानीं श्रीवीरावल्युक्तमपि अस्या विधिमाह—

कुलकुण्डलिकां बद्ध्वा अणोरन्तरवेदिनीम् ।
वामो योऽयं जगत्यस्मिंस्तस्य संहरणोद्यताम् ॥ ३२ ॥
स्वस्थाने निर्वृतिं लब्ध्वा ज्ञानामृतरसात्मकम् ।
व्रजेत्कन्दपदं मध्ये रावं कृत्वा ह्यरावकम् ॥ ३३ ॥
यावज्जीवं चतुष्कोणं पिण्डाधारं च कामिकम् ।
तत्र तां बोधयित्वा तु गतिं बुद्ध्वा क्रमागताम् ॥ ३४ ॥
चक्रोभयनिबद्धां तु शाखाप्रान्तावलम्बिनीम् ।
मूलस्थानाद्यथा देवी तमोग्रन्थिं विदारयेत् ॥ ३५ ॥
वज्राख्यां ज्ञानजेनैव तथा शाखोभयान्ततः ।
कोणमध्यविनिष्क्रान्तं लिङ्गमूलं विभेदयेत् ॥ ३६ ॥
तत्र सङ्घट्टितं चक्रयुग्ममैक्येन भासते ।
वैपरीत्यात्तु निक्षिप्य द्विधाभावं व्रजत्यतः ॥ ३७ ॥
ऊर्वाद्यंगुष्ठकालाग्निपर्यन्ते सा विनिक्षिपेत् ।
गमागमनसञ्चारे चरेत्सा लिङ्गलिङ्गिनी ॥ ३८ ॥

अथवा परदेह से अपने देह में । 'खचारी'—इस शब्द से खेचरीमुद्राबन्ध का अनुवेध दर्शित है ॥ ३१ ॥

अब श्रीवीरावली में उक्त इस विधि को कहते हैं—

(साधक को चाहिये कि वह) अणु के भीतर रहने वाली कुलकुण्डली को नियन्त्रित कर, इस संसार में जो वाम (= अज्ञान) है उसका संहरण करने में उद्यत (कुण्डली) को अपने स्थान (= मूलाधार) में स्थित कर, मध्य (= सुषुम्ना) में बिना ध्वनि के शब्द उत्पन्न कर जीव (= अमृतपूर्ण) चतुष्कोण पिण्ड (= शरीर) का आधारभूत, कामिक (= कामनापूरक चिन्तामणि नामक) ज्ञानअमृतरसात्मक कन्दपद को प्राप्त करे । वहाँ पर उस (= कुण्डली) को उद्बुद्ध कर क्रमशः प्राप्त गति को जानकर दोनों चक्रों (= मूलाधार से लेकर द्वादशान्त) में निबद्ध मूलाधार से शाखाप्रान्त में रहने वाली वज्रनामक तमोग्रन्थि का ज्ञान से उत्पन्न (शक्ति) के द्वारा भेदन करे । फिर दोनों शाखाओं (= प्राण अपान) के अन्त से लेकर त्रिकोण के मध्य तक निकले हुये लिङ्गमूल का भेदन करे । वहाँ सङ्घटित चक्रयुग्म (= दोनों चक्र) एक होकर भासित होता है । यहाँ से उल्टा निक्षेप होने पर (जीव) द्विधा भाव को प्राप्त हो जाता है । वह (= वह कुण्डलिनी) उरु से लेकर अंगुष्ठकालअग्नि तक निक्षेप करती है । वह

तत्र तत्पदसंयोगादुन्मीलनविधायिनी ।
यो जानाति स सिद्ध्येत्तु रसादानविसर्गयोः ॥ ३९ ॥
ससङ्गममिदं स्थानमूर्मिण्युन्मीलनं परम् ।
एष क्रमस्ततोऽन्योऽपि व्युत्क्रमः खेचरी परा ॥ ४० ॥
योन्याधारेति विख्याता शूलमूलेति शब्द्यते ।
वर्णास्तत्र लयं यान्ति ह्यवर्णे वर्णरूपिणि ॥ ४१ ॥

इह अणोरन्तरवेदिनीमन्तश्चरन्तीं तन्मयतामाप्तां कुलकुण्डलिकां = मध्यप्राण-शक्तिम्, आक्रम्य अज्ञानसंहर्त्रीं स्वस्थाने शाक्ताधारे तदैक्यापत्तिरूपां निर्वृतिं प्राप्य

'मूले तु शाक्तः कथितो बोधनादप्रवर्तकः ।'

इत्युक्त्या तस्य बोधनादप्रवर्तकत्वात् मध्यविषाधारादावरावकं प्रशान्तरूपं रावं नादं कृत्वा

'......................कन्दे षड्रसलम्पटाः ।'

इतिभङ्ग्या ज्ञानामृतरसात्मकं कन्दपदं कामिकं सर्वकामाभिधं जीवं सञ्जीवन्यमृताभिधं चतुष्पथवर्तित्वात् चतुष्कोणं चिन्तामण्यभिधानं च यावत् पैण्डं शरीरमाधारं व्रजेत् । तत्र आधारेषु च क्रमागतां तां कुलकुण्डलिकां बोधयित्वा

लिङ्ग-लिङ्गिनी गमागमन सञ्चार में विचरण करती है । वहाँ उस पद के संयोग से (वह) उन्मीलन करती है । जो इस उर्मि का उन्मीलन करने वाले इस संगम स्थान को जानता है वह रस के आदान और विसर्ग में सिद्ध हो जाता है । यह क्रम है । इससे भिन्न भी क्रम है (जिस कारण) यह परा खेचरी योनि का आधार कही गयी है । इसे शूलमूला कहा जाता है । वर्णरूपी इस अवर्ण में (समस्त) वर्ण लीन हो जाते हैं ॥ ३२-४१॥

यहाँ (योगी) अणु की अन्तर्वेदिनी = भीतर सञ्चरण करने वाली = तन्मयता को प्राप्त, कुलकुण्डलिका = सुषुम्ना में सञ्चरणशील प्राणशक्ति को आक्रान्त कर अज्ञानसंहर्त्री को = अपने स्थान मूलाधार में उसके साथ एकता की प्राप्ति रूपा निर्वृति को, प्राप्त कर

'मूल में शाक्त उल्लास होता है जो बोधनाद का प्रवर्त्तक कहा गया है ।'

इस उक्ति के अनुसार उस (= अणु) के बोधनाद के प्रवर्त्तक होने के कारण मध्यविषाधार आदि में अराव = प्रशान्तरूप, रावक = नाद को उत्पन्न करके

'कन्द में छह रसों का लम्पट (योगी अमृतपान करता है)'

इस भङ्गी से (योगी) ज्ञानअमृतरस रूप कन्दपद को, जो कि कामिक = सर्वकाम नामवाला, जीव = सञ्जीवनी अमृत नामवाला, चतुष्पथ में रहने के कारण

मूलस्थानादारभ्य प्राणापानात्मचक्रद्वयोम्भितां द्वादशान्तं यावत् गच्छन्तीं ज्ञात्वा यथा अयं योगी ज्ञानजेनैव माहात्म्येन अज्ञानग्रन्थिं दुर्भेद्यत्वात् वज्राख्यां मध्यनाडीं च विदारयेत्, तथा प्राणापानात्मशाखाद्वयस्य अन्तमवलम्ब्य जन्माधाररूपत्रिकोण-मध्यादपि विनिष्क्रान्तमत एव मेढ्राधोवर्तित्वात् लिङ्गमूलम् = तदाख्यमकुलाधारम्, अपि विभेदयेत् । तत्र हि प्राणापानरूपं चक्रयुग्मं स्वस्वरूपत्रोटनेन सङ्घट्टितं सदैक्येन भासते मध्यप्राणशक्तेरेव ततः समुदयः—इत्यर्थः । अतो लिङ्गमूलाख्या-दकुलपदात्पुनः सा वैपरीत्यादधोगत्या निक्षेपं विधाय द्विधाभावं व्रजति यदियमूर्वा-द्यंगुष्ठपर्यन्तत्वनिमित्तमात्मानं विनिक्षिपेत्—तद्रूपतां गृह्णीयात्—इत्यर्थः । सा कुलकुण्डलिका हि ऊर्ध्वाधःसञ्चारमनादृत्य प्राणापानलक्षणाभ्यां लिङ्गाभ्यां लिङ्गिनी तत्क्रोडीकारेण ज्ञप्तिं प्राप्ता सती चरेत् तत्तदाधारादिभेदेन मध्यधाम आक्रामेत् । सा हि तत्र मध्यधाम्नि प्राणापानपदद्वयसंयोगात्संविद्विकासमादध्यात् । यश्च एवंविधमिदं सर्वभावानुस्यूतमूर्मिण्युन्मीलनं परसंविद्विकासाधायि परं स्थानं जानाति, स संविद्रसादानविसर्गयोः सिद्ध्येत् सृष्टिसंहारकारित्वेऽस्य सामर्थ्य-मुत्पद्यते—इत्यर्थः । अस्याश्च एष यथोक्तस्तत्तदाधारादिसञ्चारात्मा क्रमः स्वारसिक

चतुष्कोण और चिन्तामणि नामक पैण्ड = आधारभूत, शरीर को प्राप्त करता है । उन आधारों में क्रमागत उस = कुलकुण्डली को उद्बुद्ध कर मूल स्थान से लेकर प्राण अपान रूप दो चक्रों से उठायी गयी द्वादशान्त तक जाने वाली (कुलकुण्डलिनी) को जानकर यह योगी ज्ञानजन्य माहात्म्य से अज्ञानग्रन्थिभूत तथा दुर्भेद्य होने के कारण वज्र नामक सुषुम्ना नाड़ी का भेदन करता है । तथा प्राण अपानरूप दो शाखाओं के अन्त का अवलम्बन कर जन्माधाररूप त्रिकोण के मध्य से भी विनिष्क्रान्त इसलिये मेढ़ के अधोवर्त्ती होने के कारण लिङ्गमूल = उस नाम वाले अकुलाधार, का भी भेदन करे । वहाँ प्राण और अपानरूप दो चक्र अपने-अपने स्वरूप को तोड़ कर सङ्घट्टित होते हुये एक प्रतीत होते हैं अर्थात् वहाँ से मध्यप्राण शक्ति का उदय होता है । फिर इस = लिङ्गमूल नामक अकुलपद, से वह विपरीतता के कारण अधोगति से निक्षेप कर द्विधाभाव को प्राप्त होती है अर्थात् कि यह उरु से लेकर अंगुष्ठ पर्यन्तत्व के लिये अपने को निक्षिप्त करती है = उस रूप का ग्रहण करती है । वह = कुलकुण्डलिका, ऊपर नीचे के सञ्चार की अपेक्षा न कर प्राणअपानलक्षण वाले दो लिङ्गों के द्वारा लिङ्गिनी उसका आत्मसात् करने के कारण ज्ञप्ति को प्राप्त होती हुयी सञ्चरण करती है = तत्तत् आधार आदि भेद से मध्यधाम को आक्रान्त करती है । वह (= कुलकुण्डलिका) वहाँ = मध्यधाम में प्राण अपान रूपी दो पदों के संयोग से संविद्विकास को उत्पन्न करती है । जो (व्यक्ति) इस प्रकार के इस सर्वभावानुस्यूत उर्मि में उन्मीलन करने वाले परसंविद्विकास को उत्पन्न करने वाले पर स्थान को जानता है वह संविद्रस के आदान और विसर्ग में सिद्धि प्राप्त करता है अर्थात् सृष्टि और संहार करने में इसका सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है । और इसका यह = यथोक्त तत्तत्

एव वाहः—इत्यर्थः । ततोऽन्यो व्युत्क्रमोऽपि अस्याः सम्भवति यदियं परा खेचरी योन्याधारेति विख्याता तत उदिता सती शूलमूलेति शब्द्यते झटित्येव शक्तिव्यापिनीसमनात्मकारात्रययोगित्वात् द्वादशान्तपदं प्राप्ता—इत्यर्थः । यतस्तत्र सर्वोच्छेदरूपे क्रोडीकृतबाह्यामर्शेऽपि स्वामर्शमात्रात्मनि अवर्णे वर्णा बाह्यामर्शा लयं यान्ति—तद्विश्रान्ता एव भवन्ति—इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

ननु भवतु एवं, योगी पुनरस्याः कथं प्रबोधमादद्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

नादिफान्तं समुच्चार्य कौलेशं देहसंनिभम् ।
आक्रम्य प्रथमं चकं खे यन्त्रे पादपीडितम् ॥ ४२ ॥
नादं वै शक्तिसद्गर्भं सद्गर्भात्कौलिनीपदम् ।
बीजपञ्चकचारेण शूलभेदक्रमेण तु ॥ ४३ ॥
हृच्छूलग्रन्थिभेदैश्चिद्रुद्रशक्तिं प्रबोधयेत् ।
वायुचक्रान्तनिलयं बिन्द्वाख्यं नाभिमण्डलम् ॥ ४४ ॥
आगच्छेल्लम्बिकास्थानं सूत्रद्वादशनिर्गतम् ।
चन्द्रचक्रविलोमेन प्रविशेद्भूतपञ्जरे ॥ ४५ ॥
भूयस्तु कुरुते लीलां मायापञ्जरवर्तिनीम् ।

आधार आदि में सञ्चार रूप, क्रम = प्रवाह, स्वाभाविक ही है उससे भिन्न इसका व्युत्क्रम भी सम्भव है कि यह परा खेचरी योन्याधारा कही गयी है । वहाँ से उदित हुई अर्थात् उठकर यह शूलमूला कही जाती है । अर्थात् शीघ्र ही शक्ति व्यापिनी और समनारूप तीन अराओं से युक्त होने के कारण द्वादशान्त पद को प्राप्त हो जाती है । जिस कारण वहाँ = सर्वोच्छेद रूप बाह्य आमर्श के क्रोडीकृत होने पर भी स्वामर्शमात्र रूप अवर्ण में, वर्ण = बाह्य आमर्श, लीन हो जाते हैं = उसमें विश्रान्त हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

प्रश्न—ऐसा हो, किन्तु योगी इसका प्रबोध कैसे प्राप्त करता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

योगी कौलेश एवं देहसदृश नादि फान्त (= 'न' से लेकर 'फ' तक) का उच्चारण कर प्रथम चक्र को 'ख' यन्त्र में 'क' अंश से पीड़ित कर शक्तिगर्भित नाद को (प्राप्त कर) फिर शक्तिसद्गर्भ से कौलिनी पद को (प्राप्त कर); तत्पश्चात् पाँच बीजों में सञ्चरण के द्वारा शूलभेद के क्रम से हृदशूल और द्वादश ग्रन्थिभेदों के द्वारा चिद्रुद्रशक्ति को प्रबुद्ध करे । (इसके फलस्वरूप योगी) वायुचक्रान्तनिलय बिन्दुनामक नाभिमण्डल, लम्बिकास्थान, जो कि द्वादश सूत्रों से परे है, को प्राप्त होता है । फिर चन्द्रचक्र के विलोम से भूतपञ्जर में प्रवेश करता है और बार-बार मायापञ्जरवर्त्तिनी लीला को करता है । विद्वान् (योगियों) के द्वारा खेचरी

पुनः सृष्टिः संहृतिश्च खेचर्या क्रियते बुधैः ॥ ४६ ॥
श्रीमद्वीरावलीयोग एष स्यात्खेचरीविधिः ।

चित्—शुद्धात्मा, कौलेशं रहस्यज्ञानप्रधानभूतमत एव गर्भीकृतमध्यशक्ति नादिफान्तरूपं सर्वमन्त्रारणिस्वभावं नादं स्वदेहाभेदेन समुच्चार्य तमेव च एवं सगर्भमुच्चार्यमाणं नादमधिकृत्य खे जन्माकाशरूपे मर्मणि कौलिन्याः कुलकुण्डलिन्याः पदं

'जन्माख्ये नाडिचक्रं तु.................... ।'

इत्युक्तं नाड्यात्म प्रथमं चक्रं पादेन अंशेन पीडितं विधाय तत्र कथञ्चित् प्राणशक्तिं निरुध्य अवशिष्टानि पञ्चापि चक्राणि आक्रम्य ब्रह्मादिकारणपञ्चको-ल्लङ्घनक्रमेण हृत्स्थस्य नाडित्रयात्मनः शूलस्य ग्रन्थिद्वादशकस्य ब्रह्मरन्ध्रो-परिवर्तिनः शक्त्याद्यात्मनः शूलस्य च भेदनक्रमेण रुद्रशक्तिं प्रबोधयेत् । येन अयं जन्मपदादारभ्य पवनाधारात्मनो वायुचक्रस्य अन्ते संनिकर्षे वर्तमानं नाभिमण्डलं तत्सङ्घट्टाधारं लम्बिकास्थानं तदूर्ध्वस्थितं सुधाधारं बिन्द्वाख्यं भ्रूमध्यवर्तिनं विद्याकमलसंज्ञितमाधारं नाडीनां तात्स्थ्यात् ग्रन्थीनां द्वादशकात् निर्गतं सर्वसंबन्धोत्तीर्णं द्वादशान्तपदं च यावत् आ समन्तादृजुना क्रमेण

के द्वारा बार-बार सृष्टि और संहार किया जाता है । श्रीमद्वीरावलीयोग में यह खेचरीविधि (कही गयी) है ॥ ४२-४७- ॥

चित् = शुद्ध आत्मा, कौलेश को = रहस्यज्ञानप्रधानभूत अत एव मध्यशक्ति को गर्भ में रखने वाले नादि फान्त रूप तथा समस्त मन्त्रों के अरणिस्वभाव वाले नाद को, अपने शरीर से अभिन्न रूप में उच्चारण कर और इस प्रकार सगर्भ उच्चार्यमाण इसी नाद के आधार पर ख में = जन्माकाशरूप मर्म में, कौलिनी के = कुलकुण्डलिनी के, पद जो कि

'जन्म नाम के (आकाश) में नाडिचक्र को.............।'

ऐसा कहा गया है, नाडीरूप प्रथमचक्र को पाद = एक अंश से पीड़ित कर वहाँ किसी प्रकार प्राणशक्ति को (योगी) निरुद्ध करे । तत्पश्चात् अवशिष्ट पाँचों चक्रों (= मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत और शाकिनी) को आक्रान्त कर ब्रह्मादि (= ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) पाँच कारणों का उल्लङ्घन करते हुये हृदय में स्थित तीन नाड़ी (= इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना) रूप शूल का भेदन कर रुद्रशक्ति को प्रबुद्ध करे जिससे यह (योगी) जन्मपद से लेकर पवनाधार रूप वायुचक्र के अन्त = सन्निकर्ष, में वर्त्तमान नाभिमण्डल और उसके सङ्घट्ट का आधार लम्बिकास्थान उसके ऊपर स्थित सुधाधारबिन्दु नामक भ्रूमध्य में स्थित विद्याकमल नामक नाड़ियों का आधार और उसमें स्थित बारह ग्रन्थियों सहस्त्रार, अ, उ, म्, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना

गच्छेत्—तत्र विश्रान्तिं कुर्यात्—इत्यर्थः । भूयस्तु तत्र चन्द्रचक्रादपानस्थात् प्रत्यावृत्त्यात्मना विलोमक्रमेण स्वशरीरमेव प्रविशेत्, येन अयं व्युत्थानदशोचितं व्यवहरेत् । अतश्च खेचरीमुद्रावेशभाजां ज्ञानिनामन्तर्बहिरुन्मेषनिमेषाभ्यामाजवञ्जवीभावेन सृष्टिसंहारकारित्वं स्यात्—इति संक्षेपार्थः । योगे इति तद्वचनावसरे इति—यावत् ॥

श्रीकामिकोक्तमपि अस्या रूपमाह

चुम्बाकारेण वक्त्रेण यत्तत्त्वं श्रूयते परम् ॥ ४७ ॥
ग्रसमानमिदं विश्वं चन्द्रार्कपुटसंपुटे ।
तेनैव स्यात्खगामीति श्रीमत्कामिक उच्यते ॥ ४८ ॥

चुम्बाकारेण काकचञ्चुपुटाकृत्यनच्ककलात्मना मध्यप्राणशक्त्यवलम्बिनापि स्वरूपेण वक्त्रेण यदिदं प्रमाणप्रमेयात्मकं विश्वं स्वात्मसात्कुर्वाणमत एव परं प्रमात्रेकरूपं तत्त्वं चन्द्रार्कपुटस्य प्राणापानयुग्मस्य संपुटे = मध्यधाम्नि श्रूयते = साक्षात्क्रियते, तत एव अस्य खचारित्वं स्यात्—इति वाक्यार्थः ॥ ४८ ॥

इदानीं श्रीकुलगह्वरोक्तं सविशेषमस्या रूपं वक्तुमाह—

भवान्मुक्त्वा द्रावयन्ति पाशान्मुद्रा हि शक्तयः ।

से निर्गत सब सम्बन्धों को पार करने वाले (अधः) द्वादशान्त पद तक ऋजु क्रम से जाता है अर्थात् वहाँ विश्राम करता है । फिर वहाँ अपानस्थ चन्द्रचक्र से प्रत्यावृत्तिरूप उल्टे क्रम से अपने शरीर में ही प्रवेश करता है जिससे यह योगी व्युत्थानदशा के अनुरूप व्यवहार करता है । इसलिये खेचरी मुद्रा के आवेश वाले ज्ञानी भीतर बाहर उन्मेष-निमेष के द्वारा आजवञ्जवी भाव (= उन्मेषनिमेषमय भाव) से सृष्टिसंहारकारी होते हैं--यह संक्षिप्त अर्थ है । योग में = उसके कथन के समय ॥

इसका श्री कामिकोक्त भी स्वरूप बतलाते हैं—

चुम्बाकार मुख से ग्रसमान जो विश्वरूप परतत्त्व चन्द्रसूर्य रूप पुट के संपुट में सुना जाता है इसी से (योगी) खेचर होता है—ऐसा श्रीमत् कामिक शास्त्र में कहा जाता है ॥ -४७-४८ ॥

चुम्बाकार से = कौवे के चञ्चुपुट की आकृति वाले स्वररहित कलारूप, मध्यप्राणशक्ति का अवलम्बन करने वाले स्वरूप मुख से, जो यह प्रमाणप्रमेयात्मक विश्व का साक्षात्कार करने वाला अत एव परप्रमात्रेकरूप तत्त्व चन्द्रसूर्यपुट = प्राणापान दोनों के संपुट = मध्यधाम, में सुना जाता है = साक्षात्कृत होता है, इसी कारण यह खचारी होता है—यह वाक्यार्थ है ॥ ४८ ॥

अब श्री कुलगह्वरोक्त इसके रूप को विशेषता के साथ कहते हैं—

मुख्यासां खेचरी सा च त्रिधोच्चारेण वाचिकी॥ ४९ ॥
त्रिशिरोमुद्गरो(रे) देवि कायिकी परिपठ्यते ।

अतो हि पारमेश्वर्यः शक्तय एव मुद्रा उक्ता यदासां पशूनां संसारात् मोचयित्वा पाशान् द्रावयन्तीति निर्वचनम् । यदुक्तम्—

'मोचयन्ति महाघोरात्संसारमकराकरात् ।
द्रावयन्ति पशोः पाशांस्तेन मुद्रा हि शक्तयः॥' इति ।

उच्चारेणेति—मन्त्रादेः । त्रिशिरोमुद्गर इति—

'इच्छाज्ञानक्रियापूर्वा................................ ।'

इत्यादिनीत्या शक्तित्रयमयत्वात् त्रिशिरोमुद्गरो मुदं परानन्दं गृणाति स्वात्मनि आमृशतीति परसंवित्—इत्यर्थः ॥

एवमेव हि परा संवित् कायत्वेन उल्लसिता—इत्याह—

नासां नेत्रद्वयं चापि हृत्स्तनद्वयमेव च ॥ ५० ॥
वृषणद्वयलिङ्गं च प्राप्य कायं गता त्वियम् ।

संसार से मुक्त कराकर पाशों को द्रावित करती है इस कारण शक्तियाँ ही मुद्रा हैं । इनमें खेचरी मुख्य है और वह (वाचिकी, कायिकी और मानसी) तीन प्रकार की है । हे देवि ! उच्चार के कारण वाचिकी, हे त्रिशिरोमुदगरे ! (= इच्छा ज्ञान क्रिया रूप तीन शीर्ष के द्वारा मुद् = आनन्द का अपने में गरण = निगरण = परामर्श करने वाली !) कायिकी कही जाती है ॥ ४९-५०- ॥

इस कारण पारमेश्वरी शक्तियाँ ही मुद्रा कही गयी हैं क्योंकि ये पशुओं को संसार से मुक्त कराकर पाशों को द्रावित करती हैं—ऐसी व्याख्या है । जैसा कि कहा गया—

'महाघोर संसार रूपी मकर के आकर से जो मुक्त कराती हैं और पशु के पाशों को द्रावित कर देती हैं इसलिये शक्तियाँ ही मुद्रायें हैं ।'

उच्चार के द्वारा—मन्त्र आदि के । त्रिशिरोमुद्गर—

'इच्छा ज्ञान क्रिया पूर्वा.....................।'

इत्यादि नीति के अनुसार तीन शक्तियों से युक्त होने के कारण त्रिशिरः । मुद्गर = मुद् = परानन्द, का गीर्णन करती है = स्वात्मा में आमर्शन करती है (इस कारण मुद्गर) अर्थात् परसंवित् ॥

इसी प्रकार परासंवित् कायरूप में उल्लसित होती है—यह कहते हैं—

(यह परा संवित्) नासिका, दोनों नेत्र, हृदय, दोनों स्तन, दोनों वृषण

भवस्थानाभवस्थानमुच्चारेणावधारयेत् ॥ ५१ ॥
मानसीयमितस्त्वन्याः पद्माद्या अष्ट मुद्रिकाः ।
मातृव्यूहकुले ताः स्युरस्यास्तु परिवारगाः ॥ ५२ ॥
शरीरं तु समस्तं यत्कूटाक्षरसमाकृति ।
एषा मुद्रा महामुद्रा भैरवस्येति गह्वरे ॥ ५३ ॥

हृदिति—हृत्पद्मनालरूपम् । एतत्सतत्त्वं च तत्र तत्र शास्त्रे निरूपितमिति अतिरहस्यत्वादिह न प्रपञ्चितम् । तत् गुरुमुखादेव बोद्धव्यम् । भवस्थानं शरीरमभवस्थानमुच्चारेणेति—

'पद्मं हृत्पद्ममेवात्र शूलं नाडित्रयं प्रिये ।
नाभिं चक्रं विजानीयाच्छक्तिं नादान्तरूपिणीम् ॥
बिन्दुदेशोद्भवं दण्डं वज्रं चित्तमभेदकम् ।
दंष्ट्रां जिह्वां महाभागे कपालं व्योममण्डलम् ॥
एषु स्थानेषु सञ्चारान्मानसी परिपठ्यते ।'

इत्यादिनयेन ऊर्ध्वं चारेण गमनेन—इत्यर्थः । अष्टेति—यदुक्तम्—

'खेचर्याः परिवारस्तु अष्टौ मुद्राः प्रकीर्तिताः ।

और लिङ्ग को प्राप्त कर यह (= खेचरी) शरीर को प्राप्त हो गयी है । भवस्थान अभवस्थान का निश्चय उच्चार के द्वारा करना चाहिये । यह मानसी (तृतीय प्रकार की खेचरी) है । इससे भिन्न पद्मा आदि आठ मुद्रायें हैं । मातृव्यूहकुल में वह इस (= खेचरी) की परिवारगामिनी (कही गयी) हैं । समस्त शरीर को जो कूट अक्षर के समान आकृति वाला (बनाया जाता है) यह मुद्रा भैरव की महामुद्रा है—ऐसा गह्वरशास्त्र में (उक्त है) ॥ -५०-५३ ॥

हृत् = हृदयकमलनाल रूप । यह तत्त्व भिन्न-भिन्न शास्त्रों में निरूपित है इस कारण अत्यन्त रहस्य होने से यहाँ विस्तारपूर्वक नहीं (कहा गया) । इसे गुरुमुख से ही जानना चाहिये । भवस्थान (भव = संसार, का स्थान = आश्रय) = शरीर । अभवस्थान = उच्चार ।

'हे प्रिये ! 'कमल' का अर्थ यहाँ हृदयकमल है और तीनों नाड़ियाँ शूल हैं । नाभि को चक्र और नादान्त को शक्ति जानना चाहिये । दण्ड बिन्दुदेश में उत्पन्न है और वज्र भेदरहित चित्त को (कहते हैं) । हे महाभागे ! जिह्वा दाँत और व्योममण्डल कपाल है । इन स्थानों में सञ्चरण के कारण (यह खेचरी मुद्रा) मानसी कही जाती है ।'

इत्यादि शास्त्र के आधार पर (उत् =) ऊपर, चार = गमन, के कारण उच्चार कहा जाता है । आठ—जैसा कि कहा गया—

शूलाष्टके च देवेशि मातृव्यूहे च ताः स्मृताः ॥
पद्मं शूलं तथा चक्रं शक्तिर्दण्डं सवज्रकम् ।
दंष्ट्रा कपालमित्येवं तदशेषव्यवस्थितम् ॥' इति ॥

कूटाक्षरम् = क्षकारः । एतत्सतत्त्वं च प्राक् बहुशः प्रतिपादितम् । अनेन प्रागुद्दिष्टाया भैरवमुद्राया अपि लक्षणमुक्तम् ॥ ५३ ॥

अस्या एव सर्वत्र अविगीततां दर्शयितुं शास्त्रान्तरतोऽपि सप्रभेदं रूपमाह—

सूपविष्टः पद्मके तु हसताग्रांगुलिरश्मिभिः ।
पराङ्मुखैर्झटित्युद्यद्रश्मिभिः पृष्ठसंस्थितैः ॥ ५४ ॥
अन्तःस्थितिः खेचरीयं सङ्कोचाख्या शशाङ्किनी ।
तस्मादेव समुत्तम्ब्य बाहू चैवावकुञ्चितौ ॥ ५५ ॥
सम्यग्व्योमसु संस्थानाद् व्योमाख्या खेचरी मता ।
मुष्टिद्वितयसङ्घट्टात्धृदि सा हृदयाह्वया ॥ ५६ ॥
शान्ताख्या सा हस्तयुग्मगूर्ध्वाधः स्थितमुद्गतम् ।
समदृष्ट्यावलोक्यं च बहिर्योजितपाणिकम् ॥ ५७ ॥
एषैव शक्तिमुद्रा चेदधोधावितपाणिका ।

'हे देवेशि ! आठ मुद्रायें खेचरी का परिवार कही गयी हैं । शूलाष्टक और मातृव्यूह में उनकी स्थिति है (अथवा उनका वर्णन) है । पद्म, शूल, चक्र, शक्ति दण्ड, वज्र, दंष्ट्रा और कपाल (ये आठ शूल हैं) इस प्रकार वह सब व्यवस्थित है ।'

कूटाक्षर = क्षकार । यह तत्त्व पहले अनेक बार प्रतिपादित है । इसके द्वारा पूर्व उद्दिष्ट भैरवमुद्रा का भी लक्षण कहा गया ॥ ५३ ॥

इसका सर्वत्र मतैक्य दिखलाने के लिये दूसरे शास्त्रों में भी इसका भेद के साथ रूप बतलाते हैं—

(योगी) पद्मासन पर भलीभाँति बैठ कर हस्ताग्रअंगुलि रूपी रश्मियों, जो कि पीछे स्थित हैं (अतः) पराङ्मुख और झटिति उठ रही हैं, के द्वारा अन्तः में स्थित होता है (= कुम्भक प्राणायाम करता है) यह सङ्कोचनामक शशाङ्किनी (मुद्रा) है । उसी (आसन) से अवकुञ्चित दोनों भुजाओं को समुत्तम्बित (स्वस्तिक के आकार का बना) कर व्योमों (= पाँच छिद्रों) में सम्यक् स्थित (= ध्यानस्थ) होने से खेचरी मानी गयी है । हृदय में दोनों मुट्ठियों के सङ्घट्ट से वह हृदया नामक (कही गयी) है । दोनों हाथ ऊपर नीचे स्थित हों, बाहर की ओर (दोनों) हाथों को मिलाकर समान दृष्टि से (दोनों को) ऊपर की ओर उठा हुआ देखना शान्ता नाम्नी (मुद्रा) है ।

दशानामंगुलीनां तु मुष्टिबन्धादनन्तरम् ॥ ५८ ॥
द्राक्क्षेपात्खेचरी देवी पञ्चकुण्डलिनी मता ।
संहारमुद्रा चैषैव यद्यूर्ध्वं क्षिप्यते किल ॥ ५९ ॥
उत्क्रामणी झगित्येव पशूनां पाशकर्तरी ।
श्वभ्रे सुदूरे झटिति स्वात्मानं पातयन्निव ॥ ६० ॥
साहसानुप्रवेशेन कुञ्चितं हस्तयुग्मकम् ।
अधोवीक्षणशीलं च सम्यग्दृष्टिसमन्वितम् ॥ ६१ ॥
वीरभैरवसंज्ञेयं खेचरी बोधवर्धिनी ।
अष्टधेत्थं वर्णिता श्रीभर्गाष्टकशिखाकुले ॥ ६२ ॥

इह पद्माद्यासनस्थो योगी यदा पृष्ठसंस्थितत्वादेव पराङ्मुखैरुद्यद्रश्मिभिर्बहिर्निर्गच्छच्छशाङ्करश्मिभिर्हस्ताग्रांगुलय एव रश्मयः = रज्जवः, तैरुपलक्षितः सन् झटित्येव बाह्योपसंहारादन्तःस्थितिः स्वात्मनि एव विश्रान्तः स्यात्; तदा एवंभावितशशाङ्कत्वात् शशाङ्किनी, बाह्यस्य च सङ्कुचितत्वात् सङ्कोचाख्या इयमेका खेचरी मुद्रा । तथा तं हस्तांगुल्यादिसंनिवेशमाश्रित्य बाहू सम्यगवकुञ्चितौ समुत्तम्ब्य स्वस्तिकाकारतया अवष्टभ्य

'खमनन्तं तु मायाख्यं.......................।'

यदि यही नीचे किये गये हाथों वाली है तो शक्ति मुद्रा (मानी जाती) है । दशों अंगुलियों की मुट्ठी बाँधने के बाद झट से खोल देने से यह खेचरी देवी पञ्चकुण्डलिनी मानी गयी है । यही यदि ऊपर की ओर निक्षिप्त होती है तो संहार मुद्रा होती है । यही उत्क्रामणी और पशुओं के पाश का नाश करने वाली है । (योगी जब) नीचे देखता हुआ सम्यक् दृष्टि से युक्त, दोनों हाथों को बटोर कर सुदूर छिद्र में झट से अपने को मानो गिराता हुआ (समझता है तब) यह बोधवर्धिनी खेचरी मुद्रा वीरभैरव नामवाली होती है । इस प्रकार श्री भर्गाष्टक शिखाकुल में यह आठ प्रकार की (मुद्रा) वर्णित है ॥ ५४-६२ ॥

पद्म आदि आसन से बैठा हुआ योगी जब पीछे स्थित होने के ही कारण पराङ्मुख उद्यद् रश्मियों के द्वारा बाहर निकलती हुयी चन्द्रकिरणों के द्वारा, हाथ के अग्रभाग की अंगुलियाँ ही रश्मियाँ = रस्सियाँ हैं, उनसे उपलक्षित होता हुआ झट से बाह्य (परिवेश) का उपसंहार करने से, अन्तः स्थिति वाला = आत्मा में ही विश्रान्त, हो जाता है तब इस प्रकार भावित शशाङ्कता के होने से शशाङ्किनी और बाह्य के सङ्कोच के कारण सङ्कोचा नामक यह एक खेचरी मुद्रा है । तथा उस हाथ अंगुली आदि सन्निवेश के आधार पर सम्यक् अवकुञ्चित दोनों भुजाओं को समुत्तम्बित कर = स्वस्तिक के आकार में बाँध कर,

इत्याद्युक्तेषु पञ्चसु व्योमसु सम्यगुक्तेन क्रमेण स्थानात् गाढावष्टम्भात् व्योमाख्या द्वितीया । तथा अन्तःकृताधोवर्तिदक्षिणमुष्ट्यंगुष्ठोपरिगतोच्छ्रितांगुष्ठ-वाममुष्टिलक्षणस्य मुष्टिद्वयस्य हृदि सङ्घट्टात् सा खेचरी हृदयाख्या तृतीया । तथा हस्तशब्देन बाहूपलक्षणात् बाहुयुग्ममधःस्थितवाममूर्ध्वस्थितदक्षिणमन्तःसंमुख-पाणिकत्वेऽपि उद्गतमूर्ध्वस्थितहस्तं दृष्टिसाम्येन अवलोकनीयं यदा स्यात्, तदा सा शान्ताख्या चतुर्थी । तथा एषैव शान्ताख्या एवंसंनिवेशेऽपि अधोधावितपाणिका चेत् भवेत्, तदा शक्तिमुद्राख्या पञ्चमी । तथा द्वयोरपि करयोः मुष्टिबन्धादनन्तरं दशानामपि अंगुलीनां झटित्येव तिर्यक्प्रतिक्षेपात् प्रतिकरं पञ्चकुण्डलिनीरूपत्वात् पञ्चकुण्डलिन्याख्या षष्ठीं । तथा यद्येवं दशानामपि अंगुलीनामूर्ध्वं प्रक्षेपः, तदैव एषैव पञ्चकुण्डलिनी संहारमुद्राख्या सप्तमी । संहारमुद्रात्वमेव च अस्या उत्क्रामणीत्यादिना प्रदर्शितम् । तथा अधोवीक्षणशीलत्वेन सम्यगन्तर्लक्ष्यतया दृष्ट्या समन्वितं कुञ्चितं हस्तयुग्मं विधाय सुदूरे श्वभ्रे साहसमुद्रानुप्रवेशेन झटिति स्वात्मानं पातयन्निव यदा योगी वर्धितबोधो भवेत्, तदैव इयं वीरभैरवसंज्ञा अष्टमी,—इति श्रीभर्गशिखाकुलम् ॥ ६२ ॥

एतदुपसंहरन् वीर्यवन्दनमवतारयति—

'माया नामक 'ख' (= आकाश) अनन्त है........ ।'

इत्यादि उक्त पाँच आकाशों में सम्यक् उक्त क्रम से स्थित होने के कारण = गाढ़ अवष्टम्भ के कारण, व्योमा नामक दूसरी (मुद्रा) है । तथा भीतर किये गये नीचे की ओर दायीं मुट्ठी के अंगूठे के ऊपर स्थित बाँयी मुट्ठी, जिसका अंगूठा ऊपर उठा है, वाली दोनों मुट्ठियों के हृदय में सङ्घट्ट से वह हृदया नामक तीसरी खेचरी मुद्रा है । तथा 'हस्व' शब्द से बाहु को समझने से दोनों बाहुओं को, जिसमें बाँया नीचे और दायाँ ऊपर होगा तथा दोनों के हाथ भीतर की ओर सामने होंगे, ऐसा होने पर भी जब ऊर्ध्वस्थित हाथ को समदृष्टि से देखा जाय तब वह शान्ता नामक चतुर्थी (खेचरी) मुद्रा होती है । तथा यही शान्ता नामक (मुद्रा) ऐसा ही सन्निवेश होने पर यदि नीचे की ओर गये हुये हाथों वाली होती है तब शक्तिनामक पाँचवीं मुद्रा होती है । तथा दोनों हाथों की मुट्ठी बाँधने के बाद दशों अंगुलियों के झट से तिर्यक् क्षेप से प्रत्येक हाथ में पाँच कुण्डलिनी रूप होने पञ्चकुण्डलिनी नामक छठीं (मुद्रा) है । तथा यदि इसी प्रकार दशों उंगलियों का ऊर्ध्वप्रक्षेप हो तब यह पञ्चकुण्डलिनीसंहार नामक सप्तमी मुद्रा है । इसका संहारमुद्रात्व (मूलश्लोकस्थ) ही 'उत्क्रमणी' इत्यादि के द्वारा प्रदर्शित है । तथा जब योगी अधोवीक्षणशील होने से सम्यक् अन्तर्लक्ष्यवाली दृष्टि से समन्वित तथा दोनों हाथों को कुञ्चित कर सुदूर छिद्र में साहस मुद्रा के अनुप्रवेश के द्वारा झट से अपने को मानों गिराता हुआ प्रवृद्धज्ञान वाला हो जाता है तब यह वीरभैरव नामक आठवीं मुद्रा होती है—ऐसा श्री भर्गशिखाकुल (मे उक्त) है ॥ ६२ ॥

एवं नानाविधान्भेदानाश्रित्यैकैव या स्थिता।
श्रीखेचरी तयाविष्टः परं बीजं प्रपद्यते ॥ ६३ ॥

नानाविधानिति—त्रिशूलिन्यादीन् । आसां च त्रिशूलिन्यादीनामनवक्लृप्तिपरतया सर्वासामेव स्वरूपं न उक्तम् । परं बीजमिति—सृष्टिमयं पराबीजम् । वस्तुतो हि अनयोरभेदः—इति भावः । यदागमः—

'एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
द्वावेकं यो विजानाति स वै पूज्यः कुलागमे ॥' इति ॥ ६३ ॥

अत एव आह—

एकं सृष्टिमयं बीजं यद्वीर्यं सर्वमन्त्रगम् ।
एका मुद्रा खेचरी च मुद्रौघः प्राणितो यया ॥ ६४ ॥

अतश्च तदावेश एव सर्वमुद्राणां तत्त्वम्—इत्याह—

तदेवं खेचरीचक्ररूढौ यद्रूपमुल्लसेत् ।
तदेव मुद्रा मन्तव्या शेषः स्याद्देहविक्रिया ॥ ६५ ॥

शेष इति—तदावेशशून्यः ॥ ६५ ॥

इसका उपसंहार करते हुये वीर्यवन्दन की अवतारणा करते हैं—

इस प्रकार एक ही जो श्रीखेचरी मुद्रा अनेक भेदों का आश्रयण कर स्थित है उससे समाविष्ट (योगी) परबीज को प्राप्त करता है ॥ ६३ ॥

नानाविध = त्रिशूलिनी आदि । इन त्रिशूलिनी आदि के अनवक्लृप्तिपरक (कल्पना से परे) होने से सबका स्वरूप नहीं कहा गया । परबीज = सृष्टिमय परा बीज । वस्तुतः इन दोनों (= खेचरीमुद्रा और परबीज) में अभेद हैं—यह तात्पर्य है। जैसा कि आगम है—

'सृष्टिमय बीज एक ही है और एक ही मुद्रा है—खेचरी । इन दोनों को जो एक समझता है वह कौलमार्ग में पूज्य है' ॥ ६३ ॥

इसलिये कहते हैं—

एक ही सृष्टिमय बीज है जो वीर्य सब मन्त्रों में वर्त्तमान है । एक ही मुद्रा खेचरी है जिसके द्वारा मुद्रासमूह प्राणित है ॥ ६४ ॥

इसलिये उसका आवेश ही सब मुद्राओं का तत्त्व है—यह कहते हैं—

तो इस प्रकार खेचरीचक्र के रूढ होने पर (= खेचरीमुद्रा की साधना में परिपक्व होने पर) जो रूप उल्लसित होता है उसी को मुद्रा मानना चाहिये । शेष तो देह का विकार है ॥ ६५ ॥

आसामेव च बन्धाय कालभेदं निरूपयितुमाह—

यागादौ तन्मध्ये तदवसितौ ज्ञानयोगपरिमर्शे ।
विघ्नप्रशमे पाशच्छेदे मुद्राविधेः समयः ॥ ६६ ॥

ननु एवं समये मुद्राबन्धेन किं स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

बोधावेशः सन्निधिरैक्येन विसर्जनं स्वरूपगतिः ।
शङ्कादलनं चक्रोदयदीप्तिरिति क्रमात्कृत्यम् ॥ ६७ ॥

चक्रोदयदीप्तिरिति—सप्तमाह्निकनिरूपितस्थित्या उदितानां मन्त्राणां दीप्तिः = दीपनमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

एतदेव अर्धेन उपसंहरति—

इति मुद्राविधिः प्रोक्तः सुगूढो यः फलप्रदः ।

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके मुद्राप्रकाशनं नाम द्वात्रिंशमाह्निकम् ॥ ३२ ॥

शेष = उसके आवेश से शून्य ॥ ६५ ॥

इन्हीं के बन्ध के लिये कालभेद का निरूपण करते हैं—

याग के प्रारम्भ में, उसके मध्य में और उसके अन्त में, ज्ञानयोग के परामर्श, विघ्नशान्ति, और पाशच्छेद में मुद्राविधि का समय होता है (= उक्त अवसरों पर मुद्राबन्ध करना चाहिये) ॥ ६६ ॥

प्रश्न—इस प्रकार के समय में मुद्राबन्ध से क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

बोधावेश, (शिव के) ऐक्य के साथ (शिव की) सन्निधि, (विश्वात्मकता का) विसर्जन, स्वरूपलाभ, शङ्कानाश, चक्रोदयदीप्ति ये कार्य क्रमशः होते हैं ॥ ६७ ॥

चक्रोदयदीप्ति = सप्तम आह्निक में वर्णित स्थिति के अनुसार उदित मन्त्रों की दीप्ति = दीपन ॥ ६७ ॥

इसी का श्लोकार्ध से उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार सुगूढ मुद्राविधि कही गयी जो कि फलप्रद है ।

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्य अभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के द्वात्रिंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३२ ॥

इति शिवम् ॥

श्रीखेचरीसतत्त्वप्रविमर्शसमुन्मिषच्चिदावेशः ।
द्वात्रिंशं निरणैषीदाह्निकमेतज्जयरथाख्यः ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते मुद्राप्रकाशनं नाम द्वात्रिंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ ३२ ॥
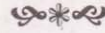
खेचरीतत्त्व के विमर्श के द्वारा समुन्मिषित चिदावेश वाले जयरथ ने बत्तीसवें आह्निक का समापन किया ।

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के द्वात्रिंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशमाह्निकम्
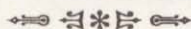
* विवेकः *

परमानन्दसुधानिधिरुल्लसदपि बहिरशेषमिदम्।
विश्रमयन्परमात्मनि विश्वेशो जयति विश्वेशः ॥

ननु इह एकैव विश्वामर्शनसारा संविदस्तीति उपास्योपासकभाव एव तावत् न न्याय्यः, तत्रापि उपास्यानां को भेदः, तत् किमिदमनेकचक्रात्मकत्वमुपदिष्टम्?— इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य द्वितीयार्धेन तदेकीकारमेव प्रणिगदितुमाह—

अथावसरसंप्राप्त एकीकारो निगद्यते ।

तमेव आह—

यदुक्तम् चक्रभेदेन सार्धं पूज्यमिति त्रिकम् ।

---

* ज्ञानवती *

परमानन्दसुधा के भण्डार, उल्लसित होते हुये भी जो इस समस्त बाह्य जगत् को परमात्मा में विश्रमित कराते रहते हैं वे विश्व के स्वामी विश्वेश जयशील हैं ॥

प्रश्न—विश्व के आमर्शनतत्त्व वाली संविद् एक ही है फलतः उपास्य उपासक भाव ही उचित नहीं हैं फिर उसमें भी उपास्यों का क्या भेद । तो फिर यह अनेक चक्र की बात कैसे कही गयी?—इस आशङ्का को गर्भ में रखकर द्वितीयार्ध के द्वारा उन (= उपास्य देवताओं) के एकीकार को बतलाते हैं—

अब अवसरप्राप्त एकीकार बतलाया जाता है ॥ १- ॥

उसी को कहते हैं—

तत्रैष चक्रभेदानामेकीकारो दिशानया ॥ १ ॥

उक्तमिति—प्रथमाह्निकादौ । तथा च तत्र—

'एकवीरो यामलोऽथ त्रिशक्तिश्चतुरात्मकः ।'

इत्यादि

'एवं यावत्सहस्रारे निःसंख्यारेऽपि वा प्रभुः ।
विश्वचक्रे महेशानो विश्वशक्तिर्विजृम्भते ॥' (१।११२)

इत्यन्तं बहु । अनयेति—वक्ष्यमाणया ॥ १ ॥

तत्र चक्रभेदमेव तावत् दर्शयति—

विश्वा तदीशा हारौद्री वीरनेत्र्यम्बिका तथा ।
गुर्वीति षडरे देव्यः श्रीसिद्धावीरदर्शिताः ॥ २ ॥
माहेशी ब्राह्मणी स्कान्दी वैष्णव्यैन्द्री यमात्मिका ।
चामुण्डा चैव योगीशीत्यष्टाघोर्यादयोऽथवा ॥ ३ ॥
अग्निनिर्ऋतिवाय्वीशमातृभिर्द्वादशान्विताः ।
नन्दा भद्रा जया काली कराली विकृतानना ॥ ४ ॥

जैसा कि कहा गया कि चक्रभेद के साथ त्रिक की पूजा करनी चाहिये उसमें चक्रभेदों का यह एकीकार इस दिशा (= आगे कहे जाने वाली रीति) से है ॥ -१ ॥

उक्त है—प्रथम आह्निक आदि में । जैसा कि वहाँ—

'एकवीर, यामल, त्रिशक्ति, चतुरात्मक है'—

यहाँ से लेकर

'इस प्रकार सहस्रार अथवा निःसंख्यार भी विश्वचक्र में सर्वशक्ति प्रभु महेश्वर ही विजृम्भित होते हैं ।' (तं.आ. १।११२)

यहाँ तक अनेक बार (कहा गया है) । इसके द्वारा = वक्ष्यमाण के द्वारा ॥ १ ॥

उसमें पहले चक्रभेद को ही दिखलाते हैं—

विश्वा विश्वेशा हारौद्री वीरनेत्री अम्बिका और गुर्वी ये छह देवियाँ (छह) अरों वाले (चक्र) में रहती हैं—ये सिद्धावीर (= सिद्धयोगेश्वरी तन्त्र एवं वीरावलितन्त्र) में कही गयी हैं । माहेशी ब्राह्मणी स्कान्दी वैष्णवी ऐन्द्री यमात्मिका चामुण्डा योगीशी ये आठ अथवा अघोरी आदि (आठ) (= आठ अरों वाले चक्र में रहती हैं), अग्नि निर्ऋति वायु और ईश की

क्रोष्टुकी भीममुद्रा च वायुवेगा हयानना ।
गम्भीरा घोषणी चेति चतुर्विंशत्यरे विधिः ॥ ५ ॥
सिद्धिर्वृद्धिर्द्युतिर्लक्ष्मीर्मेधा कान्तिः सुधा धृतिः ।
दीप्तिः पुष्टिर्मतिः कीर्तिः सुस्थितिः सुगतिः स्मृतिः ॥ ६ ॥
सुप्रभा षोडशी चेति श्रीकण्ठादिकशक्तयः ।
बलिश्च बलिनन्दश्च दशग्रीवो हरो हयः ॥ ७ ॥
माधवः षडरे चक्रे द्वादशारे त्वमी स्मृताः ।
दक्षश्चण्डो हरः शौण्डी प्रमथो भीममन्मथौ ॥ ८ ॥
शकुनिः सुमतिर्नन्दो गोपालश्च पितामहः ।
श्रीकण्ठोऽनन्तसूक्ष्मौ च त्रिमूर्तिः शंबरेश्वरः ॥ ९ ॥
अर्घीशो भारभूतिश्च स्थितः स्थाणुर्हरस्तथा ।
झण्ठिभौतिकसद्योजानुग्रहक्रूरसैनिकाः ॥ १० ॥
द्व्यष्टौ यद्वामृतस्तेन युक्ताः पूर्णाभतद्द्रवाः ।
ओघोर्मिस्यन्दनाङ्गाश्च वपुरुद्गारवक्त्रकाः ॥ ११ ॥
तनुसेचनमूर्तीशाः सर्वामृतधरोऽपरः ।
श्रीपाठाच्छक्तयश्चैताः षोडशैव प्रकीर्तिताः ॥ १२ ॥
संवर्तलकुलिभृगुसितबकखड्गिपिनाकिभुजगबलिकालाः ।

माताओं के साथ (मिलाकर) बारह से युक्त (= बारह अरों वाले चक्र में रहती हैं) (तथा) नन्दा भद्रा जया काली कराली विकृतानना क्रोष्टुकी भीममुद्रा वायुवेगा हयानना गम्भीरा और घोषणी ये (= तथा पूर्वोक्त बारह देवियाँ इस प्रकार चौबीस देवियाँ) चौबीस अरों वाले (चक्र) में (रहती हैं)। सिद्धि वृद्धि द्युति लक्ष्मी मेधा कान्ति सुधा धृति दीप्ति पुष्टि मति कीर्त्ति सुस्थिति सुगति स्मृति सुप्रभा और षोडशी ये श्रीकण्ठ आदि (चक्रों) की शक्तियाँ हैं । वलि वलिनन्द दशग्रीव हर हय और माधव ये छह अरों वाले चक्र में (रहते हैं) । और द्वादशार में यह कहे गये हैं—दक्ष चण्ड हर शौण्डी प्रमथ भीम मन्मथ शकुनि सुमति नन्द गोपाल और पितामह । श्रीकण्ठ अनन्त सूक्ष्म त्रिमूर्त्ति शम्बरेश्वर अर्घीश भारभूति स्थिति स्थाणु हर झण्ठि भौतिक सद्योजात अनुग्रह क्रूर और सैनिक (ये) सोलह (= षोडशार चक्र में रहते हैं) अथवा अमृत उससे युक्त-पूर्ण आभ द्रववाले हैं । अर्शात् इनके नाम अमृत, अमृतपूर्ण, अमृताभ, अमृतद्रव, (अमृत-) औघ (अमृत-) ऊर्मि—अमृत स्यन्दन—अमृताङ्ग, अमृत = वपु—अमृतोद्गार —अमृतवक्त्र—अमृततनु—अमृतसेचन—अमृतमूर्त्ति—अमृतेश, सर्वा-मृतधर और इनकी ये शक्तियाँ श्रीपाठ के अनुसार सोलह ही कही गयी हैं।

द्विश्छगलाण्डौ शिखिशोणमेषमीनत्रिदण्डि साषाढि ॥ १३ ॥
देवीकान्ततदर्धौ दारुकहलिसोमनाथशर्माणः ।
जयविजयजयन्ताजितसुजयजयरुद्रकीर्तनावहकाः ॥ १४ ॥
तन्मूर्त्युत्साहदवर्धनाश्च बलसुबलभद्रदावहकाः ।
तद्वान्दाता चेशो नन्दनसमभद्रतन्मूर्तिः ॥ १५ ॥
शिवदसुमनः स्पृहणका दुर्गो भद्राख्यकालश्च ।
चेताऽनुगकौशिककालविश्वसुशिवास्तथापरः कोपः ॥ १६ ॥
श्रुत्यग्न्यरे स्युरेते स्त्रीपाठाच्छक्तयस्त्वेताः ।

तदीशेति—विश्वेश्वरी ॥ वीरनेत्रीति—वीरनायिका ।

तदुक्तम्—

'विश्वा विश्वेश्वरी चैव हारौद्री वीरनायिका ।
अम्बा गुर्वीति योगिन्यः .... ॥'

(मा०वि० २०।६०) इति ।

न केवलमस्मद्दर्शने एव एता उक्ताः, यावदन्यत्रापि—इत्याह—श्रीसिद्धावीर-दर्शिताः इति । स्कान्दीति—कौमारी । यमात्मिकेति—याम्या । अघोर्यादय इति । यदुक्तम्—श्रीत्रिशिरोभैरवे—

संवर्त्त, लकुलीश, भृगु, सित (= श्वेत), बक, खड्गी, पिनाकी, भुजग, बलि, काल, द्विरण्ड, छगलाण्ड, शिखी, शोण, मेष, मीन, त्रिदण्डी, आषाढी, उमाकान्त, अर्धनारीश्वर, दारुक, हली, सोमेश, सोमशर्मा (ये चौबीस अरों वाले शक्तिमान् देवता हैं) । जय विजय जयन्त अजित सुजय जयरुद्र जयकीर्त्तन जयावह जयमूर्त्ति जयोत्साह जयद जयवर्धन बल सुबल बलभद्र बलद बलावह बलवान् बलदाता बलेश नन्दन सर्वतोभद्र भद्रमूर्त्ति शिवद सुमना स्पृहण दुर्ग भद्रकाल मनोनुग कौशिक काल विश्व सुशिव और कोप (= ३४ अरों वाले चक्र के) ये चौंतीस अरों में रहते हैं । स्त्रीलिङ्ग में पाठ करने से ये ही शक्तियाँ बन जाती हैं ॥ २-१७- ॥

तदीशा = विश्वेश्वरी । वीरनेत्री = वीरनायिका । वही कहा गया—

'विश्वा विश्वेश्वरी हारौद्री वीरनायिका अम्बा और गुर्वी ये छहह योगिनियाँ हैं ।' (मा.वि.तं. २०।६०)

केवल हमारे ही दर्शन में नहीं बल्कि अन्यत्र भी ये कही गयी हैं—यह कहते हैं—श्रीसिद्धावीर (= सिद्धयोगेश्वरी एवं वीरावलि) में दिखलायी गयी हैं—स्कान्दी = कौमारी । यमात्मिका = याम्या । अघोरी आदि—। जैसा कि श्रीत्रिशिरोभैरव में कहा गया—

'अघोरा परमाघोरा घोररूपा तथा परा ।
घोरवक्त्रा तथा भीमा भीषणा वमनी परा॥
पिबनी चाष्टमी प्रोक्ता......................।' इति ॥

अन्विता इति—अर्थात् माहेश्याद्याः ।

यदुक्तम्—

'आग्नेय्यादिचतुष्कोणा ब्राह्मण्याद्यास्तु वा प्रिये ।'
(मा०वि० २०।४५) इति ।

चतुर्विंशत्यरे विधिरिति—माहेश्यादिद्वादशकसंमेलनया ।

यदुक्तम्—

'..............................चतुर्विंशतिके शृणु ।
नन्दादिकाः क्रमात्सर्वा ब्राह्मण्याद्यास्तथैव च॥'
(मा०वि० २०।५३) इति ।

एतच्च अत्र द्वादशारगतदेव्युपजीवनाय उक्तमिति न क्रमव्यतिक्रमश्चोद्यः । अष्टकद्वये पुनरघोरा एव शक्तिमन्तः, किन्तु ते प्रागुद्दिष्टत्वादिह न उक्ताः ।

तदुक्तम्—

'अघोरा, परमाघोरा, घोररूपा, घोरवक्त्रा, भीमा, भीषणा, वमनी और आठवीं पिबनी कही गयी है........ ।'

अन्विता = माहेशी आदि ।

जैसा कि कहा गया—

'हे प्रिये ! ब्राह्मणी आदि अथवा आग्नेयी आदि चार कोणों (में रहती) है ।' (मा.वि.तं. २०।४५)

चौबीस (अरों) अरों में विधि है—माहेशी आदि बारह को मिलाने से ।

जैसा कि कहा गया—

'चौबीस अरों वाले में सुनो । क्रम से नन्दा आदि सब तथा ब्राह्मणी आदि ॥' (मा.वि.तं. २०।५३)

यह (वर्णन) यहाँ द्वादश अरों में वर्त्तमान देवियों के उपजीवन (= पुनरनुसन्धान) के लिये कहा गया, इसलिये क्रम के विपरीत होने का आक्षेप नहीं करना चाहिये । सोलह (अरों) में तो अघोर आदि ही शक्तिमान् हैं किन्तु पहले कथित होने के कारण वे यहाँ नहीं कहे गये ।

वही कहा गया—

'अघोराद्यास्तथाष्टारे अघोर्याद्याश्च देवता:।
माहेश्याद्यास्तथा देवि .... ॥'

(मा०वि० २०।५३) इति ।

सद्योज: = सद्योजात: । अनुग्रहेति = अनुग्रहेश्वर: । सैनिको = महासेन: ।

यदुक्तम्—

'......................सद्योजातस्तथा पर: ।
अनुग्रहेश्वर: क्रूरो महासेनोऽथ षोडश: ॥'

(मा०वि० २०।५०) इति ।

तेनेति—अमृतेन, तदमृतवर्णोऽमृताभ इत्यादि: क्रम: । वक्त्रेति—आस्यम् । सेचनेति—निषेचनम् ।

तदुक्तम्—

'अमृतोऽमृतपूर्णश्च अमृताभोऽमृतद्रव: ।
अमृतौघोऽमृतोर्मिश्च अमृतस्यन्दनोऽपर: ॥
अमृताङ्गोऽमृतवपुरमृतोद्गार एव च ।
अमृतास्योऽमृततनुस्तथामृतनिषेचन: ।
तन्मूर्तिरमृतेशश्च सर्वामृतधरस्तथा ॥'

(मा०वि० ३।१९) इति ।

चतुर्विशत्यरे क्रमप्राप्तान् शक्तिमतो निर्दिशति—संवर्तेत्यादिना । लकुलीति—

'हे देवि ! आठ अरों में अघोर आदि तथा अघोरी आदि तथा माहेशी आदि है............ ।

सद्योज = सद्योजात । अनुग्रह = अनुग्रहेश्वर । सैनिक = महासेन ।

जैसा कि कहा गया—

'..............तथा सद्योजात अनुग्रहेश्वर क्रूर और महासेन सोलहवें हैं ।'

उससे = अमृत से । तो (इस प्रकार) अमृतवर्ण अमृताभ-इत्यादि क्रम होगा । वक्त्र = आस्य (मुख) । सेचन = निषेचन ।

वही कहा गया—

'अमृत, अमृतपूर्ण, अमृताभ, अमृतद्रव, अमृतौघ, अमृतोर्मि, अमृतास्य, अमृततनु, अमृतनिषेचन, अमृतमूर्त्ति, अमृतेश और सर्वामृतधर ।' (मा.वि.तं. ३।१९)

लकुलीशः । सितेतिः—श्वेतः । कालः—महाकालः । द्विश्छगलाण्डाविति—द्विरण्डच्छगलाण्डौ । शिख्यादिपञ्चकस्य समाहारे द्वन्द्वः । शोणेति = लोहितः । देवीकान्ततदर्धाविति = उमाकान्तार्धनारीशौ । हलीति = लाङ्गली । सोमनाथेति = सोमेशः । तदुक्तम्—

'संवर्तो लकुलीशश्च भृगुः श्वेतो बकस्तथा ।
खड्गी पिनाकी भुजगो नवमो बलिरेव च ॥
महाकालो द्विरण्डश्च च्छगलाण्डः शिखी तथा।
लोहितो मेषमीनौ च त्रिदण्ड्याषाढिनामकौ ॥
उमाकान्तोऽर्धनारीशो दारुको लाङ्गली तथा ।
तथा सोमेशशर्माणौ चतुर्विंशत्यमी मताः ॥'

(मा०वि० २०।५६) इति ।

अजितेति = अपराजितः । अजेत्यनेन त्रयाणामपि संबन्धः । तेन जयरुद्रो जयकीर्तिर्जयावह इति । तच्छब्देन जयशब्दपरामर्शः । तेन जयमूर्तिर्जयोत्साहो जयदो जयवर्धनः इति । सुबलेति = अतिबलः । भद्रेति = त्रयाणामपि बलशब्देन संबन्धः । तेन बलभद्रो बलावहश्चेति । तद्वानिति—बलवान् । दातेति = बलदाता । ईश इति = बलेश्वरः । समभद्रेति = सर्वतोभद्रः । तन्मूर्तीति = भद्रमूर्तिः । शिवद इति = शिवप्रदः । भद्राख्य इति = भद्रकालः । चेतोऽनुग इति = मनोऽनुगः । विश्वेति = विश्वेश्वरः । श्रुत्यग्न्यरे इति चतुस्त्रिंशदरे ।

संवर्त्त इत्यादि के द्वारा चौबीस अरों में क्रमप्राप्त शक्तिमानों का निर्देश करते हैं—लकुली = लकुलीश । सित = श्वेत । काल = महाकाल । द्विश्छगलाण्ड = द्विरण्ड और छगलाण्ड । (शिखी शोण मेष मीन त्रिदण्डि में) शिखी आदि पाँच का समाहार द्वन्द है । शोण = लोहित । देवीकान्त और तदर्ध = उमाकान्त और अर्धनारीश्वर । हली = लाङ्गली । सोमनाथ = सोमेश । वही कहा गया—

'संवर्त्त लकुलीश भृगु श्वेत बक खड्गी पिनाकी भुजग बलि महाकाल द्विरण्ड छगलाण्ड शिखी लोहित मेष मीन त्रिदण्डी आषाढी उमाकान्त अर्धनारीश्वर दारुक लाङ्गली सोमेश तथा सोमशर्मा (चौबीस अरों के) ये चौबीस (देवतायें) कही गयी हैं।' (मा.वि.तं. २०।५६)

अजित = अपराजित । 'जय' के साथ तीनो का सम्बन्ध है । इससे जयरुद्र जयकीर्त्ति और जयावह (समझना चाहिये) । 'तत्' शब्द से जय को समझना चाहिये। इस प्रकार जयमूर्त्ति जयोत्साह जयद और जयवर्धन (शब्द बनेगा) । सुबल = अतिबल । भद्र (आदि) तीनों का 'बल' शब्द से सम्बन्ध है । उससे बलभद्र बलप्रद और बलावह समझें । तद्वान् = बलवान् । दाता = बलदाता । ईश = बलेश्वर । समभद्र = सर्वतोभद्र । तन्मूर्त्ति = भद्रमूर्त्ति । शिवद = शिवप्रद । भद्राख्य = भद्रकाल । चेतोऽनुग = मनोऽनुग । विश्व = विश्वेश्वर । श्रुत्यग्न्यर में =

तदुक्तम्—

'जयश्च विजयश्चैव जयन्तश्चापराजितः ।
सुजयो जयरुद्रश्च जयकीर्तिर्जयावहः ॥
जयमूर्तिर्जयोत्साहो जयदो जयवर्धनः ।
बलश्चातिबलश्चैव बलभद्रो बलप्रदः ॥
बलावहश्च बलवान्बलदाता बलेश्वरः ।
नन्दनः सर्वतोभद्रो भद्रमूर्तिः शिवप्रदः ॥
सुमनाः स्पृहणो दुर्गो भद्रकालो मनोऽनुगः ।
कौशिकः कालविश्वेशौ सुशिवः कोप एव च ॥
एते योनिसमुद्भूताश्चतुस्त्रिंशत्प्रकीर्तिताः ॥'

(मा०वि० ३।२४) इति ॥

अत्रैव मन्त्रविभागमाह—

जुङ्कारोऽथाग्निपत्नीति षडरे षण्ठवर्जिताः ॥ १७ ॥
द्वादशारे तत्सहिताः षोडशारे स्वराः क्रमात् ।
हलस्तद्द्विगुणेऽष्टारे याद्यं हान्तं तु तन्त्रिके ॥ १८ ॥

चौंतीस अरों में ।

वही कहा गया—

'जय विजय जयन्त अपराजित सुजय जयरुद्र जयकीर्त्ति जयावह जयमूर्त्ति जयोत्साह जयद जयवर्धन बल अतिबल बलभद्र बलप्रद बलावह बलवान् बलदाता बलेश्वर नन्दन सर्वतोभद्र भद्रमूर्त्ति शिवप्रद समनाः स्पृहण दुर्ग भद्रकाल मनोऽनुग कौशिक काल विश्वेश सुशिव और कोप—ये चौंतीस शक्ति से उत्पन्न कहे गये हैं' ॥ (मा.वि.तं. ३।२४)

यहीं पर मन्त्रविभाग को कहते हैं—

(अं इं उं) जुं और अग्नि की पत्नी (= स्वाहा) नपुंसक वर्ण (= ऋ ॠ ऌ ॡ) से रहित ये (छह वर्ण) षडर में रहते हैं (मतान्तर में अं आं इं ई उं और ऊँ—ये अक्षर रहते हैं) । द्वादशार में इन (नपुंसक वर्णों) के सहित (उपर्युक्त छह वर्ण तथा स्वाहा सहित बारह वर्ण) (होते हैं) । (मतान्तर में अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं और ऐं—ये अक्षर रहते हैं) षोडशार में क्रम से (सोलहों) स्वर, उसके दो गुने (= बत्तीस अरों) में व्यञ्जन (= 'क' से लेकर 'स' तक) रहते हैं । अष्टार में 'य' से लेकर ('ह' तक आठ वर्ण) और उसके (आठ के त्रिक) में (सोलह स्वर) तथा ('य' से) 'ह' तक (के वर्ण) होते हैं ॥ -१७-१८ ॥

अग्निपत्नी—स्वाहेति, तेन प्रत्येकमेकैको वर्णः । तत्सहिता इति—षण्ठसहिताः । तद्द्वगुणे इति—द्वात्रिंशदरे ॥ १८ ॥

अत्रैव विशेषमभिधत्ते—

द्वात्रिंशदरके सान्तं बिन्दुः सर्वेषु मूर्धनि ।

अनेनैव क्रमेण चक्रान्तराणि अपि कल्पनीयानि—इत्याह—

एवमन्यान्बहूंश्चक्रभेदानस्मात्प्रकल्पयेत् ॥ १९ ॥

अस्मादिति—उक्तात् चक्रभेदात् । अन्यान्बहूनिति—चतुःषष्ट्यादीन् । प्रकल्पयेदित्यनेन एषामवास्तवत्वं प्रकाशितम् ॥ १९ ॥

वस्तुतो हि चित्प्रकाश एव एकः समस्ति, यस्य शक्तितद्व्यपदेशमात्रत्वम्—इत्याह—

एक एव चिदात्मैष विश्वामर्शनसारकः ।
शक्तिस्तद्वानतो माता शब्दराशिः प्रकीर्तितौ ॥ २० ॥
तयोरेव विभागे तु शक्तितद्वत्प्रकल्पने ।
शब्दराशिर्मालिनी च क्षोभात्म वपुरीदृशम् ॥ २१ ॥

अग्निपत्नी = स्वाहा । इससे प्रत्येक में एक-एक वर्ण (होता है) । उसके सहित = षण्ठ के सहित । उसके दो गुने में = बत्तीस अरों वाले में ॥ १८ ॥

इसी में विशेष का कथन करते हैं—

बत्तीस अरों में ('क' से लेकर) 'स' तक के (व्यञ्जन होते) हैं सबके ऊपर अनुस्वार होता है ॥ १९- ॥

इसी प्रकार से दूसरे चक्रों को भी कल्पना करनी चाहिये—यह कहते हैं—

इस प्रकार इससे भिन्न बहुत से चक्रभेदों की कल्पना करनी चाहिये ॥ -१९ ॥

इससे = उक्त चक्रभेद से । अन्य बहुत से = चौंसठ आदि । कल्पना करनी चाहिये—इस (कथन) से इनकी अयथार्थता प्रकाशित होती है ॥ १९ ॥

वस्तुतः चित्प्रकाश एक ही है जिसकी शक्ति और उसकी व्यपदेशमात्रता (= व्यवहार की बात) होती है—यह कहते हैं—

एक ही यह चिदात्मा विश्वामर्शनसार वाला शक्ति और तद्वान् (= शक्तिमान्) है । इसलिये मातृका और शब्दराशि (= मालिनी) कही गयी हैं । उन्हीं दोनों के विभाग में शक्ति और शक्तिमान् की कल्पनायें

अत इति—शक्तितद्वद्विभागस्य आसूत्रणात् । माता = मातृका । तयोरिति—मातृकाशब्दराश्योः । ननु मालिन्याः शक्तित्वे किं निमित्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—क्षोभात्म वपुरीदृशमिति ॥ २१ ॥

अनयोरेव एकैकामर्शरूढावियांश्चक्रभेदः—इत्याह—

तथान्तःस्थपरामर्शभेदने वस्तुतस्त्रिकम् ।
अनुत्तरेच्छोन्मेषाख्यं यतो विश्वं विमर्शनम् ॥ २२ ॥
आनन्देशोर्मियोगे तु तत्षट्कं समुदाहृतम् ।
अन्तःस्थोष्मसमायोगात्तदष्टकमुदाहृतम् ॥ २३ ॥
तदामृतचतुष्कोनभावे द्वादशकं भवेत् ।
तद्योगे षोडशाख्यं स्यादेवं यावदसंख्यता ॥ २४ ॥

तथा शक्तिशक्तिमद्रूपतया अन्तः प्रमात्रैकात्म्येन स्थितस्य अहंपरामर्शस्य विभजने सति

'तदेव त्रितयं प्राहुर्भैरवस्य परं महः ।'

है । और (इनमें) शब्दराशि मालिनी क्षुब्ध और इस प्रकार की शरीर वाली है ॥ २०-२१ ॥

इस कारण = शक्ति और शक्तिमान् के विभाग करने से । माता = मातृका । उन दोनों का = मातृका और शब्दराशि (= मालिनी) का । प्रश्न है कि मालिनी शक्ति है—इसमें क्या कारण है?—यह शङ्का कर कहते हैं—(उसका) क्षोभात्मक शरीर ऐसा है ॥ २१ ॥

इन्हीं दोनों (= मातृका और मालिनी) के एक-एक आमर्श पर आरूढ़ होने के कारण इतना चक्रभेद होता है—यह कहते हैं—

इस प्रकार अन्तःस्थ परामर्श का विभाग होने पर वस्तुतः अनुत्तर इच्छा और उन्मेष (= अ, इ, उ) नामक त्रिक रहता है जिससे समस्त विमर्शन होता है । आनन्द ईषणा और ऊर्मि (= आ, ई, ऊ) का योग होने पर छह कहा गया है । अन्तःस्थ (= य र ल व) और ऊष्मा (= श ष स ह) को जोड़ने से अष्टक कहा गया है । उस चार अमृत (= षण्ठ वर्ण) के कम होने पर द्वादशक होता है । उसका योग होने पर षोडशार होता है । इस प्रकार असंख्यता होती है ॥ २२-२४ ॥

उस प्रकार = शक्ति शक्तिमान् रूप से, अन्तःस्थ = प्रमाता के साथ तादात्म्येन स्थित, अहंपरामर्श का (भेदन =) विभजन होने पर—

'उसी तीन (= अनुत्तर, इच्छा, उन्मेष) को भैरव का परम तेज कहते हैं ।'

इत्याद्युक्तनयेन अनुत्तरेच्छोन्मेषाख्यं त्रिकमेव वस्तुतोऽस्ति यत इदं सर्वमहमिति पूर्णं विमर्शनं स्यात् । तस्यैव पुनरानन्दादियोगे तत् समनन्तरोक्तं षट्कमुदाहृतं येन अयं चक्राणां भेदः । एवमन्तःस्थोष्माख्यं चतुष्कद्वयमधिकृत्य याष्टकं स्यात् येन उक्तमष्टारे याद्यमिति । आमृतं चतुष्कं षण्ठचतुष्टयम्, तस्य ऊनभावे तद्रहितत्वे सति—इत्यर्थः । तद्योगे इति—आमृतचतुष्कसहितत्वे—इत्यर्थः । असंख्यतेति— तत्तत्परामर्शसंयोजनवियोजनेन ॥ २४ ॥

ननु अखण्डैकघनाकारे अत्र कुतस्त्यमानन्त्यम्?—इत्याशङ्क्य आह—

विश्वमेकपरामर्शसहत्वात्प्रभृति स्फुटम् ।
अंशांशिकापरामर्शान् पर्यन्ते सहते यतः ॥ २५ ॥
अतः पञ्चाशदैकात्म्यं स्वरव्यक्तिविरूपता ।
वर्गाष्टकं वर्णभेद एकाशीतिकलोदयः ॥ २६ ॥
इति प्रदर्शितं पूर्वम् .... ।

विश्वमिति—सर्वम् । पञ्चाशदैकात्म्यमिति—अहंपरामर्शरूपत्वम् । व्यक्तिः = व्यञ्जनम् । कलेति—अर्धमात्राणाम् । पूर्वमिति—तृतीयषष्ठाह्निकादौ ॥

ननु

इत्यादि उक्त नियम से अनुत्तर इच्छा उन्मेष नामक त्रिक ही वास्तविक हैं जिससे यह सब 'अहम्' ऐसा पूर्ण विमर्शन होता है । उसी का पुनः आनन्द आदि (= ईषण और ऊर्मि) से योग होने पर वह = पहले कथित छह (अरों) को कहा गया । जिससे यह चक्रों का भेद होता है । इसी प्रकार अन्तःस्थ और ऊष्मा नामक दो चतुष्कों के आधार पर याष्टक (= 'य' आदि आठ का समूह) होता है जिससे कहा गया—अष्टार में याद्य (= य र ल व श ष स ह) है । आमृत चतुष्टय = नपुंसक चार (वर्ण) । उनके कम होने पर = उनसे रहित होने पर । उनका योग होने पर = आमृत चार के सहित होने पर । असंख्यता—तत्तत् परामर्श के संयोजन-वियोजन के द्वारा ॥ २४ ॥

प्रश्न—इसके अखण्डैकघन आकार वाला होने पर आनन्त्य कहाँ से संम्भव है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चूँकि सब एक परामर्शसहत्व से लेकर अन्त तक अंशांशिकापरामर्श का सहिष्णु है इसलिये पचास की एकात्मकता, स्वरव्यञ्जन का भेद, आठ वर्ग, (पचास-संख्यक) वर्णभेद और इक्यासी कला की उत्पत्ति होती है—ऐसा पहले बतलाया जा चुका है ॥ २५-२७- ॥

विश्व = सब । पञ्चाशत् ऐकात्म्य = अहंपरामर्श रूप । व्यक्ति = व्यञ्जन । कला = आधी मात्राओं की । पहले = तीसरे छठें आह्निक में ॥

'एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं त्वर्धमात्रिकम् ॥'

इत्युक्त्या व्यञ्जनानामर्धमात्रासहत्वं वक्तुं युज्यते, स्वराणां पुनरेकमात्रानुरूपतया नैवमिति कथमेकाशीतिकलोदयः ?—इत्याशङ्क्य आह—

........अर्धमात्रासहत्वतः ।
स्वरार्धमप्यस्ति यतः स्वरितस्यार्धमात्रकम् ॥ २७ ॥
तस्यादित उदात्तं तत्कथितं पदवेदिना ।

इह अर्धमात्रासहत्वतः स्वराणामपि अर्धमात्रिकत्वं यतः पाणिनिना 'समाहारः स्वरितः' (१।२।३१) इति उदात्तसमुदायात्मा स्वरित इति सूत्रिते 'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' (१।२।३२) इति प्रथमोदात्तभागगतह्रस्वार्धमात्रिकत्वमपि सूत्रितम् ॥

प्रकृतमेव उपसंहरति—

इत्थं संविदियं याज्यस्वरूपामर्शरूपिणी ॥ २८ ॥
अभिन्नं संविदश्चैतच्चक्राणां चक्रवालकम् ।
स्वाम्यावरणभेदेन बहुधा तत्प्रयोजयेत् ॥ २९ ॥

प्रश्न—'ह्रस्व एकमात्रा और दीर्घ दो मात्राओं वाला कहा जाता है । प्लुत को तीनमात्रा वाला और व्यञ्जन को अर्धमात्रा वाला समझना चाहिये ।'

इस उक्ति के अनुसार व्यञ्जन को अर्धमात्रा वाला कहना ठीक है और स्वरों के एकमात्रानुरूप होने से ऐसा नहीं होता फिर इक्यासी कला का उदय कैसे होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अर्धमात्रासह होने के कारण स्वरार्ध भी है क्योंकि स्वरित आधा मात्रा वाला होता है । वैयाकरण (= पाणिनी) ने उसका पहले का (आधाह्रस्व) उदात्त होता है—कहा है ॥ -२७-२८- ॥

अर्धमात्रासह होने के कारण स्वर भी आधी मात्रा वाले होते हैं । क्योंकि पाणिनि ने 'समाहारः स्वरितः'' (पा.सू. १।२।३१) ऐसा उदात्तसमुदाय रूप स्वरित होता है—ऐसा सूत्र बनाने के बाद ''तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्'' (पा.सू. १।२।३२) ऐसा सूत्र बनाया जिसमें प्रथम उदात्त भाग में ह्रस्व की आधी मात्रा होती है ॥

प्रस्तुत का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार यह संवित् याज्यस्वरूपामर्शरूपिणी है । और यह चक्रों का चक्रवाल संविद् से अभिन्न है । स्वामी के आवरण के भेद से उसका अनेक प्रकार से प्रयोग करना चाहिये ॥ -२८-२९ ॥

तदिति चक्रचक्रवालकम् ॥ २९ ॥

ननु स्वामिनोऽपि को भेदः ?—इत्याशङ्क्य आह—

परापरा परा चान्या सृष्टिस्थितितिरोधयः ।
मातृसद्भावरूपा तु तुर्या विश्रान्तिरुच्यते ॥ ३० ॥

अन्येति—अपरा । तिरोधिः = संहारः ॥ ३० ॥

ननु यदि तुर्यमेव विश्रान्तिस्थानं तत् कथं तत् विभज्य न उक्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—

तच्च प्रकाशं वक्त्रस्थं सूचितं तु पदे पदे ।

अत्रैव विश्रान्तिः कार्या—इत्याह—

तुर्ये विश्रान्तिराधेया मातृसद्भावसारिणि ॥ ३१ ॥

अत्र च विश्रान्त्या किं स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

तथास्य विश्वमाभाति स्वात्मतन्मयतां गतम् ।

आह्निकार्थमेव अर्धेन उपसंहरति—

इत्येष शास्त्रार्थस्योक्त एकीकारो गुरूदितः ॥ ३२ ॥

वह = चक्रचक्रवाल ॥ २९ ॥

प्रश्न—स्वामी का भी क्या भेद?—यह शङ्का कर कहते हैं—

परापरा परा और अन्य, सृष्टि स्थिति और संहार (ये भेद हैं) । मातृसद्भावरूपा चतुर्थ अवस्था विश्रान्ति कही जाती है ॥ ३० ॥

अन्या = अपरा । तिरोधि = संहार ॥ ३० ॥

प्रश्न—यदि चतुर्थ (अवस्था) ही विश्रान्ति स्थान है तो उसको विभक्त कर क्यों नहीं कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वह प्रकाश मुख में स्थित है—ऐसा पदे-पदे कहा गया है ॥ ३१ ॥

यहीं विश्राम करना चाहिये—यह कहते हैं—

मातृसद्भावसार वाले चतुर्थ में विश्राम करना चाहिये ॥ -३१ ॥

यहाँ विश्राम करने से क्या होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वैसा होने पर समस्त विश्व इसको स्वात्मतन्मयता को प्राप्त हुआ लगता है ॥ ३२- ॥

श्लोकार्ध के द्वारा आह्निक के प्रतिपाद्य का उपसंहार करते हैं—

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके एकीकारप्रकाशनं नाम त्रयस्त्रिंशमाह्निकम् ॥ ३३ ॥

इति शिवम् ॥ ३२ ॥

परसंविदद्वयात्मकतत्तच्चक्रानुसन्धिबन्धुरितः ।
एतज्जयरथनामा व्यवृणोदिदमाह्निकं त्रयस्त्रिंशम् ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते एकीकारप्रकाशनं नाम त्रयस्त्रिंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार गुरु के द्वारा कथित शास्त्रविषय का एकीकार कहा गया ॥ -३२ ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के त्रयस्त्रिंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३३ ॥

पर संविद् अद्वयात्मक तत्तत् चक्र के अनुसन्धान के बन्धु जयरथ नामक (विद्वान्) ने यहाँ इस तैतीसवें आह्निक की व्याख्या की ॥

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के त्रयस्त्रिंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशमाह्निकम्
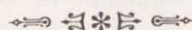
* विवेकः *

सुशिवः शिवाय भूयाद्भूयोभूयः सतां महानादः ।
यो बहिरुल्लसितोऽपि स्वस्माद्रूपान्न निष्क्रान्तः ॥

ननु यदि एक एव अयं चिदात्मा परमेश्वरः, तत् किमाणवाद्युपाय-वैचित्र्येण?—इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य अत्रैव द्वारद्वारिकया प्रवेशमभिधातुं द्वितीयार्धेन उपक्रमते—

उच्यतेऽथ स्वस्वरूपप्रवेशः क्रमसङ्गतः ।

तमेव आह—

यदेतद्बहुधा प्रोक्तमाणवं शिवताप्तये ।
तत्रान्तरन्तराविश्य विश्राम्येत्सविधे पदे ॥ १ ॥

---

* ज्ञानवती *

जो बाहर उल्लसित होते हुये भी अपने रूप से निष्क्रान्त नहीं होते वे महानाद सुशिव (= सदाशिव) बारम्बार सज्जनों के शिव (= कल्याण) के लिये हों ॥

प्रश्न—यदि यह चिदात्मा परमेश्वर एक ही हैं तो फिर आणव आदि भिन्न उपायों से क्या लाभ?—इस आशङ्का को गर्भ में रखकर यहीं पर द्वार-द्वारि भाव से प्रवेश का कथन करने के लिये द्वितीयार्ध से प्रारम्भ करते हैं—

अब क्रमसंगत स्वस्वरूपप्रवेश को कहा जा रहा है ॥ १- ॥

उसी को कहते हैं—

शिवत्व की प्राप्ति के लिये जो यह आणवोपाय अनेक प्रकार से कहा गया उसमें भीतर-भीतर प्रवेश कर (स्वस्वरूप के) समीप पद में विश्राम

ततोऽप्याणवसंत्यागाच्छाक्तीं भूमिमुपाश्रयेत् ।
ततोऽपि शाम्भवीमेवं तारतम्यक्रमात्स्फुटम् ॥ २ ॥

बहुधेति—ध्यानोच्चारादिरूपतया । अन्तरन्तरिति—यथास्थानापेक्षया वर्णेषु, तदपेक्षया च करणादाविति । सविधे इति—स्वस्वरूपस्य । तत इति—स्वस्वरूपसविधवर्तिध्यानादिविश्रान्त्यनन्तरम् । आणवसंत्यागादिति—ज्ञेयहाने हि ज्ञाने एव विश्रान्तिराधेया—इति अभिप्रायः । ततोऽपीति—शाक्तभूम्युपाश्रयानन्तरम्, विकल्पस्य हि निर्विकल्पे एव विश्रान्तिस्तत्त्वम् । शाम्भवीमिति—अर्थात् भूमिम् । एवमिति—यथोत्तरं विश्रान्त्या । स्फुटमिति—स्वं स्वरूपं, भवति—इति शेषः ॥

ननु एवं सति अस्य किं स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

इत्थं क्रमोदितिविबोधमहामरीचि-
संपूरितप्रसरभैरवभावभागी ।
अन्तेऽभ्युपायनिरपेक्षतयैव नित्यं
स्वात्मानमाविशति गर्भितविश्वरूपम् ॥ ३ ॥

अभ्युपायनिरपेक्षतयेति—सकृद्देशनाद्यात्मकानुपायक्रमेण—इत्यर्थः । अतश्च युक्तमुक्तम्—

करना चाहिये । तत्पश्चात् आणव का त्याग कर (योगी) शाक्ती भूमि का आश्रयण करे, तत्पश्चात् शाम्भवी का । इस प्रकार तारतम्य के क्रम से (स्वरूप) स्फुट होता है ॥ -१-२ ॥

बहुधा = ध्यान उच्चार आदि रूप से । अन्तः अन्तः—जैसे कि स्थान की अपेक्षा वर्णों में और उन (= वर्णों) की अपेक्षा करण आदि में । पास में—अपने स्वरूप के । इसके बाद—इसके स्वस्वरूप के पास में रहने वाले ध्यान आदि की विश्रान्ति के बाद । आणव के सन्त्याग से—ज्ञेय का त्याग होने पर ज्ञान में ही विश्राम करना चाहिये—यह अभिप्राय है । इसके बाद भी = शाक्त भूमि में पहुँच जाने के बाद भी । विकल्प का निर्विकल्प में विश्रान्ति ही तत्त्व है । शाम्भवी को—अर्थात् शाम्भवी भूमि को । इस प्रकार = उत्तरोत्तरविश्रान्ति के द्वारा । स्फुट—अपना स्वरूप स्फुट होता है—यह शेष है ॥ १-२ ॥

प्रश्न—ऐसा होने पर इस (साधक) का क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस प्रकार क्रमशः उदितविज्ञान की महामरीचियों से संपूरित प्रसर वाले भैरवभाव का भागी (साधक) अन्त में उपाय की अपेक्षा के बिना ही गर्भितविश्व रूप वाले नित्य अपने आत्मा में प्रवेश कर जाता है ॥ ३ ॥

अभ्युपायनिरपेक्ष रूप से—एक बार उपदेश आदि वाले अनुपाय के क्रम से ।

'संवित्तिफलभेदोऽत्र न प्रकल्प्यो मनीषिभिः ।' इति ॥

एतदेव अर्धेन उपसंहरति—

कथितोऽयं स्वस्वरूपप्रवेशः परमेष्ठिना ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके स्वरूपप्रकाशनं नाम चतुस्त्रिंशमाह्निकम् ॥ ३४ ॥

इति शिवम् ॥

श्रीमद्गुरुवदनोदितसदुपायोपेयभावतत्त्वज्ञः ।
एतज्जयद्रथनामा व्याकृतवानाह्निकं चतुस्त्रिंशम् ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते स्वरूपप्रवेशं नाम चतुस्त्रिंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ ३४ ॥
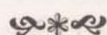
इसलिये ठीक ही कहा गया—

'इस विषय में विद्वान् लोग संवित् के फलभेद की कल्पना न करें ।'

इसी का आधा से उपसंहार करते हैं—

परमेष्ठी गुरु (= सोमानन्द) के द्वारा यह स्वस्वरूपप्रवेश कहा गया ॥ ४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के चतुस्त्रिंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३४ ॥

श्रीगुरु के मुख से उदित (= कथित) सदुपाय के द्वारा उपेयभाव के तत्त्व को जानने वाले जयरथ नामक (विद्वान्) ने चौतीसवें आह्निक की व्याख्या की ॥

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के चतुस्त्रिंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३४ ॥
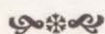
पञ्चत्रिंशमाह्निकम्
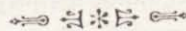
* विवेकः *

य: किल तैस्तैर्भेदैरशेषमवतार्य मातृकासारम् ।
शास्त्रं जगदुद्धर्ता जयति विभुः सर्ववित्कोपः ॥

इदानीं सर्वशास्त्रैकवाक्यतावचनद्वारा द्वितीयार्धेन सर्वागमप्रामाण्यं प्रतिपादयितुं प्रतिजानीते—

अथोच्यते समस्तानां शास्त्राणामिह मेलनम् ।

तत्र आगमस्यैव तावत् साधारण्येन लक्षणमाह—

इह तावत्समस्तोऽयं व्यवहारः पुरातनः ॥ १ ॥
प्रसिद्धिमनुसन्धाय सैव चागम उच्यते ।

* ज्ञानवती *

जो उन-उन भेदों से समस्त मातृकासार वाले शास्त्र की अवतारणा कर जगत् के उद्धर्त्ता हैं (वह) सर्वज्ञान के कोष[१] विभु सर्वोत्कृष्ट हैं ।

अब सर्वशास्त्रैकविषयता के कथन के द्वारा द्वितीयार्ध से समस्त आगम का प्रामाण्य बतलाने के लिये प्रतिज्ञा करते हैं—

अब यहाँ समस्त शास्त्रों का मेलन बतलाया जा रहा है ॥ १- ॥

इन (= उपक्रम) में आगम का ही सामान्यतया लक्षण कहते हैं—

१. 'कोष' की जगह 'कोपः' पाठ मानने पर 'कोप' शब्द का अर्थ 'शिव' होता है । द्रष्टव्य (मा०वि०तं० ३।२४) । तब 'सर्ववित्कोपः' का अर्थ होगा— 'सर्वज्ञानीशिव' ।

इह तावत् पुरातनीं प्रसिद्ध्यन्तरानुन्मूलितत्वेन चिरतरं प्ररूढां प्रसिद्धिमनुसन्धाय समस्तोऽयं व्यवहारः—सर्वे एव तथा व्यवहरन्ति—इत्यर्थः । सैव च प्रसिद्धिरागम उच्यते—तच्छब्दव्यवहार्या भवेत्—इत्यर्थः ।

यदुक्तम्—

'प्रसिद्धिरागमो लोके........................ ।' इति ॥

ननु

'पश्यन्नेकमदृष्टस्य दर्शने तददर्शने ।
अपश्यन्कार्यमन्वेति विनाप्याख्यातृभिर्जनः ॥'

इत्यादिनयेन अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साध्यसाधनभावमवगम्य सर्वे एव व्यवहर्तारस्तथा तथा व्यवहरन्तीति प्रसिद्धिमनुसन्धाय सर्वोऽपि अयं व्यवहार इति किमुक्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—

अन्वयव्यतिरेकौ हि प्रसिद्धेरुपजीवकौ ॥ २ ॥
स्वायत्तत्वे तयोर्व्यक्तिपूगे किं स्यात्तयोर्गतिः ।

प्रसिद्धे हि वस्तुनि अन्वयव्यतिरेकयोः साध्यसाधनसम्बन्धाधिगमनिबन्धनत्वं

इस (संसार) में यह समस्त पुरातन व्यवहार प्रसिद्धि के आधार पर (चलता) है । और वही (= प्रसिद्धि) आगम कही जाती है ॥ -१-२- ॥

पुरातनी = दूसरी प्रसिद्धि के द्वारा उन्मूलित न होने से चिरतर प्ररूढ़ प्रसिद्धि का अनुसन्धान कर यह समस्त व्यवहार (चलता) है अर्थात् सभी वैसा व्यवहार करते हैं । और वही प्रसिद्धि आगम कही जाती है = उस (आगम) शब्द से व्यवहार्य होती है ।

जैसा कि कहा गया—

'लोक में प्रसिद्धि ही आगम है' ॥

प्रश्न—'अदृष्ट का दर्शन होने पर देखने वाला और उस (दृष्ट) का अदर्शन होने पर न देखने वाला मनुष्य वक्ता के बिना भी (पूर्व दर्शन के संस्कार के आधार पर) कार्य करता है ।'

इत्यादि नियम से अन्वयव्यतिरेक के द्वारा साध्यसाधनसम्बन्ध को जानकर सभी व्यवहर्त्ता उस-उस तरह से व्यवहार करते हैं । फिर यह समस्त व्यवहार प्रसिद्धि का अनुसन्धान कर होता है—ऐसा क्यों कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अन्वय और व्यतिरेक प्रसिद्धि के कार्य हैं । उन दोनों (= अन्वय और व्यतिरेक) के स्वतन्त्र होने पर व्यक्तिसमूह में उन दोनों की क्या गति होगी ? ॥ -२-३- ॥

भवेत्, अन्यथा स्वातन्त्र्येण तावेव यदि निश्चायकौ स्यातां तत् प्रतिव्यक्ति-भावित्वादेकैकविषयाश्रयस्ताभ्यामविनाभावावसायः स्यात्; न च एवमिति तत्रापि प्रसिद्धिरेव मूलम् । तथा च धूमे दहनान्वव्यतिरेकानुवर्तिनि तद्विशेषाः पाण्डिमाद-यस्तथाभावेऽपि प्रसिद्ध्यभावादविनाभावितया अनुसन्धातुं न शक्यन्ते इति ॥

न केवलमनुमाने एव प्रसिद्धिर्निबन्धनं यावत् प्रत्यक्षेऽपि—इत्याह—

प्रत्यक्षमपि नेत्रात्मदीपार्थादिविशेषजम् ॥ ३ ॥
अपेक्षते तत्र मूले प्रसिद्धिं तां तथात्मिकाम्।

इन्द्रियादिसामग्रीजन्यं प्रत्यक्षमपि तत्र इन्द्रियादिरूपे मूले तथात्मिकां ताद्रूप्यावमर्शमयीं तां सर्वव्यवहारनिबन्धनभूतां प्रसिद्धिमपेक्षते तां विना इन्द्रियादिप्रेरणाभावे न किञ्चित् सिध्येत्—इत्यर्थः ॥

एतदेव व्यतिरेकद्वारेण व्यनक्ति—

अभितःसंवृते जात एकाकी क्षुधितः शिशुः ॥ ४ ॥
किं करोतु किमादत्तां केन पश्यतु किं व्रजेत्।

प्रसिद्ध वस्तु में अन्वय व्यतिरेक साध्यसाधनसम्बन्ध के ज्ञान के कार्य होते हैं अन्यथा यदि वे स्वतन्त्र होकर निश्चायक बनें तो प्रत्येक व्यक्ति के साथ प्रभावी होने के कारण उनके द्वारा अविनाभाव का निश्चय एक-एक विषय को लेकर होगा । किन्तु (व्यवहार में) ऐसा नहीं है । इस प्रकार वहाँ भी प्रसिद्धि ही मूल है । इस प्रकार अग्नि के अन्वयव्यतिरेकी धूम में उस (धूम) के विशेष पाण्डिमा आदि के वैसा (अन्वयव्यतिरेकी) होने पर भी प्रसिद्धि के न होने से अविनाभावी रूप में (= 'यत्र यत्र धूमपाण्डिमा तत्र तत्र वह्निः'—ऐसा) अनुसन्धान नहीं हो सकता ॥

प्रसिद्धि केवल अनुमान में ही नहीं बल्कि प्रत्यक्ष में भी कारण है—यह कहते हैं—

नेत्र आत्मा दीप विषय आदि विशेषों से उत्पन्न प्रत्यक्ष भी उस मूल में उस प्रकार की प्रसिद्धि की अपेक्षा रखता है ॥ -३-४- ॥

इन्द्रिय आदि सामग्री से जन्य प्रत्यक्ष भी उसमें = इन्द्रिय आदि रूप, मूल में तथात्मिका = ताद्रूप्यअवमर्शमयी, उस = सर्वव्यवहार की कारणभूत, प्रसिद्धि की अपेक्षा रखता है । उसके बिना इन्द्रिय आदि की प्रेरणा के न होने पर कुछ भी सिद्ध नहीं होगा ॥

इसी को व्यतिरेक के द्वारा व्यक्त करते हैं—

सब प्रकार से भरे पूरे (कमरे) में उत्पन्न अकेला भूखा शिशु क्या करे क्या ले किससे देखे और कहाँ जाय ॥ -४-५- ॥

तदहर्जातो हि बालः सर्वतो नानाविधार्थसार्थसंवलिते स्थाने क्षुधितः साकाङ्क्षो-ऽपि एकाकी अप्राप्तपरोपदेशः किं करोतु विना स्वावमर्शात्मिकां प्रसिद्धिं नियत-विषयहानादानव्यवहारो बालस्य न स्यात्—इत्यर्थः ॥

न अत्र अन्यथासिद्धेः प्रसिद्धिरुपयुज्यते—इत्याह—

ननु वस्तुशताकीर्णे स्थानेऽप्यस्य यदेव हि ॥ ५ ॥
पश्यतो जिघ्रतो वापि स्पृशतः संप्रसीदति ।
चेतस्तदेवादाय द्राक् सोऽन्वयव्यतिरेकभाक् ॥ ६ ॥

तदहर्जातस्य हि बालस्य प्राथमिक्यां प्रवृत्तौ वस्तुशताकीर्णेऽपि स्थाने यदेव चक्षुरादिगोचरतामुपगतं सत् चेतः प्रसादाधायि, तदेव आदेयमर्थादितरत्तु हेयम् । अनन्तरं तु द्राक् पौनःपुन्येन असावन्वयव्यतिरेकभागभ्यासातिशयोपनतोऽन्वय-व्यतिरेकमूलोऽस्य व्यवहारः—इत्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु चेतः प्रसादोऽपि कुतस्त्य इति साक्रोशमुपदिशति—

हन्त चेतःप्रसादोऽपि योऽसावर्थविशेषगः ।
सोऽपि प्राग्वासनारूपविमर्शपरिकल्पितः ॥ ७ ॥
न प्रत्यक्षानुमानादिबाह्यमानप्रसादजः ।

उसी दिन उत्पन्न बालक सब प्रकार से अनेक प्रकार के पदार्थसमूह से परिपूर्ण स्थान में क्षुधित = साकाङ्क्ष भी, अकेले = अप्राप्तपरोपदेश, क्या करे = स्वावमर्शात्मिका प्रसिद्धि के बिना निश्चित विषय का त्याग या ग्रहण बालक को नही होता ॥

इस विषय में अन्यथासिद्धि की प्रसिद्धि उपयोगी नहीं होती—यह कहते हैं—

सैकड़ों वस्तु से भरे स्थान में भी इस (बालक) का चित्त जिस (वस्तु) को देखते सूँघते या स्पृष्ट करते हुये प्रसन्न होता है उसी को लेकर वह झट से अन्वय व्यतिरेक वाला हो जाता है ॥ -५-६ ॥

उसी दिन उत्पन्न हुये बालक की प्रथम प्रवृत्ति होने पर सैकड़ों वस्तु से भरे स्थान में भी जो (वस्तु) चक्षु आदि का विषय बनती हुई मन को प्रसन्न करने वाली होती है वही ग्राह्य होती है । अन्य तो हेय होती हैं । बाद मे तो द्राक् = बारम्बार, इस (बालक) का यह व्यवहार अन्वयव्यतिरेक वाला अर्थात् अभ्यास के अतिशय के द्वारा प्राप्त तथा अन्वयव्यतिरेक के कारण होता है ॥ ६ ॥

प्रश्न—चित्त की प्रसन्नता भी कहाँ से (= किस स्रोत से) होती है । इसे आक्रोश के साथ कहते हैं—

जो इसकी अर्थविशेष गामिनी चित्तप्रसन्नता है वह भी पूर्ववासना रूप

ननु चेतः प्रसादो हि तत्कालोल्लसितविमर्शरूपं प्रतिभामात्रमिति प्राग्वासना-रूपेण विमर्शेन परिकल्पित इति किमुक्तम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

प्राग्वासनोपजीव्येतत् प्रतिभामात्रमेव न ॥ ८ ॥
न मृदभ्यवहारेच्छा पुंसो बालस्य जायते।

एतत् चेतःप्रसन्नत्वं प्राग्वासनानुरोधि एव न पुनराकस्मिकं प्रतिभामात्रम् । एवं हि पुंसः कथञ्चिद् वृद्धिमुपेयुषो बालस्य स्तन्यादिवत् तत्त्वानभिसन्धानेन मृदभ्यवहारेच्छापि स्यात्; न च एवमिति अत्र विमर्शात्मा प्राग्वासनैव मूलम् । यत्तु बालादेर्मृद्भक्षणं तत् जिघत्सामात्रपरिकल्पितमिति न कश्चित् दोषः ॥

ननु भवतु नाम विमर्शरूपप्राग्वासनापरिकल्पितश्चेतःप्रसादः, तावता तु प्रसिद्धेः कोऽवकाशः ?—इत्याशङ्क्य आह—

प्राग्वासनोपजीवी चेद्विमर्शः सा च वासना ॥ ९ ॥
प्राच्या चेदागता सेयं प्रसिद्धिः पौर्वकालिकी।

ननु यदि प्राग्वासनैव चेतःप्रसादस्य निबन्धनं सा च प्राच्या वासना यदि

विमर्श से परिकल्पित है ॥ ७-८- ॥

प्रश्न—चित्तप्रसाद तो तत्काल उल्लसित विमर्शरूप प्रतिभामात्र होता है फिर (यह) पूर्ववासनारूप विमर्श से परिकल्पित होता है—ऐसा कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यह केवल प्रतिभा मात्र नहीं हैं बल्कि प्राग्वासना का कार्य है । बालक की मिट्टी खाने की इच्छा पुरुष में नहीं पैदा होती ॥ -८-९- ॥

यह चित्त की प्रसन्नता पूर्ववासना के कारण ही होती है न कि आकस्मिक प्रतिभामात्र है । ऐसा होने पर जैसे बालक को स्तन का दूध पीने में (तत्त्वानभिसन्धानपूर्वक प्रवृति होती है उसी प्रकार) सयाने हुये पुरुष को मिट्टी खाने की इच्छा भी तत्त्वानभिसन्धानपूर्वक होने लगेगी । किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये यहाँ विमर्शरूप पूर्ववासना ही (उसका) कारण है । और जो बालक आदि का मिट्टी खाने का स्वभाव है वह (उसकी कुछ भी) खाने की इच्छामात्र से परिकल्पित होता है । इस प्रकार कोई दोष नही है ॥

प्रश्न—चित्त का प्रसाद विमर्शरूप प्राग्वासना (= संस्कार) से परिकल्पित (है तो) हो उससे प्रसिद्धि के लिये अवकाश कहाँ से आया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यदि विमर्श प्राग्वासना का फल है और वह वासना प्राचीन है तो यह पूर्वकालिक प्रसिद्धि आ ही गयी ॥ -९-१०- ॥

विमर्श एव; तत् सा इयमागता पौर्वकालिकी प्रसिद्धिः इदमेव अस्यास्तात्त्विकं रूपम्—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'विमर्श आगमः सा सा प्रसिद्धिरविगीतिका ।' इति ॥

ननु किं प्रसिद्ध्या, चेतःप्रसादमात्रनिबन्धन एव अस्तु व्यवहारः?—इत्याशङ्क्य आह—

न च चेतः प्रसत्त्यैव सर्वो व्यवहृतिक्रमः ॥ १० ॥
मूलं प्रसिद्धिस्तन्मानं सर्वत्रैवेति गृह्यताम् ।

नहि चेतःप्रसादमात्रेण सर्वो हानादानाद्यात्मा व्यवहारः सिद्ध्येत् तथात्वे हानादेरनिर्वाहात् । तत् सर्वत्र हानादानाद्यात्मनि व्यवहारे मूलभूता प्रसिद्धिरेव प्रमाणमिति गृह्यतां हठायातमेतत्—इत्यर्थः ।

यदाहुः—

'सजातीयप्रसिद्ध्यैव सर्वो व्यवहृतिक्रमः ।
सर्वस्याद्यो वासनापि प्रसिद्धिः प्राक्तनी स्थिता ॥' इति ॥

ननु पूर्वपूर्ववृद्धोपजीवनजीवित एव सर्वो व्यवहार इति स्थितम् । न च

प्रश्न—यदि प्राग्वासना ही चित्तप्रसाद का कारण है और वह प्राच्यवासना यदि विमर्श ही है तो यह पौर्वकालिकी प्रसिद्धि आ गयी । अर्थात् यही (= प्रसिद्धि ही) इसका तात्त्विकरूप है । जैसा कि कहा गया—

'विमर्श ही आगम है, वह (= प्राग्वासना) प्रसिद्धि है (और) वह सर्वसम्मत है' ॥

प्रश्न—प्रसिद्धि से क्या (लाभ)? व्यवहार को केवल चित्तप्रसाद का कार्य माना जाय?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चित्त की प्रसन्नता से ही समस्त व्यवहारक्रम नहीं होता । (इसका) मूल प्रसिद्धि है और वही सर्वत्र प्रमाण है—ऐसा समझना चाहिये ॥-१०-११-॥

चित्त की प्रसन्नता मात्र से ही समस्त हानोपादानव्यवहार सिद्ध नहीं होता । क्योंकि वैसा होने पर हान आदि का निर्वाह नहीं हो सकेगा (कभी-कभी अत्यन्त रुचिकर वस्तु का भी हान = त्याग नहीं होता जबकि वह प्रसिद्ध्या त्याज्य होता है)। इस कारण सर्वत्र = हानादान आदि वाले व्यवहार में मूलभूत प्रसिद्धि ही प्रमाण है—ऐसा समझिये अर्थात् हठात् ऐसा आगया ।

जैसा कि कहते हैं—

'सजातीय प्रसिद्धि से ही समस्त व्यवहार का क्रम है । सबका मूल वासना भी प्राक्तनी प्रसिद्धि ही है' ॥

इयमनवस्था मूलक्षतिकारिणीति किं प्रसिद्धिनिबन्धनेन?—इत्याशङ्क्य आह—

पूर्वपूर्वोपजीवित्वमार्गणे सा क्वचित्स्वयम् ॥ ११ ॥
सर्वज्ञरूपे ह्येकस्मिन्निःशङ्कं भासते पुरा ।

पूर्वपूर्वोपजीवनमार्गणेऽपि सा प्रसिद्धिः कस्मिंश्चिदेकस्मिन् सर्वज्ञे पुरा परारूपायां प्राथमिक्यां भूमौ स्वयमनन्यापेक्षत्वेन निःशङ्कं सौक्ष्म्यादनुन्मिषिता भासते—परापरामर्शात्मना प्रस्फुरति—इत्यर्थः ॥

ननु एवं पूर्वपूर्वप्रसिद्ध्युपजीवनमात्रेण असर्वज्ञ एव समस्तोऽयमस्तु व्यवहारः, किं सर्वज्ञस्यापि परिकल्पनेन?—इत्याशङ्क्य आह—

व्यवहारो हि नैकत्र समस्तः कोऽपि मातरि ॥ १२ ॥
तेनासर्वज्ञपूर्वत्वमात्रेणैषा न सिद्ध्यति ।

नहि एकत्र कुत्रचिदसर्वज्ञे प्रमातरि समस्तो व्यवहारः कोऽपि असर्वज्ञत्वादेव न कश्चित्—इत्यर्थः । अतश्च एषा प्रसिद्धिरसर्वज्ञपूर्वत्वेनैव न सिद्ध्यति समस्तव्यवहारसहिष्णुत्वमस्या न स्यात्—इत्यर्थः ॥

प्रश्न—पूर्वपूर्ववृद्ध के कारण ही समस्त व्यवहार चलता है—यह निश्चित है । और यह अनवस्था मूलक्षयकारिणी भी नहीं है फिर प्रसिद्धि रूप कारण से क्या लाभ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

पूर्व-पूर्व कारण के खोजने में कभी वह (= प्रसिद्धि) स्वयं सर्वज्ञ रूप एक व्यक्ति के अन्दर पहले भासित होती है ॥ -११-१२- ॥

पूर्व-पूर्व कारण (= एक वृद्ध के द्वारा क्रियमाण व्यवहार का कारण उसका पूर्ववर्त्ती वृद्ध, इस पूर्ववर्त्ती के व्यवहार का कारण इसका पूर्ववर्त्ती—इस प्रकार पूर्व-पूर्व कारण) के खोजने में भी वह प्रसिद्धि किसी एक सर्वज्ञ में = पहले परारूपा प्राथमिकी भूमि में, स्वयं = अनन्यापेक्ष रूप से, निःशङ्क, सूक्ष्मता के कारण अनुन्मिषित होती हुई, भासित होती है = परापरामर्शरूप से प्रस्फुरित होती है ॥

प्रश्न—इस प्रकार पूर्व-पूर्व प्रसिद्धि को कारण मानने से असर्वज्ञ में ही यह समस्त व्यवहार हो, सर्वज्ञ की कल्पना से क्या लाभ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

कोई भी समस्त व्यवहार किसी एक (असर्वज्ञ) प्रमाता में नहीं होता । इस कारण असर्वज्ञपूर्वत्वमात्र से इस प्रसिद्धि की सिद्धि नहीं होती ॥ -१२-१३- ॥

एकत्र अर्थात् किसी एक असर्वज्ञ प्रमाता में कोई भी समस्त व्यवहार (सिद्ध) नही होता । असर्वज्ञ होने के कारण कोई व्यवहार नहीं होता—यह अर्थ है ।

ननु एवमपि असर्वज्ञवत् सर्वज्ञान्तरपूर्वत्वेनैव सर्वज्ञस्यापि प्रसिद्धिरस्तु, किं तत्र अस्या निष्टङ्केन भानेन?—इत्याशङ्क्य आह—

बहुसर्वज्ञपूर्वत्वे न मानं चास्ति किञ्चन ॥ १३ ॥

मानं नास्तीति—वैयर्थ्यादेः ॥

अतश्च एक एव पूर्णाहंपरामर्शमयः सर्वज्ञः परमेश्वरः समस्तप्रसिद्धिनिबन्धन-भूतः इत्याह—

भोगापवर्गतद्धेतुप्रसिद्धिशतशोभितः ।
तद्विमर्शस्वभावोऽसौ भैरवः परमेश्वरः ॥ १४ ॥

द्विधा च इयं परमेश्वरात् प्रवृत्ता लोकव्यवहारनिबन्धनम्—इत्याह—

ततश्चांशांशिकायोगात्सा प्रसिद्धिः परम्पराम् ।
शास्त्रं वाश्रित्य वितता लोकान्संव्यवहारयेत् ॥ १५ ॥

अंशांशिकेति—देशकुलादिभेदात् लौकिकवैदिकादिभेदाद् वा । परम्परामिति—मुखपारम्पर्यनिरूढिरूपाम् । शास्त्रमिति—निबन्धनम् । विततेति—अन्तरविगानाभावात् ।

इसलिये यह प्रसिद्धि असर्वज्ञपूर्वक होने से ही सिद्ध नहीं होती । अर्थात् इसकी समस्तव्यवहारसहिष्णुता नहीं होती ॥

प्रश्न—ऐसा होने पर भी असर्वज्ञ की भाँति सर्वज्ञान्तरपूर्वता (= पहले किसी दूसरे सर्वज्ञ के होने) के ही द्वारा सर्वज्ञ की भी सिद्धि हो जाय फिर इसके निष्टङ्क (= दोषरहित) भान से क्या?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(इसकी) बहुसर्वज्ञपूर्वता में कोई प्रमाण नहीं है ॥ १३ ॥

प्रमाण नहीं है—वैय्यर्थ्य आदि के कारण ॥

इसलिये एक ही पूर्ण अहंपरामर्शमय सर्वज्ञ परमेश्वर समस्त प्रसिद्धि का कारण है—यह कहते हैं—

तद्विमर्शस्वभाव वाला यह भैरव परमेश्वर ही भोग, मोक्ष और उसका कारणभूता सैकड़ों प्रसिद्धि से शोभित है ॥ १४ ॥

परमेश्वर से प्रवृत्त यह (प्रसिद्धि) दो प्रकार से लोकव्यवहार का कारण बनती है—यह कहते हैं—

इस (परमेश्वर) से अंशांशिका योग से (प्रवृत्त) वह प्रसिद्धि परम्परा या शास्त्र का आधार लेकर फैली हुई लोकव्यवहार कराती है ॥ १५ ॥

अंशांशिका—देश कुल आदि के भेद से या लौकिक वैदिक आदि के भेद से ।

यदुक्तम्—

'लौकिकादिरहस्यान्तशास्त्रामर्शप्ररोहिणी ।
वक्त्रागमज्ञरूढ्यात्मा वागित्थं पारमेश्वरी ॥' इति ॥ १५ ॥

ननु भवतु एवम्, नियतागमपरिग्रहे तु किं निमित्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—

तयैवाशैशवात्सर्वे व्यवहारधराजुषः ।
सन्तः समुपजीवन्ति शैवमेवाद्यमागमम् ॥ १६ ॥
अपूर्णास्तु परे तेन न मोक्षफलभागिनः ।

सन्त इति—विवेकिनः । शैवमिति—आद्यमिति च—अनेन अस्य संपूर्णार्थाभिधायकत्वं प्रकाशितम् । यदाहुः—

'तस्मात्संपूर्णसंबोधपराद्वैतप्रतिष्ठितम् ।
यः कुर्यात्सर्वतत्त्वार्थदर्शी स पर आगमः ॥' इति ।

परे इति—असन्तः । अपूर्णत्वमेव प्रपञ्चितम्—तेन न मोक्षफलिभागिन

परम्परा—मुखपारम्पर्यनिरूढ़िरूपा अर्थात् मौखिक परम्परारूप । शास्त्र—कारण । वितता—भीतर विरोध न होने से ।

जैसा कि कहा गया—

'इस प्रकार यह पारमेश्वरी वाक् लौकिक आदि रहस्यान्तशास्त्र के विमर्श को उत्पन्न करने वाली वक्त्र (मौखिक) और आगमज्ञ की रूढ़ि रूपा है' ॥ १५ ॥

प्रश्न—ऐसा हो जाय; नियत आगम के परिग्रह में क्या कारण है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उसी (= प्रसिद्धि) के द्वारा व्यवहार की धरती पर रहने वाले सभी सन्त लोग आद्य शैवआगम के कारण समुपजीवित रहते हैं । दूसरे लोग (जो कि शैवागम से रहित हैं) अपूर्ण हैं इस कारण मोक्षफल के भागी नहीं होते ॥ १६-१७- ॥

सन्त = विवेकी । (पूर्व श्लोक में) शैव और आद्य—इस (कथन) से इस (शैवागम) का सम्पूर्ण अर्थाभिधायकत्व प्रकाशित किया गया है । जैसा कि कहते हैं—

'इस कारण जो सर्वतत्त्वार्थदर्शी (शास्त्र) सम्पूर्णसम्बोधरूप पराद्वैत (विज्ञान को) प्रतिष्ठित करता है वह पर (= सर्वश्रेष्ठ) आगम है । (इसका अनुसन्धान और अनुष्ठान करने वाला पुरुष विश्वरहस्य का वेत्ता हो जाता है)'

दूसरे लोग = असन्त । 'इस कारण मोक्षफलभागी नहीं है ।' (यह पूर्व श्लोकोक्त) अपूर्णत्व शब्द की ही व्याख्या है ॥

इति ॥

ननु यदि एवं तत् कृतं सर्वागमप्रामाण्यप्रतिपादनेन?—इत्याशङ्क्य आह—

उपजीवन्ति यावत्तु तावत्तत्फलभागिनः ॥ १७ ॥

तुशब्दो हेतौ । यावत्तावदिति—परिमितम् । अत एव उक्तम्—तत्फलभागिन इति प्रतिनियतमेव अतः फलमासादयन्ति—इत्यर्थः, येन

'बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धाः .... ।'

इत्यादि उक्तम् ॥ १७ ॥

ननु अविदितान्वयव्यतिरेकादेर्बालस्य अस्तु प्रसिद्धिमात्रनिबन्धनत्वम्, विवेकिनस्तु कथमेवं स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

बाल्यापायेऽपि यद्भोक्तुमन्नमेष प्रवर्तते ।
तत्प्रसिद्ध्यैव नाध्यक्षान्नानुमानादसम्भवात् ॥ १८ ॥

अबालस्यापि हि प्रमातुर्भोजनादौ प्रसिद्धिमात्रनिबन्धनैव प्रवृत्तिः, यतस्तत्र न तावत् प्रत्यक्षं सम्भवति तस्य हि अन्नं विषयः, न तद्भोज्यत्वं तस्य ज्ञाने

प्रश्न—यदि ऐसा है तो अन्य समस्त आगमों के प्रामाण्य का प्रतिपादन व्यर्थ है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जिस सीमा तक (अन्य लोग इसको) आधार मानते हैं उस सीमा तक उसके फल के भागी होते हैं ॥ १७ ॥

'तु' शब्द हेतु अर्थ में हैं । 'यावत्' 'तावत्' यह परिमित अर्थ का वाचक है । इसीलिये कहा गया—उस फल के भागी होते हैं अर्थात् इस कारण परिसीमित ही फल को प्राप्त करते हैं । जिस कारण—

'(निर्वाणप्राप्त) बौद्ध लोग बुद्धितत्त्व में स्थित होते हैं............. ।' इत्यादि कहा गया ॥ १७ ॥

प्रश्न—जिसे अन्वयव्यतिरेक आदि ज्ञात नहीं है ऐसे बालक (का व्यवहार) प्रसिद्धिमात्र के कारण होता है तो, विवेकी का (व्यवहार) ऐसा कैसे होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

बचपन के चले जाने पर भी जो यह (= युवा पुरुष) अन्न खाने के लिये प्रवृत्त होता है वह प्रसिद्धि के ही कारण । न कि प्रत्यक्ष और अनुमान के कारण, क्योंकि (दोनों) असम्भव हैं ॥ १८ ॥

अबाल भी प्रमाता की भोजन आदि में प्रवृत्ति प्रसिद्धिमात्र के कारण होती है । क्योंकि इस विषय में प्रत्यक्ष (प्रमाण) सम्भव नहीं । उस (प्रत्यक्ष) का विषय अन्न

विकारकारित्वाभावात्, तत् कथमस्य विषयभावमप्राप्ते वस्तुनि प्रवर्तकत्वं स्यात्; नापि अनुमानं, तत् हि अन्वयव्यतिरेकमूलम्, तयोश्च प्रसिद्धिरेव निबन्धनमिति उक्तम्, तन्मूलभूतां प्रसिद्धिमपहाय कथमस्य एवंभावो भवेत् । यदभिप्रायेणैव

'लौकिके व्यवहारे हि सदृशौ बालपण्डितौ ।'

इत्यादि उक्तम् ॥ १८ ॥

निमित्तान्तरमपि अत्र किञ्चित् न न्याय्यम्—इत्याह—

न च काप्यत्र दोषाशा शङ्कायाश्च निवृत्तितः ।

क्षुधादिना हि कथञ्चित्पीडितोऽपि न अन्यत्र प्रवर्तते तावता क्षुधादिदोषनिवृत्तौ निश्चयायोगात् ॥

ननु यदि एवं तत् प्रसिद्ध्या प्रवर्तमानस्यापि किमेवमाशङ्का न स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

प्रसिद्धिश्चाविगानोत्था प्रतीतिः शब्दनात्मिका ॥ १९ ॥
मातुः स्वभावो यत्तस्यां शङ्कते नैष जातुचित् ।

होता है न कि उस (अन्न) की भोज्यता । क्योंकि उसके (= भोज्यत्व के) ज्ञान में विकारकारिता नहीं है (= उस ज्ञान में कोई विकार नहीं हो सकता)। तो विषयभाव को अप्राप्त वस्तु के विषय में यह (= प्रत्यक्ष ज्ञान) प्रवर्त्तक कैसे होगा । अनुमान भी (प्रमाण) नहीं बन सकता । क्योंकि उसका आधार है—अन्वयव्यतिरेक और उन दोनों (= अन्वय और व्यतिरेक) का कारण है प्रसिद्धि । तो मूलभूत प्रसिद्धि को छोड़कर ऐसा कैसे होगा । जिस अभिप्राय से—

'लौकिक व्यवहार में बाल और पण्डित समान होते हैं ।'

इत्यादि कहा गया है ॥ १८ ॥

इसमें कोई दूसरा कारण भी न्याय्य नहीं है—यह कहते हैं—

इस विषय में कोई दोष की आशा नहीं है क्योंकि शङ्का की निवृत्ति हो गयी है ॥ १९- ॥

क्षुधा आदि से पीड़ित भी (कोई व्यक्ति) अन्यत्र (= अन्नभक्षण से भिन्न कार्य में) प्रवृत्त नहीं होता । क्योंकि उससे (= अन्य कार्य से) क्षुधा आदि दोष की निवृत्ति का निश्चय नहीं रहता ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो प्रसिद्धि के कारण प्रवर्त्तमान (व्यक्ति) को भी क्या ऐसी आशङ्का नहीं होगी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रसिद्धि, अविगान (= अविरुद्ध कथन) से उत्पन्न शब्दनात्मिका

स्वकृतत्ववशादेव सर्ववित्स हि शङ्करः ॥ २० ॥

प्रसिद्धिर्हि सततोदितत्वादविगानेन उल्लसिता स्वावमर्शात्मप्रतीतिरूपा प्रमातुः स्वभाव एवेति तस्यां प्रसिद्धौ परामर्शनक्रियाकर्तृत्वेन स्वकृतत्ववशादेव एषः = प्रमाता कदाचिदपि न शङ्कते = विचिकित्सेत, यदसौ सर्ववित् शङ्कर एव वस्तुतस्तद्रूप एव असौ—इत्यर्थः ॥ २० ॥

ननु एवं परमेश्वररूपतायामस्तु, अन्यथा पुनरेतत् कथं सङ्गच्छताम्?—इत्याशङ्क्य आह—

यावत्तु शिवता नास्य तावत्स्वात्मानुसारिणीम्।
तावतीमेव तामेष प्रसिद्धिं नाभिशङ्कते ॥ २१ ॥
अन्यस्यामभिशङ्की स्याद्भूयस्तां बहु मन्यते ।

तावतीमेवेति—परिमिताम् । अन्यस्यामिति—परकीयायाम् । भूय इति—अत्यर्थम् । तामिति—स्वात्मानुसारिणीं प्रसिद्धिम् । बहु मन्यते इति—अव्यभिचारित्वात् ॥

ननु यदि एवं तत् कथं शैवमेव आगमं सन्तः समुपजीवन्तीत्युक्तम्?—

प्रतीति है । प्रमाता का यह स्वभाव है कि यह (प्रमाता) अपने कृतत्त्व (= कर्त्तव्य, कर्तृत्व) के कारण इस (प्रतीति) के विषय में कभी शङ्का नहीं करता । क्योंकि यह (= प्रमाता) सर्ववित् शङ्कर ही है ॥ -१९-२० ॥

प्रसिद्धि सतत उदित होने के कारण अविगान से उत्पन्न होती हुई स्वावमर्शप्रतीति रूपा है जो कि प्रमाता का स्वभाव ही है । इस प्रकार इस प्रसिद्धि के विषय में परामर्शनक्रिया के कर्तृत्व के कारण स्वकृतत्ववशात् यह प्रमाता कभी भी शङ्का नहीं करता । क्योंकि यह सर्वज्ञ शङ्कर ही है अर्थात् वस्तुतः यह तद्रूप ही है ॥ २० ॥

प्रश्न—परमेश्वररूपता होने पर ऐसा हो जाय किन्तु अन्यथा यह कैसे सङ्गत होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जब तक इसकी शिवता नहीं होती तब तक यह स्वात्मानुसारिणी उतनी ही प्रसिद्धि के बारे में शङ्का नहीं करता । किन्तु परकोय (प्रसिद्धि) के विषय में शङ्का करता है और फिर उसको अधिक मान्यता देता है ॥ २१-२२- ॥

उतनी ही = परिमित । अन्य की = परकीया की । भूयः = अत्यधिक । उसको = स्वात्मानुसारिणी प्रसिद्धि को । बहुत मानता है—अव्यभिचारी होने से ॥

इत्याशङ्क्य आह—

एवं भाविशिवत्वोऽमूं प्रसिद्धिं मन्यते ध्रुवम् ॥ २२ ॥

एवमिति—स्वप्रसिद्धिवत् । अमूमिति—प्रक्रान्तां शैवीम् ॥ २२ ॥

ननु शैवबौद्धादिभिदा बहुधा इयं प्रसिद्धिरिति कस्मादवश्यभाविशिवत्वस्य शैवीमेव प्रसिद्धिं प्रति बहुमानः—इत्याशङ्क्य आह—

एक एवागमश्चायं विभुना सर्वदर्शिना ।
दर्शितो यः प्रवृत्ते च निवृत्ते च पथि स्थितः ॥ २३ ॥

प्रवृत्ते इति—कर्मादिरूपे । निवृत्ते इति—ज्ञानैकरूपे ॥ २३ ॥

ननु यदि एक एव अयमागमो विभुना दर्शितः, तत् धर्मादेश्चतुर्वर्गस्य प्रतिशास्त्रं स्वरूपतः फलतश्च वैचित्र्ये किं निमित्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—

धर्मार्थकाममोक्षेषु पूर्णापूर्णादिभेदतः ।
विचित्रेषु फलेष्वेक उपायः शाम्भवागमः ॥ २४ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो फिर विवेकी लोग शैव आगम को ही प्रमाण मानते हैं—ऐसा कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस प्रकार भावी शिवता वाला यह (पुरुष) इस प्रसिद्धि को निश्चित मान्यता देता है ॥ -२२ ॥

इस प्रकार = स्वप्रसिद्धि की भाँति । इस = प्रक्रान्त शैवी (प्रसिद्धि) को ॥ २२ ॥

प्रश्न—शैव (सिद्धान्त) बौद्ध आदि भेद से यह प्रसिद्धि अनेक प्रकार की है फिर अवश्यभावी शिवत्व वाले (पुरुष) का शैवी प्रसिद्धि के प्रति ही बहुत आदर क्यों है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

सर्वदर्शी व्यापक (परमेश्वर) के द्वारा यही एक ऐसा आगम दिखाया गया जो कि प्रवृत्ति एवं निवृत्ति (दोनों) मार्गों में स्थित है ॥ २३ ॥

प्रवृत्त = कर्म आदि रूप मार्ग । निवृत्त = केवल ज्ञान मार्ग ॥ २३ ॥

प्रश्न—यदि परमेश्वर ने यह एक ही आगम दिखाया है तो धर्म आदि चतुर्वर्ग का प्रत्येक शास्त्र में स्वरूपतः और फलतः वैचित्र्य होने में क्या कारण है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

धर्म अर्थ काम और मोक्ष के पूर्ण अपूर्ण आदि भेद के कारण विचित्र फल होने में शाम्भव आगम ही एक उपाय है ॥ २४ ॥

ननु एवमेककर्तृकत्वे अस्य विचित्रोऽयमुपदेशः किं न परस्परस्य विरुध्येत् ?—इत्याशङ्क्य आह—

तस्मिन्विषयवैविक्त्याद्विचित्रफलदायिनि ।
चित्रोपायोपदेशोऽपि न विरोधावहो भवेत् ॥ २५ ॥

तस्मिन्नेकेनैव शम्भुना प्रणीतेऽपि आगमे विचित्राणां धर्मादीनामुपायानामुपदेशो देशकालाधिकार्यादिविषयभेदमाश्रित्य विचित्रफलदातृत्वात् न विरोधावहो भवेत्—अप्रामाण्यकारणतां न यायात्—इत्यर्थः ॥ २५ ॥

ननु बुद्धार्हत्कपिलप्रभृतीनाप्तानपहाय शम्भुनैव इदं सर्वं प्रणीतमित्यत्र किं प्रमाणम्?—इत्याशङ्क्य आह—

लौकिकं वैदिकं साङ्ख्यं योगादि पाञ्चरात्रकम् ।
बौद्धार्हतन्यायशास्त्रं पदार्थक्रमतन्त्रणम् ॥ २६ ॥
सिद्धान्ततन्त्रशाक्तादि सर्वं ब्रह्मोद्भवं यतः ।
श्रीस्वच्छन्दादिषु प्रोक्तं सद्योजातादिभेदतः ॥ २७ ॥

यतः सर्वं लौकिकादि शम्भोरेव सद्योजातादिभेदेन ब्रह्मभ्यो वक्त्रेभ्यः समुद्भूतमिति श्रीस्वच्छन्दादिषु शास्त्रेषु प्रोक्तम्—इति वाक्यार्थः ।

प्रश्न—एककर्तृक होने पर इसका यह विचित्र उपदेश क्या परस्पर विरुद्ध नहीं होता?—यह शङ्का कर कहते हैं—

विषय के भिन्न होने के कारण उसके विचित्रफलदायी होने पर विचित्र उपायों का उपदेश भी विरुद्ध नहीं होता ॥ २५ ॥

उस आगम के एक ही शम्भु के द्वारा प्रणीत होने पर भी विचित्र धर्म आदि उपायों का उपदेश देश काल अधिकारी आदि विषयों के भेद को आधार मान कर विचित्रफलदायी होने के कारण विरोधाधायक नहीं होता अर्थात् अप्रामाण्यकारणता को प्राप्त नहीं होता (= अप्रामाणिक नहीं होता)॥ २५ ॥

प्रश्न—बुद्ध जिन कपिल आदि आप्त (पुरुषों) को छोड़कर शम्भु के द्वारा ही यह सब (= जैन बौद्ध सांख्य आदि शास्त्र) रचित है इसमें क्या प्रमाण है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

लौकिक वैदिक सांख्य योग आदि तथा पाञ्चरात्र बौद्ध अर्हत न्यायशास्त्र पदार्थ क्रमतन्त्र सिद्धान्ततन्त्र शाक्त (तन्त्र) आदि सब चूँकि सद्योजात आदि भेद से शिव के मुखों से उत्पन्न है (इसलिये वे सबके सब प्रमाण है)—ऐसा स्वच्छन्द आदि (ग्रन्थों) में कहा गया है ॥ २६-२७ ॥

क्योंकि सब लौकिक आदि (शास्त्र) शम्भु के ही सद्योजात आदि भेद से, ब्रह्म

यदुक्तं तत्र—

'अदृष्टविग्रहायातं शिवात्परमकारणात् ।
ध्वनिरूपं सुसूक्ष्मं तु सुशुद्धं सुप्रभान्वितम् ॥
तदेवापररूपेण शिवेन परमात्मना ।
मन्त्रसिंहासनस्थेन पञ्चमन्त्रमहात्मना ॥
पुरुषार्थं विचार्याशु साधनानि पृथक् पृथक् ।
लौकिकादिशिवान्तानि परापरविभूतये ।
तदनुग्रहयोग्यानां स्वे स्वे विषयगोचरे ॥
अनुष्टुब्छन्दसा बद्धं कोट्यर्बुदसहस्रधा ।' (८।३१) इति,

तथा

'लौकिकं देवि विज्ञानं सद्योजाताद्विनिर्गतम् ।
वैदिकं वामदेवात्तु आध्यात्मिकमघोरतः ॥
पुरुषाच्चातिमार्गाख्यं निर्गतं तु वरानने ।
मन्त्राख्यं तु महाज्ञानमीशानात्तु विनिर्गतम् ॥' (११।४५) इति,

तथा

'धर्मेणैकेन देवेशि बद्धं ज्ञानं हि लौकिकम् ।
धर्मज्ञाननिबद्धं तु पाञ्चरात्रं च वैदिकम् ॥
बौद्धमारहतं चैव वैराग्येणैव सुव्रते ।

= मुखों से, उत्पन्न हैं—ऐसा श्री स्वच्छन्द आदि शास्त्रों में कहा गया है—यह वाक्यार्थ है । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'(आगमिक ज्ञान) परमकारण अदृष्टशरीर शिव से सुसूक्ष्म सुशुद्ध सुप्रभान्वित ध्वनिरूप में आया । वही परमात्मा शिव के द्वारा अपररूप जो कि मन्त्र सिंहासन पर स्थित है और पञ्चमन्त्रमहात्मारूप है—के द्वारा पुरुषार्थ का विचार कर और पृथक्-पृथक् लौकिक से लेकर शिव पर्यन्त साधनों का विचार कर परापर विभूति के लिये तदनुग्रह के योग्य लोगों के लिये अपने-अपने विषय के लिये अनुष्टुप् छन्द के द्वारा साढ़े तीन करोड़ पद्यों में उपनिबद्ध किया' । तथा—

'(भगवान् शिव कहते हैं—) हे देवि ! लौकिक विज्ञान सद्योजात से निकला । वैदिक वामदेव से और आध्यात्मिक (विज्ञान) अघोर से निकला । हे वरानने ! अतिमार्ग नामक ज्ञान पुरुष से और मन्त्र नामक महाज्ञान ईशान से उत्पन्न हुआ' । तथा—

'हे देवेशि ! लौकिक ज्ञान (= स्मृतिशास्त्र आदि) केवल धर्म से निबद्ध है । पाञ्चरात्र एवं वैदिक (सम्प्रदाय) धर्म और ज्ञान से युक्त है । हे सुव्रते ! बौद्ध और

ज्ञानवैराग्यसंबद्धं साङ्ख्यज्ञानं हि पार्वति ॥
ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं योगज्ञाने प्रतिष्ठितम् ।
अतीतं बुद्धिभावानामतिमार्गं प्रकीर्तितम् ॥
लोकातीतं च तज्ज्ञानमतिमार्गमिति स्मृतम् ।'
(११।१८२) इति ॥ २७ ॥

ननु यदि एवं शैवबौद्धादिरेव आगमः, तत् बौद्धादिशास्त्रवर्तिनां शिवशास्त्रौन्मुख्ये कस्मात् लिङ्गोद्धारादि संस्कारान्तरमपि उक्तम्?—इत्याशङ्कां दृष्टान्तोपदर्शनेन उपशमयति—

यथैकत्रापि वेदादौ तत्तदाश्रमगामिनः ।
संस्कारान्तरमत्रापि तथा लिङ्गोध्दृतादिकम् ॥ २८ ॥

संस्कारान्तरमिति—अर्थादुक्तम् ॥ २८ ॥

ननु एवमपि शिवादेव यदि अखिलमिदं शास्त्रमुदितं तत् शैवपाञ्च-रात्रादिभ्योऽपि कस्मात् न शिवात्मकत्वमेव उदियात्?—इत्याशङ्कां दृष्टान्तीकृत्य दृष्टान्तपुरःसरीकारेण आह—

यथा च तत्र पूर्वस्मिन्नाश्रमे नोत्तराश्रमात् ।
फलमेति तथा पाञ्चरात्रादौ न शिवात्मताम्॥ २९ ॥

जैन धर्म वैराग्य से तथा हे पार्वती ! सांख्यज्ञान ज्ञान और वैराग्य से युक्त है । योगज्ञान में ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य प्रतिष्ठित है । बुद्धि भावों से परे ज्ञान को अतिमार्ग कहा गया है । वह ज्ञान लोकातीत है इस कारण अतिमार्ग कहा गया है' ॥ २७ ॥

प्रश्न—यदि बौद्ध आदि आगम इस प्रकार के (= शिवमुखोद्‌गत) हैं तो बौद्ध आदि शास्त्रों का अनुसरण करने वालों के शिवशास्त्र की ओर उन्मुख होने पर (उनका) लिङ्गोद्धार आदि अन्य संस्कार भी क्यों कहा गया?—इस शङ्का को दृष्टान्त प्रदर्शन के द्वारा शान्त करते हैं—

जैसे एक ही वेद आदि मार्ग में तत्तत् (ब्रह्मचर्य आदि) आश्रमो में जाने वाले आदि (के अध्ययन एवं अनुसरण) का दूसरा-दूसरा संस्कार होता है उसी प्रकार यहाँ भी लिङ्गोद्धार आदि है ॥ २८ ॥

संस्कारान्तर—अर्थात् कहा गया है ॥ २८ ॥

प्रश्न—ऐसा होने पर भी यदि यह समस्त शास्त्र शिव से ही उत्पन्न है तो शैवसिद्धान्त पाञ्चरात्र से भी शिवात्मकता का ही उदय क्यों नहीं होता?—इस आशङ्का को दृष्टान्त कर दृष्टान्त के साथ कहते हैं—

तत्रेति—एकत्र वेदादा । पूर्वस्मिन्नाश्रमे इति । अर्थात् स्थितः—उत्तराश्रमा-दिति गार्हस्थ्यादेः ॥ २९ ॥

तदेवमेक एव अयमीश्वरप्रणीत आगमः, यत्र इदं लौकिकशास्त्रात्प्रभृति सर्वं विश्रान्तम्—इत्याह—

एक एवागमस्तस्मात्तत्र लौकिकशास्त्रतः ।
प्रभृत्यावैष्णवाद्बौद्धाच्छैवात्सर्वं हि निष्ठितम् ॥ ३० ॥

ननु एवंविधस्य अपि अस्य आगमस्य किमुपेयम्?—इत्याशङ्क्य आह—

तस्य यत्तत् परं प्राप्यं धाम तत् त्रिकशब्दितम् ।

ननु

'यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च ।
तत् कुलं विद्धि सर्वज्ञ शिवशक्तिविवर्जितम् ॥'

इत्यादिदृशा कुलस्यैव सर्वविश्रान्तिधामत्वमुक्तम्, तत् किमेतदभिधीयते?—इत्याशङ्क्य आह—

जिस प्रकार वहाँ पूर्व आश्रम में (रहने वाले को) उत्तर आश्रम का फल नहीं मिलता उसी प्रकार पाञ्चरात्र आदि में (रहने वालों को) शिवात्मता नहीं मिलती ॥ २९ ॥

वहाँ = एकत्र वेद आदि में । पूर्व आश्रम में अर्थात् स्थित (व्यक्ति) । उत्तर आश्रम = गार्हस्थ्य आदि का ॥ २९ ॥

तो इस प्रकार ईश्वरप्रणीत यह आगम एक ही है । जिसमें कि लौकिक शास्त्र से लेकर यह सब निहित है—

यह कहते हैं—

इसलिये आगम एक ही है और उसमें लौकिक शास्त्र से लेकर वैष्णव बौद्ध शैव तक सब स्थित है ॥ ३० ॥

प्रश्न—इस प्रकार के भी इस आगम का उपेय क्या है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उसका जो वह प्राप्य पर धाम है वह त्रिक शब्द से कहा गया है ॥ ३१- ॥

प्रश्न—'हे सर्वज्ञ ! जिसमें यह विचित्र विश्व उदित होता है और जिसमें अस्त होता है उसे शिवशक्ति से रहित केवल कुल समझो ।'

इत्यादि रीति से कुल को ही सबका विश्रान्तिधाम कहा गया है, तो यह कैसे

सर्वाविभेदानुच्छेदात् तदेव कुलमुच्यते ॥ ३१ ॥
यथोर्ध्वाधरताभाक्सु देहाङ्गेषु विभेदिषु ।
एकं प्राणितमेवं स्यात् त्रिकं सर्वेषु शास्त्रतः ॥ ३२ ॥
श्रीमत्कालीकुले चोक्तं पञ्चस्रोतोविवर्जितम् ।
दशाष्टादशभेदस्य सारमेतत्प्रकीर्तितम् ॥ ३३ ॥
पुष्पे गन्धस्तिले तैलं देहे जीवो जलेऽमृतम् ।
यथा तथैव शास्त्राणां कुलमन्तः प्रतिष्ठितम् ॥ ३४ ॥

तत् त्रिकमेव हि सर्वत्र देशकालादावविभेदस्य अनुच्छेदात् संविदद्वयमयतयैव अवभासते । 'कुल संस्त्याने' इतिधात्वर्थानुगमात् कुलमुच्यते—तथा व्यवह्रियते —इत्यर्थः । एतदेव दृष्टान्तपुरःसरमुपपादयति—यथेत्यादिना । न केवलमेतत् युक्तित एव सिद्धं यावदागमतोऽपि—इत्याह—श्रीमदित्यादि ॥ ३४ ॥

प्रकृतमेव उपसंहरति—

तदेक एवागमोऽयं चित्रश्चित्रेऽधिकारिणि ।

कहा जा रहा है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

समस्त अविभेदों का अनुच्छेद (= भेदवाद के उच्छेद्य) होने से वही (= त्रिक ही) कुल कहा जाता है । जैसे ऊर्ध्वता अधरता वाले देहाङ्गों के भिन्न होने पर भी एक जीवित (शरीर) कहा जाता है या एक ही प्राण सर्वत्र रहता है । उसी प्रकार सबमें शास्त्र (के रूप में) त्रिक ही है । श्रीमत् कालीकुल में भी कहा गया है । पाँच स्रोत (= पाञ्चभौतिकस्रोतस्कता) से रहित दश अष्टादश भेद का सार यह (= त्रिकशास्त्र) कहा गया है । जैसे पुष्प में गन्ध, तिल में तैल, देह में जीव और जल में अमृत है उसी प्रकार शास्त्रों के भीतर कुल (शास्त्र) की प्रतिष्ठा है ॥ -३१-३४ ॥

वह = त्रिक ही, सर्वत्र = देश काल आदि में, अविभेद के अनुच्छेद के कारण संविदद्वयमय रूप से भासित होता है । 'कुल संस्त्याने' (= 'कुल' धातु का प्रयोग वृद्धि अर्थ में हैं) इस प्रकार धात्वर्थ का अनुगम होने से (त्रिक) कुल कहा जाता है = उस प्रकार से व्यवहृत होता है । इसी को 'यथा' इत्यादि के द्वारा दृष्टान्त देकर सिद्ध करते हैं । यह केवल युक्ति से ही नहीं बल्कि आगम से भी सिद्ध है—यह कहते हैं—श्रीमत्.............. ॥ ३४ ॥

प्रस्तुत का उपसंहार करते हैं—

तो अधिकारी के विचित्र होने पर यह एक ही आगम विचित्र हो जाता है ॥ ३५- ॥

चित्र इत्यत्र निमित्तमाह—च्चित्रेऽधिकारिणीति ॥

ननु कथमेकश्च अधिकारिभेदात् चित्रश्चेति सङ्गच्छतां नाम?—इत्याशङ्क्य आह—

तथैव सा प्रसिद्धिर्हि स्वयूथ्यपरयूथ्यगा ॥ ३५ ॥

स्वयूथ्यपरयूथ्यगतत्वेनापि हि सैव तथैकत्वेपि चित्रत्वात्मिका प्रसिद्धिः प्रवादः। नहि एवं कश्चित् त्वेव बौद्धादिरागमो य एकत्वेऽपि अधिकारिभेदात् न चित्र इति ॥ ३५ ॥

न केवलमत्र एकत्वं युक्तित एव सिद्धं यावदागमतोऽपि—इत्याह—

सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं वेदांश्चैव न निन्दयेत् ।
यतः शिवोद्भवाः सर्व इति स्वच्छन्दशासने ॥ ३६ ॥

ननु यदि सांख्यादयः सर्व एव शिवोद्भवास्तदेषां शैवतयैव कस्मात् न प्रसिद्धिः?—इत्याशङ्क्य आह—

एकस्मादागमाच्चैते खण्डखण्डा व्यपोद्धृताः।
लोके स्युरागमास्तैश्च जनो भ्राम्यति मोहितः ॥ ३७ ॥

चित्र—इस विषय में निमित्त बतलाते हैं—अधिकारी के विचित्र होने पर ॥

प्रश्न—एक है और अधिकारी भेद से अनेक है ये (दोनों पक्ष) कैसे संगत होंगे?—यह शङ्का कर कहते हैं—

स्वयूथ्य परयूथ्य में रहने वाली वह प्रसिद्धि वैसी ही है ॥ ३५ ॥

स्वयूथ्य परयूथ्य में होने से भी वही = एक होने पर भी, चित्रत्वात्मिका, प्रसिद्धि = प्रवाद है। कोई भी बौद्ध आदि आगम ऐसा नहीं है जो एक होने पर भी अधिकारी भेद से चित्र (अनेकरूप) न हो ॥ ३५ ॥

इस विषय में एकता युक्ति से ही सिद्ध नहीं है बल्कि आगम से भी सिद्ध है—यह कहते हैं—

सांख्य योग पाञ्चरात्र और वेदों की निन्दा नहीं करनी चाहिये क्योंकि सब शिव से उत्पन्न हैं—ऐसा स्वच्छन्द तन्त्र में (कहा गया) है ॥ ३६ ॥

प्रश्न—यदि सांख्य आदि सभी शिव से उत्पन्न हैं तो इनकी शैवागम के रूप में प्रसिद्धि क्यों नहीं है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

एक ही आगम से ये खण्ड-खण्ड करके उद्धृत किये गये और लोक

व्यपोद्धता इति—कपिलसुगतादिभिः । मोहितो भ्राम्यतीति—तत्तत्प्रणीततया परस्परविरुद्धार्थाभिधायकत्वं मन्वानो यथावस्तुदर्शी न स्यात्—इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

ननु यदि एक एव आगमस्तत् तुल्यप्रमाणशिष्टानां विकल्प इति नीत्या विकल्पोपपत्तेः किं विषयभेदेन कृत्यम्?—इत्याशङ्क्य आह—

अनेकागमपक्षेऽपि वाच्या विषयभेदिता ।
अवश्यमूर्ध्वाधरतास्थित्या प्रामाण्यसिद्धये ॥ ३८ ॥
अन्यथा नैव कस्यापि प्रामाण्यं सिद्ध्यति ध्रुवम् ।

आनैक्येऽपि आगमानां प्रामाण्यसिद्ध्यर्थमूर्ध्वाधरतास्थित्या विषयभेदित्वमवश्यवाच्यं नो चेत् कस्यापि आगमस्य परस्परप्रतीघातात् प्रामाण्यं न सिद्ध्येदेव—इति निश्चयः । तेन कञ्चित् क्वचित् नियुङ्क्ते इत्यादिदृशा कस्यचिदेव अधिकारिणो नियतोपायोपदेशकं शास्त्रं प्रमाणम्—इति भावः ॥

ननु नित्यत्वाविसंवादाभ्यामेव आगमप्रामाण्यसिद्धौ किं विषयभेदाभेदवचनेन?—इत्याशङ्क्य आह—

में (पूर्ण) आगम (के रूप में प्रसिद्ध) हो गये । उनसे मोहित (मनुष्य) भ्रम में पड़ा रहता है ॥ ३७ ॥

उद्धृत किये गये—कपिल बुद्ध आदि के द्वारा । मोहित होकर भ्रम में रहता है = उन-उन लोगों से प्रणीत होने के कारण परस्पर विरुद्ध अर्थ की अभिधायकता को मानता हुआ (मनुष्य) यथावस्तुदर्शी नहीं होता ॥ ३७ ॥

प्रश्न—यदि एक ही आगम है तो तुल्य प्रमाण के साथ उपदिष्टों में विकल्प (की स्थिति होती है)—इस सिद्धान्त के अनुसार विकल्प की सिद्धि हो जाती है विषयभेद से क्या लाभ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अनेक आगम पक्ष में भी प्रामाण्य की सिद्धि के लिये ऊर्ध्वता अधरता की दृष्टि से विषयभेद का निर्वचनं करना चाहिये अन्यथा किसी भी (आगम) का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होगा, यह निश्चित है ॥ ३८-३९- ॥

आगमों के अनेक होने पर भी (उनकी) प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिये ऊर्ध्वता और अधरता की स्थिति के अनुसार भेद अवश्य कहना चाहिये नहीं तो परस्पर प्रतिघात के कारण किसी भी आगम की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होगी ।—यह निश्चित है । इससे 'किसी को कहीं नियुक्त करता है'—इत्यादि रीति से किसी अधिकारी के लिये निश्चित उपाय का उपदेशक शास्त्र प्रमाण होता है—यह भाव है ॥

प्रश्न—नित्यत्व और अविसंवाद (= अविरुद्ध कथन) (इन दोनों) के द्वारा ही

नित्यत्वमविसंवाद इति नो मानकारणम् ॥ ३९ ॥

नो मानकारणमिति—प्रत्यक्षादावनित्यत्वेऽपि प्रामाण्यवर्णनात्, आकाशादौ नित्यत्वेऽपि तदसंभवात्, स्वर्गाग्निहोत्रवाक्यादावविसंवादादर्शनेऽपि प्रामाण्याभ्युपगमात्, अस्ति कूपे जलम् इत्यादौ कदाचित् तद्दर्शनेऽपि प्रामाण्यानुपपत्तेः ॥३९॥

अभ्युपगम्य अपि आह—

अस्मिन्नंशेऽप्यमुष्यैव प्रामाण्यं स्यात्तथोदितेः ।

अस्मिन् नित्यत्वाविसंवादात्मनि प्रामाण्यकारणभागेऽपि अभ्युपगम्यमाने तथाभावोपदेशादमुष्य शैवस्यैव प्रामाण्यं स्यात् । वेदादेरपि शैवस्यैव सतो हि

'अन्तःसारविबोधैकपरवाङ्मयवर्णकः ।
अकृत्रिमपरावेशमूलसंस्कारसंस्कृतः ॥
शास्त्रार्थो लौकिकान्तोऽस्ति सप्तत्रिंशे परे विभौ ।'

आगमप्रामाण्य की सिद्धि होने पर विषय के भेदाभेद कथन से क्या (तात्पर्य है)?—यह शङ्का कर कहते हैं—

नित्यत्व और अविसंवाद—ये प्रमाण्य के कारण नहीं होते ॥ -३९ ॥

प्रामाण्य के कारण नहीं होते—क्योंकि प्रत्यक्ष आदि के विषय में अनित्यता में भी प्रामाणिकता का वर्णन है और आकाश आदि के नित्य होने पर भी (उसके विषय में) वह (प्रत्यक्ष प्रमाण) असम्भव है । स्वर्गवाक्य (= स्वर्गकामो यजेत) अग्निहोत्रवाक्य (अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः) आदि में अविसंवाद का दर्शन न होने पर (अर्थात् विरोध होने पर) भी (उन वाक्यों का) प्रमाण्य माना जाता है । 'कुयें में जल है ।' इत्यादि-इत्यादि (लौकिक वाक्यों के विषय में) कदाचित् उस (कूपजल) का दर्शन होने पर भी प्रामाण्य की सिद्धि नही होती ॥ ३९ ॥

(नित्यत्व और अविसंवादित्व को प्रामाण्य का कारण) मानकर भी कहते हैं—

इस अंश मे भी इसी की प्रमाणिकता होती है क्योंकि वैसा ही कहा गया है ॥ ४०- ॥

इस = नित्यत्व अविसंवाद रूप प्रामाण्यकारण भाग को मानने पर भी उस प्रकार के उपदेश के कारण इसी = शैवागम का ही प्रामाण्य है । वेद आदि का भी शैव होने पर ही—

'अन्तःसार विबोधरूप परवाङ्मयवर्ण वाला, स्वाभाविक परशिवावेशमूलक संस्कार से संस्कृत सर्वशास्त्रातिशायी शैवशास्त्रीय रहस्यार्थ से युक्त इस तत्त्वात्मक परमेश्वर में ही इस लौकिकान्त प्रपञ्च का विस्तार है ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या परादिदशाविश्रान्तौ नित्यत्वं

......................नार्थवादः शिवागमः ।'

इत्यर्थवादवाक्यादावपि अविसंवादः सिद्ध्येत् ॥

ननु विसंवादे सत्यपि अर्थवादादिवाक्यानामस्त्येव गत्यन्तरं तत् किमनेन?—इत्याशङ्क्य आह—

अन्यथाव्याकृतौ क्लृप्तावसत्यत्वे प्ररोचने ॥ ४० ॥
अतिप्रसङ्गः सर्वस्याप्यागमस्यापबाधकः ।
अवश्योपेत्य इत्यस्मिन्मान आगमनामनि ॥ ४१ ॥

अन्यथाव्याकृताविति—लक्षणादिना । क्लृप्ताविति—वाच्यस्यैव अर्थस्य । असत्यत्वे इति—रोदनाद्रुद्र इत्यादौ । प्ररोचने इति—स्तुतिनिन्दादिना ॥ ४१ ॥

एवं हि कुतोऽयं नियमो यदेकस्मिन्नपि आगमे कस्यचिदेव वाक्यस्य अन्यथाव्याकरणादि, न अन्यस्येति भङ्ग्या सर्वस्यैव आगमस्य प्रामाण्यविप्रलोपः प्रसज्जेत्, तदागमप्रामाण्यं वा हातव्यम्, अस्मदुक्तयुक्तिसतत्त्वं वा ग्रहीतव्यम्, न अन्तराऽवस्थेयम्—इत्याह—

इत्यादि उक्त युक्ति के अनुसार पर आदि दशा में विश्रान्त होने पर नित्यता है । '.................शिवागम अर्थवाद नहीं हैं ।'

इस प्रकार अर्थवादवाक्य आदि के विषय में भी अविसंवाद (= ऐकमत्य) सिद्ध होता है ॥ ३९- ॥

प्रश्न—विसंवाद होने पर भी अर्थवादवाक्यों की दूसरी गति (= व्याख्या) होती ही है फिर इससे क्या ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

किसी तथ्य कि अन्यथा व्याख्या और अन्यथा कल्पना होने पर उसमें असत्यत्व (= मिथ्यात्व) की ही प्ररोचना (= प्रशंसा) होती है । अतिप्रसङ्ग और समस्त आगम का वाध होता है । इसलिये इस आगम नामक प्रमाण को अवश्य मानना चाहिये ॥ -४०-४१ ॥

अन्यथा व्याख्या—लक्षणा आदि के द्वारा । कल्पना होने पर—वाच्य अर्थ की । असत्य होने पर—रोदन के कारण रुद्र इत्यादि के विषय मे । प्ररोचना में—स्तुति निन्दा आदि के द्वारा ॥ ४१ ॥

इस प्रकार यह नियम कहाँ का है कि एक ही आगम में किसी वाक्य की अन्यथा व्याख्या आदि की जाय और दूसरे की नहीं । इस रीति से सभी आगम का प्रमाण्य लोप को प्राप्त होने लगेगा । तो ऐसा होने पर या तो आगम की प्रामाणिकता को छोड़ दीजिये या हमारे द्वारा कही गयी युक्ति को मानिये, बीच का

अवश्योपेत्यमेवैतच्छास्त्रनिष्ठानिरूपणम् ।

एतदिति—समनन्तरोक्तम् ॥

ननु सर्वागमानां तुल्येऽपि प्रमाण्ये कथं शैव एव आदरातिशयः?—इत्याशङ्क्य आह—

प्रधानेऽङ्गे कृतो यत्नः फलवान्वस्तुतो यतः ॥ ४२ ॥
अतोऽस्मिन् यत्नवान् कोऽपि भवेच्छंभुप्रचोदितः ।

तथा च आगमोऽपि एवम्—इत्याह—

तत्र तत्र च शास्त्रेषु न्यरूप्यत महेशिना ॥ ४३ ॥
एतावत्यधिकारी यः स दुर्लभ इति स्फुटम् ।

यदुक्तम्—

'सिद्धातन्त्रमिदं देवि यो जानाति समन्ततः ।
स गुरुर्दुर्लभः प्रोक्तो योगिनीहृदिनन्दनः ॥' इति ॥

एतदेव गुरूपदेशप्रदर्शनपुरःसरमर्धेन उपसंहरति—

इत्थं श्रीशम्भुनाथेन ममोक्तं शास्त्रमेलनम् ॥ ४४ ॥

कोई रास्ता नहीं है—यह कहते हैं—

इसलिये इस शास्त्रनिष्ठानिरूपण को अवश्य मानिये ॥ ४२- ॥

इस—समन्तर कहे गये ॥ ४१- ॥

प्रश्न—समस्त आगमों का प्रमाण्य समान होने पर भी शैवागम में ही (आपका) अतिशय आदर क्यों है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

क्योंकि प्रधान अङ्ग में किया गया यत्न वस्तुतः फलवान् होता है इसलिये शम्भु के द्वारा प्रेरित कोई भी (= पुण्यवान्) इस (= शैवागम) में यत्नवान् होगा ॥ -४२-४३- ॥

आगम भी ऐसा है—यह कहते हैं—

उन-उन शास्त्रों में परमेश्वर ने कहा है—इसमें जो अधिकारी है वह दुर्लभ है—यह (कथन) स्पष्ट है ॥ -४३-४४- ॥

जैसा कि कहा गया—

'हे देवि ! जो इस सिद्धातन्त्र को पूर्णरूप से जानता है वह गुरु दुर्लभ और योगिनीहृदय को आनन्द देने वाला कहा गया है' ॥

इसी का, गुरूपदेशप्रदर्शनपुरस्सर श्लोकार्ध के द्वारा, उपसंहार करते हैं—

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके शास्त्रसम्मेलनं नाम पञ्चत्रिंशमाह्निकम् ॥ ३५ ॥

इत्थमुक्तेन प्रकारेण मम शास्त्रमेलनं मया शास्त्रं मेलितम्—इत्यर्थः । न च एतत् स्वोपज्ञमिति श्रीशम्भुनाथेनोक्तमिति शिवम् ॥

निखिलागमार्थवीथीपथिकतया पृथुपदारोहः ।
पञ्चत्रिंशं व्यवृणोदाह्निकमेतज्जयरथाख्यः ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते शास्त्रसम्मेलनं नाम पञ्चत्रिंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ ३५ ॥
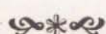
इस प्रकार मेरा शास्त्रसम्मेलन श्री शम्भुनाथ के द्वारा कहा गया (अथवा मुझको शास्त्रसम्मेलन बतलाया गया) ॥ ४४ ॥

इस प्रकार = उक्त प्रकार से । मेरा शास्त्रमेलन = मेरे द्वारा शास्त्रमेलन किया गया । और यह स्वोपज्ञ नहीं है—श्री शम्भुनाथ के द्वारा कहा गया है ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के पञ्चत्रिंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३५ ॥

समस्त आगम के अर्थरूपी वीथी के पथिक के रूप में दृढ़ व्यापक कदम रखने वाले जयरथ ने इस पैंतीसवें आह्निक की व्याख्या की ॥

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के पञ्चत्रिंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३५ ॥
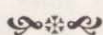
षट्त्रिंशमाह्निकम्
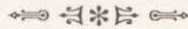
* विवेकः *

अंशांशिकाक्रमेण स्फुटमवतीर्णं यतः समस्तमिदम् ।
शास्त्रं पूर्णाहन्तामर्शमयः शब्दराशिरवतु स वः ॥

इदानीं सर्वशास्त्रविश्रान्तिधाम्नः प्रक्रान्तस्य शास्त्रस्य आयातिक्रमं कथयितुमुपक्रमते—

आयातिरथ शास्त्रस्य कथ्यतेऽवसरागता ।

एतदेव आह—

श्रीसिद्धादिविनिर्दिष्टा गुरुभिश्च निरूपिता ।
भैरवो भैरवी देवी स्वच्छन्दो लाकुलोऽणुराट् ॥ १ ॥

---

* ज्ञानवती *

जहाँ से अंशांशिकाक्रम से यह समस्त शास्त्र स्पष्टतया प्रकट हुआ है, पूर्ण अहन्तामर्शमय वह शब्दराशि आपकी रक्षा करे ।

अब समस्त शास्त्रों का विश्रान्तिधाम तथा प्रकरणप्राप्त (इस) शास्त्र के अवतारणाक्रम को कहते हैं—

अब (इस) शास्त्र की अवसरप्राप्त आयाति (= अवतरण परम्परा) कही जा रही है ॥

(यह आयाति) श्री सिद्धा आदि के द्वारा निर्दिष्ट तथा गुरुओं के द्वारा

गहनेशोऽब्जजः शक्रो गुरुः कोट्यपकर्षतः ।
नवभिः क्रमशोऽधीतं नवकोटिप्रविस्तरम् ॥ २ ॥
एतैस्ततो गुरुः कोटिमात्रात् पादं वितीर्णवान् ।
दक्षादिभ्य उभौ पादौ संवर्तादिभ्य एव च ॥ ३ ॥
पादं च वामनादिभ्यः पादार्धं भार्गवाय च ।
पादपादं तु बलये पादपादस्तु योऽपरः ॥ ४ ॥
सिंहायार्धं ततः शिष्टाद् द्वौ भागौ विनताभुवे ।
पादं वासुकिनागाय खण्डाः सप्तदश त्वमी ॥ ५ ॥
स्वर्गादर्धं रावणोऽथ जह्रे रामोऽर्धमप्यतः ।
विभीषणमुखादाप गुरुशिष्यविधिक्रमात् ॥ ६ ॥
खण्डैरेकान्नविंशत्या विभक्तं तदभूत्ततः ।

अणुः = अनन्तः अब्जजः = ब्रह्मा । कोट्यपकर्षत इति भैरवेण हि नवापि कोटयोऽधीताः, भैरव्या अष्टौ, यावत् गुरुणा कोटिः । क्रमश इति— भैरवात् भैरव्या, ततः स्वच्छन्देन, यावत् शक्रात् गुरुणेति । एतैरिति भैरवादिभिः यदागमः

'भैरवाद्भैरवीं प्राप्तं सिद्धयोगीश्वरीमतम् ।

निरूपित है । भैरव, भैरवीदेवी, स्वच्छन्द भैरव, लाकुल, अणुराट्, गहनेश, कमलज (= ब्रह्मा), शक्र, गुरु (= बृहस्पति) इन नव लोगों ने क्रमश एक-एक करोड़ कम के हिसाब से नव करोड़ विस्तार वाले (इस आगम) का अध्ययन किया । उनमें से बृहस्पति ने एक करोड़ में से चौथाई दक्ष आदि को दिया । (एक पाद) संवर्त्त आदि को देने से दो पाद दिये गये । वामन आदि को एक पाद और भार्गव के लिये पादार्ध दिया । वलय को पाद-पाद (अर्थात् ६ लाख पच्चीस हजार श्लोक) दिया गया । दूसरा पाद-पाद सिंह को । उससे बचे दो भागों को गरुड़ को, एक भाग वासुकि के लिये दिया गया । इस प्रकार ये सत्रह खण्ड हुये । (ये सब स्वर्गवासियों के लिये थे) । रावण ने स्वर्ग से उसका आधा प्राप्त किया । राम ने उसका आधा विभीषण के मुख से गुरु शिष्य की विधि के अनुसार प्राप्त किया । इसके बाद यह (आगम) उन्नीस खण्डों में विभक्त हो गया ॥ ६- ॥

अणु = अनन्त । अब्जज = ब्रह्मा । एक करोड़ कम करके—भैरव ने नवों करोड़ पढ़ा भैरवी ने आठ । इस प्रकार गुरु ने एक करोड़ । क्रमशः = भैरव से भैरवी, उससे स्वच्छन्द । इस प्रकार शक्र की अपेक्षा गुरु के द्वारा (एक करोड़ कम पढ़ा गया) । इनके द्वारा = भैरव आदि के द्वारा । जैसा कि आगम है—

ततः स्वच्छन्ददेवेन स्वच्छन्दाल्लाकुलेन तु ॥
लकुलीशादनन्तेन अनन्ताद्गहनाधिपम् ।
गहनाधिपतेर्देवि देवेशं तु पितामहम् ॥
पितामहेन इन्द्रस्य इन्द्रेणापि बृहस्पतेः ।
कोटिह्रासाच्छ्रुतं सर्वैः स्वच्छन्दाद्यैर्महाबलैः ॥' इति ।

पादम्—चतुर्थं भागं पञ्चविंशतिर्लक्षाणि । उभाविति—अनेन पादाविति द्वित्वं प्राच्यपादसहभावप्रयुक्तमिति उक्तं भवति; अन्यथा हि द्विवचनादेव द्वित्वसिद्धावुभाविति अफलं भवेत्, गणना च विसंवदेत् । पादार्धमिति—सार्धाणि द्वादश लक्षाणि । पादपादमिति सपादानि षट् लक्षाणि । अपरः पादपाद इति सपादषड्लक्षात्मैव । ततोऽर्धमिति—सार्धद्वादशसहस्राधिकलक्षत्रयरूपम् । शिष्टादिति —एवंरूपात् द्वितीयार्धात् । द्वौ भागाविति—वक्ष्यमाणरावणापहृतसार्धशतद्वयोपेतषट्पञ्चाशत्सहस्राधिकलक्षप्रमाणद्वितीयार्धापेक्षया प्रथमार्धात् सप्तषष्ट्युपेतैकचत्वारिंशच्छताधिकलक्षपरीमाणौ—इत्यर्थः । भागमिति—त्र्यशीत्यधिकद्वापञ्चाशत्सहस्रात्मकं तृतीयमंशम्—इत्यर्थः । सप्तदशेति—प्राच्यैर्नवभिः खण्डैः सह । एषां च दिव्यविषयत्वमवद्योतयितुमेवमुपसंहारः । स्वर्गादर्धं जह्रे इति—हठमेलापभङ्‌ग्या प्राप्तवान्—इत्यर्थः । अत इति—रावणापहृतादर्धात् । अर्धमिति—सपादशताधिकाष्टसप्ततिसहस्रसंख्याकम् । गुरुशिष्यक्रमादिति—सर्वशेषः । एकान्न-

---

'सिद्धयोगीश्वरी मत भैरव से भैरवी को प्राप्त हुआ । उससे स्वच्छन्ददेव ने, स्वच्छन्द से लाकुल, लाकुलीश से अनन्त, अनन्त से गहनेश । हे देवि ! गहनेश से देवेश पितामह, पितामह से इन्द्र, इन्द्र से बृहस्पति ने प्राप्त किया । इस प्रकार एक-एक करोड़ कम करके स्वच्छन्द आदि (तन्त्र) सभी महाबली लोगों के द्वारा सुना गया ।'

पाद = चतुर्थ भाग = पच्चीस लाख । दोनों—इसके द्वारा 'पादौ' इससे वर्त्तमान द्वित्व पहले पाद के सहभाव के कारण है—यह कहा गया । अन्यथा (पादौ) इस द्विवचन से ही द्वित्व की सिद्धि होने पर 'उभौ' पद का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा और गणना भी सही नहीं होगी । पादार्ध = साढ़े बारह लाख । पाद-पाद = सवा छह लाख । दूसरा पाद-पाद = छह लाख पचीस हजार ही । उसका आधा = तीन लाख साढ़े बारह हजार । शिष्ट से = इसी प्रकार के दूसरे अर्ध भाग से । दो भाग = वक्ष्यमाण रावणापहृत एकलाख पैसठ हजार दो सौ पचास प्रमाण वाले द्वितीयार्ध की अपेक्षा प्रथमार्ध में से एक लाख चार हजार एक सौ सरसठ परीमाण वाले दो भाग । एक भाग = बावन हजार तिरासी = तीसरा अंश । सत्रह = पहले के नव खण्डों को मिलाकर । इनकी दिव्यविषयता को दिखलाने के लिये इस प्रकार का उपसंहार किया । स्वर्ग से आधा छीन लिया = हठपूर्वक प्राप्त किया । इससे = रावण के द्वारा अपहृत अर्धभाग से । आधा =

विंशत्या खण्डैरिति—प्राच्यैः सप्तदशभिः सह । अस्य च खण्डद्वयस्य भूलोकैकगोचरतां दर्शयितुं सप्तदशभ्यः पृथक्संख्यया निर्देशः । यदभिप्रायेणैव

'शेषं कुमारिकाद्वीपे भविष्यति गृहे............।'

इत्यादि उक्तम् । तदिति—नवकोटिप्रविस्तरं सिद्धयोगेश्वरीमतम् । यदागमः—

'तत्र बृहस्पतिः श्रीमांस्तस्मिन् व्याख्यामथारभे ।'

इत्यादि उपक्रम्य

'दक्षश्चण्डो हरिश्चण्डी प्रमथो भीममन्मथौ ।
शकुनिः सुमतिर्नन्दो गोपालोऽथ पितामहः ॥
श्रुत्वा तन्त्रमिदं देवि गता योगीश्वरीमतम् ।
कोटिमध्यात् स्फुटं तैस्तु पादमेकं दृढीकृतम् ॥
संवर्ताद्यैस्तु वीरेशैर्द्वौ पादौ चावधारितौ ।
वामनाद्यैर्वरारोहे ज्ञातं भैरवि पादकम् ॥
अवाप्यार्धं ततः शुक्रो बलिनन्दस्तदर्धकम् ।
सिंहस्तदर्धमेवं तु गरुडो लक्षमात्रकम् ॥
लक्षार्धं तु महानागः पातालं पालयन् प्रभुः।
वासुकिर्नाम नागेन्द्रो गृहीत्वापूजयत्सदा ॥

अठहत्तर हजार एक सौ पचीस संख्या वाला । गुरु-शिष्य क्रम से—यह सबके साथ अन्त में लगेगा । उन्नीस खण्डों में—पहले के सत्रह खण्डों को लेकर । इन दो ख़ण्डों की पृथ्वीलोकविषयता दिखलाने के लिये सत्रह से पृथक् संख्या के द्वारा निर्देश (किया गया) । जिस अभिप्राय से ही

'शेष कुमारिका द्वीप में (वर्त्तमान किसी) गृह (= खण्ड) में होगा.......।' इत्यादि कहा गया । वह = नव करोड़ विस्तृत सिद्धयोगेश्वरीमत । जैसा कि आगम है—

'उसमें श्रीमान् वृहस्पति ने उसकी व्याख्या प्रारब्ध की ।'

इत्यादि प्रारम्भ कर.

'हे देवि ! दक्ष चण्ड हरि चण्डी प्रमथ भीम मन्मथ शकुनि सुमति नन्द गोपाल और ब्रह्मा इस योगेश्वरीमततन्त्र को सुनकर चले गये (= महासिद्ध बन गये)। एक करोड़ में से एक पाद को उन लोगों ने धारण किया । संवर्त्त आदि वीरेशों ने दो पादों को समझा । हे वरारोहे भैरवि ! वामन आदि ने एक पाद का ज्ञान किया । शुक्र ने आधा प्राप्त किया और वलिनन्द ने उसका आधा । सिंह ने उसका आधा और गरुड़ ने एक लाख से कुछ ज्यादा । पाताल का पालन करने वाले प्रभु महानाग नागेन्द्र वासुकि ने पचास हजार का ग्रहण कर (इस तन्त्र की) सदा पूजा

तदा तस्य तु यच्छेषं तत्सर्वं दुष्टचेतसा ।
अपहृत्य गतो लङ्कां रावणो देवकण्टकः ॥' इति,
'तदेवमागतं मर्त्ये भुवनाद्वासवस्य तु ।
पारम्पर्यक्रमायातं रावणेनावतारितम् ॥
ततो विभीषणे प्राप्तं तस्माद्दाशरथिं गतम् ।' इति,
'खण्डैरेकोनविंशैस्तु प्रभिन्नं श्रवणार्थिभिः ।
नवकोट्यन्तगं यावत्सिद्धयोगीश्वरीमतम् ॥' इति च ।

अत्र च लक्षमात्रमिति मात्रशब्देन लक्षार्धमिति । असमांशवाचिना अर्धशब्देन च किञ्चिदधिकसंख्यास्वीकारः कटाक्षीकृतो यदवद्योतनाय ग्रन्थकृता भागपरिकल्पनमेव कृतम् ॥

प्रतिखण्डं च अत्र अष्टखण्डत्वमस्ति—इत्याह—

खण्डं खण्डं चाष्टखण्डं प्रोक्तपादादिभेदतः ॥ ७ ॥

पादादीनेव निर्दिशति—

पादो मूलोद्धारावुत्तरवृहदुत्तरे तथा कल्पः ।
संहितकल्पस्कन्दावनुत्तरं व्यापकं त्रिधा तिस्रः ॥ ८ ॥

की । फिर उसका जो शेष था वह सब देवकण्टक रावण ने दुष्टबुद्धि से अपहृत कर लङ्का को प्रस्थान किया ।'

'इस प्रकार (यह सिद्धयोगेश्वरीतन्त्र) इन्द्र के लोक (= स्वर्ग) से धरती पर आया । परम्परा के क्रम से आगत इस तन्त्र को रावण ने (धरती पर) उतारा । उससे विभीषण को प्राप्त हुआ । उससे दशरथ के पुत्र राम को मिला ।'

'श्रवणार्थियों के द्वारा उन्नीस खण्डों में विभक्त (यह) सिद्धयोगेश्वरीतन्त्र नव करोड़ की संख्या वाला है ।'

यहाँ 'लक्षमात्रम्' इस पद में मात्र शब्द से पचास हजार और असमांशवाची अर्धशब्द से किञ्चित् अधिक संख्या मानी गयी है जिसको बतलाने के लिये ग्रन्थकार ने भाग की कल्पना की है ॥

एक-एक खण्ड में आठ टुकड़े हैं—यह कहते हैं—

उक्त पाद आदि के भेद से एक-एक खण्ड में आठ-आठ उपखण्ड हैं ॥ ७ ॥

पाद आदि का ही निर्देश करते हैं—

पाद मूल उद्धार उत्तर वृहदुत्तर कल्प **संहिता** और कल्प स्कन्द (ये आठ भाग हैं) और अनुत्तर व्यापक हैं । इस**में** तीन देवियाँ तीन प्रकार से

देव्योऽत्र निरूप्यन्ते क्रमशो विस्तारिणैव रूपेण ।
नवमे पदे तु गणना न काचिदुक्ता व्यवच्छिदाहीने ॥ ९ ॥

पादाद्याश्च एताः प्रतिनियतग्रन्थपरिमाणविषयाः पारिभाषिक्यः संज्ञाः । ननु तिस्रोऽपि देव्यस्त्रिधा चेदत्र प्रपञ्चात्मना रूपेण निरूप्यन्ते, तत् कस्मात् प्रत्येकं नवखण्डत्वं न उक्तम् ?—इत्याशङ्क्य उक्तम्—अनुत्तरं व्यापकमिति । अत एव उक्तम्—व्यवच्छिदाहीने नवमे पदे न काचित् गणना उक्तेति । यदागमः—

'पादो मूलं तथोद्धार उत्तरं वृहदुत्तरम् ।
कल्पश्च संहिता चैव कथिता तव सुव्रते ॥
कल्पः स्कन्दं वरारोहे समासात्कथयामि ते ।
पादः शतार्धसंख्यातो मूलं च शतसंख्यया ॥
उद्धारं द्विगुणं विद्धि चतुर्धा तूत्तरं मतम् ।
अपरेयं वरारोहे अर्धाक्षरविवर्जिता ॥
एवमुत्तरतन्त्रं स्यात्कथितं मूलभैरवे ।
यदापरा वरारोहे षड्भिर्भागैर्विवर्जिता ॥
तदा वृहोत्तरं तु स्यादमृताक्षरवर्जनात् ।
अक्षराणां शतं नाम परिभाषा निगद्यते ॥
कल्पः सहस्रसंख्यातस्त्वपराया यशस्विनि ।

क्रमशः विस्तार के साथ निरूपित की जाती हैं । नवम पद में कोई गणना नहीं है क्योंकि वह भागरहित है ॥ ८-९ ॥

ये पाद आदि निश्चित ग्रन्थ के परिमाण वाली पारिभाषिक संज्ञायें हैं । प्रश्न है कि यदि तीनों देवियाँ यहाँ विस्तृत रूप से निरूपित की जा रही हैं तो प्रत्येक में नव खण्ड की बात क्यों नहीं कही गयी?—यह शङ्का कर कहा गया कि अनुत्तर व्यापक हैं । इसीलिये कहा गया कि भागरहित नवमपद में कोई गणना नहीं कही गयी है । जैसा कि आगम है—

'हे सुव्रते ! पाद मूल उद्धार उत्तर वृहदुत्तर कल्प और संहिता तुम को बतलायी गयी हे वरारोहे ! कल्प और स्कन्द तुमसे संक्षेप में कह रहा हूँ । पाद एक सौ की आधी संख्या से होता है और मूल एक सौ की संख्या से । उद्धार को इसका दो गुना समझो और उत्तर चार प्रकार का माना गया है । हे वरारोहे ! अपरा विद्या आधा अक्षर से रहित होती है । इसी प्रकार उत्तरतन्त्र मूलभैरव (= नामक ग्रन्थ) में कहा गया है । हे वरारोहे । जब अपरा छह भागों से रहित होती है तब अमृताक्षर (= अ) को छोड़ कर (परारूप यह) वृहदुत्तर कहा जाता है ।

सौ अक्षरों वाले मन्त्र को परिभाषा मन्त्र कहते हैं । हे यशस्विनी ! बासठ हजार (श्लोक-) संख्या से (युक्त मन्त्र) कल्प (संज्ञावाला) होता है । जब चांदह

द्वाषष्ट्यैव च श्लोकानां सहस्राणि चतुर्दश ॥
तदा सा संहिता ज्ञेया सिद्धयोगीश्वरे मते ।
कल्पस्कन्दः पुराख्यातः कल्पाद् द्विगुणितो भवेत् ॥
एवं तन्त्रविभागस्तु मया ख्यातः सुविस्तरात् ।' इति ॥ ९ ॥

ननु एतद्रामेण विभीषणात् प्राप्तं तस्मात् पुनः किं कश्चिदाप न वा?— इत्याशङ्क्य आह—

रामाच्च लक्ष्मणस्तस्मात् सिद्धास्तेभ्योऽपि दानवाः ।
गुह्यकाश्च ततस्तेभ्यो योगिनो नृवरास्ततः ॥ १० ॥

यदागमः—

'विभीषणेन रामस्य रामेणापि च लक्ष्मणे ।
लक्ष्मणेन तु ये प्रोक्तास्तेषां सिद्धिस्तु हीनता ॥
सिद्धेभ्यो दानवा ह्रस्वा दानवेभ्यश्च गुह्यकैः ।
गुह्यकेभ्यो योगिभिश्च योगिभ्यश्च नरोत्तमैः ॥
संप्राप्तं भैरवादेशात्तपसोग्रेण भैरवि ।' इति ॥ १० ॥

एवं श्रीसिद्धातन्त्रनिर्दिष्टमायातिक्रममभिधाय गुरुनिरूपितमपि अभिधातुमाह—

तेषां क्रमेण तन्मध्ये भ्रष्टं कालान्तराद्यदा ।

हजार श्लोक हों तब सिद्धयोगेश्वरीमत में संहिता समझनी चाहिये । कल्पस्कन्द पहले कह दिया गया है । वह कल्प से दो गुना (श्लोकसंख्या वाला) होता है । इस प्रकार मेरे द्वारा विस्तार के साथ तन्त्रविभाग कहा गया' ॥ ९ ॥

प्रश्न—यह विभीषण ने राम से प्राप्त किया गया । उस (= राम) से भी क्या किसी ने प्राप्त किया या नहीं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

राम से लक्ष्मण, उससे सिद्ध लोग, उनसे दानव और गुह्यक, उनसे योगिलोग, उनसे श्रेष्ठ मनुष्यों (ने प्राप्त किया) ॥ १० ॥

जैसा कि आगम है—

'विभीषण से राम को राम से लक्ष्मण को (मिला) । लक्ष्मण के द्वारा जिनको कहा गया उनकी सिद्धि कम होती थी सिद्धों से दानव कम थे । दानवों से गुह्यकों के द्वारा, गुह्यकों से योगियों के द्वारा और योगियों से श्रेष्ठ मनुष्यों के द्वारा भैरव के आदेश से उग्र तपस्या करके (यह तन्त्र) प्राप्त किया गया' ॥ १० ॥

इस प्रकार श्री सिद्धातन्त्र में निर्दिष्ट अवतारणाक्रम का कथन कर गुरुनिरूपित क्रम को कहते हैं—

उनके क्रम से जब कालान्तर में यह तन्त्र उनके बीच में अवरुद्ध हो

तदा श्रीकण्ठनाथाज्ञावशात् सिद्धा अवातरन्॥ ११ ॥
त्र्यम्बकामर्दकाभिख्यश्रीनाथा अद्वये द्वये ।
द्वयाद्वये च निपुणाः क्रमेण शिवशासने ॥ १२ ॥
आद्यस्य चान्वयो जज्ञे द्वितीयो दुहितृक्रमात् ।
स चार्धत्र्यम्बकाभिख्यः संतानः सुप्रतिष्ठितः॥ १३ ॥
अतश्चार्धचतस्रोऽत्र मठिकाः संततिक्रमात् ।
शिष्यप्रशिष्यैर्विस्तीर्णाः शतशाखं व्यवस्थितैः ॥ १४ ॥

अद्वये इति—त्रिककुलादौ । अर्धेति—दुहित्रपेक्षया । अर्धचतस्र इति—अर्धेन चतस्रः सार्धास्तिस्रः—इत्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु इह त्रैयम्बिकैव मठिका वक्तुं न्याय्या यद्द्वारा अस्य शास्त्रस्य आयातिः, किं मठिकान्तरव्यावर्णनेन?—इत्याशङ्क्य आह—

अध्युष्टसंततिस्रोतःसारभूतरसाहृतिम् ।
विधाय तन्त्रालोकोऽयं स्यन्दते सकलान्रसान्॥ १५ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—

उक्तायातिरुपादेयभावो निर्णीयतेऽधुना ॥

गया तब श्रीकण्ठ नाथ की आज्ञा से सिद्धलोग (इस) भूमि पर अवतरित हुये । त्र्यम्बक आमर्दक और श्रीनाथ क्रमशः अद्वैत द्वैत एवं द्वैताद्वैत शैवशास्त्र में निपुण थे । प्रथम (= त्र्यम्बक) के वंश ने दुहिता के क्रम से (एक अतिरिक्त) अद्वयशाखा को उत्पन्न किया । और वह परम्परा अर्धत्र्यम्बक नाम से प्रतिष्ठित हुई । इस प्रकार साढ़े तीन मठिकायें (= पाठशालायें) सन्तान के क्रम से व्यवस्थित शिष्य प्रशिष्यों के द्वारा विस्तीर्ण होकर सौ शाखा वाली हो गयीं ॥ ११-१४ ॥

अद्वय में = त्रिक कुल आदि में । आधा—दुहिता की अपेक्षा से । अर्ध चतस्रः—आधा के साथ (= जोड़ने पर) चार अर्थात् साढ़े तीन ॥ १४ ॥

प्रश्न—यहाँ त्र्यम्बकमठिका का ही वर्णन उचित है जिसके द्वारा कि इस शास्त्र की परम्परा है, मठिकान्तरवर्णन से क्या लाभ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अन्य संततियों में रहकर उन स्रोतों के सारभूत रस का आहरण कर यह तन्त्रालोक समस्त रसों को प्रवाहित कर रहा है ॥ १५ ॥

इस (आह्निक) का उपसंहार कर अन्य की अवतारणा करते हैं ।

आयाति का कथन कर दिया गया, अब उपादेयता का निर्णय करते हैं ॥

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके आयातिक्रमनिरूपणं नाम षट्त्रिंशमाह्निकम् ॥ ३६ ॥

इह आह्निकादाह्निकान्तरस्य परस्परमनुस्यूततां दर्शयितुमाद्यन्तयोरेकेन श्लोकेन पृथगुपसंहारोपक्रमयोरुपनिबन्धेऽपि सांप्रतं ग्रन्थान्ते तदाश्लेषमत्यन्तमवद्योतयितमेकेनैव अर्धेन युगपत्तदुपनिबन्ध इति शिवम् ॥ १५ ॥

अध्युष्टसंततिक्रमसंक्रान्तरहस्यसंप्रदायेन ।
षट्त्रिंशमाह्निकमिदं निरणायि परं जयरथेन ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते आयातिक्रमनिरूपणं नाम षट्त्रिंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ ३६ ॥
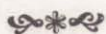
॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के षट्त्रिंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३६ ॥

एक आह्निक की दूसरे आह्निक के साथ परस्पर अनुस्यूतता दिखाने के लिये आद्यन्त उपक्रम उपसंहार का एक श्लोक के द्वारा उपनिबन्धन होने पर भी ग्रन्थ के अन्त में उसके अत्यन्त आश्लेष को दिखाने के लिये एक ही श्लोकार्ध के द्वारा उस का उपनिबन्ध एक साथ (किया गया) ॥ १५ ॥

सन्ततिक्रम में निवास कर संप्रदाय के रहस्य को जानने वाले जयरथ के द्वारा छत्तीसवें आह्निक की व्याख्या की गयी ।

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के षट्त्रिंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३६ ॥
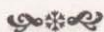
सप्तत्रिंशमाह्निकम्
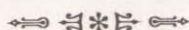
*** विवेकः ***

यन्मयतयेदमखिलं परमोपादेयभावमभ्येति ।
भवभेदास्त्रं जयति श्रीमालिनी देवी ॥

तदेवमुपक्रान्तस्यैव शास्त्रस्य उपादेयभावं निर्णेतुं प्रागुपजीवनेन पीठिकाबन्धमारचयति—

उक्तनीत्यैव सर्वत्र व्यवहारे प्रवर्तिते ।
प्रसिद्धावुपजीव्यायामवश्यग्राह्य आगमः ॥ १ ॥

इह सार्वत्रिके व्यवहारे प्रवर्तिते पञ्चत्रिंशाह्निकोक्तनीत्या प्रसिद्धावुपजीव्यायामागम एव अवश्यग्राह्यो न अन्यथा किञ्चित् सिद्ध्येत् ॥ १ ॥

*** ज्ञानवती ***

जिससे परिव्याप्त होने के कारण यह भवच्छेद का अस्त्रभूत शास्त्र परम उपादेय हो जाता है वह श्रीमालिनी देवी सबसे बढ़कर हैं ।

तो इस प्रकार उपक्रमप्राप्त शास्त्र की उपादेयता बतलाने के लिये पहले को कारण मानते हुये पीठिकाबन्ध करते हैं—

उक्त रीति से ही सर्वत्र व्यवहार के चलने पर और प्रसिद्धि के कारण होने पर आगम का अवश्य ग्रहण करना चाहिये ॥ १ ॥

सार्वत्रिक व्यवहार के प्रवर्त्तित होने पर पैंतीसवें आह्निक में वर्णित नीति के अनुसार प्रसिद्धि के कारण होने पर आगम का ही अवश्य ग्रहण करना चाहिये अन्यथा कुछ भी सिद्ध नहीं होगा ॥ १ ॥

ननु लौकिकप्रमाणगोचरे वस्तुनि अस्तु प्रसिद्धिनिबन्धना सिद्धिः, सकलप्रमाणागोचरे योगिनामपि अगम्ये शिवे तु कथमेवं स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

यथा लौकिकदृष्ट्यान्यफलभाक् तत्प्रसिद्धितः ।
सम्यग्व्यवहरंस्तद्वच्छिवभाक् तत्प्रसिद्धितः ॥ २ ॥

अन्येति—अदृष्टम् ॥ २ ॥

ननु एवमनेकप्रकारः प्रसिद्ध्यात्मा आगम इति कस्य तावदवश्यग्राह्यत्वम्?—इत्याशङ्क्य आह—

तदवश्यग्रहीतव्ये शास्त्रे स्वांशोपदेशिनि ।
मनाक्फलेऽभ्युपादेयतमं तद्विपरीतकम् ॥ ३ ॥
यथा खगेश्वरीभावनिःशङ्कत्वाद्विषं व्रजेत् ।
क्षयं कर्मस्थितिस्तद्वदशङ्काद् भैरवत्वतः ॥ ४ ॥
यदार्षे पातहेतूक्तं तदस्मिन्वामशासने ।
आशुसिद्ध्यै यतः सर्वमार्षं मायोदरस्थितम् ॥ ५ ॥

प्रश्न—लौकिक प्रमाण की विषयभूत वस्तु के सन्दर्भ मे प्रसिद्धि के कारण सिद्धि भले ही हो जाय समस्त प्रमाणों के अविषय योगियों के भी अगम्य शिव के विषय में ऐसा कैसे होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जैसे लौकिक दृष्टि से उसकी प्रसिद्धि के अनुसार सम्यक् व्यवहार करने वाला (मनुष्य) अन्य (= अदृष्ट) फल का भागी होता है उसी प्रकार उस प्रसिद्धि से शिवता का भी भागी होता है ॥ २ ॥

अन्य = अदृष्ट ॥ २ ॥

प्रसिद्धिवाला आगम अनेक प्रकार का है तो कौन सा अवश्य ग्राह्य है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

तो स्वांश (शिवत्व के एक अंश) का उपदेश करने वाले शास्त्र के ग्रहीतव्य होने पर (चूँकि वह = एक अंश का उपदेष्टा शास्त्र) अल्प फल वाला है (अतः) उसके विपरीत (शैवशास्त्र) अत्यन्त उपादेय है (क्योंकि वह) उसके विपरीत (= महत्फल देने वाला) है । जैसे गारुडीभाव में निःशङ्क होने के कारण विष क्षय को प्राप्त होता है उसी प्रकार निःशङ्क भैरवता के कारण कर्म की स्थिति क्षय को प्राप्त होती है । वैदिक (मार्ग) में जो (वस्तु) पतन का कारण कही गयी है वह इस वाम मार्ग में (परम लक्ष्य की) आशु सिद्धि के लिये होती है क्योंकि सब आर्ष (मार्ग) माया के अन्दर स्थित है ॥ ३-५ ॥

तद्विपरीतमिति—महाफलम् ॥ ५ ॥

एवंविधं च एतत् किम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

तच्च यत्सर्वसर्वज्ञदृष्टं तच्चापि किं भवेत् ।

सर्वसर्वज्ञदृष्टमपि किं भवेत्?—इत्याशङ्कापुरःसरीकारेण तत्स्वरूपं दर्शयति—

यदशेषोपदेशेन सूयतेऽनुत्तरं फलम् ॥ ६ ॥

अत्र च अन्तरा श्लोकद्वयमन्यथा लिखितमधरे व्यत्ययेन न्याय्यमिति तत्रैव व्याख्यास्यामः ॥ ६ ॥

ननु को नाम अयमशेष उपदेशो येन तदेवंविधं स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

यथाधराधरप्रोक्तवस्तुतत्त्वानुवादतः ।
उत्तरं कथितं संवित्सिद्धं तद्धि तथा भवेत् ॥ ७ ॥

यथा अत्र वैदिकाद्युक्तं क्रियादि वस्तुतत्त्वमनूद्य प्रकृष्टं तथा ज्ञानयोगादि स्वानुभवसिद्धमुक्तमिति ॥ ७ ॥

उसके विपरीत = महाफल वाला ॥ ५ ॥

यह ऐसा क्यों है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

क्योंकि वह (शास्त्र) सर्वसर्वज्ञ के द्वारा दृष्ट है ॥ ६- ॥

प्रश्न—सर्वसर्वज्ञ के द्वारा दृष्ट भी क्या होगा?—इस आशङ्का को सामने रख कर उसका स्वरूप दिखलाते हैं—

वह भी क्या होगा कि (वह) अशेष उपदेश के द्वारा अनुत्तर फल प्रदान करता है ॥ -६ ॥

यहाँ बीच का श्लोक (५-६) अन्य प्रकार से लिख दिया गया । नीचे चल कर विपरीत क्रम से लेख उचित होगा इसलिये वहीं व्याख्या करेंगे ॥ ६ ॥

प्रश्न—यह अशेष उपदेश क्या है जिस कारण वह इस प्रकार का होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जैसे नीचे-नीचे कथित वस्तुतत्त्व के अनुवाद से उत्तर कथित संवित् सिद्ध हो जाती है वह भी वैसा ही होता है ॥ ७ ॥

जैसे यहाँ वैदिक आदि (मार्गों में) उक्त क्रिया आदि वस्तुतत्त्व का अनुवाद करने पर (वह वस्तु तत्त्व) प्रकृष्ट हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान योग आदि अनुवाद से प्रकृष्ट नहीं स्वानुभवसिद्ध कहा गया है ॥ ७ ॥

अत एव अधरशासनेषु असर्वज्ञप्रणीतत्वं निश्चीयते—इत्याह—

यदुक्ताधिकसंवित्तिसिद्धवस्तुनिरूपणात् ।
अपूर्णसर्ववित्प्रोक्तिर्ज्ञायतेऽधरशासने ॥ ८ ॥

ननु अधरशासनेषु अपि

'आत्मा ज्ञातव्यो मन्तव्यः ।'

इत्यादिदृशा ज्ञानादि उक्तमिति अत्र कस्मादसर्वज्ञप्रणीतत्वं ज्ञायते इत्युक्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—

ऊर्ध्वशासनवस्त्वंशे दृष्ट्वापि च समुज्झिते ।
अधःशास्त्रेषु मायात्वं लक्ष्यते सर्गरक्षणात् ॥ ९ ॥

समुज्झिते इति—तत्रैव प्ररोहाभावात् । सर्गरक्षणादिति—लोकरक्षणात् हेतोः —इत्यर्थः ॥ ९ ॥

किञ्च अत्र प्रमाणम्?—इत्याशङ्क्य आह—

श्रीमदानन्दशास्त्रादौ प्रोक्तं च परमेशिना ।

इसलिये नीचे वाले शास्त्रों का असर्वज्ञप्रणीतत्व निश्चित होता है—यह कहते हैं—

क्योंकि (निम्न शास्त्र) उक्त अधिक संवित्ति से सिद्धवस्तु का निरूपण करता है अतः अधर शास्त्रों की उक्ति (= रचना) अपूर्ण सर्ववित् के द्वारा (की गयी) ज्ञात होती है ॥ ८ ॥

प्रश्न—निम्न कोटि के शास्त्रों में भी—

'आत्मा का ज्ञान करना चाहिये; मनन करना चाहिये ।'

इत्यादि रूप से ज्ञान आदि कहा गया है फिर यहाँ इसमें असर्वज्ञप्रमितता ज्ञात होती है यह कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

ऊर्ध्वशास्त्रों के वस्त्वंश में (मायासर्ग को) समुज्झित (= परित्यक्त) देख कर भी अधःशास्त्रों में सर्ग (= लोक) की रक्षा (देखने) से उनका मायात्व लक्षित होता है ॥ ९ ॥

समुज्झित होने पर—क्योंकि वहाँ प्ररोह नहीं होता । सर्गरक्षण से = लोकरक्षण के कारण ॥ ९ ॥

प्रश्न—इस विषय में क्या प्रमाण है ?—यह शंका कर कहते हैं—

श्रीमत् आनन्द शास्त्र आदि में परमेश्वर ने कहा है—ऋषियों का वाक्य

ऋषिवाक्यं बहुक्लेशमध्रुवाल्पफलं मितम्॥ १० ॥
नैव प्रमाणयेद् विद्वान् शैवमेवागमं श्रयेत् ।

ननु मन्वादिशास्त्रं यदि न ग्राह्यं तत् किं न अयं सर्व एव आचारो भ्रश्येत्?—इत्याशङ्क्य आह—

यदार्षे पातहेतूक्तं तदस्मिन् वामशासने ॥ ११ ॥
आशुसिद्ध्यै यतः सर्वमार्षं मायोदरस्थितम्।

पातहेतूक्तमिति—पातहेतोः सुरादेरुक्तं वचनम्—इत्यर्थः । पातकार्युक्तमिति तु स्पष्टः पाठः । मायोदरस्थितमिति—लोकरक्षापरत्वात् ॥

ननु एवं कर्मस्थितिः किं न नश्येत्?—इत्याशङ्कां दृष्टान्तोपदर्शनपूर्वकमपाकरोति यथेत्यादिना—

यथा खगेश्वरीभावनिःशङ्कत्वाद्विषं व्रजेत् ॥ १२ ॥
क्षयं कर्मस्थितिस्तद्वदशङ्काद्भैरवत्वतः ।

ननु भवतु एवं भैरवत्वापत्त्या, तावता तु तदागमस्य अवश्यग्राह्यत्वं

(= वेद) बहुत क्लेश वाला अल्प फलदायक और सीमित है । इस कारण विद्वान् उसे प्रामाणिक न माने और शैवागम का अनुसरण करे ॥ १०-११- ॥

प्रश्न—यदि मनु आदि (के द्वारा प्रणीत) शास्त्रों को नहीं माना जायगा और शैवागम का पालन होगा तो यह समस्त आचार क्या नष्ट नहीं हो जायगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो (आचार) वैदिक मार्ग में पतन का कारण कहा गया है वह इस वाममार्ग में शीघ्र सिद्धि प्राप्त करने के लिये है । क्योंकि समस्त आर्ष (शास्त्र) माया के उदर में स्थित है ॥ -११-१२- ॥

पात का कारण कहा गया—पतन का कारण सुरा आदि के विषय में उक्त वचन—यह अर्थ है । 'पातकार्युक्तम्' (= पतन कराने वाली) यह पाठ अधिक स्पष्ट होगा । माया के उदर में स्थित—लोकरक्षापरक होने से ॥

प्रश्न—क्या इस प्रकार कर्म की स्थिति नष्ट नहीं होगी?—इस आशङ्का को यथा इत्यादि के द्वारा—दृष्टान्त दिखा कर दूर करते हैं—

जैसे गारुडी विद्या के प्रयोग से निःशंक होने के कारण विष दूर हो जाता है उसी प्रकार निःशंक भैरवीभाव से कर्म स्थिति (= कार्ममल भी) नष्ट हो जाता है ॥ -१२-१३- ॥

प्रश्न—भैरवत्व की प्राप्ति से ऐसा हो जाय किन्तु उससे उस आगम की

कुतस्त्यम्?—इत्याशङ्क्य आह—

अज्ञत्वानुपदेष्टृत्वसंदष्टेऽधरशासने ॥ १३ ॥
एतद्विपर्ययाद् ग्राह्यमवश्यं शिवशासनम् ।
द्वावाप्तौ तत्र च श्रीमच्छ्रीकण्ठलकुलेश्वरौ ॥ १४ ॥
द्विप्रवाहमिदं शास्त्रं सम्यङ्निःश्रेयसप्रदम् ।
प्राच्यस्य तु यथाभीष्टभोगदत्वमपि स्थितम् ॥ १५ ॥
तच्च पञ्चविधं प्रोक्तं शक्तिवैचित्र्यचित्रितम् ।
पञ्चस्रोत इति प्रोक्तं श्रीमच्छ्रीकण्ठशासनम् ॥ १६ ॥
दशाष्टादशधा स्रोतःपञ्चकं यत्ततोऽप्यलम् ।
उत्कृष्टं भैरवाभिख्यं चतुःषष्टिविभेदितम् ॥ १७ ॥

अज्ञत्वात् विपरीतोपदेष्टृत्वेन संदष्टे स्पृष्टे—इत्यर्थः । तत्रेति—शिवशासने । प्राच्यस्येति—श्रैकण्ठस्य । पञ्चविधेति—चिदादिभेदात् ॥ १७ ॥

अत्रैव पीठचतुष्टयात्मकत्वं निर्णेतुमाह—

श्रीमदानन्दशास्त्रादौ प्रोक्तं भगवता किल ।
समूहः पीठमेतच्च द्विधा दक्षिणवामतः ॥ १८ ॥

अवश्य ग्राह्यता कैसे होती है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

निम्न शास्त्रों के अज्ञत्व और अनुपदेष्टृत्व से युक्त होने पर इसका उल्टा होने से शैवागम का अवश्य अनुसरण करना चाहिये । उस (शिव शासन) में श्रीकण्ठ और लकुलेश्वर दो (शास्त्र) प्रामाणिक है । दो प्रवाहों वाला यह शास्त्र पूर्णरूपेण मोक्ष देने वाला है । पहले वाले की तो भोगप्रदातृता भी निश्चित है । शक्ति के वैचित्र्य के कारण विचित्र वह पाँच प्रकार का कहा गया है । श्रीमत्श्रीकण्ठ का शास्त्र पञ्चस्रोत कहा गया है। पाँचस्त्रोत वाला यह शास्त्र जो दश एवं अठारह प्रकार का है उसकी अपेक्षा चौंसठ भेद वाला यह भैरव नामक शास्त्र अधिक उत्कृष्ट है ॥ -१३-१७ ॥

अज्ञ होने के कारण विपरीत उपदेश से संदष्ट = स्पृष्ट; उसमें = शिवशासन में । प्राच्य = श्रीकण्ठ का । पाँच प्रकार—चित् आदि (= आनन्द इच्छा ज्ञान क्रिया) के भेद से ॥ १७ ॥

इसी में चार पीठ की बात बताने के लिये कहते हैं—

भगवान् के द्वारा आनन्द शास्त्र आदि में कहा गया है । समूह (का अर्थ है) पीठ । दक्षिण वाम भेद से यह दो प्रकार का है जिनके

मन्त्रो विद्येति तस्माच्च मुद्रामण्डलगं द्वयम् ।

भगवता किल आगमे समूहशब्देन पीठं प्रोक्तमेवं परिभाषितमित्यर्थः । दक्षिणवामत इति—शिवशक्तिरूपतया—इत्यर्थः । मन्त्रो हि शिवस्वभावः, विद्या च शक्तिस्वभावेति । तस्मादिति—मन्त्रविद्यात्मनः पीठद्वयात् ॥

एतदेव क्रमेण व्याचष्टे—

मननत्राणदं यत्तु मन्त्राख्यं तत्र विद्यया ॥ १९ ॥
उपोद्वलनमाप्यायः सा हि वेद्यार्थभासिनी ।
मन्त्रप्रतिकृतिर्मुद्रा तदाप्यायनकारकम् ॥ २० ॥
मण्डलं सारमुक्तं हि मण्डश्रुत्या शिवाह्वयम् ।
एवमन्योन्यसंभेदवृत्ति पीठचतुष्टयम् ॥ २१ ॥
यतस्तस्माद्भवेत्सर्वं पीठे पीठेऽपि वस्तुतः ।

उपोद्बलनमाप्याय इति । यत्सूत्रितम्—

'विद्याशरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम् ।' (शि०सू० २।३) इति ।

वेद्यार्थभासिनीति शक्तिरूपत्वात् । मण्डलमिति मण्डं शिवाह्वयं सारं

नाम हैं—मन्त्र और विद्या । उससे मुद्रा और मण्डल दो (भेद और होते) हैं ॥ १८-१९- ॥

भगवान् ने आगम में 'समूह' शब्द से पीठ को बतलाया है = परिभाषित किया है । दक्षिण वाम (भेद) से = शिवशक्ति रूप से । मन्त्र शिवस्वभाव है और विद्या शक्तिस्वभाव वाली है । उससे = मन्त्र एवं विद्या रूप दो पीठों से ॥

इसी की क्रम से व्याख्या करते हैं—

जो मनन के द्वारा रक्षा करने वाला है उसका नाम मन्त्र है । उसमें विद्या के द्वारा उपोद्वलन = आप्यायन (= वर्द्धन होता है) । वह (= विद्या) वेद्य अर्थ का आभास कराने वाली होती है । मन्त्रों की प्रतिकृति है—मुद्रा और उसको पुष्ट करनेवाला मण्डल है । इसे सार कहा गया है । मण्डश्रुति के द्वारा (यह) शिव नाम वाला है । चूँकि (ये) चार पीठ इस प्रकार परस्पर संभेद (के कारण अस्तित्व वाले) हैं अतः वास्तविकतया एक-एक पीठ में भी सब होता है ॥ -१९-२२- ॥

उपोद्वलन = आप्यायन (= वृद्धि) । जैसा कि सूत्र है—

विद्या (= पराद्वय का ज्ञान) ही है शरीर जिसका वह (विद्याशरीर), उसकी सत्ता = विमर्शरूपस्फुरत्ता ही मन्त्रों का रहस्य है । (शि.सू. २।३)

वह (= विद्या) वेद्य अर्थ की आभासिका है क्योंकि (वह) शक्तिरूपा है ।

लातीत्यर्थः ॥

ननु यद्येवमेकं पीठं सर्वात्मकं तत् किमेषां पृथगुपदेशेन?—इत्याशङ्क्य आह—

प्रधानत्वात्तस्य तस्य वस्तुनो भिन्नता पुनः ॥ २२ ॥
कथिता साधकेन्द्राणां तत्तद्वस्तुप्रसिद्धये ।
प्रत्येकं तच्चतुर्धैवं मण्डलं मुद्रिका तथा ॥ २३ ॥
मन्त्रो विद्येति च पीठमुत्कृष्टं चोत्तरोत्तम् ।

प्रत्येकमिति—ऐकैकध्येन । उत्तरोत्तरमुत्कृष्टमिति,—तेन मण्डलपीठात् मुद्रापीठम्, ततो मन्त्रपीठम्, ततो विद्यापीठं चेति ॥

एतदेव प्रकृते विश्रमयति—

विद्यापीठप्रधानं च सिद्धयोगीश्वरीमतम् ॥ २४ ॥
तस्यापि परमं सारं मालिनीविजयोत्तरम् ।

किञ्च अत्र प्रमाणम्?—इत्याशङ्क्य आह—

उक्तं श्रीरत्नमालायामेतच्च परमेशिना ॥ २५ ॥
अशेषतन्त्रसारं तु वामदक्षिणमाश्रितम् ।

मण्डल = मण्ड शिवनामक सार को ले आता है (मण्डं लाति इति मण्डलः) ॥

प्रश्न—इस प्रकार यदि एक ही पीठ सर्वात्मक है तो इनके पृथक् उपदेश से क्या लाभ ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रधानता के कारण उस-उस वस्तु की भिन्नता साधकेन्द्रों की तत्तद् वस्तु की सिद्धि के लिये कही गयी है । (उन चारो में से) प्रत्येक, मण्डल मुद्रिका मन्त्र और विद्या (भेद से) चार प्रकार का है । (इनमे से) उत्तरोत्तर पीठ उत्कृष्ट है ॥ -२२-२४- ॥

प्रत्येक = एक-एक करके । उत्तरोत्तर उत्कृष्ट है—इससे मण्डलपीठ से मुद्रापीठ, उससे मन्त्रपीठ और उससे विद्यापीठ (उत्कृष्ट) है ॥

इसको प्रस्तुत में विश्रान्त करते हैं—

(इस प्रकार) सिद्धयोगेश्वरी मत विद्यापीठप्रधान है । उसका भी परम सार है—मालिनीविजयोत्तर तन्त्र ॥ -२४-२५- ॥

इसमें क्या प्रमाण है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

परमेश्वर ने श्रीरत्नमाला में यह कहा है—समस्त तन्त्रों का सार वाम और दक्षिण (तन्त्र) में निहित है । (दोनों) एकत्र मिलकर श्रीत्रिकशासन में

एकत्र मिलितं कौलं श्रीषडर्धकशासने ॥ २६ ॥
सिद्धान्ते कर्म बहुलं मलमायादिरूषितम् ।
दक्षिणं रौद्रकर्माढ्यं वामं सिद्धिसमाकुलम्॥ २७ ॥
स्वल्पपुण्यं बहुक्लेशं स्वप्रतीतिविवर्जितम् ।
मोक्षविद्याविहीनं च विनयं त्यज दूरतः ॥ २८ ॥

रौद्रेति—मारणोच्चाटनादि । स्वप्रतीतिः = स्वानुभवः । विनयम्—तन्त्रप्रधानं शास्त्रम् ॥ २८ ॥

ननु अत्रापि शेषवृत्तौ कर्मादिबाहुल्यमपि उक्तं तत् किमतेदुक्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—

यस्मिन्काले च गुरुणा निर्विकल्पं प्रकाशितम् ।
मुक्तस्तेनैव कालेन यन्त्रं तिष्ठति केवलम् ॥ २९ ॥

ननु स्रोतोऽन्तराणामेव किं रूपं येभ्योऽपि अस्य उत्कृष्टत्वादेवमुपादेयत्वं निरूपयितुं न्याय्यम्?—इत्याशङ्क्य आह—

मयैतत्स्रोतसां रूपमनुत्तरपदाद् ध्रुवात् ।

कौल (कहे जाते) हैं । शैवसिद्धान्त में कर्म की अधिकता है तथा वह मल माया आदि से युक्त है । दक्षिण (तन्त्र) रौद्र कर्म से भरा है । वाम तन्त्र सिद्धियों से व्याप्त है । यह स्वल्पपुण्य एवं बहुत क्लेश वाला तथा स्वानुभवरहित और मोक्षविद्या से हीन है । (इस कारण) इस तन्त्रप्रधान शास्त्र को दूर से ही छोड़ दो ॥ -२५-२८ ॥

रौद्र = मारण उच्चाटन आदि । स्वप्रतीति = स्वानुभव । विनय = तन्त्रप्रधान शास्त्र ॥ २८ ॥

प्रश्न—इस (त्रिकशास्त्र) में भी शेषवृत्ति में कर्म आदि की अधिकता कही गयी है फिर यह (= सिद्धान्ते कर्मबहुलम्..........) कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जिस समय गुरु के द्वारा (शिष्य को) निर्विकल्पक ज्ञान का प्रकाश करा दिया जाता है उसी समय (वह साधक या शिष्य) मुक्त होकर केवल यन्त्र की भाँति (इस संसार में) रहता है (फलतः शेष वृत्ति आदि कर्म बन्धन के कारण नहीं बनते जबकि सैद्धान्तिक कर्म बन्धनप्रद होते हैं)॥ २९ ॥

प्रश्न—दूसरे स्रोतों (= शास्त्रों) का क्या रूप है जिनकी अपेक्षा उत्कृष्ट होने के कारण इसकी उपादेयता का निरूपण उचित है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

आरभ्य विस्तरेणोक्तं मालिनीश्लोकवार्तिके ॥ ३० ॥
जिज्ञासुस्तत एवेदमवधारयितुं क्षमः ।
वयं तूक्तानुवचनमफलं नाद्रियामहे ॥ ३१ ॥

एवमेतदर्थाभिधायकत्वादिदमस्मत्कृतमपि शास्त्रमुपादेयमेव—इत्याह—

इत्थं ददनायासाज्जीवन्मुक्तिमहाफलम् ।
यथेप्सितमहाभोगदातृत्वेन व्यवस्थितम् ॥ ३२ ॥
षडर्धसारं सच्छास्त्रमुपादेयमिदं स्फुटम् ।

अनेन च अस्य ग्रन्थस्य

'इति सप्ताधिकामेनां त्रिंशतं यः सदा बुधः।
आह्निकानां समभ्यस्येत्स साक्षाद्भैरवो भवेत् ॥
सप्तत्रिंशत्सु संपूर्णबोधो यद्भैरवो भवेत् ।
किं चित्रमणवोऽप्यस्य दृशा भैरवतामियुः ॥' (१।२८९)

इत्यादिना उपक्रान्तमेव महाप्रयोजनत्वं निर्वाहितम् ॥

ग्रन्थकृतां साङ्गोपाङ्गः परिचयः

इदानीमेतद्ग्रन्थाभिधाने स्वात्मनि योग्यतां प्रकाशयितुं सातिशयत्वप्रयोजकी-

---

मालिनीश्लोकवार्तिक में मैंने इन स्रोतों का रूप ध्रुव अनुत्तर पद से आरम्भ कर विस्तार के साथ कहा है । जिज्ञासु व्यक्ति इसका निश्चय वहीं से कर सकते हैं । हम तो एक बार कहे को फिर कहना पसन्द नहीं करते ॥ ३०-३१ ॥

इस अर्थ का निर्वाचक होने के कारण हमारे द्वारा रचित भी यह शास्त्र (= तन्त्रालोक) उपादेय ही है—यह कहते हैं—

इस प्रकार अनायास जीवन्मुक्तिरूपी महाफल और यथेप्सित महाभोगदाता के रूप में व्यवस्थित यह त्रिकसार वाला सत्शास्त्र स्पष्टतया उपादेय है ॥ ३२-३३- ॥

इसके द्वारा इस ग्रन्थ की—

'इति सप्ताधिका..............भैरवतामियुः' ॥

इत्यादि के द्वारा उपक्रान्त महाप्रयोजनता का (अभिनव गुप्त के द्वारा) निर्वाह किया गया ॥

ग्रन्थकार-परिचय

अब (ग्रन्थकार) इस ग्रन्थ के कथन में अपने अन्दर वर्तमान योग्यता को

कारेण देशवंशदैशिकादिक्रममुट्टङ्क्य स्वेतिवृत्तमभिधत्ते—

षट्त्रिंशता तत्त्वबलेन सूता यद्यप्यनन्ता भुवनावलीयम् ।
ब्रह्माण्डमत्यन्तमनोहरं तु वैचित्र्यवर्जं नहि रम्यभावः ॥ ३३ ॥
भूरादिसप्तपुरपूर्णतमेऽपि तस्मिन्
मन्ये द्वितीयभुवनं भवनं सुखस्य ।
क्वान्यत्र चित्रगतिसूर्यशशाङ्कशोभि-
रात्रिन्दिवप्रसरभोगविभाग भूषा ॥ ३४ ॥
तत्रापि च त्रिदिवभोगमहार्घवर्ष-
द्वीपान्तरादधिकमेव कुमारिकाह्वम् ।

द्वितीयभुवनमिति—भुवर्लोकः । तत्रेति—द्वितीयभुवने । वर्षाणिइलावृतादीनि । द्वीपाः—शाकादयः ॥

अधिकत्वमेव दर्शयति—

यत्राधराधरपदात्परमं शिवान्त-
मारोढुमप्यधिकृतिः कृतिनामनर्घा ॥ ३५ ॥

एतदेव व्यतिरेकद्वारेण उपपादयति—

प्रकाशित करने के लिये सातिशयत्व का कारण बने देश वंश देशिक (= आचार्य) आदि के क्रम का उल्लेख कर अपना इतिहास बताते हैं—

यद्यपि छत्तीस तत्त्वों के बल से उत्पन्न यह भुवनावली अनन्त है किन्तु यह ब्रह्माण्ड अत्यन्त मनोहर है । रम्यभाव वैचित्र्य से रहित नहीं होता ॥ भूः आदि (= भुवः स्वर्ग महः जनः तपः सत्य) सात पुरों से पूर्ण भी इस (ब्रह्माण्ड) में द्वितीय भुवन को (मैं) सुख का घर मानता हूँ । (इस द्वितीय पुर को छोड़कर) विचित्र गति वाले सूर्य चन्द्र से शोभित रात्रिदिन के प्रसार के विस्तार के विभाग की अलङ्कृति अन्यत्र कहाँ है ॥ इस (भुवः लोक) में भी देवताओं के भोग के विषय में बहुत महत्त्वपूर्ण दूसरे वर्ष और द्वीपों की अपेक्षा कुमारिका नामक द्वीप अधिक महत्त्वपूर्ण है ॥ ३३-३५- ॥

द्वितीय भुवन = भुवः लोक । वहाँ = दूसरे भुवन में । वर्ष—इलावृत आदि । द्वीप = शाक आदि ॥

अधिकता को ही दिखलाते हैं—

जहाँ पर निम्नतम पद से परमशिव पद तक आरोहण के लिये पुण्यवानों का अनर्घ अधिकार है ॥ -३५ ॥

इसी को व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध करते हैं—

प्राक्कर्मभोगिपशुतोचितभोगभाजा
किं जन्मना ननु सुखैकपदेऽपि धाम्नि ।
सर्वो हि भाविनि परं परितोषमेति
संभाविते न तु निमेषिणि वर्तमाने ॥ ३६ ॥

कन्याह्वयेऽपि भुवनेऽत्र परं महीयान्
देशः स यत्र किल शास्त्रवराणि चक्षुः ।
जात्यन्धसद्मनि न जन्म न कोऽभिनिन्दे-
द्भिन्नाञ्जनायितरविप्रमुखप्रकाशे ॥ ३७ ॥

निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेश-
स्तस्मिन्नजायत गुणाभ्यधिको द्विजन्मा ।
कोऽप्यत्रिगुप्त इति नामनिरुक्तगोत्रः
शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यदगस्त्यगोत्रः ॥ ३८ ॥

तमथ ललितादित्यो राजा निजं पुरमानयत्
प्रणयरभसात् कश्मीराख्यं हिमालयमूर्धगम् ।
अधिवसति यद्गौरीकान्तः करैर्विजयादिभि-
र्युगपदखिलं भोगासारं रसात् परिचर्चितुम् ॥ ३९ ॥

पूर्व (जन्म) के कर्म का भोग करने वाली पशुता के योग्य शरीर धारण करनेवाले जन्म से क्या लाभ ? सब लोग संभावित भावी (= स्थायी) सुख के विषय में परम सन्तोष का अनुभव करते हैं न कि वर्तमान में एक क्षण (वाले सुख के विषय) में ॥ ३६ ॥

इस कुमारिका नामक ही भुवन में भी वह देश अत्यन्त महान् है जहाँ उत्कृष्ट शास्त्र ही चक्षु हैं । जन्मान्ध के घर, जहाँ ज्ञानात्मक सूर्य के प्रकाश की रश्मियाँ भिन्नअञ्जन के समान अन्धता को दूर करने वाली होती है, में जन्म न लेने की निन्दा कौन नहीं करता ॥ ३७ ॥

मध्यप्रदेश सम्पूर्ण शास्त्रों का घर है । उसमें कोई अत्यन्त गुणवान् ब्राह्मण ने जन्म लिया जिसका नाम अत्रिगुप्त था और जो नामनिरुक्तगोत्र वाला (= अत्रिगोत्र वाला) था तथा शास्त्ररूपी समुद्र के चर्वण की कला में उत्पन्न अगस्त्य था ॥ ३८ ॥

बाद में राजा ललितादित्य अत्यन्त प्रेम के कारण उस (ब्राह्मण) को, हिमालय के शिखर पर बसे कश्मीर नामक अपने पुर में ले आये जिसमें भगवान् शङ्कर विजय आदि करों के साथ समस्त भोगों के असार (= व्यर्थता) की परिचर्चा करने के लिये निवास करते हैं । (राजापक्ष में

स्थाने स्थाने मुनिभिरखिलैश्चक्रिरे यन्निवासा
यच्चाध्यास्ते प्रतिपदमिदं स स्वयं चन्द्रचूडः।
तन्मन्येऽहं समभिलषिताशेषसिद्धेर्न सिद्ध्यै
कश्मीरेभ्यः परमथ पुरं पूर्णवृत्तेर्न तुष्ट्यै ॥ ४० ॥

यत्र स्वयं शारदचन्द्रशुभ्रा श्रीशारदेति प्रथिता जनेषु।
शण्डिल्यसेवारससुप्रसन्ना सर्वं जनं स्वैर्विभवैर्युनक्ति ॥ ४१ ॥

नारङ्गारुणकान्ति पाण्डुविकचद्वल्लावदातच्छवि
प्रोद्भिद्यामलमातुलुङ्गकनकच्छायाभिरामप्रभम् ।
केरीकुन्तलकन्दलीप्रतिकृतिश्यामप्रभाभास्वरं
यस्मिञ्शक्तिचतुष्टयोज्ज्वलमलं मद्यं महाभैरवम् ॥ ४२ ॥

त्रिनयनमहाकोपज्वालाविलीन इह स्थितो
मदनविशिखव्रातो मद्यच्छलेन विजृम्भते ।

गौरी नामक रानी के पति (प्रजाओं के ऊपर) कराधान एवं (राज्यों पर) विजय आदि के द्वारा भोगों की आसार (= वर्षा) करने के लिये निवास करते हैं) ॥ ३९ ॥

जहाँ स्थान-स्थान पर मुनियों के द्वारा निवास किया गया और जहाँ स्वयं चन्द्रचूड़ (= शङ्कर) स्वयं पद-पद पर निवास करते हैं, उसे मैं समस्त अभीष्ट की सिद्धि का (स्थान) मानता हूँ । सिद्धि के लिये कश्मीर से बढ़कर कोई पुर और तुष्टि के लिये पूर्णवृत्ति (पूर्णताख्यातिमयी) तुष्टि से बढ़कर (कोई तुष्टि) नहीं है ॥ ४० ॥

जहाँ स्वयं शरत्कालीन चन्द्रमा के समान उज्ज्वल और लोगों में शारदा नाम से प्रसिद्ध (देवी) शाण्डिल्यसेवारस से प्रसन्न होकर समस्त जनों को अपने विभव (= ज्ञान) से युक्त करती है ॥ ४१ ॥

जिसमे (रक्त, श्वेत, पीत एवं श्याम वर्ण वाली तथा शास्त्रवर्णित) चार शक्तियों से उज्ज्वल महाभैरव मद्य विराजमान है । यह मद्य) नारङ्गी के समान अरुण कान्ति वाला, पाण्डु रंग के खिलते हुये वल्ले (= एक प्रकार का पौधा) के समान स्वच्छ (= श्वेत) छविवाला, खिलते हुये निर्मल मातुलुङ्ग (= जम्भीरी नीबू) एवं कनक की छाया के समान अभिराम (= पीत) प्रभा वाला, केरी (= केरल देश की श्यामवर्णा नायिका) के कुन्तलकन्दली की प्रतिकृति के समान श्यामल प्रभा से भास्वर है ॥ ४२॥

शिव के महाकोप की ज्वाला से विलीन (= प्रच्छन्न) काम के बाणों का समूह मद्य के रूप में यहाँ पर स्थित है अन्यथा राग मोह मद कामज्वर

कथमितरथा रागं मोहं मदं मदनज्वरं
विदधदनिशं कामातङ्कैर्वशीकुरुते जगत् ॥ ४३ ॥

यत्कान्तानां प्रणयवचसि प्रौढिमानं विधत्ते
यन्निर्विघ्नं निधुवनविधौ साध्वसं संधुनोति ।
यस्मिन् विश्वाः कलितरुचयो देवताश्चक्रचर्य-
स्तन्मार्द्वीकं सपदि तनुते यत्र भोगापवर्गौ ॥ ४४ ॥

उद्यद्गौराङ्कुरविकसितैः श्यामरक्तैः पलाशै-
रन्तर्गाढारुणरुचिलसत्केसरालीविचित्रैः ।
आकीर्णा भूः प्रतिपदमसौ यत्र काश्मीरपुष्पैः
सम्यग्देवीत्रितययजनोद्यानमाविष्करोति ॥ ४५ ॥

सर्वो लोकः कविरथ बुधो यत्र शूरोऽपि वाग्मी
चन्द्रोद्द्योता मसृणगतयः पौरनार्यश्च यत्र ।
यत्राङ्गारोज्ज्वलविकसितानन्तसौषुम्णमार्ग-
ग्रस्तार्केन्दुर्गगनविमलो योगिनीनां च वर्गः ॥ ४६ ॥

को उत्पन्न करता हुआ (यह मद्य) काम के आतङ्क से संसार को रात-दिन वश में कैसे करता रहता है ? ॥ ४३ ॥

जो (अंगूर की बनी मदिरा) कामिनियों के प्रणयवचन को प्रौढता प्रदान करती है; जो रतिलीला के लिये साहस प्रदान करती है तथा जिसमें सभी देवतायें एवं चक्रचारिणीसमूह रुचि रखती हैं वह अंगूर की मदिरा जहाँ (= कश्मीर में) भोग और मोक्षप्रदान करती है ॥ ४४ ॥

जहाँ निकलते हुये गोरे-गोरे अंकुरों से विकसित श्यामरक्त पलाशों से युक्त, भीतर गाढ लाल रंग वाले सुन्दर केशरपुञ्ज से विचित्र काश्मीर पुष्पों से कदम-कदम पर बिखरी हुयी भूमि तीन देवियों (= परा परापरा एवं अपरा अथवा महाकाली महालक्ष्मी और महासरस्वती) के यजन के लिये उद्यान का पूर्णरूपेण आविष्कार करती है ॥ ४५ ॥

जहाँ सब लोग कवि और विद्वान् है । शूर भी मितभाषी है । जहाँ पुरनारियाँ चन्द्रमा की कान्तिवाली एवं गम्भीर गति वाली है । जहाँ पर अंगार के समान उज्ज्वल एवं विकसित अनन्त सुषुम्णा मार्ग के द्वारा सूर्य चन्द्र (= इडा पिङ्गला) को रोकने वाला तथा चिदाकाश में विचरण करने वाला योगिनियों का समूह है । (इस श्लोक में—कवि (= शुक्र), बुध, वाग्मी (= बृहस्पति), चन्द्र, मसृणगति (मन्दगति = शनिश्चर), अङ्गार (= मंगल) उज्ज्वल (= सूर्य) पदों से तत्तद् ग्रहों का भी वर्णन

श्रीमत्परं प्रवरनाम पुरं च तत्र
यन्निर्ममे प्रवरसेन इति क्षितीशः ।
यः स्वप्रतिष्ठितमहेश्वरपूजनान्ते
व्योमोत्पतन्नुदसृजत्किल धूपघण्टाम् ॥ ४७ ॥
आन्दोलनोदितमनोहरवीरनादैः
सा चास्य तत्सुचरितं प्रथयांबभूव ।
सद्वृत्तसारगुरुतैजसमूर्तयो हि
त्यक्ता अपि प्रभुगुणानधिकं ध्वनन्ति ॥ ४८ ॥
संपूर्णचन्द्रविमलद्युतिवीरकान्ता-
गाढाङ्गरागघनकुङ्कुमपिञ्जरश्रीः ।
प्रोद्धूतवेतसलतासितचामरौघै-
राज्याभिषेकमनिशं ददती स्मरस्य ॥ ४९ ॥
रोधःप्रतिष्ठितमहेश्वरसिद्धलिङ्ग-
स्वायंभुवार्चनविलेपनगन्धपुष्पैः ।

प्रस्तुत है) ॥ ४६ ॥

वहाँ (कश्मीर में) परम श्री से युक्त प्रवरपुर नामक एक नगर है जिसे प्रवरसेन राजा ने बसाया था । जिस (राजा) ने अपने द्वारा प्रतिष्ठित महेश्वर की पूजा के अन्त में आकाश में उड़ने वाली धूपघण्टा को ऊपर फेंक दिया ॥ ४७ ॥

और वह (= धूपघण्टा अपने) आन्दोलन के कारण उत्पन्न मनोहर वीरनाद से इस (राजा) के सुचरित को विस्तारित करती रही । सच्चरित्ररूपी तत्त्व के कारण महान् लोगों के द्वारा (निर्मित) तेजोयुक्त (पुरुष अथवा भारी लोहे की मूर्त्तियाँ) त्यक्त होकर भी स्वामी के गुणों का और अधिक रूप से प्रचार करते हैं ॥ ४८ ॥

(जहाँ पर वितस्ता = व्यास नदी) सम्पूर्ण चन्द्र की विमल द्युति के समान द्युति वाली वीर कामिनियों के (शरीर में लिप्त) गाढ़ अङ्गराग वाले घने कुंकुम रूपी पिंजड़ें की लक्ष्मी प्रोद्धूत (= हवा के द्वारा हिलने वाली) वेतसलता रूपी सितचामरों के समूहों के द्वारा निरन्तर काम का राज्याभिषेक करती रहती है ॥ ४९ ॥

(सम्पूर्णो यो चन्द्रः तस्य विमलद्युतिरिव द्युतिर्यासां ता वीरकान्ता : = शूराणां कामिन्यः अथवा वीराचारसाधिका योगिन्यस्तासां गाढं यत् अङ्गरागघनकुंकुमं तदेव पिञ्जरस्तस्मिन् वर्त्तमाना श्रीः शोभाः । प्रोद्धूताः दोधूयमानाः वेतसलता एव सितचामरौघः तैः ॥ ४९ ॥)

आवर्ज्यमानतनुवीचिनिमज्जनौघ-
विध्वस्तपाप्ममुनिसिद्धमनुष्यवन्द्या ॥ ५० ॥
भोगापवर्गपरिपूरणकल्पवल्ली
भोगैकदानरसिकां सुरसिद्धसिन्धुम् ।
न्यक्कुर्वती हरपिनाककलावतीर्णा
यद्भूषयत्यविरतं तटिनी वितस्ता ॥ ५१ ॥
तस्मिन् कुबेरपुरचारिसितांशुमौलि-
सांमुख्यदर्शनविरूढपवित्रभावे ।
वैतस्तरोधसि निवासममुष्य चक्रे
राजा द्विजस्य परिकल्पितभूरिसंपत् ॥ ५२ ॥
तस्यान्वये महति कोऽपि वराहगुप्त-
नामा बभूव भगवान् स्वयमन्तकाले ।
गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा
यस्याकरोत् परमनुग्रहमाग्रहेण ॥ ५३ ॥

(उस वितस्तानदी के) तट पर प्रतिष्ठित महेश्वर के सिद्धलिङ्ग की ब्रह्मा के द्वारा पूजा विलेप गन्ध पुष्प से आवर्ज्यमान (= अत्यन्त छोटी और आकर्षक) शरीर रूपी लहरों में अत्यधिक निमज्जन के द्वारा विध्वस्त पाप वाले मुनियों सिद्धों और मनुष्यों के द्वारा जो वन्दनीय है ।

(स्वयंभुवः इमानि स्वायंभुवानि यानि अर्चनविलेपनगन्धपुष्पाणि तैः । रोधसि प्रतिष्ठितं यन्महेश्वरसिद्धलिङ्गं तस्य स्वायंभुवार्चनः......... । आवर्ज्यमाना या तनुः सैव वीचिः तस्यां निमज्जनौघः = पुनः पुनर्निमज्जनं तेन विध्वस्तानि पापानि येषां ते आवर्ज्य... पाप्मानः तथाभूता मुनिसिद्धमनुष्याः तैः वन्द्या । आवर्ज्यमान...= आवर्ज्य माना = आद्रियमाणा या तनुवीचयः = ह्रस्व लह्वर्यः तासु यन्निमज्जनन्नौधः = पुनः पुनर्निमज्जनं तेन... ।) ॥ ५० ॥

भोग और मोक्ष देने में कल्पलता के समान, (अत एव) केवल भोगदान में रसिक सुरसिद्धसिन्धु (= स्वर्गङ्गा) को तिरस्कृत करने वाली, शङ्कर के धनुष (अथवा त्रिशूल) की कला से अवतीर्ण वितस्ता नदी जिस (प्रवरपुर) को निरन्तर अलंकृत करती रहती है ॥ ५१ ॥

उत्तर दिशा में वर्त्तमान शिव के सांमुख्यदर्शन से प्रौढ़ पवित्र भाव वाले वितस्ता के किनारे पर इस ब्राह्मण के राजा (ललितादित्य) ने बहुत अधिक सम्पत्ति से युक्त होकर निवास किया ॥ ५२ ॥

उस (= अत्रिगुप्त) के महान् वंश में कोई वराहगुप्त नामक (पुरुष)

तस्यात्मजश्चुखलकेति जने प्रसिद्ध-
श्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः ।
यं सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्तं
माहेश्वरी परमलंकुरुते स्म भक्तिः ॥ ५४ ॥

तारुण्यसागरतरङ्गभरानपोह्य
वैराग्यपोतमधिरुह्य दृढं हठेन ।
यो भक्तिरोहणमवाप्य महेशचिन्ता-
रत्नैरलं दलयति स्म भवापदस्ताः ॥ ५५ ॥

तस्यात्मजोऽभिनवगुप्त इति प्रसिद्धः
श्रीचन्द्रचूडचरणाब्जपरागपूतः ।
माता व्ययूयुजदमुं किल बाल्य एव
दैवं हि भाविपरिकर्मणि संस्करोति ॥ ५६ ॥

भोगः = शरीरम् । निमेषिणीति—क्षणक्षयिणीत्यर्थः । महीयस्त्वे शास्त्र-चक्षुष्ट्वं हेतुः । नामनिरुक्तगोत्र इति—अत्रिगोत्रः—इत्यर्थः । गोत्रनाम श्लिष्टतया निर्दिष्टम् । करैरिति हस्तरश्मिवाचकम् । परमिति—अत्यर्थम् । अनेन च

उत्पन्न हुये जिसके ऊपर गङ्गानदी से युक्त अग्रमूर्धा वाले भगवान् शङ्कर ने अन्तकाल में स्वयं आग्रहपूर्वक अत्यन्त कृपा की ॥ ५३ ॥

उन (वराहगुप्त) के पुत्र नरसिंह गुप्त हुये जो लोगों में चुखलक नाम से प्रसिद्ध थे । ये चन्द्रमा के समान स्वच्छ बुद्धि वाले थे । समस्त शास्त्र के रस में अवगाहन के कारण शुभ्रचित्त वाले इनको शैवी भक्ति भी परम सुशोभित करती थी ॥ ५४ ॥

तारुण्य रूपी सागर के तरंगसमूहों को छोड़कर हठपूर्वक वैराग्य रूपी पोत पर दृढ़ता के साथ आरोहण कर जो भक्ति के आरोहण (= सीढ़ी) को प्राप्त कर महेश्वर के चिन्तन रूपी रत्नों के द्वारा उन सांसारिक आपत्तियों का नाश किया करते थे ॥ ५५ ॥

उनके पुत्र अभिनवगुप्त नाम से प्रसिद्ध हुये जो कि चन्द्रचूड़ के चरणकमल के पराग से पवित्रित थे । बाल्यकाल में ही इन्हें माता ने छोड़ दिया । भावी कर्म के विषय में भाग्य ही (लोगों का) संस्कार करता है ॥ ५६ ॥

भोग = शरीर । निमेष वाले = क्षण में नष्ट होने वाले । महत्ता में शास्त्ररूपी चक्षु का होना कारण है । नामनिरुक्त गोत्र वाले = अत्रिगोत्र वाले । गोत्र नाम श्लिष्टरूप से निर्दिष्ट है । 'करैः' यह पद हाथ एवं किरण (दोनों) का वाचक है ।

श्लोकद्वयेन अत्र निवासयोग्यत्वं दर्शितम् । स्वैर्विभवैर्युनक्तीति—अनेन अत्र सर्वविद्याकरस्थानत्वं प्रकाशितम् । शक्तीति—सिद्धाचतुष्कम् । तद्धि सितरक्तपीत-कृष्णवर्णम् । विशिखव्रात इति—शोषणादिः, तस्य हि रागादि कार्यम् । चक्रेति—मुख्यानुचक्ररूपेषु । श्यामरक्तैरिति—कृष्णपिङ्गलैः । देवीत्रितयेति—प्रकरणाद्यौ- चित्यादुक्तम् । वाग्मीति—वृहस्पतिरपि । मसृणगतिः—शनैश्चरश्च । अङ्गारेति—उदानवह्निरपि । ग्रस्तार्केन्दुत्वेन ग्रहणद्वयमपि व्यञ्जितम् । यत् प्रवरसेन इति—क्षितीशः पुरं निर्ममे, तस्मिन्नमुष्य द्विजस्य ललितादित्यो राजा निवासं चक्रे—इति दूरेण संबन्धः । व्योमोत्पतन्निति—अनेन अत्रापि सिद्धयानुगण्यं प्रकाशितम् । सेति—घण्टा । तैजसेति—लोहश्च । भोगापवर्गेति—श्लोकद्वयकटाक्षितयोः । पिनाकेति—आयुधं त्रिशूलमिति—यावत् । कुबेरपुरेति—उत्तरा दिक् । व्ययूयुज- दिति—स्वतो वियुक्तं समपादयत्—प्रमीतमातृकोऽभूदिति यावत् ॥ ५६ ॥

तमेव संस्कारं व्यनक्ति—

माता परं बन्धुरिति प्रवादः
स्नेहोऽतिगाढीकुरुते हि पाशान् ।
तन्मूलबन्धे गलिते किलास्य
मन्ये स्थिता जीवत एव मुक्तिः ॥ ५७ ॥

पर = अत्यधिक । इन दोनों श्लोकों से यहाँ निवास की योग्यता दिखलायी गयी । अपने विभव से युक्त करती हैं—इसके द्वारा यहाँ समस्त विद्याओं का आकर स्थान होना प्रकाशित है । शक्ति = १. सिद्धा आदि चार । (२ रौद्री ३ वामा ४ ज्येष्ठा) का समूह । वह श्वेत रक्त पीत और कृष्णा वर्णों वाला है । विशिखसमूह—शोषण आदि राग आदि उसका कार्य है । चक्र—मुख्य अनुचक्र रूपों में श्यामरक्त = काला और पिङ्गल । तीन देवियाँ—यह प्रकरण की उचितता के कारण कहा गया है । वाग्मी = बृहस्पति । मसृणगति = शनिश्चर, अङ्गार = उदान वह्नि । ग्रस्तार्क इन्दु के द्वारा दोनों का ग्रहण भी व्यञ्जित है । राजा प्रवरसेन ने जिस नगर का निर्माण किया उसमें इस ब्राह्मण के राजा ललितादित्य ने निवास किया—ऐसा दूर से सम्बन्ध है । आकाश में उड़ते हुये—यहाँ भी सिद्ध के गुणों से युक्त होना प्रकाशित किया गया है । वह = घण्टा । तैजस—तेजोयुक्त और लोहा से बनी । भोग और अपवर्ग का—दोनों श्लोकों में सङ्केतित । पिनाक = शस्त्र = त्रिशूल । कुबेरपुर = उत्तर दिशा । वियुक्त किया = स्वयं वियुक्त कर दिया अर्थात् मृतमाता वाला हो गया ॥ ५६ ॥

उसी संस्कार को व्यक्त करते हैं—

माता सबसे बड़ा बन्धु होती है यह लोकप्रसिद्धि है । (उसका) स्नेह

पित्रा स शब्दगहने कृतसंप्रवेश-
स्तर्कार्णवोर्मिपृषतामलपूतचित्तः ।
साहित्यसान्द्ररसभोगपरो महेश-
भक्त्या स्वयंग्रहणदुर्मदया गृहीतः॥ ५८ ॥

स तन्मयीभूय न लोकवर्तनी-
मजीगणत् कामपि केवलं पुनः ।
तदीयसंभोगविवृद्धये पुरा
करोति दास्यं गुरुवेश्मसु स्वयम् ॥ ५९ ॥

पुरा करोतीति—'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' (३।३।४) इति लटः प्रयोगः ॥

के ते गुरवः ?—इत्याशङ्क्य आह—

आनन्दसंततिमहार्णवकर्णधारः
सद्दैशिकैरकवरात्मजवामनाथः ।
श्रीनाथसंततिमहाम्बरघर्मकान्तिः
श्रीभूतिराजतनयः स्वपितृप्रसादः ॥ ६० ॥

पाशों को अत्यन्त मजबूत बना देता है । उस मूलबन्धन के नष्ट हो जाने पर (मैं) समझता हूँ कि इसकी (= अभिनवगुप्त की) जीते जी मुक्ति हो गयी ॥ ५७ ॥

पिता के द्वारा वह बालक शब्दकानन में प्रविष्ट कराया गया । न्यायरूपी समुद्र की लहरों के शलाका से अथवा बिन्दुओं से निर्मल एवं पवित्र चित्त वाला (किया गया) । साहित्य के सघन इसके भोग से लीन (हुआ यह बालक) स्वयंग्रहण के कारण दुर्मद शिवभक्ति के द्वारा गृहीत हुआ ॥ ५८ ॥

वह तन्मय (= भक्तिमय) होकर किसी भी लोकव्यवहार की पुनः गणना ही नहीं करता था बल्कि उसके (भक्तिजन्य आनन्द के) संभोग की वृद्धि के लिये स्वयं गुरुओं के घरों में सेवा करता था ॥ ५९ ॥

'पुरा करोति' यह 'यावत् और पुरा इन दोनों निपातों के प्रयोग में लट्लकार होता है ।' (पा०सू० ३।३।४) इस सूत्र से लट् का प्रयोग है ॥ ५९ ॥

वे गुरु कौन हैं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

आनन्द की परम्परा या (या विस्तार) रूपी महासमुद्र के कर्णधार सदध्यापक एरकनाथानन्द के शिष्य (या पुत्र) वामनाथ (गुरु थे) । श्रीनाथ **की परम्परा रूपी महाकाश के सूर्य तथा अपने पिता के** आनन्दरूप श्री

त्रैयम्बकप्रसरसागरशायिसोमा-
नन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथः ।
तुर्याख्यसंततिमहोदधिपूर्णचन्द्रः
श्रीसोमतः सकलवित्किल शंभुनाथः ॥ ६१ ॥

श्रीचन्द्रशर्मभवभक्तिविलासयोगा—
नन्दाभिनन्दशिवशक्तिविचित्रनाथाः ।
अन्येऽपि धर्मशिववामनकोद्भटश्री-
भूतेशभास्करमुखप्रमुखा महान्तः ॥ ६२ ॥
एते सेवारसविरचितानुग्रहाः शास्त्रसार-
प्रौढादेशप्रकटसुभगं स्वाधिकारं किलास्मै ।
यत् संप्रादुर्यदपि च जनान्नैक्षताक्षेत्रभूतान्
स्वात्मारामस्तदयमनिशं तत्त्वसेवारसोऽभूत् ॥ ६३ ॥
सोऽनुग्रहीतुमथ शांभवभक्तिभाजं
स्वं भ्रातरमखिलशास्त्रविमर्शपूर्णम् ।
यावन्मनः प्रणिदधाति मनोरथाख्यं
तावज्जनः कतिपयस्तमुपाससाद ॥ ६४ ॥

भूतिराज नामक तनय (उत्पन्न हुए) ॥ ६० ॥

त्र्यम्बकपरम्परा के सागर में शयन करने वाले सोमानन्द के शिष्य उत्पलदेव के विद्यापुत्र लक्ष्मणगुप्तनाथ (गुरु थे) । अर्धत्र्यम्बकपरम्परा रूपी महासागर के पूर्णचन्द्र तथा सर्वज्ञ श्री (सुमतिनाथ के शिष्य श्री सोमदेव) (के शिष्य) शम्भुनाथ (गुरु थे) ॥ ६१ ॥

श्रीचन्द्र शर्मा श्रीभवनाथ श्रीभक्तिविलास श्रीयोगानन्द श्रीअभिनन्द श्रीशिवशक्तिनाथ (अथवा श्री विचित्रनाथ) (गुरु थे) । अन्य भी श्रीधर्म-शिवानन्द श्रीनन्द जी वामननाथ श्रीउद्भटनाथ श्री भूतेशनाथ श्री भास्कर और भी मुखानन्दनाथ आदि महान् लोग (गुरु) थे ॥ ६२ ॥

(अभिनवगुप्त) के सेवा रूपी रस के कारण विरचित अनुग्रह वाले ये लोग शास्त्रों के तत्त्व के प्रौढ आदेश को प्रकट करने में सुभग अपने अधिकार को जो इस (= अभिनवगुप्त) को दिया और जो (= इस स्वात्माराम अभिनवगुप्त ने) अपात्र लोगों की ओर दृष्टि नहीं डाली वह इसके स्वात्मारामत्व और निरन्तर तत्त्वसेवा का फल था ॥ ६३ ॥

इसके बाद जब तक (यह अभिनवगुप्त) शाम्भव भक्ति वाले सकल शास्त्र के विमर्श से पूर्ण मनोरथ नामक अपने भाई को (शिष्य के रूप में)

तुर्याख्यसंततीति—अर्धत्र्यम्बकाभिख्या । अक्षेत्रभूतानिति—अपात्रप्रायान्—इत्यर्थः । उपाससादेति—अन्तेवासितामन्वभूत्—इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

तमेव कतिपयं जनं निर्दिशति—

श्रीशौरिसंज्ञतनयः किल कर्णनामा
यो यौवने विदितशांभवतत्त्वसारः ।
देहं त्यजन् प्रथयति स्म जनस्य सत्यं
योगच्युतं प्रति महामुनिकृष्णवाक्यम् ॥ ६५ ॥

तद्बालमित्रमथ मन्त्रिसुतः प्रसिद्धः
श्रीमन्द्र इत्यखिलसारगुणाभिरामः ।
लक्ष्मीसरस्वति समं यमलञ्चकार
सापत्नकं तिरयते सुभगप्रभावः ॥ ६६ ॥

अन्ये पितृव्यतनयाः शिवशक्तिशुभ्राः
क्षेमोत्पलाभिनवचक्रकपद्मगुप्ताः ।
ये संपदं तृणममंसत शंभुसेवा-
संपूरितं स्वहृदयं हृदि भावयन्तः ॥ ६७ ॥

अनुगृहीत करना चाहे तब तक कुछ लोग उन (= अभिनवगुप्त) के पास पहुँच गये ॥ ६४ ॥

तुर्याख्य सन्तति = अर्धत्र्यम्बक नामक । अक्षेत्रभूत = अपात्रप्राय । उपसन्न हुये = अन्तेवासी बन गये ॥ ६४ ॥

उन्हीं कतिपय लोगों को दिखलाते हैं—

श्री शौरी नामक (व्यक्ति) के पुत्र कर्ण नामक (एक व्यक्ति थे) जिन्होंने यौवन में ही शांभवतत्त्व का सार जान लिया था । उन्होंने शरीर को छोड़ते हुये योगभ्रष्ट के प्रति महामुनि गीतोपदेशक श्री कृष्ण के वाक्य को लोगों के मन में सत्य सिद्ध कर दिया ॥ ६५ ॥

फिर उनके बालमित्र जो कि मन्त्री के पुत्र (की दृष्टि से) प्रसिद्ध थे (और नाम) श्रीमन्द्र था सबके सारभूत गुणों के कारण सुन्दर थे जिसे लक्ष्मी एवं सरस्वती ने समानरूप से अलंकृत किया था और सुभग प्रभाव वाले (वे) लक्ष्मी एवं सरस्वती के सापत्न स्वभाव को झूठा सिद्ध कर दिये थे । (या तिरस्कृत कर दिये थे) ॥ ६६ ॥

अन्य भी चचेरे भाई जो कि (शिवशक्ति के कारण शुभ्र थे और जिनका नाम भी) (शिवशक्ति और शुभ्र था) (तथा) क्षेत्र उत्पल अभिनव

षडर्धशास्त्रेषु समस्तमेव येनाधिजग्मे विधिमण्डलादि ।
स रामगुप्तो गुरुशंभुजास्त्रसेवाविधिव्यग्रसमग्रमार्गः ॥ ६८ ॥

अन्योऽपि कश्चन जनः शिवशक्तिपात-
संप्रेरणापरवशस्वकशक्तिसार्थः ।
अभ्यर्थनाविमुखभावमशिक्षितेन
तेनाप्यनुग्रहपदं कृत एष वर्गः ॥ ६९ ॥

आचार्यमभ्यर्थयते स्म गाढं
संपूर्णतन्त्राधिगमाय सम्यक् ।
जायेत दैवानुगृहीतबुद्धेः
संपत्प्रबन्धैकरसैव संपत् ॥ ७० ॥

सोऽप्यभ्युपागमदभीप्सितमस्य यद्वा
स्वातोद्यमेव हि निनर्तिषतोऽवतीर्णम् ।
सोऽनुग्रहप्रवण एव हि सद्गुरूणा-
माज्ञावशेन शुभसूतिमहाङ्कुरेण ॥ ७१ ॥

विक्षिप्तभावपरिहारमथो चिकीर्षन्
मन्द्रः स्वके पुरवरे स्थितिमस्य वव्रे ।

चक्रक और पद्मगुप्त थे वे अपने हृदय को शम्भुसेवा से परिपूर्ण मानते हुये हृदय में सम्पत्ति को तृण के समान मानते थे ॥ ६७ ॥

जिसने त्रिकशास्त्रों में समस्त विधि मण्डल आदि का अध्ययन किया वह राम गुप्त (अपने) गुरु एवं शैवागम की सेवा विधि में लगे हुये समस्त मार्गों वाला था ॥ ६८ ॥

कोई और भी आदमी (था जो) शिवशक्तिपात की सम्यक् प्रेरणा के वशीभूत शक्तिसमूह वाला था । अभ्यर्थनाविमुख भाव को न जानने वाले उस (व्यक्ति) के साथ यह वर्ग सम्पूर्ण शास्त्रों के सम्यक् ज्ञान के लिये अनुग्रह के आस्पदभूत आचार्य से गाढ़ निवेदन करता था क्योंकि दैव की कृपा प्राप्त बुद्धि वाले (व्यक्ति) की सम्पत्ति सम्पत्प्रबन्धैकरस वाली ही होती है ॥ ६९-७० ॥

वह अपने अभिलषित को प्राप्त हुआ । अथवा बार-बार नाचने की इच्छा वाले के समक्ष सुन्दर वाद्य (स्वयं) प्रकट हो गया ॥ ७१- ॥

अनुग्रहप्रवण वह सद्गुरुओं के शुभ फल देने वाले महा अंकुर रूपी आज्ञा के वश विक्षिप्त भाव का परिहार करने की इच्छा वाले मन्द्र ने

आबालगोपमपि यत्र महेश्वरस्य
दास्यं जनश्चरति पीठनिवासकल्पे ॥ ७२ ॥

तस्याभवत् किल पितृव्यवधूर्विधात्रा
या निर्ममे गलितसंसृतिचित्रचिन्ता ।
शीतांशुमौलिचरणाब्जपरागमात्र-
भूषाविधिर्विहितवत्सलिकोचिताख्या ॥ ७३ ॥

मूर्ता क्षमेव करुणेव गृहीतदेहा
धारेव विग्रहवती शुभशीलतायाः ।
वैराग्यसारपरिपाकदशेव पूर्णा
तत्त्वार्थरत्नरुचिरस्थितिरोहणोर्वी ॥ ७४ ॥

भ्रातापि तस्याः शशिशुभ्रमौले-
र्भक्त्या परं पावितचित्तवृत्तिः ।
स शौरिरात्तेश्वरमन्त्रिभाव-
स्तत्याज यो भूपतिमन्त्रिभावम् ॥ ७५ ॥

तस्य स्नुषा कर्णवधूर्विधूत-
संसारवृत्तिः सुतमेकमेव ।

अपने नगर में इस (गुरु) की स्थिति की याचना की । पीठनिवास-कल्प उस नगर में बालक से लेकर ग्वाले तक के लोग शिव की सेवा करते थे ॥ -७१-७२ ॥

उस (मन्द्र) की चाची थी जिसको विधाता ने सृष्टि की विचित्र चिन्ताओं से रहित बनाया था । (वह) शिव के चरणकमल के परागमात्र के अलङ्करण वाली थी और उसका वत्सलिका (= वात्सल्यभाव वाली) नाम भी उचित था ॥ ७३ ॥

(वह) मूर्त्तिमती क्षमा सी थी, मानो करुणा ने शरीरधारण कर लिया था । मानो शुभशीलता ने विग्रह (शरीर) धारण किया था । वह वैराग्य के तत्त्व के परिपाक की पूर्णता को प्राप्त स्थिति वाली तथा तत्त्वार्थरत्न की रुचिर स्थिति की उत्पत्ति की धरती थी ॥ ७४ ॥

उस (वत्सलिका) का भाई भी शिव की भक्ति से परम पवित्र की गयी चित्तवृत्ति वाला था । शौरी नाम वाले उसने, जो कि मन्त्री (साधक) भाव को प्राप्त हो गया था, राजा के मन्त्री पद का त्याग कर दिया ॥ ७५ ॥

उसकी पुत्रवधू (जिसका नाम) कर्णवधू था और जो कि संसार के

यासूत योगेश्वरिदत्तसंज्ञं
नामानुरूपस्फुरदर्थतत्त्वम् ॥ ७६ ॥
यामग्रगे वयसि भर्तृवियोगदीना-
मन्वग्रहीत् त्रिनयनः स्वयमेव भक्त्या ।
भाविप्रभावरभसेषुजनेष्वनर्थः
सत्यं समाकृषति सोऽर्थपरम्पराणाम् ॥ ७७ ॥
भक्त्युल्लसत्पुलकतां स्फुटमङ्गभूषां
श्रीशंभुनाथनतिमेव ललाटिकां च ।
शैवश्रुतिं श्रवणभूषणमप्यवाप्य
सौभाग्यमभ्यधिकमुद्वहति स्म याऽन्तः ॥ ७८ ॥
अम्बाभिधाना किल सा गुरुं तं
स्वं भ्रातरं शम्भुदृशाभ्यपश्यत् ।
भाविप्रभावोज्ज्वलभव्यबुद्धिः
सतोऽवजानाति न बन्धुबुद्ध्या ॥ ७९ ॥
भ्राता तदीयोऽभिनवश्च नाम्ना
न केवलं सच्चरितैरपि स्वैः ।

व्यवहार को छोड़ चुकी थी केवल नाम के अनुरूप अर्थतत्त्व के ज्ञाता योगेश्वरीदत्त नामक एक ही पुत्र को जन्म दिया ॥ ७६ ॥

प्रथम अवस्था में ही भर्तृवियोग से दुःखी जिस (कर्णवधू) को त्रिनयन ने स्वयं ही अपनी भक्ति से अनुगृहीत किया । भावी प्रभाव से बोझिल लोगों के लिये वह अनर्थ सचमुच अर्थ की परम्पराओं का आकर्षण करता है ॥ ७७ ॥

वह भक्ति से उल्लसित पुलकता रूपी (= प्रथम) अङ्गभूषा को, श्री शम्भुनाथ के प्रति विनम्रभाव रूपी ललाटिका (= मस्तक का अलङ्कार) और शैवागम (या शिवयशोगान) रूपी श्रवणभूषण को प्राप्त कर भीतर ही भीतर अधिक सौभाग्य को धारण करती थी ॥ ७८ ॥

और जो (लोगों में) अम्बा नाम से जानी जाती थी वह अपने उस गुरु रूपी भाई को शिव की दृष्टि से देखती (= शिव ही समझती) थी । भावी प्रभाव से उज्ज्वल भव्य बुद्धि से ही सज्जनों को जाना जा सकता है न कि बन्धु बुद्धि से ॥ ७९ ॥

उसका भाई केवल नाम से ही नहीं बल्कि अपने सच्चरित से भी अभिनव था ॥ ८०- ॥

कृष्णवाक्यमिति । यद्गीतम्—

'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽपि जायते ॥
अथवा योगिनामेव जायते धीमतां कुले।
एतद्धि दुर्लभतरं जन्म लोके यदीदृशम् ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
ततो भूयोऽपि यतते संशुद्धौ कुरुनन्दन ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सन् ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥
प्रसङ्गाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥' (६।४७) इति ।

हृदीति—विमर्शभुवि—इत्यर्थः । शक्तिः = सामर्थ्यम् । एष वर्गः संपूर्ण-तन्त्राधिगमाय आचार्यमभ्यर्थयते स्म—इति संबन्धः । अस्येति—वर्गस्य । यद्वेति—तदभ्यर्थनानवक्लृप्तिद्योतनाय पक्षान्तरनिर्देशः । तस्येति—मन्द्रस्य । मन्त्रीति—साधकोऽपीति ॥

सच्चरितकृतमेव अभिनवत्वं दर्शयति—

पीतेन विज्ञानरसेन यस्य
तत्रैव तृष्णा ववृधे निकामम् ॥ ८० ॥

कृष्ण वाक्य—जैसा कि गीता में कहा गया—

'योगभ्रष्ट (साधक) पवित्र एवं ऐश्वर्यवान् (पुरुषों) के घर उत्पन्न होता है, अथवा वह बुद्धिमान् योगियों के वंश में जन्म लेता है । जो इस प्रकार का जन्म है वह लोक में दुर्लभतर है । उस (घर) में वह पूर्वदेह वाले उस बुद्धिसंयोग को प्राप्त करता है । हे कुरुनन्दन ! वहाँ भी वह बार-बार सम्यक् चित्तशुद्धि के लिये प्रयास करता है । उसी पूर्वाभ्यास के कारण वह विवश होकर आकृष्ट किया जाता है और योग का जिज्ञासु होकर शब्दब्रह्म के स्तर को पार कर जाता है । प्रसङ्गवश यतमान (वह) योगी पाप से शुद्ध हो कर अनेक जन्मों (के प्रयास) से सम्यक् सिद्ध होकर परम गति को प्राप्त होता है ।' (६।४७)

हृदय में—विमर्श उत्पन्न होने वाले (हृदय मे) । शक्ति = सामर्थ्य । यह वर्ग—सम्पूर्ण तन्त्रज्ञान के लिये आचार्य से प्रार्थना किया—यह सम्बन्ध (= अन्वय) है । इसका = वर्ग का । अथवा—यह पक्षान्तर निर्देश—'उसकी प्रार्थना की' अनवक्लृप्ति को दिखलाने के लिये है । उसकी = मन्द्र की । मन्त्री—साधक भी ॥

सच्चरितकृत अभिनवत्व को दिखलाते हैं—

सोऽन्यश्च शांभवमरीचिचयप्रणश्य-
त्सङ्कोचहार्दनलिनीघटितोज्ज्वलश्रीः ।
तं लुम्पकः परिचचार समुद्यमेषु
साधुः समावहति हन्त करावलम्बम् ॥ ८१ ॥

इत्थं गृहे वत्सलिकावितीर्णे
स्थितः समाधाय मतिं बहूनि ।
पूर्वश्रुतान्याकलयन् स्वबुद्ध्या
शास्त्राणि तेभ्यः समवाप सारम् ॥ ८२ ॥

स तन्निबन्धं विदधे महार्थं
युक्त्यागमोदीरिततन्त्रतत्त्वम् ।
आलोकमासाद्य यदीयमेष
लोकः सुखं सञ्चरिता क्रियासु ॥ ८३ ॥

सन्तोऽनुगृह्णीत कृतिं तदीयां
गृह्णीत पूर्वं विधिरेष तावत् ।
ततोऽपि गृह्णातु भवन्मतिं सा
सद्योऽनुगृह्णातु च तत्त्वदृष्ट्या ॥ ८४ ॥

पीये गये विज्ञानरस के कारण उसी विषय में जिसकी तृष्णा यथेच्छ बढ़ती गयी ॥-८० ॥

वह (= अभिनवगुप्त) तथा शाम्भव मरीचिसमूह के द्वारा सङ्कोच नष्ट हो गया और हृदय कमल की उज्ज्वल शोभा उत्पन्न हो गयी जिसकी, ऐसे एक दूसरे व्यक्ति लुम्पक ने प्रयास में उनका साथ दिया (क्योंकि) सज्जन लोग हाथ का सहारा दे देते हैं ॥ ८१ ॥

इस प्रकार वत्सलता से परिपूर्ण (= वत्सलिका के) घर में रहकर चित्त को समाहित कर (इस अभिनवगुप्त ने) पूर्वश्रुत बहुत से शास्त्रों को अपनी बुद्धि से चिन्तन कर उनसे सार प्राप्त किया ॥ ८२ ॥

उसने महान् अर्थ वाले, युक्ति और आगम में कहे गये तन्त्र के तत्त्वों वाले इस निबन्ध की रचना की जिसके प्रकाश को पाकर लोक (= सांसारिक जन) (अपनी) क्रियायों में सुख प्राप्त करेगा ॥ ८३ ॥

शास्त्रकार अभिनवगुप्त कहते हैं कि हे सज्जनों ! उसकी कृति को अनुगृहीत करो । पहले (इसका) ग्रहण (= अध्ययन) करो (बाद में उसके अनुसार आचरण करो)। यही विधि है । इसके बाद (यह कृति) आपकी बुद्धि का ग्रहण करे (= आपकी समझ में आने लगे फिर सामान्य रूप से

ग्रन्थस्य च अस्य अन्वर्थाभिधत्वं प्रकाशयितुमाह—स तन्निबन्धमित्यादि । अनुग्रहग्रहणयोश्च व्यत्ययेन स्थितिं दर्शयितुं पूर्वमिति तदपीति च उक्तम् ॥८४॥

किं वा प्रादेशिकवैदुष्यशालिविद्वज्जनाभ्यर्थनया, शिव एव अत्र श्रोता भविष्यति—इत्याह—

इदमभिनवगुप्तप्रोम्भितं शास्त्रसारं
शिव निशमय तावत् सर्वतः श्रोत्रतन्त्रः ।
तव किल नुतिरेषा सा हि त्वद्रूपचर्चे-
त्यभिनवपरितुष्टो लोकमात्मीकुरुष्व ॥ ८५ ॥

हे परमेश्वर शिव ! त्वमिदं भवच्चरणचिन्तनलब्धप्रसिद्धिना अभिनवगुप्तेन सर्वविद्यासतत्त्वगर्भीकारात्मना प्रकर्षेण उम्भितम्, अत एव शास्त्राणां मध्ये सारं निशमय मे श्रोतासि—इत्यर्थः, यतस्त्वं सर्वतः श्रोत्रतन्त्रः—सर्वज्ञ इति यावत् । नहि असर्वज्ञस्य एतदवधारणेऽधिकार एव—इति भावः । न च एतदेव अत्र निमित्तम्—इत्याह—तव किल नुतिरेषा—इति । स्तोत्ररूपत्वं च अत्र न अस्तीति न संभावनीयम्—इत्याह—सा हि त्वद्रूपचर्चेति । सा नुतिर्हि तस्य तव नुत्यस्य रूपचर्चा पौनःपुन्येन स्वरूपपरामर्श इत्यर्थः । सैव च इह प्रतिपदं संविद-

---

अध्ययन करने के बाद आपकी बुद्धि) पुनः (इसे) तात्त्विक दृष्टि से गृहीत करे ॥ ८४ ॥

इस ग्रन्थ का अन्वर्थवाचकत्व प्रकाशित करने के लिये कहते हैं—उस निबन्ध को । अनुग्रहण और ग्रहण की विपरीत क्रम से स्थिति बतलाने के लिये—'पूर्वं' और 'ततोऽपि' कहा गया ॥ ८४ ॥

अथवा थोड़ी सी विद्वत्ता वाले विद्वज्जन से प्रार्थना करने से क्या लाभ? शिव ही यहाँ श्रोता हो जाँयेंगे—यह कहते हैं—

हे शिव ! अभिनवगुप्त के द्वारा उत्कृष्ट रूप से प्रस्तुत (इस) शास्त्रतत्त्व को सुनिये क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं । यह आपकी स्तुति है । यह (= स्तुति) आपके रूप की चर्चा है इसलिये (इस) सर्वतःनूतन (स्तुति) से परितुष्ट होकर (आप) संसार को आत्मसात् करें ॥ ८५ ॥

हे परमेश्वर शिव ! आपके चरणचिन्तन के द्वारा प्रसिद्धि को प्राप्त अभिनवगुप्त के द्वारा समस्त विद्यातत्त्व को आत्मसात् करने वाले प्रकर्ष के द्वारा उम्भित अत एव शास्त्रों के मध्य में तत्त्वभूत इसको आप सुनने वाले हो । क्योंकि आप सर्वतः श्रोत्रतन्त्र = सर्वज्ञ हैं । असर्वज्ञ को इसे सुनने का अधिकार नहीं है—यह भाव है । यही इसमें कारण नहीं है—यह कहते हैं—यह तुम्हारी स्तुति है । इसमें स्तोत्ररूपता नहीं है—ऐसी सम्भावना नहीं करनी चाहिये । यह कहते हैं—यह (स्तुति) तुम्हारे

द्वयात्मनः शिवस्य निरूपितेति । अभितः—समन्तात् नवे स्तवे नाथ मम अभिनवस्य परितुष्टः सन् निखिलं लोकमात्मीकुरुष्व प्रत्यभिज्ञातस्वात्मतया स्वस्वरूपैकरूपं संपादय येन सर्वस्यैव एतदधिगमाय अधिकारो भवेदिति शिवम् ॥

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके उपादेयभावादिनिरूपणं नाम एकोनत्रिंशमाह्निकम् ॥ ३७ ॥

एतत्सप्तत्रिंशं किलाह्निकं जयरथेन निरणायि।
आमृशतामियदन्तं सतामिदं सर्वथास्तु शिवम् ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते उपादेयभावादिनिरूपणं नाम सप्तत्रिंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ ३७ ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥
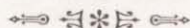
रूप की चर्चा है । वह नुति तुम्हारे उस स्तुत्य रूप की चर्चा है = पुनः पुनः स्वरूप का परामर्श है । संविदद्वयरूप शिव की वही (= रूपता) यहाँ प्रतिपद निरूपित है । हे नाथ ! अभितः = चारो ओर से नवीन स्तव के विषय में मुझ अभिनवगुप्त के प्रति परितुष्ट होते हुए समस्त लोक को आत्मरूप बनाओ = आत्मा की प्रत्यभिज्ञा के रूप में अपने स्वरूप के साथ एकरूप करो जिससे इसको पढ़ने में सबका अधिकार हो ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के सप्तत्रिंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३७ ॥

जयरथ ने इस सैंतीसवें आह्निक का निर्णय किया । यहाँ तक अध्ययन मनन करने वाले सज्जनों का सर्वथा मङ्गल हो ॥

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के सप्तत्रिंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३७ ॥

यदचकथदमुष्मिन् श्रीमदाचार्यवर्यो
बहुपरिकरवृन्दं सर्वशास्त्रोद्धृतं सत् ।
तदतुलपरियत्नेनैक्ष्य सञ्चिन्त्य सद्भि-
र्हृदयकमलकोशे धार्यमार्यैः शिवाय ॥ १ ॥

योऽधीती निखिलागमेषु पदविद्यो योगशास्त्रश्रमी
यो वाक्यार्थसमन्वये कृतरतिः श्रीप्रत्यभिज्ञामृते ।
यस्तर्कान्तरविश्रुतश्रुततया द्वैताद्वयज्ञानवित्
सोऽस्मिन् स्यादधिकारवान् कलकलप्रायं परेषां वचः ॥ २ ॥
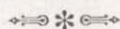
अथाचार्यजयरथवंशवर्णनम्

यः कर्तुं विश्वमेतत्प्रभवति निखिलं सर्ववित्त्वात् प्रणेता
सर्वेषामागमानामखिलभवभयोच्छेददायी दयालुः ।
तस्येन्द्राद्यर्चिताङ्घ्रेर्गुरुरचलसुतावल्लभस्यापि लोके
सर्वत्रामुत्र तावत्तुहिनगिरिरिति ख्यातिमान् पर्वतेन्द्रः ॥ १ ॥

श्रीमान् आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने अनेक शास्त्रों का उद्धरण देते हुए अनेक सिद्धान्तों से युक्त जो कुछ इस ग्रन्थ (= तन्त्रालोक) में कहा मैं (= जयरथ) ने अतुलनीय प्रयत्नों के द्वारा उस पर विचार और निरीक्षण किया । आर्य लोग भी अपने कल्याण के लिये (उसका निरीक्षण और चिन्तन कर) उसको अपने हृदयकमलकोश में धारण करे ॥ १ ॥

जिसने समस्त आगमशास्त्र का अध्ययन किया है, जो पद (= व्याकरण या कालाध्वा के वाचक मन्त्र वर्ण और पद) को जानता है, जिसने योगशास्त्र में श्रम किया है; जो वाक्यार्थ के समन्वय वाले प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में अनुरागवान् है, जो दूसरे तर्कों में विश्रुत (= प्रसिद्ध विद्वानों) से श्रवण कर द्वैताद्वैत शास्त्र का ज्ञानी है, वही इस तन्त्रालोक शास्त्र को पढ़ने का अधिकारी है । शेष लोगों का कथन केवल कोलाहल मात्र है ॥ २ ॥

आचार्य जयरथ के वंश का परिचय

जो इस विश्व की रचना करने में समर्थ हैं, सर्वज्ञ होने के कारण समस्त आगमों के रचयिता हैं; संसार के सम्पूर्ण भय का उच्छेदन करने वाले तथा दयालु हैं; इन्द्र आदि के द्वारा पूजितचरण वाले पार्वतीवल्लभ के गुरु पर्वतेन्द्र इस और उस लोक में सर्वत्र तुहिनगिरि (= हिमालय) के नाम से विख्यात हैं ॥ १ ॥

यद्वादिनामुत्तरदिङ्निवेशादिव श्रयन्ति प्रतिवादिवाचः ।
अनुत्तरत्वं तदनुत्तरर्द्धि श्रीशारदामण्डलमस्ति यत्र ॥ २ ॥

जामात्रेवामृतकरकलाक्लृप्तचूलावचूले-
नादिष्टं द्रागखिलवचसां मानभावं विदित्वा ।
दध्रे शैलः श्रितमधुमतीचन्द्रभागान्तरालं
सद्देशत्वाच्छिरसि निखिलैः संश्रितं दर्शनैर्यत् ॥ ३ ॥

बोधस्याप्यात्मभूतं परिकलितवती यद्विमर्शात्मतत्त्वं
मुख्यत्वेन स्तुतातः प्रभवति विजयेशेन पीठेश्वरेण ।
युक्ता बोधप्रधाना स्थितनिजमहसा शारदापीठदेवी
विद्यापीठे प्रथीयः प्रथितनिखिलवाग्यत्र काश्मीरनाम्नि ॥ ४ ॥

यन्मैरेयं कलयतितरां कस्य नेच्छास्पदत्वं
ज्ञानात्मत्वं प्रथयति परं शारदा यच्च देवी ।
यच्चाधत्ते पटिमघटनां सत्क्रियायां वितस्ता
तद्यत्रैतत् त्रिकमविकलं पोपुषीति प्रशस्तिम् ॥ ५ ॥

यहाँ शारदामण्डल नामक एक स्थान है जहाँ वैभव सबसे अधिक है । प्रतिवादियों के उत्तर दिशा में निवेश के कारण मानो यहाँ प्रतिपक्षी लोगों की वाणियाँ उत्तर नहीं दे पातीं ॥ २ ॥

हिमालय के जामाता, जो कि अमृतकला वाले चन्द्रमा को अपनी चूडा पर धारण किये हुए हैं, के द्वारा दिये गये आदेश को समस्त वाणियों में उत्कृष्टतम मान कर इस पर्वत हिमालय ने मधुमती और चन्द्रभागा नदियों के मध्य में स्थित इस उत्तम देश को, जिसे कि सभी दर्शनों और दार्शनिकों ने आश्रय बनाया है, अपने शिर (= शिखर) पर धारण किया है ॥ ३ ॥

परिज्ञातबोध को भी आत्मभूत जो विमर्श है उसका भी आत्मभूत तत्त्व श्रीशारदादेवी शारदापीठ के अधीश्वर विजयेश नामक आचार्य के द्वारा स्तुत हैं । बोधप्रधाना वह शारदा देवी जो कि शारदापीठ की देवी थीं उस विद्यापीठ में अपने विस्तृत तेज के साथ स्थित थीं । यह पीठ कश्मीर में स्थित था जहाँ उस देवी का समस्त उपदेशवचन फैला हुआ था ॥ ४ ॥

जिस शारदा के उपदेशरूपी मैरेय (= मादक सुरा) को पीने की किसको इच्छा नहीं होती और इच्छा से उत्पन्न जिस ज्ञान को शारदा देवी वहाँ फैलाती रहती थीं, तथा जिस ज्ञान को उत्तम क्रिया के रूप में वितस्ता (= व्यास) नदी निरन्तर कुशलता के साथ धारण कर रही है, वह (इच्छा, ज्ञान, क्रिया का अथवा शारदा देवी, शारदापीठ और वितस्ता का) त्रिक उस कश्मीर में निरन्तर अत्यधिक प्रशंसा को प्राप्त हो रहा है ॥ ५ ॥

तथ्याभिख्यं प्रवरपुरमित्यस्ति तस्मिन् सदेहः
कर्ता यस्य प्रवरनृपतिः स्वाभिधाङ्केश्वराग्रात् ।
लेखादेशाद्गणवरसमासादितात् प्राप्तसिद्धिः
शैवं धामामरगृहशिरोभागभेदादवाप ॥ ६ ॥

श्रीसोमानन्दपाद(नाथ)प्रभृतिगुरुवरादिष्टसन्नीतिमार्गो
लब्ध्वा यत्रैव सम्यक्पटिमनि घटनामीश्वराद्वैतवादः ।
कश्मीरेभ्यः प्रसृत्य प्रकटपरिमलो रञ्जयन् सर्वदेशान्
देशेऽन्यस्मिन्नदृष्टो घुसृणविसरवत्सर्ववन्द्यत्वमाप ॥ ७ ॥

उद्भूषयन् पुरमधस्कृतधर्मसूनु-
राज्यस्थितिः सदसदर्थविवेचनाभिः ।
श्रीमान् यशस्करनृपः सचिवं समस्त-
धर्म्यस्थितिष्वकृत पूर्णमनोरथाख्यम् ॥ ८ ॥

तत्सूनुरुत्पलः पुत्रं प्रकाशरथमासदत् ।
यद्यशःकौमुदी विश्वं प्रकाशैकात्म्यमानयत् ॥ ९ ॥

धर्मोत्तमसूर्यमनोरथान् स पुत्रानजीजनच्चतुरः ।
सकलजनहृदयदयितानर्थानैशः प्रसाद इव ॥ १० ॥

प्रवरपुर की जिस प्रकार की शोभा थी—प्रवरसेन नामक राजा जो कि उस नगर के निर्माणकर्त्ता थे, (उसी प्रकार सुशोभित होकर) उसमें निवास करते थे । उन्होंने स्वाभिधाङ्केश्वर (= प्रवरचन्द्रेश्वर) नामक गणवर (= सिद्धपुरुष) से सिद्धि प्राप्त की थी । परिणामस्वरूप (उन्होंने) स्वर्ग के शीर्ष पर वर्त्तमान शैवधाम को प्राप्त किया था ॥ ६ ॥

इसी कश्मीर में ईश्वराद्वैतवाद (= शिवाद्वयवाद) श्रीसोमानन्दनाथ आदि गुरुवर्यों के द्वारा सम्यक्तया अग्रसारित होकर पूर्ण प्रौढि को प्राप्त हुआ । जब इसका परिमल (= सुगन्ध) प्रकट हो गया तब केशर के गन्ध के समान अदृष्ट रूप से अन्य देशों में फैल कर यह सर्ववन्द्यता को प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

सत् एवं असत् अर्थ के विवेक के द्वारा धर्मपुत्र (= युधिष्ठिर) के राज्य की स्थिति को तिरस्कृत करने वाले श्रीमान् राजा यशस्कर ने पूर्णमनोरथ नामक व्यक्ति को सचिव नियुक्त किया ॥ ८ ॥

उनके पुत्र उत्पल थे । उत्पल के पुत्र प्रकाशरथ थे, जिनकी कीर्त्ति विश्व भर में प्रकाश के समान फैली हुई थी ॥ ९ ॥

प्रकाश रथ ने धर्मरथ, उत्तमरथ, सूर्यरथ और मनोरथ नामक चार पुत्रों को उत्पन्न किया । वे सब लोगों के हृदय को आनन्दित करते थे ॥ १० ॥

हरिरिव भुजैश्चतुर्भिः सूर्यरथः पप्रथे सुतैस्तेषु ।
लक्ष्म्यालिङ्गननिपुणैरमृतविशिष्टोत्पलज्येष्ठैः ॥ ११ ॥

शालास्थाने वर्तकारे मठौ सुकृतकर्मठौ ।
तेषूत्पलामृतरथौ चक्राते द्विजसंश्रयौ ॥ १२ ॥

त्रैगर्तोर्वीनिवेशा गजमदसलिलैर्लम्बिता म्लानिमानं
तत्रत्यक्ष्मापकीर्तिप्रसरमलिनतां यस्य संसूचयन्ति ।
तस्यानन्तक्षितीन्दोर्बलबहलदरद्राजविद्रावणस्य
प्रापत् साचिव्यमाप्योत्पलरथ उचितां पद्धतिं मुक्तिमार्गे ॥ १३ ॥

नप्ता यद्गञ्जपतेर्लक्ष्मीदत्तस्य कमलदत्तसुतः ।
श्रीमान् विभूतिदत्तो व्यधादमुं मातुलः शिष्यम् ॥ १४ ॥

अध्याप्याखिलसंहिता अपि सुतस्नेहान्निषिक्ते मृते
पुत्रे ज्यायसि देवतापरिहृतासेके दिनैः सप्तभिः ।
वैरस्यान्न कनीयसे स यददाद्बालाय सेकं ततो
देव्या स्वप्नविबोधितोऽस्य तनयस्यैतन्मुखेनास्त्विति ॥ १५ ॥

जैसे भगवान् विष्णु चार भुजा के साथ शोभित होते हैं वैसे ही सूर्यरथ ने अमृतरथ, विशिष्टरथ, उत्पलरथ और ज्येष्ठरथ नामक चारे पुत्रों से विस्तृत (= शोभित) हुये । ये (पुत्र) धनार्जन में अत्यन्त कुशल थे ॥ ११ ॥

शाला नामक स्थान में स्थित वर्त्तकार मठ में पुण्यशाली एवं कर्मठ उत्पलरथ और अमृतरथ ब्राह्मणों के आश्रम में निवास करते थे ॥ १२ ॥

त्रिगर्त्त राज्य के राजा के साथ अनन्तेश्वर का युद्ध हुआ । जिसमें त्रिगर्त्त नरेश की सेना हाथियों के मद जल से युक्त थी । उसे अनन्तेश्वर के सेनाबल ने मलिन कर दिया । उस अनन्तेश्वर के सचिव पद पर भी उत्पल ही नियुक्त हुए । राजकार्य देखते हुए भी वे मुक्तिमार्ग (= शैवी साधना) में निरन्तर लगे रहते थे ॥ १३ ॥

गञ्जपति (= कोषाधिकारी) लक्ष्मीदत्त का नाती विभूतिदत्त हुआ जो कमलदत्त (= उत्पलदत्त) का पुत्र था । इस प्रकार उत्पलरथ विभूतिदत्त के मामा हुये । उन्होंने विभूतिदत्त को शिष्य बनाया ॥ १४ ॥

उत्पलरथ ने जब सुतनिर्विशिष्ट विभूतिदत्त को समस्त शैवीसंहिता का अध्यापन करा कर महापण्डित बना दिया तब देवताओं के द्वारा सात दिनों के अन्दर उस विभूतिदत्त के जीवन का आसेक (= रस) चूस लिये जाने पर वह (= विभूतिदत्त) मर गया । उसके छोटे भाई चक्रदत्त को वैरस्य (= खराब सम्बन्ध) के कारण जब निःसन्तान उत्पलरथ ने पुत्र नहीं बनाया अर्थात् गोद नहीं लिया तो

यन्मेलापवाप्य कौलिकमहाज्ञानानुविद्धं महः
शिष्यायैकतमाय देयमपुनर्भावार्थमासादितम् ।
श्रीचक्राय ददौ द्विजः स भगवानुर्वीधरोऽस्मिन्नसौ
श्रीचक्रात् स्वपितृक्रमाप्तमखिलं तत्साधिकारं व्यधात्॥ १६ ॥

अथ स परमधामैकात्म्यमाप्ते गुरौ स्वे
निजगृहमुपनिन्ये तत्सुतं विश्वदत्तम् ।
अकृत सुकृतिमुख्यं संहितापारगं च
प्रथितगुणममुं चाजिग्रहत्स्वाधिकारम् ॥ १७ ॥

अतिगहनाशयसरसानवाप शिवशक्रसम्मनन्दिरथान् ।
जलधीनिवैष चतुरो बहुगुणरत्नाकरान् पुत्रान् ॥ १९ ॥

व्यवहारे शर्वभक्तौ चैषां प्रागल्भ्यमीयुषाम् ।
सर्वार्थसेविनां मोक्षसेवां शिवरथोऽग्रहीत् ॥ २० ॥

पित्राहृत्य नृपद्मेन पारिपाल्यं हि सोऽर्पितम् ।
त्यक्त्वार्थदोषविदभूदरागो निष्परिग्रहः ॥ २१ ॥

देवी ने स्वप्न में उत्पलरथ को कहा कि (वह) इस उत्पलदत्त के पुत्र चक्रदत्त को ही गोद ले ले ॥ १५ ॥

इस चक्रदत्त के साथ मिलन को प्राप्त कर उर्वीधर (= जमींदार) भगवान् उत्पलरथ ने मोक्ष का जो ज्ञान प्राप्त किया था उस लौकिक महाज्ञानानुबिद्ध तेज (= अलौकिक कौल ज्ञान) को इस एकतम शिष्य को दिया । और श्रीचक्र से अनुमति प्राप्त कर अपनी पितृपरम्परा से प्राप्त धन सम्पत्ति को भी चक्रदत्त को दे दिया ॥ १६ ॥

इसके बाद उत्पलरथ अपने गुरु लक्ष्मीदत्त के शिवलोक जाने के बाद उनके पुत्र विश्वदत्त को अपने घर ले आये । उसे शैवीसंहिता का पण्डित बनाकर यशस्वी होने के बाद उसको उसका सारा अधिकार दे दिया ॥ १७ ॥

श्रीकनकदत्त के द्वारा बनाये गये मन्दिर के सामने मठ बनवा कर उसको धनधान्य से पूरित कर विश्वदत्त को रहने के लिये दे दिया ॥ १८ ॥

अपने इस गुरुभक्ति एवं उच्च त्याग के कारण उत्पलरथ ने समुद्र के समान अत्यन्त गंभीर ज्ञान वाले अनेक गुणरूपी रत्नों के आकारभूत चार पुत्रों को उत्पन्न किया जिनके नाम—शिवरथ, शक्ररथ, सम्मरथ और नन्दिरथ थे ॥ १९ ॥

व्यवहारकुशल, शिवभक्त एवं सर्वार्थसेवी इन चारों में से शिवरथ ने मोक्षमार्ग को चुना ॥ २० ॥

अधिकारं ग्राहितः स विद्वानुच्चलभूभुजा ।
कृत्वा धर्म्यां स्थितिं कञ्चित्कालं तज्याज निःस्पृहः ॥ २२ ॥

भोगापवर्गयोरिव शिवानुगगाद् बभूव सम्मरथात् ।
गुणरथदेवरथाभिधयोर्जनिरखिलस्पृहास्पदयोः ॥ २३ ॥

निर्दग्धमनलदग्धे नगरेऽपि सत्पथप्रथितः ।
अचलश्रीमठमकरोदभिनवमनयोर्गुणरथाख्यः ॥ २४ ॥

लोकद्वयोचितौ गुङ्गरथलङ्करथाभिधौ ।
यशोविवेकौ पाण्डित्यमेवासूत सुतौ च सः ॥ २५ ॥

एकं भाव्यद्वितीयत्वप्रथायाः संस्तवादिव ।
सूत्वा सुतं गुङ्गरथो युवैव प्रमयं ययौ ॥ २६ ॥

यां हव्यकव्यविधिबन्धधियं सिताच्छ-
निर्यन्नखच्छविमिषात्पदधूलिलुब्धा ।
संसेवते स्म सुरसिन्धुरिवावदात-
चारित्रसञ्चितमहासुकृतप्रपञ्चाम् ॥ २७ ॥

पुरुषों में कमल के समान उत्कृष्ट इस शिवरथ ने पिता से प्राप्त धन को भाइयों को देकर विराग-सम्पन्न एवं निःस्पृह-निर्धन होना स्वीकार किया ॥ २१ ॥

इनके निष्परिग्रह भाव को देखकर राजा उत्पल ने अपने राज्याधिकार से इनको युक्त कर दिया । राज्य में धार्मिक स्थिति बनाकर निःस्पृह शिवरथ ने उसका भी परित्याग कर दिया ॥ २२ ॥

शिवानुगामी सम्मरथ से दो पुत्र हुए—गुणरथ और देवरथ । ये दोनों साक्षात् भोग एवं मोक्ष के समान थे । (भोग एवं मोक्ष दोनों के विषय में) इनकी पूर्ण इच्छा थी ॥ २३ ॥

गुणरथ जिस नगर में रहता था वह जल गया । किन्तु सन्मार्ग पर चलने वाला गुणरथ उस अग्निकाण्ड से विचलित नहीं हुआ । उसने अचलश्री नामक एक मठ का निर्माण कराया ॥ २४ ॥

गुणरथ ने गुङ्गरथ और लङ्करथ नामक दो पुत्रों को उत्पन्न किया जो इह लोक परलोक दोनों के लिये उच्च विचार वाले थे साथ ही यशस्वी और पण्डित भी थे ॥ २५ ॥

भावी अर्थात् 'होनी' की प्रथा अलौकिक होने के कारण गुङ्गरथ ने एक पुत्र उत्पन्न किया और परलोक चले गये ॥ २६ ॥

उस पुत्र का नाम शृङ्गाररथ था । इसकी विधवा माता का नाम सत्त्वा था ।

तया स शृङ्गाररथाभिधानो
बालो विवृद्धिं गमितो जनन्या ।
सत्त्वाख्यया ख्यातगुणः क्रमेण
श्रीराजराजः सचिवं व्यधाद्यम् ॥ २८ ॥

कल्पान्तोष्णकरद्युतावपि परं यस्य प्रतापानले
म्लायन्माल्यनिधिर्बभूव बत न स्वर्गाङ्गनानां गणः ।
चन्द्रद्रोहियदीयकीर्तिविसरव्यावर्णनाप्रस्रव-
त्पीयूषासमगीतपूरितमहाशीतोपचारक्रमः ॥ २९ ॥

निखिलगुणिनां रोरद्रोग्धा गुणान्तरवित्तया
व्यधित जनतां सर्वां यश्चाधिकं गुणरागिणीम् ।
इह मम गतस्तन्त्रालोके विवेचयतो यतो
निरवधिमभिप्रेतोत्साहः स एव निमित्तताम् ॥ ३० ॥

यस्य त्यागे महिमनि कलास्वाभिजात्ये क्षमायां
गम्भीरत्वे गुणिगणकथास्वन्तरज्ञातृतायाम् ।
शौर्ये कान्तौ किमिह बहुना नास्ति नासीन्न भावी
कोऽपि क्वापि क्षितिपरिवृढः साम्यसंभावनाभूः ॥ ३१ ॥

वह अपने पति के द्वारा प्रचालित परंम्परा का निर्वाह करती थी । देवता और पितरों को हव्य कव्य देकर प्रसन्न रखती थी । वह गङ्गा के समान निर्मल चरित्र वाली थी ॥ २७ ॥

सत्त्वा ने शृङ्गाररथ को पालपोष कर बड़ा किया । उसकी गुणप्रसिद्धि होने पर कश्मीरनरेश राजराज ने उसे अपना मन्त्री बना लिया ॥ २८ ॥

इस शृङ्गाररथ की प्रतापाग्नि कल्पान्त के सूर्य के समान थी जिसकी उष्मा से स्वर्ग की अप्सरायें मलिन पुष्पमालाओं की भाँति निस्तेज हो जाती थीं । दूसरी तरफ चन्द्रमा को भी मात देने वाली इस व्यक्ति की कीर्त्ति का गान उन अप्सराओं का शीतोपचार करता था ॥ २९ ॥

समस्त गुणीजनों के 'रु' (= कीर्त्ति) के अद्रोही (= प्रशंसक) जिसने दूसरों के गुणों का ज्ञान रखने के कारण समस्त जनता को और अधिक गुणानुरागिणी बना दिया। मेरे (= जयरथ के) तन्त्रालोकविवेक की रचना के समय जो असीम प्रेम और उत्साह उनके द्वारा दिखाया गया वहीं इस रचना का कारण बना ॥ ३० ॥

त्याग, महिमा, कला, आभिजात्य, क्षमा, गम्भीरता, गुणी लोगों की प्रशंसा, शूरता, सुन्दरता आदि में जिसके समान न तो कोई इस धरती पर हुआ न है और न होगा ॥ ३१ ॥

तस्यात्मनो मन इवान्यमुखार्थलब्धि-
ष्वासाद्य साधकतमत्वमरोधचारम्।
साक्षाद्बभार विषयेषु स किञ्च लेद-
र्यादिष्वनन्यत्रिषयेष्वपि भूमिभर्तुः ॥ ३२ ॥

सामन्तसंततिसमाश्रितसर्वमौल-
पादातशस्त्रिनिचयेऽप्यधिकारमाप्य।
सर्वाधिकारिणि पदे स विभोः सहायः
सेनाभटान् पृथगपि प्रथयाञ्चकार॥ ३३ ॥

तस्य सर्वजनतोपकारिणः
पुष्णतो गुणिगणान् धनर्द्धिभिः ।
साधुसाध्वसमुषः कुलोचिता
शर्वभक्तिरतिवल्लभाभवत् ॥ ३४ ॥

श्रीविश्वदत्तपौत्रत्रिभुवनदत्तात्मजः कुलक्रमतः ।
श्रीसुभटदत्त आसीदस्य गुरुर्यो ममाप्यकृत दीक्षाम् ॥ ३५ ॥

अप्यस्य राजतन्त्रे चिन्तयतो राजतन्त्रमास्त गुरुः ।
दाशीराजानकजन्मा श्रीशृङ्गारो ममापि परमगुरुः ॥ ३६ ॥

सावद्यां नवनिर्मितिमालोच्य देशकालदौरात्म्यात् ।
पञ्च महादेवाद्रौ जीर्णोद्धारान् व्यधत्त सुधीः ॥ ३७ ॥

यह शृङ्गाररथ कश्मीरनरेश के मुख्यविश्वनीयता एवं सर्वत्र अप्रतिहत प्रवेश पाकर लेदरी आदि मण्डलों में भी साक्षात् भार का वहन किया ॥ ३२ ॥

सामन्तों की शिरमौरता को प्राप्त कर इन्होंने पैदल एवं शस्त्रवाहिनी सेना में भी विशिष्ट अधिकार प्राप्त किया । समस्त अधिकारी पदों पर राजा के सहायक होते हुए भी इस शृङ्गाररथ ने सेना में सिपाहियों की भर्त्ती एवं पदोन्नति की ॥ ३३ ॥

शृङ्गाररथ गुणी जनों को धनसम्पत्ति देकर पुष्ट करते और जनता को सन्तुष्ट रखते थे । सज्जनों के भय को दूर करने वाले इस व्यक्ति को शिवभक्ति भी बहुत प्रिय थी ॥ ३४ ॥

श्रीविश्वदत्त के पौत्र एवं त्रिभुवनदत्त के पुत्र श्री सुभटदत्त इस शृङ्गाररथ के गुरु थे । उन्होंने ही मुझे भी दीक्षा दी थी ॥ ३५ ॥

राजकार्य में राजतन्त्र की चिन्ता करने वाले दाशीराजानकजन्मा श्रीशृङ्गाररथ इस कश्मीरनरेश के तो गुरु थे ही मेरे भी ये परमगुरु थे ॥ ३६ ॥

जयरथजयद्रथाख्यौ सकलजनानन्दकौ समगुणर्द्धी ।
अमृतशशिनाविवाब्धेरस्मात्कमलाश्रयादुदितौ ॥ ३८ ॥

व्यधुस्तन्त्रालोके किल सुभटपादा विवरणं
यदर्थं यश्चैभ्यो निखिलशिवशास्त्रार्थविदभूत्।
शिवाद्वैतज्ञप्तिप्रकटितमहानन्दविदितं
गुरुं श्रीकल्याणाभिधममुमवाप्यास्तरजसम् ॥ ३९ ॥

अधिगतपदविद्यस्त्रीन्मुनीन्योऽधिशेते
प्रथयति च लघुत्वं जैमिनेर्वाक्यबोधे ।
निखिलनयपथेषु प्राप यश्चाधिराज्यं
त्रितयमपि कथानां यत्र पर्याप्तिमेति ॥ ४० ॥

तस्माच्छ्रीसङ्गधरादवाप्तविद्यः कृती जयरथाख्यः ।
ज्येष्ठोऽनयोरकार्षीत्तन्त्रालोके विवेकमिमम् ॥ ४१ ॥

विद्यास्थानैरशेषैरपि परिचयतो दुर्गमे शैवशास्त्रे
स्रोतोभिन्नागमार्थप्रकटनविकटे नैव कश्चित्प्रगल्भः ।

देश और काल के दुष्टप्रभाव के कारण नवीन निर्माण को सावद्य अर्थात् दुर्दशाग्रस्त देखकर इन्होंने महादेव पर्वत पर पाँच मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया ॥ ३७ ॥

इस कमलाश्रय (= लक्ष्मी के आश्रयभूत क्षीरसागर अथवा कमला नामक स्त्री सम्भवत: जयरथ की माता के आश्रय) से जयरथ और जयद्रथ नामक दो पुत्र पैदा हुए। ये समुद्र से उत्पन्न अमृत और चन्द्रमा की भाँति समस्त लोगों के आनन्ददायक थे । इनके गुण और वैभव समान थे ॥ ३८ ॥

श्रीसुभटपाद ने श्रीतन्त्रालोक का सम्पूर्ण विवरण उपलब्ध कराया । इससे तथा शिवाद्वैत के ज्ञान से महानन्द को प्राप्त करने वाले निर्मल श्रीकल्याण नामक गुरु को प्राप्त कर यह (= जयरथ) सम्पूर्ण शिवशास्त्र का ज्ञाता हो गया ॥ ३९ ॥

श्रीसंगधर नामक गुरु व्याकरण शास्त्र का ज्ञान कर तीन मुनियो (= पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि) से बढ़कर हो गये थे । मीमांसा शास्त्र में उन्होंने (विद्वानों को) लघु बना दिया था । समस्त न्याय शास्त्रों पर उनका स्वामित्व था । इस प्रकार व्याकरण मीमांसा एवं न्याय इन तीनों की चर्चा की ये अन्तिम सीमा थे ॥ ४० ॥

कृतज्ञ जयरथ ने इन्हीं संगधर से विद्या प्राप्त की थी । दोनों भाइयों में ज्येष्ठ जयरथ ने तन्त्रालोक की विवेक टीका लिखी ॥ ४१ ॥

समस्त विद्या स्थानों से परिचय प्राप्त कराने वाले तथा भिन्न-भिन्न परम्परा वाले

तन्त्रालोकेऽत्र यस्मात् स्खलितमपि महत्कुत्रचित्कुत्रचिच्चेत्
स्यान्नूनं ते हि तस्मान्मम न विमुखतां हन्त सन्तः प्रयान्ति ॥ ४२ ॥

सत्सु प्रार्थनयानया न किमिह तेषां प्रवृत्तिः स्वतो
दुर्जातिष्वपि चार्थिता अपि यतः कुर्युः प्रवृत्तिं न ते ।
सर्वाकारमिति प्ररोहति मनो न प्रार्थनायां यदि
स्वात्मन्येव तदास्महे परमुखप्रेक्षित्वदैन्येन किम् ॥ ४३ ॥

हंहो दैव सदैव मां प्रति कथङ्कारं पराधीनता-
मायातोऽस्यधुना प्रसीद भगवन्नेकं वचः श्रूयताम् ।
सद्यः कञ्चन तज्ज्ञमेकमपि तं कुर्याः कृतिं मामकी-
मेतां यः प्रमदोदितासु निभृतश्रोत्रं क्षणं श्रोष्यति ॥ ४४ ॥

वाचस्तत्त्वार्थगर्भाः श्रवसि कृतवतो वल्लकीक्वाणहृद्या
नित्याभ्यासेन सम्यक्परिणतवयसा चिन्तयासेव्यमानान् ।
आश्लिष्यन्ती नवोढा निबिडतरमियं भावना लम्भयिष्य-
त्यानन्दास्त्रुप्रवाहामलमुखकमलान् सांप्रतं निर्वृतिं नः ॥ ४५ ॥

आगमशास्त्र के रहस्य को प्रकट करने में दुर्गम शैवशास्त्र के विषय में कोई प्रगल्भ (= सर्वथा निष्णात) नहीं है । इस तन्त्रालोक की व्याख्या करते समय मुझसे भी कोई बड़ी भूल हो सकती है । विश्वास है कि महापुरुष लोग मुझसे विमुख नहीं होंगे ॥ ४२ ॥

(इस ग्रन्थों के अध्ययनार्थ) सज्जनों से प्रार्थना करने से क्या लाभ, वे तो स्वयं ऐसे शास्त्रों के अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं । दुर्जनों से भी प्रार्थना व्यर्थ है क्योंकि वे इसके अध्ययन में प्रवृत्ति नहीं बनायेंगे । इस प्रकार यदि मेरा सर्वाकार मन प्रार्थना के लिये उत्सुक नहीं हो रहा है तो हारकर मैं अपने में ही शान्त भाव से स्थित हो रहा हूँ । परमुखापेक्षारूप दीनता से क्या लाभ ? ॥ ४३ ॥

हे दैव ! बड़े दुःख के साथ मैं पूछ रहा हूँ कि आप मेरे विषय में क्यों सदा पराधीन दिखलायी पड़ते हो । भगवन् ! अब प्रसन्न हो जाओ और मेरी एक बात सुन लो । तत्काल किसी एक ऐसे पुरुष को मेरे सामने उपस्थापित करो जो (प्रमदा के वचन के समान) मेरी प्रमद (= शिवसमावेशपूर्णआनन्ददायिनी) उक्ति के प्रति कान लगा कर इसको सुन ले ॥ ४४ ॥

तात्त्विक अर्थ से परिपूर्ण हमारी वाणी वीणा के झंकार की भाँति कानों को आनन्द देने वाली है । यह आनन्द परिपक्व अवस्था वाले उन लोगों को मिलता है जो इसका चिन्तन के साथ सेवन करते हैं । यह नवीन उत्पन्न भावना नवोढा अर्थात् नयी ब्याही स्त्री के समान जब आलिंगन करती है तब आनन्दपूर्ण अश्रु के

निरस्तः संदेहः शममुपगता संसृतिरुजा
विवेकः सोत्सेकः सपदि हृदि गाढं समुदितः ।
अतः संप्राप्तोऽहं निरुपधिचिदद्वैतमयता-
मसामान्यामन्यैः किमिव तदिदानीं व्यवसितैः ॥ ४६ ॥

पदे वाक्ये माने निखिलशिवशास्त्रोपनिषदि
प्रतिष्ठां यातोऽहं यदपि निरवद्यं जयरथः ।
तथाप्यस्यामङ्ग क्वचन भुवि नास्ति त्रिकदृशि
क्रमार्थे वा मत्तः सपदि कुशलः कश्चिदपरः ॥ ४७ ॥

वन्दे गुरुं शिवफलार्थिषु कल्पवृक्षं भेदेन्धनैकदहनं शिवमार्गदीपम् ।
शम्भुं जटाग्रकृतभूषणचन्द्रबिम्बं शैवोदधेर्वसुफलप्रदपोतमेतम् ॥

इति शिवम् ॥

॥ इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यजयरथवंशवर्णनम् ॥

प्रवाह से मुखकमल को निर्मल करती हुई परम आनन्द को प्राप्त कराती है ॥४५॥

मेरा सन्देह निरस्त हो गया, संसाररूपी रोग शान्त हो गया । उत्साहपूर्ण विवेक शीघ्र ही हृदय में प्रगाढ़रूप से उत्पन्न हो गया । इस प्रकार मैं असाधारण उपाधिरहित चिदद्वयता को प्राप्त हो गया हूँ । अब अन्य कार्य करने से क्या लाभ ? ॥ ४६ ॥

व्याकरण, न्याय, मीमांसा, समस्त शैवशास्त्रोपनिषद् में निरवद्य (= निन्दारहित) मैं जयरथ प्रतिष्ठा को प्राप्त हो गया हूँ । इस त्रिकदर्शन, क्रमशास्त्र अथवा कौलमार्ग में मुझसे बढ़कर इस समय इस धरती पर कोई नहीं है ॥ ४७ ॥

मैं उस गुरु (शिव) की वन्दना करता हूँ जो शिवसमावेश चाहनेवालों के लिये कल्पवृक्ष हैं; भेदरूपी इन्धन को जलाने वाले हैं; शिवमार्ग के दीपक हैं; जरा के अग्रभाग में चन्द्रार्धरूपी भूषण धारण किये हैं तथा शैवागम रूपी समुद्र से रत्नरूपी फल देने वाले तथा जहाज के समान है ॥

खशरगगननेत्रे वैक्रमे पूर्णिमायां
सितदलगतचन्द्रे माघमासे च सौरौ ।
अभिनवकृततन्त्रालोकग्रन्थं सटीक-
मनयत हि समाप्तिं 'श्याम' नामा कृतीद्धः ॥ १ ॥

यच्चात्रास्त्यसमीहितं परमतेऽनावश्यकं खेदकृत्
तत्सच्छास्त्रनिषेवणैकनिशितप्राज्ञेखज्ञायताम् ।
उद्दामोत्कलिकापरागपरमामोदार्थिनः कानने
किं वाञ्छन्ति कठोरकण्टकव्यथां तत्र स्थितां षट्पदाः ॥ २ ॥
अस्माकं गुरुवर्य! युष्मत्कृपासंप्राप्तदीक्षाविधि-
स्तन्त्रालोकविशालसिन्धुतरणे सत्यं ह्यभूवं क्षमः ।
ग्रन्थोऽसौ मधुवर्षित्वच्चरणयोः सप्रश्रयं चार्प्यते
प्रीत्यैनं निजकल्मषौघशमनं मोक्षप्रदं स्वीकुरु ॥ ३ ॥
शास्त्राण्यभ्यसितानि नित्यविधयः सौख्येन सम्पादिताः
काशीहिन्दुसरस्वतीसदनसच्छायापनीतः श्रमः ।
सम्प्रत्यग्निमुखी[1] जगत्प्रसविनी नित्यं मया सेव्यते
सर्वं चित्रवदाशु याति सततं वृद्धिं गतेनायुषा ॥ ४ ॥

॥ इस प्रकार प्रो० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत श्रीमहामाहेश्वरआचार्यजयरथ के वंशवर्णन की 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥

१. अग्निमुखी = गायत्री ।

परिशिष्ट १

तन्त्रालोकविवेकोद्धृतप्रमाणवाक्याद्यनुक्रमणी

उद्धरण	आह्निक श्लोक सं.	आकर ग्रन्थ
अंशकं षड्विधं देवि	४.१९	स्व.तं. (स्वच्छन्दतन्त्रे) ८.१
अकस्मात्सर्वशास्त्रार्थ	१३.२१६	
अकारः सर्ववर्णानाम्	३.११३	
अकारश्च हकारश्च	३.६७	
अकारश्च हकारश्च	३.१३५	
अकारश्च हकारश्च	३.२००	
अकारस्य शिरो रौद्री	३.६७	
अकाराज्जात आकार	३.२२२	सिद्धयोगीश्वरीमते (?)
अकुलस्यास्य देवस्य	३.१४३	
अकुलात्पञ्चशक्त्यात्मा	३.१५२	
अकृतं च कृतं चैव	८.२४०	स्व.तं. १०.९८१
अकृतार्थो नरस्तावद्	४.१३६	
अकृत्वा मानसं यागं	१५.३६८	स्व.तं. ३.३२
अक्षरं ब्रह्म परमं	३.२२७	गीतायां ८.३
अक्के चेन्मधु विन्देत	११.३९	
अक्के चेन्मधु विन्देत	१३.९१	
अक्के चेन्मधु विन्देत	१३.१९३	
अगस्त्यशिखरं तत्र	८.८६	स्व.तं. १०.२६२
अग्निरुद्रो हुताशी च	८.१६८	स्व.तं. १०.६२५
अग्नीध्रस्तु समाख्यातो	८.१०४	स्व.तं. १०.२९०
अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग्	३.२३१	म.स्मृ. (मनुस्मृतौ) ३.७६
अघोराद्यष्टकं पूज्यं	१५.५६३	
अघोराद्यास्तथाष्टारे	३३.१७	मा.वि.(मालिनीविजयोत्तरे) २०.५३
अघोरान्तं न्यसेदादौ	३०.२८	मा.वि. ३.५१
अघोरा परमाघोरा	३३.१६	श्रीत्रिशिरोभैरवे
अघोराष्टशतं जप्त्वा	२८.४१९	

परां त्वेकाक्षरां मध्ये	३.२५४	श्रीत्रिकसारे
परापराङ्गसंभूता योगिन्यो	१६.२२४	मा.वि. ३.६०
परापराङ्गसंभूता योगिन्यष्टौ	३०.२८	मा.वि. ३.६०
परावस्था हि भासनम्	१.२९	
पराशक्तिस्तु सावित्र्या इच्छया	३०.२८	
परासम्पुटमध्यस्था मालिनीं	२९.२१	
परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य	९.१५२	तन्त्रा. ३.१०१
परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य	१३.१८९	तन्त्रा. ३.१०१
परेह शिवसमता	४.७६	
परो महानन्तरालो दिव्यो	१.२७३	
पर्वतान्ते पुनस्त्रिंशत्त्रयो	८.११७	
पवित्रो नाम नागेन्द्रो	२८.१२१	
पशुपक्षिमृगाश्चैव तथान्ये	८०१२०	स्व.तं. १०.३५३
पशुर्नित्यो ह्यमूर्तो ज्ञोऽनिर्गुणो	९.१४६	
पशुर्वै नीयमानः स मृत्युं	१६.५९	
पशूंश्च प्रोक्षयेद् बहून	१६.६२	
पश्चात् स्रुचं त्वाज्ययुतां	२१.४२	
पश्चिमं विवृतं कार्यम्	३१.५८	
पश्चिमेऽण्डस्य यो रुद्रो	८.१८०	स्व.तं. १०.६५१
पश्चिमे भूततन्त्राणि	१.१८	
पश्यत्रेकमदृष्टस्य दर्शने	३५.२	
पातालोर्ध्वं भवेद् भद्रं भद्रकाली	८.४२	सिद्धयोगीश्वरे मते—सिद्धातन्त्रे
पादांगुष्ठाग्रतो व्यक्ता नाभितो	७.७६	
पादाधः प्रञ्च भूतानि	१६.१४७	मा.वि. ६.२
पादाधारस्थिता ब्राह्मी	२९.६३	
पादिकाश्चात्र सबन्ध अन्यः	२८.४०३	
पादो मूलं तथोद्धार उत्तरं	३६.९	
पादोऽस्य विश्वा भूतानि	४.३०	छा. ३.१२.६
पापं कृत्वा तु संतप्य	९.१०६	
पारमेश्वरशास्त्रे हि न	९.७५	
पार्थिवं प्राकृतं चैव	११.८	मा.वि. २.४९
पार्थिवाणुसमूहस्य विप्रकीर्णस्य	९.६	मतङ्गशास्त्रे
पाशं विना न शंभुर्व्यंजयति	९.१८२	
पाशवं ज्ञानमुज्झित्वा पतिशास्त्रं	४.२५३	
पाशाश्च पौरुषाः शोध्या	१.२४	

श्लोकानुक्रमणिका

इ

ई

उ

ऊ

ऋ

ए

औ

क

छ

ज

भ

य

र

ह

पारिभाषिक शब्दावली

अकल : शिवतत्त्व या शक्तितत्त्व में ठहरने वाले वे प्राणी जो अपने को शिव या शक्ति से अभिन्न समझते हैं ।

अक्षसूत्र : अक्षमाला ।

अणु : जीव, मायीयप्रमाता ।

अधिवास : गुरु और शिष्य का अनुष्ठानपूर्वक यज्ञमण्डप में सोना

अध्वा : मार्ग ।

अध्वा (अशुद्ध) : माया से लेकर पृथिवी तक के सभी तत्त्व, उनमें ठहरे हुए भुवन, जीव और भुवनेश्वर ।

अध्वा (शुद्ध) : शिवतत्त्व से लेकर महामाया या शुद्धविद्या तक के तत्त्व उनमें ठहरने वाला जीव और तत्त्वेश्वर ।

अध्वा (छह प्रकार) : तीन कालाध्वा जिसे वर्ण, मन्त्र और पद कहा जाता है तथा तीन देशाध्वा जिसे कला, तत्त्व और भुवन कहते हैं ।

अनुग्रह : परमेश्वर का बन्धन से मुक्त होना ।

अनुपाय : बिना अभ्यास के होने वाला स्वरूप साक्षात्कार का प्रकार ।

अभिषेक : घट में स्थित अभिमन्त्रित जल से लोगों के ऊपर छीटें मारना ।

अर्घपात्र : वह पात्र जिसमें अर्घ अर्थात् पूजा के लिये दधि, दूर्वा, स्वर्ण, गन्ध आदि रखा रहता है । मद्यपूर्ण पात्र को भी अर्घपात्र कहते हैं ।

अलिपात्र : शराब रखने का पात्र या शराब जिसमें रखा हो वह बर्तन ।

आणवोपाय : प्रमेय पदार्थों पर ठहरायी गयी शिवभाव की भावना के योग का अभ्यास ।

आणवमल : अपने को प्राण, बुद्धि एवं शरीर रूप समझना अथवा अपने को स्वातन्त्र्य से शून्य समझना ।

उच्चार : उच्चारण । प्राण अपान आदि पाँच भूमिकाओं में प्राणशक्ति के उद्‌गम को आलम्बन बना कर की जाने वाली आणवोपाय की एक विशिष्ट धारणा ।

उन्मेष : परमेश्वर की इच्छा शक्ति का बहिर्मुख स्पन्दन ।

उपस्कर : घर गृहस्थी के लिये उपयोगी सामान—झाड़ू, थाली वगैरह ।

कन्द : नाभि के नीचे और मूत्राशय के ऊपर स्थित मांस पिण्ड जहाँ से ७२००० नाड़ियाँ निकलती हैं ।

करणी : लोहे का उपकरण जो भूमि को खोदने या समतल बनाने के काम आता है ।

कर्त्तरी : कैंची ।

कला : तत्त्व का सूक्ष्मतम भाग ।

कलातत्त्व : जीव की किञ्चित्कर्तृत्व वाली शक्ति ।

कार्ममल : जीव का अपने को कर्त्ता समझने का मिथ्या अभिमान ।

कालाग्निरुद्र : पृथ्वीतत्त्व के मूल में ठहरने वाला तथा भू: आदि भुवनों का संहारक ।

कुण्ड : पति के जीवित रहते परपुरुष के द्वारा किसी स्त्री से उत्पन्न शिशु ।

कुण्डलिनी : यह एक शक्ति है जो प्रत्येक शरीर के अन्दर रीढ़ की हड्डी में दौड़ने वाली सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर प्रवाहित होती है । कन्द स्थान पर मूलाधार में यह ३ १/२ वलय कर नागिन की भाँति सुप्त रहती है । किसी भी उपाय से इसके जागने पर यह मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक ऊपर जाती है । कुण्डलिनी जागरण साधना की सिद्धि का प्रथम सोपान है ।

कुल : इसके अनेक अर्थ होते हैं, यथा—शक्ति, शरीर, परमेश्वर, आनन्द, तेज, आत्मा ।

कुलपर्व : जन्मदिन आदि ।

कुलाचार : कौलसम्प्रदाय का आचार । इसमें चक्रयाग करते हुए चर्या का प्रयोग होता है ।

क्रिया : जप होम आदि—ये चर्या आदि चारों आगमशास्त्र के चार पाद हैं ।

क्षेत्र : शरीर, स्थान ।
क्षेत्रज्ञ : संसारी पशु-प्राणी ।
खटिका : खरिया, खड़िया जिससे रेखा वगैरह खींचते या बनाते हैं ।
गोलक : पति के मर जाने पर परपुरुष से उत्पन्न शिशु ।
चक्रपूजा : गुरु के साथ दीक्षित शिष्यों द्वारा की जाने वाली कन्या धीवरी आदि की पूजा ।
चक्रस्थान : चक्रपूजा का स्थान-श्मशान आदि ।
चरु : देवताओं को दिया जाने वाला पदार्थ ।
चर्या : रहस्यमयी तान्त्रिक साधना जिसमें एकमात्र वीरसाधकों द्वारा ही पाँच मकारों का उपयोग किया जाता है ।
चित्शक्ति : अपरिमित, शुद्ध, परिपूर्ण, स्वतन्त्र एवं संवित् जो परमशिव के रूप में प्रकाशित होती है ।
चिदानन्द : परमेश्वर का स्वरूप जिसमें चित् और आनन्द का नैसर्गिक स्वभावभूत सामरस्य रहता है ।
ज्येष्ठा : जीवों को शिवभाव की ओर ले जाने वाली परमेश्वर की शक्ति ।
ज्ञान : यह दो प्रकार का है—१. बौद्ध—यह वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान है । २. पौरुष—अपने शिवभाव का साक्षात् अवभास । यह दीक्षा से प्राप्त होता है ।
ज्ञानयोग : इसे शाक्तोपाय भी कहते हैं ।
तार : ॐ
तूर : एक प्रकार का यन्त्र जो यज्ञ में प्रयुक्त होता है ।
दन्तकाष्ठ : दातौन ।
दीक्षा : ज्ञान का दान; ज्ञान प्राप्ति के उपाय का उपदेश; विधिपूर्वक मन्त्रोपदेश कर शिष्य बनाने का अनुष्ठान ।
दूती : कौलसाधना में पञ्चमकार की उपयोगिता के लिये स्वीकृत स्त्री । यह जितनी ही निम्नकोटि की होती है साधना क्षेत्र में उसका उतना की अधिक महत्त्व होता है ।
निग्रह : परमेश्वर का बन्धन में आना ।
नित्यविधि : जिसके न करने पर अनिष्ट और करने पर कोई फल नहीं होता—यथा सन्ध्यावन्दन आदि ।

निर्वाण	:	मोक्ष, शून्यभाव में विलीन हो जाने की अवस्था, शैवागम के अनुसार प्रलयाकल अवस्था ।
नैमित्तिक विधि	:	जिस अनुष्ठान को किसी कारण के उपस्थित होने पर किया जाता है—जैसे शवदाह के बाद तत्काल स्नान अपने या गुरु के जन्मदिन पर उत्सव आदि ।
न्यास	:	मन्त्र या बीजाक्षर का उच्चारण करते हुए विभिन्न अङ्गों का स्पर्श ।
मठिका	:	शैवदर्शन के सम्प्रदायों की साढ़े तीन (चार) परम्परायें।
मण्डल	:	देवपूजन के लिये निर्मित स्थान ।
मन्त्र	:	मनन के द्वारा रक्षा करने वाला अक्षरसमूह । अपने स्वरूप के विषय में यथार्थ ज्ञान रखने वाले तथा प्रमेय जगत् को भेद दृष्टि से देखने वाले प्राणी, शुद्धविद्या के रचयिता ।
मन्त्रमहेश्वर	:	अपने शुद्ध प्रकाश के भीतर प्रमेय अंश की मन्द छाया को धारण करने वाले भेदाभेदनिष्ठ प्राणी जो सदाशिव तत्त्व का निर्माण करते हैं ।
मन्त्रेश्वर	:	ये स्पष्टतया प्रमेय तत्त्व की छाया से उपरक्त शुद्ध प्रकाशरूप प्रमाता है जो ईश्वर तत्त्व की रचना करते हैं।
मल	:	अज्ञान ।
महाजाल	:	मूलाधार से लेकर नासिका गगनपर्यन्त नाडियों को घेर कर शिष्य के अभीष्ट जीव को ले आना ।
महाशंख	:	खोपड़ी नरकपाल ।
मातृका	:	'अ' से लेकर 'क्ष' तक का वर्णसमूह ।
मायाबीज	:	ह्रीम् ।
मालिनी	:	यह भी स्वर और व्यञ्जन का एक विशिष्ट मेल है जिसमें प्रथम वर्ण 'न' और अन्तिम वर्ण 'फ' है । यह मातृका की अपेक्षा अधिक तीव्र फल देने वाली है ।
मूल	:	मूलाधार जो कि रीढ़ की हड्डी के नीचे स्थित है ।
मुद्रा	:	अगों का विशिष्ट रूप में प्रदर्शन । दोनों हाथों और उनकी ऊँगलियों से बनायी गयी अनेक प्रकार की

भङ्गिमा । तला हुआ पदार्थ ।

पदवाक्य प्रमाणज्ञ : व्याकरण, न्याय, मीमांसा का विज्ञान ।

पशु : बद्ध जीव ।

पाश : स्वात्मविषयक अनादि अज्ञान ।

पुस्तक : रस्सी आदि बँधीं कुशाओं की मुट्ठी ।

पुर्यष्टक : पृथिवी आदि की सूक्ष्म तन्मात्रा तथा मन, बुद्धि अहङ्कार—इन आठ से बना सूक्ष्म शरीर ।

पर्व : शुभदिन, गुरु का जन्मदिन, शुभ नक्षत्र तिथियुक्त दिन

पवित्रक : तीन कुशों की या धागों से बनी अनामिका में धारण की जाने वाली अंगूठी सदृश वस्तु । इसमें तीन से लेकर १०८ या २१६ तक ग्रन्थियाँ दी जाती हैं ।

प्रकाश : चेतना का वह स्वभाव जिसमें चेतन पदार्थ स्वयं अपनी ही महिमा से आभासित होता रहता है। (conciousness) ।

पञ्चकारण : ब्रह्मा, विष्णु, शिव, ईश्वर, सदाशिव ।

पञ्चकृत्य : सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह ।

पञ्चमकार : मांस, मद्य, मत्स्य, मैथुन और मुद्रा नामक पाँच पदार्थ ।

पञ्चमन्त्र : ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव, अघोर—ये ही शिव के पाँच मुख भी कहलाते हैं ।

पञ्चशक्ति : शिव की पाँच शक्तियाँ—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया ।

पञ्चामृत : कौलमार्ग के अनुसार मल, मूत्र, रक्त, वीर्य, और थूक ।

परमशिव : वह परम तत्त्व जिसमें ३६ तत्त्व उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं, साथ ही वह इन सबसे परे भी रहता है ।

परमेश्वर : असीम, परिपूर्ण, परम सर्वोच्च सत्ता । जिससे सदाशिव आदि ईश्वर कहलाते हैं ।

पिण्ड : शरीर ।

पीठ : किसी सिद्धमहापुरुष के द्वारा स्थापित देवस्थान या साधना स्थल ।

पुष्प : स्त्रीरजस् ।

प्रणव : ये चार हैं—ॐ, ह्रीं, सौ:, क्लीं ।
प्राणपथ : मध्यनाडी, सुषुम्ना ।
प्रायश्चित : पाप के संशोधन के लिये किया गया अनुष्ठान ।
बिन्दु : शक्ति की प्रथम सृष्टि ।
भैरव : पूर्ण परमशिव ।
योग : जीव का शिव के साथ एक हो जाना । इस ऐक्य का अभ्यास । यम नियम आदि ।
रसेन्द्र : पारा, वीर्य ।
रोचना : गोरोचन ।
रौद्री : जीवों को सांसारिक सुख देने वाली तथा उन्हें संसार में ही रखने वाली पारमेश्वरी शक्ति ।
वामा : जीवों को संसार में ढकेलने वाली पारमेश्वरी शक्ति जो संसार को उत्पन्न करती हो ।
वामामृत : द्रष्टव्य पञ्चामृत ।
विकल्प : विषय के सम्बन्ध में बुद्धि के द्वारा की जाने वाली निश्चित नामरूप कल्पना । यह दो प्रकार का होता है—शुद्ध और अशुद्ध । पहला सांसारिक ज्ञान है दूसरा शिवविषयक ।
विज्ञान : बौद्धों के अनुसार चित्त का प्रकाश । पारमेश्वर ज्ञान ।
विद्या : ईश्वर और अनीश्वर का भेद ज्ञान । शुद्धविद्या तत्त्व, जीव की अशुद्ध विद्या, भेद दृष्टि ।
विमर्श : प्रकाश (= ज्ञान) की आत्मप्रतीति (awareness)।
वीर : वीराचारी साधक जो सम्पूर्ण पदार्थों को परमेश्वर से भिन्न तथा अभिन्न दोनों रूपों में देखते हैं ।
वीरजल : स्वमूत्र ।
वीरद्रव्य : मद्य ।
वीरधातु : खोपड़ी, नरमुण्ड ।
वीरभोजन : वीराचारी साधकों का भोजन—विशेष रूप से मद्य, मांस, मुद्रा आदि ।
वेदकल या चतुष्कल : हूँ ।
वेल्लिताशुक्ति : एक प्रकार की अञ्जलि का बन्ध जिसमें कलाइयाँ सटी रहती हैं और दायें हाथ की अनामिका मध्यमा तर्जनी को बायें हाथ की चारों अंगुलियों से सटा

दिया जाता है और बायें हाथ के अंगूठे को दाहिनी तर्जनी तथा दायें हाथ के अंगूठे को बायीं तर्जनी पर रखा जाता है।

षट्चक्र : मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, शाकिनी, आज्ञाचक्र।

षडर : षट्कोण।

षडर्धशास्त्र : त्रिकशास्त्र अथवा शिवाद्वयवाद का निर्वचन करने वाला शास्त्र।

षष्ठवर्ण : नपुंसक वर्ण—ऋ, ॠ, ऌ, ॡ।

शक्तिचक्र : द्वादश काली देवियों का समूह।

शक्तिपात : परमेश्वर के द्वारा की जाने वाली वह अन्तःप्रेरणा जिससे जीव मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होता है।

शक्तिबीज : ह्रीं या अन्य मतों के अनुसार क्रीं, क्लीं आदि।

शाक्तोपाय : शुद्ध विकल्पात्मक भावनामय योग। इसमें अपनें को कल्पना के द्वारा पूर्ण परमेश्वर के रूप में जानने का अभ्यास होता है।

शाम्भवोपाय : चित्त के विकल्पों के शमन का अभ्यास। निर्विकल्पक योग।

शिवहस्त : शिवरूपी गुरु का हाथ जो शिष्य के शिर पर दीक्षा के बाद रखा जाता है।

शेषवर्त्तन : भोग अथवा मोक्ष के लिये नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान।

श्राद्ध : पितरों के लिये किया जाने वाला अनुष्ठान तर्पण आदि।

श्रीकण्ठनाथ : परमेश्वर के अवताररूप में प्रकृतितत्त्व में उतरे हुए ईश्वर भट्टारक।

शृङ्गाट : सिंघाड़ा की आकृतिवाला मूलाधार।

सदाशिव : परमेश्वर के आभास का तीसरा तत्त्व जिसमें 'अहम्' का क्षीण आभास रहता है 'इदम्' बिल्कुल नहीं रहता

सप्तसत्र : दीक्षा, व्याख्या, कृपा, मैत्री, शास्त्रचिन्ता, शिवैक्य अन्न आदि का दान।

समयाचार : साधना में प्रथम प्रविष्ट व्यक्ति का प्रथम आचार।

समावेश : अपने भीतर परमेश्वर की संविद्रूपता को प्रधानतया

		प्रकाशित कर समस्त जड़ पदार्थ तथा जीव को परमेशरूपता में निमग्न कर उसमें ठहरना ।
सामरस्य	:	भिन्न वस्तुओं का परस्पर घुलमिल जाना जैसे मयूर के अण्डे के रस में उसके पंख आदि ।
सुषुप्ति	:	गाढ़ निद्रा जिसमें कुछ भी आभासित नहीं होता ।
स्थण्डिल	:	हवन की वेदी या अन्य कार्य के लिये बनाया गया चबूतरा ।
स्पन्द	:	अचल परमेश्वर की चलत्ता जैसी सूक्ष्म क्रिया ।
स्वसंवेदन	:	अन्तः एवं बाह्य करणों की सहायता के बिना प्रकाशित होने वाला अपना आभास ।
हराम्बु	:	मूत्र ।
होम	:	देवता को उद्दिष्ट कर किसी द्रव्य का अग्नि आदि में प्रक्षेप ।